सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ

भारतीय नाट्य-साहित्य

सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्तो समारोह समिति, नई दिल्ली।

सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ

भारतीय नाट्य-साहित्य

सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, नई दिल्ली।

सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ

भारतीय नाट्य-साहित्य

सम्पादक-मण्डल

प्रो० गुलाबराय — श्री बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन'

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी — श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सहकारी सम्पादक

श्री महेन्द्र चतुर्वेदी

सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, नई दिल्ली।

प्रकाशक :
सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, नई दिल्ली ।

मूल्य १२)

मुद्रक :
युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली-८

अनुक्रमणिका

नाट्य-सिद्धान्त

भारतीय नाट्य-साहित्य

प्रादेशिक भाषाओं का नाट्य-साहित्य

निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन-ग्रन्थ का अंग होते हुए भी स्वतंत्र और अपने आप में सम्पूर्ण है। जीवन की गति-विधि के साथ आधुनिक युग में अभिनन्दन की प्रणाली भी बदल गई है। अभिनन्दन की आधुनिक प्रणाली वास्तव में यही है कि संस्तुत्य व्यक्ति के जीवन-कार्य का प्रसार और संवर्धन किया जाये। साहित्य के क्षेत्र में सेठ गोविन्ददास की साधना और सिद्धि नाटक ही है, इसलिए उनका संस्तवन करने का सबसे उत्तम विधि है नाट्य-साहित्य की संवर्धना। 'भारतीय नाट्य-साहित्य' की रचना अथवा संघटना की, संक्षेप में, यही पृष्ठभूमि है।

इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं—१. नाट्य-सिद्धान्त : पाश्चात्य, पौरस्त्य; २. नाट्य-साहित्य : प्राचीन, अर्वाचीन (हिन्दी); एवं ३. प्रादेशिक भाषाओं का नाट्य-साहित्य। इस प्रकार भारतीय नाट्य-साहित्य के समन्वित अध्ययन का कदाचित् यह पहला प्रयत्न है—हम प्रयत्न का ही दावा करते हैं, उपलब्धि का नहीं।

नाट्य-सिद्धान्त

संस्कृत-नाटक तथा अभिनय

—डा० वी० राघवन
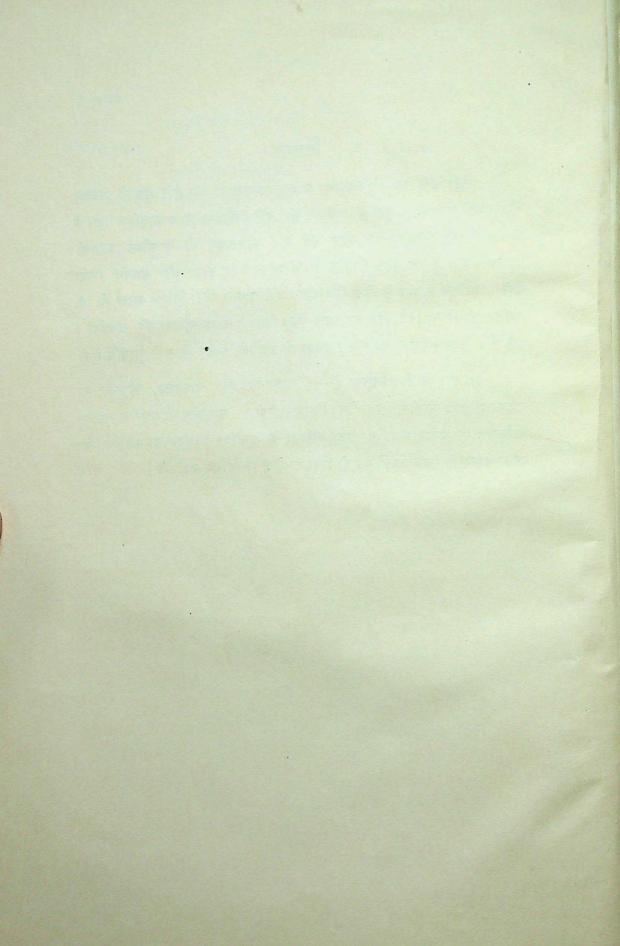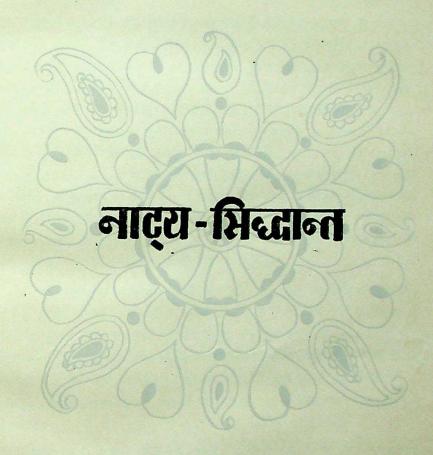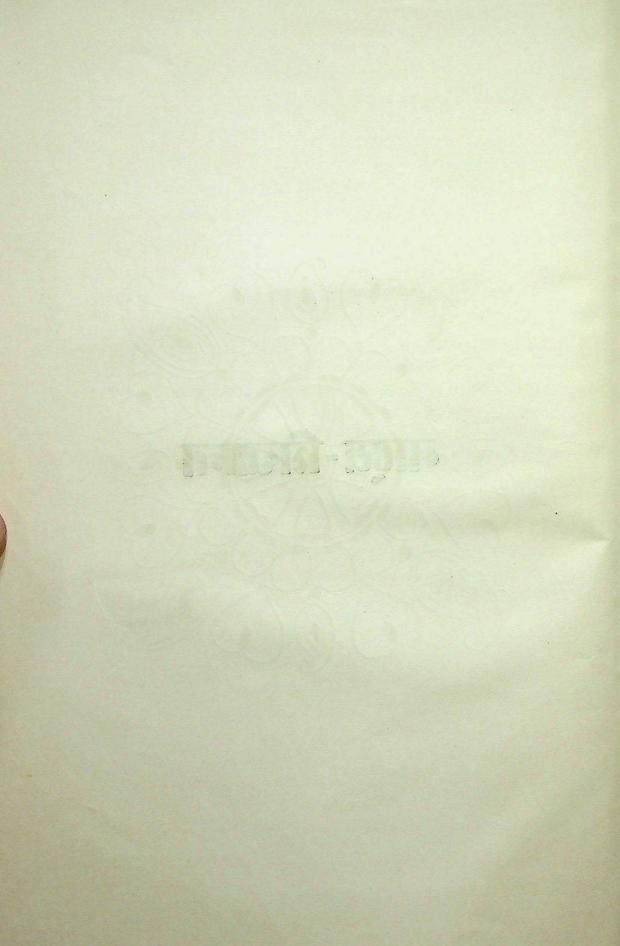
'नाट्य' शब्द में अर्थतः नृत्य तथा नाटक दोनों ही समाविष्ट रहते हैं। उभय अर्थों से यह तथ्य भी सूचित होता है कि नाटक—जैसा कि भरत का विचार है—संगीत, नृत्य, कार्य-व्यापार तथा कविता की एक सर्वतोमुखी कला है। भरत-नाट्य न केवल प्राचीन भारतीय प्रतिभा की इतनी उत्कृष्ट निष्पत्ति है जितनी कि साँची-शिल्प अथवा अजन्ता-चित्र, अपितु विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार परवर्ती कलाओं की नींव भी है। प्राचीन भारत की उच्चतम साहित्यिक रचनाओं, कालिदास एवं शूद्रक की कृतियों, के मूल में यही है। देश की अनेक जीवित प्रादेशिक तथा लौकिक नृत्य-नाट्य-परम्पराओं का रसास्वाद करने के लिए इसकी प्रविधि को हृदयंगम करना आवश्यक है। इसकी आश्चर्यजनक सामर्थ्य को इससे श्रेष्ठ रीति से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता कि इसकी प्रविधि एवं मूल वृत्ति ने सम्पूर्ण पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी जम्बू द्वीप में प्रसार प्राप्त किया और उसे एक सांस्कृतिक जाति के रूप में संघटित होने में सहायता दी, जो कि सौभाग्यवश अभी तक सुरक्षित है।

प्राचीन साहित्यिक प्रमाणों से इस कला की प्राचीनता एवम् स्थानीय विकास स्पष्ट है। 'ऋग्वेद' में इसके अनेक निर्देश उपलब्ध होते हैं जिनमें उषा का आलोक-सिद्ध नर्तकी के रूप में किया गया सुन्दर वर्णन सर्वाधिक अवलोकनीय है। ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी तक अभिनय-कला पर्याप्त मात्रा में विकसित हो चुकी थी, क्योंकि महान् वैयाकरण पाणिनी का कथन है कि शिलालिन तथा कृशास्व नामक दो लेखकों ने उस समय तक इस कला को नट-सूत्रों के कारिका-युक्त पाठ के रूप में शब्दबद्ध कर दिया था।

महाकाव्य—जिसका ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में कौटिल्य को ज्ञान था—और बौद्ध-साहित्य इस कला की लोक-प्रियता को स्पष्ट करते हैं। हमारे पास 'वासवदत्ता नाट्य-धारा' नामक एक विशेष प्रकार के नाटक के अपखण्ड भी वर्तमान हैं, जो उद्धरणों के रूप में अवशिष्ट हैं। इसे उसी समय के लगभग मौर्य राज-कवि तथा मन्त्री सुबन्धु ने लिखा था और इसमें उसने एक अन्तर्ग्रथित नाटक-माला द्वारा अपनी मूल कथावस्तु का, जो राज्य-सभा के षड्यन्त्रों को चित्रित करती है, विकास किया और राजा उदयन तथा वासवदत्ता की कथा का उपयोग किया है। ईसा-पूर्व द्वितीय

शताब्दी के मध्य में वैयाकरण पंतजलि इस कला से सम्बद्ध अनेक वस्तुओं जैसे रंग-मंच, संगीत, श्लोकों, नटों, बलि-बन्धन और कंस-वध की मूल कथाओं और यहाँ तक कि रस-सिद्धान्त तथा भावात्मक प्रत्युत्तर का भी उल्लेख करते हैं। तक्षशिला के 'भीर माउण्ट' नामक स्थान पर खोदी गई एक आयताकार पक्वमृत गुटिका, जो पूर्व-मौर्य-काल की समझी जाती है, भरत द्वारा अपने 'नाट्य-शास्त्र' के १०८ कारणों में वर्णित स्थितियों में से एक का चित्रण करती है। जॉन्स्टन के अनुसार—जिन्होंने अश्वघोष की कविताओं का पुनस्सम्पादन किया है—यह बौद्ध कवि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में विद्यमान था। उनके नाटकों के अपखण्ड, जो मध्य एशिया की खुदाइयों में खोज द्वारा प्राप्त हुए हैं, और उनमें दृष्टिगत होने वाली विकास एवम् पूर्णता कीस्थिति संस्कृत-नाटकों के विकास के दीर्घ समय को, जो ईसा-पूर्व कतिपय शताब्दियों तक प्रसरित है, प्रमाणित करती है।

पाणिनी द्वारा उल्लिखित नट-सूत्रों के उपरान्त नट-कला के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत कृतियों की उद्भावना हुई। इसका ज्ञान हमें भारतीय नाट्य-कला का वर्णन करने वाले सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ, भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र', से होता है। यह कृति, जिसका समय प्राय: ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी एवं द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य निश्चित किया गया है, अपने में अपनी पूर्ववर्ती कृतियों के सूत्रबद्ध और दीर्घ गद्य-खण्डों तथा नट-परम्परा में प्रचलित कंठगत श्लोकों का सन्निवेश किए हुए हैं। इस कृति में दृष्टिगत होने वाली प्रस्तुत कला के शाख्यन की अवस्था भी इस प्रकार की है कि उसके विकास की अनेक शताब्दियों का पूर्वानुमान करना पड़ता है।

इस कला के सृजन की अवस्थाओं तथा पट्टिकाओं को अनुरेखित किया जा सकता है। 'नाट्य-शास्त्र' में भरत सूचित करते हैं कि नाट्य-कला का सृजन ऋग्वेद से वाच्य अथवा गेय शब्द (कथोपकथन), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अनुकरण तथा अथर्ववेद से रस लेकर हुआ था। कीथ के समान आधुनिक इतिहासकार वैदिक बलि से सम्बद्ध कल्प में, जहाँ कर्त्ता—जिसे विशिष्ट वस्त्र धारण करने होते हैं, विशिष्ट संगीत का गान करना होता है और एक विशेष कार्य-पद्धति को सम्पन्न करना होता है अथवा एक घटना का अधिनियमन करना होता है—नट तथा नाट्य-व्यापार द्वारा गृहीत समस्त क्रियाओं को करता है, भारतीय नाटक के धार्मिक मूलोद्भव का भी अनुमान करेंगे। भरत के अनुसार इस प्रकार पुनः प्रस्तुत की जाने वाली प्राचीन कथाओं में से एक देवताओं की राक्षसों पर विजय—समुद्र-मन्थन—की कथा का अनुकरण है। इस शौर्यपूर्ण कार्य के साथ-साथ एक प्रचलित कला भी थी, जिसका उल्लेख करना भी भरत नहीं भूले।

प्राचीन काल में उच्च वर्ग के लोगों के हास्यजनक अनुकरण से युक्त एक हास्यजनक प्रहसन होता था जिसमें निम्नतर स्तर के सामाजिक भाग लेते थे। नाटक इस लोकप्रिय स्रोत से भी विकसित हुआ। जब महान् राष्ट्रीय उत्सव मनाए जाते थे तब ये दोनों पक्ष—एक ओर से धार्मिक तथा शौर्यपूर्ण एवं दूसरी ओर से लोकप्रिय और हास्यात्मक—एक सामान्य घटना-स्थल की ओर उन्मुख होते थे। प्राचीन भारत के इस प्रकार के उत्सवों में सर्वाधिक महान् उत्सव इन्द्र के ध्वज-दण्ड का था, जिसे 'इन्द्रध्वज-महा' अथवा 'शक्र-महा' कहते थे। भरत का ग्रन्थ इसी उत्सव को प्रथम नाटक का सूत्र मान कर प्रारम्भ होता है। कालान्तर में जब नाटक मुख्य हो गया तब उत्सव संकुचित होकर पूर्व-रंग के रूप में इन्द्र के ध्वज-दण्ड और उसके सहवर्ती संगीत तथा नृत्य का प्रतिनिधित्व करने वाले 'जर्जर' वंश-वल्ली की अर्चना से युक्त प्रारम्भिक संस्कार के रूप में नाटक में लीन हो गया। तमिल नृत्य-परम्परा में यह दण्ड 'तलइक्कोल' के रूप में अवशिष्ट है जो नर्तकी तथा उसकी उच्च योग्यता-प्राप्ति का चिह्न है और इण्डोनेशिया में किसी नाटक के प्रारम्भ होने से पूर्व लगाया गया वृक्ष अथवा पौधा आज तक इन्द्र के ध्वज-दण्ड का द्योतन करता है। यद्यपि 'पूर्व-रंग' की संज्ञा से अभिहित प्रारम्भिक संगीत तथा नृत्य का प्रतिरूप लोकप्रिय रंगमंच तथा कथाकली में भी प्राप्त होता है, किन्तु इसका अपेक्षाकृत पूर्ण स्वरूप इण्डोनेशिया के नाट्य-गृह में ही उपलब्ध होता है।

यह खोज भी रोचक है कि प्रस्तुत कला के विभिन्न अंग किन अवस्थाओं में परस्पर संगठित हुए तथा किस प्रकार उनके अल्प-विकसित रूपों से पूर्ण विकसित रूप उद्भूत हुए। 'नट' शब्द का अर्थ व्यायाम भी है और वैदिक साहित्य में हमें अन्त्येष्टि क्रिया के नृत्य तथा नाटक से सम्बद्ध होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

दाह-क्रिया-विधियों की समाप्ति पर हमारे पूर्वज नृत्य अथवा शारीरिक व्यायाम तथा नृति और हास द्वारा मनोरंजन के लिए चले जाते थे। हमें ज्ञात है कि बाली में नाटकों का अभिनय उस ऋतु में किया जाता है जब पूर्वजों की आत्माओं का उनके पूर्व-गृहों में आने का अनुमान होता है। उन गृहों को 'गैलोएंजन' कहते हैं और वे कुछ-कुछ हमारे महालय-पक्ष के समान होते हैं। ऐसे अवसरों पर शारीरिक व्यायाम, कुश्ती तथा असि-चालन आदि के प्रदर्शन हुआ करते थे। भरत-ग्रन्थ के विद्यार्थियों को ज्ञात है कि भरत द्वारा वर्णित अनुकरण के अनेक संस्थानों, गतियों एवं कार्य-प्रणालियों में १०८ करण हैं जिनमें से अनेक नट-विषयक प्रकृति के हैं और उनका निष्पादन कठिन है; कुछ वे हैं जिन्हें वृत्तियाँ, न्याय अथवा प्रतिकार कहते हैं और कुछ शस्त्र-ग्रहण तथा संचालन के संस्थानों एवम् गतियों तथा पूर्वाभिनय के स्थानों का निर्देश करते हैं। 'रंग' शब्द क्रीड़ा-क्षेत्र तथा नाटकीय रंगमंच, दोनों के लिए प्रचलित है। बाली के नृत्यों में

अब भी शस्त्र-ग्रहण तथा द्वन्द्व-युद्ध से सम्बद्ध नृत्य हैं। भरत ने कारणों के उद्देश्यों में नट-सम्बन्धी प्रयोग का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। उन्हीं का कथन है कि मूलतः नाटक की प्रारम्भिक क्रियाएँ सरल होती थीं, किन्तु कालान्तर में अभिनय को अधिक समृद्ध तथा आकर्षक बनाने के लिए शिव-सम्बन्धी कथानक में ताण्डव को उसके समस्त कारणों सहित संयुक्त कर दिया गया। सर्वप्रथम अभिनीत किए गए कथानक 'देवताओं और राक्षसों का युद्ध' जैसे पूर्णतः पुरुष-सम्बन्धी शौर्यपूर्ण पौराणिक आख्यान थे। भरत का कथन है कि इस (प्रकार के) नाटक की सफलता पर इसमें अतिरिक्त सौन्दर्य तथा रमणीयता की सृष्टि के लिए स्त्री-पात्रों, प्रेम-कथानक एवम् संगीत तथा नृत्य-कलाओं का भी समावेश कर दिया गया है।

भरत द्वारा वर्णित नाटकीय अभिव्यक्ति के प्रकारों अथवा शैलियों की पूर्व-निर्दिष्ट वृत्तियों में से एक को 'भारती' कहते हैं। भारती अभिव्यंजना की मौखिक प्रणाली का नाम है। नाटक में वे समग्र स्थल, जहाँ कथोपकथन प्रमुख होता है और नाटक के वे समस्त निदर्शन जो एकमात्र मौखिक माध्यम से विकसित होते हैं, भारती वृत्ति के उद्भावक होते हैं। भरत द्वारा वर्णित दस प्रकार के नाटकों में से तीन का सम्बन्ध इस मौखिक समूह से है—स्वगत-भाषण, जिसे 'भाण' कहते हैं, 'प्रहसन' और 'वीथि', जिसमें दो व्यक्तियों का शाब्दिक वाग्विनिमय रहता है। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में दो प्रकार के अभिनय का उल्लेख किया है—एक ग्रन्थिकों का जो किसी ग्रन्थ पर आधृत रहता था और दूसरा शोभानिकों क जो क्रिया पर आधारित था। प्रथम (अभिनय) एक प्रकार का मौखिक पाठ था जैसे कि महाकाव्य के प्राचीन निपाठ अथवा उत्तरवर्ती कत्थकों के प्रदर्शन होते थे। द्वितीय (प्रकार का अभिनय) शब्द-सहयोग के बिना ही कथा-वस्तु को प्रस्तुत करता था। संगीत के सम्बन्ध में भरत ने एक कथा दी है कि किस प्रकार असुरों का सहयोग प्राप्त किया गया और किस प्रकार उन्होंने नाटक को यान्त्रिक संगीत की सज्जा प्रदान की। यह इन विभिन्न प्रकारों अथवा तत्त्वों के एकीभाव का ही परिणाम है कि शनैः शनैः पुरुष तथा नारी-कलाकारों, कथोपकथन, अनुकरण, संगीत तथा नृत्य से युक्त होकर नाटक ने पूर्ण विकसित रूप प्राप्त कर लिया।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, भरत ने दस प्रकार के नाटकों अथवा रूपकों का उल्लेख किया है। ये दस प्रकार जिन्हें 'दश-रूपक' कहते हैं दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—प्रमुख प्रकार तथा गौण प्रकार अथवा पूर्ण निदर्शन तथा अपूर्ण निदर्शन। एक अन्य दृष्टिकोण से ये दस प्रकार 'शौर्यपूर्ण' तथा 'सामाजिक' के दो वर्गों में विभक्त किए जाते हैं। इस समय दस में से दो प्रकार-निदर्शन मुख्य हैं—'नाटक', जिसमें शौर्य-प्रवृत्ति अपनी पूर्णता को पहुँच जाती है, और 'प्रकरण' जिसमें

सामाजिक प्रवृत्ति अपने विकास का पूर्ण क्षेत्र प्राप्त करती है। शौर्यपूर्ण (नाटक) के अपेक्षाकृत निम्न प्रकारों में समवकार, डिम, व्यायोग, अंक तथा ईहामृग हैं और सामाजिक वर्ग के लघुतर प्रकारों में प्रहसन, भाण तथा वीथि हैं। शौर्यात्मक वर्ग देवताओं अथवा महाकाव्य-नायकों के कार्यों, युद्धों तथा उनके परिणामों का चित्रण करता है, जिसके प्रकार सम्भवतः अब भी जावा और बाली में नाटकीय वाड़ियों में अवशिष्ट हैं। सामाजिक वर्ग सामान्य मनुष्यों के जीवन तथा प्रेम-कार्यों का चित्रण करता है। पहला हमारे समक्ष दैवी उदाहरण प्रस्तुत करता है जब कि दूसरा विश्व के लिए एक दर्पण का कार्य करता है।

संस्कृत-नाटक के प्रकारों का अन्ततः शौर्यात्मक तथा सामाजिक नामक दो विशेषताओं के अनुसार वर्गीकरण उसे यूनानी रंगमंच के किंचित् समीप ला देता है, जिसके त्रासदी (ट्रैजडी) तथा कामदी (कॉमेडी) नामक दो प्रकार हैं। पश्चिम के प्राच्य-विदों ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि संस्कृत-नाटक का विकास यूनानी प्रभाव के अधीन हुआ था। यूनानी प्रभाव का प्राचुर्य ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में था, किन्तु, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, संस्कृत-नाटक का विकास बहुत पहले हो चुका था।

भारतीय रंगमंच पर नाट्य-रूपों की विविधता पहले से ही थी, जो (उस समय) यूनान में अनुपलब्ध थी। 'त्रासदी' यूनानी नाटकों का सर्वोत्कृष्ट रूप था और संस्कृत-रंगमंच पर यूनानी त्रासदी जैसी किसी वस्तु का कदापि विकास नहीं हुआ। वस्तुतः इसके सिद्धान्त रंगमंच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अन्त का निषेध करते थे। संस्कृत-रंगमंच में यूनानी रंगमंच के समान कोई गायक-वृन्द नहीं होता था और यूनानी सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य संकलन-त्रय के सिद्धान्त से देश-काल में के संकलन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निश्चिन्त होकर छोड़ दिए गए थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विशाल भी था। यूनानी रंगमंच का भारतीय रंगमंच के विविध रूपों से—जिनका भरत ने कुछ विशदता से वर्णन किया है—कोई साम्य नहीं है। भरत के—जिनका ग्रन्थ अरस्तू के 'पोयटिक्स' तथा रिटॉरिक्स' के सम्मिलित रूप से भी अधिक पूर्ण है—पूर्ण रस-सिद्धान्त के समक्ष, त्रास, करुणा तथा विरेचन के यूनानी सिद्धान्त हेय से हैं। पर्दे के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द से तथा रंगमंच पर आने वाले राजकीय अनुचरों में यवन स्त्रियों की उपस्थिति से भी कुछ प्रमाण खोजे गए हैं। (इनमें से) अन्तिम तो नितान्त व्यर्थ है। यदि हमारे पास पर्दे के लिए 'पटी', 'तिरस्करिणी', 'प्रतिशिरा' तथा यहाँ तक कि 'यमनिका' आदि देशीय यथा युक्तियुक्त नाम न होते तो प्रथम युक्ति में कुछ शक्ति हो सकती थी। इन

सब की अपेक्षा भारतीय नाटक के अधिक महत्वपूर्ण विशिष्ट अंग वे हैं जिनका यूनानी नाटकों में अभाव है—संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का बहुभाषीय माध्यम। सिलवेन लेवी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संस्कृत-नाटक पश्चिमी भारत में शकों के प्रभाव में विकसित हुए हैं। उनके आधारभूत प्रमाण नितान्त सार-शून्य थे। कीथ के अनुसार संस्कृत-नाटकों का उद्भव तथा विकास स्वदेशीय ही है। निस्सन्देह शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से सर्वथा भिन्न है।

संस्कृत में नाटक प्रस्तावना के साथ प्रारम्भ होता है जिसमें सूत्रधार और उसका कोई सहयोगी सम्भाषण करते हैं और कवि (नाटककार) तथा नाटक का परिचय प्रस्तुत करते हैं। कथावस्तु का आयोजन परिच्छेदों में किया जाता है जिन्हें अंक कहते हैं और जिनकी सीमा चार से लेकर दस तक होती है। अंक में दृश्य-परिवर्त्तन हो सकता है, किन्तु उनमें दृश्यों के विभाजन का संकेत नहीं किया जाता। अंकों में एक नैरन्तरिक कार्य-कलाप होता है जो एक दिन की अवधि से अधिक का नहीं होता। अंकों में उच्चतर अथवा निम्नतर चरित्रों का एक प्रस्तावनात्मक दृश्य हो सकता है। इसका प्रयोजन कथा-वस्तु में एकसूत्रता अथवा नैरन्तर्य की स्थापना करना, दर्शकों को कथा-वस्तु का बोध कराना और उन घटनाओं के विषय में सूचना देना अथवा वर्तालाप कराना होता है जो रंगमंच पर प्रमुख अंकों में प्रदर्शित न किए जा सकते हों। पूर्व-निर्देश के अभाव में कोई पात्र मंच पर अवतरित नहीं हो सकता। नाटक की मूल वस्तु में गद्य तथा पद्य शैलियों का मिश्रण होता है। पद्य का प्रयोग उस स्थान पर होता है जब किसी आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति अथवा उच्च प्रभाव (की सृष्टि) की आवश्यकता होती है।

गद्य और पद्य के मिश्रण की भाँति साहित्यिक तथा लौकिक भाषाओं का भी मिश्रण होता है। उच्चवंशीय तथा शिक्षित पुरुष-पात्र संस्कृत बोलते हैं और निम्नतर श्रेणी के पात्र, स्त्री-पात्र तथा साधारण सभासद् प्राकृत बोलते हैं जो निम्न (श्रेणी के) पात्रों की संख्या तथा प्रकृति के अनुसार कभी-कभी विभिन्न प्रकार की होती है। कार्य संक्षिप्त अवधि का भी हो सकता है अथवा वर्षों तक फैला हुआ भी हो सकता है और इसी प्रकार एक विशिष्ट स्थान पर भी घटित हो सकता है अथवा विभिन्न स्थानों तक भी उसका प्रसार हो सकता है। कथा-वस्तु प्रसिद्ध महाकाव्यों से ली जा सकती है अथवा कल्पित या मिश्रित भी हो सकती है। कथा-वस्तु के प्रख्यात होने पर भी नाटककार उसे अपने नाटक के भाव तथा प्रयोजन के उपयुक्त नया रूप दे सकता है, क्योंकि संस्कृत-नाटक में मधुर चरित्र तथा दर्शकों के अन्तस्तल पर मधुर भावात्मक प्रभाव उपस्थित करने का प्रयास किया जाता है। नाटक का अन्त सुखमय होना चाहिए।

इन दृष्टिकोणों तथा अपने निर्धारित भाव के अनुसार नाटककार अपनी मूल-वस्तु के अवयवों, कथा-वस्तु, चरित्र और रस की योजना करता था। वह कथा की उन घटनाओं को जो उसके कथानक के लिए आवश्यक होती थीं अथवा उसके मुख्य भाव के विरुद्ध होती थीं परित्यक्त अथवा पुनर्निर्मित करता था। यही वह अपने पात्रों के चरित्रिक गुणों के विषय में करता था। परम्परा-प्राप्त व्यक्तित्व में से वह अपने स्वयं के चरित्रों का सृजन कर लेता था। कथा-वस्तु तथा चरित्र-चित्रण, जो पश्चिमी नाटकों में सर्वस्व होते हैं, भारतीय नाट्य-कला में रस से गौण होते थे और उसके साधन माने जाते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कथानक एवं चरित्र-चित्रण उपेक्षित थे। भरत का कथानक-निर्माण की प्रविधि का नियमपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार की आलोचना का निराकरण करेगा।

किसी भी कार्य की तीन मुख्य अवस्थाएँ होती हैं—प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त। एक वस्तु लक्ष्य होती है, उसके लिए कार्य प्रारम्भ किया जाता है; प्रयास होते हैं तथा निरन्तर चलते हैं, विघ्न समाप्ति के लिए साधक सहायता खोजी जाती है और अन्त में फल की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रसंग में भरत कार्य का दो रीतियों से वर्गीकरण करते हैं—कार्य के तत्त्व तथा कार्य की अवस्थाएँ, जिनमें से दोनों पाँच-पाँच हैं। कार्य के पाँच तत्त्व अथवा अर्थ-प्रकृतियाँ हैं—बीज; बिन्दु; प्रधान उपाख्यान (पताका)—उदाहरणार्थ रामायण की कथा में राम द्वारा सुग्रीव की मित्रता प्राप्त करना; गौण उपाख्यान (प्रकरी)—यथा विभीषण की मित्रता; और प्रयोजन। पाँच अवस्थाएँ हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। जब ये संयुक्त रूप से कार्य करती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये प्रारम्भ, उन्नति, विकास, विराम तथा परिणाम नामक पाँच ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं जिनमें से हो कर कथानक अग्रसर होता है। इसी प्रकार चारित्रिक विशेषताओं का भी वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरणार्थ केवल नायक के ही चार मुख्य भेद उपस्थित किए गए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर ललित तथा धीर प्रशान्त। राम के समान महाकाव्योचित नायक प्रथम (धीरोदात्त) के अन्तर्गत आते हैं, राक्षस तथा भयंकर पात्र धीरोद्धत के अन्तर्गत आते हैं, उदयन जैसे प्रेमी धीर-ललित के अन्तर्गत आते हैं और ब्राह्मण, मन्त्री, व्यापारी तथा उनके समान अन्य पात्र, यथा 'मृच्छकटिक' में चारुदत्त, अन्तिम (धीर प्रशान्त) के अन्तर्गत आते हैं। इसके अतिरिक्त आयु, भावात्मक स्थिति तथा प्रकृति के अनुसार पुरुषों तथा स्त्रियों का अध्ययन तथा विस्तृत वर्गीकरण किया जाता था। इन समस्त विभाजनों द्वारा भरत का अभिप्राय यह था कि विभिन्न भूमिकाओं में कार्य करने वाले पात्रों को उन चरित्रों की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जिनका प्रतिनिधित्व उन्हें करना हो। भारतीय पौराणिक प्रसिद्धियों, साहित्य, मूर्ति-कला तथा चित्र-कला

के समान ही भारतीय नाटक में भी प्रकृति के विचारों तथा अंगों का मानवीकरण होता था और वह उन्हें नाटक-रूपी व्यक्ति का भाग बना लेता था।

जैसा कि पहले कहा गया है—कथानक तथा चरित्र-चित्रण का अपना स्थान है—परन्तु नाटक की आत्मा रस अर्थात् भाव-निरूपण और दर्शक के हृदय में उस का उद्रेक है, जिससे वह अपना पूर्ण तादात्म्य कर सके और अपने मानस को निर्मल शुचिता में निमग्न कर सके अथवा उसका हृदय विश्रान्ति में लीन हो सके। रस की दो स्थितियाँ हैं—एक तो वीर, शृंगार, हास्य, अद्भुत आदि रस जो नाटक की मूल-वस्तु के अंगों का स्वरूप धारण कर लेते हैं और दूसरे रसज्ञ दर्शकों के हृदय के वे अन्तिम बीजातीत कल्याणपरक अनुभव जो नाटक में इन भावों के प्रत्यक्ष दर्शन के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होते हैं, उन पर हावी रहते हैं, उन्हें अपनी आत्मा के तत्सम्बद्ध तारों का स्पर्श करने की अनुमति देते हैं, और इस प्रकार आत्मा को हृदय की उल्लासपूर्ण जागृतावस्था में लीन कर देते हैं। मूल-वस्तु के रसों में से शृंगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शान्त आदि आठ-नौ अथवा कुछ अन्य भी मान्य हैं। दर्शक पर मधुर प्रभाव डालने के लिए ही नाटककार द्वारा कथा के अननुगत तत्त्व और चरित्रगत संघर्ष कल्पित किए जाते हैं। नाटक का प्रयोजन संघर्षों का शमन करना है, उन्हें बढ़ाना और नाटक के अन्त में दर्शक को प्रेक्षागृह में प्रविष्ट होने से पूर्व की अपेक्षा अधिक उद्विग्न अवस्था में छोड़ देना नहीं है। संस्कृत-नाटककार द्वारा दुःख अथवा अत्याचार और पीड़ा का पूर्ण परित्याग नहीं कर दिया जाता, क्योंकि वह इन्हें करुण रस के अन्तर्गत तथा प्रतिनायक के रूप में ग्रहण कर लेता है। जिस जीवन-दृष्टि से उसकी प्रतिभा का विकास होता है, उसके अनुसार उसे विश्वास रहता है कि दुःख ही सृजन का अन्त नहीं है, जैसे कि 'कादम्बरी' की जटिल कथा-वस्तु में उसने अपने पात्र-युग्मों को पूर्णतः संयुक्त करने के लिए अनेक जन्मों तथा मृत्युओं की योजना की है। प्रसंगतः यह भी कहा जा सकता है कि रंगमंच पर दुःख के अभिनय से कोई कैसे आनन्द प्राप्त कर लेता है, इस विवादास्पद प्रश्न का संस्कृत के रस-सिद्धान्त के पास अपना विशिष्ट समाधान है। संस्कृत रसाचार्य के अनुसार उतनी महत्त्व की वस्तु आनन्द नहीं है जितनी अन्तर्लयन अर्थात् आवेश, जो सत्त्व के बाहुल्य के द्वारा प्राप्त किया जाता है। कलात्मक निरूपण सत्व-गुण का पूर्ण परिपाक प्रस्तुत करता है जो मानसिक अशान्ति (चिन्ता) के कारण-रूप रजो-गुण को अभिभूत कर लेता है। यह तब तक है जब तक कला सत्व-गुण की सृष्टि अधिकाधिक मात्रा में करने में सहायक होती है, जिसके द्वारा निवृत्ति तथा शुचिता की प्राप्ति होती है। और अवर्णनीय आत्मा की एक झलक, चाहे वह कितनी ही क्षणिक हो, प्राप्त हो जाती

है, तथा हमारे द्वारा कला का एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधना के रूप में मूल्यांकन किया जाता है।

कथानक के प्रस्तुतीकरण तथा नाटक के निर्देशन में भरत का रंगमंच कलात्मक मूल्य तथा सौन्दर्य का प्रदर्शन करता है जिसकी ओर आज, जब कि आधुनिक नाटक तथा सिनेमा के समाघात से हमारे विचार परिवर्तित हो गए हैं, ध्यान देना आवश्यक है। कथा की अनेक अवस्थाओं तथा घटनाओं में से संस्कृत-नाटक विशिष्ट चयन करता है और प्रमुख अंक में केवल उन्हीं भागों अथवा कार्यों को प्रस्तुत करता है, जो भव्य एवं उदात्त होते हैं और भावात्मक सम्भावनाओं से युक्त होते हैं। कथा के वे भाग जो प्रलम्बित, कठिन, अरोचक अथवा कार्य-सम्भावनाओं से वहीन होते हैं, संक्षिप्त कर दिये जाते हैं अथवा विष्कम्भक में उनका संकेत मात्र दे दिया जाता है। रंगमंच पर भोजन, शयन, वस्त्र-धारण तथा चुम्बन जैसे समस्त तुच्छ तथा अभद्र व्यापार निषिद्ध हैं क्योंकि किसी पात्र पर किसी घटना अथवा वृत्तान्त के प्रभाव का चित्रण करना कला के लिए अपेक्षाकृत अधिक उचित है, अतः भरत युद्ध तथा अग्नि के वास्तविक दृश्यों के चित्रण का परित्याग कर देते हैं जो दर्शकों में अल्प-विकसित बुद्धि वालों को प्रसन्न कर सकते हैं, किन्तु उन अधीतजनों को नहीं जो शुद्ध कलात्मक प्रभाव के तत्त्वों की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरणार्थ भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' में आधुनिक रंगमंच का शिल्पकार लावणक एक तम्बुओं का नगर बनाएगा और उसे दर्शकों के नेत्रों के समक्ष भस्मीभूत करेगा, किन्तु भास वास्तव में सजीव-वर्णन द्वारा वासवदत्ता को प्रज्वलन की सूचना देते हैं और रानी पर उसके भावात्मक प्रभाव को हमारे समक्ष चित्रित करते हैं। टालस्टाय ने कहा है कि जब संकट के परिणामस्वरूप किसी पात्र को रुदन अथवा दुःख के प्रकटीकरण के लिए विवश किया जाता है, तब भाव एक हृदय से दूसरे हृदय में—पात्र से दर्शक के मन में—संक्रमण कर जाता है, किन्तु यदि नाटककार अथवा निर्देशक रंगमंच पर किसी कन्या का वध करा देता है, प्रकाश को बुझा देता है और नेपथ्य में संगीत का प्रबन्ध कर देता है तो (दर्शक पर) कोई रसात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। अब हम भरतकालीन रंगमंच की निर्देशन-कला के प्रश्न पर आते हैं।

संस्कृत-नाटक यथार्थवाद के तत्त्वों से शून्य नहीं है। भरत ने बारम्बार लोक को प्रमाण कहा है; उसमें चरित्रों का अध्ययन है और यथोचित विविध भाषाओं का प्रयोग भी है। भरत का रूप-सज्जा-वर्णन अत्यन्त परिष्कृत है और उचित वेश-भूषा के शुद्ध ज्ञान के सम्बन्ध में वहाँ देश के विभिन्न भागों, व्यक्तियों, उनकी वेशभूषा की रीतियों एवं प्रकारों, केश-रचना-विधि, आभूषणों आदि का विस्तृत अध्ययन उपलब्ध होता है। किन्तु भरत ने अनुभव किया कि नाट्य-कला तथा रंगमंच पर अभिनय की

अपनी सीमाएँ हैं और इस अनुभव पर आधृत किसी प्रविधि का निर्माण करना इसकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है कि रंगमंचीय वस्तुओं, यन्त्रों, दृश्यों, भवनों, विद्युत आदि के माध्यम से रंगमंच पर प्राकृतिक स्थितियों के पुनरुत्पादन के असम्भव प्रयास किए जाएँ, जो आधुनिक विज्ञान एवं यन्त्र-कौशल के युग में रंगमंच पर सरलता से हावी हो सकते हैं और नाटक तथा पात्रों को नगण्य बना सकते हैं। कुमारस्वामी ने इस विषय में समस्त पूर्वीय रंगमंचों—संस्कृत, जावाई, चीनी और जापानी—में साम्य की ओर संकेत करते हुए कहा है, **"वे समस्त वस्तुएँ जो रंगमंच के लिए आवश्यक नहीं हैं उसके प्रभाव को क्षीण कर देती हैं।"**

—(रूपम् ७, १९२१ नोट्स आन दी जावानीस थियेटर)

अन्ततः नाटक एक भ्रम है और कोई रंगमंचीय यन्त्रों का चाहे कितना ही प्रयोग क्यों न करे, उसे माया-जगत में ही क्रीड़ा करनी पड़ती है। किन्तु यदि कोई बाह्य तथा असंगत सहायताओं का परित्याग करने का साहस करता है और अपने निजी आन्तरिक कार्य-स्रोतों का आधार लेता है तो वह स्वयं ही कला की श्रेष्ठता को बल प्रदान करता है। इस प्रकार जटिल रंगमंचीय निर्देशों का परित्याग मूल वस्तु में कविता, वातावरण एवम् शक्ति का संयोजन कर देता है जिनमें दृश्य का वर्णन अथवा अनुभव की अभिव्यक्ति होती है तथा जो गायन अथवा पाठ के समय पात्रों अथवा दर्शकों को स्वयम् दृश्य की अपेक्षा अधिक स्थायी रूप से प्रभावित करती हैं। संस्कृत-नाटक में दृश्यात्मक विधान उतना नहीं हुआ करता था, रंगमंचीय तत्त्वों का योग कम से कम था। परिस्थिति को भाषण तथा कथोपकथन के निर्देशों द्वारा और गीतों द्वारा, ग्रहण किया जाता था। हाँ, कथा-वस्तु में प्रायः उपलब्ध संक्षिप्त रंगमंच-निर्देशों का, जिन्हें 'परिक्रम्य' कहते हैं, कोई भी स्मरण कर सकता है। यह निर्देश कक्ष्या-विभाग नामक रूढ़ि से सम्बद्ध है जिसके अनुसार रंगमंच के कुछ भाग पर्वत, उद्यान, नदी-तट आदि कुछ दृश्यों के प्रतिनिधि-रूप समझे जाते थे और जब कोई पात्र परिक्रमा करता था तब वह (ऐसे) विभिन्न स्थानों पर आता था जिन्हें सजग नाटककार दर्शक के अभिज्ञान के लिए कथोपकथन अथवा वर्णनानुच्छेद द्वारा निर्दिष्ट कर देता था। इसी प्रकार अश्व, रथ आदि रंगमंच पर नहीं लाये जाते, किन्तु उनके लिए आंगिक अभिनय तथा चित्राभिनय द्वारा उपयुक्त कलात्मक क्रियाएँ प्रस्तुत की जाती थीं जो उचित रूप में सम्पादित होने पर आश्चर्यजनक रीति से सफल प्रभाव उत्पन्न करती थीं। इस प्रकार आंगिक अभिनय द्वारा व्यक्ति अश्व अथवा रथ पर आरोहण कर उनका संचालन कर सकता है, नौका-विहार कर सकता है, शस्त्र-ग्रहण तथा संचालन कर सकता है अथवा पत्थर फेंक सकता है। उदाहरणार्थ यह स्मरणीय है कि 'शकुन्तला' में 'नाट्येन

अवतारयति' शीर्षक संक्षिप्त रंगमंच-निर्देश पर दुष्यन्त रथ से उतरने का नाट्य करता है। इसी प्रकार शकुन्तला पात्रों से (अनुपस्थित) पौधों को जल देती है और (उसकी) सखियाँ अनुपस्थित पौधों तथा वृक्षों से पुष्प तोड़ती हैं। उपयुक्त हस्त-अभिनय तथा आंगिक अभिनय किस उल्लेखनीय सफल रीति से अनुकरण-कार्य करते हैं इसे आज भी 'कथाकली' में देखा जा सकता है—जहाँ यह कथा आती है कि जब एक समीपवर्ती श्वान पर चाक्यार ने पत्थर फेंकने का अभिनय किया तब वह यथार्थतः एक टाँग से लँगड़ाता और क्रन्दन करता हुआ दौड़ा, या पेकिंग-ऑपेरा में जहाँ दो मनुष्य समभूमि पर उद्वेलित जल में छोड़ी गई नौका में विहार (का अभिनय) करते हैं—जहाँ पूर्णतः वस्त्राभूषित रमणियाँ लज्जाशीलता तथा शरीरांगों के संचालन द्वारा स्नानावसर की निर्वस्त्रता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करती हैं।

अभिनय की भाँति कथा-वस्तु का पद्यात्मक रूप भी नाट्यधर्मी का एक भाग है जिसमें बाद में ध्वन्यंग तथा यान्त्रिक संगीत ने भी सहायता प्रदान की। एक विस्तृत वादन-दल पृष्ठ-स्थित रहता था और तार तथा तबले भावों एवम् अनुभवों को प्रवर्धित करते रहते थे। पात्रों के लिए विभिन्न शैलियों की गतियाँ थीं जो उनकी प्रकृति, आयु तथा भावात्मक अवस्था के अनुसार निर्धारित की जाती थीं और ज्यों ही कोई विशेष पात्र विवशतः प्रवेश करता था अथवा भावात्मक दबाव के कारण अन्दर झपटता था त्यों ही मृदंग अथवा वीणा पर उत्पन्न की गईं संकेतात्मक ध्वनियाँ स्थिति को प्रबुद्ध कर देती थीं। मृदंग सदैव प्रमुख होता था। कथाकली में चेण्डई को देखिए। यह नाटक का मूल प्रतीक था, इसे 'मालविकाग्निमित्र' में देखा जा सकता है जहाँ इसकी ध्वनि नृत्य तथा चतुर-वाणी, के प्रारम्भ के लिए संकेत का कार्य करती है और जहाँ जब किसी अजीब-सी बात की अभिव्यक्ति करनी हो तो कहा जाता है—'बिना नगाड़े का नाटक।'

ध्वन्यंग संगीत की दृष्टि से 'ध्रुव' नामक गीत थे जिन्हें रंगमंच के संगीतज्ञों द्वारा नाटक के उपयुक्त बना लिया जाता था। इस प्रकार के पाँच ध्रुव थे—प्रवेश तथा प्रस्थान के ध्रुव जो दर्शकों को प्रवेश अथवा प्रस्थान करने वाले पात्र, स्थिति-विस्तार और पात्र के प्रवेश अथवा प्रस्थान की अवस्थाओं की सूचना देते थे और तीन अन्य ध्रुव जिनका प्रयोग पात्र के अंक-स्थित होने पर होता था। एक तो सन्दर्भ में परिवर्तन की सूचना देता था, एक स्थिति को और भी अधिक भासमन्त बनाता था और पाँचवाँ तब गाया जाता था जब नाटकाभिनय में पर्याप्त विलम्ब अथवा अन्तर होता था। जो गीत प्राकृत उपभाषाओं में प्रतीकात्मक पद्धति में होते थे वे रंगमंच के संगीतज्ञों द्वारा नाटक के पद्यों तथा स्थितियों के आधार पर निर्मित कर

लिए जाते थे और इनका सामान्य परिचय कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के प्रगीतात्मक चतुर्थ अंक के रंगमंचीय रूपान्तर से हो सकता है जो कुछ पांडुलिपियों में सुरक्षित है। जब किसी दृश्य अथवा भाव की पृष्ठभूमि के रूप में यदा-कदा किसी विशिष्ट मूर्च्छनायुक्त प्रभाव की आवश्यकता होती थी तब ऐसे गीत गाए जाते थे जिनमें केवल संगीतात्मकता मुख्य होती थी अथवा वंशी-जैसे वाद्यों का उपयोग किया जाता था। भरत ने सप्त स्वरों तथा रसों में प्राप्त हो सकने वाले सहज सम्बन्ध को तथा जातियों अथवा संगीत-प्रणालियों को—जो नाटक की विशिष्ट भावात्मक स्थितियों के लिए सन्नद्ध की जा सकती थीं—प्रस्तुत किया है। कश्यप नामक लेखक ने नाटक में प्रयोग के लिए राग-रस-योजनाओं को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। वस्तुतः हम प्राचीन संगीत को नाट्य-परिचारक के रूप में अधिक जानते हैं और 'संगीत' शब्द मुख्यतः गायन एवं वादन के सहाय्य से संचालित रंगमंचीय कला के लिए प्रयुक्त होता था।

प्राचीन भारत में नृत्य-नाटक की यही शैली थी जिसने कालिदास और श्री हर्ष को उत्पन्न किया था ; यही नाट्यधर्मी अथवा आदर्शात्मक एवं कलात्मक प्रविधि थी जिसने संस्कृत-नाटक को कविता, संगीत एवं नृत्य-शवलित सर्वतोमुखी कला बना दिया जो भारतीय रंगमंच की प्रमुख विशेषता है। देश के समस्त अवशिष्ट प्रान्तीय रूपों में इसी प्रकार का निरूपण हमें मिलता है। यह इस प्रकार की मिश्रित कला है जो व्यक्ति को सभी पूर्वीय देशों में, जहाँ-जहाँ अतीत में भारतीय सभ्यता का प्रसार हुआ, दृष्टिगत होती है। भरत ने इस प्रकार की सृष्टि को अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ और कलात्मक मान कर 'आभ्यन्तर' कहा है और दूसरी प्राकृतिक सृष्टि को, जिससे आज हम भली-भाँति परिचित हैं, हीन अथवा अल्प कलात्मक मान कर 'बाह्य' कहा है।

रंगमंचीय अभिनयों की अनुपूरक श्रेणी में, जो भरत के परवर्ती युग में परिचित तथा नियमबद्ध थीं, हम इस क्रियाशील नृत्य-नाटक शैली को अधिक प्रचलित देखते हैं। ये 'उपरूपक'—जिनके बीस प्रकार थे—लोक-रूपों से ग्रहण किए गये थे और ये लौकिक संस्कृत-रंगमंच तथा देशी भाषा-रूपों के बीच की कड़ी हैं। इसमें से कुछ संगीतात्मक हैं जिनका गायन, नर्तन तथा मुद्राओं में व्याख्या होती है और कुछ नृत्य-रचनाओं के बहुत अधिक समीप है। ये संस्कृत-रंगमंच की आधारभूत समृद्धि, विभिन्नता एवं विकास- शक्ति को स्पष्ट करती हैं।

स्वयं नाटक के क्षेत्र में सर्वाधिक अवलोकनीय विकास 'नाटिका' नामक नवीन रीति का विकास है जिसमें शौर्यात्मक 'नाटक' तथा सामाजिक 'प्रकरण' के तत्त्व सम्मिलित रहते थे। इसके उदाहरण कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र' तथा उसके प्रभाव में लिखे गये अनेक परवर्ती नाटक हैं।

साहित्यिक कलाकारों की दृष्टि से हम संस्कृत-नाटकों के क्षेत्र में प्राप्त कुछ उल्लेखनीय बातों पर दृष्टिपात कर सकते हैं। निस्संदेह कालिदास कविता की भाँति यहाँ भा सर्वश्रेष्ठ ठहरते हैं। उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'शकुन्तला' ने विश्वव्यापी प्रसिद्धि प्राप्त की है। इसमें कालिदास ने सभी कवियों एवम् नाटकों को प्रथम मिलन के प्रेम का एक आदर्श प्रदान किया है जो वियोग-वह्नि में पवित्र होता है और पुनः अमर मिलन में संधानित हो जाता है—जिसमें बालक संयोजक-ग्रन्थि का कार्य करता है। यह नाटक इस लिए भी अनुपम है कि इसमें कवि मानव-हृदय तथा प्रकृति के मध्य अभेद स्थापित करता है और लताओं तथा मृगों को भी नाटकीय पात्र बना देता है। अपने 'विक्रमोर्वशी' में कवि ने प्रेमी पर, जो अपनी प्रेयसी के विरह में विक्षिप्त की भाँति बातें करता है, प्रकृति के प्रभाव को प्रदर्शित किया है। अपने 'मालविकाग्निमित्र' के रूप में, जो नृत्य आदि की रम्य प्रेरणा से युक्त एक अपेक्षाकृत संक्षिप्त सभा-नाटक है, उन्होंने एक विशिष्ट उपरोपित प्रकार प्रदान किया जिसे 'नाटिका' कहते हैं और जिसका एक के बाद एक कवि अनुकरण करते गये। कालिदास के पूर्व समर्थ नाटककार भास, सौमिल्ल एवं कविपुत्र हो चुके थे, जिनकी कृतियाँ प्रायः नष्ट हो चुकी हैं। इनमें से हमारे समक्ष केवल भास द्वारा प्रणीत तेरह नाटक ही हैं जिनमें 'स्वप्न-वासवदत्ता' प्रामाणिक प्रतीत होता है। महान् प्रेमी उदयन एवम् वासवदत्ता की कथा पर आधृत यह नाटक कोमल एवम् कठिन स्थितियों और महान् प्रेम के सर्वथा उपयुक्त शौर्यपूर्ण बलिदान के कुशल चित्रण द्वारा अपने समर्थ कृती का परिचय देता है। ईसा की सातवीं शताब्दी में भवभूति, जिन्होंने कालिदास के चरण-चिह्नों पर चलते हुए प्रेम की अपार्थिव प्रकृति की घोषणा की, राम के जीवन की उत्तरकालीन घटनाओं पर लिखे गए अपने नाटक में करुणा का चित्रण करने में उनसे (कालिदास से) भी आगे बढ़ गये—भवभूति, जो अभिव्यंजना में अपेक्षाकृत अधिक उत्स्यन्दी एवम् विशद भी थे, ध्वनि एवं तात्पर्य में समनुरूपता स्थापित करने और उन्नत तथा भक्ति-मिश्रित भय के प्रेरक एवम् भयानक तथा वीभत्स दृश्यों को उद्भावित करने में इतने समर्थ थे जितना संस्कृत में अन्य कोई कृती नहीं हुआ। राजा हर्षवर्धन ने कालिदास की प्रणाली पर दो नाटिकाएँ उपस्थित की है। इनमें से 'रत्नावली' नटों को प्रिय थी, किन्तु वस्तुतः इस महान् नाटककार की उल्लेखनीय कृति 'नागानन्द' है जो एक प्रचलित बौद्ध-कथा को लेकर लिखी गई है जिसमें नायक एक निर्धन नाग की रक्षा के लिए अपना जीवन अर्पित कर देता है। इस नाटक ने शान्त रस को एक उपयुक्त रस के रूप में मान्यता प्रदान करने के लिए मार्ग प्रशस्त बनाया। जहाँ उपर्युक्त नाटकों में मूल-वस्तु महाकाव्यगत नरेशों अथवा उसी प्रकार के कीर्तिवान् राज-पात्रों से सम्बद्ध रहती थी वहाँ 'प्रकरण' नामक नाट्य-वर्ग में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य सामा-

जिक तथ्यों का उल्लेख होता था। इनमें शूद्रक का 'मृच्छकटिक' सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस नाटक में कथागत-औत्सुक्य एवं रसाकर्षण में परस्पर समनुरूपता है। इसमें मुख्य एवम् गौण सभी चरित्रों का ऐश्वर्य वर्तमान है और सब को वैयक्तिकता, कविता एवं प्रगीतात्मकता के माध्यम से चित्रित किया गया है। इनके साथ उत्साहपूर्ण कार्य भी संयुक्त है और संस्कृत में केवल यही एक ऐसा नाटक है जिसमें शुद्ध हास्य एवम् चातुर्य का व्यापक मिश्रण हुआ है। अपनी दानशीलता के कारण निर्धन हुए एक सदय ब्राह्मण के एक धनी वेश्या से प्रेम की कथा के साथ-साथ इसमें राज्य-सत्ता बदल डालने की भी कथा है और यदि नाटक से किसी का तात्पर्य रंगमंच के लिए पूर्ण उपयुक्त कृति से है तो शूद्रक की कृति निस्संदेह संस्कृत-नाटक के सम्पूर्ण क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ ठहरती है। शूद्रक के चरण-चिह्नों पर चलते हुए भवभूति ने अपनी सामाजिक कारुणिक-कामदी 'मालतीमाधव' की रचना की। इसमें कुछ अति की गई है, किन्तु इसमें एक ऐसा अद्वितीय अंक है जिसमें कवि जलते हुए पैशाचिक श्मशानघाट को हताश प्रेम का दृश्य बना देता है। हमारी सर्वश्रेष्ठ नाटकीय कृतियों में 'पुष्पदूषितका' भी उल्लेखनीय है जिसमें एक निर्दोष स्त्री पर कतिपय परिस्थितिजन्य प्रमाणों के आधार पर अनास्था का सन्देह किया जाता है और उसके पति की अनुपस्थिति में उसे क़ानून को अपने हाथों में लेने वाले श्वसुर द्वारा गर्भावस्था में निष्कासित कर दिया जाता है। ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में विशाखदत्त द्वारा प्रणीत 'मुद्राराक्षस' एवम् 'देवी चन्द्रगुप्त'—जो क्रमशः मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त तथा गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त पर लिखे गये हैं—नामक दोनों महत्वपूर्ण कृतियों की भी चर्चा की जानी चाहिए। 'मुद्राराक्षस' में नाटककार स्पष्ट शैली, जटिल कथावस्तु, सातति कार्य और अशिथिल गति पर पूर्ण आधिपत्य रखता है। इसमें वह एक ऐसी कथा-वस्तु की योजना करता है जो प्रेम से (शृंगार रस से) सर्वथा शून्य है, किन्तु आदर्श मैत्री के—जो विश्वासघात की अपेक्षा नाश को श्रेयस्कर मानती है—चित्रण में जो संस्कृत-नाटक के सम्पूर्ण क्षेत्र में अनन्य है। 'देवी चन्द्रगुप्त', जो दुर्भाग्यवश अभी तक अप्राप्य है, संस्कृत-नाटक के लिए एक अपूर्व और साहसिक कथावस्तु—नायक द्वारा एक रानी का रूप धारण करना, शत्रु-वध, अपने अग्रज की रानी से प्रेम और अन्ततः अग्रज का वध तथा राज्य और रानी को ले लेना—प्रस्तुत करता है। संस्कृत में नाटकीय प्रतिभा की अन्य उल्लेखनीय अभिव्यंजनाओं में तीन अन्य श्रेणियों और उनसे सम्बद्ध नाटकों की चर्चा करनी शेष है: सातवीं शताब्दी में वर्तमान कांची के पल्लव-नरेश महेन्द्र विक्रम द्वारा रचित 'मत्तविलास' और 'भगवदज्जुकीय' नामक प्रहसन। इनमें से दूसरा प्रहसन योगी के पर-काया-प्रवेश के अद्भुत कार्य के आधार पर लिखित है और उसमें मौलिकता है। यम का दूत एक भूल कर बैठता है और परिणाम-स्वरूप एक महात्मा एक वेश्या के शरीर में प्रविष्ट होकर दार्शनिक बातें करने लगता है तथा

वेश्या की आत्मा उसके शरीर में प्रविष्ट करा दी जाती है और महात्मा का शरीर हाव-भावों का प्रयोग करने लगता है। शृंगार रस के स्वगत-भाषणों में शूद्रक, वररुचि, ईश्वरदत्त तथा श्यामिलक द्वारा रचित हास्य और यथार्थ तत्त्वों से पुष्ट चार प्राचीन भाण प्राप्त होते हैं। तृतीय उल्लेखनीय श्रेणी उन रूपकों अथवा दार्शनिक नाटकों की है जिनमें अमूर्त अवधारणाएँ—गुण, दोष और विचार-प्रणालियाँ—पात्रों के रूप में अंकित हैं। इस श्रेणी के नाटक का सूत्रपात तुर्फ़ान् की खुदाई में उपलब्ध अश्वघोष की रचनाओं के अंशों में प्राप्त होता है; नवीं शताब्दी के काश्मीरी तार्किक-कवि जयन्त का आगमडम्बर यह उदात्त सन्देश प्रदान करता है कि सब धर्मों का शुद्ध हृदय से अनुसरण सत्य-अन्वेषण के उपयुक्त मार्गों का निर्माण करता है और ग्यारहवीं शताब्दी के कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय' अतीव प्रतिभा, शक्ति एवम् रस के साथ वेदान्त-दर्शन का चित्रण करता है।

भारतीय संस्कृति के इतिहास में संस्कृत-नाटक और उससे उत्पन्न देशी भाषाओं के स्वरूपों ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था। ये लोगों को शताब्दियों तक निरन्तर आत्मिक, धार्मिक एवम् आदर्शात्मक संस्कृति की शक्तियों को समेकित करने की प्रेरणा देते रहे हैं। इसी दृष्टिकोण को लेकर वे जनता के समक्ष उत्सवों में और देवालयों में अभिनीत किए जाते थे। जहाँ संस्कृत के सौन्दर्योद्भावकों के अनुसार रसानुभूति नाटक का मुख्य उद्देश्य है वहाँ उन्होंने यह भी कहा है कि कला का द्वितीय लक्ष्य मनुष्य को शिक्षा प्रदान करना है जिससे वह अपने समक्ष उपस्थित किये गये नायकों का अनुकरण करे, राम के समान कार्य करे और रावण द्वारा प्रवर्तित पथ का त्याग करे—विशेषत: शौर्यात्मक नाटक लोगों के समक्ष एक महान् एवम् उदात्त आत्मा का आदर्श उपस्थित करते थे जो बुराई से युद्ध करती थी और विजयी होती थी। सामाजिक 'प्रकरण' में भी सच्चे प्रेम की विजय, चरित्र तथा पवित्रता का चित्रण किया जाता था। प्रहसनों और स्वगत-भाषणों में समाज के परजीवी तथा दम्भी जनों पर प्रभविष्णु व्यंग्य करते हुए उनके कपट का भंडाफोड़ किया जाता था। महाकाव्यगत तथ्य-कथन के साथ-साथ नाटक सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में जनता में प्रौढ़-शिक्षा प्रसार का भार भी उठाता रहा है और यदि 'मृच्छकटिक' के विनीत गाड़ीवान चेट की भाँति कोई भी सामान्य भारतीय सामान्यत: मूल्यों का वास्तविक ज्ञान रखता है और शिक्षा के अतिरिक्त शुद्ध संस्कृति के परीक्षणों में कदापि असफल नहीं रहता है तो इसका श्रेय बहुत-कुछ भारतीय नाटक को है। किन्तु, जैसा ऊपर कहा गया है, भारतीय सिद्धान्तानुसार नाटक का सामयिक प्रयोग आनुषंगिक है। 'नाट्य-शास्त्र' के प्रारम्भिक परिच्छेद में भरत द्वारा वर्णित एक महत्वपूर्ण कथानक मिलता है—जब देवों की असुरों पर विजय की कथा का अभिनय किया गया तब असुरों

ने कोलाहल करते हुए कहा कि यह सब देवताओं के प्रति पक्षपात है और वे उसका विकास नहीं होने देंगे। ब्रह्मा ने दैत्यों को यह कह कर शान्त किया कि नाटक का लक्ष्य किसी एक पक्ष की स्तुति करना अथवा निन्दा करना नहीं है, अपितु सब के गुण-दोषों को उपस्थित करना है; तीनों लोकों के अनुभवों एवम् कार्यों का प्रतिनिधित्व करना है; उसमें किसी एक प्रकार की कथावस्तु के प्रति पक्षपात नहीं दिखाया जा सकता और वह प्रत्येक क्रिया, गुण, क्रीड़ा, लाभ, दुःख, प्रसन्नता, युद्ध, प्रेम आदि को प्रस्तुत करता है। यदि प्रत्येक क्रिया प्रदर्शित की जाएगी और प्रत्येक व्यक्ति इससे अपनी रुचि के अनुसार सन्तोष प्राप्त करेगा तो इस सम्पूर्ण कला का जनता पर उपयोगी तथा शिक्षात्मक प्रभाव होगा और मुख्यतः जो कुछ यह है उसके अतिरिक्त भी यह शान्ति तथा मनोरंजन का साधन बनेगा।

अब यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि संस्कृत नाटक, जिसका इतना कलात्मक भावन किया गया था और जो प्राचीन समय में मनोरंजन का महत्वपूर्ण साधन था, क्यों और किस प्रकार क्षीण हो गया ? इसका प्रमुख कारण भाषायी तथा साहित्यिक है। मध्यकालान भारतीय-आर्य भाषाओं तथा तदनन्तर आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं के विकास के परिणाम-स्वरूप साहित्य की रचनात्मक प्रतिभा उस ओर प्रवृत हुई। इसके साथ-साथ देशी भाषाओं के रंगमंचों के विकास ने, जो संस्कृत-नाटक के प्रसंगों एवं प्रविधि से युक्त थे किन्तु जिनमें सामान्य भाषा का प्रयोग रहता था, मूल संस्कृत भाषा को अनावश्यक बना दिया। मूलतः गायन तथा नृत्य के लिए रचित रचनाओं का विकास, उदाहरणार्थ जयदेव का 'गीत-गोविन्द' जो विकसित नाटक के सम्पूर्ण अभिनय तथा नृत्य से युक्त है, दूसरी ऐसी परिस्थिति थी जिसने जनता द्वारा खोजे गए नैरन्तरिक कला-रूप संस्कृत-नाटक को लुप्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत-नाटक के आगामी निदर्शन लेखक के काव्यमय अथवा साहित्यिक उपहारों के अधिकाधिक प्रदर्शन-मात्र हो कर रह गए।

तथापि इसकी अवनति का दोष इसकी समाज एवम् जीवन को प्रतिबिम्बित करने की असफलता पर आरोपित नहीं किया जा सकता क्योंकि उस तत्त्व को आत्मसात् करने वाली स्थानीय भाषाओं में भी नाटकों का कोई वैसा आकस्मिक विकास नहीं हुआ। वास्तव में संस्कृत में जितनी प्रचुर नाट्य-प्रतिभा मौजूद है, उसके समकक्ष अभी भी कोई भारतीय भाषा नहीं आ सकी है। आज न केवल भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, विशाखदत्त और महेन्द्रविक्रम को ही रंगमंच पर पुनः उत्पन्न करने की आवश्यकता है, अपितु भरत का उत्कृष्ट तथा व्यापक ग्रन्थ भी आज रंगमंच के किसी भी अध्येता द्वारा, चाहे वह लेखक हो अथवा अभिनेता, उपेक्षित नहीं

किया जा सकता। पूर्व-वर्णन के अनुसार कथा-वस्तु के निर्माण और प्रसंगों के प्रस्तुतीकरण में संस्कृत-नाटक की कुछ निश्चित प्रणालियाँ एवम् लक्ष्य हैं जो अध्येता को आज भी बहुत ज्ञान दे सकते हैं। मुख्यतः सृजन में यदि हमें आदर्श प्रविधि पर आधृत एक भिन्न भारतीय शैली का विकास करना हो, जो बाह्य यान्त्रिक सहायता की अपेक्षा आन्तरिक कलात्मक साधनों पर अपेक्षाकृत अधिक आधृत रहे; और अपने रंगमंच को केवल पश्चिमी रंगमंच का अनुकरण-मात्र न होने देना हो तो हमें भरत और कालिदास का गहन अध्ययन कर उनके द्वारा प्रकल्पित तथा प्रयुक्त नाट्य के 'धर्मी' तथा 'साम्य' को हृदयंगम करना होगा। ऐसा करने पर हम एक ही प्रयत्न में नाटक, नृत्य तथा संगीत की तीन कलाओं को पुनर्जीवित कर सकेंगे।

इस प्रकार के पुनर्निर्माण में हमें केवल तभी सफलता प्राप्त हो सकती है जब भारत के विभिन्न भागों में जीवित नृत्य-नाट्य-परम्पराओं का दोहरा समन्वय कर हम उन्हें बृहत्तर भारत की नाट्य-परम्पराओं से समन्वित करें। जब कि विस्तृत प्रगीतात्मक अभिनय को कत्थक और भरत-नाट्य में खोजा जा सकता है तब सर्वाधिक सहायता हम भारत में अभी तक जीवित नाटकीय स्वरूप 'कथाकली' से प्राप्त कर सकते हैं। प्रसंगवश इस पर ध्यान दिया जा सकता है कि समस्त भारत में मालाबार के 'कुटियाट्टम' में, जो अभी तक वहाँ प्रचलित है, अब भी संस्कृत-नाटक के अभिनय का परम्परागत स्वरूप जीवित है। प्राचीन रंगमंचीय प्रविधि का बृहदांश, जो भारतवर्ष में या तो नष्ट हो गया है अथवा क्षीण हो गया है, पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रेक्षागृहों में विद्यमान है जब भारत के सांस्कृतिक नेतृत्व की विजय-वेला में समूचे पूर्व में भारतीय महाकाव्यों, कला और नाटकों का प्रसार था। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त उत्तर-पूर्वी एशिया में सभ्यता का विकास पूर्णतः दोनों भारतीय महाकाव्यों और उन पर आधृत नृत्य-नाट्यों के आधार पर हुआ है। नाटक के लिए रक्षित संगीत-प्रणाली और वातावरण-सृष्टि तथा भावों के स्वरांकन के लिए आयोजित वाद्य-रचनाओं को हम जावा निवासियों के 'गैमेलान' और बाली-निवासियों के 'वायंग्स' में पायेंगे। जावा और बाली से हमें भरत द्वारा उल्लिखित पशु-गतियों को भी लेना है। अंग-निक्षेप (चेष्टा) तथा संगीत द्वारा प्रस्तुत चीन के उच्च कोटि के नाटकों में केवल विविध पात्रों के उपयुक्त सूक्ष्मतः विधिबद्ध गीत-प्रणाली ही नहीं, अपितु हमारे आंगिक तथा चित्र-अभिनय का भी पर्याप्त अंश सुरक्षित है। ये तथा इनके अतिरिक्त जापान का 'नोह', थाईलेंड का 'खोन', लओस का 'रामायण-नृत्य', कम्बोडिया का 'बैले', बर्मा का 'पो' और कैंडी-नृत्य हमारे देश से बाहर हमारे लिए भरत के 'नाट्य-शास्त्र' के परिच्छेदों तथा छाया-नाट्य और कठपुतली के खेलों की रक्षा किये हुए हैं, जो अब हमारे देश के बड़े भाग में प्रचलित

नहीं हैं। सुदूर पूर्व के इन प्रत्यादानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण छोटी अवस्था से ही प्रारम्भ किए गए वे व्यायाम हैं जो इस कला के लिए आधार-स्वरूप है और जहाँ हमें पुनः बड़े अवरोध का सामना करना पड़ता है। आज जब हम भ्रमण करने और अपनी संस्कृति एवम् कलाओं का सुयोजित पुनर्निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र हैं तब उत्तर-पूर्वी एशिया की नृत्य-नाट्य परम्पराओं के अनुसंधान के लिए एक प्रशस्त योजना प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया है। भारत और इन देशों के बीच ये ही लोकप्रिय और सबल बंधन हैं। अन्त में मैं जावा के रंगमंच के विषय में कुमारस्वामी का एक उद्धरण देना चाहता हूँ : "सम्भवतः भारत, इंडोनेशिया तथा सुदूर पूर्व में आज भी जीवित प्राचीन नाट्य-रूपों के तुलनात्मक सर्वेक्षण से अधिक मनोरंजक और ज्ञान-वर्धक और कोई अध्ययन नहीं हो सकता। इस प्रकार का विस्तृत सर्वेक्षण न केवल उन क्षेत्रों के सांस्कृतिक सम्बन्धों पर बल देगा जो एक समय गाढ़ बन्धन में आबद्ध थे और न केवल विविक्त रूपों के महत्त्व को स्पष्ट करेगा, अपितु उनकी विविधता इस प्रकार की है और अभिनेताओं का निष्पादन इतना अधिक कुशल है तथा यह शिल्प-कौशल एकान्ततः महाकाव्य तथा यथार्थ नाटकीय सामग्री में इतना निरन्तर प्रयुक्त हुआ है कि इस प्रकार की कृति यूरोपीय रंगमंच की साधारणता तथा अज्ञान पर कुछ प्रकाश डालने के लिए भी भली-भाँति पर्याप्त हो सकती है जहाँ रंगमंचीय एवं प्रतिनिधान-कला नाट्य एवं सूक्ष्म-कला को अभिभूत कर चुकी है।"
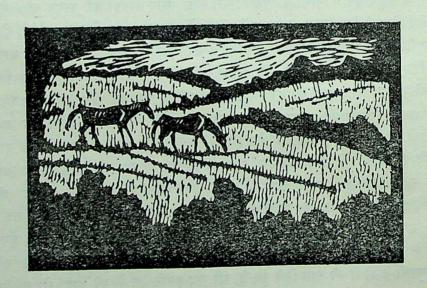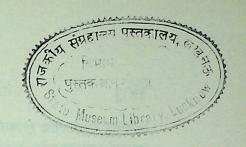
संस्कृत नाट्य-शास्त्र में रूपक का स्वरूप तथा भेद-प्रभेद

—डा० गोविन्द त्रिगुणायत

संस्कृत आचार्यों ने इन्द्रिय सन्निकर्ष के आधार पर काव्य के दो भेद किए हैं—दृश्य और श्रव्य। नट द्वारा अंग-विक्षेप, भाव-भंगिमाओं और उच्चारण-सौष्ठव के सहारे अभिव्यक्त रसपूर्ण जीवन प्रत्यय चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रधान होने के कारण दृश्य, और कवि की वाणी द्वारा अभिव्यक्त उसके अनुभव श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से अनुभूय होने के कारण श्रव्य काव्य के अभिधान से प्रसिद्ध हो गए हैं। रूपक का सम्बन्ध काव्य की पहली विधा से है।

रूपक शब्द 'रूप' धातु में णवुल प्रत्यय जोड़ने से व्युत्पन्न हुआ है। साहित्य[1] में यह नाट्य का वाचक माना जाता है। कहीं-कहीं रूपक के स्थान पर केवल रूप शब्द का प्रयोग भी मिलता है। वास्तव में प्रत्यय-भेद के अतिरिक्त दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। नाट्य के अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। यह कहना कि इन शब्दों में अभिनय के अर्थ का समावेश नवीं या दसवीं शताब्दी के आस-पास हुआ युक्तियुक्त[2] नहीं है। यदि हम ऋग्वेद[3] संहिता, तैत्तरीयब्राह्मण,[4] थेरगाथा,[5] मिलिन्दप्रश्न,[6] अशोक के शिलालेख[7] आदि में प्रयुक्त इन शब्दों को, अर्थ के विवादग्रस्त होने के कारण अभिनय के अर्थ से पूर्ण सम्बद्ध स्वीकार न भी करें तो भी नाट्य-शास्त्र के प्रमाण के आधार पर इनकी प्राचीनता

---

१. रूपक शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं। देखिए 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' मोनियर विलियम्स, पृष्ठ ८४।
२. देखिए मांकड लिखित 'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा', पृष्ठ ३१ कराची (१९३६)।
३. देखिए 'ऋग्वेद संहिता' ६।४६।१८। यहाँ रूप शब्द का अर्थ भेष बदलना है।
४. इसका संकेत मोनियर विलियम्स ने दिया है—'संस्कृत इंगलिस डिक्शनरी' पृष्ठ ८८४।
५. देखिए इसका संकेत 'संस्कृत ड्रामा' कीथ-लिखित—पृष्ठ ५४। यहाँ 'रूपकम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।
६. देखिए 'मिलिन्दप्रश्न' (मिलिन्दपह्न) पृष्ठ ३४४ 'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा' से उद्धृत।
७. 'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा' मांकड पृष्ठ २७।

निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है। नाट्य-शास्त्र में कई स्थलों[१] पर स्पष्ट रूप से 'दशरूप' शब्द का प्रयोग नाट्य की दस विधाओं[२] के अर्थ में किया गया है। नाट्य-शास्त्र का समय ई० पू० पहली शताब्दी से तीसरी शताब्दी ईसवी निश्चित किया गया है।[३]इससे स्पष्ट है कि रूपकशब्द नाट्य के अर्थ में ईसवी शताब्दी पूर्व से ही प्रचलित है।

× × ×

रूपक या रूप की स्वरूप-व्याख्या के पूर्व हमें नाट्य, नृत्य, और नृत्त शब्दों की विवेचना करनी पड़ेगी क्योंकि ये तीनों शब्द रूपक के विकास की प्रथम तीन भूमिकाओं के द्योतक हैं। इनको समझे बिना हम रूपक और उसके भेद-प्रभेदों के वास्तविक रूप को नहीं समझ सकते।

'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। नाट्य-दर्पण[४] के रचयिता रामचन्द्र के मतानुसार यह शब्द 'नाट्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। किन्तु यह मत सर्वमान्य न हो सका क्योंकि पाणिनि ने नाट्य की उत्पत्ति 'नट्' धातु से मानी है।[५] पाणिनि का मत ही प्रतिष्ठित समझा जाता है। यहाँ पर हम थोड़ा-सा संकेत विद्वानों की उन आनुमानिक क्रीड़ाओं की ओर कर देना चाहते हैं जो नट्-धातु का आधार लेकर की गई हैं। वैबर[६] साहब ने नट्-धातु को 'नृत्' धातु का प्राकृत-रूप माना है। मोनियर[७] विलियम्स ने अपने कोष में इसी मत का समर्थन किया है। कुछ दूसरे विद्वानों का कहना है कि नट्-धातु 'नृत्' का प्राकृत-रूप तो नहीं है किन्तु इसका जन्म नृत् की अपेक्षा बहुत बाद में हुआ था। इस मत के समर्थकों में श्री मांकड और डॉ० चन्द्रभानु गुप्त[८] अग्रगण्य हैं। उनका कहना है कि नृत् धातु का प्रयोग हमें ऋग्वेद तक में मिलता है। किन्तु नट्-धातु पाणिनि से पहले कहीं भी

---

१. नाट्य-शास्त्र (निर्णय सागर) १९४३ पृष्ठ २८६ पर लिखा है 'दशरूप विधानेतु पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः'
२. देखिए उपर्युक्त 'दशरूप विधानेतु' की अभिनवगुप्त-कृत व्याख्या।
३. देखिए 'साहित्य दर्पण आफ़ विश्वनाथ' में काणे साहब की भूमिका पृष्ठ ४० तृतीय संस्करण।
४. देखिए रामचन्द्र लिखित 'नाट्य-दर्पण' पृष्ठ २८ (जी० ओ० सी०)।
५. पाणिनि ४।३।१२९।
६. 'ए हिस्ट्री आफ़ इंडियन लिटरेचर' वेबर-लिखित, तीसरा संस्करण पृष्ठ १९७.
७. 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' मोनियर विलियम्स—पृष्ठ ५२५.
८. देखिए—'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा' पृष्ठ ७ और देखिए 'दि इंडियन थियेटर' डा० चन्द्रभान गुप्त लिखित अध्याय ९ पृष्ठ १३६.

प्रयुक्त नहीं मिलती है। उनका यह तर्क श्रमसाध्य खोजों पर आधारित नहीं है। मुझे ऋग्वेद में नट्-धातु का प्रयोग भी मिला है।[1] अतः श्री मांकड का मत निराकृत हो जाता है। वास्तव में नट् और नृत्त ये दोनों धातुएँ ऋग्वेद-काल से ही स्वतन्त्र और निरपेक्ष-रूप से प्रचलित हैं। इसीलिए पाणिनि[2] में इनका उल्लेख अलग-अलग किया है। यह हो सकता है कि इन दोनों के अर्थों में समय-समय पर विविध भाषा-वैज्ञानिक कारणों से परिवर्त्तन होता रहा हो। ऋग्वेद में ये दोनों भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त मिलती हैं।[3] वेदोत्तर-काल में ये सम्भवतः समानार्थक होगई थीं। बाद में नट्-धातु के अर्थ का और अधिक विस्तार हुआ। उसमें नृत्-धातु के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ भी सम्बद्ध हो गया। इस बात का प्रमाण हमें 'नाट्य-सर्वस्व दीपिका'[4] और 'सिद्धान्त[5] कौमुदी' नामक ग्रन्थों से मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों में नट्-धातु का अर्थ गात्र-विक्षेपण और अभिनय दोनों ही लिया गया है। आगे चलकर नट्-धातु केवल अभिनय मात्र की वाचक रह गई। गात्र-विक्षेपण के अर्थ में केवल नृत्-धातु का ही प्रयोग प्रचलित हो गया। नाट्य-शब्द अभिनयार्थक नट्-धातु से बना हैं और 'नृत्य' तथा 'नृत्त' ये दोनों शब्द गात्र-विक्षेपणार्थक 'नृत्' धातु से व्युत्पन्न हुए हैं।

नाट्य, नृत्य और नृत्त इन तीनों की विस्तृत व्याख्या हमें शारदातनय-विरचित 'भावप्रकाशम्',[6] विद्यानाथ लिखित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण',[7] निश्शंक शार्ङ्गदेव प्रणीत 'संगीतरत्नाकर',[8] नामक ग्रन्थों में मिलती है। इनके अतिरिक्त मन्दारमरन्द चम्पू,[9]

---

१. देखिए—'ऋग्वेद' ७।१०४।२३.

२. पाणिनि ४।३।१२९.

३. सायण ने नट्-धातु का अर्थ 'व्याप्नोति' किया है और नृत् हिलने-डुलने के अर्थ में आई है। देखिए 'सायण भाष्य' १०।१८।३, नृत् के अर्थ के लिए और नट् के अर्थ के लिए ४।१०५।२३ की टीका।

४. देखिए 'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा' पृष्ठ ८.

५. सिद्धान्त कौमुदी' के तिङन्त प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—'नट नृत्तौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रायं विवेकः। पूर्वं पठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिष नटव्यपदेशः।"

६. 'भावप्रकाशम्'—शारदातनय पृष्ठ १८१

७ विद्यानाथ लिखित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' (बाम्बे संस्कृत सिरीज़) पृष्ठ १०१

८. 'संगीतरत्नाकर' का सातवाँ अध्याय देखिए।

९. देखिए 'मन्दारमरन्द चम्पू' कृष्णशर्मन् लिखित पृष्ठ ५९ (काव्य-माला सिरीज़)

नाट्यदर्पण,[१] सिद्धान्त-कौमुदी[२] आदि ग्रन्थों में भी इन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इन सभी ग्रन्थों में नाट्य-स्वरूप के सम्बन्ध में कोई विशेष मतभेद नहीं दिखाई देता। किन्तु नृत्य और नृत्त के सम्बन्ध में सबकी अपनी-अपनी धारणाएँ अलग-अलग हैं। इन सभी ग्रन्थों में 'दशरूपकम्' की सबसे अधिक प्रतिष्ठा है। उसी के मत सर्व-मान्य भी हैं। अतएव हम यहाँ पर उसी के आधार पर इन तीनों की स्वरूप-व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

दशरूपककार धनंजय और उसके टीकाकार धनिक दोनों ने नाट्य के स्वरूप को सविस्तार समझाने की चेष्टा की है। धनंजय ने अवस्था की अनुकृति को नाट्य कहा है।[३] आचार्य का अवस्था की अनुकृति से क्या अभिप्राय है इसको स्पष्ट करते हुए धनिक ने लिखा है "काव्य में जो नायक की धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाएँ बतलाई गई हैं उनकी एकरूपता जब नट अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है, तब वही एक-रूपता की प्राप्ति नाट्य कहलाती है। उसमें आंगिक अभिनय के साथ सात्त्विक अभिनय भी होता है। उसका विषय रस है इसी लिए वह रसाश्रित कहलाता है।[४]

नृत्य नाट्य से भिन्न होता है। दोनों में विषय सम्बन्धी अन्तर है। नाट्य रसाश्रित होता है और नृत्य भावाश्रित।[५] नृत्य में काव्यत्व भी नहीं पाया जाता। उसमें सुनने की बात भी नहीं होती। इसी लिए प्रायः लोग कहा करते हैं कि नृत्य केवल देखने की वस्तु है। नृत्य में आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है।[६] इसमें पदार्थ का अभिनय होता है, वाक्य का नहीं।[७] इसे लोग दैव-आविष्कृत मानते है।[८]

नृत्य से नृत्त भिन्न होता है। नृत्य में पदार्थ का अभिनय होता है किंतु नृत्त में किसी प्रकार का भी अभिनय नहीं होता। नृत्य और नृत्त में आधार-सम्बन्धी भेद

---

१. देखिए 'नाट्य-दर्पण'—रामचन्द्र। लिखित (जी० ओ० सी०)

२. देखिए 'सिद्धान्तकौमुदी' पृष्ठ १९६

३. देखिए 'दशरूपकम्' १-७। इसकी व्याख्या के लिए डा० गोविन्द त्रिगुणायात लिखित 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ५ दृष्टव्य है।

४. 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ५।

५. देखिए 'दशरूपकम्' १.९।

६. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ६, ७।

७. देखिए धनंजय लिखित 'दशरूपकम्' में १.९ की धनिक-कृत संस्कृत टीका।

८. वही।

है । नृत्य का आधार भाव होते हैं और नृत्त का ताल और लय ।[१] यदि हम नाट्य, नृत्य और नृत्त इन तीनों पर तुलनात्मक रूप से विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि नृत्त, नृत्य ये नाट्य की ही दो प्रथम भूमिकाएँ हैं ।

रूपक सामान्यतया नाटच का पर्यायवाची माना जाता है । किन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो हमें नाटच और रूपक में भी उसी प्रकार सूक्ष्म अन्तर दिखाई पड़ेगा जैसा कि नाट्य और नृत्य में मिलता है । दशरूपककार ने रूपक को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रूप का आरोप करने के कारण नाटच को रूपक कहते हैं ।[२] साहित्यदर्पणकार[३] ने दशरूपक के ही शब्द यत्किंचित परिवर्तन के साथ दोहराए हैं । नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति को महत्व दिया जाता है । किन्तु रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ साथ रूप का आरोप भी होता है । वास्तव में अभिनय-कला का पूर्ण और सफल रूप हमें रूपक में ही मिलता है । यदि नाट्य को रूप के आरोप से विशिष्ट न किया जाय तो पूर्ण साधारणीकरण नहीं हो सकेगा । क्योंकि साधारणीकरण के लिए केवल अवस्थानुकृति ही आवश्यक नहीं होती, रूपानुकृति भी अपेक्षित होती हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि नृत्त, नृत्य और नाटच ये तीनों रूपक की प्रारम्भिक भूमिकाएँ हैं । अभिनय-कला का पूर्ण और चरम रूप हमें रूपक में ही मिलता है ।

संस्कृत साहित्य में हमें दो प्रकार की नाटच-विधाएँ मिलती हैं—रूपक और उपरूपक । रूपक नाटच के भेद कहे गए हैं[४] और उपरूपक नृत्य के ।[५] रूपकों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है । नाटच-शास्त्र में दस रूपक गिनाए गए हैं ।[६] नाम क्रमशः प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग हैं । उसमें अंक के लिए उत्सृष्टांक का अभिधान भी प्रयुक्त किया गया है ।[७]

---

१. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ७ ।

२. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ५ ।

३. देखिए 'साहित्य दर्पण' में 'दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु तु रूपकम्' ३।६ ।

४. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' डा० गोविन्द त्रिगुणायत पृष्ठ ५ पर 'दशधैव रसाश्रयम' की व्याख्या ।

५. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ ६ पर धनिक कृत-नृत्य के स्वरूप की व्याख्या ।

६. देखिए 'नाटचशास्त्र' १८।२,३ ।

७. देखिए 'नाटचशास्त्र' १८।८ ।

इनके अतिरिक्त भरत मुनि ने नाटक और प्रकरण के योग से नाटी की उत्पत्ति बतलाई है।[१] अग्निपुराण में हमें रूपक और उपरूपक सम्बन्धी भेद नहीं दिखाई पड़ता है। उसमें सत्ताईस नाटकों का उल्लेख किया गया है। उनमें दस रूपक और सत्रह उपरूपक सन्निविष्ट हैं।[२] दशरूपककार ने भरत के अनुकरण पर रूपक के दस भेद माने हैं।[३] 'काव्यानुशासन' और 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थों में रूपकों की संख्या दस से बढ़ाकर बारह कर दी गई है।[४] 'काव्यानुशासनकार' ने नाट्य के दस भेदों में नाटिका और सट्टक दो प्रकार और जोड़ दिए हैं। 'नाट्यदर्पण' में हमें सट्टक के स्थान पर प्रकरण का उल्लेख मिलता है। 'भावप्रकाशम्' में दशरूपक और नाट्य-शास्त्र में परिगणित रूपक के दस भेदों को ही मान्यता दी गई है।[५] इस ग्रन्थ में नाटिका का उद्भव नाटक और प्रकरण के योग से माना गया है। साहित्यदर्पण में रूपक के नाट्य-शास्त्र वाले दस भेद ही स्वीकार किए गए हैं। विश्वनाथ ने नाटिका की गणना उपरूपकों में की है।[६] इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत नाट्य-शास्त्र में रूपकों की संख्या के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। किन्तु एक बात बहुत स्पष्ट है, वह यह कि नाट्य-शास्त्र और दशरूपक में वर्णित रूपकों के दस भेद प्रायः सभी को मान्य हैं। अतएव यहाँ पर हम उन्हीं दशरूपकों का वर्णन करेंगे। उनके नाम नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, वीथी, समवकार, व्यायोग, अंक और ईहामृग हैं।[७]

नाटक का नाम रूपकों में सर्वप्रथम लिया जाता है क्योंकि प्रकरणादि अन्य रूपकों के लक्षण नाटक के आधार पर ही निर्धारित किए गए हैं[८]। इसके अतिरिक्त रूपक के प्राणभूत तत्त्व रस की पूर्ण प्रतिष्ठा भी इसी में पाई जाती है[९]। संभवतः इन्हीं कारणों से किसी ने 'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्' लिख डाला है। दशरूपककार धनंजय ने नाटक की विशेषताओं का विश्लेषण छह दृष्टियों से किया है—प्रारम्भिक

---

१. देखिए 'नाट्य-शास्त्र' १८।१०६।

२. देखिए 'अग्निपुराण' अध्याय ३३८ श्लोक १ से लेकर ४ तक।

३. देखिए 'दशरूपक' १।८।

४. देखिए हेमचन्द्र—लिखित 'काव्यानुशासन' पृष्ठ ३१७।

५. देखिए नाट्य-दर्पण' रामचन्द्र और गुणचन्द्र लिखित पृष्ठ २६ (जी० ओ० एस०)।

६. देखिए 'साहित्यदर्पण' ६।५५७

७. देखिए 'दशरूपक' १।८ 'नाट्यशास्त्र' १८।२

८. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' में ३।१ की व्याख्या।

९. वही।

विधान और वृत्ति, कथावस्तु, नायक, रस, वर्ज्य दृश्य और अंक । दशरूपककार ने नाटक के प्रारम्भिक विधानों का वर्णन इस प्रकार किया है—"नाटक में सबसे पहले सूत्रधार के द्वारा पूर्व-रंग का विधान होना चाहिए । सूत्रधार के चले जाने पर उसीके सदृश दूसरे नट के द्वारा स्थापना, आमुख या प्रस्तावना की जानी चाहिए । स्थापक को चाहिए कि दिव्य वस्तु की दिव्य होकर, मर्त्य की मर्त्य होकर तथा मिश्र वस्तु की दोनों में से किसी एक का रूप धारण कर स्थापना का विधान करे । स्थापना वस्तु, बीज, मुख अथवा पात्र इनमें से किसी एक की सूचना देने वाली होनी चाहिए । पुनश्च किसी ऋतु का आश्रय लेकर भारती वृत्ति से सन्निबद्ध रंगस्थल को आमोदित करने वाले श्लोकों का पाठ करे । इस प्रारम्भिक दृश्य में वीथ्यंगों अथवा आमुखांगों की योजना भी की जानी चाहिए । आमुख का विधान करते समय सूत्रधार नटी, मारिष या विदूषक से अपने संलाप के मध्य कथा का संकेत कर देता है ।" आमुख-स्थापना या प्रस्थापना के भी तीन प्रकार होते हैं, उनके नाम क्रमशः कथोद्घात, प्रवृत्तक, प्रयोगातिशय हैं । जहाँ सूत्रधार के इतिवृत्त से संबंधित उसी के वाक्य या अर्थों को लेकर किसी पात्र का प्रवेश कराया जाता है, वहाँ कथोद्घात नामक आमुखांग माना जाता है । प्रवृत्तक वहाँ पर होता है, जहाँ काल की समानता को लेकर श्लेष से किसी पात्र के आगमन की सूचना दी जाती है । प्रयोगातिशय में सूत्रधार इन शब्दों को कहते हुए कि 'यह वह है' किसी पात्र का प्रवेश कराता है । आमुख के यह अंग वीथी के भी अंग माने जाते हैं ।[१]

नाटक की कथा-वस्तु का चुनाव इतिहास से ही किया जाना चाहिए[२] । चुनाव करते समय कवि का कर्त्तव्य होता है कि वह मूल कथा के उन अंशों का जो रस अथवा नायक के विरोध में पड़ते हैं या तो परिहार कर दे या फिर उनमें आवश्यक परिष्कार कर दे[३] । वस्तु का विन्यास कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और संधियों के अनुरूप किया जाना चाहिए[४] । कथा के बीच में विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपकों का भी नियोजन होना चाहिए[५] ।

नाटक के नायक का धीरोदात्त आदि गुणों से विशिष्ट होना नितान्त आवश्यक होता है । धनंजय के अनुसार वह प्रतापशाली, कीर्ति की इच्छा करने वाला,

---

१. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ १४०-१४१
२. देखिए 'दशरूपकम्' ३।२३
३. देखिए 'दशरूपकम् ३।२४, २५
४. देखिए 'हिन्दी 'दशरूपक' पृष्ठ १५१ व १५२
५. वही पृष्ठ

वेदत्रयी का ज्ञाता और रक्षक, उच्चवंश वाला कोई राजर्षि अथवा दैवी पुरुष होना चाहिए।[१]

नाटक का प्राण रस होता है। उसमें वीर या श्रृंगार को अंगी-रूप में तथा अन्य रसों की अंग के रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए[२]। इसमें निर्वहण संधि में अद्भुत रस का होना आवश्यक समझा जाता है[३]।

नाटक में रंगमंच पर कुछ बातों का प्रदर्शन वर्जित माना गया है। प्रमुख वर्जित दृश्य दूर का मार्ग, वध, युद्ध, राज्य और देश-विप्लव, घेरा डालना, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन और वस्त्र-ग्रहण आदि माने गए हैं[४]। अधिकारी नायक का वध तो रंगमंच पर किसी भी प्रकार नहीं दिखाना चाहिए[५]। आवश्यक का परित्याग भी नहीं करना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़ जाय तो दैवकार्य या पितृकार्य आदि वर्जित दृश्य दिखाए भी जा सकते हैं[६]।

नाटक पाँच अंक से दस अंक तक का हो सकता है। पाँच अंकों का नाटक छोटा कहा जाता है और दस अंकों का बड़ा[७]। एक अंक में एक ही दिन एक ही प्रयोजन से किए गए कार्यों का प्रदर्शन होना चाहिए[८]। प्रत्येक अंक का नायक से संबंधित होना भी आवश्यक होता है[९]। नायक के अतिरिक्त एक अंक में दो या तीन पात्र और भी हो सकते हैं। किन्तु इन पात्रों का अंक के अंत में निकल जाना आवश्यक होता है[१०]। अंक में पताका-स्थानकों का भी समावेश करना चाहिए[११]। इसमें विन्दु की अवस्थिति तथा बीज का परामर्श भी होना चाहिए[१२]। संक्षेप में, दशरूपक के अनुसार नाटक के लक्षण यही हैं।

---

१. देखिए 'दशरूपकम्' ३।२४
२. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३३
३. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३४
४. देखिए 'दशरूपकम् ३।३४, ३५,
५. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३६
६. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३६ की धनिक-कृत टीका
७. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३८ 'साहित्य दर्पण' में दस अंक के नाटक को महानाटक कहा गया है। सा० द० ६।५२७.
८. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३६, ३७.
९. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३०.
१०. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३६, ३७.
११. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३७, ३८.
१२. देखिए 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ १५४.

नाट्य-शास्त्र के अन्य ग्रंथों में भी नाटक के स्वरूप का विवेचन किया गया है। यहाँ पर हम उन ग्रंथों में दी गई नाटक संबंधी उन बातों का संकेत कर देना चाहते हैं जो दशरूपक में वर्णित विशेषताओं से या तो भिन्न हैं या अधिक। नाट्य-शास्त्र में नायक के लिए 'दिव्याश्रयोपेतम्' का विशेषण प्रयुक्त किया गया है[1]। अभिनव गुप्त ने उसका अर्थ दैवी पुरुष किया है। काव्यानुशासनकार ने अभिनव गुप्त का खंडन करते हुए लिखा है कि 'दिव्याश्रयोपेतम्' से आचार्य का अभिप्राय दैवी पुरुष से न था। उन्होंने इसका प्रयोग दैवी सहायता के अर्थ में किया था। नाटक का नायक वास्तव में मनुष्य ही होना चाहिए। नायिका उर्वशी आदि मनुष्येतर स्त्री भी हो सकती है[2]। नायक की दृष्टि से नाट्यदर्पणकार का मत भी विचारणीय है। उसका कहना है कि नायक का क्षत्रिय होना आवश्यक है। चाहे वह नृपेतर ही क्यों न हो[3]। भावप्रकाशकार का मत अन्य आचार्यों से भिन्न है। उसने सुबन्धु का आश्रय लेते हुए लिखा है कि नाटक के पाँच भेद होते हैं—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित और समग्र। पूर्ण नामक प्रकार का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि उसमें पाँचों सन्धियों की योजना की जाती है। संधियों के नाम भी उसने नए दिए हैं। वे क्रमशः न्यास, समुद्भेद, बीज दर्शन और अनुदिष्ट संहार हैं। इसी प्रकार अन्य नाटक प्रकारों के लक्षण भी इस ग्रंथ में अपने ढंग पर ही गिनाए गए हैं[4]। विस्तार-भय से यहाँ पर उन सबका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। नाटक के संबंध में साहित्य-दर्पण की भी एक बात उल्लेखनीय है वह है अंकों के क्रम-विन्यास की। उसके अनुसार नाटक के अंकों का क्रम-विन्यास गोपुच्छ शैली पर होना चाहिए। क्रमशः अंकों का छोटा होते जाना ही गोपुच्छ शैली है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक के संबंध में हमें दो परम्पराएँ मिलतीं हैं। एक परम्परा भरतमुनि की है और दूसरी सुबन्धु की। भरत-मुनि की परम्परा का पोषण अधिकांश आचार्यों ने किया है। सुबन्धु की परम्परा उसके नाट्य-शास्त्र संबंधी ग्रंथ के साथ ही लुप्त हो गई है। 'काव्यानुशासन' नामक ग्रंथ में उसका थोड़ा-बहुत आभास मिलता है। भरतमुनि की परम्परा के अनुरूप संस्कृत में बहुत से सफल नाटक मिलते हैं। उदाहरण रूप में अभिज्ञान शाकुन्तलम्, उत्तररामचरित आदिका उल्लेख किया जा सकता है।

प्रकरण की रूपरेखा नाटक से भिन्न होती है। धनंजय के अनुसार प्रकरण की कथा-वस्तु कवि-कल्पित होनी चाहिए। उसका नायक मंत्री, ब्राह्मण या वैश्य भी हो

---

१. देखिए 'नाट्य-शास्त्र' १८।१०

२. देखिए 'काव्यानुशासन' हेमचन्द्र-लिखित पृष्ठ ३१७.

३. देखिए 'नाट्य-दर्पण' रामचन्द्र-लिखित

४. देखिए 'भावप्रकाशम्' शारदातनय-विरचित पृष्ठ २२३.

सकता है। उसका धीर प्रशान्त होना भी आवश्यक होता है। उसकी प्रयोजन-सिद्धि आपत्तियों से बाधित चित्रित की जानी चाहिए। उसकी प्रकृति धर्म-प्रिय होनी चाहिए। प्रकरण की नायिकाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं—कुल-वधू और वेश्या। दोनों की योजना एक साथ भी की जा सकती है। इसी आधार पर धनंजय ने प्रकरण के तीन भेद माने हैं कुलवधू-प्रधान, वेश्या-प्रधान, और उभय-प्रधान। शेष बातों में प्रकरण नाटक के सदृश ही होता है[1]। नाट्य-शास्त्र की प्रकरण संबंधी उपर्युक्त सभी बातें मान्य हैं। उसमें अंकों का विधान और कर दिया गया है। उसके अनुसार प्रकरण में पाँच से दस अंक तक हो सकते हैं[2]। नाट्यदर्पणकार ने नायक के संबंध में दशरूपक और नाट्य-शास्त्र दोनों से भिन्न मत प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार प्रकरण का नायक धीर प्रशान्त ही नहीं धीरोदात्त भी हो सकता है[3]। नाट्यदर्पण में नायिका के संबंध में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार नायिका नीच जाति की भी हो सकती है[4]। प्रकरण के भेदों के संबन्ध में भी मतभेद है। काव्यानुशासन"[5] और 'नाट्यदर्पण'[6] नामक ग्रंथों में प्रकरण के तीन भेदों के स्थान पर सात भेद गिनाए गए हैं। विस्तार-भय से यहाँ पर उनका उल्हेख नहीं किया जा रहा है। मृच्छकटिक[7] प्रकरण का सुन्दर उदाहरण माना जाता है।

अब भाण नामक रूपक पर विचार कर लेना चाहते हैं। इसमें विट् (एक कला-पारंगत व्यक्ति) द्वारा किसी एक ऐसे धूर्त्त चरित्र का जिससे या तो उसका स्वयं साक्षात्कार हुआ हो या उसके सम्बन्ध में उसने किसी दूसरे से सुना हो वर्णन किया जाता है। यहाँ सम्बोधन, उक्ति, प्रत्युक्ति आदि में वीर रस-द्योतक शौर्य आदि और शृंगार रस सूचक सौभाग्य आदि का सन्निवेश आकाश-भाषित से किया जाता है। इसका कारण विट् के अतिरिक्त दूसरे पात्र का न होना है। इसमें अधिकतर भारती वृत्ति का ही आश्रय लिया जाता है। संध्यङ्गों से युक्त संधियों की योजना भी इसकी प्रधान विशेषता है। इसकी वस्तु भी कल्पित होती है। उसमें लास्य के दसों अंगों

---

१. देखिए 'दशरूपकम्' ३।३९, ४०, ४१, ४२, तथा धनिक-कृत इनकी टीका का हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी दशरूपक' में।
२. देखिए नाट्य-शास्त्र' १८-९३ से १०५ तक।
३. देखिए 'नाट्य-दर्पण' रामचन्द्र-विरचित, पृष्ठ १७७
४. वही।
५. देखिए 'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा' पृष्ठ ५३
६. वही।
७. 'रसार्णव सुधाकर' नामक ग्रन्थ में मृच्छकटिक को मिश्र प्रकरण का सुन्दर उदाहरण बताया गया है।

की प्रतिष्ठा भी रहती है।[1] नाट्य-शास्त्र में धूर्त्त चरित्र के आधार पर भाण के दो भेद किए हैं[2]— आत्माभूतशंसी : वह जिसमें नायक अपने अनुभवों का वर्णन करता है, और परसंश्रय-वर्णन विशेष : वह जिसमें दूसरे के अनुभवों का वर्णन किया जाता है। नाट्य-शास्त्र से यह भी ध्वनि निकलती है कि भाण एकांकी रूपक है।[3] 'काव्यानुशासन' में भाण के सम्बन्ध में एक बात और कही गई है। उसके अनुसार इसकी रचना साधारण लोगों के लिए हुआ करती है।[4] 'नाट्यदर्पण' में भाण के रस-पक्ष पर विशेष विचार किया गया है। उसके अनुसार भाण श्रृंगार-रस-प्रधान होता है और वीर तथा हास्य गौण होते हैं।[5] भाव-प्रकाशनकार ने उसमें केवल श्रृंगार का होना ही आवश्यक माना है।[6] उसके अनुसार उसमें अन्य रस नहीं होने चाहिए। साहित्यदर्पण के अनुसार भाण के उदाहरण-रूप में लीला-मधुर नामक रचना ली जा सकती है।[7]

प्रहसन भाण से मिलता-जुलता होता है। मिलता-जुलता कहने का आशय यह है कि प्रहसन और भाण दोनों में वस्तु, सन्धि, संध्यंग और लास्य आदि एक जैसे होते हैं। नाट्य-शास्त्र में इसके दो भेद माने गए हैं—शुद्ध और संकीर्ण।[8] साहित्यदर्पणकार[9] ने संकीर्ण प्रहसन में दो अंकों का होना बतलाया है। रसार्णव सुधाकर[10] का मत सब से अलग है। उसके अनुसार भाण में दस तत्त्व प्रधान होते हैं। उनके नाम क्रमशः अवगलित, अवस्कन्द, व्यवहार, विप्रलंभ, उपपत्ति, अनृत, विभ्रांति, भय, गद्गद्वाक् और प्रलाप हैं। यहाँ पर स्थानाभाव के कारण इन सबकी व्याख्या नहीं हो सकती। इनके लिए मूल ग्रन्थ देखना चाहिए।

---

१. 'दशरूपकम्' ३।४९, ५०, ५१ लास्य के दस अंगों का वर्णन 'हिन्दी दशरूपक' पृष्ठ १५८ पर देखिए
२. 'नाट्य-शास्त्र' ३।१५९,६०
३. 'नाट्य-शास्त्र' ३।१६१ में 'एकांगो बहुचेष्ट सततं कार्योबुधैर्भाणः' में एकांग के स्थान पर एकांक होना चाहिए।
४. 'नाट्य-दर्पण'—रामचन्द्र, पृष्ठ १२७
५. उसी ग्रंथ में पृष्ठ १३२ पर यह भी लिखा है कि उसमें सभी रस समान भाव से रहते हैं।
६. 'भावप्रकाशम्' पृष्ठ २४४
७. 'साहित्य दर्पण' ६।५३० के नीचे गद्य भाग देखिए।
८. 'नाट्य-शास्त्र' १८।१४९, १५०
९. 'साहित्य-दर्पण' ६।५५५
१० 'रसार्णव सुधाकर' शिंगभूपाल-लिखित (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज़)

दशरूपकों में से एक रूपक डिम भी है। काव्यानुशासन के अनुसार डिम के लिए डिम्ब और विद्रोह नामक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं[१]—डिम का अर्थ होता है संघात, संवात के अर्थ होते एक तो घात व प्रतिघात और दूसरा समूह। मैं समूह-परक अर्थ लेने के पक्ष में हूँ। इसमें नायकों के क्रिया-संघात का प्रदर्शन किया जाता है, इसीलिए इसे डिम कहते हैं। डिम में प्रस्तावना आदि बातें नाटक के सदृश ही होती हैं। इसका इतिवृत्त प्रसिद्ध होता हैं। कैशिकी को छोड़कर उसमें शेष सभी वृत्तियाँ उपनिबद्ध रहती हैं। देव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और महासर्प आदि इसके नेता होते हैं। इसमें भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह अत्यन्त उद्धत पात्र नियोजित किये जाते हैं। श्रृंगार और हास्य को छोड़कर शेष ६ रसों की प्रतिष्ठा होती है। इसमें माया, इन्द्रजाल, संगम, क्रोध, उद्भ्रांति इत्यादि चेष्टाएँ; सूर्य, चन्द्र, उपराग आदि घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। इसमें चार अंक होते हैं। विमर्श को छोड़कर शेष सभी सन्धियाँ भी रहती हैं। नाट्य-शास्त्र[२] में भी डिम के लगभग यही लक्षण बतलाए गए हैं। अन्य नाट्याचार्यों ने भी उनका समर्थन किया है। भरत मुनि के अनुसार त्रिपुरदाह नामक नाटक आदर्श डिम का उदाहरण है।

वीथी नामक नाट्य-रूप भी कम प्रसिद्ध नहीं है। वीथी का अर्थ है मार्ग या पंक्ति। इसमें संध्यंगों की पंक्ति रहती है इसीलिए इसे वीथी कहा जाता है। इसमें अंकों की संख्या भाण के समान ही मानी गई है। इसमें श्रृंगार रस का पूर्ण परिपाक न हो सकने के कारण उसकी सूचना दी जाती है। अन्य रसों का स्पर्श भी रहता है। श्रृंगार रस के औचित्य विधान के लिए कैशिकी वृत्ति की योजना की जाती है। इसमें संधियों के अंग भाण के सदृश ही नियोजित किये जाते हैं। प्रस्तावना के बतालाए हुए उद्घापक इत्यादि अंगों की निबन्धना भी होती है। इसमें पात्र दो से अधिक नहीं होते।[३] नाट्य-शास्त्र में भी वीथी के प्रायः ये ही सब लक्षण बतलाए गए हैं। उसमें इतना और स्पष्ट कर दिया गया है कि वीथी में तेरह वीथ्यंगों की योजना अवश्य की जानी चाहिए।[४] मालविका नामक रचना वीथी का उदाहरण मानी जाती है।

समवकार भी एक रूपक है। इसमें कई नायकों के प्रयोजन एक साथ समवकीर्ण रहते हैं, इसीलिए इसे समवकार कहते हैं। नाटक के सदृश इसमें भी आमुख

---

१. 'काव्यानुशासन'—हेमचन्द्र, पृष्ठ ३२२

२. 'नाट्य-शास्त्र' में डिम के लक्षण देखिए १८।१३५ से लेकर १४०

३. 'दशरूपकम्' ३।६८, ६९

४. 'नाट्य-शास्त्र' १८। १५५, १५६

आदि का विधान रहता है। उसका इतिवृत्त पौराणिक देवताओं तथा राक्षसों से सम्बन्धित होता है। विमर्श संधि को छोड़कर शेष सभी सन्धियों की योजना की जाती है। वृत्तियों में कैशिकी का प्रयोग प्रधान रहता है। इसमें धीरोदात्तादि गुण-सम्पन्न बारह नायक होते हैं। उनके फल भी पृथक्-पृथक् होते हैं। उनमें वीर रस की प्रधानता होती है। इसमें अंक केवल तीन ही रहते हैं। तीन कपट,[1] तीन शृंगार,[2] और तीन विद्रवों[3] की योजना के कारण समवकार अन्य रूपकों से बिल्कुल भिन्न होता है। इसमें सन्धियों का नियोजन भी एक विशेष क्रम से किया जाता है। पहले अंक में मुख और प्रतिमुख इन दो संधियों से युक्त बारह नाड़ियों का होना आवश्यक समझा जाता है। दूसरे अंक में चार और तीसरे अंक में दो नाड़ियों की योजना की जाती है। इसमें वीथ्यंगों का सन्निवेश भी रहता है। दशरूपक के अनुसार समवकार के लक्षण यही हैं।[4] दशरूपककार ने नाट्य-शास्त्र का ही अनुगमन किया है। अतएव दोनों के लक्षणों में कोई परस्पर मतभेद नहीं है। भावप्रकाशम् और साहित्यदर्पण[5] में संधियों के नियोजन का क्रम कुछ और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है। उनके अनु-सार पहले में दो, दूसरे में तीन और तीसरे में विमर्श को छोड़कर शेष सभी संधियों की योजना की जाती है।

व्यायोग उस रूपक को कहते हैं जिसका इतिवृत्त प्रख्यात हो और नायक धीरोदात्त हो। इसमें गर्भ और विमर्श इन दो सन्धियों को छोड़कर शेष तीन सन्धियों की योजना की जाती है। डिमके सदृश इसमें रस भी प्रदीप्त रहते हैं। इसमें स्त्री-निमित्तक संग्राम दिखाने की प्रथा नहीं है। यह एकांकी रूपक है। इसमें केवल एक दिन की घटनाए ही चित्रित की जाती हैं।[6] नाट्य-शास्त्र के अनुसार इसका नायक कोई दैवी पुरुष या राजा होना चाहिए।[7] काव्यानुशासन से यह भी पता चलता है कि इसमें नायिकाएँ नहीं होतीं।[8] यदि स्त्री पात्रों को लाना ही चाहें तो दो-एक दासियों की अवतारणा की जा सकती है।[9]

---

१. तीन कपटों के नाम इस प्रकार हैं—वस्तुस्वभाव-कृत, देव-कृत और अरि-कृत—देखिए हिन्दी दशरूपक, पृष्ठ १६३
२. तीन धर्मों के नाम क्रमशः धर्म-शृंगार, अर्थ-शृंगार और काम-शृंगार हैं। देखिए वही ग्रन्थ।
३. तीन विद्रव इस प्रकार हैं—नगरोपरोध-कृत, युद्ध-कृत, वाताग्नि-कृत। देखिए वही।
४. 'दशरूपकम्' ३।६८, ६९
५. 'साहित्य-दर्पण' ६।५३२, ५३३
६. 'दशरूपकम' ३।६०,६१ ७. 'नाट्य-शास्त्र' १८।१३५, १३६, १३७
८. 'काव्यानुशासन' हेमचन्द्र, पृष्ठ ३२३ ९. वही।

अंक नामक रूपक में कथावस्तु तो प्रख्यात ही होती है किंतु कवि अपनी कल्पना से उसको विस्तृत कर देता है। करुण रस की प्रधानता होती है। साधारण वर्ग के पात्र होते हैं, नायक भी कोई साधारण व्यक्ति ही बनाया जाता है। इसमें स्त्री पात्र भी कई होते हैं और उन स्त्री पात्रों का उसमें विलाप दिखलाया जाता है।[1]

ईहामृग नामक रूपक की कथा-वस्तु मिश्र अर्थात् प्रख्यात और कवि-कल्पित दोनों ही होती है। इसमें चार अंक और तीन सन्धियाँ होती हैं। नायक और प्रतिनायक दोनों की कल्पना उसमें की जाती है। एक मनुष्य होता है और दूसरा दैवी पुरुष। दोनों ही व्यक्ति इतिहास-प्रसिद्ध होते हैं। प्रतिनायक का धीरोदात्त होना आवश्यक होता है। कार्य-ज्ञान के उलट फेर से अनुचित कार्य क्रिया करता है। कभी-कभी न चाहने वाली दिव्य स्त्री के अपहरण इत्यादि के द्वारा चाहने वाले नायक का शृंगाराभास भी कुछ-कुछ प्रदर्शित करना चाहिए। किसी बहुत बड़ी उत्तेजना की स्थिति को लाकर किसी बहाने से युद्ध का टल जाना भी दिखाना चाहिए। महात्मा के वध की स्थिति उत्पन्न करके भी उसका वध न करवाना सफल कलाकार का लक्षण होता है।[2] संक्षेप में दशरूपकों के लक्षण वर्णित किए गए अब उपरूपकों पर विचार करेंगे।

उपरूपक नृत्य के भेद माने जाते हैं। इन उपरूपकों का वर्णन न तो नाट्य-शास्त्र में मिलता है और न दशरूपक में ही। दशरूपक के टीकाकार धनिक ने प्रसंगवश केवल सात उपरूपकों का निर्देश किया है[3]। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य। कीथ के अनुसार नाट्य-शास्त्र में भी लगभग पन्द्रह उपरूपकों का यत्किंचित परिवर्त्तन के साथ वर्णन मिलता है।[4] हाल का मत भी कीथ से मिलता जुलता है। उसने लिखा है कि नाट्य-शास्त्र में हमें बहुत से ऐसे पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिनका विकास बाद में रूपकों के अभिधान से हो गया है।[5] उपरूपकों के नामों का सर्वप्रथम उल्लेख हमें अग्नि-पुराण में मिलता है।[6] किन्तु इसमें केवल सत्रह भेदों के नाम ही दिए गए हैं।[7]

---

१. 'दशरूपकम्' १८।७०, ७१
२. 'दशरूपकम' ३।७२, ७३, ७४, ७५
१. देखिए 'दशरूपकम्' १।९ की धनिक-कृत टीका
४. देखिए कीथ-कृत संस्कृत ड्रामा ३४९
५. 'दशरूपकम्' हाल—पृष्ठ ६
६. 'अग्निपुराण' ३२८ अध्याय
७. वही

इनके स्वरूप की व्याख्या भी नहीं की गई है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—तोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, रासक, उल्लोप्यक और प्रेक्षण। भावप्रकाशम् में बीस उपरूपकों का उल्लेख किया गया है। उनके नाम हैं क्रमशः तोटक, नाटिका, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी,काव्य, प्रेक्षणक, सट्टकम, नाट्यरासकम, रासक, उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली और पारिजातक। इनमें से उन्नीस के स्वरूप की व्याख्या तो इस ग्रन्थ में की गई है किन्तु सट्टक की व्याख्या करना किसी कारण से ग्रन्थकार भूल गया है। नाट्यदर्पण[1] में केवल चौदह उपरूपक ही मिलते हैं उनके नाम क्रमशः सट्टक, श्रीगदितम्, दुर्मीलिता, गोष्ठी, हल्लीशक, नर्त्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाणक, और भाणिका हैं। साहित्य-दर्पणकार[2] ने केवल अठारह उपरूपक ही माने हैं। आजकल उसी का मत प्रचलित है। उसके द्वारा गिनाए गए उपरूपकों के नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, तोटक (त्रोतक), गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणकम्, रासकम्, संलापकम्, श्रीगदितम्, शिल्पकम्, विलासिका या विनायिका, दुर्मल्लिका, प्रकर्णिका, हल्लीश और भाणिका। उपरूपक सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेखों को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रकट होगा कि उपरूपकों की संख्या बीस से भी अधिक थी। 'भावप्रकाशम्' में जो बीस उपरूपक गिनाए गए हैं उनमें अग्निपुराण का कर्ण नाट्यदर्पण का नर्त्तनक, साहित्यदर्पण का विलासिका, और अभिनवगुप्त द्वारा संकेतित तीन प्रकार सम्मिलित नहीं हैं। 'भावप्रकाशम्' की सूची में यदि ये छह और जोड़ दिए जाएँ तो उपरूपकों की संख्या छब्बीस हो जायेगी। विस्तार- भय से यहाँ प्रसिद्ध उपरूपकों की स्वरूप-व्याख्या ही की जा रही है।

भरतमुनि ने नाटिका का उल्लेख 'नाटी' नाम से किया है। उनके मतानुसार नाटी की उत्पत्ति नाटक और प्रकरण के योग से हुई है। साहित्यदर्पण में इसे स्वतन्त्र उपरूपक माना गया है। इसमें स्त्री पात्रों की बहुलता होती है, चार अंक होते हैं, और सांग-मधुर लास्यों का विधान रहता है। यह श्रृंगार–प्रधान रचना होती है, इसमें राजा ही नायक हो सकता है; क्रोध, सन्धि और दंभ आदि भावों का चित्रण किया जाता है। कोई सुलक्षणा स्त्री इसकी नायिका होती है।[3] अभिनवगुप्त ने भरतमुनि

---

१. 'नाटच-दर्पण' पृष्ठ २१३

२. 'साहित्यदर्पण' में ६।५५२ से लेकर ६।५७६ तक (ईसवी १९३४ कलकत्ता जीवानंद विद्यासागर)

३. 'नाटच-शास्त्र' (जी० ओ० एस०) भाग २ पृष्ठ ४३५, ४३६।

के नाटिका सम्बन्धी लक्षणों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आचार्य के मतानुसार नाटिका में दो नायिकाएँ होती हैं। एक स्वकीया 'देवी' होती है और दूसरी कोई उच्च कुल की सुन्दरी होती है। क्रोध, प्रसादन और दम्भादि से देवी (पटरानी) का संकेत किया गया है, और रति-संभोगादि से दूसरी नायिका का। दशरूपककार ने भरतकृत लक्षणों का ही विस्तार किया है। उसमें लिखा है कि नाटिका में कथा-वस्तु तो नाटक से लेनी चाहिए और नायक प्रकरण से। अपने लक्षणों से वह शृंगार-रस परिपूरित होनी चाहिए। नाटिका एक अंक से लेकर चार अंक तक की हो सकती है। उसमें-स्त्री पात्रों की अधिकता रहती है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग आवश्यक समझा जाता है। इसमें दो नायिकाएँ दिखाई जाती हैं—एक ज्येष्ठा और दूसरी मुग्धा। ज्येष्ठा नायक की विवाहिता रानी होती है। वह स्वभाव से प्रगल्भ, गम्भीर और मानिनी होती है। नायक उसके आधीन होता है। वह अपनी दूसरी प्रेमिका से (जो कि मुग्धा नायिका होती है) उसकी इच्छा के बिना समागम भी नहीं कर सकता। इसीलिए नायक को मुग्धा नायिका से मिलने में थोड़ी कठिनता रहती है। यह मुग्धा नायिका दिव्य और परमसुन्दरी होती है। अन्तःपुर में संगीत आदि कलाओं का अभ्यास करते हुए वह नायक को हर समय श्रुतिगोचर और दृष्टिगोचर होती रहती है जिससे नायक का अनुराग उसके प्रति दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है।[१] भावप्रकाश-कार ने नाटिका में विदूषक का होना भी बतलाया है। संस्कृत साहित्य में प्रियदर्शिका, विद्धशालभंजिका आदि नाटिकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

नाटिका के सदृश ही प्रकर्णिका भी होती है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि नाटिका में राजकीय प्रणय का वर्णन होता है और प्रकर्णिका में व्यापारियों के प्रेम का। प्रकर्णिका के शेष लक्षण नाटिका के सदृश ही होते हैं।[२]

त्रोटक कुछ आचार्यों के द्वारा नाटक का ही एक भेद माना गया है। जब नाटक में लौकिक और अलौकिक तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है तथा विदूषक का अभाव रहता है तब उसे त्रोटक कहते हैं।[३] साहित्यदर्पणकार 'भावप्रकाशम्' के लेखक के इस मत से कि त्रोटक में विदूषक नहीं होना चाहिए, सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार त्रोटक में विदूषक का होना परमावश्यक होता है।[४] भावप्रकाशकार के

१. 'दशरूपकम्' ३।४३, ४४, ४५।
२. 'नाटचदर्पण' रामचन्द्र और गुणचन्द्र लिखित पृष्ठ १२२
३. 'भावप्रकाशम्' पृष्ठ २३८।४-१४
४. 'साहित्यदर्पण' जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित (१९३४ कलकत्ता) ६।५५८

अनुसार इसमें नौ अंक तक हो सकते हैं[1]। मेनका, नहुष, विक्रमोर्वशीयम् आदि सफल त्रोटक हैं।[2]

भावप्रकाशकार ने सट्टक को भी नाटक का ही एक प्रकार माना है। नाटक का यह प्रकार नृत्य पर आधारित कहा गया है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ प्रधान रहती हैं। संधियाँ इसमें नहीं होती हैं। मागधी, शौरसेनी प्राकृतों का प्रयोग किया जाता है। इसमें अंक नहीं होते हैं, किन्तु फिर भी यह चार भागों में विभाजित किया जाता है।[3]

भाण और भाणिका ये दोनों उपरूपक परस्पर मिलते-जुलते हैं। दोनों में केवल इतना अन्तर होता है कि एक तो स्वरूप और स्वभाव से उद्धत और दूसरा मसृण होता है।[4] भाण की कथावस्तु हरिहर, भवानी, स्कन्द और प्रमथाधिप से सम्बन्धित होती है। क्रिया-व्यापार का वेग इसमें बड़ा तीव्र रहता है। इसमें राजा की प्रशस्तियाँ भी रहती हैं और संगीत का प्राधान्य भी रहता है।

'भावप्रकाशम्' में डोम्बी या डोम्बिका का उल्लेख किया गया है। इसमें एक अंक होता है, कैशिकी वृत्ति होती है, वीर या श्रृंगार का परिपाक दिखाया जाता है।[5] कुछ लोग डोम्बी को भाणिका का ही दूसरा नाम मानते हैं।[6] अधिकांश आचार्यों ने इन्हें अलग-अलग माना है।[7]

रासक की स्वरूप व्याख्या भी 'भावप्रकाशम्' में विस्तार से की गई है। उसके अनुसार उसमें एक अंक, सुश्लिष्ट नांदी, पाँच पात्र, तीन संधियाँ, कई भाषाएँ, कैशिकी और भारती वृत्तियाँ, सभी वीथ्यंग, प्रसिद्ध नायक और नायिकाएँ आदि का होना आवश्यक होता है।[8] भावप्रकाशम् के इन सभी लक्षणों को साहित्यदर्पणकार ने भी

---

१. 'भाव-प्रकाशम्' पृष्ठ २३४।४-१४
२. वही
३. 'भावप्रकाशम्' पृष्ठ २६९
४. अभिनवगुप्त की नाट्य-शास्त्र की टीका देखिए 'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा' पृष्ठ १०५.
५. 'टाइप्स आफ़ संस्कृत ड्रामा', पृष्ठ १०८
६. वही पृष्ठ १०९
७. वही पष्ठ १०९
८. 'भावप्रकाशम्' पृष्ठ २६५.

मान्यता दी है।[१]

नाट्यरासक की कुछ अपनी अलग विशेषताएँ होती हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार उसमें एक अंक, बहुताल-लय-स्थिति, उदात्त नायक, उपनायक, श्रृंगार और हास्य रसों, वासकसज्जा नायिका और लास्यांगों का नियोजन रहता है।

ऊपर हम सट्टक, भाण, भाणिका, डोम्बी, रासक, नाट्यरासक आदि प्रसिद्ध उपरूपकों का स्पष्टीकरण कर आये हैं। संस्कृत नाट्य-शास्त्र में इनके अतिरिक्त गोष्ठी, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षण, श्रीगदितम्, विलासिका नामक कुछ अप्रसिद्ध एकांकी रूपकों का उल्लेख भी पाया जाता है। गोष्ठी[२] में नौ-दस सामान्य पुरुषों और पाँच-छह सामान्य स्त्रियों की भाव-भंगिमाएँ चित्रित की जाती हैं। उल्लाप्य[३] युद्ध-प्रधान होता है। पृष्ठभूमिक संगीत इसका प्रमुख लक्षण माना जाता है। काव्य[४] हास्यरस प्रधान होता है। द्विपादिका, भग्नताल आदि विविध प्रकार की संगीत-विधाओं का इसमें विधान रहता है। प्रेक्षण[५] में सूत्रधार नहीं रहता। नान्दी और प्ररोचना नेपथ्य के पीछे से विहित की जाती है। श्रीगदित[६] की कथा में सर्वत्र श्री शब्द का प्रयोग रहता है। कुछ लोगों के अनुसार उसमें श्री को गाते हुए भी प्रदर्शित किया जाता है। हल्लीश[७] कैशिकी वृत्ति तथा नृत्य और संगीत से सम्पन्न होता है।

प्रस्थानक[८] दो अंकों का उपरूपक होता है। धनिक के अनुसार यह नृत्य का एक प्रकार मात्र है। इसका नायक कोई दास या हीन व्यक्ति होता है। संलापक में एक से लेकर चार अंक तक होते हैं। शिल्पक[९] रस-प्रधान चार अंकों का उपरूपक होता है। दुर्मल्लिका[१०] में भी चार ही अंक होते हैं। इन अंकों का विधान एक विशेष क्रम से किया जाता है। पहला अंक तीन नाड़ियों का, दूसरा पाँच नाड़ियों का, तीसरा छह नाड़ियों का और चौथा दस नाड़ियों का होता है। प्रसिद्ध उपरूपक इतने ही हैं। शेष उपरूपक न तो बहुत प्रसिद्ध ही हैं और न संस्कृत साहित्य में उनके उदाहरण

---

१. 'साहित्यदर्पण' जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, ६।५५६.
२. 'साहित्यदर्पण' ६।५५९.
३. 'साहित्यदर्पण' ६।५६३.
४. 'साहित्यदर्पण' ६।५६४.
५. 'साहित्यदर्पण' ६।५६५.
६. 'साहित्यदर्पण' ६।५६८, ५६९.
७. 'साहित्यदर्पण' ६।५७४.
८. 'साहित्यदर्पण' ६।५६२.
९. 'साहित्यदर्पण' ६।५७.
१०. 'साहित्यदर्पण' ६।५७२.

ही मिलते हैं। इस कारण से हम यहाँ पर उन सब के स्वरूप की व्याख्या नहीं कर रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत नाट्य-शास्त्र में रूपक तथा उनके भेद-प्रभेदों का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है। उपर्युक्त भेद-प्रभेदों को देखने के पश्चात् स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय नाट्य-कला एकांगी नहीं है। वह न तो केवल आदर्श-प्रधान ही है और न केवल यथार्थ-मूलक ही। आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय जितने रमणीय रूप में हमें यहाँ दिखाई पड़ता है उतना शायद ही किसी अन्य कला में दिखाई पड़े। उसमें हमें सम्पूर्ण जीवन की, सम्पूर्ण मानवों की हृदय-गाथा प्रतिबिम्बित मिलती है। सच तो यह है कि समृद्धता, स्वाभाविकता, सजीवता आदि सभी दृष्टियों से विश्व में वह बेजोड़ है।

संस्कृत नाटच-शास्त्र में कथा-वस्तु का विवेचन

—प्रो० बलदेव उपाध्याय

(१)

संस्कृत नाटच-शास्त्र में कथा-वस्तु के स्वरूप तथा महत्त्व का विवेचन बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है। नाटक की रचना केवल किसी क्षणिक भावना की तृप्ति के उद्देश्य से नहीं की जाती, प्रत्युत उसका प्रयोजन नितान्त गम्भीर, व्यापक तथा सार्वभौम होता है। 'नाटच' का स्वरूप ही है—लोकवृत्तानुकरण अर्थात् संसार में विद्यमान चरित्र तथा वृत्तान्त का अनुकरण। फलतः उसका नाना भावों से सम्पन्न तथा नाना अवस्थान्तरात्मक होना स्वाभाविक है। भारतीय आचार्य नाटक के इतिवृत्त को किसी सीमित चहारदीवारी के भीतर बन्द करने के पक्षपाती नहीं हैं। नाटक का दरवाज़ा प्रत्येक कथा-वस्तु के प्रवेश करने के लिए सदा खुला रहता है। आधुनिक पाश्चात्य नाटकों की कथा-वस्तु से इसकी तुलना करने पर इस विलय का महत्त्व स्वतः हृदयंगम हो सकता है। प्रगतिशील नाटकों की कथा-वस्तु एकाकार होती है। वह किसी धनी-मानी अधिकारी के द्वारा पदाक्रान्त तथा उत्पीड़ित मानव की कहानी होती है। यही स्वर प्रत्यक्षतः या अनुमानतः प्रत्येक पाश्चात्य नाटक के कथानक में गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है, परन्तु भारत में नाटक का आदर्श महान् है तथा महनीय है। वह किसी वर्ग की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों को अग्रसर करने का साधन नहीं है, प्रत्युत उसका प्रभाव भारतीय समाज के प्रत्येक स्तर पर समान-भावेन पड़ता है। वह मानव-जीवन की शाश्वत प्रवृत्तियों को स्पर्श करने वाला एक सार्वभौम साधन है। भरत के नाटच-शास्त्र का गम्भीर अनुशीलन हमें इसी तथ्य पर हठात् पहुँचाता है:—

एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च
सर्वोपदेशजननं नाटचमेतद् भविष्यति ।।

नाटच-शास्त्र १।११०

नाटक लोक के स्वभाव का अनुकरण है और लोक का स्वभाव एकरस नहीं होता। वह सुख तथा दुःख का अनमिल घोल है जिसमें कभी सुख अपनी नितान्त आह्लादकता के कारण चित्त को आकृष्ट करता है, तो कभी दुःख अपने विषादमय बाणों के द्वारा मानव-हृदय को बेधता है। संस्कृत नाटक की कथा-वस्तु दोनों को अपना

आधारपीठ बनाती है। इसलिए संस्कृत नाटककारों पर दोषारोपण करना कि वे केवल मानव-जीवन के सुखमय चित्रों के ही आलेख्यकर्ता थे और इसीलिए वे जीवन के सच्चे व्याख्याता न थे एकदम अज्ञानमूलक है, इस भ्रान्त धारणा का निराकरण नितान्त श्रेयस्कर है।

सुखान्त होना संस्कृत नाटक की अव्यावहारिकता का चिह्न नहीं है। भारतीय नाटक नाट्य-शास्त्रीय विधि-विधानों का पालन करता हुआ जीवन का एकांगी चित्रण प्रस्तुत नहीं करता; वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा सार्वभौम चित्रण करता है। संस्कृत के नाटकों में दुःख का, मानवीय क्लेश तथा कमज़ोरियों का चित्रण होता है, परन्तु कहाँ ? नाटक के आदि में अथवा मध्य में, पर्यवसान में नहीं। भवभूति के उत्तररामचरित से बढ़कर मानव-क्लेश, वेदना तथा परिताप और पश्चात्ताप का चित्रण करने वाला दूसरा नाटक नहीं हो सकता। अन्त में सुखपर्यवसायी होने पर भी वह राम और सीता जैसे मान्य व्यक्तियों के दुःखद जीवन की विषम परिस्थिति की वेदनामयी अभिव्यक्ति है। संस्कृत का नाटककार भरत के आदेशों का अक्षरशः पालन करता है और भरत का आदेश है कि सुखदुःखात्मक लोक-दशा का चित्रण नाटक में नितान्त आवश्यक होता हैः—

अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा
नाना पुरुष संचारा नाटके सम्भवेदिह ।।

—भरत नाट्य-शास्त्र २१।१२१

इसीलिए कथावस्तु में सर्वभाव, सर्वरस, सर्वकर्मों की प्रवृत्तियों तथा नाना अवस्थाओं का संविधान आवश्यक माना गया है—

सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः ।
नानावस्थानन्तरोपेतं नाटकं संविधीयते ।।

—वही, २१।१२६

(२)

दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष, रस का उन्मीलन सिद्ध करना भारतीय नाटककार का चरम लक्ष्य होता है और इसी लिए वह पश्चिमी नाट्यकारों की भाँति 'व्यापार' को नाटक का सर्वस्व नहीं मानता। इस तथ्य को हृदयंगम करना संस्कृत नाटकों की कथा-वस्तु के विवेचन के लिए नितान्त आवश्यक है। भारतीय ललित कला का उद्देश्य यह नहीं रहता कि वह अपनी चिन्तित वस्तुओं के रूप तथा आकृति को यथार्थरूपेण अंकित करे, प्रत्युत वह दर्शकों के हृदय पर आध्यात्मिक भावना, सौंदर्य की कमनीय छाप डालने में ही अपने को कृतार्थ समझती है। नाटक की कथा-वस्तु

चुनने तथा सजाने का यही उद्देश्य कवि के सामने रहता है। इसीलिए कथा-वस्तु को उदात्तता के ऊपर प्रतिष्ठित होना चाहिए, क्षुद्रता के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं। रामायण तथा महाभारत को कथा-वस्तु के लिए उपजीव्य होने का रहस्य इसी तथ्य में अन्तर्निहित होता है। ये दोनों काव्य भारतीय दृष्टि से ही उदात्त, उन्नत तथा औदार्यपूर्ण नहीं हैं, प्रत्युत मानवता की दृष्टि से भी इनके कथानकों का महत्त्व नितान्त उच्च है। रामायणीय नाटकों की कथा-वस्तु की एकरूपता के विषय में 'प्रसन्न राघव' के कर्ता जयदेव का यह प्रतिनिधि उत्तर सचमुच मार्मिक तथा सत्य है। रामकथा का आश्रयण कवियों के प्रतिभा-दारिद्रय का सूचक नहीं हैं, प्रत्युत मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र के महनीय गुणों का यह अवगुण है :—

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः ॥

(प्रसन्नराघव की प्रस्तावना)

'औदात्य' की कसौटी

'उदात्तता' की यह कसौटी नाटकों के ही लिए नहीं होती, प्रत्युत उन 'प्रकरणों' के लिए भी जहाँ नाटककार कथा-वस्तु के चुनाव में अपनी कमनीय कल्पना का पूर्ण साम्राज्य पाता है। इस प्रकार 'कथा-वस्तु' को रस-निर्भर बनाने में कवि के लिए दो आवश्यक साधन होते हैं : औदात्य और औचित्य।

नाटकीय कथा-वस्तु के विवेचन के अवसर पर उसका 'औदात्य' कभी नहीं भुलाया जा सकता। नाटक में शृंगार अथवा वीर रस का प्राधान्य रहता है और इसी लिए प्रेम अथवा युद्ध का वर्णन कथानकों में होता है। प्रेम की उदात्तता पर आग्रह होना स्वाभाविक है। संस्कृत का नाटककर्ता केवल मनोरंजन के लिए अपने रूपकों का प्रणयन नहीं करता, प्रत्युत समाज से स्पर्श करने वाली घटनाओं का चित्रण कर उसके स्तर को उदात्त बनाने की भावना से भी प्रेरित होता है और यहीं औदात्य का महत्त्व आता है। 'प्रहसन' तथा 'भाण' में हास्य रस का पुट रहता है, परन्तु यहाँ क्षुद्रता, हीनता या छिछोरेपन के लिए महनीय प्रहसनों में स्थान नहीं होता। वस्तु की रचना में प्राचीनता की दुहाई नहीं दी जाती, बल्कि कवि की प्रौढ़ प्रतिभा के लिए पूरा मदान खाली रहता है परन्तु उसमें एक ही अंकुश होता है और वह है औदात्य तथा औचित्य का। 'धर्माविरुद्ध काम' भगवान् की एक भव्य विभूति है और इसीलिए संस्कृत की कथा-वस्तु काम के पल्लवन में धर्म से संघर्ष को सहन नहीं कर सकती। पुरुषार्थत्रयी में धर्म का स्थान सबसे ऊँचा माना ही जाता है और इसीलिए

अर्थ और काम दोनों के धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित कर चलने की व्यवस्था हमारे आचार्यों को अभीष्ट है। अर्थकामी चित्रण कथा-वस्तु में मिलता है, परन्तु धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करके नहीं, प्रत्युत धर्म के नियन्त्रण में रह कर ही। इसलिए संस्कृत में आधुनिक प्रकार के 'समस्या नाटकों' का अभाव है, परन्तु उसमें शाश्वत समस्याओं के सुलझाने का खुल कर प्रयत्न है।

(३)

कथावस्तु में औचित्य

औदात्य के अनन्तर औचित्य का महत्त्व समझना बड़ा ज़रूरी होता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की युक्तिमत्ता के लिए भरत ने औचित्य को प्रधान सहायक माना है। नाटक तो कवि के हाथों 'औचित्य' निर्वाह का एक महनीय अस्त्र है जो अपनी उचितरूपता के कारण ही—कथा-वस्तु के साथ पात्र, भाव तथा भाषा के औचित्य के हेतु—दर्शकों के हृदय पर गहरी छाप डालता है। भरतमुनि का आदेश है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं हि पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥

(नाट्य-शास्त्र १४।६८)

कथा-वस्तु के लिए औचित्य का मण्डन प्रधान प्रसाधक होता है। ऐसी कोई कथा या उसका अंश जो नायक के चरित्र को गर्हणीय या निन्दनीय बनाने में हेतु बनाता है कथमपि ग्राह्य नहीं होता। धनंजय का आदेश है—

यत् तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत् परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्

—दशरूपक ३।२२

कथा-वस्तु मात्र में नायक या रस का विरोधी अंश या तो सर्वथा त्याज्य होता है अथवा उसकी अन्यथा प्रकल्पना होती है। ध्यान देने की बात है कि नाटक-कार 'इतिवृत्त', प्राचीन ऐतिहासिक कथानक, को पूर्णतया चित्रित कर (जैसा वह इतिहास में प्रसिद्ध होता है) अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करता, प्रत्युत वह उसके अनुचित अंशों को काट-छाँट कर उसे रसपेशल बना डालता है। इसलिए तो आनन्द वर्धन की यह गम्भीर उक्ति है:—

"काव्य प्रबन्ध की रचना करते समय कवि को सब प्रकार से रस-परतन्त्र होना चाहिये। इस विषय में यदि इतिवृत्त में रस की अनुकूल स्थिति न दीख पड़े, तो उसे तोड़ कर भी स्वतन्त्र रूप से रसानुकूल अन्य कथा की रचना करनी चाहिये। कवि के इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उसकी सिद्धि तो इतिहास से हो ही जाती है।[1]

नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण किञ्चित् प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत् सिद्धेः॥

(जैसे मायुराज-कृत उदात्तराघव)

इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर अनेक राम-नाटकों में, कपट के द्वारा 'वालिवध' का राम के चरित्र पर लांछन-रूप होने से एकदम परिहार ही कर दिया गया है। भवभूति के 'वीर-चरित' में रावण के सहायक होने के कारण बालि मारा गया; इस प्रकार कथा में उचित परिवर्तन कर दिया गया है। निष्कर्ष यह है कि कथा-वस्तु की रसपेशलता तथा रस-निर्भरता के निमित्त उसे उदात्त तथा उचित बनाने का नाट्य-शास्त्रीय उपदेश गम्भीर तथा मौलिक है।

कथा-वस्तु की रसात्मिकता पर नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में विशेष ज़ोर दिया गया है अवश्य, परन्तु उसमें भी औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कथमपि न्याय्य नहीं होता। वस्तु तथा रस—इन दोनों में मंजुल सामंजस्य होना ही नाट्य-कला का उच्च आदर्श है। न तो रस का अतिरेक होना चाहिए जिससे वस्तु का दूरविच्छेद न हो जाय। रसातिरेक का फल वस्तु के एकान्त विच्छेद के ऊपर पड़ता है। यह एक छोर है जिससे बचकर रहना नाटककार का मुख्य कर्तव्य होता है। और दूसरा छोर होता है वस्तु, अलंकार, तथा नाट्य-लक्षणों के द्वारा रस का तिरोधान और इस छोर को भी छूना नाटक में अभीष्ट नहीं होता। कवि के लिए नाटक में मध्यम मार्ग ही प्रशस्त होता है। उसे अपनी कथा-वस्तु को रस, अलंकार तथा नाट्य-लक्षणों से सजाकर स्निग्ध तथा सुन्दर बनाना पड़ता है, परन्तु कथा-वस्तु की ही मुख्यता होती है। वह तो काव्य का शरीर ही ठहरा। दीवाल के रहते चित्रकारी की साधना होती है। शरीर रहते ही अलंकारों का प्रसाधन हृदयंगम तथा साध्य होता है। उसी प्रकार कथा-वस्तु की सार्वभौम सत्ता का तिरस्कार या तिरोधान रस, अलंकार, आदि के द्वारा कथमपि नहीं किया जा सकता। इस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने कथा-वस्तु के सजाने तथा प्रसाधन के निमित्त मध्य-मार्ग को ही प्रशस्य माना है। धनञ्जय के इस मौलिक निरूपण का यही रहस्य है—

---

१. **ध्वन्यालोक ३।१४ पर वृत्ति, पृष्ठ १४८ (निर्णयसागर)**

न चाति रसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतांनयेत् ।
रसं वा न तिरोदध्याद् वस्त्वलंकारलक्षणैः ॥

—दशरूपक ।

कथा-वस्तु के प्रकार

कथा-वस्तु के दो प्रकार होते हैं—[१] **आधिकारिक** (मुख्य) तथा (२) प्रासंगिक (गौण)। 'अधिकार' का अर्थ है फल की स्वामिता (**अधिकारः फलस्वाम्यम्**) और अधिकारी से तात्पर्य है उस पात्र से जो उस फल को पाता है और उसके द्वारा सम्पन्न कथा-वस्तु 'आधिकारिक' नाम से अभिहित होती है (नाट्य-शास्त्र, अध्याय २१, श्लोक ३)। मुख्य कथा में योग देने वाली, सहायता करने वाली कथा 'प्रासंगिक' कहलाती हैः—

कारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम्
परोपकरणार्थं तु कीर्त्यते ह्यानुषंगिकम् ॥

ना० शा० २१।५

'प्रासंगिक' भी विस्तारदृष्ट्या दो प्रकार की होती है : **पताका** जो कुछ विस्तृत हो तथा (२) **प्रकरी** जो बहुत ही छोटी हो। रामायणीय नाटक में सुग्रीव का वृत्तान्त मुख्य कथा का बहुत दूर तक अनुगमन करता है तथा सिद्धि में सहायता देता है और इसलिए वह '**पताका**' का उदाहरण माना जाता है। श्रमणा का लघु वृत्तान्त प्रकरी का दृष्टान्त है। कथा-वस्तु के विस्तार तथा निर्वाह के ऊपर ही नाट्यकर्ता की कला-सिद्धि मानी जाती है। एक अंक के भीतर कितने काल की घटनाओंका प्रदर्शन अभीष्ट होता है ? भरतका मत[1] है कि पूरे दिनकी कथा एक अंक में सम्पन्न न हो सके, तो अंक का छेद कर के प्रवेशकों के द्वारा उसका विधान करना चाहिए। अंक छेद करके एक महीने में होने वाली या एक साल में होने वाली घटनाओं का प्रदर्शन करना चाहिए प्रवेशक आदि के द्वारा, परन्तु वर्ष से ऊपर की घटनाओं का निदर्शन कभी अभीष्ट नहीं माना जाता।

जिस प्रकार बीज नाना उपकरणों से समृद्ध होकर फल के रूप में परिणत होता है उसी प्रकार कथा-वस्तु भी नाना उपकरणों तथा घटनाओं से समृद्ध होकर फल-

---

१ **दिवसावसान कार्यंयद्यंक नोपपद्यते सर्वम् ।**
अंकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद् विधातव्यम् ॥ २८
अङ्कच्छेदं कृत्वा मासकृतं वर्षं संचितं वापि
तत् सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥ २९

भरत अ० २१

उत्पादन में समर्थ होती है। इसीलिए वृत्त की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं:—(१) प्रारम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्ति-सम्भव, (४) नियताप्ति तथा (५) फलयोग और बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ स्वीकृत की जाती हैं। इन दोनों के क्रमिक समन्वय से उत्पन्न नाटकीय कथा-भाग में पाँच सन्धियाँ तथा उनके अवान्तर ६४ अंग माने जाते हैं। सन्धियों के नाम तो प्रसिद्ध ही हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ (४) सावमर्श, (५) निर्वहण। 'नाटक' तथा 'प्रकरण' में इन समग्र सन्धियों की सत्ता विद्यमान रहती है, अन्य रूपकों में यथासम्भव कम सन्धियाँ भी हो सकती हैं।

संस्कृत के नाटच-शास्त्र में वर्णित कथा-वस्तु की रूपरेखा का यह एक सामान्य परिचय है।

संस्कृत नाट्य-शास्त्र में पंच-संधियाँ और अर्थ-प्रकृतियाँ

—डॉ० सत्यव्रतसिंह

सन्धि-पंचक: नाटक का रचनात्मक तत्त्व

संस्कृत नाट्य-शास्त्र में नाटक का जो रचनात्मक विश्लेषण है उसमें 'सन्धि-पंचक' (पाँच संधियों) का ही महत्व सर्वोपरि है। नाटककार 'सन्धि-पञ्चक' की योजना करते हुए नाटक की रचना नहीं किया करता। नाटककार की कला नाटक की रूपरेखा आविष्कृत किया करती है और इस रूपरेखा में 'सन्धि-पञ्चक' की योजना स्वभावत: हुआ करती है। यह तो नाट्य-शास्त्रकारों की समीक्षा है जो नाट्य-कृति को पाँच सन्धियों के रूप में संश्लिष्ट और संघटित देखा करती है। 'सन्धि-पञ्चक' की कल्पना नाटक-निर्माण के सम्बन्ध में नाट्य-शास्त्रकारों की कल्पना है। इस कल्पना में यथार्थ किंवा आदर्शवादी दर्शनों की सृष्टि-विषयक कल्पनाओं का पर्याप्त हाथ है। यथार्थवादी दर्शन के अनुसार 'सन्धि-पञ्चक' का अस्तित्व वास्तविक सिद्ध होता है और आदर्शवादी दर्शन की दृष्टि में 'सन्धि-पञ्चक' को व्यावहारिक अस्तित्व मिल सकता है। 'सन्धि-पञ्चक' को वास्तविक मानने वाले भी नाट्य-शास्त्रकार हैं और व्यावहारिक मानने वाले भी। भरत-नाट्यशास्त्र में दोनों प्रकार की सम्भावनाओं के सूत्र मिलते हैं। 'सन्धि-पंचक को वास्तविक मानने वाले आचार्यों की परम्परा सम्भवत: अधिक प्राचीन है। भरत-नाट्यशास्त्र में 'सन्धि-पञ्चक' का निरूपण कोई नवीन सिद्धान्त नहीं अपितु प्राचीन मर्यादा का अनुसरण-सा लगता है। 'सन्धि-पञ्चक' की वास्तविक सत्ता के समर्थक आचार्यों में 'दशरूपक' के रचयिता आचार्य धनञ्जय और धनिक (८वीं-९वीं शताब्दी) विशेष उल्लेखनीय हैं और 'सन्धि-पञ्चक' को नाट्य-सृष्टि के नियामक, किंवा निर्धारक रस-रूप आत्म-तत्त्व का आभास मानने वाले आचार्यों में अभिनवगुप्तपादा (१०वीं शताब्दी) का नाम कौन नहीं जानता?

नाटक और सन्धि-पञ्चक

चाहे जो भी दृष्टि हो, 'नाटक' और 'सन्धि-पञ्चक' का सम्बन्ध माना गया है। 'सन्धि-पञ्चक' क्या है? भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार 'सन्धि-पञ्चक' का यह स्वरूप है—

मुखं प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्श एव च।
तथा निर्वहणं चेति नाटके पञ्चसन्धयः ।।,

—नाट्य-शास्त्र १६ : ३७

—जिसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक 'नाटक' में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नाम की पाँच सन्धियाँ रहा करती हैं। सन्धि-पञ्चक के उपर्युक्त नाम नाटक के रचनात्मक तत्त्वों में शरीरात्म-भाव की कल्पना को कुछ दूर तक तो प्रोत्साहित अवश्य करते हैं किन्तु अन्त तक नहीं जाने देते। मुख, प्रतिमुख और गर्भ तक ऐसा मालूम होता है जैसे नाटक-शरीर को प्राणि-शरीर के समान देखा जा सकता है किन्तु विमर्श और निर्वहण के सामने यह कल्पना रुक जाती है। अब मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण-रूप सन्धि-पञ्चक क्या है? सम्भवतः नैयायिकों के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूप पञ्चावयव परार्थानुमान-वाक्य के आधार पर नाट्याचार्यों की 'सन्धि-पञ्चक' कल्पना निकली है। समस्त नाटक एक प्रकार का परार्थानुमान-वाक्य है। 'कला अनुकृति है और कला की अनुभूति एक अलौकिक अनुमिति है'—यह प्राचीन कला-विषयक भारतीय सिद्धान्त सम्भवतः 'सन्धि-पञ्चक' के अनुसन्धान के मूल में स्थित है। इस सिद्धान्त का प्रतिपक्ष यह सिद्धान्त कि 'कला अभिव्यक्ति है और कला की अनुभूति आत्मानन्द की अभिव्यक्ति है' 'सन्धि-पञ्चक' को मानता अवश्य है किन्तु इसे स्वतंत्र नहीं अपितु रस-परतंत्र देखा करता है।

अस्तु, सन्धि-पञ्चक की योजना का अभिप्राय नाटक की समस्त अर्थराशि को अङ्गाङ्गिभाव से परस्पर-सम्बद्ध बनाना है। नाटक को एक 'महावाक्य' कह सकते हैं और नाटक का अर्थ एक 'महावाक्यार्थ' हुआ करता है। जैसे किसी परार्थानुमान-वाक्य के अर्थ में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन रूप पंचविध अंशों का विश्लेषण किया जा सकता है वैसे ही महावाक्यार्थ-रूप नाटकार्थ में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण रूप अंश-पञ्चक का निरूपण सम्भव है। नैयायिकों की दृष्टि में 'प्रतिज्ञा' का जो स्थान और महत्व है वही नाट्य-शास्त्रकारों की दृष्टि में 'मुखसन्धि' का है। नैयायिकों की 'प्रतिज्ञा' का अभिप्राय है 'साध्यनिर्देश' ('साध्यनिर्देशः' प्रतिज्ञा—न्यायसूत्र १. १. ३३)। जैसे कि 'शब्द अनित्य है' यह 'प्रतिज्ञा' है क्योंकि यहाँ अनित्य 'शब्द' को अनित्यत्व-धर्म से विशिष्ट सिद्ध करने का उपक्रम किया जा रहा है। नाट्य-शास्त्रकारों की 'मुखसन्धि' भी नाटक का 'साध्यनिर्देश' ही है। किन्तु शब्द अनित्य है यह 'साध्यनिर्देश' और मुद्राराक्षस नाटक का प्रथमाङ्क-रूप 'साध्यनिर्देश' (मुखसन्धि) परस्पर इतने विलक्षण हैं कि जहाँ एक में कोई आनन्द नहीं वहाँ दूसरे में आनन्द-चमत्कार ही अन्तर्व्याप्त प्रतीत होता है। नैयायिकों का 'प्रतिज्ञावाक्य' तो लोकगत

किंवा लोकसिद्ध विषयों का साध्यनिर्देश है किन्तु नाटककार का मुखसन्धियोजन-रूप जो साध्यनिर्देश है वह एक कलात्मक विषय –वस्तुतः रस– के अभिव्यञ्जन का उपक्रम है। इसी लिए आचार्य अभिनवगुप्त ने 'मुखसन्धि' की यह परिभाषा की है––

'प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्रास्वादः आपतितः तावान् मुखसन्धिः, तदभिधायी च रूपकैकदेशः––(अभिनव भारती; तृतीय भागः पृष्ठ-२३)।

अर्थात् मुख्यतः तो 'मुखसन्धि' का अभिप्राय उस रसभाव-सुन्दर अर्थ-राशि से है जिससे किसी रूपक का उपक्रम किया जाया करता है और उपचारतः वह रूपक-भाग भी 'मुखसन्धि' ही कहा जाता है जिनमें इस अर्थराशि का प्रतिपादन किया गया होता है।

'मुख' सन्धि और इसके बाद की सन्धि अर्थात् 'प्रतिमुख' सन्धि में वही सम्बन्ध रहा करता है जो कि 'प्रतिज्ञा' और 'हेतु' में न्याय-सम्मत माना गया है। 'प्रतिमुख-सन्धि' नाटक की वह अर्थराशि है जो 'मुखसन्धि' में उपन्यस्त अर्थराशि को युक्तियुक्त रूप से परिपुष्ट किया करती है। जैसे न्याय-शास्त्र की परिभाषा में 'हेतु' का अभिप्राय 'साध्य-साधन' माना गया है वैसे ही नाट्य-शास्त्र की परिभाषा में 'प्रतिमुख' का अभिप्राय 'मुख' से आभिमुख्य अथवा आनुकूल्य बताया गया है। 'गर्भ' सन्धि को 'उदाहरण' अथवा 'दृष्टान्त' का प्रतिरूप मान सकते हैं। 'गर्भ सन्धि' में नाटक की वह अर्थराशि निहित रहा करती है जिसकी योजना नाटककार के नाट्य-कला-कौशल की एक परीक्षा हुआ करती है। जैसे नैयायिकों को 'उदाहरण' देने में सतर्क होना पड़ता है वैसे ही नाटककारों को भी 'गर्भसन्धि' की रचना में नायक और प्रतिनायक के परस्पर द्वन्द्व और इस द्वन्द्व में आशा-निराशा के अन्तर्द्वन्द्व के प्रकाशन करने और नाटक के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में पर्याप्त रूप से सतर्क होना पड़ता है क्योंकि बिना इसके नाटक के नाटकाभास में बदल जाने का डर निरन्तर बना रहता है।

'उदाहरण' के अनन्तर 'उपनय' का जो स्थान और महत्त्व न्याय-शास्त्र में माना गया, 'गर्भ-सन्धि' के बाद 'विमर्श सन्धि' का भी वैसा ही स्थान और महत्त्व नाट्य-शास्त्र में निर्दिष्ट किया गया है। नाटक में 'विमर्श' सन्धि के रूप में वह अर्थ-राशि उपन्यस्त हुआ करती है जिसमें नायक नियतफल-प्राप्ति की अवस्था में चित्रित रहा करता है। जहाँ गर्भसन्धि में आशा और निराशा का द्वन्द्व चलता दिखाया जाया करता है वहाँ विमर्श सन्धि में आशा की प्रबलता में भी नैराश्य के आघात

की संभावना नायक के धैर्य-परीक्षण के सुअवसर के रूप में अवश्य अभिव्यक्त की जाया करती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तभी तो यह कहा है—

'...विमर्श सन्धिर्नियतफलप्राप्त्यवस्थया व्याप्तः, तत्र नियतत्वं सन्देहश्चेति किमेतत् ? अत्राहुः तर्कानन्तरमपिहेत्वन्तरवशाद् बाधच्छलरूपता पराकरणे संशयो भवेत्, किं न भवति। इहापि च—निमित्तबलात् कुतश्चित् संभावितमपि फलं यदा बलवता प्रत्यूह्यते कारणानि च बलवन्ति भवन्ति तदा. जनकविघातकयोस्तुल्यबल-त्वात् कथं न संदेहः। तुल्यबलविरोधकविधीयमानवैधुर्यव्याधूननसन्धीयमानस्फार-फलावलोकनायां च पुरुषकारः सुतरामुद्धुरकन्धरी भवतीति तर्कानन्तरमत्र संशयः ततो निर्णय इत्येतदेवोचिततरम्।'

—अभिनव भारती, तृतीय भाग, पृष्ठ २७

नैयायिकों का 'उपनय'-वाक्य भी 'हेतु' का 'पक्ष' में उपसंहार किया करता है क्योंकि बिना ऐसा किये हेतु अथवा साधन की पक्ष-धर्मता स्पष्टतया नहीं स्थापित की जा सकती।

नाटक की अन्तिम सन्धि 'निर्वहण' अथवा 'उपसंहृति' कही गयी है। यह सन्धि नाटक की वह अर्थ-राशि है जिसमें चारों सन्धियों की अर्थराशि समन्वित की गयी होती है। परार्थानुमान-वाक्य में 'निगमन' वाक्य की योजना का भी यही उद्देश्य है कि प्रतिज्ञात विषय का हेतु-निर्देश के साथ इसलिये पुनः कथन हो जिसमें साध्य अथवा प्रतिज्ञात विषय के विपरीत किसी विषय की सिद्धि की संभावना सर्वथा उच्छिन्न हो जाय। जैसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन का प्रयोजन परार्थानुमान-वाक्य के अर्थ का सम्मिलित रूप से निष्पादन हुआ करता है वैसे ही मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण सन्धि का उद्देश्य नाटक-रूप महावाक्यार्थ का परस्पर सम्बद्ध रूप से निष्पादन ही है।

'सन्धि-पञ्चक' में किसका सन्धान ?

'सन्धि' शब्द के अर्थ में दो वस्तुओं का सम्बन्ध अन्तर्निहित है। नाटक में कौन-सी दो वस्तुयें हैं जिनका सन्धान नाटककार का कर्त्तव्य है और जिस कर्त्तव्य का पालन 'सन्धि-पञ्चक' के रूप में देखा जाया करता है ? नाट्य-शास्त्रकारों ने यहाँ एक स्वर से यही कहा है कि 'अवस्था-पञ्चक' और 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' का परस्पर समन्वय 'सन्धि-पञ्चक' है। 'आरम्भ' और 'बीज' का समन्वय मुख सन्धि; 'यत्न' और 'विन्दु' का सन्धान प्रतिमुख सन्धि; 'प्राप्त्याशा' और 'पताका' का सामञ्जस्य गर्भ सन्धि; 'नियताप्ति' और 'प्रकरी' का सम्बन्ध विमर्श सन्धि तथा 'फलागम' और 'कार्य' का संयोजन निर्वहण सन्धि है। दशरूपककार ने स्पष्ट कहा है—

"अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसंधयः॥"

—दशरूपक १.२२

अर्थात् क्रमशः एक-एक 'अवस्था' का एक-एक 'अर्थ-प्रकृति' से समन्वय मुखादि सन्धि-पञ्चक की रूपरेखा का निर्माण है।

अवस्था और अर्थ-प्रकृति

भरत-नाट्य-शास्त्र में 'अवस्था' का अभिप्राय नाटक में निबद्ध नायक के व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास है। नायक का व्यक्तित्व ही उसके सहायकों अथवा विरोधियों के व्यक्तित्व का आधार हुआ करता है और इस दृष्टि से नाटककार अन्यान्य नाटक-चरितों के व्यक्तित्व का विकास इसीलिये किया करता है जिसमें नायक का व्यक्तित्व शतदल कमल की भाँति उन्मीलित हो उठे। जिसे नायक का 'व्यक्तित्व कहते हैं वह नायक की ज्ञान-इच्छा-क्रिया किंवा प्रयत्न-शक्तियों का सम्मिलित रूप हुआ करता है। वस्तुत: नाटक-निबद्ध समस्त व्यापार-परिस्पन्द (Dramatic action) नायक के व्यक्तित्व का बाह्य रूप है। इस व्यक्तित्व का ही विश्लेषण आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की पाँच अवस्थाओं की कल्पना का कारण है। कोई भी नाटककार बिना इस अवस्था - विश्लेषण के नाटक की रचना नहीं कर सकता। किन्तु केवल इन पाँच अवस्थाओं की योजना ही नाटक की रूप - रेखा के लिये पर्याप्त नहीं। ये अवस्थायें तो नाटक - जगत के निर्माण की पञ्चतन्मात्रायें हैं। इन के साथ पञ्चमहाभूतों की भाँति पाँच अर्थ-प्रकृतियों का भी सहयोग अपेक्षित है और तभी रस-भाव की अन्तर्नियामकता में नाटक का आविर्भाव संभव है।

'अर्थ-प्रकृति' क्या है ?

'अर्थ-प्रकृति' की कल्पना भरत-नाट्यशास्त्र से प्राचीन है। भरत-नाट्यशास्त्र में जिस रूप में 'अर्थ-प्रकृति' का निरूपण है उस से यही प्रतीत होता है कि भरत मुनि ने 'अर्थ-प्रकृति' की कल्पना को प्राचीन नाट्य-दर्शन से प्राप्त किया है। भरत मुनि ने अर्थ 'प्रकृति' का यह स्वरूप और प्रकार निर्दिष्ट किया है —

इतिवृत्ते यथावस्थाः पञ्चारम्भादिकाः स्मृताः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च तथा बीजादिका अपि॥
बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि॥

भरत-नाट्यशास्त्र : १९ - २०, २१

अर्थात् जैसे नाटक के इतिवृत्त में आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम की पाँच अवस्थाएँ उपनिबद्ध हुआ करती हैं वैसे ही बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य की पाँच अर्थ-प्रकृतियों की भी योजना स्वाभाविक है।

'अवस्था-पञ्चक' के सम्बन्ध में तो नाट्य-शास्त्रकारों में कोई मतभेद नहीं, किन्तु 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' के स्वरूप-निर्धारण में कई एक कल्पनायें की गयी हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने किसी नाट्याचार्य के मत का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि 'अर्थ-प्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' की, समस्त रूपक के वाच्य की, 'प्रकृति' अयवा अवयव-कल्पना का है। इस मत का खण्डन करते हुए उनका कहना यह है कि यदि 'अर्थ-प्रकृति' को समस्त रूपकार्थ के अवयवभूत 'अर्थ-खण्ड' माना गया तब अर्थ-प्रकृति और पंचसन्धि में अन्तर क्या रहा? जिसे समस्त रूपकार्थ कह सकते हैं वह इतिवृत्त के अतिरिक्त और क्या है? और 'सन्धि-पञ्चक' के अतिरिक्त इतिवृत्त के अवयव-खण्ड भी तो और कुछ नहीं! अर्थ-प्रकृति का अभिप्राय कुछ और होना चाहिये। 'अर्थ-प्रकृति' को रूपक के इतिवृत्त-रूप अर्थ में संयोजित 'प्रकृति' अथवा अवयव कल्पना मानना भी ठीक नहीं क्यों कि तब हमें केवल 'प्रकृति' कहना प्रर्याप्त है न कि 'अर्थ-प्रकृति'। भरत मुनि ने 'इतिवृत्त...अर्थ प्रकृतय:' कहा है। यदि 'इतिवृत्त' और 'अर्थ' समानार्थक हैं तब बीज, बिन्दु आदि को 'प्रकृति-पञ्चक' कहना उचित है न कि अर्थ-प्रकृति-पञ्चक।

'अर्थ-प्रकृति' का रहस्य क्या हो सकता है? 'अर्थ' का अभिप्राय इतिवृत्त-रूप रूपकवाच्यार्थ नहीं अपितु 'फल' है। इस प्रकार बीज, विन्दु आदि को जो 'अर्थ-प्रकृति' कहा जाता है उस का यही तात्पर्य है कि ये पाँचों नाटक में अर्थ अथवा फल की 'प्रकृति' अथवा उपाय या साधन हैं।

अर्थप्रकृति-पञ्चक किस के फल के उपाय?

नाट्य-शास्त्रकारों ने 'अर्थ-प्रकृति' को जिस दृष्टि से 'फलोपाय' कहा है उस का स्पष्टीकरण नहीं किया है। किन्तु इस में भी एक सत्य छिपा है। कई दृष्टियों से 'अर्थ-प्रकृति' को 'फलोपाय' माना जा सकता है। 'अर्थ-प्रकृति' नाटककार की दृष्टि से भी 'फलोपाय' है जिस का विवेचन और विश्लेषण नाट्य-शास्त्र का काम है और नायक की दृष्टि से भी, जिसका विचार-विमर्श नाटककार का नाट्य-कौशल है। नायक के साथ नाटककार और नाटक-दर्शक के साधारणीकरण की धारणा का ही संभवतः यह प्रभाव है कि नायक के बीजोक्षेप

अथवा नाटककार के बीजोक्षेप का स्पष्टीकरण संस्कृत नाट्य-शास्त्र में नहीं किया गया। जहाँ 'मुद्राराक्षस' (४.३) की यह उक्ति—

'कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्,
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च ।
कुर्वन् बुद्धया विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं,
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद् विधो वा ।।'

इस बात की ओर संकेत करती है कि बीज, बिन्दु आदि अर्थ-प्रकृतियों और आरम्भ आदि अवस्थाओं की समीचीन योजना नाटककार की नाट्य-कला का काम है, वहाँ 'नाट्य-दर्पण' की यह उक्ति—

'नेतुर्मुख्य फलं प्रति बीजाद्युपायन् प्रयोक्तुरवस्थाः प्रधानवृत्तविषये काय-वाङ्-मनसां व्यापाराः । (नाट्यदर्पण, पृष्ठ ४८)

यह निर्देश करती है कि बीज आदि फलोपाय (अर्थ-प्रकृति) का सम्बन्ध उसके प्रयोक्ता नायक से है। ऐसा लगता है जैसे अर्थशास्त्र की 'राज्यप्रकृति' की भाँति, नाट्य-शास्त्र ने 'अर्थप्रकृति' की कल्पना की है। राज्य जैसे 'सप्त-प्रकृति' हुआ करता है वैसे ही नाट्य 'पञ्चप्रकृति'। जैसे राज्य की सात प्रकृतियाँ स्वामी अथवा राजा के नियन्त्रण में अपना अस्तित्व रखा करती हैं वैसे ही नाटक की पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ नाटक की नियामकता में कार्यकर हुआ करती है।

नाटक का नायक वास्तविक जीवन का महापुरुष हुआ करता है। धर्म, अर्थ और काम में से किसी फल की अभिलाषा उसके व्यक्तित्व की मूल प्रेरणा हुआ करती है। अपने अथवा अपने सहायकों के नानाविध कार्य-व्यापार अथवा अनुकूल भाग्य की प्रेरणा के रूप में वह अपने धर्मार्थ-काम रूप फल के लिये 'बीज' बोया करता है। किसी 'बीज' के आवाप मात्र से ही फल नहीं मिल जाता। जैसे किसी माली को बीज बोने के बाद समय-समय पर पानी डालना (बिन्दु-निक्षेप अथवा जलबिन्दु-निक्षेप करना) पड़ता है वैसे ही नाटक का नायक भी अपने धमार्थ-काम रूप फल के 'बीज' को 'बिन्दु' के द्वारा अपने अथवा सहायकों के व्यापार में, विघ्न-बाधाओं की मुठभेड़ के कारण, उग्रता अथवा शक्तिमत्ता के आधान के द्वारा सींचता रहा करता है। बीज के उपक्षेप किंवा बिन्दु के निक्षेप की क्रिया नानाविध साधन-सामग्री की अपेक्षा करती है। नायक भी 'बीज' और 'बिन्दु' को सफल किंवा कार्य-कर बनाने के लिये नाना प्रकार के साधनों की अपेक्षा करता है जो कि नाट्य-शास्त्र की परिभाषा में 'कार्य' (प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधान फल-

त्वेनाभिप्रेते बीजस्य प्रारम्भावस्थोत्क्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य सहकारी संपूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामद्युपायलक्षणो द्रव्यगुणक्रिया प्रभृतिः सर्वोऽर्थश्चेतनैः कार्यते फल-मिति कार्यम्--(नाट्यदर्पण, पृष्ठ ४७) कहे गये हैं। जैसे वृक्षारोपण में 'पताका' की स्थापना का प्रयोजन एक मांगलिक कार्य में सामाजिक सहयोग और सद्भावना का निमन्त्रण है वैसे ही नाटक का नायक भी अपने महान् उद्योग में 'पताका' की स्थापना किया करते हैं वह उसके सहायकों की सद्भावना और उसकी फल-सिद्धि में सहायकों की सतत जागरूकता का आह्वान किया करती है। वृक्ष की रक्षा के लिये कभी-कभी छोटे-छोटे साधन भी आवश्यक हुआ करते हैं। नायक भी अपने धर्म अथवा अर्थ अथवा काम रूप वृक्ष की रक्षा के लिये ऐसे सहायकों की अपेक्षा किया करता है जो छोटे होने पर भी महत्त्वपूर्ण हुआ करते हैं। नाट्यशाला की पारिभाषिकता में इन्हें 'प्रकरी' कहा करते हैं।

इन उपर्युक्त पाँच अर्थ-प्रकृतियों अथवा फलोपायों में 'बीज, बिन्दु' और 'कार्य' तो अपने आप में अधिक महत्त्वपूर्ण है किन्तु, 'पताका' और 'प्रकरी' का महत्त्व नायक की जनप्रियता पर अवलम्बित है। अभिनवगुप्ताचार्य ने इन फलोपायों को 'जड़' और 'चेतन' रूप में विभक्त किया है। 'बीज' और 'कार्य' तो अचेतन फलोपाय हैं और 'बिन्दु', 'पताका' तथा 'प्रकरी' चेतन फलोपाय। इन चेतनात्मक और अचेत-नात्मक फलोपायों का अनुसन्धान किंवा प्रयोग नायक किया करता है और इसीलिये नाटककार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह भी इन्हें नायक के चरित्र-चित्रण में यथास्थान किंवा यथोचित रूप से चित्रित करे।

नाटक में अर्थप्रकृति-योजना

जबकि नाटककार नायक द्वारा प्रयुक्त फलोपायों की नाटकीय योजना प्रारम्भ करता है तब उसका उद्देश्य लौकिक धर्मार्थ-काम की प्राप्त नहीं अपितु उस अलौकिक आनन्द का सहृदय हृदय में अभिव्यञ्जन हो जाया करता है जिसे 'रस' कहा करते हैं। **'नाट्य में जो कुछ है वह रस है--रसप्राणो हि नाट्यविधिः'**--यही नाट्यशास्त्र-कारों की नाटक-सम्बन्धी मान्यता है। इस प्रकार बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य रसनिष्पत्ति-रूप फल के उपाय बन जाते हैं। नायक ने--लोक-जीवन के किसी महापुरुष ने--अनुकूल भाग्य की प्रेरणा अथवा अपने पौरुष या अपने सहायकों के अध्यवसाय के रूप अपने धर्मार्थ-काम रूप फल का जो 'बीज' बोया होगा वही जब नाटककार की कला द्वारा नाटक में निक्षिप्त किया जाया करता है तब नाना प्रकार के रस-भावों का अभिव्यञ्जक हो जाया करता है। लोक में नायक अथवा उसके सहायक का अपने-अपने अध्यवसाय आदि के रूप में बीज-निक्षेप किसी दर्शक के लिये

दुःखद भी हो सकता है किन्तु नाट्य में उपक्षिप्त यही 'बीज' चाहे वह भाग्य की अनुकूलता मात्र हो, नायक आदि का अध्यवसाय-रूप हो, नायक पर पड़ने वाले संकटों का निर्देश मात्र हो, संकटों की मुठभेड़ में नायकों का अदम्य व्यक्तित्व-रूप हो, जैसा भी हो, एक मात्र विविध रस भावों का भावक अथवा व्यञ्जक बन जाया करता है। उदाहरण के लिये, 'मुद्राराक्षस' नाटक में नाटककार ने, चन्द्रगुप्त पर पड़ने वाले संकटों के निवारण के लिये, चाणक्य के महान् अध्यवसाय को जो बीज रूप में बोया है वह अमर्ष, आवेग, चिन्ता औत्सुक्य आदि-आदि भावों के रूप में सहृदय हृदय में अंकुरित होते हुये वीर रस का निष्पादक बन रहा है। यहाँ कूट-लेख की योजना, गुप्तचरों की उन कूट चालों में नियुक्ति आदि घटनायें ही बीज की शाखा-प्रशाखा के रूप में निकल रही हैं और इनका जो अन्तःसार है वह चाणक्य की महत्त्वाकांक्षा का उन्मेष-रूप है। मुद्राराक्षस के इतिवृत्त रूप शरीर की दृष्टि से यह सब प्रसंग 'मुख सन्धि' है जिसमें वीरभावोत्सिक्त चाणक्य की राजनीतिक महत्त्वा-कांक्षा के कृत्रिम विकास रूप में, राक्षस द्वारा किये जा सकने वाले उन-उन आक्रमण के उन-उन प्रतिरोध उपायों के चिन्तन का रस-निर्भर 'बीज' बोया हुआ है। वही 'बीज' जहाँ चाणक्य नायक के राक्षस-वशीकार रूप फल का निदान है, वहाँ सहृदय सामाजिक के हृदय में वीर रस के अभिव्यञ्जन का भी निदान है।

विन्दु-निक्षेप का प्रयोजन उपक्षिप्त बीज का अंकुरण आदि हुआ करता है। 'विन्दु' के रूप में नाटककार नायक के प्रयत्नों का अभिव्यञ्जन करता है और इसके प्रभाव में नाटक का इतिवृत्त एक विचित्रता से प्रवाहित हो उठता है। जैसे कि 'मुद्राराक्षस' में ही नाटककार ने चार-निवेदन (गुप्तचरों द्वारा उन-उन परिस्थितियों के परिज्ञान), मुद्रा-लाभ (राक्षस की अँगूठी का चाणक्य के हाथ पड़ना), कपटलेख-निष्पादन आदि वृत्तों की जो योजना की है वह वस्तुतः विन्दु-निक्षेप ही है जिसकी सहायता से चाणक्य की महत्वाकांक्षा का 'बीज' उत्तरोत्तर उदीयमान किंवा समृद्ध होते दिखाई दे रहा है। इसी प्रकार यहाँ प्रतिनायक राक्षस द्वारा निक्षिप्त चाणक्य और चन्द्रगुप्त के परस्पर-भेद की योजना का जो 'बीज' नाटककार ने बोया है उसे भी चार-निवेदन, उत्तेजक प्रशस्ति-रचना आदि घटना-चक्र के विन्दु-निक्षेप से बड़ी कुशलता से सींचा है। विन्दु-सेक से परिपुष्ट यह 'बीज' सहृदय हृदय में वीररस भाव के उद्घाटन की पर्याप्त सामर्थ्य रखता है

'बिन्दु' के बाद 'कार्य' ही अर्थप्रकृति-योजना में अधिक महत्व रखता है। 'कार्य' का अभिप्राय उस अन्यान्य साधन-सामग्री की योजना है जो 'बीज' के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हुआ करती है। 'साध्ये बीज सहकारी कार्यम्' (नाट्यदर्पण, पृष्ठ

४७) । कुछ नाट्यशास्त्रकार 'कार्य' का अभिप्राय धर्मार्थ-काम-रूप पुरुषार्थ मानते हैं। दशरूपककार ने ही स्पष्ट कहा है—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबंधि च ।

—दशरूपक : १-१६

अर्थात् पृथक्-पृथक् अथवा परस्पर अनुषक्त धर्म, अर्थ और काम ही 'कार्य' है। किन्तु यह 'कार्य'-परिभाषा इस प्रकार की है जिसके देखते 'कार्य' को 'अर्थ-प्रकृति कहना असंभव हो जाता है। 'कार्य' को भरत मुनि ने अर्थ-प्रकृतियों में स्थान दिया है। इसलिये, जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है, 'कार्य' का अभिप्राय धर्मार्थ-काम-रूप पुरुषार्थ नहीं अपितु उन २ नाटकों में उपनिबद्ध जनपद, कोश, दुर्ग आदि का व्यापार-वैचित्र्य—वस्तुत: एक शब्द में बीज—सहकारी साधन-समूह—ही है जिसके अभाव में किसी भी नायक की महत्वाकांक्षा उसके हृदय में ही उत्पन्न-विलीन दिखायी जा सकती है न कि कार्यकर अथवा सफल होते हुये चित्रित की जा सकती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—

'आरंभत इत्यारम्भशब्दवाच्यो द्रव्यगुणक्रियाप्रभृतिः सर्वोर्थः सहकारी कार्यमित्युच्यते, चेतनैः कार्यते फलमिति व्युत्पत्त्या ।...तेन जनपद कोश दुर्गादिक व्यापार वैचित्र्यं सामाद्युपायवर्ग इत्येतत् सर्वं कार्येऽन्तर्भवति ।'

—अभिनव भारती, तृतीय भाग, पृष्ठ १६।

'मुद्राराक्षस' में ही साम, दाम, दण्ड आदि नीति-चिन्तन किंवा सैन्य-संनाह आदि घटनाओं की जो योजना है वह 'कार्य' रूप अर्थ-प्रकृति की ही योजना है। यह 'कार्य'-योजना सहृदय-हृदय में नीति-विषयक उत्साह के उद्‌बोधन का एक अत्यन्त आवश्यक निदान है।

इस प्रकार बीज, बिन्दु और कार्य-रूप तीन अर्थ-प्रकृतियाँ उन नाटकों में अनिवार्य रूप से उपनिबद्ध रहा करती हैं जिनके नायक एकमात्र आत्म-पौरुष के धनी हुआ करते हैं, अपने पराक्रम का अदम्य आत्म-विश्वास रखा करते हैं और जिनका कार्य-सिद्धि उनके आत्मोत्साह की ही अपेक्षा किया करती है। 'मुद्राराक्षस' नाटक के नायक का ऐसा ही व्यक्तित्व है—'स्वपराक्रम बहुमानशाली' व्यक्तित्व—और इसीलिए इस नाटक में बीज, बिन्दु और कार्य की तीन अर्थ-प्रकृतियों की ही योजना है।

नाट्याचार्य भरत ने इसीलिये कहा है—

'एतेषां यस्य येनार्थो यतश्च गुण इष्यते ।
तत्प्रधानं तु कर्त्तव्यं गुणभूतान्यतः परम् ।।'

—नाट्यशास्त्र १९-२७

अर्थात् 'नाटक' में अवस्था-पञ्चक की भाँति अर्थप्रकृति-पञ्चक की योजना नहीं हुआ करती। 'अवस्था-पञ्चक' का तो अनिवार्यतः नाटक में उपनिबन्ध हुआ करता है किन्तु 'अर्थ-पञ्चक' की अनिवार्य योजना आवश्यक नहीं। नायक के व्यक्तित्व की दृष्टि से उसके फलोपायों की योजना आवश्यक है। 'बीज' 'बिन्दु' और 'कार्य' तो नायक मात्र के फलोपाय हैं किन्तु 'पताका' और 'प्रकरी' उन्हीं नायकों के फलोपाय रूप में उपनिबद्ध हो सकती हैं जो लोक-जीवन में जनप्रिय रह चुके हैं, जिनके धर्मार्थकाम-रूप पुरुषार्थ-लाभ में जन-सहाय्य मिल चुका है और जिनका उत्कर्ष जन-जीवन पर स्थायी किंवा व्यापक प्रभाव डाल चुका है।

'पताका' और 'प्रकरी'—दोनों अर्थ-प्रकृतियाँ हैं। 'पताका' भरत-नाट्यशास्त्र में इस प्रकार प्रतिपादित है—

'यद्वृत्तं तु परार्थं स्यात् प्रधानस्योपकारकम्।
प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता॥'

—नाट्य-शास्त्र : १९-२४

और 'प्रकरी' इस प्रकार—

'फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैव केवलम्।
अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत्॥'

—नाट्य-शास्त्र : १९-२५

अभिप्राय यह है कि 'पताका' और 'प्रकरी' उस नाटक के प्रासङ्गिक वृत्त हैं जिसके नायक की धर्मार्थकाम-रूप फल-सिद्धि उपनायक अथवा सहायक के भी प्रयत्नों की अपेक्षा करती है। पाँचों अर्थ-प्रकृतियों में केवल 'पताका' और 'प्रकरी' ही वस्तुतः नाटक के अवान्तर वृत्त के रूप में नाट्य-शास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट हैं। 'बीज' 'बिन्दु' और 'कार्य' अर्थ-प्रकृति तो अवश्य है किन्तु प्रासङ्गिक वृत्त नहीं। वस्तुतः 'बीज', 'बिन्दु' और 'कार्य' में नाटक की 'अर्थप्रकृति' अथवा 'फलोपायपरम्परा' की कल्पना इसीलिये की गयी है कि इन्हीं के द्वारा नाटक के आधिकारिक इतिवृत्त (Main Plot) का उत्तरोत्तर विकास हुआ करता है और यथास्थान आधिकारिक और प्रासङ्गिक इतिवृत्त का संश्लिष्ट रूप नाटकीय इतिवृत्त प्रकट हुआ करता है।

अर्थ-प्रकृतियों की योजना का उद्देश्य

नाटक में अर्थ-प्रकृतियों की योजना से ही नायक का चरित-विकास नाटकीय बना करता है। केवल 'अवस्था-पञ्चक' के विश्लेषण में नाटक की रूपरेखा नहीं खड़ी

हो सकती। 'अवस्था-पञ्चक' की योजना से रसभाव की धारायें प्रवाहित हो सकती हैं। किन्तु 'नाटक' के रूप में रस-स्रोत का दर्शन तभी हो सकता है जब कि 'अर्थ-प्रकृति'-योजना हुई हो। 'सन्धि-पञ्चक' की कल्पना भी अर्थ-प्रकृति की कल्पना पर ही अवलम्बित है। सन्ध्यङ्गों का स्वरूप 'बीज', 'बिन्दु' और 'कार्य' की अर्थ-प्रकृति पर ही निर्भर है। सन्ध्यङ्गों के रूप में नाट्य-शास्त्र नाटक के जिस कथनोपकथन का विशद विश्लेषण करता है वह वस्तुतः अर्थ-प्रकृति योजना के ही रहस्य का स्पष्टीकरण है। क्या 'अवस्था-पञ्चक' क्या 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' और क्या 'सन्धि-पञ्चक', सभी के सभी नाटक के कथनोपकथन में ही अपना अस्तित्व और उद्देश्य रखते हैं। नाटककार यदि चरित-विकास की दृष्टि से अवस्थाओं का उत्तरोत्तर संश्लिष्ट विकास करता है तो इतिवृत्त की दृष्टि से अर्थ-प्रकृतियों का यथोचित संनिवेश रचता है। 'सन्धि-पञ्चक' इस संश्लिष्ट इतिवृत्त के अवयवार्थ-रूप निकलते हैं और 'रस' है इस नाटक-रचना का अन्तस्तत्त्व, अन्तःसार किंवा अन्तर्नियामक।

प्राचीन भारतीय रंगमंच की एक अनुपम नृत्त-नाट्य विधि

—डॉ० वासुदेवशरण
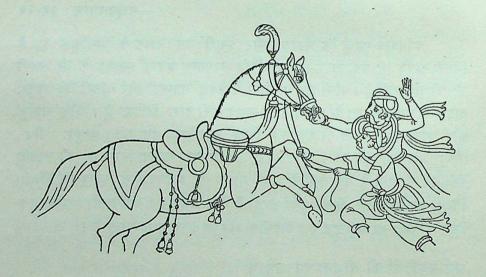
प्राचीन भारतीय-जीवन नृत्य, गीत, वाद्य और नाट्य के अनेक रुचिर प्रयोगों से भरा हुआ था। मातृभूमि की वंदना करते हुए अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त में कवि ने पृथिवी पर होने वाले नृत्य-गीतों के इन मनोहर नेत्रोत्सवों का इस प्रकार उल्लेख किया है।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः

(अथर्व १२-१-४१)

'आनन्द भरी किलकारी से अपने कण्ठ को निनादित करने वाले मानव जिस भूमि में उमंग से गाते और नाचते हैं'—भारत-भूमि का यह यथार्थ चित्रण है। लगभग पाँच सहस्र वर्षों से भूमि के नदी-तट और गिरिकन्दर, अरण्य और क्षेत्र, ग्राम और नगर नृत्य और गीत से भरे रहे थे। स्त्रियों के सुरीले कण्ठ और पुरुषों के घन-गात्र शरीर, नृत्य और गीत का जो अपूर्व मंगल रचते थे उनसे यहाँ के जनपदों का वातातपिक जीवन, स्वस्थ विनोद और सुख सौहार्द से भरा हुआ था। प्राचीन साहित्य और शिल्प दोनों भारत की इस आनंद-विधायिनी जीवन-पद्धति के साक्षी हैं। जिस प्रकार प्रकृति ने अपने सौंदर्य से मातृभूमि के शरीर को चतुरस्रशोभी बनाया था उसी प्रकार मनुष्य ने भी चारों खूटों में छाये हुए अपने जीवन को नृत्य और संगीत के आनन्द से सींच दिया। नृत्य और गीत की उस राष्ट्रीय गंगा के तटों पर आज पहले-सा जनमंगल नहीं दिखाई देता। यह सूनापन क्यों है और कब तक बना रहेगा? राजा और ऋषियों के, सती स्त्रियों और वीर पुरुषों के श्लाघ्य चरित्रों को अपने शरीरों की प्रदीप्त प्राणशक्ति से क्या हम नाट्य-रूप में पुनः प्रत्यक्ष न करेंगे? क्या हमारे बीच प्राचीन समाज नामक उत्सवों के प्रेक्षागारों में होनेवाले प्रेक्षणों के, पर्वोत्सवों में होने वाले नृत्य और गीतों के वे रमणीय अध्याय पुनः आरंभ न होंगे? भारतीय रंगमंच कब तक नाट्यों के उस विधान से फिर श्री-सम्पन्न न बनेगा, जिसे महाकवि कलिदास ने 'चाक्षुष-यज्ञ' कहा था। गुप्त-युग में लिखते हुए कवि की वाणी थी—

न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्या गौरवम्

(मालविकाग्नि०)

अर्थात् नाट्य को जो हम अपने जीवन में इतना गौरव देते हैं उसमें सत्य है, उसके पीछे जीवन की साधना है, कृत्रिमता नहीं। आज नाट्य-लक्ष्मी के भवन सूने पड़े हैं। भारतीय आकाश के नीचे नृत्य, गीत और नाट्य के बिना मनुष्य जीवित कैसे हैं, यही आश्चर्य है। इस देश में यह महान् सत्य है कि जब तक रंगमंच का उद्धार न होगा तब तक साहित्य में जीवन की सचाई न आ सकेगी, जनता से उसका संपर्क न बनेगा और वह शक्तिशाली भी न हो सकेगा।

प्राचीन भारत के प्रेक्षागृहों का ध्यान करते हुए हमें जैन-साहित्य के राज-प्रश्नीय आगम-ग्रन्थ के उस प्रकरण का ध्यान आता है जिस में महावीर के जीवन-चरित को नृत्य-प्रधान नाट्य (डांस-ड्रामा) में उतारा गया। इस नाट्य में रंगमंच की पूर्वविधि के रूप में नृत्य के कितने ही भिन्न-भिन्न रूपों का प्रदर्शन किया गया। इसे पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानो हम प्राचीन भारत के किसी प्रेक्षागृह में जा बैठे हों जहाँ नाट्य-रूपी चाक्षुष-यज्ञ का विस्तार हो रहा हो और जिस में कला के अनेक चिह्नों को नृत्य के रूप में उतारा जा रहा हो।

जिस समय वेदिका और तोरणों से सुसज्जित एक महान् स्तूप की रचना हो चुकी और उसका दिव्य मंगल आरम्भ हुआ, उस समय सूर्याभदेव की आज्ञा से एक सौ साठ देवकुमार और देवकुमारियों के अभिनेतृ-दल ने बत्तीस प्रकार की नाट्य-विधि (बत्तिसइ बद्ध णट्टविहि) का प्रदर्शन करने के लिये रंगभूमि में प्रवेश किया। इस नाट्य-विधि के अन्तिम बत्तीसवें कार्य-क्रम में तीर्थंकर सदृश महापुरुषों के जीवन-चरित्र का अभिनय किया जाता था। शेष आरम्भ की इकत्तीस प्रविभक्तियों में प्राचीन भारतीय नृत्य का ही उदार प्रदर्शन सम्मिलित था यह द्वात्रिंशिक नाट्य-विधि कला की पराकाष्ठा सूचित करती है। इस में कला के अभिप्रायों को नाट्य द्वारा प्रदर्शित करने की मनोहर कल्पना पाई जाती है।

इस कल्पना के मूल का भाव इस प्रकार है। जिस समय समाज में किसी महापुरुष के जन्म की मंगल-बेला आती है उससे पूर्व ही लोक का जीवन शनैः-शनैः अनेक प्रकार के मांगलिक रूपों से उसी प्रकार सुन्दर बनने लगता है, जिस प्रकार प्रभात में सूर्य के उद्गमन से पूर्व उषा के सुनहले सौंदर्य से दिगन्त भर जाते हैं और स्वच्छ जल के सरोवरों में कमल सूर्य का स्वागत करने के लिये खिल जाते है। नील, पीत, श्वेत, रक्त कमलों का का यह उल्लास सूर्योदय की ही एक प्रविभक्ति या छटा है। इसी प्रकार महापुरुष के आगमन के समय दुःखी मानवों के चित्त-रूपी कमल किसी नई आशा से प्रमुदित होते और खिल जाते हैं। इसी प्रकार की काव्यमयी कल्पना इस विस्तृत नाट्य-विधि के द्वारा व्यक्त की गई है। पन्द्रह से उन्नीस तक पाँच

प्रविभक्तियों में वर्णमाला के अक्षरों का भी अभिनय दिखाया गया है। वस्तुतः ये अक्षर मनुष्य की वाणी के प्रतिनिधि हैं। महापुरुष का आगमन वर्णों में अपूर्व तेज भर देता है। इन सीधे-सादे अक्षरों के अनन्त सम्मिलन से लोक का मूक कण्ठ किस प्रकार मुखरित हो उठता है, इसे महापुरुष के व्यक्तित्व का चमत्कार ही कहना चाहिए। राष्ट्र की वाणी महापुरुष की महिमा से किसी उदात्त तेज से भर जाती है। उसमें सत्य का विलक्षण भास्वर रूप प्रकट होने लगता है, मानो किसी सारस्वत लोक से सत्य का शतधार और सहस्रधार झरना उन्मुक्त हो गया हो और प्रतिकण्ठ में उसका अमृत जल बरसने लगा हो। राष्ट्र की वाणी का तेज ही साहित्य की वाणी का तेज बनता है, और ऐसा तभी होता है जब महान् पुरुष उसमें सत्य, धर्म, तप, त्याग, संयम, यज्ञ इत्यादि उदार भावों को भर देता है। धार्मिक विश्वास के अनुसार प्रत्येक मंत्र या धारणी की शक्ति विश्वास के सनातन महान् सत्य की ही कोई किरण होती है जो उस मंत्र के अक्षरों में गर्भित हो जाती है। सत्य की शक्ति से ही जीवन के मुरझाए हुए विटप पल्लवित होते हैं। सत्य के बीज में प्ररोहण की महाशक्ति है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर विश्वव्यापी सत्य के किसी न किसी अंश का संकेत करता है।

इसी प्रकार और भी अनेक अभिप्रायों से इस सुन्दर नाट्य-विधि का निर्माण समझना चाहिए। प्राचीन भारतीय कला के अलंकरण ही नाट्य के अभिप्राय बनाए गये। कला के अलंकरणों को भी भावों की अभिव्यक्ति की बारह-खड़ी कहना चाहिए। पूर्ण घट, स्वस्तिक, धर्मचक्र, शंख आदि अभिप्रायों के पीछे अर्थों की गहरी व्यंजना है। उन प्रविभक्तियों या नाट्यांगों का क्रमशः उल्लेख किया जाता है—

(१) पहली प्रविभक्ति में स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, पूर्णकलश, मीन युगल, दर्पण, इन आठ मांगलिक चिह्नों के आकारों का नृत्य में प्रदर्शन किया गया। इसे मंगल भक्ति-चित्र कहते थे।

(२) दूसरे भक्तिचित्र में आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, सौवस्तिक, वर्धमानक, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, पुष्पावली, पद्मपत्र, सागर-तरंग, वासन्तीलता, पद्मलता आदि कलात्मक अभिप्रायों का नाट्य के द्वारा रूप खड़ा किया गया है। श्रेणी, प्रश्रेणि को प्राकृत में सेढ़ि, पसेढ़ि कहा गया है। हिन्दी का सीढ़ी शब्द इसी से बना है। नृत्य में सेढ़ि की रचना किस प्रकार की होती होगी इसका एक उदाहरण भरहुत स्तूप से मिले हुए एक शिलापट्ट के दृश्य के रूप में देख सकते हैं। इस समय वह इलाहाबाद संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें एक प्रस्तार (पिरेमिड) का निर्माण किया गया है। नीचे की पंक्ति में आठ अभिनेता हाथों को कंधों के ऊपर उठाए हुए खड़े हैं। दूसरी पंक्ति में चार व्यक्ति हैं जिनमें से प्रत्येक के

पैर नीचे वाले दो व्यक्तियों के हाथों पर रुके हैं। तीसरी पंक्ति में दो व्यक्ति हैं और सबसे ऊपर उनके हाथों पर केवल एक पुरुष उसी प्रकार अपने दोनों हाथ ऊँचे उठाए हुए खड़ा है। नाट्य के ये प्रकार संप्रदाय-विशेष की संपत्ति न होकर विशाल भारतीय जीवन के अंग थे।

(३) तीसरे भक्तिचित्र में ईहामृग, वृषभ, तुरग, नर, मकर, विहग, व्याल, किन्नर, रुरु, शरभ, चमर, कुंजर, वनलता, पद्मलता का रूप अभिनय में उतारा गया।

(४) चौथी भक्ति में तरह-तरह के चक्रवाल या मण्डलों का अभिनय किया गया है। मथुरा के जैन स्तूप से प्राप्त आयाग-पट्टों पर इस प्रकार के चक्रवाल मिले हैं जिनमें दिक्-कुमारियाँ मण्डलाकार नृत्य करती हुई दिखाई गई हैं।

(५) आवलि संज्ञक पाँचवी प्रविभक्ति में चन्द्रावली, सूर्यावली, वलयावली, हंसावली, एकावली, तारावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली इन स्वरूपों का नृत्य-नाट्यात्मक प्रदर्शन किया गया है।

(६) छठी प्रविभक्ति में सूर्योदय और चन्द्रोदय के बहुरूपी उद्गमनोद्गमनों का चित्रण किया गया। भारतीय आकाश में सूर्य और चन्द्र का उदित होना प्रकृति की नित्य रमणीय घटनाएँ हैं। उनके दर्शन के लिये मनुष्य क्या देवों के नेत्र भी उत्सुक रहते हैं। कवि और साहित्यकार उनके लिये अनेक ललित कल्पनाओं से समन्वित सुन्दर शब्दावली का अर्घ्य अर्पित करते हैं। अपने सूर्योद्गम और चन्द्रोद्गम के दिव्य अपरिमित सौंदर्य को हमें जीवन की भाग-दौड़ में भूल नहीं जाना है। बत्तीस नाट्य-विधि की कल्पना करने वाले नाट्याचार्यों के मन उनके प्रति जागरूक थे। विशाल गगनांगण में सुनहले रथ पर बैठे हुए उषःकालीन सूर्य समस्त भुवन को आलोक और चैतन्य के नवीन विधान से प्रतिदिन भर देते हैं। कितने पक्षी अपने कलरव से उनका स्वागत करते हैं, कितने पुष्प उनके दर्शन के लिये अपने नेत्र खोलते हैं, कितने चराचर जीव उनकी प्रेरणा से जीवन के सहस्रमुखी व्यापारों में प्रवृत्त हो उठते हैं—ये कल्पनाएँ सूर्योदय के नाट्याभिनय में मूर्तिमती हो उठती होंगी। चन्द्र-सूर्य के आकाश में उगने, चढ़ने, ढ़लने और छिपने का पूरा कौतुक नृत्य में उतारा जाता था। आगे की तीन भक्तियों में क्रमशः यही दिखाया गया है।

(७) चन्द्रागमन और सूर्यागमन प्रविभक्ति। इसमें चन्द्र और सूर्य के प्राची दिशा से चलकर आकाश-मध्य में उठने के रूप का अभिनय किया जाता था।

(८) सूर्यावरण-चन्द्रावरण। इस में सूर्य और चन्द्र के ग्रह-गृहीत होने का

दृश्य दिखाया जाता था। प्रकाश से आलोकित सूर्य और ज्योत्स्ना से उद्योतित चन्द्र मनुष्य की बुद्धि और मन के विकास का ही प्रदर्शन करते हैं; किन्तु महापुरुष की सात्विक प्रेरणा से विकसित हुए मन बीच में आसुरी अंधकार या तमोगुण की छाया से किस प्रकार हतप्रभ हो जाते हैं और फिर किस प्रकार उस बाधा को हटा कर अंधकार पर प्रकाश की विजय होती है, यही संघर्ष इस नृत्य-विधि में दिखाया जाता था।

(६) सूर्यास्तमन-चन्द्रास्तमन। सूर्य और चन्द्र का स्वाभाविक विधि से अस्त हो जाना यह इस नाट्य-विधि का दृश्य था।

(१०) दशवीं विभक्ति में चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूत-मण्डल, राक्षस-मण्डल, महोरग-मण्डल, गंधर्व-मण्डल, इन नाना रूपों का प्रदर्शन किया जाता था। ये देव-योनियाँ नानाविध स्वभाव वाले मानवों की प्रतिरूप हैं।

(११) ग्यारहवें स्थान पर अनेक प्रकार की गतियों का प्रदर्शन किया जाता था। जैसे ऋषभ-ललित, सिंह-ललित, हयविलंबित, गजविलंबित, मत्त हयविलसित, मत्त गजविलंबित, मत्त हयविलंबित आदि आकृतियों से सुशोभित द्रुतविलंबित नामक नाट्य-विधि का प्रदर्शन किया गया।

(१२) बाहरवीं प्रविभक्ति में सागर प्रविभक्ति, नागर प्रविभक्ति का प्रदर्शन हुआ।

(१३) तेरहवें स्थान में नन्दा प्रविभक्ति, चम्पा विभक्ति, का प्रदर्शन किया गता। यह नन्दा और चम्पा नामक लताओं की अनुकृति-मूलक नाट्य-विधि थी।

(१४) चौदहवें स्थान में मत्स्याण्डक प्रविभक्ति, मकराण्डक प्रविभक्ति, जार-प्रविभक्ति, और मार प्रविभक्ति की नाट्य-विधि का अभिनय हुआ। इनमें से कई नामों का यथार्थ स्वरूप इस समय स्पष्ट नहीं होता, किन्तु नाट्य की प्रतिभा से नाट्याचार्यों को इनकी पुनः कल्पना करनी होगी, अथवा साहित्य के ही किसी अंग से इन पर प्रकाश पड़ना सम्भव है। इसके अनन्तर पाँच प्रविभक्तियों में वर्णमाला का प्रदर्शन किया गया।

(१५) क वर्ग प्रविभक्ति।

(१६) च वर्ग प्रविभक्ति।

(१७) ट वर्ग प्रविभक्ति।

(१८) त वर्ग प्रविभक्ति।

(१९) प वर्ग प्रविभक्ति।

(२०) इस विभाग में अशोक पल्लव, आम्रपल्लव, जम्बूपल्लव, कोशाम्ब पल्लव, इन प्रविभक्तियों का प्रदर्शन हुआ।

(२१) तदनन्तर पद्म-लता, नाग-लता, अशोक-लता, चम्पक-लता, आम्र-लता, वासन्ती-लता, वन-लता, कुन्द-लता, अतिमुक्त लता, श्याम-लता, इन प्रविभक्तियोंके स्वरूप का प्रदर्शन अभिनय द्वारा किया गया, जिसे लता-प्रविभक्ति नामक इक्कीसवीं नाट्य-विधि कहते थे।

इसके अनन्तर निम्नलिखित दश नृत्य-प्रविभक्तियों का प्रदर्शन हुआ।

(२२) द्रुत नृत्य।

(२३) विलम्बित नृत्य।

(२४) द्रुत-विलम्बित नृत्य। दशकुमार चरित में कन्दुक-नृत्य के अन्तर्गत इसका वर्णन किया गया है।

(२५) अञ्चित नृत्य।

(२६) रिभित नृत्य।

(२७) अञ्चित रिभित नृत्य।

(२८) आरभट नृत्य (अत्यन्त उग्र विधान वाला नृत्य)

(२९) भसोल नृत्य (इसका ठीक अर्थ स्पष्ट नहीं। संभवतः भसल या भ्रमर नृत्य से इसका संबंध था।)

(३०) आरभट-भसोल नृत्य।

(३१) उत्पात, निपात, संकुचित, प्रसारित, खेचरित, भ्रान्त, सम्भ्रान्त नामक गतियों का प्रदर्शन हुआ।

(३२) इसके अनन्तर बहुत से देवकुमार और देवकुमारियों ने मिलकर भगवान् महावीर के जीवन-चरित की घटनाओं का नाट्य-प्रदर्शन किया, जैसे महावीर का देवलोक में चरित, अवतार, गर्भ-परिवर्तन, जन्म, अभिषेक, बालभाव, यौवन, कामभोग, निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानोत्पादन (कैवल्य-ज्ञान), तीर्थ-प्रवर्तन (उपदेश) और परिनिर्वाण आदि लीलाओं का प्रदर्शन किया गया। इस प्रकार यह दिव्य रमणीय तीर्थंकर चरित नामक बत्तीसवीं नाट्य-विधि समाप्त हुई। इस नाट्य-विधि के अन्तर्गत चार प्रकार के वाद्ययंत्र (तत, वितत, घन, सुषिर) चतुर्विध गीत (उत्क्षिप्त, पादान्त, मन्दाय, रोचित), चतुर्विध नाट्य (अञ्चित, रिभित, आरभट, भसोल), एवं

चतुर्विध अभिनय (दार्ष्टान्तिक, प्रात्यन्तिक, सामान्यतो-विनिपात, लोकमध्यावसानित) द्वारा देवकुमार और देवकुमारियों ने अपूर्व रस-सृजन और कला-प्रदर्शन से दर्शकों को मुग्ध कर दिया।

अवश्य ही सुन्दर कलात्मक अभिप्रायों के अभिनय से उज्जीवित इस नृत्त-नाट्य में धार्मिक भेदों के लिए अवकाश न था। महावीर के जीवन-चरित का अभिनय हो, राम और कृष्ण चरित हो, या बुद्ध का दिव्य चरित हो, वह तो नाटक की अन्तिम कड़ी थी। प्रत्येक महापुरुष का चरित एक ही अलौकिक सर्वत्र व्यापक महान् सृष्टि-सत्य और चैतन्य-तत्त्व की व्याख्या करता है। चरित के अन्तर्गत नीति और धर्म के अनेक गुण प्रकट होते हैं। उनका प्रदर्शन मानव मात्र के हृदय को प्रेरणा देने वाला होता है। अतएव द्वात्रिंशिक नाट्य-विधि को सच्चे अर्थों में प्राचीन भारतीय रंगमंच की सार्वजनिक विधि कह सकते हैं। इसके अभिनेताओं में स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। उनकी १०८ संख्या से ही इसका बृहत् रूप और संभार सूचित होता है।

'काव्येषु नाटकं रम्यम्'

—प्रो० गुलाब राय

काव्य—रसरूप मनुष्य के हृदयगत आनन्द की अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में केवल यही अन्तर होता है कि पहला संसार-निरपेक्ष और पूर्णतया आत्मगत होता है परन्तु काव्य का आनन्द संसार-निरपेक्ष तो नहीं होता किन्तु लौकिक से इस बात में भिन्न होता है कि उसमें व्यक्तित्व रहते हुए भी वह क्षुद्र स्वार्थों से ऊँचा उठा हुआ होता है। कवि का हृदय जन-साधारण के हृदय के साथ स्पन्दित हो मुखरित होता है। विज्ञान की अपेक्षा कवि का दृष्टिकोण अधिक मानवीय होता है। वैज्ञानिक मनुष्य को भी पत्थर, मेंढक, और बन्दर की तुलना में रख उसे प्रकृति के धरातल पर ले आता है और कवि प्रकृति का भी मानवीकरण, कर उसे भाव-समन्वित बना देता है। काव्य में विज्ञान का-सा सामान्यीकरण रहते हुए भी वैयक्तिकता और आनन्द की मात्रा अधिक रहती है। सामान्यीकरण में मानसिक तत्त्व रहते हुए भी वह बाह्य-सापेक्ष अधिक होता है किन्तु व्यक्ति विशेष में सम्बन्ध नहीं रहता।

विभाग— इसीके आधार पर पाश्चात्य देशों में काव्य के विषयगत या अनुकृत (Epic) और आत्मगत या प्रगीत (Lyric) रूप से दो विभाग किये गये हैं। अनुकृत में जगबीती अधिक रहती है और प्रगीत में आपबीती। भारतीय साहित्य-शास्त्र में काव्य के दृश्य और श्रव्य दो रूप बताये गये हैं। यह आधार काव्य की ग्राहकता के ऐन्द्रिक माध्यम पर निर्भर है। इस ग्राहकता के साथ ग्रहण करने वाले के बौद्धिक स्तर के साथ काव्य के प्रभाव-क्षेत्र का भी प्रश्न रहता है। दृश्य-काव्य में नेत्र और श्रवण दोनों के ही द्वारा काव्य का आस्वादन किया जाता है। ब्रह्मा से ऐसे ही खेल की याचना की गई थी जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो—'क्रीडनकीयमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्' और श्रव्य-काव्य में श्रवणेन्द्रिय का ही काम रहता है। जहाँ दृश्य-काव्य में दो माध्यम होने के कारण दर्शक की कल्पना पर कम बल पड़ता है और प्रभाव अधिक सजीव रहता है वहाँ श्रव्य-काव्य और विशेष कर पाठ्य-काव्य का प्रभाव-क्षेत्र सीमित रहता है। बालकों और अशिक्षितों के लिए सूक्ष्म की अपेक्षा मूर्त और प्रत्यक्ष अधिक प्रभावोत्पादक होता है। मनुष्य का वर्णन चाहे जितना सजीव हो किन्तु

चित्र के सामने उसे हार माननी पड़ती है। जब चित्र चलते-फिरते हाड़-माँस-चाम के भाव-भंगिमामय हों तब नकल और असल में विशेष अन्तर नहीं रहता है।

नाटक—दृश्य-काव्य में रूपक, नाटक आदि आते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दृश्य-काव्य की ग्राहकता के दो ऐन्द्रिक माध्यम हैं—नेत्र और श्रवण। जो नाटक में दिखाया जाता है वह वास्तव में दृश्य श्रव्य ही होता है किन्तु वह नितान्त बाह्य जगत से सम्बन्ध नहीं रखता है। उसका मूल स्त्रोत होता है—भाव-जगत्, जो कि काव्य की आत्मा, रस का आधार है। नाट्य-शास्त्र में आचार्य भरत ने ब्रह्मा के मुख से, जिनके पास पीड़ा और क्लेश से ग्रस्त संसार के आनन्द सुलभ साधन की याचना करने गये थे, कहलाया है: 'त्रैलोकस्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' (नाट्य-शास्त्र १।१०४)। नाटक तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है। प्रगीत काव्य में भी भाव रहते हैं किन्तु वे वैयक्तिक कुछ अधिक होते हैं। इसमें व्यापक मानवता के भाव रहते हैं। इसमें विषयगतता के साथ भाव-प्रधानता भी रहती है। नाटक का भावानुकीर्त्तन लोक-वृत्तानुकरण पर आश्रित होता है।

'नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतं ॥'

नाट्य-शास्त्र १–१०८।१०९

दशरूपककार ने नाटक को अवस्थाओं की (जो मानसिक अधिक होती है) अनुकृति कहा है। साहित्य-दर्पणकार ने अभिनय-तत्त्व को प्रधानता देते हुए रूप के आरोप के कारण रूपक कहा है—**'रूपारोपात्तु रूपकम्'**। अलङ्कार में उपमेय पर उपमान का (मुख पर चन्द्र का) आरोप रहता है। रूपक में नट पर अनुकार्य दुष्यन्त आदि का आरोप रहता है। नट से सम्बन्ध रखने के कारण नाटक नाटक कहलाता है। नाटक यद्यपि रूपक का भेद है (नाटक दशरूपकों में एक है) किन्तु अब वह व्यापक बन गया है।

अरस्तू की परिभाषा—अरस्तू ने गम्भीर नाटक (Tragedy) को उत्तम नाटक का प्रतिनिधि मानकर उसकी परिभाषा इस प्रकार की है।

'A Tragedy, then, is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude complete in itself, in language, with pleasurable accessories, each kind brought in separately in the parts of the work, in a dramatic, not in a narrative form, with incidents arousing pity and fear wherewith to accomplish its catharsis of such emotions.'

अर्थात 'ट्रेजडी उस कार्य का अनुकरण है जिसमें गम्भीरता के साथ आकार की स्वतः पूर्णता हो और जो सब प्रकार के प्रसन्नतोत्पादक उपकरणों से अलंकृत भाषा में व्यक्त हो और जिसकी रचना नाटकीय ढंग से की गई हो, न कि प्रकथन या विवरण के रूप में की गई हो (यही गुण उसको महाकाव्य से पृथक् कर देता है)। इसमें ऐसी घटनाएँ रहती हैं जो करुणा और भय को जागृत कर उन भावों का रेचन या निकास कर देती हैं। भावों के रेचन (निकास) द्वारा उनका परिष्कार हो जाना नाटक का मुख्य उद्देश्य है। इस परिभाषा में ट्रेजडी के निम्नलिखित तत्त्व मिलते हैं :

विश्लेषण—(१) गाम्भीर्य (२) स्वतः पूर्णता (३) अलंकरणपूर्ण भाषा (४) विवरण के स्थान में अभिनयात्मकता (५) करुणा और भय जागृत करने वाली घटनाएँ (६) उद्देश्य रूप से भावों का परिष्कार।

महत्त्व—हमारे यहाँ भावों को प्राधान्य तो दिया गया है किन्तु उनकी परिधि सीमित नहीं बनाई गई है। उसकी कलात्मकता पर काफ़ी बल दिया गया है और उसके साथ उसके ज्ञानात्मक तत्त्व की भी उपेक्षा नहीं की गई है। साथ ही इसके उद्देश्यों में नैतिकता को प्रधानता दी गई है।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला॥
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्नदृश्यते।

—प्रथम अध्याय

नाटक के आनन्द और विश्रामदायी तत्त्व को भी भरतमुनि ने पर्याप्त महत्त्व दिया है।

दुखार्तानांश्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥

नाट्य-शास्त्र १–१११।११२

उसको धर्म, अर्थ और काम का भी साधक और दुर्विनीत लोगों की बुद्धि को ठिकाने लगाने वाला, नपुंसक भीरु और कायरों को बल प्रदान करने वाला तथा शूरों के लिए उत्साहवर्द्धक बताया है। साथ ही अज्ञानियों को ज्ञान देने वाला और पंडितों को पांडित्य देने वाला, विलासियों के लिए विलास का देने वाला, दुखार्त लोगों के चित्त की स्थिरता और शान्ति का देने वाला कहा है।

धर्मो धर्म प्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमन क्रिया॥

क्लीवानां धार्ष्ट्यं करणमुत्साहः शूरमानिनाम् ।
प्रबोधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ।।
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुखार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो वृत्तिरुद्विग्र चेतसाम् ।।

नाट्य-शास्त्र १–१०५।१०८

यह महत्त्व भक्तों का-सा श्रुतिपाठ नहीं वरन् वास्तविक है क्योंकि इसकी ग्राहकता का प्रभाव व्यापक है । इसीलिये इसको पंचमवेद कहा है और इसका अधिकार शूद्र या कम ज्ञान वाले लोगों को भी बतलाया है—'तस्मात् सृजापरं पंचमं सार्ववर्णिकम्' । नाटक, महाकाव्य, और उपन्यास तीनों ही काव्य रस के साथ जनता में उपदेश की कटु-औषधि को ग्राह्य बनाने के साधन रहे हैं किन्तु तीनों में भेद हैं ।

महाकाव्य, उपन्यास और नाटक—जगबीती का वर्णन गद्य और पद्य दोनों में हो सकता है । पद्य में जो वर्णन होताहै, वह प्रायः महाकाव्य के रूप में होता है । रामायण हमारे यहाँ का आदि महाकाव्य है । महाकाव्य में पद्य के आकार के अतिरिक्त जातीय अथवा युग की भावना का प्राधान्य रहता है । तुलसी के समय हिंदू जनता की भावनाओं का जैसा जीता-जागता चित्र रामचरितमानस में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता । उसका नायक जाति का नायक और प्रतिनिधि होता है । महाकाव्य एक प्रकार से संस्कृति-प्रधान होता है । वालमीकि रामायण के आरम्भ में जैसे पुरुषोत्तम की महर्षि बालमीकि को चाह थी, वे सभी गुण भारतीय संस्कृति के मान्य गुण थे । रघुवंश में भी 'शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणां' आदि श्लोकों में भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है । साकेत में भी 'मैं आर्यों का आदर्श बताने आया' में सांस्कृतिक पक्ष का ही उद्घाटन किया गया है ।

गद्य के अनुकरणात्मक रूपों में उपन्यास की मुख्यता रहती है । नाटक गद्य और पद्य के बीच की चीज़ है और अब उसमें गद्य का प्राधान्य होता जाता है । नाटक शुद्ध गद्य तो नहीं होता तो भी उसकी गणना प्रायः गद्य में ही की जाती है । (गीत-नाट्यों की दूसरी बात है) । उसमें कथोपकथन की प्रधानता रहने के कारण वह गद्य के ('गद्' धातु बोलने के अर्थ में आता है) शब्दार्थ का अधिक अनुकरण करता है । महाकाव्य की अपेक्षा इन दोनों में व्यक्ति अर्थात् चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है । रामायण और उत्तररामचरित के राम में थोड़ा अन्तर है । रामायण के राम जातीय नेता, उद्धारक, जाति-रक्षक और आदर्श पुरुष हैं । उनमें आर्य-सम्यता मूर्तिमान होकर आती है । उत्तररामचरित के राम व्यक्ति के रूप में आते हैं । वे राजा हैं किन्तु राजा के साथ वे अपना निजी सुख-दुख रखते हैं । सब चीज़ों में उनका

निजी सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। उत्तररामचरित में हमको उनके हृदय का अधिक परिचय मिलता है। जब वे कहते हैं कि दुःख के लिये ही राम का जीवन है, तब उनका व्यक्तित्व निखर आता है।

उपन्यास और नाटक में व्यक्ति का प्राधान्य रहता है, किन्तु इनके दृष्टिकोण में अन्तर है। उपन्यास चाहे जिस रूप में हो, भूत से ही सम्बन्ध रखता है। वह आख्यान का ही रूप है। आजकल अंग्रेज़ी में भविष्य से सम्बन्ध रखने वाले भी उपन्यास लिखे गये है किन्तु उनमें भी लेखक भविष्य को देखकर यानी उसे भूत बनाकर उसका पीछे से वर्णन करता है। नाटक का भी विषय भूत का ही होता है, किन्तु नाटककार उसे प्रत्यक्ष घटना के रूप में दिखाना चाहता है। वह भूत को आँखों के सामने घटाने का प्रयत्न करता है। उपन्यास घटी हुई घटना को कहता है। नाटककार कहता नहीं है, वरन् वह घटना की प्रत्यक्ष में आवृत्ति कर द्रष्टाओं को उनकी ही आँखों से दिखाना चाहता है। वह सिनेमा के आपरेटर की भाँति अपना व्यक्तित्व छिपाये रखता है। यदि उसका व्यक्तित्व कहीं दिखाई पड़ता है तो वह किसी पात्र के रूप में पाठकों के सामने आता है। उसको अगर पाठक लोग आवरण के भीतर से पहिचान लें तो दूसरी बात है लेकिन वह स्वयं आवरण उतारता नहीं है। इसी आधार पर काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किए गये हैं।

महाकाव्य में विषय का विस्तार तो उपन्यास का-सा रहता है किन्तु महाकाव्य आदर्शोन्मुख अधिक होता है। उपन्यास जीवन का पूरा चित्र देने का प्रयास करता है। यद्यपि उपन्यास में भी चुनाव रहता है तथापि नाटक में चुनाव की कला अधिक परिलक्षित होती है। वह ऐसे दृश्य चुनता है जिनसे कथन का तारतम्य टूटे बिना संक्षेप में पात्रों का चरित्र व्यंजित हो जाय और रस की अभिव्यक्ति हो जाय। इसीलिए नाटक में तीन मुख्य तत्त्व माने गए हैं: वस्तु, नायक और रस। इन्हीं के आधार पर रूपकों का विभाजन होता है। उपन्यास की अपेक्षा नाटक में रस की अभिव्यक्ति कुछ अधिक होती है: कम से कम भारतीय नाटकों में। पाश्चात्य नाटकों में उद्देश्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है। नाटक में महाकाव्य और उपन्यास जैसी बाह्यार्थता रहती है किन्तु पात्रों की प्रगीत काव्य जैसी भाव-परायणता भी रहती है। नेत्रों के अनुरंजन के साथ शिक्षा और उपदेश 'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे' की उक्ति को सार्थक करता है। नाटक में उपन्यास की इसी वास्तविकता के साथ महाकाव्य के से आदर्श की व्यंजना रहती है। नाटक एक साथ मनोरंजन और शिक्षा का कारण बन जाता है।

हिन्दी लोक नाट्य का शैली-शिल्प

—डॉ० दशरथ ओझा

प्रसिद्ध नाट्यकार बर्नार्ड शॉ ने एक बार नाटकों की उत्पत्ति के विषय में अपना मत प्रगट करते हुए कहा था—नाटक हमारी दो उद्दाम प्रवृत्तियों के सम्मेलन से पैदा हुआ है—नृत्य देखने की प्रवृत्ति और कहानी सुनने की प्रवृत्ति। इस उक्ति को यदि अपने देश के वातावरण में रखकर देखें तो नृत्य और इतिवृत्त के साथ संगीत को और समाविष्ट कर देना होगा। यूरोप की जन-रुचि के विषय में तो नहीं कह सकते किन्तु हमारी लोक-रुचि नृत्य और संगीत के उपरान्त कहानी को स्थान देती है। उसका प्रमाण यह है कि ग्रामीण जनता को यदि नृत्य देखने और मधुर संगीत सुनने को मिल जाये तो सुसंगठित इतिवृत्त की उन्हें अपेक्षा नहीं रहती।

विद्वानों का मत है कि लोक-नाट्य का मूल आधार नृत्य है। भारत ही नहीं विश्व के विविध भागों में लोक-नाट्य को नृत्य पर अवलम्बित माना जाता है। प्रमाण यह है कि जापान का 'नोड्रामा' वहाँ के 'ता-माई' नामक नृत्य का विकसित रूप है। यह नृत्य धान की फसल पकते समय कृषक-हृदय के उल्लास को अभिव्यक्त करता था, जो कालान्तर में 'नोड्रामा' नाम से विख्यात हुआ।

यूनान में फसल काटते समय एक विशेष प्रकार का नृत्य प्रचलित था जिसे 'द सेक्रेड थ्रशिंग फ़्लोर आफ़ टिप्टोगमूस' कहते थे, जिसने समय पाकर नाटक का रूप धारण किया। उल्लास-सूचक नृत्यों के अतिरिक्त पूर्ण आयु प्राप्त करने वाले मृत—व्यक्ति के शव को संस्कार के लिए ले जाते समय भी अनेक देशों में नृत्य की प्रथा थी। ई० पूर्व पाँचवीं शताब्दी से थेसियस जाति में यह प्रथा पाई जाती थी। रोमन-जाति में मृतक को दफ़नाने के लिए ले जाते समय पूर्वजों की आकृति के मुखौटे पहन कर जलूस के साथ नृत्य करने की प्रथा थी। बर्मा के नाट, जापान के कंगूरा, इल्यू-सिनियस के रहस्य और मिस्र के ओसिरिस जातियों में मृत-व्यक्तियो की उपासना और तत्सम्बन्धी नृत्य प्रचलित थे। रिज्वे महोदय का मत है कि ये विशेष नृत्य नाटक की उत्पत्ति के मूल आधार हैं।

वेद में नृत्य

हमारे देश में भी नृत्य का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वेदों में सर्वप्रथम

इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। रंगमंच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि प्रातःकाल प्राची क्षितिज के रंगमंच पर अपने शरीर को विशद रूप से दिखलाने वाली ऊषा के साथ करता हुआ अपनी कला-प्रियता का परिचय देता है।

यजुर्वेद और आपस्तम्भ श्रौत सूत्रों में ऐसे नृत्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें आठ दासी कन्यायें सिर पर जल के घड़े रखकर वाद्य-संगीत के साथ 'माजीली' गीत गाती हुई घूम-घूम कर नाचती थी।

हिन्दू-मन्दिरों में देवदासियों के नृत्य की परम्परा अति प्राचीन प्रतीत होती है। काश्मीर महाराज जयापीड़ के पुण्ड्रवर्धन मन्दिर में नृत्य करने वाली नर्तकी का पटरानी तक बन जाना प्रसिद्ध घटना है। किन्तु यह समझना भ्रामक होगा कि मन्दिरों में पुरुष नर्त्तकों का सर्वथा अभाव था। 'शिलप्पदिकारम्' नामक तमिल के अति प्राचीन काव्य एवं चोलकालीन शिलालेखों में पुरुष नृत्यकारों के शाक्कै-कूत्तु नृत्य का उल्लेख मिलता है। मन्दिरों में नृत्य प्रदर्शन के लिए नियत स्थान नाट्य-मंडप, नट-मन्दिर, कूत्तम्बलम् नाम से अभिहित थे।

हमारे देश में नृत्य-कला इतनी विकसित हुई कि इसने नैतिकता के पक्षपातियों को भक्ति-परम्परा के द्वारा और भौतिकतावादियों को लौकिक शृंगार के रसास्वादन से सन्तुष्ट कर दिया। प्रथम वर्ग मन्दिरों और मठों में नाट्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार भगवान की लीलाओं को नृत्य-नाटकों के रूप में देखता रहा। दूसरा ग्रामीण वर्ग शास्त्रीय नियमों से मुक्त रह कर अपनी मौलिकता के बल से नृत्य को संगीत रूपकों में विकसित करता रहा। प्रथम कोटि के नृत्यकार आन्ध्र में कूचुपड़ि, तंजौर में भागवतकम् और आसाम में ओजापक्कि नाम से प्रतिनिधि नाट्यकार माने गए किन्तु शास्त्रीय नियमों से अपरिचित लोक-नाट्यकार साहित्य के क्षेत्र से बहिष्कृत समझे गए। ज्यों-ज्यों नागरिक जीवन और ग्रामीण जीवन का भेद-भाव मिटता जा रहा है, त्यों-त्यों लोक-कवि की उत्कृष्ट रचनाएँ सम्मान की अधिकारिणी समझी जा रही हैं।

हम पूर्व कह आए हैं कि नृत्यकला नाटकों की जननी है। इस कला का वरद हस्त मिलने पर काव्यों और पुराणों का भी नाटक रूपान्तर उपस्थित किया गया। उड़ीसा के शिलालेखों के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि जगन्नाथपुरी के मन्दिर में सन् १४७७ ई० में प्रतापरुद्रदेव की प्रेरणा से जयदेव का 'गीत गोविन्द' नृत्य-रूप में अभिनीत हुआ। एक शिलालेख के आधार पर यह प्रमाणित हो गया है कि उस समय जगन्नाथ जी के मन्दिर में गीत गोविन्द का ही गान विहित था।

१८वीं शती में कैशिकी पुराण का नाटक रूपान्तर पूशपांणि नरसिंह महाराज की आज्ञा से खेला गया।

दूसरी ओर जन-कवियों ने गूढ़ भाषा से अपरिचित जनता के लिए पौराणिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक आख्यानों को मनोरंजक रीति से हृदयंगम कराने के लिए नृत्य को प्रधान साधन बनाया। वे लोग घटनाक्रम के विकास, और पात्रों के वार्त्तालाप को शब्दों के अतिरिक्त नृत्य की मुद्राओं से अभिव्यक्त करते रहे। जनक-वियों ने नृत्य, संगीत के उपरान्त काव्य-तत्त्व को महत्त्व दिया। वे घटना-क्रम को नाटकीय स्थिति तक शास्त्रीय विधि-विधान के अनुसार नहीं ले जाते, वे घटनाओं को स्वच्छन्द रीति से विचरण करने देते हैं। यदि काकतालीय न्याय से शास्त्रीयता का निर्वाह हो जाए, तो भी उन्हें इसका भान तक नहीं होता। नाट्य-शास्त्र के आधार पर कतिपय विद्वानों का मत है कि प्रारम्भ में हमारे देश में नृत्य की एकरूपता थी। किन्तु स्थानीय प्रभाव के कारण कालान्तर में इसके अवान्तर भेद होते गए। आज मूलतः चार रूपों में—भरतनाट्यम्, कथाकली, मनीपुरी और कथक नृत्य—में इसकी अभिव्यक्ति हो रही है।

डाक्टर कीथ का मत है कि वैदिक यज्ञों के अवसर पर होने वाला लोक-नृत्य मन्दिरों का आश्रय पाकर यात्रा नाटक, रासनाटक, भरतनाट्य आदि में विकसित हो गया। इस प्रकार लोक-नाटकों की दो धाराएँ हो गईं। एक धारा से धार्मिक नृत्य-नाटकों की परम्परा चली और दूसरी परम्परा लोक-नाटकों के रूप में विकसित होती रही। इन धार्मिक नाटकों ने कला का एक स्वरूप धारण किया किन्तु सामान्य जनता ने दूसरे नृत्य-नाटकों को केवल विनोद के लिए ग्रहण किया और उसकी कलात्मक बारीकियों को उपेक्षित माना।

जन-सामान्य के लिए पवित्र पर्व और ऋतु-सम्बन्धी उत्सव मूलतः मनोविनोद के उत्तम अवसर थे। पण्डित और पुजारियों ने धार्मिक उत्सवों का जब पारलौकिकता से ही नाता जोड़ा और संस्कृत नाटक राज-प्रासादों तक सीमित रह गया तो सामान्य जनता ने विनोद का स्वतन्त्र साधन निकाला। आर्यों के अति प्राचीन पर्व होलिका-दहन को लीजिए। (कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यों के भारत में आने से पूर्व यह पर्व मनाया जाता था क्योंकि इससे मिलता-जुलता रूप यूरोप में आज भी मिलता है। गत वर्ष को मृतक मानकर उसका दाह संस्कार किया जाता था और उस अवसर पर नृत्य-गीत के द्वारा जनता मनोविनोद किया करती थी।) भारत में जनता का सबसे अधिक उल्लासकारी यह पर्व आज भी तद्वत् चलता जा रहा है। इस अवसर पर नृत्य और नाट्य की छटा गाँव-गाँव देखने को मिलती है। होलिका में अग्नि

प्रज्वलित होने पर ग्रामीण जनता सामूहिक नृत्य-गान के द्वारा आमोद मनाती है। इस अवसर पर प्रहसन, भाण, नाटक आदि खेले जाते हैं जिनका मूलाधार नृत्य होता है।

जननाटक का तंत्र

जन नाटक से हमारा तात्पर्य उन नाटकों से है जिनके अभिनय के लिये रंगमंच और प्रसाधन की विशेष तैयारी नहीं करनी पड़ती। सामान्य शिक्षित व्यक्ति ग्रामीणों के लिये जिन नाटकों का अभिनय करते हैं वे लोक-नाट्य कहलाते हैं। इन नाटकों में कीर्त्तनियाँ, विदेसिया, स्वांग, रास, लद्दा, भवाई, लड़ित, तमाशा, नौटंकी, कुचुपुडि लैहोरोबा आदि प्रसिद्ध हैं।

नृत्त, नृत्य, नाटय

लोकनाटच-साहित्य को समझने के लिये नृत्त, नृत्य और नाटच का अन्तर समझना आवश्यक है।[1] नृत्त में केवल अंग विक्षेप होता है। और यह अंग विक्षेप ताल और लय पर आश्रित होता है। दक्षिण में अलरिप्पु और जठिस्वरम् इसी कोटि में आते हैं।

नृत्य:—'नृती गात्र विक्षेपे'। नृती में क्यप् प्रत्यय लगाकर नृत्य शब्द बनता है। भावाश्रय होने वाले नृत्य की तीन विशेषतायें धनिक इस प्रकार लिखते हैं:—

(१) नृत्य में भावों का अनुकरण प्रधान रहता है।

(२) इसमें आंगिक अभिनय पर बल दिया जाता है।

(३) इसमें पदार्थ का अभिनय रहता है।

अभिनय-दर्पणकार लिखते हैं:—

आस्येनालम्बयेद्गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्।
चक्षुभ्यां दर्शयेद्भावं पादाभ्यां तालमादिशेत।

'मुख से गीत का संचार हो, हाथों की मुद्रा से अर्थ की स्पष्टता हो नेत्रों से भावों का प्रस्फुटन हो और ताल-लय के अनुसार पद-संचरण हो।'

नृत्त और नृत्य में अन्तर

(१) नृत्त में अंग-विक्षेपण केवल ताल और लय के सहारे होता है किन्तु नृत्य में वह भावों के आधार पर अवलम्बित रहता है।

१—नृत्तंताललयाश्रयम्

(२) नृत्त में किसी विषय का अभिनय अभीष्ट नहीं किन्तु नृत्य में पदार्थ का अभिनय आवश्यक है।

(३) नृत्त केवल सौन्दर्य-विधेयक है किन्तु नृत्य भावाभिनय में सहायक।

(४) नृत्त स्थानीय होता है किन्तु नृत्य सार्वभौमिक।

नाट्य

नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में मतभेद है। 'नाट्यदर्पण' इसकी उत्पत्ति 'नाट्' धातु से मानता है किन्तु 'नाट्यसर्वस्वदीपिका' में इसकी उत्पत्ति मूल धातु 'नट्' से मानी गई है। कुछ लोग 'नट्' धातु को 'नृत्' धातु का प्राकृत रूप मानते हैं। किन्तु बहुमत इस पक्ष में है कि, नाट्य शब्द 'नट्' धातु से बना है जिसका अर्थ है अभिनय करना। धनंजय और धनिक से नाट्य की विशेषताएँ बताई हैं :—

१—नाट्य को रूपक कहने का कारण यह है कि अभिनयकर्त्ता पर मूल-कथा के व्यक्तियों का आरोप[1] किया जाता है।

२—नाट्य में नायक की धीरोदात्त, धीरोद्धत आदि अवस्थाओं और उनकी वेश-रचना आदि का अनुकरण[2] प्रधान रहता है।

३—नाट्य में सात्विक अभिनय प्रमुख रूप से विद्यमान होता है।

४—नाट्य में वाक्यार्थ का अभिनय होता है।

५—नाट्य रसाश्रित[3] होता है।

अन्तर

नृत्य और नाट्य दोनों अनुकरणात्मक होते हैं किन्तु प्रथम में भावों का अनुकरण पाया जाता है और द्वितीय में अवस्थाओं का। नृत्य में कथोपकथन की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु नाट्य का यह आवश्यक अंग है। नृत्य केवल नेत्र का विषय है किन्तु नाट्य नेत्र और श्रवण दोनों का। नृत्य में पदार्थ का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है किन्तु नाट्य रसाश्रित होने के कारण वाक्य-अभिनय की अपेक्षा रखता है।

रूपकों में नाटक

रूपक और उप-रूपकों के भेद-प्रभेदों की संख्या ३० तक पहुँच गई है। उप-रूपक नृत्य के अधिक समीप हैं और रूपक उप-रूपकों के विकसित रूप हैं। रूपकों में

---

१. रूपकं तत्समारोपात्

२. अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्

३. दशधैव रसाश्रयम्

भी नाटक की गणना पूर्ण विकसित रूप में मानी जाती है। जिस दृश्य रूपक का इतिवृत्त प्रख्यात और नायक राजवंश का पुरुष हो जिसे दिव्याश्रय प्राप्त हो, जो नाना विभूति एवं विलासादि गुणों से संयुक्त हो, जिसमें उपयुक्त संख्या वाले अंक और प्रवेशक हों जिस काव्य में राजाओं के चरित्र उनके क्रिया-कलाप उनके सुख-दुख से अनेक भावों और रसों का आविर्भाव हो वह नाटक[1] कहलाता है।

नाट्यशास्त्र : १८ अध्याय।

राजकीय संरक्षण में होने वाले नाटकों में उपर्युक्त शास्त्रीय गुणों का निर्वाह अनिवार्य था। किन्तु लोक-नाटकों में जन-जीवन की अभिव्यक्ति स्वाभाविक थी अतः लोक-नाटकों का परीक्षण नाट्य-शास्त्र के नियमों के आधार पर करना उपयुक्त न होगा। जन-नाटक की कलात्मकता का परीक्षण करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि उनमें नृत्य की रमणीयता के साथ-साथ नाटकत्व किस मात्रा में विद्यमान होता है। नाटकत्व के लिए कथोपकथन के अतिरिक्त कोई न कोई कथानक अनिवार्य-सा माना जाता है। कथानक में जितनी सुसम्बद्धता होगी, आरोहावरोह रहेगा और घटनाएँ कौतूहलवर्द्धक होंगी, नाटक उतना ही प्रभावशाली होगा। तात्पर्य यह है कि नाटक में नृत्य एवं कथोपकथन के अतिरिक्त घटनाओं की सुसम्बद्धता अनिवार्य है। जिन खेलों में ये सभी गुण विद्यमान होते हैं वे उच्च कोटि के नाटक माने जाते हैं। किन्तु जन-नाटकों में कथानक की सुसम्वद्धता के लिए कार्यावस्था, अर्थ-प्रकृति एवं सन्धि-योजना का उतना ध्यान नहीं रखा जाता जितना उनके समयोपयोगी और जनरुचि के अनुरूप होने का।

नृत्य के अतिरिक्त लोक-नाटक में सबसे अधिक ध्यान संगीत का रखना होता है। इसका कारण है कि अर्ध-शिक्षित एवं अशिक्षित जनता तक कवि-भाव पहुँचाने का वाहन मधुर गीत होता है, प्रांजल भाषा नहीं। अर्थ-गाम्भीर्य से अपरिचित जनता को संगीत की सरसता, नृत्य की मुद्रा एवं पात्रों के अभिनय के कारण भाषा-ज्ञान की अल्पता खटकने नहीं पाती। लोक-नाटक की यही सबसे बड़ी विशेषता है। लोक-नाटकों में कथानक के मन्थर प्रवाह के मध्य नृत्य-संगीत की लघु तरणी थिरकती

---

१. प्रख्यातवस्तुविषये प्रख्यातोदात्त नायकं चैव।
राजिष वंश चरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥१०॥
नानाविभूति संयुक्तमृद्धि विलासादिभिर्गुणैश्चैव।
अंकप्रवेशकाव्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥११॥
नृपतीनां यच्चरितं नानारस भाव संभृतं बहुधा।
सुख दुखोत्पत्तिकृतं भवति तन्नाटकं नाम ॥१२॥

चलती है। इसी कारण दर्शक १० बजे रात्रि से सूर्योदय तक नाटक का रसास्वादन करता रहता है।

लोक-नाटकों में संगीत-नाटक का स्थान

संगीत-नाटक के नाम पर लोक-नाट्य परम्परा में अनेक प्रकार के नाटक अभिनीत होते हैं। प्रतिभा किसी जाति विशेष या वर्ग में सीमित नहीं रहती। प्रकृति के प्रांगण में विचरण करने वाले ग्राम्य जीवन से प्रभावित होकर अनेक अर्द्ध शिक्षित एवं अशिक्षित व्यक्तियों ने प्रतिभा-ज्ञान के बल पर ऐसी रचनाएँ की हैं जिनकी गणना सत्साहित्य में की जाती है। अपढ़ जुलाहा कबीर, वंश-परम्परा से शास्त्र-ज्ञान-वंचित चर्मकार रैदास, ग्रामीण समाज में परिपालित जायसी आदि मस्ती के झोंके में जो पद कह गये वे साहित्य के शृंगार बन गए। जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में महानुभावों ने प्रतिभा ज्ञान के बल से उच्च कोटि का साहित्य निर्मित किया है उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में भी कतिपय मेधावी ग्रामीणों ने नवीन प्रयोगों द्वारा रम्य रचनाएँ की हैं। इन विविध प्रयोगों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

सर्वप्रथम अपने आनन्दोद्रेक को अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्दों के अभाव में किसी ग्रामीण ने मुद्राएँ प्रदर्शित की होंगी। जब शब्द किन्हीं कारणों से मौन धारण कर लेते हैं तो अंगुलि–विक्षेप के द्वारा मूक व्यक्ति अपने हृद्‌गत भावों को व्यक्त करने को व्याकुल हो उठता है। यही मूकाभिनय या पेन्टोमाइम कहलाता है। मूक अभिनय के पश्चात् जब नृत्य और संगीत का संयोग हो गया और उस में संगीत की अपेक्षा नृत्य की प्रधानता रही तो वह अभिनय 'वैले' बन गया। कालान्तर में गीतों में प्रभविष्णुता आ गई और नृत्य से उनको प्रधानता दी जाने लगी। इस प्रकार जहाँ 'वैले' में गीत नृत्य पर आधारित थे वहाँ गीतों की प्रमुखता के कारण नृत्य गीतों पर आधारित बन गये इस प्रकार संगीत-नाटक का जन्म हुआ। ये संगीत-नाटक दो रूपों में विकसित हुए। एक रूप तो संगीत को ही प्रमुख मानकर पल्लवित होता रहा, किन्तु दूसरा रूप कथानक एवं कथोपकथन में भी नाटकीयता का समावेश करता रहा।

विभिन्न भाषाओं में संगीत नाटक

संगीत-नाटक किसी न किसी रूप में प्रत्येक भाषा में विरचित हुए हैं और अद्यापि रचे जा रहे हैं। असम में कीर्त्तनिया, बंगाल में जात्रा, बिहार में विदेसिया, संयुक्त प्रान्त में रास, स्वांग, पंजाब में गिद्दा, गुजरात में भवाई, महाराष्ट्र में गोंधड़, आन्ध्र में यक्षगान की प्रसिद्ध लोक-नाट्य परम्परा पाई जाती है। यहाँ संगीत-नाटकों का

संक्षेप में परिचय दिया जायगा। सर्व प्रथम दक्षिण के नाटकों पर प्रकाश डालना समीचीन होगा।

यक्षगान

दक्षिण में यक्षगान नामक नाटक आज भी प्रचलित है। इन नाटकों का इतिहास आठवीं शताब्दी के शिलालेखों में उपलब्ध है। विजयनगर राज्य में ब्राह्मण-मेला नामक कलाकारों का समुदाय अभिनय के लिए प्रसिद्ध था। उक्त राज्य के अधःपतन के दिनों में ये कलाकार तंजौर राज्य के आश्रय में रहने लगे। ये लोग राम और कृष्ण की लीलाओं को गान द्वारा प्रस्तुत करते। इस शैली में अभिनय के समय पात्र यक्ष गन्धर्वों का रूप धारण करते थे इस कारण ये संगीत-रूपक यक्ष-गान नाम से प्रसिद्ध हुए। ऐसे नाटकों के सर्वश्रेष्ठ रचयिता विप्र नारायण और राजगोपाल स्वामी हैं। इनके यक्ष-गानों का आज भी प्रचार है। मन्दिर के सम्मुख विशाल मैदान में दो मशालों के प्रकाश के मध्य मृदंग और द्रोन की ध्वनि के साथ-साथ रक्तिराग में देव-चरित का गान सहस्त्रों ग्रामीण जनता को आज भी मुग्ध बनाता रहता है।

दक्षिण में कथाकली, भरतनाट्यम्, पठकम, कटयूकोट्टिकल मोहिनियत्तम, कोरत्तियत्तम, तुल्लल, एलामुत्ति, पुरप्पतु एवं ६ प्रकार के भगवतीपत्तू (तिय्यातु, पन, पत्तु, कनियरकलि, मुतिएत्तु) प्रसिद्ध संगीत-नाटक हैं।

यात्रा[1]

यात्रा-नाटकों का उद्गम कब और कैसे हुआ इस विषय में विद्वानों ने समय-समय पर विचार किया है। प्रागैतिहासिक काल की नाट्य-परम्परा को यदि पृथक् रखकर देखें तो सर्वप्रथम बौद्ध ग्रन्थ 'ललित-विस्तार' में यात्रा-नाटकों का उल्लेख मिलता है। तदुपरान्त यात्रा का सबसे अधिक सम्बन्ध जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा, स्नान-यात्रा आदि से जोड़ा जाता है। श्रीमद्भागवत के उपरान्त कृष्ण की रास-लीलाओं से यात्रा-नाटक अत्यधिक प्रभावित हुए और वैष्णव धर्म के अभ्युदय के दिनों में ये नाटक विकास की चरम कोटि पर पहुँच गए।

यदि प्रागैतिहासिक काल को देखें तो भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में यात्रा का संकेत मिलता है। Mr. E. P. Horcuiter का तो मत है कि वैदिक काल में भी यात्रा-नाटक प्रचलित थे।[2]

---

१ प्राचीन काल में धार्मिक मेलों को यात्रा कहते थे।

2 Even the Vedic age knew yatras, a memorable heirloom of Aryan antiquity. The gods of the Rig-Veda were hymned in choral procession. Some of the Sam-Veda hymns re-echo the rude mirth of the Primitive yatra dances.

यात्रा-नाटक चाहे जितने प्राचीन हों किन्तु उनका विकास मध्ययुग में चैतन्य और शंकरदेव की शक्ति पाकर चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। चैतन्य देव यात्रा नाटकों में स्वयं अभिनय करते थे। उनके विद्वान् शिष्यों में इतनी क्षमता थी कि गौरांग कृष्ण-लीला के किसी एक प्रसंग को निर्धारित करके पात्रों का निर्णय कर देते थे और वे पात्र मंच पर ही नाटक की रचना और उसका अभिनय एक ही काल में साथ-साथ करते जाते। इस अभिनय में संगीत और कथोपकथन को महत्व दिया जाता था। कथानक की चरम-परिणति (Climax) की ओर ध्यान न देकर ईश्वर-प्रेमियों के हृदय में भगवल्लीला का जीता-जागता रूप दिखाना उन भक्तों को अभीष्ट था।

यात्रा-नाटकों में कृष्णलीला की प्रधानता रही। कृष्ण-यात्रा से पूर्व शक्ति-यात्रा का प्रचार था। यात्रा-मंडलियाँ देश में घूम-घूम कर शक्ति और कृष्ण की विविध लीलायें दिखातीं। प्रारम्भ में गीत-गोविन्द, श्रीमद्भागवत, चंडीदास आदि कवियों के पदों के आधार पर अपनी संवाद-योजना के द्वारा कृष्ण-यात्राएँ अभिनीत होती रहीं। कृष्ण-जीवन की सुप्रसिद्ध कथाओं को अभिनय द्वारा प्रदर्शित करना इनका लक्ष्य था। कालान्तर में यात्रा-मंडलियाँ लौकिक प्रेम-गाथाओं को भी कथा-वस्तु बनाकर नाटक खेलने लगीं।

चैतन्य ने यात्रा-नाटकों में नवजीवन का संचार किया। इतिहास में जिन व्यक्तियों का उल्लेख इस सम्बन्ध में मिलता है, उनमें दुलीगाँव के निवासी शिशुराम अधिकारी का नाम प्रसिद्ध है। यात्रा-नाटक संकीर्तन और कवि के गीतों में लुप्तप्राय हो चले थे किन्तु शिशुराम अधिकारी ने अपनी अभिनय-कला की क्षमता के बल पर इसके शिल्प को परिष्कृत कर दिया।

यात्रा-नाटक आज भी प्रचलित हैं। इनमें काव्य-संगीत के साथ-साथ कुछ गद्य-रचनाएँ भी स्थान पाने लगी हैं। ये नाटक किसी देवता की यात्रा (मेला या नगर-भ्रमण) के अवसर पर खेले जाते थे। जब प्रतिमा का जलूस निकलता तो भक्त जनता मार्ग में उत्साह के साथ देव-गाथा का गान गाती, नृत्य दिखाती एवं अभिनय के रूप में देवचरित प्रदर्शित करती। दर्शक इन्हीं के द्वारा पौराणिक कथाओं का ज्ञान प्राप्त करते।

रासलीला

यात्रा-नाटकों के समकक्ष महत्व रखने वाली जन-नाटकों में रासलीला शैली है। रासलीला में रास नृत्य की प्रधानता रहती है। रासलीला का सीधा सम्बन्ध श्रीमद्भागवत् से है। ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत में जब से गोपियों के साथ कृष्ण की रासलीला का वर्णन किया गया और भगवान् ने उद्धव से कहा :—

श्रद्धालुर्मे कथा शृण्वन् सुभद्रा लोक पावनी: ।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः ॥
(श्रीमदभागवत एकादश स्कंध, एकादश अध्याय श्लोक २३)

भगवान् की लीला का अभिनय भक्ति के लिए आवश्यक कार्य माना गया। इस कार्य से अभिनेता और दर्शक दोनों को पुण्य की प्राप्ति और मनोविनोद का अवसर प्राप्त हुआ। रासलीला ब्रजभूमि की लोक-नृत्य पर आधारित एक नाट्य-शैली थी जो समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गई। आज भी परम्परा के अनुसार प्राय: नित्य यमुना के पुलिन पर किसी वृक्ष के समीप या किसी मन्दिर के प्रांगण में या ऊँचे टीले पर एक चौकी रख दी जाती है और उसके नीचे चार-पाँच संगीतज्ञ विविध वाद्य यंत्रों के साथ बैठे जाते हैं, गीत गोविन्द, श्रीमद्भागवत्, ब्रह्मवैवर्त पुराण से उद्धृत श्लोक अथवा सूरदास, नंददास आदि भक्तों के कतिपय पदों का नांदी (मंगलाचरण) के रूप में गायन होता है। तदुपरान्त राधाकृष्ण आसन पर विराजमान होते हैं और लीला प्रारम्भ होती है।

रासलीला-नाटकों में रास-नृत्य अनिवार्य है। रास-नृत्य का किसी समय इतना आकर्षण था कि नौटंकी के प्रबन्धक भी अपने सामाजिक नाटकों के प्रारम्भ होने से पूर्व रास-नृत्य अवश्य प्रदर्शित कराते थे। आज भी किसी न किसी रूप में यह लीला पूर्ववत् चल रही है।

रासलीला के नाटक आद्योपान्त संगीत-नाटक हैं। कृष्ण-जीवन की विविध घटनाएँ दिखाने का इनमें प्रयास किया जाता है। इसके आरम्भ का पता अभी नहीं है। रास-नाटकों की कथा वैष्णव और जैन दो धर्म-ग्रंथों से ग्रहण की जाती है। जैन-मन्दिरों में रास-नाटकों के अति प्राचीन उद्धरण मिलते हैं। जैन-धर्म में दसवीं शताब्दी में रास-नाटकों का उल्लेख मिलता है। इन धार्मिक नाटकों का कथानक धर्मग्रन्थों से अल्प परिवर्तन के साथ ग्रहण होता है। कथा-सूत्र को जोड़ने के निमित्त संगीतज्ञ सूत्रधार और उनके मित्र आद्योपान्त यंत्र के समीप विद्यमान रहते हैं। वे गीतों द्वारा कथा-सूत्र जोड़ते चलते हैं। पात्रों की वेश-भूषा में परिवर्तन करने के लिए समय-समय पर पात्रों के सम्मुख एक आवरण-सा डाल दिया जाता है जिससे अभिनेताओं को दर्शक देख न सकें। सम्पूर्ण नाटक नृत्य और संगीत पर अवलम्बित रहता है। कभी-कभी कृष्ण की दो-तीन लीलाएँ एक ही रात्रि में अभिनीत होती हैं। इस प्रकार आठ बजे रात्रि से प्रारम्भ होकर लीलाओं का क्रम प्रात:काल तक चलता रहता है। इन लीला-नाटकों में कथा की गति संगीत की ध्वनि के सहारे मन्द-मन्द रीति से बढ़ती है। कथोपकथन का भी सुन्दर रूप कभी-कभी दिखाई पड़ता है। वीणा,

मुरलिका, पखावज और मृदंग आदि वाद्यों का कभी मधुर, कभी गहन, घोष आद्योपान्त सुनने को मिलता है। आजकल हारमोनियम-तबले का स्वर सुनाई पड़ता है।

इन नृत्य और गेय नाटकों का शास्त्रीय विवेचन करने पर इन्हें नाट्य-रासक अथवा प्रेक्षणक की कोटि में रखा जाता है।

स्वांग-भवाई और लद्दा

ये तीनों लोक-नाट्य जन-नाटकों की शृंगारी पद्धति में प्रसिद्ध है। तीनों का एक जैसा तंत्र एवं एक जैसी शैली है। तीनों में लौकिक प्रेम की प्रधानता होती है, और तीनों का अभिनय व्यवसायी नाट्य-मंडलियाँ गाँव-गाँव दिखाती हुई भ्रमण करती रहती हैं। स्वांग का दूसरा नाम संगीत-नाटक है। इन नाटकों में सुल्ताना डाकू से लेकर भर्तृहरि और अलाउद्दीन बादशाह से भक्त पूरनमल जैसे महात्मा नायक बनाये जाते हैं। ग्रामीण जनता विशाल नक्कारे का अत्यन्त गम्भीर घोष सुनकर गृह-कार्य त्याग, कोसों तक उत्सुकतापूर्वक जाती दिखाई पड़ती है। रात्रि में नौ-दस बजे इन नाटकों का अभिनय प्रारम्भ होता है, और कभी-कभी सूर्योदय के उपरान्त समाप्त होता है। अभिनेताओं की संख्या ८-१० तक होती है। वे ही पच्चीसों पात्रों का अभिनय कर लेते हैं। अभिनेताओं में एक नृत्य-कुशलपात्र सम्पूर्ण कथानक का अभिनय नृत्य-के द्वारा प्रदर्शित करता है। उसके घूँघट का कितना भाग कब और कैसे अनावृत-होता है और भौहों और नेत्रों की भाव-भंगिमा कैसे परिवर्तित होती है, इसी नृत्य-कौशल पर नाटक की सफलता अवलम्बित होती है। वह अपने पैरों की गति, हाथों की मुद्रा, भौहों के कटाक्ष से विविध प्रकार के भावों एवं रसों की अनुभूति करा देता है। नान्दी, सूत्रधार, विदूषक, नायक, नायिका आदि प्रमुख पात्र इसमें रंगमंच पर आद्योपांत विद्यमान रहते हैं। मनोविनोद के लिये धूम्रपान की व्यवस्था रहती है। श्रान्त-क्लान्त पात्र रंगमंच के कोने में लेट कर थोड़ा विश्राम भी कर लेता है।

एक-दो अभिनेता इतने कुशल होते हैं कि वे द्वारपाल से राजा तक भिक्षुक से राजमहिषी तक सभी का अभिनय सफलतापूर्वक कर लेते हैं। संगीतज्ञों को वेश, सोरठ, सारंग, सामरी, सोहनी, पुरवि, प्रभात, रामकलि, विलावल, कालीगदा, आसा-वरी, मारू आदि रागों का ज्ञान होता है। प्रमुख पात्रों की स्मरण-शक्ति ऐसी होती है कि सम्पूर्ण गाने उन्हें कंठस्थ होते हैं। संगीतज्ञों का सहारा पाकर वे स्वाभाविक रीति से अभिनय के साथ अपना पूरा पाठ प्रदर्शित कर देते हैं। लोक-नाटकों में कथोपकथन भी कविता के माध्यम से होता है। वे लोग भजन, गजल, गरबा, रास, दुहा, दोहरा, साखी, सोरठा, छप्पय, रेख्ता आदि छन्दों का प्रयोग करते हैं। संगीत में प्रायः पंचम और धैवत की प्रमुखता रहती है। प्रत्येक पात्र संगीतज्ञ होता है और

वह पंचम स्वर में ही गायन करता है, ताकि उपस्थित जनता उसकी वाणी सुन सके।

वेशभूषा

स्वांग, भवाई, लद्दा आदि लोक-नाटकों में घाघरा, धोती, अंगरखा, छड़ी आदि का उपयोग होता है। धोती के पहनने, छड़ी के धारण करने के ढंग से पात्र राजा या फकीर, पंडित या कृषक, मंत्री या सिपाही बन जाता है। इन नाटकों में सबसे विलक्षण पहनावा ओढ़नी है। ओढ़नी के सिर पर धारण करने की शैली और मुखमुद्रा के परिवर्तनों के द्वारा पात्रों की मनोवृत्ति आंशिक रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। लोक-नाट्य की सबसे अधिक कौशलपूर्ण कला इसी में झलकती हैं। भावाभिव्यक्ति के उपयुक्त रससिक्त पदावली की अपेक्षा, झीनी ओढ़नी के अन्तराल से कौशलपूर्ण कटाक्ष की कला अधिक सहायक होती है।

शास्त्रीय विवेचन

लोक-नाट्य का तंत्र शास्त्रीय तंत्र से पृथक् होता है। इनमें पंच-सन्धियों, कार्य-अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों, सन्ध्यन्तरों आदि को ढूँढने के लिए सिर खपाना व्यर्थ है। लोक-कवि कथा-वस्तु की रचना में एक के उपरान्त दूसरी घटना को अव्यवस्थित ढंग से जोड़ते जाते हैं। रंगमंच पर पट-परिवर्तन और दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ संकलन-त्रय की अपेक्षा नहीं। त्रासदी लिखकर नाट्य-शास्त्र के आदेशों का विरोध करना संस्कृतज्ञ नाट्यकार शोभाजनक नहीं मानते थे। लीक-लीक पर चलने के कारण गम्भीर त्रासदी नाटकों का हमें संस्कृत साहित्य में अभाव दिखाई पड़ता है। ऐसे नाटकों की मनोहर छटा हमें लौकिक नाट्य-साहित्य में देखने को मिलती है। किसी नदी या जलाशय के तट पर या उपवन के रम्य मार्ग में सुन्दर बृक्ष के पास एक ऊँचे टीले पर चौकी का बना रंगमंच राजमहल से लेकर दीन कुटीर तक, राजसभा से लेकर युद्धभूमि तक सभी प्रकार के दृश्यों का निर्माण संगीत के बल पर करता रहता है। कुंकुम, खडिया, गेरू, काजल आदि सामग्री इनके लिए प्रसाधन की वस्तुएँ हैं। प्रकाश के लिए मशालों की व्यवस्था होती है। कपड़ों के मशाल, अरंडी के तेल के छोटे-बड़े कुप्पे, नेपथ्य निर्माण की एक-दो चादरें इनके उपकरण हैं। कभी-कभी चेहरे (Masks) लगाकर पशु-पक्षी, भालू-बन्दर, देव-दानव का वेश धारण किया जाता है। पात्र के अस्त्र-शस्त्र एवं वस्त्राभूषण आदि की कल्पना उसके आगमन के समय गाए जाने वाले गीतों से की जाती है। यह आवश्यक नहीं कि गीत के अनुसार उसका परिधान हो ही। यह तो निस्सन्देह कहा जाता है कि हिन्दी साहित्य में त्रासदी की जितनी अधिक रचना लोक-नाट्यों में हुई उतनी कदाचित् अन्यत्र नहीं। कारण यह है कि नाट्य-शास्त्र के विधि-विधानों से अनभिज्ञ, जीवन की पाठशाला में शिक्षित ग्रामीण कवि, यथार्थ स्थितियों के प्रदर्शन में तल्लीन रहा।

उसने समाज में प्रायः साधु को दुराचारी, धनी को कृपरण और डाकू को उदार देखा। उसके कंठ से गान फूट पड़ा। उसने वास्तविक महात्मा को दुखी और दुरात्मा को सुखी देखा। उसने प्रेमियों को दीर्घकाल तक तप-साधना करने पर भी प्रणय में असफल देखा। असफलता के कारण वियोग में तड़प-तड़प कर अन्तिम क्षणों में प्रेमी का नाम जपते हुए सुना। उसे ट्रेजडी की वह सामग्री मिली जिसका उसने उपयोग किया और हीर-राँझा, लैला-मजनू जैसे करुण नाटकों की रचना हुई। ये नाटक शताब्दियों से ग्रामीण जनता का मनोविनोद करते चले आ रहे हैं।

समाज की कुरीतियों पर व्यंग करने और शक्तिशाली अधिकारियों के विरुद्ध पीड़ितों का ध्यान आकर्षित करने का सर्वप्रथम श्रेय इन्हीं प्रतिभाशाली ग्रामीण नाट्यकारों को मिलना चाहिए। नागरिक नाट्यकार ग्राम्य जीवन में घुलमिल नहीं पाते। अतः ग्रामीणों के दुख-सुख से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण वे ग्रामीण समाज के हृदय को छू नहीं पाते।

ग्रामीण नाट्यकारों ने प्रेम, आर्थिक संकट, अधिकारियों की उच्छृंखलता, वीरों के शौर्य, साहसियों के साहस, धार्मिकों की तपस्या, ढोंगियों के आडम्बर, पति-व्रता की विपत्ति, समाज की कुरीतियाँ, नवीन सभ्यता की त्रुटियाँ आदि को नाटक की कथा-वस्तु का आधार बनाया। रामायण और महाभारत, श्रीमद्भागवत् और विविध पुराण, इतिहास और लोक-वार्ता के आधार पर चिर-विश्रुत कथाओं में समयानुकूल कल्पना का पुट मिलाकर लोक-नाटकों का इतिवृत्त निर्मित होता चला आ रहा है। चिर-विश्रुत कथाओं में तत्कालीन राजा-रईसों की नामावलियों एवं घटना-वलियों को संयुक्त कर देना उनके बाएँ हाथ का खेल है। संकलन-त्रय के बन्धन में बँधना मुक्त प्रकृति के निर्बन्ध वातावरण में पला कवि क्या जाने ! वह परम्परा से जो सुनता और शैशव से जो देखता रहा है उसमें अपनी कल्पना का रंग मिलाता जाता है। वह राम-रावण युद्ध से लेकर गांधी-गवर्नमेंट की लड़ाई को कथानक बना सकता है। इतिहास-प्रसिद्ध अमरसिंह से लेकर बलिया के प्रसिद्ध विद्रोही नेता चीतू पांडे तक की जीवनी इतिवृत्त के रूप में दिखा देता है। सुल्ताना डाकू से रूपा डाकू तक के डकैतों के जीवन-चरित्र को नाटक का इतिवृत बना डालता है। इन घटनाओं में शास्त्रीय क्रम की अपेक्षा संगीत के महत्व की ओर अधिक ध्यान देता है।

ट्रेजिक तत्त्व

ट्रेजडी में संघर्ष का सबसे अधिक महत्व होता है। वह संघर्ष कभी व्यक्ति के विविध मनोवेगों, भिन्न-भिन्न विचारों, प्रतिकूल इच्छा-आकांक्षाओं, अथवा विरोधी उद्देश्यों में निहित रहता है; कभी व्यक्ति और व्यक्ति में, अथवा व्यक्ति और परि-

स्थिति में यह संघर्ष दृष्टिगत होता है। कभी-कभी इनमें से एक या कई का संघर्ष दिखाई देता है और कभी इनमें सभी प्रकार के संघर्षों का योग रहता है। मुख्य यह है कि घोर संघर्ष के मध्य जब नायक को मृत्यु या भयानक दुख मिलेगा तभी ट्रेजडी सिद्ध होगी।

लोक-नाटकों के अन्त में मृत्यु एवं भयानक कष्ट तो प्रायः देखने को मिलता ही है साथ ही साथ कभी-कभी उस दुखमय अन्त तक पहुँचने की प्रक्रिया में कार्य-कारण का सम्बन्ध भी बुद्धिसंगत होता है। ऐसे नाटक वास्तव में आकर्षक और गम्भीर नाटक कहलाने के योग्य होते हैं।

लोक-नाटकों में तर्क से अधिक महत्व अध्यात्म-शक्ति को दिया जाता है। प्रायः ऐसे नाटक मिलते हैं जिनमें मनुष्य और भाग्य का संघर्ष दिखाया जाता है। परोक्ष एवं अलौकिक शक्तियों का कभी-कभी ऐसा अमिट प्रभाव दिखाई पड़ता है जिसे महती शक्तियाँ विनत वदन होकर स्वीकार करने को बाध्य होती है। ग्राम्य नाटकों में जब-कभी व्यक्ति और समष्टि का, व्यक्ति और परिवार का, मनोबल और परोक्ष सत्ता का, पुरुष और स्त्री का, नागरिक और शासक का, नागरिक एवं नागरिक का संघर्ष परिस्फुटित हो जाता है तब नाटक रम्य रूप धारण कर लेता है। कर्तव्य और अधिकार की भावना में सन्तुलन बिगड़ जाने के कारण प्रायः ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे नाटकों में मानव-शक्ति की विवशता और भाग्य की प्रबलता दिखा कर परोक्ष-सत्ता के प्रति विश्वास उत्पन्न करना मुख्य उद्देश्य होता है। यही कारण है कि भक्त प्रह्लाद, मोरध्वज, हरिश्चन्द्र, सती सावित्री, श्रवणकुमार, पूरनमल आदि नाटक शताब्दियों से जनता में परोक्ष शक्ति के प्रति विश्वास दृढ़ करते चले आ रहे हैं।

लोक-नाटकों में श्रद्धा और विश्वास की शक्ति को असीम मानकर चलना पड़ता है। इनमें यौगिक शक्ति के बल पर मृतक का जीवित होना, आकाश में उड़ना, विशाल समुद्र का सूख जाना, दीवार का चल पड़ना, पर्वत का उड़ना नितान्त स्वाभाविक स्वीकार किया जाता है। इन नाटकों में क्रियाशीलता के स्थान पर नृत्य और संगीत को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। कारण यह है कि लोक-नाटकों में कवि का उद्देश्य दर्शक की भावनाओं को उद्बुद्ध कर उन्हें रस-मय करना होता है, जीवन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए बुद्धि को प्रखर बनाना नहीं; मुख्य ध्येय मनोविनोद होता है, गम्भीर चिन्तन नहीं; कुरीतियों पर व्यंग होता है, समस्याओं का समाधान नहीं।

नेता

लोक-नाटकों के नेता धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीर प्रशान्त एवं धीर ललित की

सीमा नहीं पाते। ग्राम्य जीवन में धन और मान, जाति और वर्ण, रूप और विद्या में महान् अन्तर होने पर भी यह भेद-भाव हृदय पर उतना आघात नहीं पहुँचाता जितना नागरिक जीवन में यह क्लेशकर प्रतीत होता है। गाँवों में चमार भी ब्राह्मण का चाचा और दादा है। बड़े से बड़ा रईस और प्रकांड से प्रकांड विद्वान् भी निर्धन अनपढ़ किसान का बेटा और पोता है। वहाँ बड़े और छोटे का मापदण्ड परोपकार की भावना है। जो दीनों का जितना अधिक हित-चिन्तक है वह उतना ही बड़ा है। निर्धन और अशिक्षित भी धर्म और सदाचार के बल पर सम्मानित बनता है। माली का बेटा, अन्धी दुलहिन, स्याहपोश, दयाराम गूजर, बेकसूर बेटी, श्रीमती मंजरी नौटंकी, विचित्र धोखेबाज, मेला घूमनी, बेटी बेचवा, निर्दय ज़मींदार आदि व्यक्ति भी सफल नायक बनने के अधिकारी होते हैं।

नायकों को धार्मिक पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक इत्यादि विविध कोटियों में रखा जा सकता है। विश्व का कोई व्यक्ति नायक बनने का अधिकारी हो सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसमें लोक रंजन की क्षमता हो, वह संगीतज्ञ और चमत्कारी हो।

उत्तर भारत में नायक का कदाचित् सब से अधिक व्यापक क्षेत्र स्वांग-शैली में दृष्टिगोचर होता है। कथा-वस्तु, नेता और रस दृष्टि से इस शैली पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

स्वांग——स्वांग नाटक के मुख्यतः दो रूप मिलते हैं—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी रूप हाथरस-एटा आदि जिलों में प्रचलित है और पश्चिमी रूप हरियाणा और रोहतक में। पूर्वी रूप के आधुनिक कवि नथाराम और पश्चिमी के लक्ष्मी, एवं हरदेवा माने जाते हैं। हरियाणा, ब्रजभूमि और मेरठ कमिश्नरी के विस्तृत भू-भाग में लोक-नाटकों की यह परम्परा शताब्दियों से निरन्तर चली आ रही है।

मध्यकाल में सादुल्ला[1] नामक एक प्रसिद्ध लोक-कवि हरियाणा प्रान्त में उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार बारहवीं-तेहरवीं शताब्दी में अब्दुल रहमान नामक कवि ने अपभ्रंश में सन्देश-रासक की रचना की उसी प्रकार सादुल्ला नामक लोक-कवि ने अनेक लोक-गीतों और लोक-नाटकों की रचना की। उनके लोक-गीत और लोक-नाटकों

१—इस कवि की ११ वीं पीढ़ी में हज़रत चौबीसा नामक एक वृद्ध ने तीन शताब्दियों की संचित निधि सवा मन के लगभग हस्तलिखित ग्रंथों को सन् १९४७ के दंगे के समय एक कुएँ में फेंक दिया।

की परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती गई। आज दिन भी इन लोक-नाटकों का इतना प्रचार है कि सांग मंडलियाँ, दिल्ली जैसी नगरी में एक-एक नाटक खेल कर पाँच-पाँच सहस्र रुपए तक अर्जित कर लेती हैं और सहस्राधिक व्यक्ति खुले मैदान में रात-रात भर इन नाटकों का अभिनय देखते रहते हैं।

हम पूर्व कह आए हैं कि सांग-नाटकों में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं लौकिक सभी विषयों का समावेश होता है। लौकिक से तात्पर्य है उन की कथाओं से जिनको मध्यकाल में किसी प्रतिभाशाली कवि ने अपनी कल्पना से निर्मित किया। इन लोक-कथाओं के आधार पर निर्मित नाटक सबसे अधिक आकर्षक होते हैं। राजा भर्तृहरि, गोपीचन्द, भक्त पूरनमल, हीर-राँझा आदि नाटकों की इतनी ख्याति है कि दूर-दूर से ग्रामीण जनता इन्हें देखने को टूट पड़ती है। इनके कथानकों में इतना आकर्षण है, इनके गीतों में इतनी प्रभविष्णुता और सरसता है, इनके कथोपकथन में इतना व्यंग्य है कि जनता मुग्ध हो जाती है। इन नाटकों में साथ नाटकत्व के साथ कविता है, संगीत के साथ सूक्ष्म भावों की कोमलता है, रससिद्धि के साथ चरित्र का विकास है। इनमें अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेषण है और बाह्य संघर्ष का प्रदर्शन। सभी रसों से आप्लुत अनेक भावों और भावनाओं से परिपूर्ण लोक-नाटकों के मनोहारी दृश्यों की छटा स्पृहणीय रही है। उदाहरण के लिए पूरनमल नामक स्वांग का एक दृश्य देखिए। स्यालकोट का बूढ़ा राजा शंखपति एक सरदार फूलचक्र की बेटी लूणादे पर मोहित होकर ब्याह कर लाता है। राजमहल में सपत्नी को विद्यमान देखकर लूणादे के हृदय पर जो आघात पहुँचता है उसका वर्णन करते हुए वह कहती है—

थाने कहूँ में बात प्रीतम आपके तांही।
मैं तो सौत के साथ हरगिज भी रहूँ नाहीं॥

किन्तु राजा के आग्रह करने पर वह महल में रहने लगती है। एक दिन एकान्त में वह अपने हृद्गत भावों को इस प्रकार प्रगट करती है—

मैं तो जोबन में भरपूर पिया की गरदन हाले ओ॥ टेक।
मैं तो वरस बीस में आई, मस्ती अँग-अँग में छाई,
म्हारा पिवजी साठां मांही, कुबड़ा होकर चाले ओ॥ मैं०
म्हारा अंखियां हुई नशीली, अमियां पक बनी रसीली।
पिव की चमड़ी पड़ गई ढीली, कुबड़ा होकर चालै ओ। मैं०
मैं तो भर जोबन मतवाली, म्हारे अंग-अंग में लाली,
लेकिन पिव जी हो गया खाली, साल कलेजे सालै ओ। मैं०

बाबल बूढ़ा ने परणाई, जिसमें बाकी कुछ भी नांई,
मैं तो हाय करूँ अब काई, फोड़ा जोबन घाले ओ । मैं

इस नाटक में नवयुवती रानी शंखवती के पुत्र पूरनमल पर आसक्त होती है। उस समय पूरनमल कहता है—

मत कुपंथ में पड़ै माय मत उल्टी बात चलावै ।
बेटा ने भरतार बणाया, आ धरती हिल जावै ।।
मिले पाट से पाट प्रलय इस दुनियां में मच जावै ।।

रानी लूणादे पुत्र पर बलात्कार का आरोप लगाती है और वृद्ध कामुक राजा उसे सूली पर चढ़ाने की आज्ञा देता है। पूरनमल को सूली दी जाती है। मृत्यु के उपरान्त उसकी दोनों आखें निकाल कर रानी के पास भेजी जाती है और शव को एक कूप में डाल दिया जाता है। संयोग से गुरु गोरखनाथ उस कूप पर पहुँच जाते हैं और उस शव को पुनरुज्जीवित करते हैं। पूरनमल गुरु गोरखनाथ का शिष्य बन जाता है। वह भिक्षा माँगते हुए स्यालकोट में अपनी जन्मभूमि देखकर प्रसन्न होता है। रानी क्षमा-याचना करती है। पूरनमल की माता अम्बादे पुत्र को पाकर धन्य हो जाती है।

लखमीचन्द प्रसिद्ध लोक-नाट्यकारों में से एक है। सांगियों में इस व्यक्ति को जनता ने सबसे अधिक अपनाया है। इनकी कविताएँ भावमय और सरस हैं। पूरन भगत के स्वांग की इस रागनी को देखिए :—

पूरनमल की मौसी उस पर मोहित हो जाती है तो पूरनमल उसे किस प्रकार समझाता है :—

मां बेटे पै जुलम करै सै देख राम के घर नै
पतिबरता इकसार समझती छोटी बड़ी उमर नै
सावित्री सत्यवान पति नै आप ढूंढ कर ल्याई
बरस दिन भीतर मर लेगा नारद नै कथा सुनाई ।।
बरत एकादशी का धारण करकै व्याह करवा सुख पाई
गये थे वना मैं लकड़ी तोंडन कजापति सिर छाई ।
धर्मराज तै धर्म के कारण ल्याई थी जिवा के वर नै ।।
पतिवरता इकसार समझती छोटी बड़ी उमर नै ।।
इन्द्राणी, रूपाणी, ब्रिमाणी, अनुसुइया की के गिनती
पतिवरता थी कौशल्या जो रामचन्द्र से सुत जणती

विषय ने त्याग भजन में लागे जब पतिव्रता बनती
मदनावत और दमयन्ती सदा भजन में हरि के सुणती
एक मीराबाई पार उतर गई पति समझ पाथर नें
पतिवरता इकसार समझती छोटी बड़ी उमर नैं ।।
कहै लखमीचन्द हे मा मेरी के भोगे बिना सरै सै
तेरे बरगी बेहूदी का के बेड़ा पार तरै सै
आगे मिल जाएगा बर जोड़ी का के मेरे बिना मरै सै
मां होके नै डूब गई बेटे पै नीत घरै सै
कूंडी मिलैगी तनै कीडां की खा जांगे चूंटजिगर नै ।।
पतिवरता इक सार समझती छोटी बड़ी उमर नै ।।

लखमीचन्द की यह रागनी जो कि पद्मावत संगीत में से ली गई है श्लेष का एक अत्युत्तम उदाहरण है। यहाँ पर इस गीत के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो अर्थ लिए गए हैं :—

चन्दरवत्त की आज्ञा लेकै फिर भगवान मनाया
चाल पड़ा रणधीर रात नै कर काबू में काया
घोर अन्धेरा पृथ्वी तैं अम्बर मिला दिखाई दे था
बढ़ा अगाड़ी फूल जोत कीसा दिखाई दे था
सत का सागर ज्ञान का झंझट जला दिखाई दे था
सात घात की चमक चान्दनी किला दिखाई दे था
लोहे चांदी सोने का कमरा खूब लगी धन माया ।।
चाल पड़ा रणधीर रात नै कर काबू में काया ।
ऋषि मुनि योगी संन्यासी जहां त्यागी आप खड़े थे
कहीं भला और कहीं बुरा कहीं पुन और पाप खड़े थे
भूत भविष्यत वर्तमान जहां तीनों ताप खड़े थे ।
मेहर तेहर और मोह मया ने खुलकर खेल रचाया ।।
चाल पड़ा रणधीर रात नै कर काबू में काया
खड़े चुपचाप कोई सा ना इधर उधर हिलै था
पांच खड़े दर चार-पांच का दोराहो दूर चलै था
पद्मावत के महलों ऊपर अद्भुत नूर ढलै था
नौ नाड़ी और दस दरवाजे ज्ञान का दीप जलै था
झांकी मां कै पद्मावत के पड़े रूप की छाया ।।
चाल पड़ा रणधीर रात ने कर काबू में काया ।

इन सब का रंग-ढंग देकर हद तें आगे बढ़ गया
शीशे का रंग महल देखकै फरक गात का कढ़ गया
लखमीचन्द गुरु की आज्ञा से जब कोई अक्षर पढ़ गया
बस डंडे रहे लाग कमन्द के पकड़ कै ऊपर चढ़ गया
सूती हूर जगावण खातिर मुंह पर तै पल्ला ठाया।
चाल पड़ा रणधीर रात नै कर काबू मैं काया॥

लोक-नाटकों में स्त्रियों को पर्याप्त महत्ता दी जाती है। इतिहास पुराण से अनेक योग्य महिलाओं का चरित्रइ तिवृत्त बनाया गया है। भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में मीरा का नाम सदैव अमर है। उसका जीवन आदर्श, त्याग और निष्ठा से परिपूर्ण जीवन था। एक बारात को देखने पर मीरा का अपनी माँ से अपने पति के बारे में पूछना और माँ का एकमात्र गिरधर को ही उसका पति बतलाना मार्मिक घटना थी। यही मीरा के लिए एक कठोर साधना का मार्ग बन गई और उसी दिन से मीरा ने गिरधर गोपाल को ही अपने पति-रूप में ग्रहण किया। उन्मुक्त यौवन का समय आया किन्तु मीरा अपने मार्ग से विचलित न हुई। उदयपुर के राणा ने मीरा के विवाह का प्रस्ताव उसके पिता के समक्ष रखा यद्यपि विवाह स्वीकार हो गया किन्तु मीरा तो सच्चे हृदय से एक बार अपने पति को वर चुकी थी। फिर गिरधर के स्थान पर मीरा महाराणा को पति स्वीकार करके भारतीय आदर्श को किस प्रकार गिरा सकती थी। भारतीय नारी की यह उदात्त भावना निम्न पंक्तियों में कितने सुन्दर ढंग से प्रस्फुटित हुई है? मीरा अपनी माँ से प्रत्युत्तर में कहती हैं :—

माता पिता ने धर्म डिगा दिया, महाराणा तै डर कै
पति का प्रेम भुलावण लाग्यी क्यों धिगताणा करकै
अपनी मां के संग थी मीरा पूजा बीच निगाह थी
एक बर पूजण गया मन्दिर में बारात सजी संग जा थी
मैं बोली कोण कित जासे समझावण आली मा थी
न्यू बोली बनड़ा बनड़ी ल्यावे जिस ने पति की चाह थी
मैं बोली मेरा पति कौन झट हाथ लगाय गिरधर कै।
पति का प्रेम भुलावण लाग्यी क्यों धिगताणा करकै

नाम सुणा जब गिरधर जी का आनन्द हो गई काया
बीरबानी नै पति बिन अच्छी लागै ना धन माया
उस का प्रेम ठीक हो जासै जिस ने ज्यादा प्रेम बढ़ाया
खुद माता के कहने से मैंने गिरधर पती बणाया

करुँ प्रीति सच्चे दिल तैं प्रेम बीच में भर कैं ।
पति का प्रेम भुलावण ....

स्वांग का तीसरा प्रसिद्ध नाटक हीर-राँझा है । हीर-राँझा का नाटक त्रासदी के तत्त्व से पूर्ण है ।

हीर-राँझा वारसशाह का प्रबन्ध-काव्य है । इस काव्य का इतना प्रचार हुआ कि इस के आधार पर कई लोक-नाट्य विरचित हुए । स्वांग और लद्दा में सबसे अधिक इसका प्रचार हुआ । हीर-राँझा नाटक का नायक राँझा ही है क्योंकि वही फलभोक्ता है । नायिका हीर है । वारसशाह ने हीर का चरित्र ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया है कि उस के सामने उसकी सहेलियाँ गौण लगती हैं । **(इतिवृत्त)** राँझा अपनी भाभी से झगड़ पड़ता है, बात बढ़ जाती है और भाभी व्यंग कसती है, 'देखूँगी जब तू जाकर हीर ब्याह लाएगा ।' सहसा राँझा के मन में हीर-प्राप्ति के लिए संकल्प उठा । वह घर छोड़ कर चल देता है । हाथ में बाँसुरी होती है । नदी पार करने के लिए मल्लाहों को बाँसुरी सुनाता है । नदी के पार पहुँच कर वह विश्राम करने के विचार से एक कमरे में जाकर रुकता है । कमरा आरामप्रद था । बिस्तर पर पड़ते ही गहरी नींद में सो जाता है । इतने में कोई हीर को सूचित करता है कि तेरे बिछौने पर कोई परदेशी सोया पड़ा है । शहर के बड़े सरदार की पुत्री गर्व से तन जाती है । किसका साहस कि हीर के पलंग पर आ पड़े ! वह सहेलियों को लेकर चलती है । हाथ में सज़ा देने के लिए कोड़ा होता है । राँझा के चेहरे की मासूम झलक और सुन्दरता हीर की आँखों को चकचौंधा कर देती है । प्रेम हिलोरें ले दोनों के दिलों में छा जाता है । और फिर प्यार की पींग लोक दृष्टि से चोरी-चोरी बढ़ती है । हीर-राँझा एक दूसरे के साथ रहने का वचन देते हैं ।

यहाँ तक हीर-राँझा में आपको प्यार के सुख का उत्कर्ष मिलेगा । आत्माओं के मिलन का संगीत सुनाई देगा । यहाँ मधुरता है, मिलन है, यहाँ दो ज़िन्दगियाँ मिलकर एक साथ एक नई ज़िन्दगी का निर्माण करती हैं ।

इसके पश्चात् ट्रेजडी शुरू होती है । घर की इज़्ज़त पर डाका पड़ते देख हीर का चाचा रंगमंच पर प्रवेश करता है । हीर का पिता शीघ्र ही उसका (हीर का) विवाह कर देता है । हीर ससुराल चली जाती है । यहाँ से आपको प्यार की वेदना मिलेगी । हीर-राँझा के प्रेम की प्यास यहाँ पर जुदाई के गीतों में उभरती मिलेगी । ट्रेजडी तत्त्व का रूप यहीं से निखरने लगता है ।

कालान्तर में राँझा का लौकिक प्रेम मिलन की उत्कण्ठा से पराङ्मुख होकर पारलौकिक प्रेम की ओर अग्रसर होता है । वह योगियों की मण्डलियों में घूमता है,

पर इससे भी उसे शान्ति नहीं मिलती। हीर ससुराल जाकर बीमार हो जाती है। राँझा योगी बन उससे मिलता है, भाग जाने का कार्यक्रम निश्चित हो जाता है। भागते हुए वे दोनों पकड़ लिए जाते हैं और यह लोक-नाट्य राँझा और हीर की मृत्यु पर समाप्त हो जाता है।

वारसशाह ने देहात के कैनवस पर इस महान दुखान्त कृति को अंकित किया है। इसी कैनवस पर उसने मानवीय अनुभूतियों के साथ-साथ उस समय के वातावरण, संस्कृति और रहन-सहन को चित्रित किया है। इसी लिए वारसशाह का हीर-राँझा पिछले तीन सौ साल की ऐतिहासिक चेतना को लिए खड़ा है जिसकी ट्रेजडी बेजोड़ है और जिसका नाटकीय तत्त्व हृदयग्राही है।

रूप-बसन्त (सामाजिक नाटक)

दारानर के राजा चन्द्रसेन की रानी रूपावती से रूप-बसन्त नाम के दो पुत्र हुए। एक दिन रानी रूपावती ने अपने महलों में देखा, कि एक चिड़ा पहली चिड़िया के मरने पर दूसरा विवाह कर लेता है। दूसरी चिड़िया ने आकर उसके बच्चों को बहुत तंग किया। ऐसा देखकर रानी ने राजा से कहा कि मेरे मरने के उपरान्त आप दूसरा विवाह न करें। राजा ने रानी को आश्वासन दिया कि वह कभी भी दूसरा विवाह न करेगा।

कुछ दिनों के उपरान्त रानी रूपावती की मृत्यु हो जाती है। राजा को वृद्ध मन्त्री तथा अन्य कुटुम्बी-जनों के आग्रह पर अवधपुरी के राजा चित्रसेन की पुत्री चित्रावती से विवाह करना पड़ता है। चित्रावती युवती थी और उसका यौवन चरमावस्था पर था। वह राजकुमार बसन्त पर मुग्ध हो जाती है। उसकी वासना जागृत हो जाती है परन्तु बसन्त उसको माता ही मानता रहा। काम न बनता देखकर चित्रावती बसन्त पर आरोप लगाकर उसे मरवाना चाहती है। राजा बाँदियों के साक्ष्य पर बसन्त को फाँसी की आज्ञा देता है। यह ज्ञात होने पर रूप स्वयं बसन्त के पास जाकर मृत्यु की इच्छा प्रगट करता है। मंत्री की बुद्धिमानी से दोनों को ऐसी फाँसी लगाई गई कि वे मृत्यु से बच गए।

शैली

लोक-नाटकों की विविध शैलियाँ हैं इनमें लीला-शैली, स्वांग-शैली, यात्रा-शैली, कीर्तन-शैली, भांड-शैली, विदेशिया-शैली, भवाई-शैली, गिद्धा-शैली प्रमुख हैं। प्रत्येक शैली में नृत्य और संगीत का विधान पृथक्-पृथक् रूप से होता है। स्थानीय रुचियों और स्थानीय संगीत-पद्धतियों में अन्तर होने के कारण शैली में अन्तर आ जाता है, किन्तु जहाँ तक कथा-वस्तु, नेता और रस का प्रश्न है प्रत्येक शैली

में समानता पाई जाती है। पांच-सात प्रमुख पात्र सम्पूर्ण नाटक का अभिनय नृत्य और संगीत द्वारा रात्रि के अधिकांश भागों तक दिखाते रहते हैं। सूत्रधार और प्रमुख पात्र आद्योपान्त रंगमंच पर विराजमान रहते हैं। संगीत और नृत्य में शास्त्रीय-अशास्त्रीय सभी पद्धतियों को स्थान मिलता है। स्थानीय प्रतिभा के बल पर नृत्य के प्रकार और संगीत के स्वर-प्रवाह में अन्तर पड़ता जाता है। मुख्य रूप से निम्नलिखित शैलियाँ भारत के विभिन्न भागों में दिखाई पड़ती हैं। सर्वप्रथम कीर्त्तनिया शैली में गायकवृन्द मंजरी या करताल लेकर अर्द्ध-वृत्ताकार रूप में खड़ा होता है। दोनों छोर पर दो संगीतज्ञ खोले बजाते हैं और शेष करताल। ठीक मध्य में पार्टी का नायक खड़ा होता है। नर्त्तक धोती, उत्तरीय और पगड़ी धारण करते हैं। किसी राग के अलाप के साथ-साथ मंजरी की ध्वनि गूँज उठती है। नायक के नृत्य प्रारम्भ करते ही सारी पार्टी नर्त्तन करने लगतीं है। नायक भक्ति-सम्बन्धी नाटक को कीर्त्तन के रूप में गाता जाता है। गायन के उपरान्त नर्तक कवि-भावों को नृत्य के द्वारा प्रदर्शित करता है और सभी पात्र उसी के साथ स्वर मिला कर 'कोरस' गाते जाते हैं।

नृत्य-नाटक

मणिपुर का नृत्य-नाटक लहरोवा कहलाता है। लहरोवा का अर्थ है देवताओं का नृत्य। नृत्य के आधार पर भरत के नाट्य-शास्त्र में वर्णित इन्द्र के ध्वजारोहण उत्सव की कथा-वस्तु प्रदर्शित की जाती है। मणिपुर के भैरंग गांव में प्रति वर्ष चैत्र-वैशाख मास में यह उत्सव ८-१० दिन तक चलता रहता है। इसका दूसरा कथानक है शिव और पार्वती के अवतार की कथा। इस कथा के नायक हैं खम्बा और नायिका थैवी। खम्बा और थैवी शिव-पार्वती के अवतार माने जाते हैं।

इस नृत्य नाटक में कथक नृत्य त्रिताल, एकताल और झपताल के साथ चलता है। गुरु सूर्य बाबासिंह ने प्राचीन परिपाटी में परिवर्तन किया और रुद्रताल, ध्रुपद-ताल, चौताल, आधा चौताल और धमार का भी इसमें मिश्रण किया।

भवाई

लोक-नृत्यों में भवाई का विशेष महत्व है। भवाई नाटकों के अभिनेताओं की एक जाति ही बन गई है जिन्हें भवाया अथवा तारगाला कहते हैं। ये लोग औदीच्य श्रीमाली और व्यास ब्राह्मण है। इनके इतिहास की प्राचीनता अनुसन्धान का विषय है। इतना तो स्पष्ट ही है कि पूना के पेशवाओं ने इस कला को प्रोत्साहन दिया था और इस शैली के नाट्यकारों को स्वर्ण उपवीत देकर सम्मानित और पुरस्कृत किया

था। आज से सौ वर्ष पूर्व गुजरात के प्रसिद्ध लेखक रावसाहब महीपत राम रूपराम ने भवाई-संग्रह नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया और इस मृतप्राय नाट्य-पद्धति को नवजीवन प्रदान किया।

टोला

भवाई के अभिनेता-दल को टोला कहते हैं। टोला में २० से अधिक पात्र नहीं होते। वे लोग एक गाँव से दूसरे गाँव आठ महीने तक भ्रमण करते हुए अभिनय दिखाते फिरते हैं। जिस गाँव में वे पहुँच जाते हैं वहाँ उत्सव-सा होने लगता है। ग्रामीण जनता उनके भोजन, प्रकाश और नाट्यशाला का प्रबन्ध करती है।

शिल्प

जिस प्रकार रास का प्रमुख वाद्य बाँसुरी है उसी प्रकार भवाई का वाद्ययंत्र मूगल है। पहले पखावज का प्रयोग होता था और सारंगी भी प्रयुक्त होती थी।

इस शैली में सात मुख्य तालों का प्रयोग किया जाता है...१ खोड़ भगड़ो २—उलालो ३—जेतमान ४—चलती (कहेरवा) ५—मान ६—पाधरोमान ७—दोटीयो पिस्तो।

सामान्यतः भवाई में गान सदा पंचम अथवा धैवत में गाया जाता है। इनमें निम्नलिखित मुख्य रागों का प्रयोग किया जाता है—माढ, परज, देश, सोरठ, सारंग साभरी, सोहनी, पुरवी, प्रभात, रामकली, विलावल, कालीगंडा, आसावरी, मारु। भजन, गरबा, रास, दुहा, दोहरा, साखी, सोरठा छप्पय, छंद और रेख़ता आदि की छटा भी दिखाई पड़ती है।

काव्य और संगीत

हम पूर्व कह आए हैं कि लोक-नाट्य लोक-नृत्य और संगीत पर आधृत है। उद्धरणों के द्वारा यह भी प्रमाणित किया जा चुका है कि लोक-नाटकों के गीतों में काव्यतत्व और संगीत-कला का किस अनुपात में सम्मिश्रण पाया जाता है।

यद्यपि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि चरम अवस्था पर पहुँच जाने पर काव्य-जन्य आनन्द और संगीत-जन्य आनन्द में कोई भेद नहीं रह जाता तथापि इस सिद्धान्त को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सामान्य स्थिति में इन दोनों में (अधिकारी-भेद के कारण) अन्तर अवश्य रहता है। इसका कारण क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत की स्थिति तीन रूपों—स्वर-लहरी, शब्द-संगीत और अर्थ-संगीत (भाव)—में सम्भव है। स्वर-माधुर्य और शब्द-संगीत तुरन्त सबका मन मुग्ध कर देते हैं, परन्तु अर्थ (भाव) संगीत अधिक मार्मिक होने से सबको सुलभ नहीं है। स्वरों के आरोह-अवरोह से उत्पन्न आनन्द और शब्द-संगीत के आनन्द में भी अन्तर

है। तान, ताल, मीड़, मूर्च्छना, बोल आदि का आनन्द शब्द-संगीत-जन्य आनन्द से भिन्न है। शब्द-संगीत और भाव-संगीत में भी अन्तर है। जिस प्रकार सामान्य जन शब्द-संगीत की अपेक्षा सुर-संगीत को कम मार्मिक समझता है, उसी प्रकार विद्वानों को शब्द-संगीत में भाव-संगीत से अल्प मात्रा में आनन्दानुभूति होती है। कारण यह है कि शब्द-संगीत में काव्य-तत्त्व की अपेक्षा संगीत की ओर अधिक ध्यान रहता है और भाव (अर्थ) संगीत में सहृदय के मर्म को अधिक स्पर्श करने वाला वह काव्य-तत्त्व विद्यमान रहता है जिसका प्रभाव स्थायी होता है। देखा जाता है कि कभी-कभी शब्द-संगीत भाव-संगीत का सहायक बन कर काव्य-तत्त्व को अधिक प्रोद्भासित कर देता है। वहाँ दोनों प्रकार के आनन्द की अनुभूति से श्रोता का आनन्द द्विगुणित हो जाता है। कविवर रवीन्द्र, प्रसाद और निराला के चुने हुए गीत इसके प्रमाण हैं। ऐसे दुर्लभ गीत लोक-नाटकों में तो क्या बड़े-बड़े विद्वानों के काव्यों में भी प्रायः अलभ्य हैं। संस्कृत-कवियों में भी कालिदास, भवभूति सरीखे बिरले ही कवि इसमें सफल हुए हैं।

जयदेव का प्रभाव

संस्कृत के जिस कवि का सबसे अधिक प्रभाव लोकभाषा के गीतों पर पड़ा है वह है कवि जयदेव। जयदेव के गीत-गोविंद ने मैथिल, व्रज, गुजराती, मराठी, द्रविड़ आदि सभी भाषाओं को प्रभावित किया। लोक-नाटकों पर सबसे अधिक प्रभाव इसी काव्य का पड़ा। इस काव्य में शब्द-संगीत को ही प्रधानता है। उदाहरण के लिए देखिए—

ललित लवंग लता परिशीलन—
कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल—
कूजित कुन्ज कुटीरे।

इस पद में शब्द-संगीत भाव-संगीत से अधिक शक्तिशाली है। इस प्रभाव के कारण लोक-नाटकों के गीत भी शब्द-संगीत पर ही अधिक बल देते है। बिरले कवियों की रचना में शब्द-संगीत भाव-संगीत का सहायक बनकर आता है। लोक-नाट्यकारों में ऐसे महाकवि युगों के बाद दर्शन देते हैं। लोक-जीवन में स्वर-संगीत और शब्द-संगीत के द्वारा श्रोताओं को आनन्दित करने वाले कवियों की प्रचुरता होती है। पर यह भी स्वीकार करना होगा शब्द-संगीत और भाव-संगीत के कलाकार भी सर्वथा दुर्लभ नहीं।

बिहार राज्य के भिखारी ठाकुर के गीतों में स्वर-माधुर्य, शब्द-संगीत एवं अर्थ-

संगीत का कहीं कहीं सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। कभी-कभी रासलीला में भी ऐसे पदों की रचना देखी जाती है। किन्तु लोक-नाटकों में शब्द-संगीत की ही प्रमुखता है। मैनागूजरी[1] में शाहज़ादा और मैनागूजरी के निम्नलिखित वार्तालाप से यह तथ्य कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

"शाहजादा—गुज्जर पै क्या मोही है, गुज्जर लोग गुआल।

मैना—गुज्जर गुज्जर बहुत भले मेरे,
शाही लोग के काल।
बादशाह ! शाही लोग के काल।"

यहाँ गूजर का गुज्जर, ग्वाल का गुआल रूपान्तर केवल शब्द-संगीत का प्रभाव लाने के लिए किया गया है।

संगीत स्याहपोश[2] में मंगलाचरण के अवसर पर कवि कहता है :

करन कष्ट सब नष्ट दुष्ट गंजन मंजन त्रैतापन।
शमन अमंगल मूल दमन क्रोधादि मान मद पापन।
अष्ट भुजी आठो भुज बिक्रम धारि स्वर्ग शर चापन।
असुर मारि भय टारि देव इन्द्रादि करे अस्थापन॥

नमामि रक्त गंजनी—सकल मुनिन रंजनी॥
उदय विज्ञान करो तुम।

गण दोषण शुभ अशुभ काव्य के लिखि अज्ञान हरो तुम॥

संगीत अमरसिंह राठौर में एक स्थान पर भल्लूसिंह शत्रुओं को युद्ध के लिए ललकारता हुआ कहता है:—

आज करूँ रणवंश उजागर हाथ उठाय के पैज सुनाऊँ।
ठठ्ठ के ठठ्ठ समट्टन कट्टि झपट्टि के लुत्थ पे लुत्थ बिछाऊँ॥
देकर हुंक निशंक बढ़ूँ न डरूँ रण मारहि मार मचाऊँ।
ताज समेत हनूं शिर शाह को तौ रजपूत को पूत कहाऊँ॥

शब्द संगीत की जो शैली अपभ्रंश में प्रायः उपलब्ध होती है लोक-नाट्य साहित्य में उसका यत्र-तत्र दर्शन होता है। "ठठ्ठ के ठठ्ठ समट्टन कट्टि झपट्टि के

---

(१) मैना गूजरी—भवाई नाटक के आधार पर
(२) संगीत स्याहपोश—पं० नथाराम शर्मा (मंगलाचरण)

लुत्थ पे लुत्थ बिछाऊँ" में शब्द-संगीत युद्ध-संगीत के साथ पूर्ण संगति रखने के कारण मनोहारी बन गया है।

रस

लोक-नाटकों की कथावस्तु के विविध स्रोत हैं। रामायण-महाभारत के प्रसंगों से लोक-कथाओं तक की घटनाएँ इनमें पाई जाती हैं। पौराणिक नाटकों में श्रवण-कुमार, नल दमयन्ती, कीचक-वध, नारद-मोह, शंकर-पार्वती-विवाह, अति प्रसिद्ध नाटक हैं। शृंगार रस के नाटकों में नौटंकी शहज़ादी, लैला-मजनू, हीर-रांझा, प्रेम-कुमारी गुंजपरी आदि प्रमुख हैं। रामायण और महाभारत की प्रायः सभी प्रमुख नाटकीय घटनाएँ नाटक का इतिवृत्त बन गई हैं। इस प्रकार वीर, शृंगार और करुण रस की प्रधानता के साथ प्रायः अन्य सभी रसों का समावेश हो जाता है। लोक-नाटकों में हास्य रस अपने ढंग का न्यारा होता है। इनमें शिष्ट हास्य की अपेक्षा ग्रामीण जनता की रुचि के अनुरूप अवहसित, अपहसित एवं अतिहसित की अधिक मात्रा रहती है। इसके लिए विदूषक की विलक्षण वेशभूषा (फटे चीथड़ों पर अंग्रेज़ी टोप) के अतिरिक्त उसका अंग-संचालन, आँख मटकाना, जीभ निकालना, भौं सिकोड़ना, कमर हिलाना, पैर फेंकना, आँखें फाड़ना, गधे जैसा रेंकना, ऊँट सदृश बलबलाना, बन्दर जैसी आकृति बनाना, उल्लू के समान देखना, पशु के समान देखना, पशु के समान खाना-पीना, सोने में खर्राटे भरना, हैं-हैं, ही-ही हँसना, कृत्रिम ढंग के रोदन करना, मूँछों का हवा में उड़ना, आधी मूँछ-दाढ़ी बनाना आदि उपायों का सहारा लिया जाता है।

लोक-नाटकों पर आरोप

शिष्ट समाज का एक वर्ग लोक-नाटकों को असंस्कृत, अशिष्ट और असुन्दर समझ कर त्याज्य मानता है। दूसरा कला-प्रेमी-वर्ग लोक-जीवन से प्रभावित होकर कहता है—"सच तो यह है कि जब हम इन कोल, संथालों और आदिवासियों का रहन-सहन, नृत्य-संगीत आदि देखते हैं, जब हम लोक-गीतों की सुन्दर मधुर तानें सुनते हैं, जब हम अहीरों, चमारों, धोबियों का नाच देखते हैं......तो हमें यह निश्चय करना मुश्किल पड़ जाता है कि अधिक सभ्य और सुसंस्कृत कौन है? ये तथा-कथित पिछड़े लोग, या हम तथाकथित स्वनाम-धन्य नागरिक लोग।"

लोक-नाट्य और तथाकथित शिष्ट नाट्य-साहित्य में भावगत एवं तंत्रगत अंतर है। इस अन्तर का मूल कारण है कि लोक-नाटक सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोक-कथानकों, लोक-विचारों और लोकतन्त्रों को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत शिष्ट जनों का

नाट्य-साहित्य व्यक्ति की आवश्यकताओं और प्रेरणाओं का परिणाम होता है। लोक-नाटक सदा विकासोन्मुख होने के कारण सम-सामयिकता का ध्यान रखता है, उसमें परम्परा के साथ सामयिक प्रेरणा का निर्वाह होता है, वह पूरे समाज के जीवन-चरित्र, स्वभाव, विचार, आदर्श आदि को चित्रित करने, अभिव्यक्त करने, रूपरंग देने में समर्थ होता है। इसके प्रतिकूल जब-जब शिष्ट नाट्यकार लोक-जीवन से अनभिज्ञ रह कर अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के बल पर नाटक-शास्त्र के सिद्धान्तों के परिपालन में संलग्न हो जाता है तो वह पिटी-पिटाई लकीर पर चलता रहता है और उसका साहित्य जनजीवन को प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता। लोक-नाट्य में प्रौढता एवं गाम्भीर्य भले ही न हो पर उसमें स्वाभाविकता और सरलता है, स्पष्टता और मधुरता है, इन नाटकों के प्रतीकों में नवीनता और सुन्दरता है। तात्पर्य यह कि लोक-नाट्य में सामुदायिक जीवन की मर्यादा के साथ सजीवता, सजगता, आस्था, विश्वास, सारल्य और सत्य-निष्ठा है। किन्तु शिष्ट नाटकों में वैयक्तिक अनुभूति के साथ व्यक्तिगत मर्यादा, समस्याओं की गम्भीरता, विचारों की सूक्ष्मता है। लोक-नाटकों पर सबसे बड़ा आरोप अश्लीलता विषयक है। कहा जाता है कि लोक-नाटकों की कथा-वस्तु निकृष्ट होती है और उसका हास्य भद्दा और भोंडा होता है, उसके मनोविनोद की शैली अशिष्ट एवं अशास्त्रीय होती है।

तथ्य तो यह है कि उक्त आरोप लोक-नाटकों पर ही नहीं शिष्ट नाटकों पर भी लगाया जा सकता है। जिस प्रकार तथाकथित शिष्ट नाट्य-साहित्य में अशिष्ट साहित्य प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ता है उसी प्रकार लोक-नाट्य-साहित्य में भी उच्च कोटि का शिष्ट साहित्य प्रचुरता से उपलब्ध है। इस साहित्य से सर्वथा अपरिचित रहने के कारण ग्राम्य जनता को सर्वया अपढ़ और मूर्ख मानकर यह धारणा बना ली गई है। इसमें सन्देह नहीं कि लोक-नाटकों की भाषा अलंकृत और पांडित्यपूर्ण नहीं होती, लोक-नाटकों के छन्द दूषित और स्वच्छन्द हैं किन्तु उनकी विशेषताओं की अवहेलना कर केवल दोष-दर्शन से उनके साथ न्याय नहीं होगा। शेरिफ महोदय के विचारानुसार लोक नाटकों की भाषा स्पष्ट, उपयुक्त है, इनके गीत स्वाभाविक, नाटकीय करुण, हास्य, प्रेम, एवं त्रासद तत्त्व से पूर्ण हैं। वे लिखते हैं :—

"The metre is rough and ready, but the language itself is musical and expressive : it is a language which calls a spade a spade in the sense that there is one word for each material object, each action or each sentiment described, and that word is the right one. The songs are

natural and dramatic and abound in pathos and humour, in romance and tragedy.

विशेषताएँ

लोक-नाटककार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह विशिष्ट नियमों, रूढ़ियों, अन्ध परम्पराओं एवं मान्यताओं के बन्धनों को तोड़ता हुआ प्रकृति के समान मुक्त बना रहता है। उसकी पर्यवेक्षण-शक्ति विलक्षण होती है। वह व्यक्ति की नहीं समाज की आवश्यकताओं, उसकी सांस्कृतिक और बौद्धिक आकांक्षाओं, रुचियों, आदर्शों के अनुरूप अपने को सदैव बदलता है। "फलतः उसका विकास-क्रम कभी अवरुद्ध होकर जड़ीभूत नहीं बना, वह प्राणवन्त और गतिशील होता गया। वह आनन्द का कारण और मनोरंजन का साधन, प्रेरणा का स्रोत और कर्तव्य-परायणता का माध्यम बना रहा।"

इन नाटकों ने लोक-जीवन को संयत एवं सुखी बनाने का सदा प्रयास किया है। सरस गीतों के माध्यम से नीति-धर्म के उपयोगी सिद्धान्तों को अवगत कराने में लोक-नाटकों का बड़ा हाथ रहा है।

स्याहपोश नामक संगीत नाटक में एक स्थान पर गबरू पातिव्रत धर्म के सिद्धान्त को इस प्रकार समझाता है :—

आगम निगम पुराण में, किया व्यास निरधार।
उत्तम मध्यम नीच लघु, धर्म पतिव्रत चार॥

धर्म पतिव्रत चार परस्पर श्रुति पुराण यों गावैं।
उत्तम पति के सिवा स्वप्न में हूँ परपति पास न जावैं॥
मध्यम को परपती पिता सुत भ्राता तुल्य दिखावैं।
बचे समझ कुलकान लघु अधम अवसर को नहिं पावैं॥

लोक-साहित्य के अध्ययन का निरन्तर प्रचार इस बात का प्रमाण है कि शिष्ट साहित्य और 'गाम्यगिरा' का भेदभाव क्रमशः विलीन होता जा रहा है। जिस प्रकार संस्कृत के विद्वानों ने प्रारम्भ में प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की उपेक्षा की किन्तु कालान्तर में इसकी बलवती शक्ति की परख हो जाने पर स्वागत किया, उसी प्रकार हिन्दी खड़ी बोली के विद्वान् लोक नाट्य-साहित्य को जनता के क्षणिक मनोरंजन का केवल साधन ही नहीं मानते उसे भारतीय जन-जीवन के दर्पण के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। लोक-नाट्य-साहित्य इतना विशाल और महत्वपूर्ण है कि इसमें भारतीय संस्कृति का सहज रूप देखा जा सकता है। इसमें सहस्र वर्षों तक सहिष्णु बने रहने

वाले कृषकों के जीवन-दर्शन का पता लगाया जा सकता है। लोक-नाटकों में वे तत्त्व निहित हैं जो समय-समय पर देश-काल के अनुरूप जीवन्त साहित्य प्रस्तुत करके लोक-जीवन को रस-संपृक्त करते रहे। यदि सहानुभूति के साथ इस विशाल साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो इस रंगमंच के भीने आवरण से हमारे लोक-जीवन का शताब्दियों का इतिहास झाँकता हुआ दिखाई पड़ेगा। देश के विशाल जनसमूह की आशा-आकांक्षा, विजय-पराजय, आचार-व्यवहार, साहस-संघर्ष आदि की जीवित कहानी मुखरित हो उठेगी।

डा० हजारीप्रसाद के शब्दों में लोक-नाटकों का समस्त महत्व उनके काव्यसौंदर्य-तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है, एक विशाल सभ्यता का उद्‌घाटन, जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूबी हुई थी या ग़लत समझ ली गई है। जिस प्रकार वेदों द्वारा आर्य सभ्यता का ज्ञान होता है उसी प्रकार ग्राम-गीतों द्वारा आर्य-पूर्व सभ्यता का ज्ञान होता है। ईंट-पत्थर के प्रेमी विद्वान् यदि धृष्टता न समझें तो ज़ोर देकर कहा जा सकता है कि ग्राम-गीत का महत्व मोहेंजोदाड़ो से कहीं अधिक है। मोहेंजोदाड़ो सरीखे भग्न स्तूप ग्राम-गीतों के भाष्य का काम दे सकते हैं।

इसी प्रकार राल्फ विलियम्स ने एक बार कहा था—"लोक-साहित्य न पुराना होता है, न नया। वह तो उस वन्य वृक्ष के सदृश होता है जिसकी जड़ें अतीत की गहराइयों में घुसी होती हैं, मगर जिसमें नित नई शाखाएँ, नई पत्तियाँ, नए फल निकलते रहते हैं।"
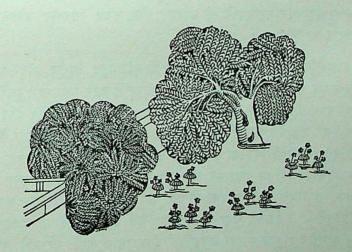
हिन्दी में एकांकी का स्वरूप

—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

जिन स्थितियों और प्रेरणाओं ने हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में कहानी को विकास दिया, उन्हीं तथ्यों ने हिन्दी नाटक-क्षेत्र में एकांकी को जन्म दिया—यह स्थापना कहानी के लिये चाहे जितनी सत्य हो, पर जहाँ तक वैज्ञानिक दृष्टि जाती है, यह निष्कर्ष हिन्दी एकांकी के लिए एक विचित्र असंगति उत्पन्न करने वाला है। यह अति व्यापक निष्कर्ष एकांकी अध्ययन और इसके स्वरूप के अल्पांकन में इतने गहरे पैठकर आये दिन आलोचनाओं में पढ़ने को मिलता है कि जिनसे हिन्दी एकांकी के महत्व और प्रतिमान का स्तर झुकने लगता है।

हिन्दी एकांकी और कहानी, इन दोनों कलाओं के उदय के पीछे आन्तरिक रूप से दो विभिन्न प्रेरणायें और शक्तियाँ कार्य कर रही थीं। दोनों माध्यमों के दो अलग अलग उत्स भी थे। बाह्य दृष्टि से, निस्सन्देह, यंत्रयुग की द्रुतगामिता, दैनिक जीवन के कार्यभार का व्यक्ति पर प्रभाव और इनसे समूचे जीवन में परिवर्तन—इस सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति तथा मनोरंजन का प्रतिनिधित्व इन दोनों कलाओं ने किया।

पर हिन्दी में एकांकी का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से भी कहानी से बहुत बाद में हुआ—अर्थात् प्रथम महायुद्ध के भी उपरान्त; जिस समय भारतीय जीवन में एक अद्भुत् तनाव आ चुका था।

राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता-संग्राम की गति बहुत व्यापक और गहरी हो चुकी थी, अर्थात् राष्ट्रीय संग्राम दर्शन बन कर जीवन में उतर चुका था। दूसरी ओर अंग्रेज़ों की दमन नीति उग्र से उग्रतर हो चली थी। शासक की अर्थ-नीति और शासन नीति में नये-नये दाँव-पेंच लागू हो चुके थे। मध्यकालीन सामन्तीय व्यवस्था के उपरान्त भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था बड़ी तेज़ी से उभर रही थी। फलस्वरूप विशुद्ध भौतिक धरातल पर विचित्र द्वन्द्वात्मक सत्य का जन्म होने लगा था। समूचा जीवन, अपने नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सौन्दर्य, बोध के आयामों में बिल्कुल एक परिवर्तित परिस्थितियों से टकराने लगा था। वस्तुतः उस टकराहट में पाश्चात्य जीवन-दर्शन और भारतीय दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक विचारधारा कार्य कर रही थी और इस प्रक्रिया में जो नया उन्मेष तत्कालीन समाज को मिल रहा था, उसका स्वर और

स्तर उस स्वर और स्तर से अपेक्षाकृत अधिक सघन, उच्च और गहरा था जो हिन्दी कहानियों के जन्म अथवा आविर्भाव के समय के समाज में व्याप्त था।

इस सत्य का सबसे बड़ा प्रभाव आविर्भाव-काल ही से हिन्दी एकांकी पर यह पड़ा कि इसका स्वरूप नितांत मौलिक और इसका स्वर नितांत यथार्थवादी रहा। जीवन का जैसा तनाव, जितना द्वन्द्व इस माध्यम से अभिव्यक्त हुआ, वह अपने आप में अपूर्व था, नितान्त मौलिक। शिल्पविधि निस्सन्देह पश्चिम से ग्रहण की गई लेकिन जिस साहित्यिक परम्परा, जिन सहज शक्तियों से हिन्दी एकांकी की उपलब्धि हुई वे विशुद्ध रूप से अपनी हैं, स्वजातीय हैं, उसके सारे संस्कार अपने हैं, वे सारे स्वर अपने हैं।

इस दृष्टि से हिन्दी एकांकी के स्वरूप में अपनी मौलिकता और सहज विकास की छाप आदि से ही है। इस सत्य के आकलन के लिए हमें, हिन्दी के सर्वप्रथम एकांकी 'एक घूँट' से पूर्व की नाट्य-स्थितियों को देखना होगा। अर्थात् इससे पहले भारतेन्दु, 'प्रसाद' आदि द्वारा लिखे गए सम्पूर्ण नाटक, रंगमंच की धारा का क्या स्वरूप था ? हिन्दी एकांकी के स्वरूप को पहचानने के लिये अपनी उस उपलब्धि को देखना होगा, जिसे हम किन्हीं अर्थों में हिन्दी एकांकी की विरासत कह सकते हैं।

भारतेंदु का नाम और उनकी सृजनशीलता के फलस्वरूप समूचा भारतेंदु-काल हिन्दी नाटक के विकास का प्रथम चरण है। इस चरण में नाट्य-कला की परम व्यावहारिकता—अर्थात् रंगमंच—की दिशा में आगे चलते ही पारसी रंगमंच की तूती बोल उठती है। इस विरोधी स्थिति के सम्मुख नाटककार भारतेन्दु ने जो निर्णय लिया, उसमें प्रतिक्रिया अधिक थी, दूरदर्शिता और व्यावहारिकता कम। भारतेंदु ने अपने नाटकों का सृजन संस्कृत-नाटकों की प्रणाली से किया और उनमें भारतीय नाट्य-शास्त्र की स्थापना पर खूब बल भी दिया। इसका फल यह हुआ कि नाटकों का स्वर विशुद्ध साहित्यिक हो गया और उनके धरातल से स्पष्ट हो गया कि वे नाटक दर्शन की वस्तु न रह कर केवल पठन-पाठन के सत्य बनकर रह गये। यह सत्य किसी-न-किसी रूप में समूचे भारतेन्दु-काल के नाटकों पर लागू है। साहित्यिक नाट्य-धारा पठन-पाठन की नाट्य-धारा—इस तरह हिन्दी नाटकों की ऐसी परम्परा स्थापित हुई कि उसके विकास-क्रम में आगे की समूची धारा उसी दिशा में अबाध हो गयी। भारतेन्दु के बाद प्रेमघन, फिर मिश्र-बन्धुओं के नाटक 'महाभारत' और 'नेत्रोन्मीलन' माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' और मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' और इस विशुद्ध साहित्यिक नाट्य-धारा की चरम सीमा प्रसाद का नाट्य-साहित्य। यह समूची धारा जैसे रंगमंच से असम्पृक्त धारा थी—एक तरह से प्रतिक्रिया का धारा थी यह ! क्योंकि

दूसरी ओर विशुद्ध रंगमंच की भी धारा अबाध गति से चल रही थी—आग़ा हश्र, बेताब, जौहर, शैदा तथा कथावाचक राधेश्याम का व्यक्तित्व इस धारा में अनन्य उदाहरण थे। और इनको रंगमंच भी मिला था तो वही अति व्यावसायिक पारसी रंगमंच जिसकी रंगमंच की पद्धति नितांत अकलात्मक थी।

इस तरह से हिन्दी एकांकी के जन्म के समय हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में दो सत्य उपलब्ध थे :

(अ) भारतेन्दु, प्रसाद की विशुद्ध साहित्यिक नाट्य-धारा—ऐतिहासिक, पौराणिक संवेदनाओं और वर्ण्य विषयों की स्थापना।

(आ) आग़ा हश्र, शैदा आदि के माध्यम से अनुचालित विशुद्ध व्यावसायिक पारसी रंगमंच का सत्य।

ध्यान देने की बात है—कि दोनों ओर 'विशुद्ध' जुड़ा हुआ है। इस 'विशुद्ध' ने इतना भयानक व्यवधान नाटक और रंगमंच के बीच डाल दिया कि हम आज भी उस दिशा में दरिद्र हैं।

पर हिन्दी एकांकी अपने आविर्भाव के साथ ही एक ऐसे समन्वयात्मक सत्य को लिये आया कि रंगमंच और एकांकी रचना दोनों के सूत्र जैसे उसकी गाँठ में संस्कारतः बँधे थे। जैसे रंगमंच और एकांकी रचना दोनों एक दूसरे के अनिवार्य तत्त्व थे—शरीर और आत्मा की भाँति। भुवनेश्वर का 'कारवाँ' और डाक्टर रामकुमार वर्मा की 'रेशमी टाई' इन दो एकांकी-संग्रहों के एक-एक एकांकी उक्त स्थापना के अनन्य उदाहरण हैं।

भाव-पक्ष अथवा वर्ण्य विषयों की दृष्टि से इनके स्वरूप पर यथार्थ सामाजिकता और तत्कालीन जीवन के द्वन्द्वात्मक उद्वेलनों और जीवनगत मूल्यों की अभिव्यक्ति के प्रति सच्चा आग्रह है। कलापक्ष पर आधुनिक नाट्य-शैली की सफल छाप है। 'इब्सन' और 'शॉ' की शिल्प-विधियाँ और रंगमंच की व्यावहारिकता का सत्य—ये दोनों बातें यहाँ उभर कर आयी हैं। इस तरह हिन्दी एकांकी के स्वरूप में आदि से ही यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व रंगमंच की व्यावहारिकता और युग की कटु सामाजिकता के प्रति जागरूकता और उसकी निश्छल अभिव्यक्ति के लिये कलागत आग्रह—ये तत्त्व हिन्दी एकांकी के स्वरूप के मूलाधार हैं।

आगे चलकर इस स्वरूप के कई पक्ष हिन्दी एकांकी-साहित्य में विकसित होते हैं। समस्त पक्षों को अध्ययन की दृष्टि दो सरणियों में बाँटा जा सकता है।

(अ) ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता के धरातल पर साहित्यिक एकांकी, पर विशुद्ध साहित्यिक नहीं—रंगमंच की व्यावहारिकता और उसके सत्य से निस्संग। इस सरणि में डाक्टर रामकुमार वर्मा के समस्त ऐतिहासिक एकांकी हैं जैसे, 'पृथ्वीराज की आँखें' 'चारुमित्रा' 'रजत-रश्मि' 'ऋतुराज' और 'कौमुदी महोत्सव' आदि संग्रहों के एकांकी। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के एकांकी, जिनकी संवेदनाएं मध्यकालीन ऐतिहासिक कथाओं से ग्रहण की गई हैं, और इसी तरह सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट और लक्ष्मीनारायण मिश्र के भी नाम इसी क्रम में आते हैं।

(आ) यथार्थ सामाजिकता के स्वर से परम अभिनेय एकांकी। इस सरणि में उदाहरण हैं भुवनेश्वर का 'कारवाँ', डा० रामकुमार वर्मा की 'रेशमी टाई', सेठ गोविन्ददास का 'नवरस' 'स्पर्धा' 'एकादशी' 'सप्तरश्मि' और 'चतुष्पथ', उदयशंकर भट्ट का 'समस्या का अन्त', 'चार एकांकी', भगवतीचरण वर्मा के 'दो कलाकार', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'देवताओं की छाया में'। इस सरणि में इसी खेवे के दो-तीन नाम—उग्र, सद्-गुरुशरण अवस्थी और गणेशप्रसाद द्विवेदी—नहीं छोड़े जा सकते।

इन दोनों दिशाओं में हिन्दी एकांकी को जो कलागत, शिल्पगत और रंगमंच-गत स्वरूप मिले हैं, वस्तुतः वे परम उल्लेखनीय हैं। उन्हीं उपलब्धियों से ही हिन्दी एकांकी को आज एक आश्चर्यजनक मर्यादा और ख्याति मिली है।

पहली दिशा में 'संकलन-त्रय' और 'संकलन-द्वय' की प्रतिष्ठा इसके स्वरूप की मूल धुरी है, जहाँ एकांकी का समूचा संविधान उससे प्रेरित होता है।

डा० रामकुमार वर्मा की कला के अनुसार संकलन-त्रय एकांकी कला की मूल आत्मा है। जिस एकांकी में इस सत्य का निर्वाह नहीं, वह एकांकी न होकर कुछ और है, ऐसी उनकी निश्चित धारणा है। इसके सफलतम उदाहरण में डा० रामकुमार का समूचा एकांकी साहित्य रखा जा सकता है। संकलन-त्रय की पूर्ण प्रतिष्ठा के ही फल स्वरूप उनकी एकांकी कला में एक आश्चर्यजनक कसाव और प्रभविष्णुता स्थापित हुई है, और उससे नाटकीय परिस्थितियों की सुन्दर से सुन्दर अवतारणा हुई है। लेकिन व्यापक स्तर पर विशुद्ध रचना-विधान की दृष्टि से डा० वर्मा की यह अटल धारणा एकांकी कला में कोई प्रगति नहीं दे सकती। स्वभावतः उनकी कला एक रूढ़ि है जो एकांकी कला की गत्यात्मकता को सीमा और कठोर नियमों में बाँध देती है।

इसके विपरीत सेठ गोविन्दास ने संकलन-त्रय में से केवल संकलन-द्वय—(१) एक ही काल की घटना (२) एक ही कृत्य—को ही एकांकी की शिल्प-विधि में आवश्यक

माना है। इसमें उन्होंने देश-संकलन को बिल्कुल स्थान नहीं दिया है। आगे चलकर उन्होंने एकांकी-शिल्प में से काल-संकलन को भी अलग कर दिया है, तथा इसकी पूर्ति के लिये एकांकी रचना-विधान में 'उपक्रम' और 'उपसंहार' की प्रतिष्ठा की है। निस्संदेह इस नव विधान से एकांकी कला के स्वरूप को व्यापकता और गत्यात्मकता मिली है, पर इससे एकांकी की अपनी निश्चित कला में जो उसकी अपनी मर्यादा है, निर्बलता आती है।

दूसरी दिशा में एकांकी-कला के स्वरूप को आश्चर्यजनक शक्ति और व्यापकता मिली है, जिस पर मौलिकता और अभिनय तत्त्व की सफल छाप है। यह कला हमारे जीवन को इतने समीप से, इतनी सच्चाई और सांकेतिक सम्पूर्णता से बाँध कर चलती है कि जीवन अपने शतदलों सहित जैसे खिल उठता है। इस विधान के स्वरूप में एकांकी का एकांत प्रभाव और वस्तु का ऐक्य ही अनिवार्य है, शेष देशकाल की एकता या विभिन्नता या तो एकांकी की संवेदना पर निर्भर करना है, अथवा एकांकीकार की प्रतिभा पर। सफल शिल्प-विधि की दृष्टि से परम शिल्पी एकांकीकार वही है जो जीवन के एक पक्ष, एक घटना, एक परिस्थिति को उनकी ही स्वाभाविकता से अपनी कला में बाँध ले, सँवार ले जैसा कि जीवन में नित्यप्रति सम्भाव्य है। इसके लिये संकलन-त्रय संकलन-द्वय की सीमा और मर्यादा का कोई बंधन नहीं है। सब की अपेक्षा है, और अमान्य स्थितियों में सब अग्राह्य भी हैं—केवल परम आवश्यक है एकांकी में एकाग्रता और एकांत प्रभाव। इसकी प्राप्ति के लिए एकांकीकार जो भी तंत्र उसमें प्रस्तुत करता है, वस्तुतः वही एकांकी की शिल्प-विधि है, और वही एकांकीकार की अपनी मौलिकता की छाप है।

इस सूत्र के विकास-क्रम में हिन्दी एकांकी-साहित्य का दूसरा चरण नयी पीढ़ी के एकांकीकारों का आरम्भ होता है। इस चरण में कुछ नाम प्रथम चरण के भी आते हैं, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और जगदीशचन्द्र माथुर। इस चरण में जितने नये नाम हिन्दी एकांकी के साहित्य को मिले हैं, उनसे जो स्वरूप हिन्दी एकांकी कला को मिलने जा रहा है, वह अभी परीक्षा और प्रतीक्षा का विषय है और जितनी उपलब्धि और उससे जितना स्वरूप हिन्दी एकांकी को अब तक मिल चुका है, वह निश्चय ही देखा जा सकता है।

इस नयी पीढ़ी को जो चेतना, और मनोभाव मिले हैं, उन से विकास-क्रम में, द्वितीय महायुद्ध, उससे प्राप्त जीवन की चातुर्दिक् प्रतिक्रियाएँ और प्रभाव, स्वतंत्र क्रांति, स्वतंत्रता-प्राप्ति के चरण हैं। और उसके उपरान्त की वे सभी स्थितियाँ भी

अमिट हैं जिन का मानव-मूल्यों, जीवन-स्वर, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय नवचेतना पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है।

जनता की चेतना तथा जीवनगत मूल्यों पर राजनीति-अर्थनीति का आश्चर्य-जनक प्रभाव पड़ा है। उसके सारे नैतिक, सामाजिक दृष्टिकोणों में ध्वंस और विघटन प्रस्तुत हुआ है। उसकी रुचि तथा रंजन-वृत्ति पर देश-विदेश के चित्रपट, रेडियो का अतर्क्य प्रभाव पड़ा है।

नयी पीढ़ी का एकांकीकार प्रायः सभी पूर्व-पश्चिम के देशों के नाटक—एकांकी साहित्य—के सीधे सम्पर्क में आया है। उसने चेखव, टाल्सटाय, ज़ाँ पॉल सार्त्र, 'ओनील', 'स्ट्रिंडबर्ग', 'सरोयान', 'आर्थर मिलर', 'नोप्लेज़ आफ़ जापान', 'जे. एम. बेटी' 'जे. एम. सिंज', तथा 'टेनसी विलियम' आदि जैसे समर्थ और शक्ति-शाली नाटककारों को पढ़ा है। उसे एक नया आयाम मिला नाटक-शिल्प का, सम्भावना और क्षेत्र का, उपलब्धि और विकास का।

इस प्रेरणा और प्रगति में जो उपलब्धि अपनी मौलिकता और निजत्व के आग्रह और अनुभूति से इस चरण ने हिन्दी एकांकी-साहित्य को दी है, उसके उदाहरण में ये नाम और उनकी रचनाओं की कुछ बानगी इस प्रकार है — उपेन्द्रनाथ 'अश्क : 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'चिलमन', 'भँवर'। जगदीशचन्द्र माथुर–'कबूतर खाना', 'ओ मेरे सपने' और 'घोंसले'। धर्मवीर भारती : 'नदी प्यासी थी', 'सृष्टि का आखिरी आदमी', 'नीली झील'। विष्णु प्रभाकर—'मीना कहाँ है', भारतभूषण अग्रवाल —'महाभारत की साँझ', 'और खाई बढ़ती गयी।' सिद्धनाथ कुमार—'सृष्टि की साँझ', 'बादलों का शाप', लक्ष्मीनारायण लाल—'शरणागत', 'मैं आइना हूँ' 'सुबह से पहले।'

इसके अतिरिक्त नये नाम, स्वर ये भी हैं—हरिश्चन्द्र खन्ना; कर्तारसिंह दुग्गल, मोहन राकेश, और अनन्त कुमार पाषाण।

इस चरण से हिन्दी एकांकी को अब तक जो स्वरूप मिला है, उसमें कला और टेकनीक के स्तर पर आश्चर्यजनक सफल प्रयोगशीलता, विभिन्नता और उत्तरोत्तर अपनी कला को गतिशीलता देने का आग्रह सर्वत्र व्याप्त है। अभिनय और रंगमंच की चेतना इतनी तीव्रतर हो गई है कि एकांकी रचना और विधान का स्वरूप प्रथम चरण की अपेक्षा बहुत भिन्न लगने लगा है। निर्देश अंश, कथोपकथनों की सूक्ष्मता, प्रवेश-प्रस्थान पर अत्यधिक बल, नारकीय परिस्थितियों का सूक्ष्म चयन और उनका पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से निर्वाह—इस चरण के एकांकियों के स्वरूप की पहचान है।

ध्वनि-एकांकी अथवा रेडियो-एकांकी इस चरण के एकांकी-स्वरूप की दूसरी बड़ी पहचान है। और इस माध्यम की कलागत स्वीकृति इसकी व्यापकता का एक उदाहरण भी है।

भाव-पक्ष अथवा विषय-क्षेत्र में भी जो उपलब्धि, फलस्वरूप जो स्वरूप हिन्दी एकांकी को मिला है वह कलागत-शिल्पगत उपलब्धि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण और शुभ है। आज के व्यक्ति, समूचे मानव स्वभाव और कर्म-प्रेरणाओं के सूक्ष्म संकेत और उद्भावना से लेकर समस्त सामाजिक वैषम्य, संघर्ष और विघटन- परिवर्तन और नये मानव-मूल्यों तक एकांकीकार की संवेदना सफलता से पहुँच जाने में सफल है।

हिन्दी एकांकी का इतिहास अभी मुश्किल से तीन दशकों का है। इतनी कम अवधि में इस अभिनव माध्यम ने इतना शक्तिशाली स्वरूप पा लिया है—यह सत्य इसे एक निश्चित व्यक्तित्व देता है। और हमारे सामने अपने स्वरूप के ऐसे मंगलमय भविष्य की आशा बाँधता है कि जिसके आधार से हम एक दिन अपने भारतीय रंगमंच को एक उज्ज्वल दिशा दे सकेंगे।

अभी तो, इसके स्वरूप में अपनी ऐसी मौलिकता और गहनता है कि जिसके सामने बँगला, मराठी, गुजराती आदि एकांकी साहित्य बिल्कुल और स्तर के लगने लगे हैं। हम बड़ी सफलता से अपने एकांकी-साहित्य को भारतीय एकांकी-साहित्य का प्रतिनिधि-स्वरूप कह सकते हैं, इसमें कोई संशय अथवा मोह नहीं, यह वस्तु-सत्य है और यह सत्य हिन्दी एकांकी-साहित्य के अभिनव स्वरूप की प्रेरणा और उपलब्धि के आधार को लिये हुये है।

संकलन-त्रय

—डॉ० कन्हैयालाल सहल
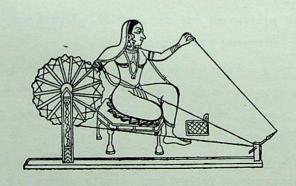
नाट्यालोचन में पुराकाल से समय, स्थान और कार्य के संकलनों की चर्चा होती आई है। अरस्तू के 'काव्य-शास्त्र' में तीनों संकलनों का उल्लेख मिलता है। महाकाव्य और दुःखान्त नाटक के अंतर को स्पष्ट करते हुए अरस्तू ने बतलाया है कि दुःखान्त नाटक में यथासाध्य घटना को एक दिवस अथवा अपेक्षया कुछ अधिक काल तक सीमित कर देने का प्रयास देखने में आता है जब कि महाकाव्य में समय का ऐसा कोई बंधन नहीं होता[1]।

अरस्तू के उक्त उल्लेख में एक प्रचलित प्रथा का निर्देश मात्र है, समय-संकलन जैसे किसी नाटकीय नियम की व्यवस्था नहीं। इसके अतिरिक्त जिस प्रचलित प्रथा का निर्देश किया गया है, उसका भी, प्राचीन नाटकों में, सर्वत्र दृढ़ता से पालन नहीं हुआ है, प्राचीन नाट्यकारों की कृतियों में इसके भी अनेक अपवाद देखने को मिलते हैं।

दुःखान्त नाटकों में घटना को एक दिवस-पर्यन्त सीमित कर देने की जो बात ऊपर कही गई है, उस प्रसंग में अरस्तू ने एक दिवस के लिए 'सूर्य के केवल एक संक्रमण' (A single revolution of the sun) का प्रयोग किया है। 'सूर्य के केवल एक संक्रमण' का तात्पर्य २४ घण्टों से है अथवा १२ घण्टों से—इसको लेकर भी समीक्षकों में बहुत मतभेद चला। कार्नील ने २४ घण्टों के पक्ष में अपना मत प्रकट किया किन्तु अरस्तू के प्रमाण के आधार पर ही कुछ खींचातानी करके उसने ३० घण्टों की अवधि निर्धारित की, यद्यपि इस अवधि को भी उसने अवरोधक ठहराया। डेसियर (Dacier) ने इस अवधि को १२ घण्टों की माना और कहा कि ये १२ घण्टे दिन या रात, किसी के भी हो सकते हैं अथवा दोनों के आधे-आधे हो सकते हैं। उसकी दृष्टि में दुःखान्त नाटक का आदर्श तभी उपस्थित होगा

1 Epic poetry and tragedy differ, again, in their length : for tragedy endeavours, as far as possible, to confine itself to a single revolution of the sun, or but slightly to exceed this limit; whereas the epic action has no limits of time. (Poetics. Chapter V.)

2. द्रष्टव्य Aristotle's theory of Poetry and Fine Art by S. H. Butcher pp. 290-291

जब यथार्थ और नाटकीय जगत की घटनाओं के काल-यापन में समीकरण स्थापित हो जाय। किन्तु समय-संकलन के निर्वाह में इस प्रकार की कठोरता का पालन एक प्रकार से अव्यावहारिक ही रहा।

स्थान-संकलन से तात्पर्य यह है कि नाटक में ऐसे किसी भी स्थान पर कार्य-व्यापार नहीं होना चाहिए, जहाँ नाट्य-निर्दिष्ट समय में नाटक के पात्र यातायात करने में असमर्थ हों। अतः स्थान-संकलन के निर्वाहार्थ नाटकीय कार्य-व्यापार एक नगर या एक ऐसे स्थल तक ही सीमित हो जाता था जहाँ कार्यवश सभी आवश्यक पात्रों का समावेश हो जाता। इस संकलन का चरम आदर्श संभवतः वहाँ उपस्थित होता था जब एक ही कमरे में राजा से लेकर गरीब तक का समावेश करवा दिया जाता।

अरस्तू ने अपने 'काव्य-शास्त्र' में स्थान-संकलन का दूरस्थ संकेत-मात्र किया है[1]। सामान्यतः यह समझा जाता है कि स्थान-संकलन का सिद्धान्त समय-संकलन से ही उद्भूत हुआ है।

कार्य-संकलन का अभिप्राय यह है कि नाटक में ऐसी किसी भी घटना का समावेश नहीं होना चाहिए जिसका नाटक की प्रमुख घटना से सम्बन्ध न हो। नाट्य-कार का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कृति को आदि, मध्य और अन्त-समन्वित एक अखण्ड सृष्टि के रूप में प्रस्तुत करे। इस सम्बन्ध में लावेल का कहना है कि जिस तरह शरीर के एक अंग का दूसरे के साथ सम्बन्ध है, उसी तरह का पारस्परिक संयोजन और सम्बन्ध नाटक के विभिन्न भागों में होना चाहिए। नाटक का संस्थान ऐसा होना चाहिए जिसमें संश्लेषण की अनिवार्यता और समन्विति का पूर्ण निर्वाह हुआ हो। नाट्यकार को इस ओर बराबर अपनी दृष्टि रखनी चाहिए कि नाटक का ढाँचा निरा यांत्रिक न बन जाये जिसमें एक अंश दूसरे अंश के साथ यों ही, बिना किसी नियम के, अललटप्पू जोड़ दिया गया हो[2]।

अरस्तू ने यद्यपि नाटक में कार्य-संकलन को ही अनिवार्यतः आवश्यक ठहराया था तथापि समय और स्थान-संकलन का अर्थ कुछ लोग भ्रमवश यह समझते हैं कि नाटक में केवल एक व्यक्ति का आख्यान रहना चाहिए किन्तु सच तो यह है कि एक व्यक्ति के जीवन में ही ऐसी असंख्य घटनायें हो सकती हैं जिन सबका समुच्चय एक

---

1 One is limited to the part on the stage and connected with the actors—De Poetica, Chapter 24, translated into English by Bywater

2 द्रष्टव्य, J. R. Lowell, The Old English Dramatists, p. 55.

नाटकीय कथानक की सृष्टि नहीं कर सकता, इसी प्रकार समय के संकलन से भी कार्य-संकलन अपने आप नहीं हो जाता। अरस्तू की दृष्टि में होमर ने इस तथ्य को भली-भाँति हृदयंगम कर उसे कार्यान्वित किया था। ईलियड और ओडीसी में उसने नायक की सब घटनाओं को न लेकर उन्हीं घटनाओं को लिया है जिनका मूल-घटना से सम्बन्ध है। जिस घटना की सत्ता से नाटक की मुख्य घटना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिसका होना न होना बराबर है, नाटकीय कथानक का अभिन्न अंग वह नहीं मानी जा सकती। इतना ही नहीं ऐसी घटना के समावेश से कार्य-संकलन को भी क्षति पहुँचती है।

अरस्तू के मत से नाटक का विस्तार उतना अवश्य होना चाहिए जितने के द्वारा कथानक का स्वाभाविक विकास दिखलाया जा सके। उसकी दृष्टि में कार्य-संकलन मुख्यतः दो रूपों में सम्पन्न होता है—१. नाटकीय घटनाओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध की स्थापना की गई हो। २. सब घटनाएँ किसी एक लक्ष्य की ओर उन्मुख हों।

होरेस ने रोम में अरस्तू के नाटकीय सिद्धान्तों का प्रचार किया और फ्रांस के शिष्टवादियों ने तीनों संकलनों की स्थापना को परमावश्यक ठहराया। उनके मतानुसार––

(क) नाटक में एक मात्र विषय कथानक रहेगा। यदि उसमें छोटी-छोटी घटनावली को संयोजित करने की आवश्यकता हो तो उसे इस प्रकार सन्निविष्ट करना उचित है कि वह मूल घटना की परिपोषक हो।

(ख) सारी घटनाओं का एक जगह संघटित होना आवश्यक है।

(ग) सारी घटनाओं का एक ही दिन में और एक कारण से होना उचित है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इतने विधि-निषेधों को मान कर चलने वाला नाट्यकार सर्वदा स्वाभाविकता की रक्षा नहीं कर सकता। अंग्रेज़ी साहित्य में बेन जॉन्सन ने तीनों नाटकीय संकलनों का निर्वाह किया है। शेक्सपियर ने भी 'टेम्पेस्ट' तथा 'कामेडी आफ़ एरर्स' में संकलनों की रक्षा की है, किन्तु अपने अन्य नाटकों में उसने समय और स्थान के ऐक्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। ड्राइडन ने समय और स्थान-संकलन के सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाई थीं। 'पीछे इब्सन की आँधी में ये सिद्धान्त रुई की भाँति उड़ गये।'

---

१ देखिये हिन्दी विश्वकोष (श्री नगेन्द्रनाथ वसु, ११ भाग, पृ० ५८६)

जहाँ तक संस्कृत नाट्याचार्यों का प्रश्न है, कुछ आलोचकों का आक्षेप है कि उनका ध्यान काल, स्थान और कार्य-संकलन की ओर उतना नहीं गया क्योंकि रस-निष्पत्ति ही उनका प्रमुख लक्ष्य रहा। यह तो सच है कि भरत के नाट्य-शास्त्र से लेकर परवर्ती अनेक लक्षण-ग्रन्थों में रस को आत्मा और नाटक के इतिवृत्त को शरीर के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु फिर भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत नाट्याचार्यों ने समय, स्थान और कार्य के ऐक्य पर दृष्टि नहीं रखी है। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में 'अंक में काल-नियम' के अन्तर्गत एक प्रकार से समय-संकलन पर ही अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्हीं के शब्दों में--

"एकदिवसप्रवृत्तं कार्यस्त्वङ्कोऽर्थबीजमधिकृत्य।
आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु।"

'एकदिवसप्रवृत्त' की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं-- "अथांकस्य प्रयोगकालपरिमाणमियदिति दर्शयति एकदिवसप्रवृत्तमिति।" अर्थात् एक अंक में जितने कार्य-व्यापार का प्रदर्शन करना हो, उसके लिए एक दिवस का समय निर्दिष्ट किया गया है। 'एक दिवस' से अभिनवगुप्त का तात्पर्य १५ मुहूर्त से है। दिन-रात के तीसवें हिस्से को 'मुहूर्त' की संज्ञा दी गई है। दिन समाप्त होने तक का पूरा काम यदि एक अंक में न आ सकता हो तो अंकच्छेद करके शेष काम प्रवेशकों द्वारा सूचित कर देना चाहिए।

"दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम्।
अंकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम्॥"

प्रवेशकों द्वारा चूलिका, अंकावतार, अंकमुख, प्रवेशक और विष्कम्भक का ग्रहण किया गया है।

नाटक में कुछ स्थल ऐसे हैं जो रंगमंच पर प्रदर्शित किये जाते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जिनकी सूचना प्रवेशक, विष्कंभक आदि द्वारा दे दी जाती है। ऐसे स्थलों को 'सूच्य' कहते हैं। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में सूच्य अंश के लिए भी एक वर्ष की अन्तिम सीमा निर्धारित की गई है।

"अङ्कच्छेदं कुर्यान्मासकृतं वर्षसंचितं वापि।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्॥"†

---

†द्रष्टव्य नाट्य-शास्त्रम् अभिनवगुप्तविरचितविवृतिसमेतम् (अष्टादशऽध्याय:) पृ० ४२०-४२२, Gaekwad Oriental Series, Volume LXVIII.

नाटकलक्षणरत्नकोशकार ने भी प्रकारान्तर से यही बात कही है—

"एकदिवसप्रवृत्तः कार्योंके सप्रयोगमविकृत्य। आख्याने यद्वस्तु वक्तव्यं तदेकदिवसमालम्ब्यांके कर्तव्यम्। केचित्तु वासरार्द्धकृतोह्यङ्क इति। केचिच्च एक-रात्रिकृतमेकवासरकृतमंके वक्तव्यम्। यत्र तु कार्यवशात् कालभूयस्त्वं तदस्मिन्नङ्के प्रवेशकेन वक्तव्यम्। न तु वर्षादतिक्रांतं यदुच्यते वर्षादूर्ध्वं न कदाचिदिति। तदेतद् बहुकालप्रणेयं नांके विधेयमिति।"

अर्थात् एक दिन का काम ही एक अंक में दिखाना चाहिए। कथा में जो बातें दिखानी हैं, उनमें से एक-एक दिन की कथा एक-एक अंक में दिखानी चाहिये। एक आचार्य कहते हैं—अंक में आधे दिन की कथा दिखानी चाहिए, दूसरे आचार्य का कहना है कि एक रात-दिन की घटना एक अंक में कही जा सकती है। जहाँ आवश्यकतावश अधिक काल की घटनाओं का प्रदर्शन करना हो, वहाँ 'प्रवेशक' का आश्रय लेना चाहिए। किन्तु एक वर्ष से ऊपर की घटना नहीं होनी चाहिए अर्थात् बहुत समय की घटना एक अंक में नहीं आनी चाहिए।*

बहुत वर्षों की घटना यदि एक अंक में दिखलाई जाय तो उसमें अस्वाभा-विकता आने का डर रहता है। स्पेन में इस तरह के नाटक लिखे गये हैं जिनमें प्रथम अंक में नायक का जन्म दिखलाया गया है और नाटक के अन्त में नाटक वृद्ध पुरुष के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार के व्यतिक्रम को स्वाभाविक बनाने के लिए नाट्यकारों को सूच्य पद्धति का प्रयोग करना ही पड़ता है।†

समय के ऐक्य की ओर ही नहीं, स्थानगत ऐक्य की ओर भी संस्कृत नाट्याचार्यों ने ध्यान दिया था। अंक में 'देश-नियम' का उल्लेख करते हुए नाट्यशास्त्रकार कहते हैं :—

***देखिये, अभिनव नाट्य-शास्त्र (श्री सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १००)।**

†There are Spanish dramas in which the hero is born in Act i, and appears again on the scene as an old man at the close of the play. The missing spaces are almost of necessity filled in by the undramatic expedient of narrating what has occurred in the intervals. Yet even here all depends on the art of the dramatist. Years may elapse between successive acts without the unity being destroyed, as we see from the Winter's Tale.

—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art by S.H. Butcher p. 299.

"यः कश्चित्कार्यवशाद् गच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम् ।
तत्राप्यङ्कच्छेदः कर्तव्यः पूर्ववत्तज्ज्ञैः ॥"

अर्थात् यदि कोई पुरुष कार्यवश बहुत दूर चला गया हो तब भी पूर्ववत् अंकच्छेद करना वांछनीय है । एक अंक में जिन दृश्यों का समावेश किया गया हो उनमें इतना अन्तर न हो, इतनी दूरी उनके बीच में न हो कि नायक निर्दिष्ट समय में वहाँ पहुँच ही न सके । किन्तु यदि नायक के पास पुष्पक-विमान जैसा वायुयान हो तो फिर दूरी चाहे जितनी हो, वहाँ अंकच्छेद बिना भी काम चल सकता है । "आकाशयानकादिना सर्वं युज्यते" द्वारा अभिनवगुप्त ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है ।*

यहाँ पर समय और स्थानगत ऐक्य के पारस्परिक सम्बन्ध की यह स्थापना भी विशेषतः उल्लेखनीय है ।

अभिनवगुप्त के उक्त साक्ष्य के होते कीथ की इस उक्ति को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत-नाट्यकार समय और स्थान-सम्बन्धी संकलनों के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे ।†

जहाँ तक कार्य की एकता का प्रश्न है, आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम, कार्य की ये पाँच अवस्थाएँ; बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ; तथा मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण— ये पाँच सन्धियाँ, इस तथ्य को स्पष्ट प्रमाणित करती हैं कि कार्य की एकता की ओर संस्कृत-नाट्याचार्यों ने पूरी दृष्टि रखी थी । आरम्भ, प्रयत्न आदि को लेकर कथानक के जो पाँच विभाग किये गये हैं, उनमें नायक (व्यक्ति) पर दृष्टि रखी गई है; बीज, बिन्दु आदि को लेकर जो वर्गीकरण किया गया है, उसमें घटनाओं पर दृष्टि रखी गई है; यह वर्गीकरण वस्तु-परक कहा जायगा । मुख, प्रतिमुख आदि संधियों को लेकर जो विभाजन किया गया है, उसमें नाटक के शरीर और उसके अवयवों की कल्पना सन्निहित है । अरस्तू ने जो दुःखान्त नाटक का वर्गीकरण किया

***देखिए नाट्य-शास्त्र पर अभिनवगुप्त की विवृति (वही पूर्वोक्त संस्करण पृष्ठ ४२३)**

†The statement of Prof. Keith in his Sanskrit Drama that Sanskrit dramatists were ignorant of the principles of unities of time and place, is based upon his own ignorance of the technique of sanskrit drama.—Comparative Aesthetics vol. 1 by K.C. Pande p. 349.

है, वह केवल वस्तु-परक है; संस्कृत नाट्याचार्यों द्वारा किया हुआ कथानक का यह त्रिविध वर्गीकरण अपेक्षया विशद एवं व्यापक है ।

अंत में, निष्कर्ष के रूप में यह कहना आवश्यक है कि नाटक में कार्य का संकलन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; समय और स्थल-संकलन कार्य-संकलन के अंगभूत मात्र हैं । सच तो वह है कि प्रतिभा के विकास में जहाँ नियम बाधक सिद्ध होने लगते हैं, वहाँ वे त्याज्य हैं । नियमों की सार्थकता प्रगति की बाधकता में नहीं, उसकी साधकता में है । स्थल-संकलन और समय-संकलन का प्रयोग आजकल, सामान्यतः हिन्दी साहित्य के नाटकों में भी, एकांकियों और कुछ आख्यायिकाओं को छोड़ कर, अन्यत्र नहीं किया जा रहा हैं यद्यपि प्रसाद जी के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में मेरी दृष्टि में किसी प्रकार तीनों संकलनों का सुन्दर निर्वाह हो गया है इस बात को हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि लक्ष्य-ग्रन्थों के आधार पर लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है किन्तु युग-परिवर्तन के साथ-साथ प्रतिभाशाली लेखक जब पुराने नियमों का अतिक्रमण कर नयी-नयी रचनाएँ करने लगते हैं तब वे रचनाएँ ही नूतन लक्षण-ग्रन्थों के लिए आधार बन जाती हैं ।
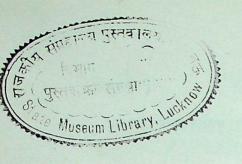
अव्यवसायी रंगमंच की समस्याएँ

—श्री नेमिचन्द्र जैन

इस बात में तो अब कोई सन्देह नहीं हो सकता कि संस्कृति के अन्य क्षेत्रों की भाँति रंगमंच में भी हमारे देश में नव-जागरण का एक युग वर्तमान है। आजकल प्रत्येक नगर में, यहाँ तक कि देहातों में भी, आये दिनों खेले जाने वाले नाटकों की संख्या पर यदि ध्यान दें तो पिछले प्रत्येक युग की तुलना में आज के युग की यह विशिष्टता स्पष्ट हो जाएगी। इस समय शायद ही कोई ऐसा स्कूल अथवा अन्य शिक्षालय होगा जिसमें वर्ष भर में एक-दो नाटक न खेले जाते हों। कालेजों और विश्वविद्यालयों के लगभग सभी छात्रावास, बहुत से विभाग आदि अपने-अपने अलग-अलग नाटक प्रस्तुत करते हैं, विभिन्न सरकारी, ग़ैर-सरकारी विभागों के क्लब, मज़दूर संगठन, बहुत-सी सैनिक टुकड़ियाँ तथा अन्य सांस्कृतिक संगठन वर्ष भर में एक-दो बार नाटक का आयोजन अवश्य करते हैं, चाहे फिर उन नाटकों को प्रस्तुत करने की प्रेरणा इन संगठनों के वार्षिक अधिवेशनों से मिलती हो अथवा अपने सदस्यों तथा सहायकों का मनोरंजन करने की भावना से और अन्त में अनगिनती छोटे-बड़े ऐसे संगठन और दल तो हैं ही जो नाटक करने, रंगमंच के विकास में सहायता देने और अपने पारिपार्श्विक जीवन की मौलिक सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से हर प्रदेश में, हर नगर में वर्तमान हैं और नित नए बनते जाते हैं।

इस कोटि में किसी शहर के साधारण साधन तथा प्रतिभा वाले उत्साही विद्यार्थियों के नाटक-क्लब से लेकर कलकत्ते के "बहुरूपी" जैसे असाधारण क्षमता-सम्पन्न और नाटक को अपनी आत्माभिव्यक्ति का सर्वप्रमुख साधन मानने वाले कलाकारों के दल तक सभी आ जाते हैं। इनमें से पहली श्रेणी के संगठन किसी विशेष आयोजन के अवसर पर नाटक तैयार करते और खेलते हैं तथा रंगमंच के प्रति उनका उत्साह अपेक्षाकृत क्षणिक और प्रायः आत्म-प्रदर्शन की भावना से प्रेरित होता है जो उस आयोजन के साथ ही समाप्त हो जाता है। इनमें भाग लेने वाले बहुत से अभिनेता तो शायद दूसरी बार फिर कभी किसी नाटक में भाग ही नहीं लेते और प्रायः ऐसे नाटक एक से अधिक बार प्रस्तुत नहीं किये जाते। दूसरी श्रेणी के संगठन ऐसे हैं जिनके सदस्यों को एक प्रकार से नाटक का खब्त होता है और वे अपने अधिकांश खाली समय में केवल नाटक की ही बात सोचते हैं और नाटक के द्वारा ही

अपने भीतर की कलात्मक सृजन-प्रेरणा को प्रकट करना चाहते हैं। ऐसे संगठन प्रत्येक नाटक की तैयारी पर पर्याप्त समय, शक्ति और धन भी व्यय करते हैं और उस नाटक को अधिक से अधिक रसज्ञ प्रेक्षकों तक पहुँचाने के लिए उत्सुक होते हैं तथा उसका प्रयत्न भी करते हैं। यह सही है कि नाटक को इस प्रकार सृजनात्मक अभि-व्यक्ति का साधन मानने वाले संगठन बहुत नहीं हैं, न साधारणतः हो ही सकते हैं किन्तु हमारे आज के सांस्कृतिक उन्मेष में उनका अस्तित्व है और वह हमारे विकास के एक महत्वपूर्ण स्तर को प्रकट करता है।

साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि पिछले दिनों में न केवल इन नाटक खेलने वाले संगठनों की संख्या में वृद्धि हुई है, बल्कि उतनी ही, शायद उससे भी कहीं अधिक मात्रा में, उनके कृतित्व को देखने, सराहने और उससे आनन्द प्राप्त करने वाले दर्शकों की संख्या भी बढ़ी है। ये छोटे-बड़े नाटक चाहे किसी राजमार्ग के चौराहे पर रास्ता रोक कर बनाये हुए चौकियों के मंच पर खेले जायें, चाहे कालेजों और स्कूलों के सभा-भवनों में और चाहे 'न्यू एम्पायर' जैसे आधुनिक साधनों से युक्त मंच और प्रेक्षागृह में, उनको देखने के इच्छुक रसज्ञों की अब कमी नहीं होती। बल्कि दुर्गापूजा के समय बंगाल और गणेशोत्सव के समय महाराष्ट्र के नगर और देहात के हर मुहल्ले में, लगभग हर बड़ी सड़क पर नाटक किये जाते हैं और उनमें तिल धरने को जगह नहीं मिलती। इस भाँति यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि आज हमारे देश के लगभग सभी भागों में जहाँ एक ओर शौकिया अभिनेता और निर्देशकों के नये-नये दल तैयार हो रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर उनके कार्य को समझने और सराहने वाले दर्शक—रंगमंच के प्रेक्षक—भी अधिकाधिक संख्या में प्रकट हो रहे हैं।

रंगमंच के क्षेत्र में जहाँ यह नवोन्मेष एक असंदिग्ध सत्य है, वहीं दूसरी ओर यह बात भी उतनी ही निर्विवाद है कि कुछेक बड़े-बड़े नगरों को छोड़कर नियमित रंगमंच हमारे देश में नहीं के बराबर हैं और नियमित रूप से चलने वाले नाटकघर हमारे देश में लगभग हैं ही नहीं। जहाँ ये नाटकघर हैं भी, वहाँ वे बड़ी सुगमता से चलते हैं यह भी नहीं कहा जा सकता। सिनेमा के प्रचार और लोकप्रिय होने के बाद से व्यवसाय के रूप में नाटक-कम्पनी चलाना अब किसी भी प्रकार से आकर्षक कारो-बार नहीं रहा है। व्यवसायी रंगमंचों के संचालक अभिनेता तथा अन्य आश्रित सहायक शिल्पी कलाकार न तो फिल्म-जगत जैसा सम्मान, प्रतिष्ठा अथवा महत्व ही समाज में पाते हैं कि अपने कार्य को गौरव और आकर्षण का विषय मान सकें, और न आर्थिक दृष्टि से ही इस कार्य में उन्हें इतनी सफलता तथा सम्पन्नता प्राप्त होती है कि उसे आजीविका का निश्चित साधन बना सकें। परिणाम-स्वरूप जिनमें तनिक सी भी अभिनय अथवा निर्देशन सम्बन्धी प्रतिभा है, वे सभी फ़िल्म की ओर दौड़ते

हैं। जो उत्साही प्रतिभावान कलाकार इन परिस्थितियों के होते हुए भी रंगमंच में अपनी रुचि और उसके प्रति अपना उत्साह बनाये हुए हैं, उनकी संख्या उँगलियों पर गिनी जाने लायक है और वे भी अपनी आजीविका के लिए नाटक के अतिरिक्त फ़िल्म का सहारा किसी न किसी रूप में लेने के लिए बाध्य हैं। प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज इसके सबसे सुपरिचित उदाहरण हैं। पृथ्वी थिएटर को जीवित रखने के लिए उन्हें निरन्तर फ़िल्म में काम करना पड़ता है और फ़िल्म द्वारा प्राप्त धन से ही वह नाटक के प्रति अपनी इस अद्‌भुत लगन और उत्साह को पूरा कर पाते हैं। व्यवसायी रंगमंच की यह स्थिति उसके अभाव और उसकी अपेक्षाकृत हीन अवस्था का परिणाम हो अथवा कारण, किन्तु इतना अवश्य सही है कि हमारा व्यवसायी रंगमंच हमारे वर्तमान सांस्कृतिक नवोन्मेष को ठीक-ठीक प्रगट नहीं करता। किन्तु साथ ही जब तक एक नियमित रूप से चलने वाला रंगमंच हमारे देश के प्रत्येक भाग में नहीं बन जाता जब तक नाटक खेलना और देखना हमारे सांस्कृतिक जीवन का, बल्कि हमारे दैनिक जीवन का अनिवार्य अंग नहीं बन जाता, जब तक कम से कम समाज का प्रबुद्ध शिक्षित वर्ग अपने अवकाश को और अपने मनोरंजन की आवश्यकता को नियमित रूप से नाटक द्वारा पूरा नहीं करता, तब तक यह कहना कठिन है कि हमारे देश में कोई रंगमंच वर्तमान है और न तब तक किसी प्रकार की विकसित रंगमंचीय परम्पराओं का निर्माण ही सम्भव है।

इस भाँति हम देखते हैं कि आज नियमित रंगमंच के अभाव में और साथ ही देश के वर्तमान सांस्कृतिक नवोन्मेष के फलस्वरूप हमारे अव्यवसायी रंगमंच ने एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली है जो एक प्रकार से अस्वाभाविक ही है। किन्तु सा ही हमारे इस अव्यवसायी, शौकिया रंगमंच में ही हमारे भावी नियमित-विकसित रंगमंच के बीज हैं, यह बात भी निर्विवाद लगती है। और यदि आज हम अपने इस अव्यवसायी रंगमंच की स्थिति को भली-भाँति समझ सकें, उसकी समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर सकें और, सीमित रूप में ही सही, उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें, तो हम अपने देश में एक सम्पन्न रंगमंच के निर्माण, स्थापना और विकास में बढ़ा भारी योग दे सकेंगे। यह तो अनिवार्य ही है कि अपनी ही आन्तरिक प्रेरणा तथा सामान्य सांस्कृतिक उन्मेष के फलस्वरूप होने वाली इस क्रिया में एक ओर तो अपने भीतर ही बड़ी भारी असमानता है तथा प्रतिभा, सामर्थ्य और लगन के विभिन्न स्तर हैं। दूसरी ओर देश का वर्तमान सामाजिक-आर्थिक ढांचा इस समुचित उन्मेष को संभालने में अभी समर्थ नहीं हो पाया है। इसी लिए इस देशव्यापी सांस्कृतिक हलचल को न तो प्रशस्त अभिव्यक्ति ही मिलने पाती है और न उचित सहयोग। यह कहने में कोई संकोच नहीं होना

चाहिए कि कि कुल मिलाकर हमारा शौकिया रंगमंच अभी केवल किसी-न-किसी प्रकार अभिव्यक्ति का साधन खोजने की अवस्था में है, आत्मविश्वास के साथ एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ चलने की अवस्था में नहीं।

इसी स्थिति के तीव्रतम रूप को नाटकीय ढंग से कहें तो यह कहा जा सकता है कि इस अव्यवसायी रंगमंच की सब से बड़ी समस्या यह है कि उसके लिए न तो नाटकघर हैं और न नाटक। हमारे देश के आधुनिक रंगमंच की अवस्था का यह बड़ा विचित्र-सा विरोधाभास है कि नाटक खेले जाने की इतनी माँग और नाटक दिखाने तथा खेलने की इतनी प्रेरणा होने के बावजूद साधारणतः रंगमंच के उपयुक्त पर्याप्त नाटक किसी भाषा में नहीं मिलते। और नाटकघरों का तो लगभग सभी जगह अभाव ही है।

इन दोनों समस्याओं पर अलग-अलग विचार करें। पहले नाटकघरों के अभाव को ले लीजिए। समूचे भारतवर्ष के दो-तीन नगरों को छोड़कर नियमित नाटकघर कहीं भी नहीं हैं। जो हैं, वे या तो कुछेक व्यवसायी मण्डलियों के पास हैं या फिर उनमें सिनेमाघर बन गये हैं अथवा वे एकदम टूटी-फूटी जीर्ण अवस्था में पड़े हुए हैं। जो भी हो अव्यवसायी मण्डलियों को नाटकघर प्राप्त नहीं होते। साधारणतः जितने भी नाटक खेले जाते हैं, उनमें से अधिकांश स्कूलों, कालेजों के हाल में अथवा अन्य ऐसे सभा-भवनों में प्रस्तुत किये जाते हैं जहाँ प्रायः तख्त तथा चौकियाँ कस कर स्टेज तैयार करना पड़ता है, जिसके ऊपर पर्दा लगाने और आलोक का उचित प्रबन्ध करने ही में बहुत अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। फिर उस परिश्रम के बाद भी ऐसी स्थितियाँ दुर्लभ नहीं हैं कि किसी एक दृश्य के अत्यन्त ही मार्मिक स्थल पर पर्दा गिराना आवश्यक तो होता है किन्तु अचानक ही डोरी टूट जाती है, पर्दा नहीं गिर पाता और असमंजस में पड़े बेचारे अभिनेता यह स्थिर नहीं कर पाते कि रंगमंच पर रहें अथवा चले जायें। स्पष्ट ही ऐसी परिस्थितियों में भावोद्रेक का वह स्तर प्राप्त नहीं होता जब प्रेक्षक का रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्य के साथ रसात्मक तादात्म्य हो सके। हमारे देश में शायद ही कोई ऐसा नगर है जहाँ नगरपालिका की ओर से बना हुआ नाटकघर हो जिसे छोटी-बड़ी अव्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ साधारण किराये पर ले सकें और सुविधा से नाटक प्रस्तुत कर सकें। विभिन्न नगरों में जो भी सभा-भवन आजकल बन रहे हैं उनमें किसी न किसी प्रकार का मंच अवश्य होता है। पर दर्शकों के बैठने के स्थान से थोड़े ऊँचे बने हुए किसी चबूतरे को रंगमंच नहीं बनाया या समझा जा सकता। इस परिस्थिति का बड़ा तीखा अनुभव तब हुआ जब १९५४ में दिल्ली में राष्ट्रीय नाटक महोत्सव के लिए एक स्थानीय सभा-

भवन के उपयोग की बात उठी। बड़े ही केन्द्रीय स्थान में होने पर भी उस भवन के आयोजकों ने उसके इस उपयोग की सम्भावना पर ध्यान ही नहीं दिया था। परिणामतः राष्ट्रीय महोत्सव के लिए उसमें बहुत से परिवर्तन करने पड़े और उसके बाद भी वह रंगमंच ऐसा न बन सका जिसमें हर तरह के नाटक खेले जा सकें। दिल्ली में हाल ही में एक अन्य कला-संस्था ने एक नाटकघर बनाया है किन्तु उसमें भी पूर्व-योजना के अभाव और अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों की समस्याओं के प्रति उदासीनता ने उस नाटकघर की उपयोगिता को बहुत-कुछ सीमित कर दिया है।

इन इक्के-दुक्के नाटकघरों अथवा विभिन्न सभा-भवनों के साथ एक कठिनाई और भी है। उनका दैनिक किराया इतना अधिक होता है कि छोटी-छोटी नाटक-मण्डलियाँ तो उसे बर्दाश्त ही नहीं कर सकतीं। उनमें नियमित सज्जा-शालाएँ नहीं होतीं, स्थायी रूप से लगे हुए पर्दे नहीं होते, आलोक सम्बन्धी स्थायी व्यवस्था नहीं होती। अधिकांश अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों के लिये इन सब आवश्यकताओं की अपनी-अपनी अलग व्यवस्या करना कष्ट-साध्य होता है और अर्थ, समय तथा शक्ति का व्यय तो उसमें होता ही है। इन सब से भी बड़ी समस्या है विज्ञापन सम्बन्धी खर्च की। साधारण मनोरंजन-प्रेमी जनता अभी नाटक देखने जाने की अभ्यस्त नहीं है, केवल यही बात नहीं है। वास्तव में नाटकघर एक ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ मनोरंजन के इच्छुक अथवा कला-प्रेमी दर्शक अनायास ही इकट्ठे हो सकें—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी सिनेमाघर की ओर लोग जाते हैं। ऐसी ही नियमितता के बिना रंगमंच की वास्तविक परम्परा नहीं बनती, वहाँ जाने का लोगों का अभ्यास नहीं बनता। फलस्वरूप प्रत्येक नाटक-मण्डली को पहली बार दर्शकों को आकर्षित करने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करना पड़ता है और इस भाँति न केवल विज्ञापन सम्बन्धी खर्च बहुत बढ़ जाता है, बल्कि सिनेमा की तुलना में नाटक की ओर सहज ही दर्शक उन्मुख नहीं हो पाता। बहुत बार तो कुछेक अच्छे प्रदर्शनों के हो चुकने के बाद समाचार-पत्र में सूचना पढ़कर उनका पता चलता है। इसलिए नाटक को यदि हमारे सांस्कृतिक जीवन का अविच्छिन्न अंग बनना है तो यह सर्वथा आवश्यक है कि वह कभी-कभी होने वाली हलचल के रूप में नहीं, बल्कि हमारे दैनिक जीवन की एक अनिवार्य परिस्थिति के रूप में वर्तमान रहे। यह कार्य स्पष्ट ही तब तक सम्भव नहीं है जब तक प्रत्येक नगर में कम-से-कम ऐसा नाटकघर न हो जहाँ हर शाम को नाटक खेले जाते हों, जहाँ अनायास ही दर्शक पहुँचते हों और साथ ही जहाँ स्थानीय तथा बाहर की छोटी-बड़ी नाटक-मण्डलियाँ न्यूनतम साधारण सुविधाओं के साथ नाटक खेल सकती हों।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि जो नाटकघर प्राप्त भी हैं, उनका

दैनिक किराया इतना अधिक है कि साधारणतः नाटक-मण्डलियाँ उसे बर्दाश्त नहीं कर पातीं। इस प्रश्न पर और भी विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि प्रचार के अभाव में साधारणतः अच्छे से अच्छा नाटक अथवा अच्छी से अच्छी नाटक-मण्डली इतने अधिक दर्शकों को आकर्षित नहीं कर पाती कि पहले एक-दो दिनों में नाटक का पूरा खर्च टिकटों की बिक्री से इकट्ठा हो सके। दूसरी ओर अधिकतर यह सम्भव नहीं होता कि एक या दो दिन से अधिक किसी नाटकघर को किराये पर लेने का साहस कोई अव्यवसायी नाटक-मण्डली साधारणतः करे। इस प्रकार की नाटक-मण्डलियों को प्रायः यह आशंका बनी ही रहती है कि उनका प्रयास सफल होगा अथवा नहीं, दर्शकों को वह अच्छा लगेगा अथवा नहीं। पर्याप्त विज्ञापन के साधनों का अभाव होने के कारण भी इन मण्डलियों के लिए अधिक दिन तक नाटकघर किराये पर लेना कठिन होता है।

बहुत बार ऐसा भी होता है कि किसी नाटक के पहले एक-दो प्रदर्शन इतने सफल नहीं होते और पहले एक-दो अभिनय के बाद ही अभिनेताओं और प्रस्तुत-कर्त्ताओं को नाटकों की दुर्बलताओं का पूरा बोध होता है और वे उन्हें दूर करके उसे कहीं अधिक प्रभावोत्पादक बनाने की स्थिति में होते हैं। क्योंकि यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिए कि इन अधिकांश नाटक-मण्डलियों के पास रिहर्सल के लिए प्रायः कोई स्थान नहीं होता। अधिकतर मण्डलियों को रिहर्सल किसी-न-किसी सदस्य के घर पर करनी पड़ती है जहाँ बहुत बार सब के लिये पहुँचना आसान नहीं होता। किसी छोटे कमरे में रिहर्सल करते रहने के कारण मंच पर ठीक किस प्रकार प्रवेश करना होगा, प्रस्थान करना होगा, व्यवहार करना होगा आदि बातें रिहर्सल में स्पष्ट नहीं हो पातीं। बहुत-सी मण्डलियाँ तो अन्त तक कोई पक्की रिहर्सल रंगमंच पर कर ही नहीं पातीं और उनके पहले प्रदर्शन में इस भाँति स्टेज रिहर्सल की-सी अचकचाहट और कमज़ोरियाँ रहती हैं। इसलिए जब तक यह सम्भव न हो कि ये नाटक एक से अधिक बार प्रस्तुत किये जा सकें, तब तक उसकी पूरी सम्भावनाएँ प्रकट होना बहुत कठिन है। इसके लिए विशेष रूप से यह आवश्यक है कि इन नाटकघरों का दैनिक किराया बहुत ही कम हो ताकि उसे कई दिन के लिये किराये पर लेना इन मण्डलियों के लिए असम्भव न रहे। इस प्रकार जब तक राज्य की ओर से अथवा नगरपालिकाओं की ओर से नाटकघर नहीं बनते अथवा जब तक हमारे देश में नाटक के प्रचार में रुचि रखने वाली अथवा उसको अपना कर्त्तव्य मानने वाली संस्थाएँ सस्ते किराये पर मिलने वाले नाटकघर बनाने का प्रयत्न नहीं करतीं, तब तक अव्यवसायी मण्डलियों की यह समस्या हल नहीं हो सकती। इन नाटकघरों के साथ अनिवार्य रूप से ऐसा स्थान भी यदि प्राप्त हो जहाँ नाटक-मण्डलियाँ रिहर्सल कर सकें तो बहुत उत्तम होगा। एक

प्रकार से अव्यवसायी रंगमंच के विकास की यह बड़ी अनिवार्य आवश्यकता है। अव्य-वसायी नाटक-मण्डलियों के कार्यकर्त्ता प्रायः आजीविका के लिए कोई-न-कोई दूसरा कार्य करते हैं और वे केवल शाम को ही एकत्र होकर नाटक की रिहर्सल कर सकते हैं। इसलिए यह सम्भव नहीं कि किसी भी नाटकघर का नियमित भवन उन्हें रिहर्सल के लिये खाली मिल सके। इन परिस्थितियों में रिहर्सल के स्थान की अलग से व्यवस्था होना बहुत ही आवश्यक बात है। पर ऐसे स्थान हर एक नगर में निश्चय ही एक से अधिक होने चाहिए जो अलग-अलग दिनों में बहुत ही साधारण-से किराये पर नाटक-मण्डलियों को प्राप्त हो सकें।

जैसा ऊपर कहा गया है, नाटकघर तथा रिहर्सल के स्थान के अभाव के अतिरिक्त जो दूसरी बड़ी भारी समस्या आज व्यवसायी और अव्यवसायी सभी प्रकार की नाटक-मण्डलियों के सामने है—और यह बात प्रत्येक भाषा के लिए लगभग समान रूप से सही है—वह है अभिनयोपयोगी नाटकों के अभाव की। वास्तव में नाटक एक ऐसा साहित्य-रूप है जो मूलतः रंगमंच पर आधारित है। विकसित रंगमंच के अभाव में श्रेष्ठ नाटक होना प्रायः असम्भव है। किन्तु साथ ही श्रेष्ठ नाटकों के अभाव में रंगमंच का विकास कैसे हो सकता है? नाटक और रंगमंच का यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बड़ा मौलिक है। किन्तु हमारे देश के अधिकांश भागों में जहाँ नियमित रंगमंच की परम्परा हमारे दैनिक जीवन में से मिट गई थी, अथवा जहाँ केवल पिछले कुछ समय से ही प्रारम्भ हो पायी है, वहाँ यह बहुत ही आवश्यक है कि नाटककार और नाटक-मण्डलियों में अनिवार्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित हो। हमारे देश में इस समय साहित्यिक प्रतिभा के उन्मेष का दौर है। उसमें से कुछेक तरुण और उत्साही लेखक रंगमंच की ओर ही क्यों नहीं उन्मुख हो सकते? साथ ही जिस प्रकार किसी भी नाटक-मण्डली को अपने विशेष कुशल अभिनेताओं की, दिग्दर्शक की, रूप-सज्जाकार की, पर्दा रंगने वाले चित्रकार की, आलोक-विशेषज्ञ की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अपने विशेष नाटककार की भी। प्रत्येक व्यवसायी नाटक-मण्डली का भी अपना विशेष नाटककार सर्वदा ही होता है और न केवल रंगमंच के व्यावहारिक ज्ञान द्वारा अपने नाटकों को अभिनय के उपयुक्त बनाता है, बल्कि जो उस विशेष नाटक-मण्डली की विशेष क्षमताओं और अक्षमताओं को ध्यान में रखकर ऐसे नाटक लिख पाता है जिनको प्रस्तुत करने में मण्डली के सभी साधनों का पूरा-पूरा उपयोग हो सके और ऐसी अनावश्यक कठिनाइयाँ उत्पन्न न हों जिन्हें दूर करना मण्डली की सामर्थ्य के बाहर हो। अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों को भी इसी भाँति अपने विशेष नाटककार तैयार करने होंगे। जब तक उनकी विशेष आवश्यकताओं और क्षमताओं को ध्यान में रखकर नाटक लिखने वाली प्रतिभा का सहयोग उन्हें नहीं

मिलता, तब तक नाटकों के अभाव की समस्या किसी न किसी रूप में उनके सामने बनी ही रहेगी।

इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि जो नाटक इस समय लिखे हुए मौजूद हैं अथवा लिखे जा रहे हैं, वे नाटक-मण्डलियों के किसी काम के ही नहीं। उनमें भी निस्सन्देह कुछ तो ऐसे हैं ही जिनको ज्यों का त्यों अथवा किसी-न-किसी रूप में रंग-मंच के उपयुक्त बनाकर प्रस्तुत किया जा सकता है। एक प्रकार से वर्तमान नाटकों का इस प्रकार का रूपान्तर नाटककारों और नाटक-मण्डलियों दोनों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। नाटक-मण्डलियों के लिए इस कारण कि उन्हें कम से कम एक सामान्य ढाँचा तो इन नाटकों में प्राप्त होता ही है जिसको अपनी आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित करके अभिनयोपयोगी बनाने में उन्हें अपेक्षाकृत कम कठिनाई होगी और मण्डली के किसी एक विशेष सदस्य को नाटक लिखना सीखने के लिए अवसर मिलेगा। दूसरी ओर नाटककारों को भी यह समझने का अवसर मिलेगा कि उनके लिखे हुए नाटक साहित्यिक दृष्टि से सफल अथवा सर्वथा पठनीय होने पर भी उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने में कैसी कठिनाइयाँ नाटक-मण्डलियों के सामने आती हैं और उन्हें किन उपायों से वे दूर करती हैं। इस प्रकार अपने अगले नाटकों में वे नाटक-मण्डलियों की कठिनाई का अधिक ध्यान रख सकेंगे।

स्पष्ट ही इसमें नाटककारों का सहयोग आवश्यक है। उनकी अनुमति के बिना उनके लिखे नाटकों में इस प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं होगा और इसमें यह आशंका तो है ही कि कई बार इस प्रकार किया गया परिवर्तन सर्वथा उपयुक्त भी न सिद्ध हो और नाटक असफल ही रहे। किन्तु दूसरी ओर इस प्रकार की अनुमति दिये बिना यह सम्भावना सदा बनी रहेगी कि ये नाटक-मण्डलियाँ कभी भी मौजूदा लिखे हुए नाटकों को नहीं छुयेंगी। यह बात ध्यान देने की है कि बहुत बार नाटककार से ऐसी अनुमति प्राप्त न हो सकने के कारण बहुत सी नाटक-मण्डलियाँ मौजूदा नाटकों को हाथ में नहीं लेतीं; प्रायः नाटककार नाटक-मण्डलियों के सुझावों अथवा समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक सुनने और उन पर विचार करके उनके अनुकूल आवश्यक परि-वर्तन करने के लिए प्रस्तुत नहीं होते। क्योंकि साधारणतः नाटक, हिन्दी में ही नहीं लगभग सभी भाषाओं में जहाँ रंगमंच की परम्परा बहुत विकसित नहीं है, केवल प्रकाशित करने के लिए लिखे जाते हैं, और पिछले दिनों तो केवल रेडियो पर प्रसारित किए जाने के लिए ही लिखे जाने लगे हैं, जिसके फलस्वरूप उसकी रंगमंचीय उपयो-गिता और भी कम हो गई है। बहुधा हमारे साहित्यिक नाटकों में लम्बे-लम्बे संवाद होते हैं जिनमें न केवल नाटकीय गति और घटना का अभाव होता है, बल्कि उनकी भाषा इतनी अस्वाभाविक होती है कि उसे अभिनेता सहज ही बोल नहीं पाते। ऐसे

अधिकांश नाटक एक प्रकार से संवाद-रूप में लिखे हुए उपन्यास मात्र ही होते हैं। अभिनय के उपयुक्त नाटक में भाषा के स्वाभाविक और सरल तथा संवादों के संक्षिप्त तथा नाटकीय होने के साथ-साथ घटना और चरित्रों के विकास में एक निश्चित गति होनी बहुत आवश्यक है जिससे रंगमंच के ऊपर अभिनेता एक ही मुद्रा को, एक ही भाव-दशा को और एक ही शारीरिक क्रिया को दुहराते हुए न जान पड़ें। रंगमंच के ऊपर विभिन्न पात्रों की स्थिति को मूर्त्त रूप में अपने सामने रखे बिना और उनके क्रमशः विकास पर समुचित ध्यान दिये बिना रंगमंच के उपयुक्त नाटक लिखना बड़ा कठिन है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि बड़े से बड़ा प्रतिभावान साहित्यकार भी नाटक की इस विशेषता को रंगमंच के साथ सक्रिय रूप से सम्बद्ध हुए बिना नहीं समझ सकता और यशस्वी नाटककारों को इसमें अपना असम्मान नहीं समझना चाहिए कि अपेक्षाकृत तरुण और अन्य कई दृष्टियों से क्षमतावान कलाकारों से उनको इस दिशा में सीखना है।

नाटककार और नाटक-मण्डलियों में सम्पर्क के अभाव का एक पक्ष निस्सन्देह यह भी है कि अधिकांश नाटक-मण्डलियाँ अपनी ओर से भी किसी नाटककार को अपने साथ सम्बद्ध करने का, उसकी बात सुनने और उसकी समस्याओं को समझने का और अपने ठोस व्यावहारिक सुझावों द्वारा उसको समझाने का प्रयत्न नहीं करतीं। ऐसा प्रयत्न निश्चय ही इन मण्डलियों के हित में ही है क्योंकि नाटककार ही वह मूल साधन प्रस्तुत करता है जिसके बिना कोई नाटक-मण्डली जीवित नहीं रह सकती। नाटककार और नाटक-मण्डलियों के बीच, विशेषकर प्रत्येक नगर में बिखरी हुई अनगिनती अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों के बीच, यह सम्पर्क हमारे आज के नव-नाट्य आन्दोलन की सर्वप्रमुख आवश्यकता है जिसके बिना नाटकों के अभाव की समस्या मौलिक रूप में कभी नहीं हल हो सकेगी।

या इस समस्या के और भी कई समाधान हैं जो तात्कालिक हैं और जिनसे उसके मौलिक समाधान में भी बहुत-कुछ सहायता मिलेगी। देश की विभिन्न भाषाओं से तथा विदेशी भाषाओं से ऐसे नाटकों के अनुवाद तथा भारतीय रूपान्तर किए जाने चाहिए जो रंगमंच पर सफल हो चुके हैं। यह भी सम्भव है कि अलग-अलग स्थानों पर देश-विदेश की प्रसिद्ध व्यवसायी-मण्डलियों ने उन्हें जिस प्रकार से रंगमंच पर प्रस्तुत किया है, उसकी जानकारी भी प्राप्त हो सके। कम से कम अनुवाद और रूपान्तर का यह कार्य ऐसा है जिसे बहुत-सी नाटक-मण्डलियाँ स्वयं कर सकती हैं। साथ ही विभिन्न भाषाओं में अथवा एक ही भाषा-भाषी क्षेत्र की विभिन्न मण्डलियों के पास ऐसे नाटक वर्ष में एक-दो अवश्य तैयार होते रहते हैं जो श्रेष्ठ साहित्य न होते

हुए भी अभिनय के उपयुक्त हों। उनके परस्पर आदान-प्रदान होने का कोई माध्यम तुरन्त निकाला जाना चाहिए। ऐसे नाटकों के प्रकाशन की भी कोई विशेष व्यवस्था किसी केन्द्रीय नाटक संस्था को करनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक भाषा का नाटक-साहित्य न केवल बहुत समृद्ध होगा, बल्कि इस प्रकार रूपान्तर और अनुवाद से नए मौलिक नाटकों की रचना के लिए भी प्रेरणा मिलेगी और धीरे-धीरे यह सम्भव हो सकेगा कि हमारे नाटकों के अभाव की यह समस्या दूर हो सके।

अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों की एक-दो समस्याएँ और भी हैं जिनके कारण उन्हें बहुत बार बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनमें सब से प्रमुख है मनोरंजन-कर। देश के बहुत-से राज्यों में इस विषय के क़ानून बहुत ही कड़े हैं और नाटक-मण्डलियों को प्राय: किसी संस्था के लिए दान का सहारा लेकर अपना प्रदर्शन करना पड़ता है अन्यथा उनकी आय का बड़ा भारी भाग मनोरंजन-कर के रूप में चला जाता है। इन मण्डलियों का प्रदर्शन सम्बन्धी साधारण व्यय अपेक्षाकृत इतना अधिक होता है कि मनोरंजन-कर दे चुकने के बाद प्रदर्शन का पूरा व्यय जुटा सकना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता। हमारे देश में रंगमंच के विकास की एक बड़ी भारी आवश्यकता है कि विशेष रूप से अव्यवसायी रंगमंच को मनोरंजन-कर से छुट्टी मिले। यह सुविधा इसलिए भी आवश्यक है कि छोटी नाटक-मण्डलियों को अन्य अनगिनती कठिनाइयों को झेलकर नाटक प्रस्तुत करने पड़ते हैं और उनमें यह क्षमता नहीं होती कि इस आर्थिक संकट को भी सहन कर सकें।

साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि इस प्रकार मनोरंजन-कर से प्राप्त धन को हमारे राज्यों की सरकारें नाटक विकास के लिए ही नहीं लगातीं। अव्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ एक नाटक की तैयारी में साधारणत: नाटकघर के किराये पर, विज्ञापन पर, आलोक-सम्बन्धी व्यवस्था पर, संगीत पर, वस्त्रों तथा रूप-सज्जा पर और 'सेट्स' पर धन व्यय करती हैं। बहुत-सी व्यवस्थित नाटक-मण्डलियाँ नाटककार को भी थोड़ा-बहुत धन रायल्टी के रूप में भेंट करती हैं और ये मण्डलियाँ इस अर्थ में ही अव्यवसायी हैं कि एक नाटक के टिकट बेचकर प्राप्त होने वाले धन में से प्राय: अभिनेताओं को कोई हिस्सा नहीं मिलता अथवा वह इतना नगण्य होता है कि उसे उनकी आजीविका का साधन किसी भी प्रकार से नहीं माना जा सकता। जो हो, ये मण्डलियाँ जिन विविध व्यक्तियों को धन देती हैं, उनसे किसी न किसी रूप में बदले में उन्हें सहयोग प्राप्त होता है जिसके द्वारा नाटक प्रस्तुत करने में उन्हें सहायता मिलती है। एक प्रकार से उस सहयोग के बिना नाटक प्रस्तुत करना उनके लिए सम्भव ही नहीं होगा किन्तु मनोरंजन-कर के रूप में जो धन सरकार के पास जाता है उसके बदले में इन नाटक-मण्डलियों को कोई भी सुविधा सरकार से प्राप्त

नहीं होती और मनोरंजन कर के रूप में जाने वाला यह धन पूरी आय का लगभग एक-तिहाई से भी अधिक हो जाता है। यह बात युक्तिसंगत जान पड़ती है कि सरकार इन नाटक-मण्डलियों से, जिनके सदस्य मूलतः कला के प्रेम से आकर्षित होकर अपनी सुविधा और समय को अर्पित करके हमारे देश की नष्टप्रायः नाट्य-परम्परा को बनाये रखने और उसको अधिकाधिक विकसित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, कोई मनोरंजन-कर नहीं ले और यदि ले भी तो अनिवार्य रूप से उसको राज्य में नाटक के विकास में सहायता पहुँचाने के कार्य में फिर से अवश्य लगाये। यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर बहुत ही गम्भीरतापूर्वक विचार होना आवश्यक है।

इस विवेचन में मूलतः अव्यावसायिक नाटक-मण्डलियों की बाह्य समस्याओं पर ही अभी तक विचार किया गया है। किन्तु इन मण्डलियों की ऐसी आन्तरिक समस्याएँ भी हैं जो उनके कार्य को समुचित रूप से विकसित नहीं होने देतीं अथवा उसे पर्याप्त रूप में उपयोगी नहीं बनने देतीं। जैसा पहले कहा भी गया है कि अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों की इस संज्ञा में वे प्रायः सभी संगठन शामिल हैं, जो किसी न किसी उद्देश्य से नाटक खेलते हैं और टिकट लगाकर अथवा आमन्त्रित करके लोगों को दिखाते हैं। मूलतः जिस मापदण्ड से हम इन मण्डलियों का अव्यवसायी मण्डलियों के रूप में उल्लेख करते हैं वह यही कि इन मण्डलियों के सदस्य अपनी जीविका के लिए नाटक प्रस्तुत नहीं करते; साधारणतः अपने अवकाश के समय के उपयोग द्वारा ही ऐसे नाटक प्रस्तुत किये जाते हैं। यह विशेषता सामान्य रूप से इस कोटि की सभी मण्डलियों में पाई जाती है। किन्तु जब हम अव्यवसायी रंगमंच को समस्याओं पर विचार करते हैं तो मूलतः हम उन नाटक-मण्डलियों की बात ही सोचते हैं जो नाटक को अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति का एक साधन मानती हैं, जो उसके द्वारा कलात्मक मूल्यों की सृष्टि करना और हमारे सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध करने का उद्देश्य अपने सामने रखती हैं। उनमें से कई-एक तो अपने इस उद्देश्य के प्रति इतनी सजग और इतनी निष्ठावान होती हैं कि अनगिनत असुविधाओं और कठिनाइयों का सामना होने पर भी अपने इस कार्य को छोड़ती नहीं, उनके सदस्य आजीविका के लिए चाहे और कुछ कर सकें अथवा न कर सकें, नाटक के लिए अपनी समस्त सुविधाएँ त्यागने को प्रस्तुत रहते हैं। वे अपनी अन्य आवश्यकताओं को भूलकर एक प्रकार से ऐसे पागलपन के साथ नाटक के काम में जुटे रहते हैं जो केवल सच्चे कलाकार के लिए ही सुलभ है। इनमें ऐसी भी कई एक मण्डलियाँ हैं जो, यदि सम्भव हो सके तो, रंगमंच को अपना व्यवसाय भी—अर्थात् आजीविका का साधन भी—बनाने को तैयार हैं किन्तु सुविधाओं के अभाव में जिनके लिए ऐसा करना सम्भव नहीं हो पाता।

नाटक एक सामूहिक कला है। उसमें बहुत से व्यक्तियों के परस्पर सहयोग की अनिवार्य आवश्यकता होती है साथ ही अन्य सभी कला-रूपों की अपेक्षा नाटक में व्यक्तिगत प्रतिभा के विस्फोट की आवश्यकता उतनी अधिक नहीं है जितनी अनुभव-जय स्थिरता की। अभिनेता, निर्देशक तथा अन्य सहायक शिल्पी सभी पिछले अनुभव से सीख कर उन्नति करते हैं। एक ही नाटक का दूसरा प्रदर्शन पहले से अधिक व्यवस्थित और प्रभावपूर्ण होता है। नाटक में अभिनेता को एक ही कार्य बार-बार करना पड़ता है, इसलिए एक ही नाटक के कई प्रदर्शनों में बार-बार वह स्वयं ही एक नवीन भावावेग की अभिव्यक्ति का रस न प्राप्त कर सके, तो दर्शकों को भी वह उसका आस्वादन नहीं करा सकेगा। शौकिया अथवा अव्यवसायी नाटक को एक या दो बार से अधिक नहीं खेलते, कुछ साधनों के अभाववश और कुछ इस कारण कि एक ही नाटक बार-बार दोहराने की अपेक्षा नया खेलने की प्रवृत्ति आकर्षक लगती है। उनकी कला का स्तर ऊँचा न उठ सकने का यह बड़ा भारी कारण है। व्यवसायी मण्डलियाँ, अथवा ऐसी अव्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ जो अपनी कार्य-पद्धति में व्यवसायी नाटक-मण्डलियों के समान ही हैं, इसीलिए अपने कार्य को अधिक ऊँचे स्तर का बना सकती हैं। किन्तु इसके विपरीत बहुत-सी शौकिया नाटक-मण्डलियों में अपने कार्य के प्रति बहुत बार ऐसा गहरा अनुराग होता है कि उनके प्रदर्शन में व्यवसायी बुद्धि की यान्त्रिकता नहीं होती, उसमें सदा सच्ची आत्मा-भिव्यक्ति की सम्भावना रहती है। इसी से अव्यवसायी रंगमंच की निष्ठा, उत्साह और सच्चाई का व्यवसायी रंगमंच की निपुणता के साथ योग होना बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि हमारे देश में नाटक और रंगमंच का वास्तविक भविष्य इन अव्यवसायी मण्डलियों की उन्नति से जुड़ा हुआ है, चाहे वे मण्डलियाँ वर्ष में एक-दो नाटक प्रस्तुत करने वाली हों अथवा ऐसी जो वर्ष भर में एक ही श्रेष्ठ नाटक के बीस, पच्चीस, पचास प्रदर्शन करती हों। सिनेमा की प्रतियोगिता में जहाँ पश्चिमी देशों तक में, रंगमंच की सुदीर्घ परम्परा के बाद भी व्यवसायी नाटक-कम्पनी टिक नहीं पाती, वहाँ हमारे देश में उसका शीघ्र ही पैर जमा लेना बहुत ही कठिन काम जान पड़ता है। और जैसा कि पहले कहा गया, व्यवसाय की दृष्टि से नाटक कम्पनी चलाना आज के युग में कोई बहुत आकर्षक कारोबार नहीं है। इसलिए जिस हद तक अव्यावसायिक नाटक-मण्डली तरुण प्रतिभा को इकट्ठा करके उनकी सृजन-शक्ति का अधिकाधिक उपयोग कर सकेगी, उसी हद तक हमारे देश में रंगमंच की परम्परा का फिर से निर्माण हो सकेगा और धीरे-धीरे वह परम्परा दृढ़ हो सकेगी। तभी जन-साधारण में नाटक के प्रति इतना अनुराग भी बढ़ सकेगा और नाटक हमारे सांस्कृतिक जीवन का इतना अविच्छिन्न अंग बन सकेगा कि उसको कोई

स्थायी और नियमित रूप प्राप्त हो सके। आज तो अव्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ न केवल हमारी कला के श्रेष्ठतम रंग-शिल्पियों को गढ़ रही हैं, बल्कि वे साथ ही उस व्यापक प्रेक्षक-वर्ग का भी निर्माण कर रही हैं जिसके बिना कोई रंगमंच न तो टिक ही सकता है, न महत्वपूर्ण सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण ही कर सकता है।

यूरोपीय नाट्य-शास्त्र का विकास

—डॉ० रामअवध द्विवेदी

यूरोप में नाटकों के संबंध में चिंतन दो भिन्न प्रकार से हुआ है। एक ओर तो दार्शनिकों तथा आचार्यों ने नाट्य-साहित्य के आधारभूत सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत की है और दूसरी ओर रंगशाला तथा अभिनय-कला के विशेषज्ञों ने नाटकों का व्यावहारिक मूल्यांकन उनके प्रभाव की दृष्टि से किया है। पहले प्रकार का विवेचन यदि अधिक सैद्धान्तिक और शास्त्रीय है तो दूसरा लोक-संग्रह से संबंधित होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम इस निबंध में मुख्यतः शास्त्रीय-पक्ष पर ही विचार करेंगे, यद्यपि व्यावहारिक पक्ष का उल्लेख कुछ न कुछ अनिवार्य है।

प्लेटो के लेखों और एरिस्टोफेन्स की कृतियों में नाटक के स्वरूप और प्रभाव से संबंधित अनेक विचार प्रसंगवश व्यक्त हुए हैं। ये विचार अत्यन्त गंभीर हैं किन्तु क्रमबद्ध रीति से किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करते हैं। नियमित और विस्तृत रीति से अपनी स्थापनाओं का उल्लेख करने वाले सर्व-प्रथम यूनानी आचार्य अरस्तू थे, जिनके काव्य-शास्त्र के बहुत बड़े भाग में नाट्य-सिद्धान्त का विवेचन है। अरस्तू दार्शनिक थे और उन्होंने ऐसे सामान्य सिद्धान्तों और नियमों का प्रतिपादन किया है जिनका महत्त्व शाश्वत और सार्वभौम है। इसी कारण वे यूरोपीय नाट्य-शास्त्र के प्रथम प्रणेता एवं अधिष्ठाता माने जाते हैं। किन्तु साथ ही साथ यह भी उल्लेखनीय है कि उनका दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक था और उनके निष्कर्ष उपलब्ध तथ्यों के निरीक्षण पर अवलंबित हैं। उनके सिद्धान्तों की रचना उनके युग तक लिखे गये नाटकों के अनुशीलन पर आधारित है, केवल कल्पना अथवा निराधार चिन्तन पर नहीं। अपने काव्य-शास्त्र में अरस्तू ने नाटकों को केवल काव्य का एक प्रकार मानकर अपने विचार प्रकट किये हैं तथा नाटकों एवं रंगशाला के परस्परिक संबंध को अभेद्य नहीं माना है। तब भी यह मानना पड़ेगा कि व्यावहारिक पक्ष पर भी उनका वैसा ही अधिकार है जैसा सिद्धान्त-पक्ष पर।

अरस्तू ने काव्य-शास्त्र के प्रायः बीस अध्यायों में दुखान्त नाटकों का विशद विवेचन किया है। काव्य होने के नाते ट्रेजडी जीवन की अनुकृति मानी गई है अर्थात् उसमें जीवन के तथ्य अपने सामान्य, सार्थक एवं सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किये जाते

हैं। इस के उपरान्त वस्तु-निर्माण के नियमों का उल्लेख है। कथानक में विस्तार होना आवश्यक है और उसकी नियोजना क्रियान्विति के आधार पर होनी चाहिए। नायक अपने विकृत दृष्टिकोण अथवा ज्ञान के कारण यातना भोगता हुआ विनिष्ट होता हैन ट्य-वस्तु की रोचकता के लिए भाग्य-परिवर्तन एवं अभिज्ञान वांछनीय है। ट्रेजडी (त्रासदी) में वस्तु-विन्यास कामहत्त्व चरित्र-चित्रण से कहीं अधिक है और उसका प्रभाव कथानक से उद्‌भूत होना चाहिये केवल मात्र दृश्य-विधान से नहीं। ट्रेजडी भय और करुणा के भावों को उत्तेजित करके उनका रेचन करती है और फलतः दर्शकों और पाठकों में समुचित मानसिक संतुलन की स्थापना होती है। अरस्तू के ट्रेजडी संबंधी विचारों का यही अत्यन्त संक्षिप्त सारांश है।

काव्य-शास्त्र की रचना ईसा पूर्व सन्३३० में हुई थी। उस समय तक एसकिलस, सोफोक्लीज़, यूरिपिडीज़ प्रभृति महान नाट्यकार यूनानी ट्रेजडी को अत्यन्त समृद्ध बना चुके थे। अरस्तू ने उन महान कवियों की रचनाओं पर विचार करने के उपरान्त अपने नाट्य-शास्त्र की रचना की; अतः उनके ट्रेजडी शम्बंधी विचारों में मौलिकता है संपूर्णता मिलती है। काव्य-शास्त्र के रचना काल तक यूनानी कामेडी अपने चरम विकास पर नहीं पहुँची थी, कदाचित् इसीलिए अरस्तू ने उन की विस्तृत विवेचना नहीं की। केवल एक अध्याय में उनके कामेडी संबंधी विचार अत्यन्त संक्षिप्त रूप में मिलते हैं। कहा जाता है कि काव्य-शास्त्र का जो ग्रंथ आज उपलब्ध है वह खंडित है अतः अन्त के अध्याय जिनमें कॉमेडी की व्याख्या की गई थी आज प्राप्य नहीं हैं। यह एक अनुमान है जो पता नहीं कहाँ तक ठीक है। परवर्ती युगों में अरस्तू के स्वल्प कथन की टीका करते हुए अन्य विचारकों ने अधिक विस्तृत रीति से कामेडी के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

रोम के प्रसिद्ध कवि तथा साहित्य-शास्त्री होरेस का प्रादुर्भाव ईसा पूर्व प्रथम शती में हुआ। "एपिसिल टु पिसौस" (आर्स-पोयटिका) में कतिपय नाट्य-नियमों का उल्लेख किया गया है अतएव नाट्य-शास्त्र के प्राचीन निर्माताओं में उनका भी महत्व-पूर्ण स्थान है। उनके विचारों में उतनी मौलिकता नहीं है जितनी कि अरस्तू के विचारों में। उन्होंने स्वयं निरीक्षण और अनुशीलन द्वारा नवीन सिद्धान्तों की स्थापना नहीं की है, अपितु केवल प्राचीन नियमों को नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। यूनानी साहित्य तथा दार्शनिक चिन्तन के प्रति उनके मन में अनन्त श्रद्धा थी। अतः उन्होंने अपने युग के लोगों को उपदेश दिया कि वे यूनानी प्रतिमानों को ग्रहण करें। उन्होंने कतिपय सामान्य नियमों का निरूपण करते हुए उनकी व्यावहारिक उपयोगिता पर बल दिया है। यही उनके विचारों का वैशिष्ट्य है। होरेस ने सर्वप्रथम नाटकों को अधिक-से-अधिक पांच अंकों में विभक्त करने का आदेश किया। उनका सबसे अधिक

आग्रह चरित्र-चित्रण के औचित्य पर है। पात्र कल्पना, वय, परिस्थिति, व्यवसाय इत्यादि के अनुकूल होने चाहिये। सुव्यवस्थित वस्तु-संघटना पर आधारित प्रभाव-ऐक्य के सिद्धान्त का होरेस ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। नाटकों में कुछ विशिष्ट प्रकार के छन्दों के प्रयोग तथा कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियों के रंगमंच-प्रदर्शन के अनौचित्य पर भी "आर्स पोयटिका" में प्रकाश डाला गया है। होरेस ने नवीन बातें बहुत कम कहीं हैं किन्तु उनके कहने का ढंग अनोखा है। उन्होंने जो कुछ कहा है वह व्यावहारिक उपादेयता के विचार,से कहा है। इसीलिए यूरोपीय नव-जागरण के प्रारम्भ से लेकर प्रायः अठारहवीं शती के अंत तक होरेस के नाट्य-सम्बन्धी विचारों को अत्यधिक मान्यता मिली है। वे बार-बार दोहराये गये और थोड़े-बहुत परिवर्तन और परिवर्धन के साथ उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रचलन इन तीन सौ वर्षों के काल में बना रहा।

मध्य-युग के आरम्भ होने के पूर्व रोमन साम्राज्य के विघटन-काल में रोम की प्रशस्त रंगशालाओं में नाटकों का प्रदर्शन बन्द हो गया। ईसाई धर्माचार्यों ने उन्हें अनैतिक तथा पापमय घोषित कर दिया तथा नाट्य-अभिनय को बन्द करने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा दी। इसी समय रोम बर्बर जातियों द्वारा आक्रान्त हुआ तथा अराजकता और अशान्ति के कारण भी रंगशालाओं का बन्द होना अनिवार्य हो गया। फल यह हुआ कि मध्ययुग के प्रायः पाँच सौ वर्षों में यूरोप में नाटकों का अस्तित्व ही नहीं था। दशवीं शती के लगभग गिरजाघरों में नाटकों का पुनर्जन्म हुआ तथा विकास की प्राथमिक अवस्थाओं को पार करता हुआ वह सोलहवीं शती में पूर्णत्व को प्राप्त हुआ। इस प्रकार नाट्य-साहित्य के लिये मध्य-युग के प्रायः एक सहस्र वर्ष कोई विशेष महत्व नहीं रखते। नाट्य-आलोचना के लिये भी यही बात लागू है। पादरियों का नाटक के प्रति विरोध निरन्तर चलता रहा। उन लोगों ने अपने लेखों में बराबर नाटकों और नाट्य-अभिनय की निन्दा की है। उदाहरणार्थ सेन्ट आगस्टाइन ने अपने संस्मरण में अपनी युवावस्था में नाटकों के अध्ययन तथा नाट्य-अभिनय में भाग लेने के लिये घोर पश्चात्ताप प्रकट किया। उन्होंने यूनान और रोम के महानतम नाट्य-रचयिताओं की कृतियों का उल्लेख तिरस्कारपूर्वक किया है। अन्य पादरियों का भी यही स्वर है जो दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी तक अत्यन्त प्रखर रहता है। मध्य-युग में एक-दूसरी श्रेणी के भी लेखक थे जिन्होंने नाटकों के सम्बन्ध में अधिक सहानुभूतिपूर्वक लिखा है। तब भी उनके विवेचन में मौलिकता का अभाव है। प्रायः सभी लोगों ने होरेस के शब्दों को ही हेरफेर कर दुहराया है। मध्य-युग में अरस्तू का काव्य-शास्त्र तो लुप्तप्रायः था, अतः होरेस की ही मान्यता सर्वोपरि थी। डोनेटस, डायोमिडीज, जॉन आफ़ सेलिसबरी, डान्टे

प्रभृति विचारकों पर होरेस की छाप साफ़-साफ़ दिखाई देती है। सिसरो और होरेस से प्रभावित होकर इन विचारकों ने कॉमेडी के बारे में अपने विचार को कुछ विस्तार से प्रकाशित किया है। ट्रेजडी और कॉमेडी के भेद को व्यक्त करते हुए डोनेटस ने लिखा है कि ट्रेजडी में कथा नायक के सुख से दुख और मृत्यु की ओर अग्रसर होती है किन्तु कॉमेडी में परिवर्तन का क्रम इसके विपरीत होता है। नायक कठिनता से छुटकारा पाकर सुख और शान्ति को प्राप्त करता है। यदि हम शेक्सपियर के सुखान्त नाटकों पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उनकी रचना कामेडी के इसी मध्ययुगीन आदर्श पर हुई है।

मध्य-युग के समाप्त होने पर यूरोपीय नव-जागरण का काल आरम्भ हुआ। परिवर्तन के चिह्न पन्द्रहवीं शताब्दी में दिखाई देने लगे, किन्तु उसका प्रभाव सोलहवीं शती तथा सत्रहवीं शती के मध्य तक इटली, फ्रांस, इंगलैण्ड प्रभृति देशों में स्पष्ट रीति से प्रकट हुआ। पन्द्रहवीं शती के कुछ पूर्व से ही प्राचीन यूनानी तथा लैटिन पाण्डु-लिपियों की खोज प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु सन् १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनियाँ पर तुर्कों के अधिकार होने के उपरान्त उसका क्रम तीव्र गति से आगे बढ़ा। सिसरो, होरेस, क्विन्टिलियन आदि की रचनाएँ फिर जनता के सम्मुख आईं और उनकी टीकाएँ और व्याख्याएँ लिखी गईं। उनकी कृतियों का प्रभाव तो नवयुग की विचार-पद्धति पर पड़ा ही किन्तु उन सबसे अधिक सशक्त प्रभाव था अरस्तू का। अरस्तू का काव्य-शास्त्र अरब और सीरिया से पुनः प्राप्त किया गया और उसका यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। सन् १५३५ ई० में यूनानी भाषा में उसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। और सन् १५५० ई० तक उक्त पुस्तक के अनेक संस्करण निकल चुके थे। सन् १५६५ में ट्रेण्ट नामक स्थान पर एकत्र पादरियों की सभा ने अरस्तू के काव्य-शास्त्र को वही महत्ता प्रदान की जो ईसाई धर्म के नियमों को मिलती है। कहने का अभिप्राय यह है कि नव-जागरण के युग में आद्योपान्त अरस्तू का प्रभाव सबल और प्रशस्त बना रहा। नाट्य-शास्त्र के क्षेत्र में तो एक प्रकार से उन्हीं का आधिपत्य था। इटली के वे प्रायः सभी विद्वान जिन्होंने इस युग में नाट्य-शास्त्र पर अपने विचार व्यक्त किये, अरस्तू के अनुगामी थे। उन्होंने अरस्तू के ही सिद्धान्तों को अधिक कठोर रूप में प्रस्तुत किया। ट्रेजडी की व्याख्या इन सभी इटालियन विद्वानों ने अरस्तू के लेखों के आधार पर की है। रूप-सौष्ठव पर अत्यधिक आग्रह है। अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र में सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। नव-जागरण के काल में बार-बार यह सिद्धान्त ज़ोर देकर दुहराया गया। इसी भाँति

ग्रौचित्य की ग्रावश्यकता को भी विशेष महत्त्व दिया गया। इसका अर्थ यह था कि नाटक में सन्निविष्ट पात्रों में वैयक्तिक विशेषताओं की अपेक्षा श्रेणीगत विशेषताएँ अधिक वांछनीय थीं। कास्टलविट्रो ने नाट्यान्वितियों के सिद्धान्तों को एक दम कठोर तथा अनुल्लंघनीय बना दिया। अरस्तू ने क्रियान्विति की ही व्याख्या की थी किन्तु कास्टलविट्रो ने तीनो अन्वितियों अर्थात् क्रियान्विति, कालान्विति तथा स्थानान्विति को समान मान्यता प्रदान की।

पुनर्जागरण काल का यह क्लासिकीय आन्दोलन इटली से चल कर फ्रांस पहुँचा। उस समय यूरोप-निवासियों के लिये इटली के प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र मान्टुआ, फ्लोरेन्स आदि पुनीत तीर्थस्थान थे और पेरिस तथा अन्य फ्रांसीसी नगरों से लोग वहाँ नित्य जाया करते थे, अतः इटालियन विचारों का फ्रांस में संक्रमण हुआ और फ्रांसीसी विद्वानों ने भी नाटकों के सम्बन्ध में प्रायः वही बातें कहीं जो अरस्तू के अनुगामी इटालियन विद्वानों ने कही थीं। इंगलैंड से पुनर्जागरण का पूर्ण प्रभाव सोलहवीं शती के मध्य तक परिलक्षित हुआ। वहाँ भी नाट्य-शास्त्र के विषय पर उसी प्रकार चिन्तन हुआ जैसा कि इटली और फ्रांस में। सर फिलिप सिडनी ने नाट्यान्वितियों का समर्थन किया तथा ट्रेजडी और कामेडी के मिश्रण की घोर निन्दा की। स्मरण रखने की बात है कि सर फिलिप सिडनी के समय तक इंगलैंड में अनेक दुःखान्त-सुखान्त नाटक लिखे जा चुके थे, और कुछ वर्षों बाद ही शेक्सपियर के नाटक लिखे जाने वाले थे जिनको हम न तो विशुद्ध ट्रेजडी और न विशुद्ध कामडी ही कह सकते हैं। सर फिलिप सिडनी के उपरान्त बेन जॉन्सन के विचार उल्लेखनीय हैं। वे प्राचीन साहित्य के उद्‌भट विद्वान् और प्राचीन नियमों के प्रबल समर्थक थे। अपने युग में उन्होंने अरस्तू और होरेस द्वारा प्रतिपादित नियमों को फिर से स्थापित करने के निमित्त प्रबल प्रयास किया। नाट्य-शास्त्र की प्राचीन स्वीकृतियों की बेन जॉन्सन ने अपने शब्दों में व्याख्या की तथा अनेक नाटक प्राचीन परिपाटी पर लिख कर अपने समकालीन लेखकों के लिये आदर्श प्रस्तुत किया। मिल्टन ने अपने नाटक "सेम्सन एगोनिस्टीज़" की भूमिका में यूनानी दुःखान्त नाटकों के मूल सिद्धान्तों का एक बार पुनः उद्‌घाटन किया। वे अंग्रेज़ी पुनर्जागरण के अन्तिम प्रतिनिधि थे। उपर्युक्त विवेचन से हम देखते हैं कि यूरोप के प्रायः सभी सभ्य देशों में लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक नाटकों के क्षेत्र में एक ही ढर्रे पर चिन्तन हुआ। सभी ने प्राचीन क्लासिकीय मार्ग का अनुसरण किया, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि मध्य-युग का इन विचारकों पर तनिक भी प्रभाव न पड़ा था। नाट्य-रचना में दो प्रभावों का, प्राचीन क्लासकीय तथा नवीन देशी प्रभाव का एकीकरण सर्वत्र हुआ। इसी भाँति नाट्य-

शास्त्र के क्षेत्र में भी प्राचीन सिद्धान्त जिनकी पुनः स्थापना हो रही थी मध्य-युगीन मान्यताओं से किसी न किसी अंश में अवश्य प्रभावित और परिवर्तित हुए थे।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रान्सीसी काव्य-चिन्तन निरन्तर क्लासिकीय आदर्श की ओर अधिकाधिक झुकता गया। अन्त में लगभग १६३६-३७ के उपरान्त उसका वह रूप विकसित हुआ जिसे नियो-क्लासिसिज़्म अर्थात् नवीन-क्लासिकीय मत की संज्ञा मिली है। इस मत में काव्य ने सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमा लिया, किन्तु हमारा मूल प्रयोजन यहाँ नाट्य-शास्त्र से है अतः हम उसका ही ज़िक्र करेंगे। सन् १६३६ में कार्नील का "द सिड" नामक नाटक रंगमंच पर खेले जाने के पश्चात प्रकाशित हुआ और निर्विलम्ब उसके सम्बन्ध में एक दीर्घ वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ जिसमें स्कडरी, चैपलेन, कार्नील के अतिरिक्त अनेक लेखकों ने भी भाग लिया। इस वाद-विवाद में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न जनता के सम्मुख आये जिनमें सर्व प्रधान यह सवाल था कि एक ही नाटक में दुःखद और सुखद उपकरणों का समावेश होना चाहिए अथवा नहीं। वास्तव में यह प्रश्न दुःखान्त-सुखान्त नाटकों के अस्तित्त्व के औचित्य का था। विशुद्ध नव-क्लासिकीय मत के अनुयायियों ने उपर्युक्त नाटक की कठोर आलोचना की किन्तु इसके समर्थक भी थे जिन्होंने अरस्तू और होरेस का नाम लेकर इस नवीन प्रकार के नाटक की प्रशंसा की। सन् १६३६ से लेकर प्रायः सत्रहवीं शती के अंत तक अनगिनत आलोचकों और नाटककारों ने नाट्य-शास्त्र के विविध विषयों पर अपने विचार प्रकट किये। विस्तार-भय से केवल हम उनके निष्कर्षों की ओर संकेत करेंगे। अरस्तू और होरेस इस युग के सर्वमान्य प्राचीन आचार्य थे और प्रत्येक लेखक अपने समर्थन में उन्हीं के विचारों का उल्लेख करता था। कार्नील, मोलियर, रासीन, बोआलो, प्रभृति लेखकों ने अरस्तू और होरेस की अधिकांश बातें दुहराई हैं। किन्तु साथ ही साथ उन्होंने कुछ विशेष बातों पर अत्यधिक बल दिया है। प्रायः सभी ने नाटकों के उद्देश्य की व्याख्या करते हुए होरेस की भाँति नैतिक शिक्षा को आनन्द से भी अधिक आवश्यक बताया है। कार्नील ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है, किन्तु अन्य लोगों ने भी इस प्रश्न पर थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य डाला है। दूसरा प्रमुख विवेच्य विषय है नाटकों की वस्तु-संघटना। इस युग के फ्रांसीसी आलोचकों और नाट्य-रचयिताओं ने समान रूप से सादे और सुगठित नाट्य-वस्तु की प्रशंसा की है। रासीन ने अपनी भूमिकाओं में सुडौल और सादी कथानक की आवश्यकता पर बल दिया है। अन्वितियों के प्रश्न पर प्रायः सभी एकमत थे और यह मानते थे कि तीनों अन्वितियों का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। होरेस का अनुसरण करते हुए इन लोगों ने नाटकों में घटनाओं के वर्णन की प्रथा को आश्रय दिया है। इस युग में यह एक आवश्यक नियम माना गया कि नाटक के विविध दृश्य एक दूसरे से भली प्रकार गुम्फित हों।

बोग्रालो ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "आर्ट पोयटिक" अथवा काव्य-कला में सुरुचि, सादगी तथा निर्माण-सौष्ठव के क्लासिकीय आदर्श को अत्यन्त प्रभावोत्पादक रीति से प्रस्तुत किया। फल यह हुआ कि फ्रांस इस नवीन साहित्यिक विचार-धारा का प्रमुख केन्द्र बन गया और वहाँ से इसका प्रभाव विभिन्न देशों में फैलने लगा।

नव-क्लासिकीय प्रभाव १६५० ई० के उपरान्त इंगलैंड में फैला तथा विकसित हुआ। राइमर सदृश कुछ लेखकों ने फ्रांसीसी सिद्धान्तों का अंधानुकरण किया। किन्तु इस युग के सर्वमान्य कवि और आचार्य ड्राइडन ने इस नवीन मत को केवल परिवर्तित रूप में ही स्वीकार किया। नाट्य के विषय पर उसका निबंध अपने ढंग का अद्वितीय लेख है। इसमें चार व्यक्तियों के वार्तालाप के माध्यम से प्राचीन यूनानी नाटक, ड्राइडन के पूर्ववर्ती युग के नाटक, ड्राइडन के समकालीन फ्रांसीसी नाटक तथा सामान्य रीति से अंग्रेज़ी नाटक इन चारों का सापेक्ष्य विवेचन किया गया है। सबसे रोचक अंश वह है जिसमें फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी नाटकों की तुलना द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि कठोर नियमों के बंधन से नाटकों का समुचित विकास नहीं होता। अन्य अंग्रेज़ नाट्य-आलोचकों में डा० जॉन्सन का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों का संपादन किया है और उन लोगों की भूमिका में उनके गुण-दोषों पर प्रकाश डाला गया है। उन्होंने नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया है। केवल कतिपय नियमों के सहारे नाटकों का मूल्यांकन मात्र किया है। तब भी वे इसलिये श्रद्धा के पात्र है कि उनका दृष्टिकोण सदैव स्वतंत्र और विवेकपूर्ण रहा है। नव-क्लासिकीय नियमों के प्रति उनका आदर अवश्य था किन्तु वे उनके दास नहीं थे। नव-क्लासिकीय प्रभाव स्पेन, इटली आदि देशों में भी फैला, जहाँ उसका पहले तो कुछ विरोध हुआ किन्तु फिर उसे स्वीकृति प्राप्त हुई। इस प्रकार सत्रहवीं शती के मध्य से लेकर अठारहवीं शती के मध्य तक के सौ वर्षों में यूरोपीय नाट्य-शास्त्र के अन्तर्गत इसी नवीन मत की सबसे अधिक मान्यता थी।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य के आस-पास नाट्य-आलोचना के क्षेत्र में संक्रांति उपस्थित हो गई। विरोधी विचार-धाराओं की मुठभेड़ होने के कारण स्थिति कुछ अस्पष्ट सी प्रतीत होती है। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है डा० जॉन्सन नव-क्लासिकीय विचारधारा के प्रतिनिधि होते हुए भी कुछ बातों में अत्यन्त उदार विचार के थे। काव्य-प्रतिभा को उन्होंने नियमों से ऊपर की वस्तु मान इसीलिये उन्होंने शेक्सपियर की बार-बार प्रशंसा की, यद्यपि उस महाकवि के नाटकों में अधिकांश नव-क्लासिकीय नियमों का अतिक्रमण हुआ है।

शेक्सपियर की लोकप्रियता तथा भाव-प्रवण साहित्य के बढ़ते हुए प्रचलन ने

मिलकर नाट्य-आलोचना की दिशा बहुत-कुछ बदल दी। कठोर नियमों के हिमायती अब भी विद्यमान थे। फ्रांस में वाल्टेयर ने अन्विति-त्रय की भूरि-भूरि प्रशंसा की। शेक्सपियर और स्पेन के नाटककार लोप डि वीगा की कृतियों को जिनमें तीनों अन्वितियों का पालन नहीं हुआ है उन्होंने बर्बर कला बता कर नाटक के परिष्करण का श्रेय फ्रांसीसियों को दिया। वे प्रायः सभी बातों में कार्नील, रासीन प्रभृति पूर्ववर्ती विचारकों के भक्त और अनुयायी हैं। एक अन्य प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक और विचारक डिडरॉट के विचार कहीं अधिक उदारतापूर्ण हैं। अंग्रेज़ी भावना-प्रधान नाटकों से प्रभावित होकर उन्होंने कई स्थलों पर नाटक के नैतिक उद्देश्य की विशद व्याख्या की है। इस काल में फ्रांस और जर्मनी में ऐसे नाटक बड़ी संख्या में लिखे जा रहे थे जिनमें नैतिकता पर विशेष आग्रह था। डिडरॉट ने "सीरियस कॉमडी" अर्थात् गंभीर सुखान्त-नाटकों की विवेचना में बताया है कि ऐसी रचनाओं का प्रमुख प्रयोजन है प्रेक्षकों तथा पाठकों का नैतिक स्तर ऊँचा करना। इसके अतिरिक्त उन्होंने कठोर नव-क्लासिकीय नियमों को उनके विशुद्ध रूप में स्वीकार नहीं किया है।

सन् १७६७ से लेकर १७६९ तक प्रसिद्ध जर्मन लेखक तथा आलोचक लेसिंग ने अपने हैम्बर्ग नाट्य-शास्त्र की रचना की। कुछ बातों में यह रचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मूलतः लेसिंग अरस्तू का अनुयायी है। फ्रांसीसी नव-क्लासिकीय विचार-शैली को उसने पूर्ण रूप से अस्वीकार करके अरस्तू के नाट्य-शास्त्र को मूल्यांकन का अन्तिम मापदण्ड माना है, किन्तु साथ ही साथ वह अपने युग के भावना-प्रधान नैतिक आदर्शों से भी गहराई तक प्रभावित हुआ था। अतः नैतिकता की बात बार-बार उठाई गई है और ऐसे नाटकों की प्रशंसा की गई है जिसमें नायक अपने नैतिक तथा धार्मिक विश्वासों के लिये आत्म-बलिदान करता है। लेसिंग सहज जीवन और सहज प्रतिभा के समर्थक थे, कदाचित् इसीलिये शेक्सपियर के नाटक उनको कदापि अप्रिय नहीं हैं। शेक्सपियर की आलोचना उन्होंने अरस्तू के सिद्धान्तों के आधार पर करते हुए उनका समर्थन किया है। हैम्बर्ग की राष्ट्रीय रंगशाला में अभिनीत नाटकों की आलोचना के रूप में लेसिंग का जगद्विख्यात नाट्य-शास्त्र लिखा गया है। अतएव सिद्धान्त-निरूपण के साथ उसमें सदैव व्यावहारिकता का पुट मिलता है। लेसिंग ने नितान्त नवीन नियमों की स्थापना तो नहीं की है किन्तु उसके कथन अत्यन्त विवेकपूर्ण और संतुलित हैं अतः अन्तिम मूल्यांकन में नाट्य-शास्त्र के विकास-क्रम में उसका सम्मानपूर्ण स्थान है।

जर्मनी में शिलर और गेटे के विचारों में प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण मिलता है। शिलर ने अपने नाटक 'द राबर' की भूमिका में एक नवीन प्रकार के नाटक

की कल्पना उपस्थित की जिसमें वर्णनात्मक तथा नाटकीय विशेषताओं का साथ-साथ समावेश था। उस नाटक के पात्र स्वगत भाषण द्वारा आत्म-प्रकाशन करते हैं। ट्रेजडी पर अपने अत्यन्त गम्भीर विचार शिलर ने अरस्तू की परम्परागत शैली पर प्रकाशित किये हैं; तब भी विवेचन के ढंग में पर्याप्त मौलिकता है। यही बात गेटे के भी सम्बन्ध में सत्य है। शिलर और गेटे काव्य-मर्मज्ञ थे। अतः उन्होंने अनेक चमत्कारपूर्ण बातें कहीं हैं यथा वर्णनात्मक काव्य नवीन को प्राचीन, तथा नाटक प्राचीन को नवीन बनाता है। दोनों विचारकों ने मुक्तक तथा नाटक के भेद को अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। मुक्तक हमारी मानसिक अवस्था का सीधा प्रकाशन है किन्तु नाटक में हमारी मनोवृत्तियाँ क्रिया के माध्यम से व्यक्त होती हैं। शिलर और गेटे के पश्चात् जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड सर्वत्र साहित्य में रोमानी विशेषताओं का प्रचार बढ़ा। जर्मन आचार्य श्लेगल आदि ने नाटकों के लेखन तथा मूल्यांकन के लिये नवीन सिद्धान्तों की घोषणा की। ये सभी शेक्सपियर की रचनाओं से प्रभावित हुए थे। अतः उन्हीं का आदर्श इन लोगों ने प्रसारित करना चाहा। रोमानी नाट्य-शास्त्र की सबसे उग्र स्वर में घोषणा करने वाले फ्रांसीसी कवि और लेखक विक्टर ह्यूगो थे। उनके स्वरचित क्रामवेल नाटक की भूमिका रोमानी सिद्धान्तों का घोषणा-पत्र मानी जाती है। विक्टर ह्यूगो का मत था कि समय और परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ काव्य-रूपों का आदर्श भी अवश्य बदलता है। अतः उन्नीसवीं शताब्दी में यूनानी नाटकों की परम्परा को अपरिवर्तनीय मानना मूर्खता थी। नवीन रोमानी नाटकों में जीवन का अधिक सम्यक्, सजीव और सच्चा निरूपण मिलता है। इस बात पर ह्यूगो ने बल दिया है। अंग्रेज़ नाट्य-आलोचकों में कोलरिज गाम्भीर्य और मौलिकता के विचार से सर्वोपरि थे। शेक्सपियर के नाटकों के सम्बन्ध में उनके विचार अत्यन्त मार्मिक हैं। उन्होंने क्रमबद्ध रीति से नाटकों के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त-निरूपण नहीं किया है। तथापि उनके लेखों में बिखरे हुए कथन अत्यन्त विचारणीय हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने 'लिविंग सस्पेन्सन ऑफ डिसबिलीफ़' अर्थात अविश्वास के स्वैच्छिक अवरोध की बात लिखी है जो नाटकीय-भ्रांति के महत्वपूर्ण सिद्धान्त का आधार मानी गयी है। लैम्ब की आलोचना मुख्यतः व्यावहारिक है। हैज़लिट ने भी कवियों और नाट्य-रचयिताओं तथा उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया है किन्तु यत्र-तत्र ऐसे कथन भी मिलते हैं जिनका सैद्धांन्तिक मूल्य भी है यथा उनका यह कथन कि कामेडी के विशाल स्तम्भों पर सुसंस्कृत समाज को आश्रय मिलता है। आगे चल कर मेरेडिथ और बर्गसाँ ने इसी विचार को अधिक स्फुट किया। यहाँ उन दार्शनिकों के भी बारे में कुछ कह देना आवश्यक है जिन्होंने नाटकों से सम्बन्धित प्रश्नों पर इस युग में विचार किया। कान्ट, हीगेल, शापेनहावर,

इत्यादि जर्मन दार्शनिकों ने अपने सौन्दर्य-शास्त्र के विवेचन के अन्तर्गत ट्रेजडी और कामेडी के मूलभूत सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला। इनमें हीगेल विशेष उल्लेखनीय हैं। अरस्तू के उपरान्त उनकी ट्रेजडी की व्याख्या सर्वाधिक महत्व रखती है और किसी अंश में अरस्तू के विचारों में जो अभाव रह गये थे उनकी पूर्ति करती है। नैतिक-तत्त्व के आत्म-विभाजन और अन्तर्द्वन्द्व की बात सबसे पहले हीगेल ने ही कही थी तदुपरान्त इस सिद्धान्त पर पर्याप्त विचार हुआ है और उसे सर्वत्र मान्यता मिली है। जिन विद्वानों का हमने अभी उल्लेख किया है वे मुख्यतः दार्शनिक थे और उन्होंने नाटकों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह दर्शन और सौन्दर्य-शास्त्र के संदर्भ में ही लिखा है। अतः उसके बारे में कुछ अधिक कहना आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धांश में यूरोप के प्रायः सभी देशों में रंगशाला और नाट्य-प्रदर्शन ह्रासोन्मुख थे। जनता की अभिरुचि भी विह्वल हो गई थी और इसीलिये उच्चकोटि के नाटकों की रचना और प्रदर्शन को प्रोत्साहन नहीं मिलता था। कोलरिज, हैज़लिट, लैम्ब, श्लेगल प्रभृति आलोचकों ने प्राचीन नाट्य-साहित्य पर एक नवीन सिरे से विचार किया है। जैसा हम अभी कह चुके हैं, दूसरी कोटि में वे पण्डित और आचार्य आते हैं जिनका मुख्य प्रयोजन दर्शन से था और जिन्होंने अपने दार्शनिक मत के परिपोषण के लिये नाटकों पर विचार किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे अर्द्धांश में परिस्थिति कुछ बदलने लगी। रोमानी अभिव्यञ्जना के स्थान पर अब यथार्थ निरूपण की शैली अधिकाधिक अपनाई गई। फ्रांसीसी लेखक इस बात को लेकर दो विभिन्न मतों में बँट गये। एक दल के नेता थे 'सार्सी' जिन्होंने चमत्कारपूर्ण घटनाओं को लेकर सुनिर्मित नाटकों का प्रबल समर्थन किया। दूसरी और ड्यूमास, फिल्स, ज़ोला आदि ने सामाजिक समस्याओं को विषय बना कर यथार्थवादी नाटकों की नवीन परंपरा स्थापित की। इसी परम्परा में इब्सन, स्ट्रिंडबर्ग तथा बर्नार्डशा आदि आते हैं। बर्नार्डशा ने अपने बहुसंख्यक निबन्धों और भूमिकाओं में रोमानी विचारधारा और सुनिर्मित नाटकों को लिखने की प्रथा को एक साथ चुनौती दी। उन्होंने नाटकों को केवल आनन्द की वस्तु न मानकर नाट्य-रचयिताओं को सामाजिक अभ्युत्थान के लिये ज़िम्मेदार बनाया। यूरोप के सभी देशों में प्रायः आज तक यथार्थवादी नाटकों का प्रचलन हुआ है। एक दूसरी परम्परा भी जीवित है जिसका मूलस्रोत कोलरिज, तथा श्लेगल के विचारों में मिलता है। वैगनर, मेटरलिंक, टी० एस० ईलियट आदि के लेखों में काव्यात्मक प्रतीकवादी प्रणाली की नाट्य-रचना का समर्थन है। यूरोप तथा अमरीका के अभिव्यञ्जनावादी नाटक भी इसी परम्परा से सम्बद्ध हैं। इस भाँति इस समय यूरोप के नाट्य-साहित्य में

यथार्थवादी और काव्यात्मक नाटकों के समर्थकों के दो विभिन्न सम्प्रदाय हैं जिनकी तह में दो विभिन्न सिद्धान्त हैं और अलग-अलग विचारधाराएँ मिलती हैं।

नाट्य-सिद्धान्त की दृष्टि से कुछ विशिष्ट विचारकों का उल्लेख आवश्यक है। बर्गसाँ के कामेडी और हास्य से सम्बन्धित विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हम कह सकते हैं कि वे उतने ही महत्त्वपूर्ण है जितने हीगेल के ट्रेजडी से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्त। बर्गसाँ का दृष्टिकोण दार्शनिक है और उनका विश्लेषण अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण। उनके मतानुसार सुखान्त नाटकों में हास्य तीन तथ्यों पर निर्भर रहता है; हँसने वाले में सहानुभूति की कमी, जो हास्य का विषय है उसमें सामाजिक साहचर्य की अयोग्यता तथा नाटक में समाविष्ट सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था में जीवन्त उपकरणों का अभाव और यन्त्रवत् आचरण की प्रवृत्ति। एक दूसरे फ्रांसीसी थे ब्रनेटियर जिन्होंने अपने सुविख्यात नाट्य-नियम का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होने के कुछ पूर्व किया। उनकी धारणा है कि नाटकों का आविर्भाव नायक की इच्छा-शक्ति और परिस्थितियों के संघर्ष से ही होता है। इस द्वन्द्व में जब नायक की इच्छा विजयिनी होती है तब कॉमेडी की सृष्टि होती हैं और जब संघर्ष में नायक विजित होकर विनष्ट होता है तब ट्रेजडी का सूत्रपात होता है। तत्कालीन अंग्रेज़ लेखक एवं नाट्य-कला के मर्मज्ञ आचार्य विलियम आर्थर ने ब्रुनेटियर के मत का खण्डन किया। ब्रुनेटियर का सिद्धान्त कुछ नियमों पर लागू होता है किन्तु उसके सहारे हम सभी नाटकों की व्याख्या नहीं कर सकते हैं। अतएव आर्थर ने इस मत का प्रति-पादन किया कि प्रत्येक नाटक में निरन्तर आने वाली जटिल परिस्थितियों की एक शृंखला बनती है और इसीलिये उनकी रोचकता आद्योपान्त बनी रहती है। आर्थर की "प्ले मेकिंग" नामक पुस्तक नाट्य-निर्माण-पद्धति के विषय पर एक अद्वितीय पुस्तक है। उसी विषय पर उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन लेखक फेटाख ने "द टेकनीक ऑफ ड्रामा" नामक विशिष्ट ग्रन्थ लिखा था जो जर्मनी में ही नहीं सारे यूरोप में लोकप्रिय हुआ। वर्तमान शताब्दी में नाट्य-शास्त्र के कतिपय पण्डितों ने नाट्य-आलोचना में रंगशाला और अभिनय को अधिक महत्त्व दिया है। उनका मत है कि नाटक के समस्त प्रभाव को हम प्रेक्षागृह में ही ग्रहण कर सकते हैं। इस संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी है। अत: केलव उदाहरणार्थ हम गॉर्डन क्रेग, स्टेनलेवेस्की, ग्रेनविली वार्कर, ऐशले ड्यूक, एलर्डाइस निकल आदि के नामों का उल्लेख कर सकते हैं। इनकी विपरीत विचार-धारा का अग्रणी हम क्रोचे को मान सकते हैं जिनके सौंदर्य-शास्त्र में सुस्पष्ट तथा सहजबोध ही कला के वैशिष्ट्य-ग्रहण की चरम-परिणति है। इसीलिये उनके प्रमुख अनुयायी स्विनबर्न का कथन है कि

नाटकों के लिये रंगशाला की आवश्यकता नहीं है। उनका अभिनय तो अन्तःकरण की रंगशाला में होता है।

नाट्य-समीक्षा तथा नाट्य-शास्त्र की वर्तमान अवस्था कुछ उलझी हुई-सी है। मतमतान्तरों के प्रचार के कारण सारे यूरोप में एक सुस्पष्ट नाट्य-परम्परा का ढूंढ निकालना कठिन है। फलतः समृद्धि और वैविध्य के लक्षण तो परिलक्षित होते हैं किन्तु सर्वमान्य मौलिक सिद्धान्तों का आज अभाव है।

अतः नाट्य-शास्त्र के समुचित विकास के लिये यह आवश्यक हो गया है कि यूरोप के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य पर विचार करने के उपरान्त सर्वमान्य सिद्धान्त निर्धारित किये जायें। प्रो० एलर्डाइस निकल ने इसी बात को अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। उनका कहना है कि यूरोपीय नाट्य-शास्त्र के क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करना बाकी है। हम उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब कोई एक ऐसा महान् आचार्य उत्पन्न होगा जो सारे यूरोपीय नाट्य-शास्त्र के लिये उतना ही मौलिक और महत्त्व-पूर्ण कार्य करेगा जैसा आज से प्रायः ढाई हज़ार वर्ष पूर्व अरस्तू ने यूनानी नाट्य-शास्त्र के लिये किया था।

पाश्चात्य नाटक-कला के सिद्धान्त

—श्री अमरनाथ जौहरी

'थ्येटर आफ़ डायोनिसस'

नाटक का प्रादुर्भाव यूरोप में सर्वप्रथम यूनान देश में हुआ। अतः नाटक-कला के सिद्धान्त भी सर्वप्रथम वहीं सूत्रबद्ध हुये, और यह स्वाभाविक भी था।

प्राचीन यूनान के लोग अपने देवता डायोनिसस का पूजन बड़े आनन्द और उल्लास से करते थे। डायोनिसस अथवा बैकस शराब का देवता था; शारीरिक आनन्द और स्फूर्ति का देने वाला था, शोक और चिन्ता का हरने वाला था। वह शत्रुञ्जय देवता था। किंवदन्ती के अनुसार, उसने भारत तथा एशिया के विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण किया था और वहाँ अपनी पूजा स्थापित की थी। यूनान लोग उसके दिव्य-लोक में जाने का स्वप्न देखते थे जहाँ उसके प्याले से उनके समस्त दुखों का शमन हो सकता था। डायोनिसस के पूजन-समारोह वसन्त के दिनों में एथेन्स तथा ऐटिका के नर-नारियों को नया जीवन प्रदान करते थे।

डायोनिसस की प्रतिष्ठा में जो कोरस अथवा समूह-गान होते थे, उनसे नाटक का जन्म हुआ। ट्रेजडी का अर्थ है 'गोट साँग' अथवा 'अज-गान', क्योंकि उस समारोह में बकरे की बलि दी जाती थी। कामेडी का अर्थ है ग्राम-गीत, और इसमें आमोद-प्रमोद का प्राधान्य होता था। छठी शताब्दी ई० पू० में जब भारत में महात्मा बुद्ध अपने नये धर्म का प्रचार कर रहे थे, उस समय यूनान में थैस्पिस नामक व्यक्ति ने कोरस में एक परिवर्तन किया : उसमें वार्तालाप का समावेश कर दिया। जनता ने अपने देवता के कृत्यों को अभिनयात्मक ढंग से देखा, उसे सराहा उसके द्वारा अपने देवता की कथायें अधिक साकार एवं चित्रात्मक रूप से देखीं और साहित्य में एक नये प्रकार का जन्म हुआ।

ट्रेजडी के अभिनय के लिये प्रसिद्ध 'थ्येटर आफ़ डायोनिसस' का निर्माण ५०० ई० पू० में हुआ। यह एथेन्स के ऐक्रोपोलिस नामक पर्वत के चरणों में स्थित था। यह अर्धवृत्ताकार था और ऊपर से खुला था। दर्शकों की सीटों की पंक्तियाँ एक के ऊपर एक चट्टानें काट-काट कर बनाई गई थीं। रंगमंच पत्थर का बना था और

उसके पीछे एक ऊँची दीवार थी। दर्शकों की संख्या २५ से ३० हज़ार तक होती थी। मुख्य स्टेज के मध्य में ठीक सामने एक नीचा अर्द्धवृत्ताकार स्टेज और होता था जिसे आर्केस्ट्रा कहते थे। इसके मध्य में डायोनिसस की वेदी होती थी जिसके चारों ओर नृत्य होते थे। इस वेदी के पास की सीटें संगमर्मर की थीं जो पुजारियों और मैजिस्ट्रेटों के लिए सुरक्षित होती थीं। वेदी के ठीक नीचे डायोनिसस का पुजारी बैठता था। उसके दाईं ओर सूर्य देवता एपोलो का पुजारी और बाईं ओर नगर देवता 'ज्यूस पौलियस' का आसन होता था। नृत्य और संगीत के इस पूजन-समारोह में यूनान देवताओं एवं महापुरुषों का जीवन-चरित दिखाया जाता था।

वास्तव में जहाँ तक धार्मिक भावनाओं का सम्बन्ध है यह समारोह हमारी रामलीला से अधिक भिन्न नहीं होते थे। अन्तर केवल इतना था कि हमारे समारोह ग्राम के बाहर किसी खुले मैदान में अस्थायी साधनों द्वारा होते थे, और अभिनय के कला-पक्ष को बिल्कुल भुला दिया जाता था; यूनान में यह समारोह एक निश्चित थ्येटर में होते थे। कालान्तर में यूनान के महान नाटककारों ने अपने देश की इन गाथाओं को अत्यन्त सुन्दर नाटकों में गूँथा जिनका अभिनय दक्ष कलाकार करते थे। परिणाम यह हुआ कि भारत में कोई राष्ट्रीय रंगमंच नहीं बन पाया और यूरोप में छठी शताब्दी ई० पू० में ही स्थायी राष्ट्रीय रंगमंच की परम्परा प्रचलित हो गई।

अरस्तू के सिद्धान्त

५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० तक का सौ वर्ष का समय यूनानी नाटक के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्राचीन यूनान के तीन महान् नाटककार एस्कीलस, सोफ़ोक्लीज़ और यूरीपाइडीज़ इसी काल में हुए। अरस्तु ने जब लगभग ३३० ई० पू० में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पोइटिक्स' की रचना की, उस समय उसके सामने इन नाटककारों की रचनाये थीं जिनके आधार पर उसने नाटक-कला के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। संक्षेप में, अरस्तू के सिद्धान्त इस प्रकार हैं:

१. ललित कला मानव मस्तिष्क की एक स्वाधीन कृति है। उसका कोई धार्मिक, राजनीतिक; शिक्षात्मक एवं नैतिक उद्देश्य नहीं होता।

२. प्रत्येक कलाकृति प्रकृतिगत वस्तु अथवा घटना अथवा भावना की अनुकृति होती है, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति नहीं। शब्द वस्तुओं के प्रतीक होते हैं, किन्तु मानसिक चित्र प्रतीक नहीं होते। वे तो मस्तिष्क में उस वस्तु का आकार बना देते हैं। वस्तु का दृष्टि से लोप हो जाने पर भी उसका चित्र मस्तिष्क में रहता है। यह चित्र प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में भिन्न होता है और उसकी इन्द्रियों की शक्ति एवं

अभ्यास पर आश्रित होता है। सर्वोच्च प्रकार की अनुकरणात्मक कला—अर्थात् कविता एवं नाटक—मानव-जीवन के सर्वव्यापी एवं स्थायी तत्त्वों की अभिव्यक्ति करती है। साधारण वस्तुयें अथवा कार्य अपूर्ण हैं परन्तु उनके अपूर्ण रूप में ही उनका रूप छिपा रहता है। कलाकृति द्वारा कलाकार वस्तुओं अथवा मानव-व्यापारों के इस आदर्श रूप को दर्शक अथवा पाठक के सामने रखता है।

३. काव्यगत सत्य साधारण सत्य अथवा ऐतिहासिक सत्य से भिन्न होता है क्योंकि कविता अथवा नाटक में यह आवश्यक नहीं है कि उन्हीं बातों का चित्रण किया जाय जो सचमुच घटित होती हैं। नाटक किसी व्यक्ति की आत्मकथा नहीं होता। वह कुछ विशेष व्यक्तियों द्वारा मानव के सम्भावित एवं सर्वव्यापी कृत्यों का चित्रण करता है।

४. कला का उद्देश्य शिक्षा देना नहीं, वरन् एक उच्च प्रकार का शुद्ध भावनात्मक एवं बौद्धिक आनन्द प्रदान करना है। थ्येटर हॉल स्कूल का स्थान नहीं ले सकता। ट्रेजडी का आदर्श नायक धार्मिक अथवा नैतिक दृष्टि से आदर्श नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा हो तो उसका पतन कैसे हो सकता है और उसके जीवन का अंत शोकपूर्ण कैसे हो सकता है? ट्रेजिक आनन्द की उपलब्धि तभी हो सकती है जब हम एक साधारणतः अच्छे व्यक्ति का अभिमान अथवा किसी अन्य नैतिक दुर्बलता के कारण पतन होते हुये देखें और उसे देख कर हमारे मन में करुणा एवं भय का उद्रेक हो। जब मन में विशुद्ध करुणा एवं भय का संचार होता है तब हमारी भावनायें अपने आस-पास के वातावरण से ऊपर उठकर मानव का महान संघर्ष देखती हैं। इसके अवलोकन में जब हम तन्मय हो जाते हैं तब हमारी भावनाओं का रेचन (Katharsis) अथवा विशुद्धीकरण हो जाता है।

५. रेचन अथवा 'केथारसिस' का क्या अर्थ है?

अरस्तू के मतानुसार ट्रेजडी एक गम्भीर, पूर्ण, एवं महान कार्य की अनुकृति होती है। इसके भिन्न-भिन्न भागों का भाषा द्वारा कलात्मक शृंगार किया जाता है। इसका रूप क्रियात्मक अथवा अभिनयात्मक होता है, वर्णनात्मक नहीं, और यह करुणा एवं भय का संचार करके हमारी भावनाओं का रेचन करती है।

'रेचन' शब्द की व्याख्या ने शताब्दियों तक यूरोप के विद्वानों को उलझाये रक्खा। उन्नीसवीं शताब्दी में डाक्टर बर्नेज ने इस शब्द को एक नई परिभाषा दी। बर्नेज़ का मत है कि जिस प्रकार दवा शरीर के रोगों का शमन करती है, उसी प्रकार ट्रेजडी भय और करुणा की भावनाओं को उकसा कर उनका शमन करती है और

हमें आत्मिक आनन्द प्रदान करती है। थ्येटर में हमारी अतृप्त भावनायें तृप्त हो जाती है। इस नियमित एवं निश्छल तृप्ति के द्वारा हमारा मानसिक संतुलन स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दों में ट्रेजडी एक प्रकार का होम्योपैथिक उपचार है जिसमें रोग का उसी के समान दवा से इलाज किया जाता है। हिपोक्रेट्स के अनुयायियों का मत है कि वास्तविक जीवन की भय और करुणा की भावनायें हमारे मस्तिष्क को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाती है। ट्रेजडी द्वारा इन भावनाओं की विनाशक शक्ति कम हो जाती है और हमारा दृष्टिकोण अधिक व्यापक और संयत हो जाता है। उदाहरणार्थ, वास्तविक जीवन में क्रोध अथवा प्रतिशोध देखकर यह सम्भव है कि हमारे हृदय को बहुत बड़ा धक्का पहुँचे, किन्तु जब हम ट्रेजडी में ट्राय की विजय से लौटे हुये वीर ऐगेमैम्नोन को उसकी पत्नी क्लाइटैम्नैस्ट्रा द्वारा विष भरा प्याला भेंट करते हुये देखते हैं तो हम भयभीत हो जाते हैं। ऐगेमैम्नोन के प्रति हमारी करुणा जाग्रत हो जाती है और हम वास्तविक जीवन की ऐसी घटनाओं का अधिक मानसिक संतुलन के साथ सामना कर सकते हैं।

६. ट्रेजडी का नायक अरस्तू के मतानुसार साधारण व्यक्तियों से अधिक चरित्रवान एवं सुसंस्कृत होता है, परन्तु उसमें कोई न कोई नैतिक दुर्बलता होती है। वह साधारण स्तर से ऊँचा उठा होता है। वह राजकुमार अथवा उच्च वंश का व्यक्ति होता है। इसके दो लाभ हैं। एक तो महान व्यक्ति का पतन अधिक प्रभावोत्पादक होता है। दूसरे, जब वह व्यक्ति हमारे स्तर से ऊँचा होता है तो हमें यह भय नहीं रहता कि उसकी-सी दुर्घटनायें हमारे साथ भी हो सकती हैं। जब हम अपने आप को उसके जीवन से विलग कर लेते हैं, तब हमें आनन्द की उपलब्धि होती है। जब हम ईडिपस या ऐंटीगनी या हैमलेट के दुख-भरे जीवन की झाँकी देखते हैं, तो हमें यह भय नहीं रहता कि उनकी-सी विपत्तियाँ हमारे ऊपर भी पड़ सकती हैं। हमारी भावनाएँ हमारे स्वार्थी घेरे से ऊपर उठ जाती हैं और उनके दुखों में हम मानव-जीवन के दुखों का चित्र देखते हैं। हमारी संवेदना का वृत्त विस्तृत हो जाता है। जब व्यक्ति अपने सीमित अनुभवों से ऊपर उठ कर एक महान व्यक्ति का 'जीवन-चरित' देखता है तो उसकी स्वार्थी भावनाओं का रेचन अथवा परिष्कार हो जाता है। इस अर्थ में 'रेचन' का तात्पर्य है कि वास्तविक वस्तुओं एवं दृश्यों को देख कर जो करुणा और भय होता है, उसमें से दुख को निकाल कर उसके स्थान पर आनन्द की उपलब्धि कराना। दुख स्वार्थ से उत्पन्न होता है। कलाकृति के अध्ययन एवं अवलोकन में स्वार्थ का तिरोभाव हो जाता है अतः दुख का भी नाश हो जाता है। करुणा और भय की साधारणीकृत भावना से हमें कलात्मक आनन्द की अनुभूति होती है।

७. अरस्तू ने कथा-वस्तु के संगठन पर बहुत बल दिया है। यह उसका प्रसिद्ध 'यूनिटी आफ़ ऐक्शन' का सिद्धान्त कहलाता है। इसके अनुसार नाटक का कथानक एक सम्पूर्ण इकाई होना चाहिये। उसमें भिन्नता एवं अनेकरूपता भी हो सकती है, परन्तु कुल मिला कर उसके विभिन्न अंग उसकी रचना में इस प्रकार अलंकृत होने चाहिये कि उसका सम्पूर्ण प्रभाव नष्ट न हो। नाटक की विभिन्न घटनायें 'कार्य-कारण-क्रम' सूत्र में बँधी होनी चाहिये। नाटक का आरम्भ और अंत नाटकीय होना चाहिये। नाटक में बाहरी घटनाओं (जैसे भूतादि) का समावेश भी किया जा सकता है किन्तु वे घटनाएँ नाटक के कारण-क्रम का अंग बन जानी चाहिये। असम्बद्ध घटनाओं के संकलन से नाटक में अनेक रचना-सम्बन्धी दोष आ जाते हैं। नाटक की समस्त घटनाओं एवं उनके साथ-साथ चलने वाले नैतिक और आन्तरिक संघर्ष की गति एक ही ध्येय की ओर होनी चाहिये, और नाटक का अंत उसके आरम्भ तथा विकास से इस प्रकार सम्बद्ध होना चाहिये कि अंत तक पहुँचते-पहुँचते दर्शक की तन्मयता भंग न हो।

यह सिद्धान्त बड़ा मार्मिक है। नाटक की घटनायें प्रत्यक्ष रूप से हमारे सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं और उसके पात्र इतने अधिक स्पष्ट और साकार होते हैं कि हम एकाग्रता के साथ उनके परिवर्तनशील भाग्य का दृश्य देखने में तन्मय हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हम अनर्गल, असंगत तथा अनपेक्षित घटनाओं को देखना नहीं चाहते। इस कला-दृष्टि से अरस्तू का यूनिटी ऑफ़ ऐक्शन का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

८. अरस्तू ने समय अथवा स्थान की अन्विति के विषय में कुछ नहीं कहा किन्तु यह विश्वास किया जाने लगा कि समय और स्थान की एकसूत्रता का विचार भी उसी ने दिया था। वास्तव में यूनानी नाटककार स्वयं इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके घटनास्थल शीघ्रता के साथ न बदलें तथा नाटक में ऐसी घटनायें प्रदर्शित न की जायें जो अनेक वर्षों तक फैली हुई हों। जिस नाटक का उद्देश्य कुछ घंटों के लिये जनता का मनोरंजन करना था, उसमें ट्राय का दशवर्षीय युद्ध जिसमें अनेक महत्वपूर्ण घटनास्थल थे, नहीं दिखायो जा सकता था। वास्तव में समय तथा स्थान की अन्वितियाँ भी नाटक के लिये आवश्यक हैं परन्तु रोमन और मध्ययुगीन आलोचकों ने जितना ज़ोर इन पर दिया, उसके कारण इनकी सुन्दरता तो नष्ट हो गई, उल्टे नाटक-रचना में अनेक दोष आये जिसका प्रभाव नाटक की प्रगति पर बुरा पड़ा।

९. कामेडी के विषय में अरस्तू का मत है कि वह एक निम्न प्रकार की कला है क्योंकि उसमें निम्न-कोटि के पात्रों का चित्रण होता है और उसका

उद्देश्य केवल दर्शकों को हँसाना होता है। इसके अतिरिक्त उसमें बनावटी चेहरे लगाये जाते हैं तथा अन्य प्रकार के प्रदर्शन किये जाते हैं जिनमें न कोई सुन्दरता होती है न कलात्मकता । ट्रेजडी के लेखक महान व्यक्ति होते हैं और समाज में आदर पाते हैं किन्तु कामेडी के लेखकों के नाम भी कोई नहीं जानता और कुछ समय पहले तक तो कामेडी के प्रदर्शन की आज्ञा भी नहीं थी ।

अरस्तू ने जब अपने नाटक-सिद्धान्त की रचना की, उस समय ट्रेजेडी के महान उदाहरण उसके सामने प्रस्तुत थे परन्तु कामेडी के क्षेत्र में उतनी उन्नति नहीं हुई थी । ऐरिस्टोफेन्स के अतिरिक्त अन्य कोई उच्च-कोटि का कामदीकार नहीं हुआ था । अरस्तू स्वयं एक बहुत बड़ा दार्शनिक था । अत: उसने यदि कामेडी के साथ अन्याय किया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

होरेस एवं मध्य-युगीन प्रवृत्तियाँ

अरस्तू के लगभग ३०० वर्ष बाद रोमन कवि और आलोचक होरेस के अपनी पुस्तक 'दी ऐपिसल टू दी पीसौस' की रचना की । यह ग्रन्थ 'पोइटिक्स' के समान मौलिक एवं चमत्कारपूर्ण नहीं है, परन्तु है बड़ा महत्त्वपूर्ण क्योंकि इसने लगभग १२०० वर्ष तक यूरोप की नाटक-कला को प्रभावित किया ।

होरेस के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं:—

१. प्रत्येक नाटककार को परम्परा का पालन करना चाहिये। नायक का जो चित्र जनसाधारण के मस्तिष्क में है, उससे भिन्न चित्र नहीं बनाना चाहिये । यदि कोई नाटककार किसी पात्र को किसी नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना चाहता है, तो उसे वह दृष्टिकोण अन्त तक निभाना चाहिये । उदाहरणार्थ एकिलीज़ को फुर्तीला कामुक, निर्दय और बुद्धिमान दिखाना चाहिये । इसी प्रकार मीडिया को एक भयंकर और अजेय नारी के रूप में प्रस्तुत करना चाहिये ।

२. कुछ बातें मंच पर नहीं दिखाई जानी चाहिये क्योंकि उनसे वीभत्स वातावरण बनता है, और उससे दर्शक का मन ग्लानि और घृणा से भर जाता है। मीडिया को स्टेज पर अपने पुत्रों का वध नहीं करना चाहिये । दुष्ट ऐट्रियस को स्टेज पर मनुष्य का मांस नहीं पकाना चाहिये । इसी प्रकार प्रोक्नी का पक्षी बनना एवं कैडमस का सर्प बनना, यह ऐसी घटनाएँ हैं जो परदे के पीछे ही घटित होनी चाहिये ।

३. नाटक पाँच अंकों में समाप्त हो जाना चाहिये। अंक न इससे कम हों, न इससे अधिक।

४. जब तक अनिवार्य न हो, तब तक देवताओं को मंच पर नहीं आना चाहिये।

५. प्रत्येक नाटककार को अपने सामने यूनानी नाटकों के नमूने रखने चाहिये।

होरेस के सिद्धान्तों में नाटककार की मौलिक प्रतिभा को कोई स्थान नहीं दिया गया। कदाचित् इसी कारण से अथवा अन्य कारणों से रोम में नाटक का उतना उत्कर्ष नहीं हो पाया जितना यूनान में हुआ था। समय के प्रवाह ने सैनेका के थोड़े से ट्रेजिक नाटक और प्लाटस और टैरेंस के कामिक नाटक शेष छोड़े हैं, और वे ही रोमन ड्रामा के प्रतिनिधि नाटक हैं।

पाँचवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक का एक हजार वर्ष का युग धार्मिक अन्धविश्वास, संघर्ष एवं अशान्ति का युग है। यह सभ्यताओं के संघर्ष का युग है। पुरानी रोमन सत्ता को यहूदी क्राइस्ट के धर्म से लोहा लेना पड़ा। शताब्दियों तक रोम के राजाओं ने ईसाई धर्म का दमन किया, किन्तु वे अपने प्रयत्नों में सफल न हो सके। पुराने धर्मों की जड़ें खोखली हो चुकी थीं। लोगों को उनसे आध्यात्मिक संतोष नहीं प्राप्त होता था। इधर ईसाई धर्म उन्हें शान्ति और अहिंसा का संदेश देता था और ईसाई शहीद हँसते-हँसते अपने धर्म के लिये अपना बलिदान दे देते थे। छठी शताब्दी तक यूरोप के सभी देश ईसाई धर्म को स्वीकार कर चुके थे और रोमन कैथोलिक धर्म की विजय-पताका यूरोप की प्रत्येक राजधानी में फहराने लगी थी। धर्मान्धता के प्रारम्भिक दिनों में नाटक का बड़ा निरादर हुआ। नाटक को चर्च से टक्कर लेनी पड़ी और नगरों से नाटक का बहिष्कार हो गया। अब नाटक खेलने वालों की घुमक्कड़ कम्पनियाँ बन गईं जो एक ग्राम से दूसरे ग्राम तथा एक नगर से दूसरे नगर भ्रमण करती थीं। इन कम्पनियों की सफलता से घबरा कर चर्च ने जनता को आकर्षित करने के लिये अपने यहाँ भी धार्मिक नाटकों की आज्ञा दे दी जिससे नाटक के विकास में बड़ी सहायता मिली।

शेक्सपियर

सोलहवीं शताब्दी में रिनेसाँ यानी ज्ञान का पुनरुत्थान हुआ। इस युग में लोग पुरानी विद्या की खोज में लग गये। यूनान और रोम के नाटकों का प्रत्येक देशी भाषा में अनुवाद किया गया और वे सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत किये गये। देशी भाषाओं के प्रचलन के साथ-साथ मौलिक नाटक रचना भी आरम्भ हुई। सोल-

हवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में शेक्सपियर ने ट्रेजडी में और सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में मोलियर ने कामेडी में नवीन क्रांति उत्पन्न की।

शेक्सपीरियन ट्रेजडी के मूल सिद्धान्त ये हैं :—

१. शेक्सपीरियन ट्रैजेडी एक व्यक्ति अर्थात् नायक अथवा दो व्यक्तियों अर्थात् नायक और नायिका के जीवन का चित्रण करती है। 'रोमियो एण्ड जूलियट', 'एंटनी एंड क्लयोपैट्रा' जैसी प्रेम की ट्रेजडी में नायक और नायिका का जीवन समान रूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है अतः उनमें दो पात्रों की प्रमुखता अपेक्षित है। 'किंग लियर', 'मैकवेथ', 'ओथैलो', 'हैमलेट', इन में हम एक ही नायक का मानसिक एवं जीवन-वृत्त देखते हैं। इन उच्च कुल के व्यक्तियों पर विपत्ति आती है किन्तु यह विपत्ति आकाश से नहीं टूटती। ये तो नायक के ही किसी चरित्र-दोष के कारण उस पर आती है। नायक के भाग्य का प्रभाव समस्त राज्य अथवा राष्ट्र पर पड़ता है। जब हम उसे सांसारिक वैभव के शिखर से नीचे गिर कर धूल में मिलते हुये देखते हैं तो हम मनुष्य की हीनता एवं दुर्बलता का दृश्य देख कर विस्मित हो जाते हैं।

२ मनुष्य स्वयं अपने दुर्भाग्य का उत्तरदायी है। जब तक मनुष्य के मन में पाप की प्रेरणा नहीं होती, तब तक वह पतन के मार्ग पर नहीं जाता। किन्तु मानव-हृदय में जब एक बार पाप-वासना उत्पन्न हो जाती है, तो बाहर की शक्तियाँ उसे सहायता देती हैं और पाप की ओर उसे अग्रसर करती हैं। यदि मैकबेथ को स्कॉटलेंड का राज-सिंहासन प्राप्त करने की आकांक्षा न होती, तो मार्ग में तीन डाइनें उसे न मिलतीं और उसके सामने उसकी महत्त्वाकांक्षा का स्वर्ण चित्र न रखतीं। वास्तव में ये डाइनें उसके ही पापी मन की बाह्य प्रतीक हैं। दैवी शक्तियाँ मनुष्य के पाप-पुण्य पर आश्रित होती हैं, किन्तु पाप-पुण्य का निर्णय मनुष्य को स्वयं करना पड़ता है।

३. शेक्सपीरियन ट्रेजडी में वह शक्ति, जो नायक के जीवन में उथल-पुथल उत्पन्न करती है और जिसके द्वारा उसे दुःख और मृत्यु भोगनी पड़ती है, कभी मंगल-मयी नहीं होती। व्यक्ति के समस्त शुभ गुण तथा शुभेच्छायें उसकी रक्षा नहीं कर सकते। रोमियो और जूलियट का प्रेम जन्म से ही अभिशाप है क्योंकि उसके ऊपर दो परिवारों के वैमनस्य की काली छाया पड़ी हुई है। पाप-पूर्ण महत्त्वाकांक्षा, द्वेष तथा वध द्वारा मैकबेथ के जीवन की कहानी का आरम्भ होता है। मैकवेथ की समस्त वीरता और उसके सारे सद्गुण उसे इस पाप-पंक से नहीं निकाल सकते। उसका नाश अवश्यम्भावी है।
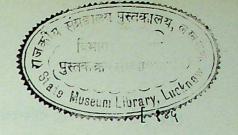
यूनानी एवं शेक्सपीरियन ट्रेजडी में भेद

१. शेक्सपियर ने नाटक-रचना पुराने नाटककारों से सीखी थी जो अंग्रेज़ी अनुवाद में उसे उपलब्ध हो गये थे क्योंकि बैन जॉन्सन के अनुसार वह बहुत कम लेटिन जानता था और ग्रीक भाषा का उसका ज्ञान अत्यन्त अल्प था। उसने मोटे रूप से पुराने नाटककारों के मुख्य ढांचे का अनुकरण किया किन्तु समय एवं अपनी व्यक्तिगत बुद्धि के अनुसार उसने परिवर्तन भी किये। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है। उसने अपने नायक को उच्च कुल का व्यक्ति ही बनाया। हैमलेट डेनमार्क का राजकुमार है, किंग लियर इंगलैण्ड का राजा है। मैकबेथ और ओथैलो सेना-नायक हैं किन्तु शेक्सपियर इससे अधिक आगे नहीं बढ़ा। उसके नायक व्यक्तिगत रूप से वीर हैं : वे किसी सिद्धान्त के प्रतीक नहीं हैं। इसके विपरीत सोफ़ोक्लीज़ का प्रसिद्ध नाटक 'एंटीगनी' इब्सन के नाटकों के समान समस्या-नाटक कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें राजा क्रियन सांसारिक क़ानूनों का प्रतीक है और एंटीगनी एक ऐसे न्याय की प्रतीक है जो सांसारिक नियमों से ऊँचा है और जो सीधा हमारे हृदय को छूता है।

२. शेक्सपियर ने बाहरी प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जो यूनानी ट्रेजडी में नहीं पाये जाते। आधुनिक नाटक में ऐसे प्रतीकों का बड़ा सबल प्रयोग मिलता है। चैखव का 'सी-गल', इब्सन का 'वाइल्ड डक', सिंज का 'राइडर्स टू दी सी'— ये सब प्रतीकात्मक नाटक हैं। मेसफील्ड की 'ट्रेजडी आफ़ नैन' में भयंकर नाद करती हुई समुद्र की लहरें ट्रेजडी की पृष्ठभूमि बनाती हैं। शेक्सपियर ने 'मैकबेथ' में डाइनों को तथा 'हैमलेट' में राजकुमार के पिता के भूत को ट्रेजडी का प्रतीक माना है।

३. यूनानी नाटकों में भाग्य अलक्षित रूप से मुख्य पात्र का काम करता है। 'ईडीपस' नामक नाटक में हम उस अभागे राजा का जीवन देखते हैं जिसे भाग्य छलता है और जो अपनी समस्त शक्ति लगा कर भी भाग्य के ऊपर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। यूनानी लोग भाग्यवादी थे अतः उनके नाटकों में यदि भाग्य प्रमुख स्थान ग्रहण करता है तो आश्चर्य ही क्या है? शेक्सपियर ने भाग्य को व्यापक नहीं माना। भाग्य 'आकस्मिक घटना' बनकर उसके नाटकों में आता है, किन्तु उसके पात्रों का पतन उन्हीं के चरित्र-दोष के कारण होता है, भाग्य के कारण नहीं। 'ओथैलो' की रूमाल वाली घटना, मैकबेथ में डंकन का मैकबेथ के महल में आकर ठहरना इत्यादि आकस्मिक घटनायें हैं किन्तु नाटक की प्रगति पर थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य डालती हैं।

४. शेक्सपियर ने 'ड्रैमेटिक आयरनी' का भी प्रयोग किया है किन्तु ऐसा केवल नाटक को सबल बनाने के लिये किया गया है। शेक्सपियर का आन्तरिक विश्वास इसमें नहीं हो सकता था। 'ड्रैमेटिक आयरनी' का अर्थ है "पूर्वाभास", और इसके पीछे यूनानियों का यह विश्वास निहित है कि देवता मानव-जीवन का निर्णय पहिले से कर देते हैं और मनुष्य का वही अन्त होता है जो वे निश्चित करते हैं किन्तु कुछ घटनाओं द्वारा उसे यह बात भासित हो जाती है। 'ओथैलो' नाटक में जिस रात को डैस्डैमोना का वध होता है, वह अपनी परिचारिका से कहती है : 'मेरी आँखें खुजला रही हैं, क्या मुझे रोना पड़ेगा ?' वह नहीं जानती, किन्तु दर्शक जानते हैं कि उसका अन्त समीप है और उसे रोना ही पड़ेगा। इसी प्रकार जूलियस सीज़र के वध से पहले रात को रोम में भयंकर उत्पात होते हैं। उसी रात को सीज़र की पत्नी कैल्पुर्निया तीन बार सोते-सोते चिल्ला उठती है : 'दौड़ो, चलो, वे सीज़र का वध कर रहे हैं।'

५. शेक्सपियर के नायकों में 'नायकोचित' महानता भी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। हम हैमलेट की साधुता और ईमानदारी देख कर उसके प्रति श्रद्धा से भर जाते हैं। हम जानते हैं कि यह व्यक्ति प्राण दे देगा, किन्तु कभी किसी को धोखा नहीं देगा। जब हम उसे विकट परिस्थितियों से जूझते हुए देखते हैं तो हम उसकी महानता के सम्मुख नत-मस्तक हो जाते हैं। ऐसा ही यूनानी-नाटकों में भी है। ओरेस्टीज़, ईडीपस, प्रोमिथियस—ये सब महान व्यक्ति हैं। यद्यपि इन नायकों के कर्म अत्यन्त जघन्य तथा क्रूर होते हैं, फिर भी इनकी महानता का चित्र इस प्रकार हमारे मस्तिष्क पर अंकित हो जाता है कि हमें इनसे सहानुभूति हो जाती है और उनके पतन से हमें विशेष दुख होता है। अरस्तू के मतानुसार नायक अनजाने अपराध के कारण भी दुख भोगता है जैसा ईडीपस की कथा से विदित है। किन्तु शेक्सपियर इसे स्वीकार नहीं करता। उसके नायक तो अपने चरित्र-दोष के कारण ही दुख उठाते हैं। इससे उनके संघर्ष का दृश्य अत्यन्त करुण एवं हृदयग्राही होता है।

ट्रैजिक आनन्द

ट्रैजिक आनन्द के विषय में शोपेनहर का मत है कि मानव-जीवन एक दुखभरी कहानी है। बुद्धिमान व्यक्ति मृत्यु से पहिले ही शान्ति प्राप्त करते हैं और जीवन के नश्वर आनन्द का परित्याग कर देते हैं। ट्रैजडी में जीवन के गम्भीर एवं दुखमय पक्ष का दिग्दर्शन होता है, और ट्रैजडी देख कर लोग जीवन की हीनता और तुच्छता का अनुभव करने लगते हैं। जब हम मनुष्यों का आपस में एवं अज्ञात शक्तियों के साथ संघर्ष देखते हैं, तो हम अवाक् रह जाते हैं और मानव-जीवन से हमें विरक्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में हम परम शान्ति और आनन्द का अनुभव करते हैं।

लूकस का विचार है कि ट्रैजेडी हमारे सम्मुख अनुभवों की 'दावत' प्रस्तुत करती है और हमें मानव-जीवन के कठिनतम क्षणों के अवलोकन का अवसर प्रदान करती है। ट्रेजडी को देखकर हम कह उठते हैं—मानव भी कितना विचित्र है !' लूकस की परिभाषा अपूर्ण है क्योंकि विस्मय के साथ-साथ ट्रेजडी में हमें मानव के प्रयत्नों की हीनता का भी अनुभव होता है।

शेली का विश्वास है कि दुख और सुख बहिनें हैं और दुख को देखकर हमें सुख की अनुभूति होती है ।

कुछ आलोचकों का मत है कि ट्रेजडी देखकर हमारे हृदय में स्वयं अपने प्रति करुणा का उदय होता है। रंगमंच पर नाटककार के मस्तिष्क द्वारा निर्मित पात्रों से हम एकाकारिता स्थापित कर लेते हैं, किन्तु हम यह जानते हैं कि यह पात्र सचमुच के नहीं हैं और इनका दुख भी वास्तविक नहीं है। हम जानते हैं कि जिस पात्र ने अपने हृदय में तलवार भोंक कर अपनी हत्या की है, उसे वास्तव में कोई चोट नहीं लगी। यदि दुर्घटनावश उस पात्र के शरीर में तलवार से कोई सचमुच का घाव लग जाये, और हमें इस बात का पता चल जाये, तो हमारा आन्द कम हो जायेगा, रस में विघ्न पड़ जायेगा। हम जानते हैं कि ये रंगमंच पर जो नाटक हो रहा है वह जीवन की कलात्मक अनुकृति हैं और उसे नाटककार से पृथक् नहीं किया जा सकता हम कलाकार की प्रतिभा की प्रशंसा करते हैं और ट्रेजडी से भी आनन्द प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त हम यह भी अनुभव करते हैं कि हस उस समय उन पात्रों से अच्छी स्थिति में है और उनके दुख-सुख की आलोचना कर सकते हैं ।

मोलियर

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में कामेडी की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। कामेडी द्वारा लेखक समाज अथवा व्यक्ति के किसी दोष को हास्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है। कामेडी और ट्रेजडी में दृष्टिकोण का अन्तर है। होरेस वालपोल ने कहा कि जो आदमी सोचता है, जीवन उसके लिये कामेडी है, जो अनुभव करता है, जीवन उसके लिये ट्रेजडी है, जो आदमी बौद्धिक उदासीनता के साथ जीवन का नाटक देखता है उसे मानव-जीवन व्यंग्यपूर्ण तथा असंगत कथा के समान प्रतीत होता है। वह जीवन को 'मूर्खों का त्योहार' समझ कर उसे हास्य-विनोद की सामग्री मात्र समझता है।

बर्गसाँ का विचार है कि (१) हँसी आलोचनात्मक एवं सुधारात्मक होती है और (२) हँसी भावना के साथ विद्यमान नहीं रह सकती, क्योंकि यदि हमें किसी व्यक्ति से मोह होगा तो उसकी मूर्खताओं पर हम हँस नहीं सकते। कामेडी

की इस परिभाषा का सब से सुन्दर उदाहरण हमें मोलियर के नाटकों में मिलता है। उसने समाज के ढोंग तथा दुर्बलताओं का सजीव किन्तु निर्दय चित्रण किया है। उसने अपने नाटकों में चर्च के पुजारियों तक का उपहास किया जिसका परिणाम यह हुआ कि जब उसकी मृत्यु हुई तो उसे बिना धार्मिक प्रार्थना के ही क़ब्र में दफ़नाया गया। परन्तु मोलियर जीवन भर समाज के शत्रुओं से युद्ध करता रहा।

अरस्तू ने कामेडी को निम्न-कोटि की कला बतलाया था। मोलियर ने अपनी पूरी शक्ति से इस सिद्धान्त का खंडन किया। अपने नाटक 'स्कूल फ़ॉर वाइव्ज़ क्रिटिसाइज़्ड' के पात्र डोरेन्टीज़ के मुख से मोलियर ने कहलवाया 'कि स्टेज पर ऊँची-ऊँची भावताओं को शब्दों द्वारा व्यक्त करना सरल है, और यह भी सरल है कि अभिनेता काव्य में भाग्य को चुनौती दे, देवताओं पर दोष लगाये, और सृष्टि में मानव की करुण स्थिति का चित्रण करे किन्तु यह कठिन है कि हम मनुष्य के छोटे-छोटे कार्यों में हास्य का तत्त्व देखें और मानव की दुर्बलताओं को स्टेज पर इस प्रकार प्रदर्शित करें कि दर्शक को क्रोध न आकर हँसी आये। जब ट्रेजिक नाटककार एक महान नायक की रचना करता है तो वह उसका चित्र अपनी कल्पना के सहारे बनाता है, किन्तु कामिक नाटककार को अपने निकट समाज में रहने वाले व्यक्तियों का ही चित्र उतारना पड़ता है। अतः उसका कार्य ट्रेजिक नाटककार के कार्य से अधिक कठिन है। यदि उसका कंजूस नायक उस कंजूस व्यक्ति के समान नहीं है जो सचमुच समाज में रहता है और यदि दर्शक दोनों में समानता नहीं देख पाते तो उनका कामिक आनन्द कम हो जायेगा। कामिक लेखक को हास्यपूर्ण होना चाहिये; क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले हज़ारों दर्शकों को हँसाना साधारण बात नहीं है। और हँसाने की यह कला किसी प्रकार भी ट्रेजिक नाटक-कला से निम्न-कोटि की नहीं है............कला के नियम प्रत्येक कलाकार को स्वयं बनाने पड़ते हैं... बिना अरस्तू और होरेस की सहायता के भी कलाकार सुन्दर कला की रचना कर सकता है। मैं जानना चाहूँगा कि रंगशाला में दर्शकों को प्रसन्न करना क्या सबसे महान कला नहीं है? और क्या वह नाटक जो पूर्ण रूप से दर्शकों का मनोरंजन करता है, पूर्णतः सफल नाटक नहीं है? आप यह कहना चाहते हैं कि जनता जो अरस्तू और होरेस को नहीं जानती, मूर्ख है, और स्वयं निर्णय नहीं कर सकती कि उसे किस वस्तु से आनन्द की उपलब्धि होती है?

'सारांश यह है कि यदि हम नियमों का पालन करके जनता का मनोरंजन नहीं कर सकते तो हमारे नियम ग़लत हैं।'

इब्सन

उन्नीसवीं शताब्दी में टी० डब्ल्यू० रावर्टसन तथा आर्थर विंग पिनरो के प्रयत्न से आधुनिक नाटक का जन्म हुआ। किन्तु इन व्यक्तियों से अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व नार्वे के नाटककार इब्सन का था। इब्सन के नाटक 'गुड़िया का घर', 'भूत', 'हैडा गैब्लर', 'समाज के स्तम्भ,' 'जनता का शत्रु' इत्यादि जब रंगमंच पर आये तो लोगों ने उनमें एक नये व्यंग्य, एक नई शक्ति का अनुभव किया। स्त्रियों की मुक्ति, युवकों की स्वतन्त्रता आदि अनेक नए विचार लोगों को उसके नाटकों में मिले। किंतु इन नवीन विचारों का प्रतिपादन मात्र ही इब्सन का ध्येय नहीं था। इब्सन ने समस्या नाटक अथवा गृह-सम्बन्धी नाटक अवश्य लिखे, किन्तु कलाकार होने के नाते, वह जैसा शॉ ने कहा था, 'दार्शनिक समस्याओं में दिलचस्पी नहीं रखता था।' उसे अपने विचार नाटक के साँचे में ढालने थे, अतः वह अपने माध्यम की दुर्बलताओं से भी सीमित था। इब्सन यथार्थवादी नाटक का जन्मदाता था, किन्तु इस यथार्थवादी नाटक की जड़ें शेक्सपियर के रोमैन्टिक नाटक तक पहुँचती थीं। समय बदल चुका था, शेक्सपियर के नाटक का पतन हो चुका था, और इब्सन के लिये नये यथार्थवादी नाटक का मार्ग प्रशस्त था। किन्तु इस नये नाटक में "कार्य" अर्थात् ऐक्शन एवं पात्र पर अत्यधिक ज़ोर दिया गया था जिससे नाटक की रचना में एक प्रकार का भोंडापन आ गया जो आगे चलकर इस प्रकार के नाटक के पतन का हेतु बना। इब्सन ने स्वयं इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया। प्रत्येक नाटक में उसने एक नये रूप की रचना की। चूँकि इब्सन को कोई माडेल तैयार नहीं मिले थे, इसलिये उसका प्रयास इस कलात्मक क्षेत्र में भी प्रशंसनीय है। इब्सन को शेक्सपियर अथवा सोफ़ोक्लीज़ का स्थान तो नहीं दिया जा सकता, किन्तु उसने आधुनिक युग में नाटक-कला की नई चेतना को जन्म दिया, इसमें कोई सन्देह नहीं।

चैखव

अपने नाटक 'सी-गल' में चैखव ने एक स्थान पर कहा है—'आज का रंगमंच केवल दैनिक कार्यक्रम एवं पक्षपातपूर्ण विचारों का माध्यम रह गया है। पर्दा ऊपर उठता है और इस पवित्र कला के पुजारी बिजली की रोशनी में सामने आते हैं। वे तीन दीवारों वाले कमरे में बैठ कर यह प्रदर्शित करते हैं कि मनुष्य किस प्रकार खाते हैं, पीते हैं, प्रेम करते हैं, जाकेट पहिनते हैं, इत्यादि। इस प्रदर्शन से एक सस्ती शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है। जब बार-बार मेरे सामने यह चीज़ प्रस्तुत की जाती है तो मैं दूर भाग जाना चाहता हूँ। आधुनिक युग में नया फ़ॉरमूला चाहिये जो हमारी

नई आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।' और रूस के कलाकार चैखव ने इस नये सिद्धान्त को ढूँढने का प्रयास किया।

चैखव इब्सन का भक्त था। वह सर्वसाधारण के दैनिक जीवन का चित्रण करना चाहता था किन्तु समाज के दैनिक जीवन में उसे नैराश्य, धोखा, निर्दयता तथा हीनता ही दृष्टिगोचर होती थी। इसके अतिरिक्त यथार्थवादी कलाकार होते हुए उसे लोगों को खाना खाते हुये, सिगरेट पीते हुये एवं साधारण बातचीत करते हुये दिखाना पड़ता था, यद्यपि वह इन साधारण व्यापारों में भी मानव-जीवन के गहरे तत्त्व दर्शाने की चेष्टा करता था। चैखव ने नाटक की रूप-रचना बड़े सुन्दर ढंग से की। रूस में प्रतीकात्मक एवं प्रगतिशील नाटक को जन्म देने और परिपुष्ट करने का श्रेय उसे दिया जा सकता है।

बर्नार्ड शॉ और आधुनिक प्रवृत्तियाँ

आधुनिक काल में यूरोप के सभी देशों में नई प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। इब्सन ने यह सिखाया था कि यदि नाटक अपनी आन्तरिक शक्ति पर जीवित रहना चाहता है तो उसे मनुष्य की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करना चाहिये और उन बातों का चित्रण करना चाहिये जो जनसाधारण के निकट हैं। इसका पहला प्रभाव यह हुआ नाटककार निम्नवर्ग के लोगों का चित्रण करने लगे। मिल के मज़दूर को भी ट्रेजिक हीरो बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस चित्रण में जीवन की जटिल समस्यायें भी प्रस्तुत की जाने लगीं। नाटककारों के विचार क्रांतिकारी थे। उन्होंने नाटक की पुरानी साहित्यिक रूपरेखा को, सामाजिक शील और शिष्टता को, एवं प्रचलित नैतिकता को ठुकरा दिया। माता-पिता का अधिकार, रोमांटिक प्रेम, पूँजीवाद इत्यादि पुरानी परिपाटियों में उन्हें अनेक दोष दिखाई दिये। शोपेनहर और फ़ायड ने सेक्स का अध्ययन किया, जिससे स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध नये रूप में लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किये गये। नाटककारों ने नगरों की बाहरी चमक-दमक के पीछे छिपे हुये दुःख और दारिद्रय को देखा और आधुनिक सभ्यता से भयभीत होकर मानव-कल्याण के स्वप्न देखने लगे।

आधुनिक नाटक समस्या-नाटक होते हैं अतः उनमें मानव के आन्तरिक संघर्ष पर अधिक बल दिया जाता है। मनोविज्ञान के नये अनुसन्धानों द्वारा इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला इसके कारण अनेक नाटककार रहस्यवादी और प्रतीक-वादी बन गये। इसी प्रवृत्ति के कारण अनेक नाटकों में नायक का स्थान साधारण पुरुषों के रूप में अदृश्य शक्तियों ने ले लिया। आयर्लैण्ड में भी थ्येटर का पुनरुत्थान

हुआ । डब्लू० बी० ईट्स, जिन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का साहित्यिक परिचय यूरोप में कराया था, इस प्रगति के प्रवर्तक थे । उन्होंने पुराने आयरलैण्ड की परियों की कथाओं एवं अन्धविश्वासों को फिर से जीवित किया । इधर लंदन में मिस हार्नीमैन के प्रयत्नों से रैपर्टरी थ्येटर की नींव पड़ी । इनके मूल सिद्धान्त ये थे :

१. अभिनेता को सक्रिय रूप से नाटक की आत्मा का अङ्ग बन जाना चाहिए ।

२. इस थ्येटर में कोई 'स्टार ऐक्टर' नहीं होता था । जो हैमलेट का पार्ट कर रहा है, सम्भव है कल वह एक साधारण व्यक्ति का पार्ट करे । प्रत्येक अभिनेता को अपनी योग्यता दिखाने का अवसर दिया जाता था ।

३. इस थ्येटर में सीन बनाने वाले, पर्दे चित्रित करने वाले, वेश-विन्यास रचने वाले, रोशनी का प्रबन्ध करने वाले, इन सब की अलग-अलग आवश्यकता नहीं पड़ती थी । अभिनेता ही यह सब काम मिल-बाँट कर कर लेते थे ।

४. इसमें दर्शकों की भीड़ से अधिक नाटक की कला पर ज़ोर दिया जाता था । इसका ध्येय व्यापार नहीं, कला-सेवा था ।

आधुनिक नाटक की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—यथार्थवाद एवं पुराने काव्यात्मक नाटक का पुनरुत्थान । इस युग के प्रमुख आलोचना-ग्रन्थकारों में जर्मन हैटनर और फ्रांस के सार्सी का नाम बहुत प्रसिद्ध है । हैटनर ने स्क्राइब के षड्यन्त्र-नाटक का विरोध किया और नाटक में 'गम्भीर संदेश' की स्थापना की सार्सी ने नाटक को शुद्ध कला के क्षेत्र से निकाल कर उसे जन-साधारण से सम्बद्ध कर दिया । उसने कहा कि बिना दर्शकों के हम नाटक की कल्पना भी नहीं कर सकते । नाटक उपन्यास अथवा कविता के समान आराम-कुर्सी पर एकान्त में बैठ कर पढ़ा नहीं जा सकता । अभिनेता और दर्शक—ये दो नाटक के अनिवार्य अंग हैं । स्ट्राइंडवर्ग ने पुराने रोमैंटिक नाटक पर धावा बोल दिया और अपने लेखों द्वारा अभिव्यञ्जनावाद के प्रचार में सहायता की ।

आधुनिक नाटक-कला के विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बर्नार्ड शॉ का है । शॉ इब्सन का शिष्य था । उसमें प्रखर बौद्धिक शक्ति थी, जिसके साथ उसने अपनी अजस्र प्रवाहिनी कल्पना का समन्वय किया और आधुनिक युग के महान् नाटकों की रचना की । लोग शॉ की उक्तियों को हास्यपूर्ण समझ कर उनकी उपेक्षा करते थे किन्तु उनमें जीवन के गहरे तत्त्व छिपे रहते थे । शॉ ने कहा था, 'मेरा ढंग यह है कि मैं अत्यधिक परिश्रम करके उचित बात मालूम कर लेता हूँ और फिर उसको हँसी में कह देता हूँ किन्तु सबसे अधिक हँसी की बात यह है कि मैं वह हँसी की बात गम्भीर

हो कर कहता हूँ।' शॉ ने जान-बूझ कर अपने आपको विदूषक बना लिया और हसी और व्यंग्य के शस्त्रों द्वारा बुरे मकान, बुरी शिक्षा, मज़दूरों की कठिनाइयाँ, समाज में प्रचलित भ्रष्टाचार इत्यादि दोषों पर आक्रमण कर दिया। शॉ के हृदय में समाज-सुधार की चिनगारी प्रज्वलित थी और उसे वाणी का वरदान प्राप्त था। इब्सन ने नाटक-रचना में जो नवीन अनुभव किये थे, उनसे वह बहुत प्रभावित हुआ था। इब्सन के समान वह भी आदर्शों और आदर्शवादियों के विरुद्ध था। वह जनता को 'अच्छे' आदर्शों की गुलामी से मुक्त करना चाहता था। उसने अपने 'मैन एंड सुपरमैन' नामक नाटक में सर्वप्रथम 'जीवन-बल' अर्थात् 'लाइफ़ फ़ोर्स' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो वास्तव में ईश्वर का ही वैज्ञानिक दार्शनिक नाम था। टैगोर के जीवन-देवता के समान शॉ का 'जीवन-बल' भी अनंत शक्ति रखता है और शॉ का विश्वास है कि इसी जीवन-बल द्वारा मनुष्य का कल्याण सम्भव हो सकता है,

शॉ ने नाटक को आज के बहुमुखी एवं पेचीदा जीवन का प्रतिनिधि बनाया है। उसने अपने नाटकों में यूनानी नाटककारों के रचना-कौशल एवं शेक्सपियर की कोमल कल्पना का समन्वय करके यूरोप की नाटक-कला को बहुत ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित किया है। उसके नाटकों में वार्तालाप का अपूर्व चमत्कार पाया जाता है। लन्दन के थ्येटर में जिस दिन उसके नाटक 'सेंट जोन' का प्रदर्शन हुआ, उस दिन जनता अवाक्, विस्मित और हतप्रभ हो कर उसके पात्रों का वार्तालाप सुनती रही। इसके अतिरिक्त शॉ ने नाटक का रंगमंच से भी गहरा सम्बन्ध स्थापित किया है। नाटक-कला के सिद्धान्तों के विकास में रंगमंच की प्रगति आधुनिक युग की विशेष देन है। रंगमंच जातियों के सामूहिक जीवन में आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जितना वह डायोनिसस के पूजन के युग में रखता था। अरस्तू से लेकर शॉ तक सभी विचारकों ने इस तत्त्व को स्वीकार किया है।

पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण

—डा० लीलाधर गुप्त और श्री जयकान्त मिश्र

जीवन के अनुभवों से प्रभावित होकर प्रत्येक कलाकार अपने दृष्टिकोण को कलाकृतियों के द्वारा प्रकट करने एवं सहृदय पाठक, द्रष्टा या श्रोता तक पहुँचाने की चेष्टा करता है। यही दृष्टिकोण उस कलाकार का सत्य है, उसके जीवन की खोज है, उसका जीवन-तत्त्व से साक्षात्कार है और उसका ज्ञान है।

इसी जीवन-तत्त्व को वह कभी आत्मिक रीति से, कभी आत्मिक-अनात्मिक मिश्रित रीति से और कभी अनात्मिक रीति से 'निवेदित' (कम्यूनिकेट) करता है। शुद्ध और मिश्रित अनात्मिक रीति से 'निवेदन' करने की साहित्यिक प्रणालियों में नाटक, उपन्यास और महाकाव्य मुख्य हैं। इनमें कथानक के सहारे चरित्रों का चित्रण करके ही कलाकार अपने दृष्टिकोण को साकार तथा मूर्तिमान करता है।

इन तीनों में नाट्य-साहित्य चरित्र-चित्रण को सबसे अधिक महत्त्व देता है क्योंकि दूसरों का काम तो कथा-विस्तार, वर्णन-सौष्ठव और विवेचना के सहारे भी होता है, नाटक का कुल कार्य पात्रों और अभिनयों द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त नाटक को पात्रों द्वारा अभिनय कराने (अथवा कम से कम अभिनय की कल्पना करने) की अत्यन्त आवश्यकता होती है। जो कुछ कहना होता है उसे कलाकार पात्रों के चरित्र और उसके विकास द्वारा ही व्यक्त कर सकता है।

इसलिए पात्रों का अध्ययन और उनके चरित्र-चित्रण की कुशलता नाटककार का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण होता है। यूनान के महान् विद्वान् अरस्तू ने अपनी नाट्य-विवेचना में कथानक को चरित्र-चित्रण से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। किन्तु आधुनिक सभी नाट्य-शास्त्रविद् कहते हैं कि यह विचारधारा कम से कम नाटकों की दृष्टि से संगत नहीं है। कलाकार की जीवनानुभूति तथा उसके देश और काल की परम्परा के अनुसार कभी चरित्र और कभी कथानक प्रमुख होता है। प्राचीन यूनान और मध्ययुगीय फ्रांस के नाटककार समष्टि को इतना महत्त्व देते थे कि उन्हें कथानक को अधिक आवश्यक मानना पड़ता था। इसके विपरीत अंग्रेज़ नाटककार साधारणतः चरित्र को हमेशा अधिक महत्त्व देते रहे हैं। उनके कथानक सन्तुलित, समन्वित या कटे-छँटे नहीं होते किन्तु उनके चरित्रों का उत्थान और पतन, संघर्ष और

समन्वय अधिक जटिलता और कुशलतापूर्वक सम्पादित होता है। यहाँ तक कि वैनब्रा (Vanbrugh) नामक अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ नाटककार ने अरस्तू के बिलकुल प्रतिकूल सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहा है कि नाटकों में चरित्र का स्थान, मनोरंजन और दार्शनिक सूझ की दृष्टियों से कथानक से कहीं अधिक ऊँचा है। वास्तव में विश्व के नाट्य-साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यही जान पड़ता है कि 'बाह्य-चरित्र' से 'अन्तश्चरित्र' की ओर, 'कथानक' से 'चरित्र-चित्रण' की ओर प्रगति हो रही है।

बात यह है कि कथानक, चरित्र-चित्रण, कथनोपकथन-शैली और (मानसिक या वास्तविक) अभिनय—सभी मिलकर नाटक रूपी कलाकृति का सृजन करते हैं। हाँ, विशिष्टता की दृष्टि से किसी धारणा व परिस्थिति-विशेष में अथवा परम्परा-विशेष में कभी यह, कभी वह अधिक महत्त्वपूर्ण होता है—अन्य अवशिष्ट वस्तुएँ उसी की सहायता करते हुए, सम्पूर्ण कलाकृति को सफल बनाते हुए,] नाटककार के जीवन-रहस्य सम्बन्धी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। उदाहरणार्थ 'यदि हम एण्टनी और क्लियोपेट्रा की कहानी लें, तो देखेंगे कि शेक्सपियर, ड्राइडन और शॉ ने उसी कहानी को किस भाँति अपने-अपने दृष्टिकोणों को प्रकट करने का साधन बनाया है। शेक्सपियर ने जो चरित्र-चित्रण किया है उससे कितना भिन्न चरित्र-चित्रण दूसरों ने किया है, और कैसे वही कथा-वस्तु उनके विभिन्न जीवन के दृष्टिकोणों को प्रकट करती है—शेक्सपियर के पात्र अदम्य एवं महान् भावनाओं के प्रतीक हैं, ड्राइडन के पात्र कर्त्तव्य और प्रेम के द्वंध आदर्शों के बीच पिस रहे हैं और शॉ के पात्र विचार-गाम्भीर्य से दबे जाते हैं। यदि कथानक ही महत्त्वपूर्व है तो शेक्सपियर और उसके पूर्ववर्ती नाटककार एक ही कथानक पर, एक ही दृष्टिकोण से क्यों सफल और असफल हुए हैं ? भाषा और शैली की विशेषताओं से अधिक चरित्र-चित्रण की विशेषता ही निश्चयपूर्वक शेक्सपियर की सफलता का कारण है। कथानक का विशेष आकर्षण आजकल के नाटकों में कम होता जा रहा है—उसका महत्त्व जासूसी, रोमांचकारी ('मेलोड्रामा') प्रभृति-कलाकृतियों मात्र में सीमित रह गया है। आज के कतिपय नाटकों (जैसे मेटरलिंक के नाटकों) का आकर्षण मनुष्य की अन्तरात्मा और मनोभावों मात्र की व्याख्या की ओर अधिक है उनमें कार्य (action) अत्यन्त कम या नाटक प्रारम्भ होने के पूर्व समाप्त हुआ रहता है। ये स्थैतिक नाटक कहलाते हैं (स्टैटिक ड्रामा)।

पाश्चात्य नाटकों के पात्रों का प्राच्य नाटकों जैसा ही वर्गीकरण किया जा सकता है—नायक, नायिका, दुष्ट, विदूषक प्रभृति। कुछ पात्र ऐसे हैं जो परम्परा-

भेद के कारण बहुत भिन्न दीख पड़ते हैं। जैसे, 'कोरस' (chorus) का काम 'सूत्र-धार-नटी' की तरह नाटक का आयोजन करना, नाटक का स्वागत करके उसका उद्देश्य बताना है; किन्तु दोनों के विकास और नाटकीय योजना में आकाश-पाताल का अन्तर है। सूत्रधार का कार्य नाटक के कथानक से एकदम पृथक् होता है, उसका महत्त्व नाटक के विकास में किंचित् भी नहीं होता है। इसके विपरीत 'कोरस' प्राचीन-काल के पूरे नाटक में रहता था और टिप्पणी करता हुआ कथानक के कार्य में कुछ-कुछ भाग भी लेता था। आधुनिक काल में 'कोरस' का उपयोग लुप्त-प्राय हो गया है। किन्तु उसकी तटस्थता, नाटक विशेष का लक्ष्य और नाट्यगत चरित्रादिक रहस्यों का स्पष्टीकरण तथा निष्पक्ष विचार करने का उपयोग—भीड़ के दृश्यों से, मुख्य पात्रातिरिक्त जन-साधारण के निरपेक्ष पात्रों के दृष्टिकोण से, किसी बुद्धिमान पात्र की दूरदर्शिता से, तथा किसी चिह्न या प्रतीक (symbol) के द्वारा किया जाता है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से दीख पड़ेगा कि जीवन-तत्त्व का जो रूप नायक के चरित्र द्वारा व्यक्त होता है वही सम्पूर्ण नाटक का जीवन-दर्शन होता है—अन्य पात्र गौण होते हैं अथवा उसी जीवन-तत्त्व की पुष्टि करते हैं। नाटकों में बहुत से गौण पात्र इस कारण भी रक्खे जाते हैं कि नायक का चरित्र उनकी पृष्ठभूमि में और अधिक स्पष्ट और विकसित हो। इसी कारण कुछ पात्र स्थैतिक (static or flat) हो जाते है और कुछ गत्यात्मक (dynamic or round)। किन्तु पात्र कैसे भी हों, उनका महत्त्व, नायक के चरित्र की पृष्ठभूमि होने में ही अधिक होता है। 'हास्य'-प्रधान (कामेडी) नाटकों अथवा नायक-विहीन 'करुण' नाटकों में ऐसा नहीं होता है। किन्तु 'करुणा' प्रधान नाटकों में नायक ही प्रधान होते हैं। वहाँ छोटे-छोटे पात्र भी कभी-कभी स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं।

पात्रों को कहाँ तक वास्तविक मनुष्य-जगत के निकट होना चाहिए—इस विषय पर बहुत मतभेद रहा है। कुछ लोगों के मतानुसार उन्हें उनके वर्गानुरूप ही कल्पित करना चाहिए। ऐसा सिद्धान्त अरस्तू का भी है। वे नाट्य-साहित्य को जीवन का अनुकरण करने वाला साहित्य मानते थे, किन्तु वर्गीकरण की भावना का होना जीवन के अनुभव से सर्वथा विरुद्ध होता है। कुछ पात्र ऐसे होते हैं जो किसी वर्ग-विशेष के हो ही नहीं सकते हैं—वे सर्व-साधारण मनुष्यता मात्र के गुणों से सम्पन्न देख पड़ते हैं—और कुछ पात्र ऐसे होते हैं जो अलौकिक गुणों से भरे हुए देख पड़ते हैं और कवि-कर्तृक जीवन-रहस्य को उद्घाटित वा सूचित करने में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से कभी-कभी पात्र अपने मानवीय चरित्र के अतिरिक्त किसी भाव या जीवन-तत्त्व के दृष्टान्त वा रूपक मात्र देख पड़ते हैं। यदि वे पात्र केवल भाव-

मूलक ही हों और वास्तविक जगत से एकदम दूर हों तो उनमें विश्वास करना कठिन हो जाता है और वे अनुभव की तीव्रता को नष्ट कर देते हैं। जब यथार्थवाद का उदय हुआ तब पात्रों के चित्रण में पहले यथार्थता को लाने की अधिक से अधिक चेष्टा की गई। किन्तु देखा गया कि यथार्थ के अत्यन्त निकट आने पर यथार्थता एक दोष हो जाती है और नीरस नाटकों का निर्माण कराती है। क्रमशः अन्य वादों ने—व्यंजनावाद और प्रतीकवाद ने—यथार्थ को उचित अनुपात में रखते हुए भावना, विचार, मत अथवा वर्ग विशेष के प्रतीक के रूप में ही चरित्र का चित्रण करने का प्रचार किया है। अन्योक्तिमूलक (allegorical) उपदेश सिखाने वाले धार्मिक पात्रों के बाद यथार्थ पात्रों का प्रचार हुआ और आज पुनः यथार्थ पात्रों के बाद प्रतीकवादी या छायावादी पात्रों का आना पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में अत्यन्त ही मनोरंजक और सहज ही समझे जाने योग्य घटना है। उपसंहार में हम इतना अवश्य कहेंगे कि पात्रों को अत्यन्त यथार्थ बनायें या नहीं, वर्गानुरूप रहने दें या नहीं, किन्तु पहचानने और मूर्तिमान करने योग्य, जीते-जागते, यथासम्भव व्यक्तित्व-युक्त बनाना आवश्यक है।

पाश्चात्य नाटकों की चरित्र-चित्रण कला में तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं: एक तो स्वगत अथवा आत्मगत भाषण दूसरी रंगमंच-निर्देश का चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उपयोग और तीसरी वातावरण का सन्निवेश।

स्वगत की परम्परा प्राच्य नाट्य-साहित्य—विशेषकर भारतवर्ष के नाट्य-साहित्य—में भी रही है। किन्तु जितना अधिक और जितने प्रकार से पाश्चात्य नाटककार उसका प्रयोग करते आये हैं हमारे यहाँ उसका उतना महत्त्व नहीं रहा है। शेक्सपियर के नाटकों में तो चरित्र-चित्रण का, चरित्र को जीवन के संक्रान्ति-काल में रखकर देखने का, मानव-अन्तःकरण की विभिन्न धाराओं से क्षणभर में परिचय प्राप्त करने का, जीवन की विषमताओं और रहस्यों को समझाने का अनुपम साधन स्वगत भाषण ही है। आधुनिक नाटककार इस साधन का उपयोग कम और परिवर्तित रूप में करते हैं क्योंकि वे इसको स्वाभाविकता से बहुत दूर मानते हैं। उनके अनुसार करुणा-प्रधान नाटक में ही इसका उपयोग चरित्र-चित्रण के लिए सम्भव है।[1]

रंगमंच-निर्देश का आजकल अत्यधिक उपयोग होने लगा है। इसका कारण यथार्थवाद का प्रभाव है क्योंकि इनके द्वारा यथार्थ चरित्र और जीवन को लाने का अधिक से अधिक प्रयत्न हो सकता है। इस तरह यह चरित्र-चित्रण का भी साधन हो गया है। पूर्व में भी पात्र के हँसने से, तमक कर बोलने से, चरित्र का स्पष्टीकरण

१. देखिए—आर्थर सीवेल : कैरेक्टर एण्ड सोसाइटी इन शेक्सपियर, पृ० ८१

हुआ करता था किन्तु आजकल तो पात्र को जितना स्पष्ट और साकार हो सके खड़ा करने का—कम से कम कल्पना-जगत में—प्रयत्न होता है। यह साधन नाटकों में उपन्यासकार और महाकाव्यकार की चरित्र-चित्रण की रीति के अनुकरण का-सा प्रयत्न है। इस साधन की विशेषता चरित्र को बाहर से सजीव, यथार्थ और मूर्तिमान करने में है।

अन्तरंग परिचय और विकास दिखलाने का साधन आजकल स्वगत-भाषण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण वातावरण-सृष्टि कला होने लगी है जिससे चरित्र का ज्ञान और चरित्र-ज्ञान से नाटककार के जीवन-ज्ञान का आभास अधिक होता है।[1] यह साधन पहले भी पाश्चात्य नाटकों में देखने में आता था—इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि चरित्र का बहुत बृहत् विकास दिखाया जाये, भाषा और शैली द्वारा,[2] अल्प संक्राति-काल के क्षणों द्वारा, कथोपकथन के थोड़े से अंश द्वारा भी यह सम्भव है कि ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया जाये कि चरित्र पाठक या दर्शक के समक्ष जीवन-तत्त्व को मूर्तिमान करके सौन्दर्य-सहित अनुभव करा सके।

चरित्र अच्छा है या बुरा इसको अब उतना महत्व नहीं देते हैं जितना उपर्युक्त प्रकार से अन्तरात्मा सहित व्यक्तित्व के प्रकटीकरण को। नाटककार दुष्ट और निर्दुष्ट, अच्छा और बुरा, पात्र चाहे जैसा भी हो उसको अनात्मिकता से[3] सृजता है। प्रायः बहुत भले पात्र के द्वारा कोई नाटक-रचना सम्भव ही न हो—वैसा पात्र प्रायः असफल ही देख पड़ेगा। परिस्थिति के अनुसार चरित्र परिवर्तित अथवा विकसित होता है, किसी व्यक्ति का स्वभाव इतना सरल नहीं है कि 'भले' और 'बुरे' जैसे दो पारिभाषिक शब्दों से ही वह स्पष्ट हो जाये। प्रत्येक मनुष्य एक गहन समष्टि होता है। वह बुद्धि, प्रेरणा, स्मृति, कल्पना, आसक्ति, अनुराग आदि घटकों का सावयव होता है। और ये अंश प्रत्येक क्षण में विविध तीव्रता से व्यक्त होते रहते हैं। यह तीव्रता बाह्य-परिस्थिति, चित्त, प्रवाह और पुत्र-प्रेम भ्रातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम, देश-भक्ति, रक्षा, आक्रमण तथा क्रीड़ा जैसी मूल प्रवृतियों के साथ बदलती रहती है और इसको मापना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। इसी प्रकार भय, सुख, दुःख, आशा, निराशा, अहंकार, करुणा, संतोष, घृणा, भक्ति, साहस, प्रशंसा जैसे असंख्य भाव अपने सहयोगी-भावों और हितों से प्रभावित होकर अन्तःकरण के 'अन्दर अकल्पनीय' दृश्य उत्पन्न करते हैं। आधुनिक नाटककार 'अच्छे' और 'बुरे' चरित्र-निर्माण की कोशिश न कर इन सब दृश्यों को रंगमंच पर लाने का प्रयास करता है।

---

१. देखिए—वही, पृष्ठ ९, १०, १४,

२. देखिए—वही, पृष्ठ २०.

३. इसी को कीट्स नाटककार का 'निगेटिव केपेबिलिटी' का सिद्धान्त कहता है।

और इनको लाने के प्रयास में, वातावरण द्वारा, काव्य द्वारा, श्रोता या पाठक को चरित्र के 'अकल्पनीय' रूपों के निकट लाने में पाश्चात्य नाटककारों ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। इसी को यूना एलिस फर्मर[1] ने नाटककार की 'प्रभावोत्पादक प्रणाली' (evocative technique) कहा है। उनका कथन है कि ये क्षण चरित्र के बाह्य-वर्णन द्वारा अथवा विश्लेषण द्वारा व्यक्त करने के हेतु नहीं हैं। ये क्षण शाश्वत और निरन्तर मानव-भावनाओं को प्रकट करने वाले क्षण हैं। इनके द्वारा नाटककार चरित्र को संकेतों से, वातावरण से, मौन अवलम्बनों बिना ही, समझा और बतला देता है। चरित्र-चित्रण की सफलता का द्योतक यही है।

भिन्न-भिन्न काल में नाटककारों की चरित्र-भावना भिन्न-भिन्न प्रकार की रही है क्योंकि उनके पात्रों की कल्पना और उनके चरित्र की प्रेरणा तत्कालीन साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से अनुप्राणित होती रहती हैं। इस छोटे से निबन्ध में यह संभव नहीं है कि सभी प्रकार के नाटकों के पात्रों में यह दिखाया जा सके। अतएव यहाँ हम केवल 'करुण'-नाटकों में देखेंगे कि भिन्न-भिन्न युगों में किन-किन भावनाओं से प्रभावित होकर पात्रों के 'करुण' चरित्र निर्मित हुए हैं। और यह उचित भी है क्योंकि पाश्चात्य नाटकों का उत्कृष्ट रूप 'करुण' ही है।

'करुण'- नाटकों की रचना कलाकार प्राय: जीवन की विषमताओं और विकट रहस्यों को न समझने के कारण अथवा सुलझाने में असमर्थ होकर ही करता है। समस्त 'करुण' नाटकों के चरित्रों का अध्ययन करने से ऐसा ही जान पड़ता है। पाश्चात्य नाटकों के उद्गम-स्थान यूनान में नाटककारों ने 'करुण'-नाटक के प्राचीनतम और उत्कृष्ट नमूने लिखे। उनके चरित्र-चित्रण का आधार एक ऐसी विचारधारा थी जिस में नियति को सब से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। वे धार्मिक विश्वास से कल्पना करते थे कि मनुष्य नियति के हाथों में बंधा है और वह कितना ही कुछ करे नियति के पन्जों से उसका छुटकारा पाना असम्भव है। उनकी धारणा थी कि नियति एक ऐसी विश्व-शक्ति है जो मनुष्य की क्या बात है देवताओं तक को अपने नियन्त्रण में रखती है। और इस का काम ऐसा है जो पूर्व निश्चित है, किसी तरह टलने वाला नहीं है, कठिनता से जाना जा सकता है और उसके लिए दया-माया कोई वस्तु नहीं है। कोई रोये या हँसे, कोई अच्छा हो बुरा हो नियति अपनी अबाध गति से चलती रहती है।

यह नियति नाटकों में कई रूपों में देख पड़ती है। कहीं यह भविष्यवाणियों

---

१. देखिए : लेखिका का निबन्ध 'दी नेचर आफ़ कैरेक्टर इन ड्रामा' (इंगलिश स्टडीज टु डे पृष्ठ ११—२१)

(दैवी ओरेकल; भविष्यवक्ताओं की वाणी) के रूप में प्रकट होती है, कहीं अन्ध होकर लोगों को मनचाहा शुभाशुभ फल देने वाली 'भाग्य-देवी' के रूप में प्रकट होती है, कहीं प्रतिकार करने वाली और 'अति' को न सह सकने वाली 'नेमिसिस' के रूप में प्रकट होती है और कहीं केवल उभयधा व्यंगोक्ति ('अइरनी'='डबल-डीलिंग) के रूप में प्रकट होती है। नियति के ये चारों रूप भयानक होते हैं और मनुष्य की स्वतंत्रता को अत्यन्त क्षीण कर देते हैं। इस दृष्टि से मनुष्य केवल नियति के हाथों का खिलौना मालूम देता है।

प्रत्येक प्रकार की नियति के साथ यूनानी करुण-पात्रों को संघर्ष करना पड़ता है। इन नाटकों में भविष्यवाणी के द्वारा मनुष्य अपनी प्रगति को सीमित पाता था। भविष्यवाणियां दैवी या मानुषी होती थीं। भविष्यवाणियों की तरह ही शाप भी छिपे या प्रकट रूप से नियति का आभास देते थे। भविष्यवाणियों को कभी नायक उनका अन्ध-भक्त होकर स्वयं पूरा करता था, कभी उनकी परवाह न करके स्वतंत्र रूप से जीवन बिताने की चेष्टा करने पर भी पूरा करता था, और कभी उनके विरुद्ध अथक प्रयत्न करने पर भी किसी न किसी तरह उन्हें पूरा ही करता था। भविष्यवाणियाँ इतनी दुविधामय और द्वैधमय अर्थों सहित होती थीं कि अक्सर उनके कारण नायक को निर्मम नियति के पञ्जे में फँसे रहने का विकट भान होता था। उदाहरणार्थ सोफोल्कीज़ कृत ईडीपस का चरित्र-चित्रण देखें। बेचारे को भविष्यवाणी द्वारा पता चलता है कि वह अपने पिता को स्वयं मारेगा और अपनी माता से स्वयं विवाह करेगा। इस भविष्यवाणी के विरुद्ध अपने को बचाने के लिए वह अपने तथाकथित पिता-माता के देश कॉरिन्थ नहीं जाता है—किन्तु भ्रम से उसी देश और स्थान पर जा पहुंचता है (थीब्स) जहाँ उसके असली माता-पिता रहते हैं और इस प्रकार जाकर वह भविष्यवाणी को पूरा करता है। जब ईडीपस को सम्पूर्ण सत्य परिस्थिति का ज्ञान होता है तो वह अत्यन्त मानसिक कष्ट को प्राप्त करता है और अपनी दोनों आँखें फोड़ लेता है। विरला ही कोई अन्य पात्र नियति के निष्ठुर और निर्मम हाथों का ऐसा शिकार हुआ होगा। यह सब चरित्र एक प्राचीन शाप का परिणाम था—जो शाप के रूप से नियति बनाने व दिखाने में सहायक होता है।

इसी नाटक में एक दूसरे प्रकार से नियति की विशाल शक्ति और मानव की तुच्छ शक्ति का ज्ञान होता है। वह है 'भाग्य देवी' का काम—संयोग, मौका, आकस्मिक घटना का होना। ईडीपस को प्रायः अपने बुरे कर्मों का ज्ञान भी न होता यदि वह अकस्मात् संयोग से रास्ते में अपने पिता से न मिला होता अथवा यदि अकस्मात् कॉरिन्थ से एक दूत ने आकर यह न कहा होता कि वहाँ उसको राजा बनाया गया है और वहाँ की विधवा रानी ईडीपस की असली माता नहीं है

इसलिए वहाँ जाने में उसे कोई भय नहीं है। दूत का आना ऐसे मौके पर अकस्मात् ही हुआ और इस घटना ने सब भेदों को खोल दिया। आकस्मिक घटना के रूप में नियति का कार्य हमें प्रायः हर यूनानी करुण नाटक में मिलता है।

'नेमिसिस' के रूप में नियति मनुष्यों को दण्ड देती है। किसी प्रकार की अति को यूनानी लोग दोष मानते थे। उनके लिए सबसे बड़ा गुण मर्यादानतिक्रमण होता था। इसलिए किसी भी विषय में, चाहे वह अच्छी हो या बुरी हो, पाप हो या पुण्य हो, अति का होना नियति की ओर से प्रतिकार लावेगा। इसी विश्वास पर उन्होंने नेमिसिस की कल्पना की थी और नेमिसिस का विनाश-कार्य भी बिना हिचकिचाहट के बड़े से बड़े, अच्छे से अच्छे, मनुष्यों पर होता था इस भावना का प्रतिविम्ब यूनानी 'करुण'—नाटकों के कतिपय नायकों के चरित्र में दीख पड़ता है। अतिशय सौभाग्य-शाली होना, अतिशय पवित्र होना और अतिशय भलाई करना उतना ही बुरा था जितना अतिशय बेईमानी करना, अतिशय लोभ करना, अतिशय अन्याय करना, और अतिशय पाप करना—नेमिसिस दोनों प्रकार के पात्रों की तहस-नहस कर डालती थी। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण हिप्पोलीटस का चरित्र है जो हम भारतीयों को विशेष कौतूहल में डालने वाला है। यूरीपिडीज़ नामक नाटककार ने इसका चरित्र-चित्रण किया है। एथेन्स के राजा थीसियस की द्वितीय पत्नी का नाम फीड्रा था। वह अपने सौतेले पुत्र हिप्पोलीटस के प्रेम की भिखारिणी हुई। हिप्पोलीटस पवित्र चरित्र का था इसलिए उसने अपनी सौतेली माँ को निराश कर दिया। फीड्रा ने आत्महत्या कर ली। राजा थीसियस स्वयं अपनी रानी की लाश को देखने आते हैं। उन्हें फीड्रा की लाश पर लिखा हुआ मिलता है कि हिप्पोलीटस की अनुचित प्रेम-चेष्टाओं से तंग आकर उसने आत्मघात कर लिया है। राजा को बड़ा क्रोध आता है और वह शाप दे देते हैं जिससे उनका निरपराधी राजकुमार विपत्तियाँ झेलता हुआ मर जाता है। इस नाटक में नियति 'नेमिसिस' के रूप में मानव को सताते हुए दिखाई गई है। अतिशय अव्यभिचारित्त्व और अतिशय पवित्रता भी दोष हो सकते हैं और नेमिसिस उसका प्रतिकार कर विपत्तियाँ लाती है। यही हिप्पोलीटस के चरित्र की मूल-भावना या प्रेरणा है।

नियति मनुष्य के भाग्य का दुविधामय उभयधा व्यंगोक्ति द्वारा मखौल उड़ाती है। मनुष्य चाहता कुछ है और नियति उसे देती है कुछ और, मनुष्य जहाँ से सुख-शान्ति की आशा करता है वहाँ से उसे वे एकदम नहीं मिलते हैं किन्तु जहाँ से उसे एकदम आशायें नहीं हैं वहीं उसे सभी सुख और शान्ति मिलती है। कभी-कभी जब उसे आशा होती है कि उसका काम बन गया है, उसे सफलता मिली

है—ठीक वहीं, उसी घड़ी उन्हीं शब्दों के द्वैध अर्थ में उसे महान् असफलता और पराजय मिलती है। इसका उदाहरण सबसे अच्छा सोफोक्लीज़ के 'एलेक्ट्रा' नामक नाटक से दिया जाता है। नाटक के दृश्य में दीख पड़ता है कि एलेक्ट्रा द्वैधात्मक शब्दों से कठोर सत्य का उत्तर देती है। एलेक्ट्रा की माँ ने अपने पिता की हत्या एक प्रेमी के कारण कर दी है। इस पर एलेक्ट्रा के भाई ओरेस्टीज़ ने माँ को मार डाला है और जब उसकी माँ का प्रेमी ओरेस्टीज़ की मृत्यु का समाचार बड़े चाव से पूछने आता है तब एलेक्ट्रा अद्भुत कौशल से उत्तर देती है—जो एक अर्थ में ओरेस्टीज़ की मृत्यु का भान कराता है और दूसरे अर्थ में, अन्त में सत्य को समझने पर, अपनी माँ की मृत्यु का भान करा कर उसके प्रेमी को भय से कँपा देता है : तभी उस प्रेमी को जान पड़ता है कि उस पर नियति हँस रही है—उसकी व्यर्थ और मिथ्या आशाओं पर वज्रपात हो रहा है। इन क्षणों को देखकर यही भान होता है कि मानव नियति के हाथों का पुतला है, वह स्वयं कुछ करने और पाने को स्वतन्त्र नहीं है।

संक्षेप में, यूनानी त्रासदी-नायक को हम ऐसी परिस्थिति में देखते हैं जहाँ उसकी आशा के विरुद्ध, उसके प्रयत्नों के बावजूद, वह असफल होता है, विपत्तियों के झोंके सहता है। नियति की ऐसी अन्धी लीला में मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

अरस्तू बुद्धिवादी थे इसलिए उन्हें पात्रों का अकारण नियति की चपेटों का शिकार बनना अच्छा न लगा और उन्होंने अपने समालोचनात्मक ग्रन्थ में यूनानी पात्रों के दोषों के कारण कष्ट सहने का सिद्धांत स्थिर किया। उन्होंने यह सिद्धांत स्थिर किया कि प्रत्येक त्रासदी-नायक के चरित्र में कोई एक ऐसा दोष रहता है (जो पापमय दोष हो ऐसा आवश्यक नहीं है) जिसके कारण वह कष्ट झेलता है। इस चरित्र दोष को वे 'एमोप्टिया' कहते थे। यह दोष ज्ञात अथवा अज्ञात हो सकता था। ईडीपस का दोष अज्ञात था (उसे नहीं ज्ञान था कि वह अपने पिता को मार रहा है अथवा अपनी माता से विवाह कर रहा है), एण्टीगोन का दोष है कि वह देश के कानून के विरुद्ध अपने भाई की अन्त्येष्टि क्रिया करना चाहती है; प्रोमीथियस आग चुराकर मनुष्य जाति के पास पहुँचा देता है; हिप्पोलीटस अतिशय चरित्रवान बनता है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या सचमुच किसी प्रकार का चरित्र-दोष दिखाना यूनानी 'करुण' नाटककार आवश्यक समझते थे ? पाप का फल बुरा, धर्म का फल अच्छा होना लोग स्वाभाविक मानते हैं। किन्तु संसार में बहुधा ऐसा देखने में आता है कि धर्म का फल अच्छा नहीं होता है और पाप का हमेशा बुरा नहीं होता है। इसलिए लोग आशा करते हैं कि कम से कम काव्यों में हमें हमेशा ऐसा न्याय देख

पड़ेगा जिसमें पाप का फल बुरा हो और धर्म का फल हमेशा अच्छा हो। इसी को 'काव्यगत न्याय' '(पोएटिक जस्टिस)' कहते हैं और यह सिद्धान्त मनुष्य के लिए बहुत बड़ा सन्तोष का विषय है। किन्तु यह सिद्धान्त सत्य से, जीवन के कटु और विषम सत्य से, बहुत दूर है—इस कारण जन-साधारण द्वारा माने जाने पर भी अरस्तू और आधुनिक विचारवान लेखक इसको अनावश्यक और अशुद्ध सिद्धान्त मानते हैं।

ऐसी स्थिति में किसी पात्र को अकारण कष्ट झेलते देखना यूनानियों को केवल इस कारण सह्य होता था कि वे जिस धर्म में विश्वास करते थे उसके अनुसार नियति सबके ऊपर होकर मनुष्य को नचाती है, उन्हें परेशान करती है और उसके कार्यों का कोई कारण होना आवश्यक नहीं है। जैसा कि ऊपर हमने कहा है इस परिस्थिति को बुद्धिगम्य और विश्वसनीय दिखाने को अरस्तू ने 'एमोप्टिया' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसी के कारण वे 'करुण'-दोष ('ट्रैजिक एरर') को महत्वपूर्ण स्थान देते थे। ऐसा करने के लिए उन्हें यह दिखाना जरूरी नहीं होता था कि पात्र ने कोई पाप किया है—केवल इतना ही पर्याप्त होता था कि जानकर या अज्ञान से चरित्र-दोष के कारण कोई गलती कर बैठता है ('ट्रैजिक एरर')। इस प्रकार का चरित्र-दोष (एमेप्टिया) या पथ-भ्रष्टता (ट्रैजिक एरर) 'काव्यगत न्याय' लाने के लिए नहीं होता था। वे केवल इतना भर करते थे कि पात्रों पर कष्ट या विपत्तियों का आना सार्थक, युक्तियुक्त, अपरिहार्य बन सके। वास्तव में एकदम निर्दोष चरित्र का चित्रण भी कठिन है; उसमें 'करुण' भाव दिखाना तो और भी कठिन है—नैतिक वा धार्मिक वा बौद्धिक कोई न कोई प्रकार का दोष दिखाना उचित ही लगता है। कम से कम चरित्र को विश्वासनीय बनाने के लिए आवश्यक है कि किसी प्रकार की ग़लती, किसी प्रकार का दोषयुक्त काम करना दिखाया जावे। भवभूति के 'उत्तररामचरित' नामक करुण नाटक के (भगवान) रामचन्द्र के चरित्र-चित्रण में भी तो सीता को निर्दोष और सगर्भा वन में भेजना 'दोष' या 'गलती' के रूप में दिखाया गया है, अन्यथा उनका करुण-विपाक समझ में ही नहीं आ सकता है।

जब यूरोप में ईसाई धर्म का उदय और विकास हुआ तो इस चरित्र-दोष को वे निश्चित "पाप करने" के अर्थ में दिखाने लगे। परिणाम-स्वरूप इधर जो नाटक लिखे गये उनमें एक न्यायी, परम पवित्र, पाप-पुण्य के विवेक से भरे हुए, शक्ति की प्रेरणा से पात्र संचालित होने लगे। इस दृष्टिकोण से मनुष्य अपने किये का फल भोगता है—बहुत दूर तक अपने भाग्य का निर्माता है। यह भावना 'रिनेसाँ' (पुनर्जागरण) काल के प्रभाव से मानव के बढ़ते हुए महत्त्व का भी फल था। विचारकों ने भी स्वतन्त्रता (फ़्री-विल) और पूर्वनिश्चित-नियमितता (फ्री-डिटरमिनेशन) के आपेक्षिक सत्य का पर्याप्त विचार किया। इन सब प्रवृत्तियों का फल यह हुआ कि बहुत

अंशों में मनुष्य अपने बुरे भाग्य का स्वयं निर्माता समझा जाने लगा। 'नेमिसिस' का यह आधुनिक, नैतिक वा धार्मिक स्वरूप शेक्सपियर के चरित्रों में भरपूर मिलता है। उसमें यूनानी नाटकों की तरह एक अन्धी, कुटिल और निर्भय नियति के चंगुलों से निकल कर मनुष्य अपने हाथों अपने ही कर्मों का फल भोगता हुआ दिखाया जाता है। इसी सिद्धान्त को "चरित्र ही (मानव की) नियति है" (कैरेक्टर इज़ डेस्टिनी) इस प्रसिद्ध वाक्य में सन्निहित किया गया है। चरित्र की ऐसी प्रेरक-भावना (मोटिव फ़ोर्स) होने से काव्यगत न्याय की धारणा पुनः बलवती होने लगी। इसी कारण राइमर और जरबाइनस नामक आलोचकों ने शेक्सपियर नाटकों में काव्यगत न्याय के उदाहरण ढूँढ़ने की कोशिश की, और टेट नामक एक नाटककार ने शेक्सपियर के नाटकों में इस दृष्टि से सुधार करने के लिए उनके प्रसिद्ध करुण-नाटक "लियर" का ऐसा 'लोकप्रिय' परिर्वन किया जिसमें कॉरडेलिया जीवित रह जाती है और एडगर से विवाह कर लेती है। कहना न होगा कि कला की दृष्टि से यह अत्यन्त अनुचित दृष्टिकोण साबित हुआ।

तथ्य की बात तो यह है कि 'रिनेसाँ' के युग में जो 'करुण' नाटक रचे गये उनमें मनुष्य के चरित्र को अन्ध नियति के अधीन न दिखाकर, मनुष्य के चरित्र के ही अधीन नियति को दिखाने की चेष्टा की गयी है। पात्रों के चरित्र-चित्रणों को पूरा-पूरा काव्यगत न्याय का रूप बिना दिये ही यह चेष्टा की गयी कि आखिर मनुष्य का चरित्र ही उसके भाग्य का निर्माता है— उसके दोष उसके चरित्र की विशेषताओं से ही उत्पन्न हुए हैं और वह चाहे (ऐसा इस सिद्धान्त का अभिप्राय होता है) तो भविष्य में अपने दोषों को सुधार सकता है या कम से कम बदल सकता है। लियर की मूर्खता जिस से वह कार्डेलिया का त्याग करता है (जो उसके दुःखों का आदि कारण होता है) उसके चरित्र की विशेषताओं—बुढ़ापेपन और घमंड—का ही फल है। इसी तरह ऑथेलो का स्त्री स्वभाव में सहज सन्देह होना और सहज ही लोगों की बातों में विश्वास करने की प्रवृत्ति (जिससे वह दुःख पाता है) एक ऐसा दोष है जो उसके अफ्रीकी मूर होने से सम्बन्धित है। इसी प्रकार कोरिओलैनस का दर्प, एण्टनी का मोह—सभी ऐसे दोष हैं जो उन पात्रों के चरित्रों से उपजे हुए हैं और उनके दुःखों के साक्षात् कारण हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि मध्ययुगीय धार्मिक नाटकों की तरह इन पात्रों के चरित्र में नैतिक वा धार्मिक दोष होना ज़रूरी नहीं हैं—केवल असंगत, अयुक्तियुक्त, अनुचित कार्य करना भी उनके पर्याप्त दोष हो सकते हैं।

प्राचीनानुकरण ('नेओ-क्लासिकल') काल में फ्रान्स में रासीन और वॉल्तेयर के करुण नाटक एक नवीन दृष्टिकोण से लिखे जाने लगे जिनमें नायक को कृत्रिम-

रूप से उदात्त, महामना और तेजस्वी बनाकर उनमें प्रेम और कर्त्तव्य, दोनों ही महान आदर्शों के बीच पिसते हुए दिखाकर 'करुण' भाव को उत्पन्न किया जाता है। इसमें भी चरित्र-दोष से ही इन नाटकों में करुण भाव उत्पन्न होता है। धार्मिक चरित्र-दोष से नहीं किन्तु असंगत, अयुक्तियुक्त चरित्र-दोष से ही विपत्तियाँ या कष्ट आते हैं।

शेक्सपियर के नाटकों में से नियति का भाव एकदम चला नहीं जाता है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता अवश्य है किन्तु अमानुषिक वस्तुएँ (जैसे भविष्यवक्ता डायनें, भूत), अप्रत्याशित आकस्मिक घटनायें प्रभृति ऐसी बातें पात्रों को जीवन में मिलती हैं कि जिससे उनको नियति का भी कुछ भान होता ही है। तथापि अधिकांश में वह स्वतन्त्र और अपने नियति का स्वयं निर्माता रहता है।

किन्तु आधुनिक 'करुण'-नाटकों के पात्र प्राचीन यूनानी नाटकों की तरह ही परिस्थितियों के पञ्जों में फँसा हुआ दीख पड़ता है। मनुष्य की थोड़ी-सी स्वतन्त्रता, मनुष्य का अपने चरित्र को अच्छा या बुरा बनाने की थोड़ी-सी क्षमता इन नाटकों में भी पायी जाती है किन्तु आधुनिक काल में इतनी नवीन मनोवैज्ञानिक खोजें और विश्लेषण हुए हैं कि मनुष्य वास्तव में अत्यन्त अल्प भाग में स्वतंन्त्र माना जाने लगा है, आजकल ऐसी धारणा हो चली है कि मनुष्य का अपने पर भी अधिकार थोड़ा ही है—पैतृक वा वंशानुगत संस्कार, आदिम प्रवृत्तियाँ जो सर्वदा आगे आना चाहती हैं, अर्धचेतन-प्रवृत्तियाँ प्रभृति उसमें ज़बरदस्ती चारित्रिक गुण और कार्य करने की क्षमता पैदा कर देती है। इसके अतिरिक्त आजकल का मनुष्य सामाजिक बन्धन और बाह्य परिस्थितियों का भी दास दिखाया जाता है। विज्ञान के सिद्धान्तों से नियति (नेसेसिटी) के पञ्जों में मनुष्य-जीवन जकड़ा हुआ बिल्कुल ही स्वतन्त्रता से हीन दीख पड़ने लगा है। इस प्रकार की भावनाओं (मोटिव-फ़ोर्स) का फल यह हुआ है कि आधुनिक नाटकों के पात्र कितने ही अंशों में यूनान के करुण नाटकों से भी अधिक निष्ठुर और अन्ध नियति (प्रवृत्तियों और परिस्थितियों) का दास देख पड़ता है। प्राचीन काल में तो धर्म का भरोसा था, नायक किसी महान देशोपकार वा महान कार्य के लिए कष्ट पाता था, उसका आकाशवाणी वा डायन वा भूत में विश्वास होता था जिनके द्वारा विपत्ति या कष्ट को दूर करने का उपाय वह सोच सकता था अथवा कम से कम उसको कष्ट अधिक सह्य होता था, किन्तु आजकल के 'करुण'-नाटक के पात्रों का कष्ट तो इन धार्मिक विश्वासों के अभाव में अत्यन्त असह्य, भयानक और दयनीय होता है। आधुनिक 'करुण'-नाटक का पात्र बाहरी परिस्थितियों और आन्तरिक प्रवृत्तियों के बीच पिसा हुआ, जब गलती करता है या पथभ्रष्ट होता है, तब

उसकी दयनीयता अत्यन्त तीव्र हो उठती है। प्राचीन यूनानी 'करुण' पात्रों की तरह आज का 'करुण'-पात्र भी एक ऐसी नियति का शिकार होता है जिस पर उसका मुश्किल से कोई नियन्त्रण है प्रत्युत जैसा ऊपर कहा गया है आज के 'करुण नाटकों' के पात्रों को प्राचीन काल के करुण पात्रों से भी अधिक संघर्षमय और भयावह तथा दयनीय जीवन बिताना पड़ता है। हाँ, थोड़ी-सी, बिल्कुल थोड़ी-सी आज के किसी-किसी करुण नाटककार के पात्रों में स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपने भाग्य को चाहे तो सुधार सकता है।

आधुनिक नाटक का आरम्भ नारवे-निवासी इब्सन के नाटकों से होता है। इब्सन ने नाटक-जगत् में यथार्थवाद (रियलिज़्म अथवा नैचुरलिज़्म) को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और जीवन की समस्याओं से पीड़ित मानव का चरित्र-चित्रण किया। उन्होंने वास्तविक जीवन का निकट से निकट रूप गद्य-नाटकों के द्वारा लाने की चेष्टा की और यह सिद्ध किया कि मनुष्य सामाजिक नियमों और रुढ़ियों में पिसकर अपनी मनुष्यता को खो बैठता है। उनका अत्यन्त प्रसिद्ध नाटक "ए डौल्स हाउस" ('एक गुड़िया-घर') इस भावना को नायिका नोरा के चरित्र में दिखाता है। नोरा एक साधारण नारी है जो एक छोटे-से परिवार को, कहने को सुख और आनन्द से, चला रही है किन्तु उसे अब ज्ञात होता है कि उसका व्यक्तित्व और उसकी मनुष्यता विवाह की रूढ़ि से नष्ट हो गयी है और वह एक सजी-सजाई गुड़िया मात्र है—मनुष्य नहीं है। इस सत्य को नाटककार ने उसके जीवन में बड़ी ही चतुरता से यथार्थ जीवन का प्रतिबिंब डालते हुए और अत्यन्त सफल संघटन द्वारा यूनानी 'करुण' नाटकों के तुल्य 'करुण'-भाव से पूर्ण नाटक में दिखाया है।

सबसे महत्त्व की बात आधुनिक पात्रों में उनकी साधारणता होती है—पहले की तरह राजा-महाराजा, महान वीर या महान योद्धा होकर उनके नायक सर्वसाधारण समाज के व्यक्ति होते हैं। दूसरी बात यह है, कि उनके पात्र सभी स्थान पर नायक-नायिका-दुष्ट-विदूषक प्रभृति विभाजन में नहीं आते हैं। तीसरे, नारी का स्थान इन नाटकों में बड़ा महत्त्वपूर्ण और आकर्षक हो गया है—प्रेमिका और शृङ्गार को लाने के रूप में नहीं प्रत्युत जीते-जागते समाज के प्रमुख अंग के रूप में नारी आती है जो इस युग में जाग खड़ी हुई है। 'नोरा' एक ऐसी ही आधुनिक नारी है। इब्सन के एक दूसरे नाटक में, जिसका नाम गोस्ट्स (भूत) स्वयं एक महत्त्वपूर्ण चरित्र-भावना को प्रकट करता है, मिसेज़ एलविंग को आधुनिक नारी के नव-जागृत रूप में दिखाया गया है। वह एक समय अपने स्वामी की भयानक बर्बरता से घबराकर एक दूसरे पुरुष (मि० मैन्डर्स) के संग अपना जीवन बिताना चाहती थी किन्तु सामाजिक बन्धनों और नैतिकता से भरा हुआ वह पुरुष उसे त्याग देता है और उसका जीवन

पहाड़ हो जाता है। उसे जान पड़ता है कि पुरानी रुढ़ियाँ और मृत रीति-रिवाज और सामाजिक-धार्मिक कृत्रिम बन्धन आधुनिक मनुष्य के जीवन में भूतों की तरह छाया डाले उसका सर्वनाश करने पर तुले रहते हैं। इस प्रकार से नारी का चरित्र-चित्रण आधुनिक विचार-धाराओं का ही फल है। देखिए कितने स्पष्ट और आवेश-भरे शब्दों में मानव की इस दयनीय स्थिति को, परिस्थितियों की दासता को, यह आधुनिक नारी व्यक्त करती है : ये शब्द आधुनिक चरित्र-चित्रण के प्रसिद्ध रूप हैं—

"Ghosts! When I heard Regina and Oswald there, it was just like seeing ghosts before my eyes. I am half inclined to think we are all ghosts, Mr. Manders. It is not only what we have inherited from fathers and mothers that exists again in us, but all sorts of old dead ideas and all kinds of old dead beliefs and things of that kind. They are not actually alive in us but they are dormant, all the same, we can never be rid of them. Whenever I take up a newspaper and read it, I fancy I see ghosts creeping between the lines. There must be ghosts all over the world, they must be countless as the grains of sand, it seems to me. And we are so miserably afraid of the light, all of us."

इब्सन ने यह भी दिखाया है कि मनुष्य का चरित्र उसकी शक्ति के बाहर की, वंशानुगत वा पैतृक, प्रवृत्तियों का भी दास होता है। 'गोस्ट्स' नामक नाटक में उन्होंने दिखाया है कि बहुधा हम अपने दोषों के लिए ज़िम्मेवार नहीं है, अपनी चरित्र हीनता के लिए हम स्वयं ज़िम्मेवार नहीं हैं। ऑसवल्ड (मिसेज़ एवलिंग का पुत्र) अपने पिता से प्राप्त बीमारियों और चरित्र-दोषों का शिकार है। इस प्रकार मनुष्य की स्वतंत्रता और भी सीमित देख पड़ती है।

इस प्रकार यथार्थवाद समस्या-नाटकों द्वारा और सामाजिक-करुण नाटकों द्वारा चरित्र को सामाजिक प्रवृत्तियों का शिकार दिखाता है। कुछ को छोड़कर अधिकांश आधुनिक नाटककार इस प्रकार के यथार्थवाद का सहारा अवश्य लेते हैं। गालसवर्दी नामक अंग्रेज़ नाटककार के समस्या-नाटकों और सामाजिक त्रासदियों में भी यही चित्र है—उदाहरणार्थ, गरीब के लड़के पर चाँदी के डिब्बे को चुराने का कलंक और धनी के लड़के को उससे भी भयंकर पाप करने पर छूट ("सिलवर बाक्स" में),

न्यायालयों का अपूर्ण न्याय ('जस्टिस' में), और समाज में श्रमिकों और पूँजीपतियों का संघर्ष ('स्ट्राइफ़' में) होने से व्यक्ति की क्या दशा होती है, समाज के दोषमय बन्धनों एवं नियमों द्वारा आधुनिक पात्र कितने दुःखी होते हैं, कितने पिसते हैं इत्यादि बातें उन्होंने अपने नाटकों के पात्रों के चरित्र-चित्रण में दिखायी है।

आधुनिक साहित्य में एक दूसरी धारा अभिव्यञ्जना (एक्सप्रेशनिज़म) आयी। इसका प्रभाव प्रमुख रूप से स्ट्रिंडबर्ग नामक नारवे के नाटककार द्वारा आधुनिक नाट्य-साहित्य में पड़ा है। इस सिद्धान्त के अनुसार पात्रों के अन्तःकरण को बाह्य-रूपों से अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसके अनुसार मनुष्य के चरित्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण ही मुख्य चित्रण माना जाने लगा है। फ्रॉयड के नवीन मनोविज्ञान से प्रभावित होकर पात्रों के मन का अध्ययन करना ही अभिव्यञ्जनावाद का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसको दिखलाने के लिए साधारण और असाधारण मानसिक अवस्थाओं के चित्र नाटककार उपस्थित करता है। दूसरी विशेषता जो इस प्रकार के नाटकों के चरित्र-चित्रण में देख पड़ती है वह यह है कि पात्र यथार्थ न होकर अमूर्त, अस्पष्ट, व्यञ्जनात्मक होते हैं अर्थात् नायकों और दुष्टों के संघर्षों के बदले सामाजिक प्रवृत्तियों का अथवा मनुष्य की मनोवृत्तियों का संघर्ष दिखाया जाता है। अभिव्यंजनात्मक नाटकों के पात्र एक प्रकार से नाटकों में गौण स्थान पाने लगे हैं—व्यक्तिगत, वास्तविक पात्र के बदले में ये केवल 'पिता', 'पुत्र', 'सफेद कपड़ों में व्यक्ति' 'काले कपड़ों में एक स्त्री', 'क्लर्क', 'मास्टर',—प्रभृति नाम के पात्र रखते हैं—वे जीते-जागते, मनुष्यत्व-युक्त पात्र नहीं वरन् प्रतीक-रूप मात्र होते हैं। इसके अतिरिक्त पात्रों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियों के उद्घाटन का कार्य ये नाटक अधिक करते हैं। इसी कारण ये नाटक अधिकतर करुणात्मक ही होते हैं। इनमें अद्भुत प्रकार के गाने, पद्यमय भाषण, सामूहिक भाषण और ध्वनि-समूह देख पड़ते हैं और बहुधा इनमें पात्रों के चरित्र नाना प्रकार के दृष्टिकोणों से दिखाने की चेष्टा की जाती है।

व्यंजनावादी नाटकों का विकास दो दिशाओं में अब हो रहा है—एक ओर बेलजियम के नाटककार मेटरलिंक के छायावादी या प्रतीकवादी नाटक बने हैं और दूसरी ओर उन्मुक्त कल्पनाशील, परी देशों के कथानकों के नाटक 'फैन्टेसी' बने हैं। मेटरलिंक के ही नाटकों में चरित्र-चित्रण का नवीन और महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है इसलिये यहाँ उन्हीं का विवरण दिया जा रहा है।

मेटरलिंक के पात्रों के पीछे की भावना नियति की व्याकुलता ही है। वे मनुष्य की अन्तरात्मा की दशा का वर्णन करते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य की आत्मा

एक खोह में जा फँसी है जिसमें (प्लेटो की प्रसिद्ध उपमा के अनुसार) सत्य की ज्योति कहीं बाहर से आकर दीवारों पर छायाएँ बनाती है । आत्मा इस खोह में छटपटाती है, भूलों की छाया में, मिथ्या जीवन में उलझती या झुँझलाती है और अपने को सत्य की ज्योति की ओर जाने में सर्वथा असमर्थ पाती है । तभी तो उनके पात्रों के ऊपर छाया जैसी मृत्यु की भावना व्याप्त रहती है, उनको बातचीत करने को शब्द नहीं मिलते हैं, वे मौन वा आत्मा के शब्दों में (इनर डायलोग या साइलेन्स) कथनोपकथन करते हैं । उनके चरित्र की अच्छाई और बुराई उनके कार्यों से नहीं, उनके गूढ़ भावों से भी नहीं, किन्तु गहराई छिपे कुछ प्रच्छन्न-अस्पष्ट (दी अननोन) बातों से है जिनका हम आभास मात्र पा सकते हैं । अपने "ट्रेज़र ऑफ़ दी हम्बल" नामक निबन्ध-संग्रह में वह लिखते हैं--

"We do not judge our fellows by their acts—nay, not even by their most secret thoughts; for these are not always undiscernible and we go far beyond the undiscernible. A man shall have committed crimes reputed to be the vilest of all, and yet it may be that even the blackest of these shall not have tarnished for one single moment the breath of fragrance and ethereal purity that surrounds his presence; while at the approach of a philosopher or a martyr, our soul may be steeped in unendurable gloom."

"I may commit a crime without the least breath inclining the smallest flame of this fire (the great central fire of our being); "and, on the other hand, one look exchanged, one thought which cannot unfold, one minute which passes without saying anything, may stir it up in terrible whirlpools at the bottom of its retreats and cause it to ovtrflow on to my life. Our soul does not judge as we do; it is a capricious, hidden thing. It may be reached by a breath and it may be unaware of a tempest. We must seek what reaches it; everything is there, for it is there that we are."

इसी कारण मानव-चरित्र के रहस्यों को समझने के लिये मेटरलिंक एक ही

उपाय मानते हैं-- वे कहते हैं कि सम्भव है कि मृत्यु की छाया में अथवा मौन-संभाषणों में रखकर पात्रों को समझा जा सके। इसी दृष्टि से मेटरलिंक के पात्रों के पीछे जो प्रेरक-भावना (मोटिव फ़ोर्स) है वह एक अज्ञात शक्ति के रूप में व्यक्त होती है। वे अपने नाटकों की भूमिका में कहते हैं--

"In these plays faith is held in enormous powers, invisible and fatal. No one knows their intentions, but the spirit of the drama assumes they are malevolent, attentive to all our actions, hostile to smiles, to life, to peace, to happiness. Destinies which are innocent but involuntarily hositle are here joined, and parted to the ruin of all, under the saddened eyes of the wisest, who foresee the future but can change nothing in the cruel and inflexible games which Love and Death practise among the living. And Love and Death and the other powers here exercise a sort of sly injustice, the penalties of which —for this injustice awards no compensation—are perhaps nothing but the whims of fate........

"This Unknown takes on, most frequently, the form of Death. The infinite presence of death, gloomy, hypocritically active, fills all the interstices of the poem. To the problem of existence no reply is made except by the riddle of its annihilation."

इन्हीं कारणों से मेटरलिंक के पात्र कोई अद्भुत, आश्चर्यजनक कर्म करते हुए, अथवा भावावेश से भरे वार्तालाप करते हुए, अथवा किसी निर्णयावसर में स्थित नहीं दिखाये जाते हैं। वे मृत्यु (अथवा नियति) की छाया में हमारे सामने आते हैं, बाह्य-रूप के व्यक्तित्व से उतने युक्त नहीं रहते जितने अन्दर की प्रवृत्तियों से प्रेरित दिखाये जाते हैं। वे बहुत ही साधारण प्रायः बेमतलब की महत्त्वहीन नीरस बातचीत करते रहते हैं--हाँ, बीच-बीच में ऐसी चुप्पियों और पुनरावृत्तियों से पूर्ण उनकी बातचीत होती है जो कभी तो हृदय में चुभ जाती हैं और कभी विषाद के भावों में विलीन हो जाती हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार के चरित्र-चित्रण में कथानक

(एक्शन) का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता है। बहुधा कथानक अथवा 'कार्य' नाटक आरम्भ होने से पूर्व ही सम्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ मेटरलिंक के "दी इन्टीरियर' नामक नाटक को लें। इसमें परिवार के एक व्यक्ति की दुर्घटना में मृत्यु होने की कथा है। किन्तु दुर्घटना नाटक आरम्भ होने से पूर्व ही घटित हो जाती है। किन्तु जो लड़की डूब गयी है उसके चरित्र का चित्रण परिवार के लोगों के वार्तालाप से तथा उसकी अनुपस्थिति की नीरवता से किया गया है।

इससे भी अद्‌भुत रूप का चरित्र-चित्रण मेटरलिंक के "दी इण्ट्रुडर" नामक नाटक में मिलता है। इस नाटक का नायक मृत्यु स्वयं है। किन्तु उसका चित्रण साक्षात् कहीं नहीं किया गया है। एक प्रसूता और उसका नवजात शिशु रोग शय्या पर पड़े हैं। बगल के कमरे का दृश्य नाटक में दिखाया गया है—उसके परिवार के लोग बैठे बातचीत करते हैं। अन्त में प्रसूता की मृत्यु हो जाती है। इस नाटक का कथानक इतना ही है। परन्तु नाटक की विशेषता यह है कि नाना रूप से, संकेतों से, प्रतीकों से हमें आसन्न मृत्यु से परिचित कराया जाता है—खड़खड़ाहट से, आवाज़ों के बन्द होने से, भयभीत वातावरण से, हमें मृत्यु का परिचय कराया जाता है। इस प्रकार का चरित्र-चित्रण नाटक-साहित्य में अनोखा है।

मेटरलिंक के नाटकों में वातावरण के द्वारा चरित्र-चित्रण का प्रयास किया गया है। उनके पात्र कठपुतलियों की तरह हैं—वे स्वयं इनको मेरियोनेट्स (marionettes) कहते थे। उनका विश्वास है कि मनुष्य संसार में दुःखी ही दुःखी है। उसके उद्धार की सम्भावना नहीं है। अन्तरात्मा की पुकार सबसे बड़ी पुकार है और वर्तमान सामाजिक रूढ़ियाँ उसको विकसित होने में बाधाएँ डालती हैं। इसी से मानव-जीवन कारुणिक हो जाता है। इसमें अच्छे और बुरे, साधु और दुष्ट सभी समान रूप से कष्ट पाते हैं। जीवन महान दुःस्वप्न की तरह है जिससे बचने की चेष्टा व्यर्थ होती है—बस एक नियति या मृत्यु मात्र सत्य है और सब मिथ्या है।
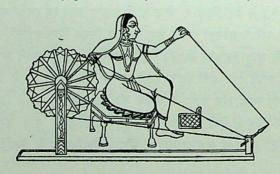
रोमानी नाटक

—प्रो० सेमुएल मथाई

सबसे पहले मैं एक व्यक्तिगत बात कह देना चाहता हूँ। राजकीय उत्तर-दायित्वों को निभाने और कई अन्य आवश्यक कार्यों के करने में, मैं इतना व्यस्त रहता हूँ, कि मेरे लिए यह सम्भव नहीं कि इस प्रकार के किसी विषय पर कोई विद्वत्तापूर्ण लेख लिख सकूँ। अतः रोमानी नाटक के सम्बन्ध में जो भी विचार मन में आये, मैंने उन्हें जल्दी से संकलित भर कर दिया है। परन्तु यह आशा करता हूँ कि नीचे की पंक्तियों में जो कुछ लिखा है वह बिलकुल असंगत या अप्रासंगिक नहीं होगा।

रोमानी (Romantic) और श्रेण्य (classical) शब्दों के सही अर्थ क्या हैं, यह अंग्रेज़ी साहित्य का बड़ा ही विवादग्रस्त विषय है। प्रायः इन दो शब्दों को परस्पर विरोधी समझा जाता है परन्तु इनमें से किसी की भी ठीक-ठीक परिभाषा करना ज़रा कठिन कार्य है। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी हद तक श्रेण्य और रोमानी विरोधी शब्द हैं परन्तु ये एक-दूसरे से इतने भिन्न भी नहीं हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि रोमानी शब्द 'रोमांस' से संम्बन्धित है, उन अर्थों में जिन में कि यह शब्द (रोमांस) मध्य-युग में रोमन साम्राज्य के सीमान्त क्षेत्रों में प्रयुक्त होता था। भारत की प्राकृत भाषाओं की भाँति, रोम साम्राज्य के जनपदीय क्षेत्रों की भाषा की भी कुछ अपनी ही विशेषताएँ थीं। इन भाषाओं में जो गीत और कहानियाँ लिखी गईं; उनमें श्रेण्य लेटिन भाषाओं की रचना की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता दिखाई देती है और उन में शास्त्रीय नियमों का भी अधिक कठोरता से पालन किया गया।

साहित्य में 'रोमांस' शब्द इन रोमांस भाषाओं की कहानियों के लिए प्रयुक्त होता रहा है और उसमें प्रायः विदेशीयता या अनूठेपन की भावना निहित थी। इन कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनमें प्रेम और पराक्रम के कार्यों का वर्णन होता था परन्तु इनका घटना-काल सुदूर अतीत होता था। ये कहानियाँ किसी विशेष श्रेणी की न थीं, बल्कि इनका स्वरूप मिश्रित हुआ करता था क्योंकि उनमें किसी विशेष श्रेणी के नियमों का पालन नहीं किया जाता था। कामदी और त्रासदी

के तत्त्व, तथा उत्कृष्ट कामदी व निम्न कामदी, सभी का एक ही कहानी में समावेश कर दिया जाता था। इन कहानियों में प्रायः लौकिक और अलौकिक तत्त्व भी एक साथ सन्निविष्ट रहते थे। रोमांस-जगत का सर्वोत्कृष्ट वर्णन शायद उन्नीसवीं शती के रोमानी कवियों की पंक्तियों में मिलता है। उदाहरणाथ, ये पंक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं :—

'पतंगे की तारे के लिए लालसा' (शेली)

'सुदूर परियों के देश में भीषण समुद्र के फेन पर जादू की खिड़कियों का खुलना' (कीट्स)।

कालरिज ने अपनी 'कुबला खाँ' शीर्षक कविता में रोमांस-संसार के वातावरण का बड़ा ही सुन्दर निदर्शन किया है।

आजकल रोमांस शब्द लगभग प्रेम-कथा का पर्याय बन गया है। किन्हीं दो प्रेमियों की कहानी को अब रोमांस कहा जाने लगा है। यद्यपि रोमांस शब्द की लोक-प्रचलित व्याख्या पूर्णतया सत्य नहीं है, परन्तु इतनी बात अवश्य है कि हम यह आशा करते हैं कि किसी भी रोमानी कहानी में प्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

अंग्रेज़ी साहित्य में रोमांस-कथाएँ सोलहवीं शती में लोकप्रिय हुई। लिली (Lily), ग्रीन (Green), लाज (Lodge), नैशे (Nashe) और दूसरे लेखकों ने रोमानी ढंग की कई गद्य-कथाएँ लिखीं। फिर उन्हें नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा और इससे एक नये प्रकार के नाटक हमारे सामने आये जिसे रोमानी कामदी का नाम दिया गया। परन्तु यहाँ साथ ही यह बता देना उचित है कि नाटक रोमानी त्रासदी के ढंग का भी हो सकता है परन्तु रोमांस की स्वाभाविक अभिव्यक्ति कामदी में ही होती है। एलिज़ाबेथ-कालीन इंगलैंड में रोमानी कामदी, एक ऐसी प्रेम-कहानी का नाटकीय रूप होती थी जिसके वातावरण और पृष्ठभूमि, ग्राम्य या आरण्य होते थे। उसमें सच्चे प्रेम का पथ निर्विघ्न नहीं होता था और प्रेमियों को प्रायः अपने घरों से दूर स्थानों में भटकना पड़ता था परन्तु अन्त में प्रमियों का मिलन ही होता था। शेक्सपियर ने कई श्रेष्ठ रोमानी कामदियाँ लिखी हैं। इन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है : (१) मध्यकालीन कामदियाँ जैसे 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम', 'दि मर्चेण्ट आफ़ वेनिस', 'एज़ यू लाइक इट', 'मच एडो अबाउट नथिंग' और 'ट्वैल्फ़्थ नाइट और (२) अन्तिम रोमानी नाटक जैसे 'पैरीसलीज़', 'सिम्बेलीन', 'दि विन्टर्स टेल', और 'दि टैम्पैस्ट'।

पहले वर्ग के नाटकों में कामदीय तत्त्वों—चारित्र्य-विषमता, व्यंग्य, और मानव

की मूर्खता पर हँसने की प्रवृत्ति—का प्राधान्य है। दूसरे वर्ग के नाटकों में रोमांस के तत्त्व की प्रधानता है अर्थात् सुदूरता की भावना, प्रेम का भावुकतापूर्ण चित्रण और वियुक्त मित्रों और प्रेमियों का लम्बे भ्रमणों और साहसिक कार्यों के पश्चात् पुनर्मिलन। इन सभी रोमानी नाटकों में हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हम किसी दूसरे ही संसार में पहुँच गये हैं जहाँ की समस्याएँ और संघर्ष तो इस कर्मरत संसार के अनुरूप ही हैं परन्तु कवि द्वारा निर्मित इस काव्य-लोक के नियमों के अनुसार सभी चीज़ों का अन्त सदा ही अच्छा होना चाहिये। आधुनिक रुचि चरित्रों की ओर अधिक है इसलिए हमारी इच्छा होती है कि इन नाटकों में जो भावात्मक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, और जिस तत्परता से लोग एक-दूसरे से प्रेम करने लग जाते हैं या प्रेम करना छोड़ देते हैं और चरित्रों में इतनी शीघ्रता से जो परिवर्तन होते हैं, इन सब के मनोवैज्ञानिक कारण जानें। परन्तु मेरे विचार में सत्य तो यह है कि वास्तविक संसार के कठोर नियम इस कल्पना-जगत पर लागू नहीं होते। रोमांस के संसार और वास्तविक संसार की कई बातें एक जैसी हैं। कई बातें तो दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं और कई अन्य बातों में भी दोनों में सादृश्य है। परन्तु यदि, अन्त में, इसका विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह अपने में ही सम्पूर्ण एक अनोखा संसार है। कॉलरिज के शब्दों में कहें तो 'अविश्वासों का स्वेच्छा से परित्याग करके ही' हम इस संसार में प्रवेश पा सकते हैं और इसके जीवन का रसास्वाद कर सकते हैं।

रचना की दृष्टि से देखें तो रोमानी नाटक और विशेषकर रोमानी कामदी की कथा-वस्तु जटिल होती है, साधारण रूप से एक मुख्य कथा और कई उप-कथाएँ उस में होती हैं। प्रायः इनमें भिन्न सामाजिक वर्गों का समन्वय दिखाया जाता है : अभिजात वर्ग और जनसाधारण का और कभी-कभी तो इस पार्थिव जगत में परियों के देश के अलौकिक तत्त्वों के दर्शन हो जाते हैं। हमें यह भी पता चलता है कि ये कामदियाँ, आजकल के विविध मनोरंजनों' (Variety entertainments) के समान होती थीं और उनमें कई गीतों का सन्निवेश रहता था। युद्ध, मल्लयुद्ध और धमारी प्रहसन का भी उसमें अभिनिवेश किया जाता था।

यदि हम बेन जॉन्सन की रचनाओं से तुलना करें तो हमें रोमानी नाटक की ठीक-ठीक प्रकृति का पता चलता है। जॉन्सनीय कामदियों में, श्रेण्य कामदियों की प्रणाली की तरह, मानवीय आचरण का विश्लेषण और पर्यालोचन रहा करता था। उनकी संघटना बड़ी संयत होती थी और जो सिद्धान्त मान्य थे, उनका कठोरता से पालन किया जाता था। इस प्रकार की कामदियों की तुलना में, शेक्सपियर की रोमानी

कामदियाँ प्रायः अनियमित, प्राणवन्त मनोरंजक और सरोर तथा मन को भावोष्णता प्रदान करने वाली होती हैं।

अन्त में, जहाँ तक मेरा विचार है रोमानी नाटक में मुख्य रूप से जीवन का एक हर्षोल्लासमय भावन होता है और इसकी परिधि में विविध प्रकार का जीवन, हास-अश्रु, प्रसन्नता और गम्भीरता एवं उच्च और निम्न, ये सभी समा जाते हैं। इस दृष्टि से देखें तो संस्कृत के बहुत से नाटक, विशेषकर कालिदास के नाटक, रोमानी ही कहे जायेंगे। ये नाटक ईश्वर की अपार देन की भावना से, प्राचुर्य और उल्लास के जीवन से ओतप्रोत हैं और यद्यपि इनमें करुणा के तत्त्व भी होते हैं परन्तु वे सब सुखान्त की ओर ही अग्रसर होते हैं।

श्रेण्य नाटक की अपेक्षा, रोमानी नाटक का अभिनय अधिक कठिन है। इसका कारण यह है कि रोमानी नाटक में दर्शकों को बहुत-कुछ कल्पना से काम लेना पड़ता है और (आधुनिक समय में) दिग्दर्शक को पर्याप्त कौशल का परिचय देना पड़ता है। बहुत कठोर नियंत्रण में बँधे हुए अर्थात् अत्यन्त संयत कौशल की भावना से हमें विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। श्रेण्य नाटक में, चाहे वह कामदी हो या त्रासदी, हमें इसी प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। 'ईश्वर ने सब कुछ दिया है' की भावना से जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह हमें पाठक वा प्रेक्षक के रूप में, रोमानी नाटक में मिल सकता है।

यह कहा जा सकता है कि कोई भी वस्तु जो प्रसिद्ध हो और दीर्घ कालावधि के पश्चात् भी उसका अस्तित्व बना रहे उसके सुपरिचित होने के नाते ही उसमें कुछ श्रेण्य विशेषताएँ आ जाती हैं। रोमांस से हम जिस नूतनता और अनूठेपन को सम्बद्ध करते हैं, किसी कविता या नाटक के अत्यधिक व्यवहार में आने से वह लुप्त हो जाती है। वाल्टर पीटर की इस उक्ति में किसी हद तक सच्चाई है कि 'रम्य से जब अद्भुत का योग होता है तो उसे रोमांस संज्ञा से अभिहित करते हैं।' इस प्रकार हम किसी भी वस्तु को, जो प्रसिद्ध हो और जिसे श्रेष्ठ समझा जाता हो, श्रेण्य कह सकते हैं। तो, रोमानी हम उसको कहेंगे जिसमें नवीनता हो, जिसमें नव्य सौंदर्य-रूपों का अनुसंधान हो और जो आनन्ददायक हो। मेरे विचार में रोमांस का सम्बन्ध अन्ततः मानव-प्रकृति के आदिम तत्त्व—सृजनात्मक-शक्ति—से होना चाहिए जो स्त्रियों और पुरुषों को एक दूसरे की ओर आकर्षित करती है, और उन प्रवृत्तियों से है जो मनुष्य को नवीन और अज्ञात की खोज करने के लिए प्रेरित करती हैं। एक अंग्रेज़ के लिए शेक्सपियर के समय के रोमानी नाटक अंशतः एलिज़बैथ-युग की उत्तेजना के प्रतीक हैं। इसमें वह अद्भुत नव्य जगत प्रतिबिम्बित होता है, जो कि एलिज़बैथ-युग के

अन्वेषियों और साहसियों के समक्ष उद्घाटित हो रहा था। शान्ति-काल में, जब कि मनुष्य के आचार-विचार कठोर नियमों में जकड़े रहते हैं, रोमांस की भावना का उदय एक तरह से कठिन होता है। परन्तु विजय प्राप्त करने के लिए सदा ही साहस के नये क्षेत्र खुले होते हैं और अपने बन्धु-बान्धवों एवं अपने ईश्वर के प्रति मनुष्य के सम्बन्धों की अपार विविधता चिर-नवीन रोमांस-रूपों के प्रादुर्भाव का हेतु होती है—चाहे वे गीत में प्रस्फुटित हों या नाटक में।

पाश्चात्य रंगमंच और आधुनिक भारतीय नाट्य

—डॉ० चार्ल्स फ़ाब्री

यह अभिनन्दन-ग्रन्थ सेठ गोविन्ददास जी को समर्पित है अतः यह उचित ही होगा कि पाश्चात्य रंगमंच के विषय में किसी विछिन्न दृष्टिकोण से न लिखा जाये, वरन् आज के भारतीय नाट्य (थियेटर) के प्रसंग में ही उसका अवलोकन किया जाये। यह इसलिये और भी अभिप्रेत है कि इन पंक्तियों के लेखक ने तीस वर्षों से भी अधिक समय से संस्कृत नाट्य का अध्ययन किया है और गत पच्चीस वर्षों से वह आधुनिक भारतीय नाट्य-आन्दोलन के घनिष्ठ तथा अत्यन्त निकट संपर्क में रहा है।

आधुनिक भारतीय नाट्य-आन्दोलन से सहानुभूति तथा रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख यह स्पष्ट है कि भारत में रंगमंच को बड़ी कठिन परिस्थितियों से होकर गुज़रना पड़ रहा है। प्राचीन काल की भाँति घुमक्कड़ नट अब भी हैं, गाँवों के मेलों-उत्सवों में ये अब भी जाते हैं, लेकिन उनका लोप होता जा रहा है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक फैलते जाने वाले सिनेमा के प्रलोभनों के सामने ठहरने में वे असमर्थ हैं। यह सच है कि प्राचीन जनपदीय-नाट्य को जीवित रखने के लिये प्रयत्न किये गए हैं, और किए जा रहे हैं, यही नहीं, उसका उपयोग ग्रामोन्नति सम्बन्धी विचारों तथा पंचवर्षीय योजना को प्रचारित करने के लिये भी किया गया है: और ये प्रशंसनीय उद्देश्य हैं—सभी समझदार लोगों का समर्थन इनको मिलाना चाहिए, फिर भी वास्तविक नाट्य के उद्देश्यों से भिन्न, ये एक-दूसरे ही स्तर की बातें हैं और इनसे क्रमशः समाप्त हो रही पुराने ढंग की यात्रा और रामलीला मंडलियों आदि को अधिक सहायता नहीं मिलेगी। यह भी एक प्रकार का नाट्य है और हमारे ऐसे प्राचीन संस्कृत नाट्य-जीवन से होता हुआ आया है, जो समारोहों तथा उत्सव-दिवसों में राज-दरबारों से फैलता हुआ नगर की गलियों और चौराहों में व्याप्त हो गया था।

आज भारत का दूसरा नाट्य वह नया आन्दोलन है जो पाश्चात्य रंगमंच के प्रभाव में भारत के कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि बड़े शहरों से शुरू हुआ था और जिसे सबसे पहले, यहाँ बसने वाले अँग्रेज़ अपने साथ लाये थे।

इस नवोदित एवं महत्वाकांक्षी नाट्य-आंदोलन की जैसी स्थिति है उसके

लिए पाश्चात्य रंगमंच का अध्ययन करना उपयोगी होगा। भारत में आधुनिक रंगमंच प्रायः संपूर्ण रूप से अव्यावसायिक हाथों में है। सबसे अधिक महत्वाकांक्षी मंडलियों में ऐसे पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष होते हैं, जो अपने दफ़्तर के समय के बाद—अस्पताल और सचिवालय में, चित्र-फलक पर अथवा विश्वविद्यालय की अध्ययन-कक्षा में अपना काम पूरा करने के बाद, एकत्र होते हैं और अपने अतिरिक्त समय का उपयोग, नाटक प्रस्तुत करने के लिये करते हैं। इससे अधिक उत्साही समूह और हो ही कौन-सा सकता है ?

दुर्भाग्यवश, रंग-विधान और अभिनय तथा दिग्दर्शन और उपस्थापन सम्बन्धी उनका ज्ञान उनके उत्साह की तुलना में, कुछ भी नहीं होता। उनमें से अधिकांश तो वस्तुतः अच्छे नाट्य के विषय में बहुत ही थोड़ा जानते हैं और इसका सीधा-सा कारण यह है कि ये लोग अधिकांशतः फ़िल्मों से (जो नितान्त भिन्न माध्यम है) और दूसरी अव्यावसायिक मंडलियों से ही अपने भाव तथा विचार ग्रहण करते हैं। जो यूरोप और अमरीका जा चुके हैं, ऐसे—उनमें से बहुत थोड़े—व्यक्तियों ने ही श्रेष्ठ प्रथम श्रेणी के नाटक देखे होते हैं। वे किसी अच्छी स्तर की व्यावसायिक मंडली को भी नहीं देख पाते क्योंकि भारत में ऐसी व्यावसायिक मंडलियाँ शायद ही कोई होंगी।

वास्तव में, पाश्चात्य रंगमंच और भारतीय रंगमंच में, यही सर्वाधिक प्रमुख अन्तर है। कई सौ सालों से, निश्चय ही उत्तर-मध्य-युग से, पुनर्जागरण के समय से लेकर अब तक पाश्चात्य रंगमंच मुख्यतः व्यावसायिक रहा है। अव्यवसायी तो वहाँ हमेशा से थे, विशेषकर अव्यावसायिक नाटचों के उस स्वर्ग—इंगलैंड में, 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' में मामूली काम-धन्धा करने वाले लोगों की मनमोहक अव्यवसायी कम्पनी देखने को मिलती है। किन्तु, अधिकांश नाट्य-सम्बन्धी कार्य व्यावसायिक कम्पनियों द्वारा किया जाता रहा। कभी उनको किसी राजकुमार अथवा राजा से कुछ धन मिल गया और उन्होंने किसी तरह अपना काम चला लिया; या, अधिकतर तो यही हुआ कि वे लोग घूम-घूमकर अभिनय करते थे, अक़सर नितान्त दरिद्रतापूर्ण दिन बिताते थे, एक क़स्बे से दूसरे क़स्बे और एक गाँव से दूसरे गाँव में जाते, ज्यादा-तर खलिहानों-ओसारों में और बाज़ार के मैदानों में मामूली तौर पर बनाए गए मंचों पर अभिनय करते, उसके लिए नगण्य-सा पारिश्रमिक पाते, कभी किसी उत्साही प्रशंसक से अच्छा खाना मिल जाता और कभी एक खेत से दूसरे खेत में माँगते हुए घूमना पड़ता, कभी-कभी मुर्ग़ा या रोटी के लिए किसी किसान के परिवार को गाना सुना देते। (इसी से 'गीत के बदले में कुछ पा जाना' वाला अंग्रेज़ी मुहावरा बना है।)

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि ये घुमक्कड़ नट अपनी कला में पूर्णतः दत्त-चित्त थे और ये पिछली कई शताब्दियों से रंगमंच की ज्योति प्रदीप्त किए रहे। आज भारत में उत्साही नौसिखुए नाट्य के लिए केवल अपना फ़ालतू वक्त देते हैं और उधर पश्चिमी यूरोप और इंगलैंड के इन घुमक्कड़ नटों ने रंगमंच के लिए सब कुछ त्याग दिया था—अपना परिवार, घर, सम्पत्ति, व्यवसाय, सभी कुछ, और नाट्य-देवी की सेवा में अपना समस्त जीवन अर्पित कर देने का व्रत लिया था।

मध्यकाल और आदिकाल के भारत की व्यावसायिक कम्पनियों के विषय में हमें जो ज्ञात है, उसकी तुलना इनसे करना पूर्णतः उचित होगा। कई प्रमाणों से, हमें पता चलता है कि पश्चिम की ही भाँति, यहाँ भी घुमक्कड़ नटों का व्यवसाय अपेक्षाकृत गौरवहीन समझा जाता था। इन अभिनेताओं की दरिद्रता और दुरवस्था की कल्पना की जा सकती है। एक अत्यन्त खेदजनक प्रमाण मनु में मिलता है, जिन्होंने अपने धर्म-शास्त्र में उस व्यक्ति को अपेक्षाकृत कम कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की है, जो किसी नट की पत्नी के साथ संभोग करता हुआ पकड़ा जाय, क्योंकि पाठ में लिखा है—यह विदित है कि दरिद्रता के कारण नट अपनी पत्नियों को ऐसे सम्बन्ध रखने की छूट दे देते हैं। क्या इससे भी अधिक दारुण भाग्य की कल्पना की जा सकती है?

इसी प्रकार पश्चिम में भी अभिनेत्रियाँ असम्मान की दृष्टि से देखी जाती थीं। इसका कारण, निस्सन्देह, भारत की ही भाँति, उनकी ग़रीबी और बेघरबार होना खानाबदोशों जैसा घूमना-फिरना, था। लेकिन भारत में नाट्य धीरे-धीरे आधुनिक अव्यवसायी के हाथों में आ गया है, तो पश्चिम में, १९वीं शताब्दी में महान् व्या-वसायिक नाट्य का उदय हुआ। निश्चय ही, इसका सम्बन्ध बड़े शहरों तथा औद्यो-गिक क्रान्ति के विकास से था, जिसने कि बहुत से मध्यवर्गीय लोगों को इतना समृद्ध कर दिया कि वे 'उच्च श्रेणी के मनोरंजन' की माँग कर सकें। यह पता चला कि नाट्य भी 'एक उद्योग' है, और बहुत लाभकारी उद्योग है। समाज में अभिनेता की प्रतिष्ठा, शीघ्र ही, बढ़ गई, अभिनेताओं को महाराज-महारानियों तथा गणराज्यों के राष्ट्रपतियों के यहाँ प्रवेश मिलने लगा, उन्हें भद्रजनोचित उपाधियाँ भी मिलीं। पत्रादिक तथा जनता उनमें अभिरुचि लेने लगीं और कुछ देशों में तो अभिनेतागण ऐसी स्थिति में हो गए कि स्वयं अपने थियेटर चला सकें। इसे 'अभिनेता-प्रबन्धक थियेटर' कहा गया।

यद्यपि मैं यहाँ पिछले लगभग सौ वर्षों के विस्तृत इतिहास की चर्चा नहीं करना चाहता फिर भी इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि अभिनेता और नाट्य की सामाजिक स्थिति बहुत अधिक सुधर जाने का परिणाम यह नहीं हुआ कि 'व्यापारिक

नाट्य' कोई सस्ता और खराब धन्धा हो जाए, बल्कि उसमें सर्वांगीण सुधार ही हुआ। यह अवश्य है कि निरन्तर रुचियों का सस्ते ढंग से पोषण करने के लिए अश्लीलतापूर्ण प्रहसन और हलके-फुलके आपरेटा, अर्थहीन धमारी स्वाँग तथा अन्य निकृष्ट चीज़ें होती रहीं। परन्तु यहीं इसका उल्लेख भी कर देना चाहिए कि व्यावसायिक नाट्य ने एक कहीं प्रबुद्ध जनता की सत्ता को खोज निकाला है, जो गम्भीर एवं कलात्मक नाटक चाहती है और जो एक के बाद दूसरी रात, बराबर नाट्य-गृह में आती रहेगी, यदि शेक्सपियर, इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी (नाट्य-गृह में अत्यन्त लोकप्रिय) और फ्रांस, जर्मनी अथवा रूस के किन्हीं भी प्रयोगशील नाटककारों के नाटक खेले जायें। अनेक देशों में, देश की सरकार पर आश्रित "राष्ट्रीय नाट्यगृह" भी हैं, जो आर्थिक लाभ को महत्त्व नहीं देते। मेरा विचार है कि इनमें से प्राचीनतम है, पेरिस का कोमेदी फ्रन्सैज़ (Comedie Francaise)। अन्यत्र, आदर्शवादियों के ग़ैरसरकारी दलों ने ऐसे नाट्य को जन्म दिया, जो व्यवहारतः राष्ट्रीय नाट्य-सा ही हो गया, जैसे, लन्दन में ओल्ड विक, जिसे राज्याश्रय तो नहीं प्राप्त है पर जनता का अत्यधिक अनुराग मिला है। ओल्ड विक में कभी कोई सस्ती चीज़ नहीं चल सकती। गत सौ वर्षों से भी अधिक समय से जर्मनी में नाट्य की स्थिति अत्यन्त शुभ रही है क्योंकि सभी छोटे-मोटे राजकुमार और नरेश, बवेरिया के नरेश, सैक्सनी के नरेश आदि अपने स्वयं के नाट्यगृहों के बड़े भारी संरक्षक थे। जर्मनी के एकीकरण के साथ-साथ, इन्हीं नाट्यगृहों के कारण, अत्यन्त उत्साहमय प्रादेशिक नाट्य-वातावरण का विकास हुआ। निश्चय ही, जर्मनी ही ऐसा एकमात्र देश है जहाँ देश की राजधानी, सर्वश्रेष्ठ नाट्य-प्रदर्शनों के मामले में हर प्रकार से अग्रगण्य नहीं है। ड्रेसडेन, म्यूनिख और फ्रैंकफर्ट में उतने ही अच्छे नाट्य-गृह हैं, जितने कि बर्लिन में होंगे। दूसरे देशों में, समस्त श्रेष्ठ नाट्य-कलाप राजधानियों में केन्द्रित रहता है; जैसे, उदाहरण के लिए, हंगरी में।

भले ही यह स्पष्ट हो कि परिणाम में, व्यापारिक, व्यावसायिक ,नाट्य मुख्यतः आर्थिक लाभ के उद्देश्य से चलाया जाता था और इसके बावजूद कुल मिलाकर बुरा नहीं था, कुछ तो इसलिए भी कि व्यापक शिक्षा के साथ-साथ जनता की रुचि बहुत अधिक सुधर गई थी, फिर भी, यह सच है कि बीसवीं शताब्दी में व्यापारिक, व्यावसायिक नाट्य के प्रति, धीरे-धीरे प्रतिक्रिया होनी शुरू हुई। १९२०-३० के बाद से 'बहुत पहले से चले आते' नाट्यगृह क्रमशः नई प्रतिभा के लिए द्वार बन्द करने लगे। इन व्यापारिक नाट्य-गृहों के दिग्दर्शन का स्तर इतना उत्कृष्ट और इतना अधिक व्यय-साध्य हो गया था कि नए नाटकों के साथ प्रयोग करने में प्रबन्धक लोग अधिकाधिक हिचकने लगे, क्योंकि लगभग चार सौ रातों से बराबर चलते रहने वाले

किसी पुराने, अत्यन्त लोकप्रिय नाटक को अभी और सौ रातों तक वे चला सकते थे। ऐसी स्थिति में, कोई नाटककार अपने नए नाटक को लेकर भला किसके पास जाता ? एक वस्तुतः प्रसिद्ध नाटककार, श्री क्लिफ़र्ड बैंकस ने देखा कि भले ही वे अन्यन्त प्रसिद्ध हो गए हैं पर उनके एक बहुत अच्छे नाटक को व्यावसायिक नाट्य-गृह प्रतिवर्ष केवल इसलिए अस्वीकृत कर देते थे, क्योंकि पुराने नाटक को देखने के लिए जनता हर रात उमड़ी आती थी और नए नाटक को शुरू करने के लिए नाट्य-गृहों के पास कोई भी मौका न था। आख़िरकार, श्री बेंकस ने केन्सिंगटन में एक नाट्य-गृह किराए पर लिया, अपनी कम्पनी जुटाई और उनका नाटक अत्यधिक सफल हुआ।

इस स्थिति ने अव्यावसायिक तथा 'कला-नाट्य-गृहों' को एक नई भूमिका दी। सन् १९२०-३० के पहले भी अर्ध-व्यावसायिक अथवा छोटे और प्रायः नौसिखुए ढंग के ऐसे व्यावसायिक नाट्य-गृहों में नए नाटक 'आज़माए' जाते थे—जो उपनगरों में स्थित थे और छोटे-मोटे थे, यथा "क्यू" नाट्य-गृह। उपनगर के छोटे नाट्य-गृह में सफल होने के बाद ही वेस्टएंड के प्रबन्धक इन नाटकों को लन्दन में वेस्ट एंड के बड़े-बड़े नाट्यगृहों में खेले जाने के लिए लेते थे। फलतः १९३०-४० और १९४०-५० के बीच छोटे-छोटे हालों, कक्षों और त्यक्त पुराने सिनेमाओं में, बहुत से छोटे-छोटे "कला-नाट्यगृह" शुरू हो गए। इनका उद्देश्य ऐसे नाटकों को प्रस्तुत करना था, जिनके साथ प्रयोग करने के लिए बड़े नाट्य-गृह तैयार नहीं थे। पेरिस, बर्लिन और लन्दन में ऐसे नाट्य-गृहों में एक नया कलात्मक नाट्य-वातावरण विकसित हुआ। संघर्ष करते हुए और प्रायः आर्थिक संकट में रह कर इन कम्पनियों ने काम चलाने भर को, नए उपाय धीरे-धीरे खोज निकाले। एक बहुत अच्छा तरीक़ा यह है कि कम्पनी को 'क्लब' का रूप दे दिया गया, नियमित रूप से चन्दा देने वाले सदस्य बनाए गए, और जब एक बार ऐसे सदस्य बन गए तो बचे हुए टिकट स्थायी सदस्यों की दर से कुछ अधिक मूल्य पर, अस्थायी सदस्यों' के हाथ बेच दिए गए। लन्दन से सुपरिचित भारतीय पाठकों को जिन नाट्य-गृहों का पता होगा, उनमें मैं आर्ट्स् थियेटर और मर्करी का उल्लेख करूँगा। इन तथा अन्य छोटे नाट्य-गृहों के अभिनेता-अभिनेत्रियों में अंग्रेज़ी अभिनय के इतिहास के कुछ अत्यन्त महान् कलाकार हुए हैं। आर्ट्स् थियेटर में, जहाँ मेरा अनुमान है कि दो सौ से भी कम दर्शकों के लिए स्थान है, मैंने सर जान गिलगुड को हैमलेट की भूमिका में देखा है। इंगलेंड को इस बीच प्रसिद्ध बनाने वाले बहुत से महान् आधुनिक पद्य-नाटक—जैसे कि रोनाल्ड डंकन और क्रिस्टोफ़र फ्राई के—सर्वप्रथम इन्हीं छोटे नाट्य-गृहों में प्रस्तुत किए गए थे, जहाँ दो सौ से भी कम व्यक्तियों के बैठने का स्थान है।

इस प्रकार छोटे व्यापारिक, किन्तु व्यावसायिक नाट्य-गृह तथा हज़ारों की संख्या वाले पूर्णतः अव्यावसायिक नाट्य-गृह, श्रेष्ठ नाट्य के संरक्षक, अग्रदूत एवं नवोन्मेषक की एक नई भूमिका में सन्मुख आए हैं। और कम से कम कुछ देशों में; जैसे कि इंगलैंड और जर्मनी में, पेशेवर और ग़ैर-पेशेवर नाट्य के बीच कल्पनातीत सहयोग विद्यमान है। पश्चिम के देशों में नौसिखुओं को न केवल इसकी अपार सुविधा है कि वे सप्ताह की किसी भी रात्रि में उच्च श्रेणी का नाट्य देखें, बल्कि यह भी कि पेशेवर नाट्य द्वारा उन्हें सहायता, परामर्श तथा अच्छा काम करने की प्रेरणा आदि निरन्तर सुलभ रहते हैं।

आज के भारतीय नाट्य में इसी बात की सबसे बड़ी कमी है। उच्च श्रेणी के नाट्य द्वारा मार्ग-प्रदर्शन और उदाहरण नहीं मिल पाते, क्योंकि ऐसे नाट्य का अस्तित्व नहीं के बराबर है। श्री पृथ्वीराज कपूर, श्री शम्भू मित्रा, श्री अलकाज़ी, और नाट्य-जगत के कुछ महाराष्ट्रीय तथा दक्षिण-भारतीय नेतागण अपने उदाहरणों तथा परामर्शों द्वारा नौसिखुओं की सहायता मुश्किल से ही कर पाते हैं, क्योंकि स्वयं उनके ही मार्ग में बड़ी भारी कठिनाइयां हैं। श्री शम्भू मित्रा ने मुझे बताया कि उनकी बंगाली नाट्य-संस्था (बहुरूपी) को 'व्यावसायिक' कहना बिलकुल ग़लत है क्योंकि, वस्तुतः, किसी को भी पारिश्रमिक नहीं मिलता। संस्कृत के महान् केन्द्र, आन्ध्र में, नाट्य द्वारा काफ़ी पैसा मिल जाता है, लेकिन संभवतः भारत में वही एकमात्र स्थान है, जहां अभिनेता और व्यवस्थापक लोग, भद्रजनोचित आय कर पाते हों। श्री पृथ्वीराज कपूर, अपनी फ़िल्मों से कमाते हैं और इस प्रकार मिली हुई आय को उन नाट्य-प्रदर्शनों में लगा देते हैं, जिनसे कि उन्हें तनिक भी आर्थिक लाभ नहीं होता।

मुझे विश्वास है कि श्री अलकाज़ी सही दिशा में कार्य कर रहे हैं। उनका उद्देश्य यह है कि नौसिखुओं को, व्यावसायिक स्तर पर, अधिक अच्छा बनने और अभिनय, शब्दावली, दिग्दर्शन, सज्जा आदि समस्त नाट्य-कलाओं को सीखने के लिए प्रशिक्षित करें। बम्बई के अपने विद्यालय में उन्होंने जो मानदण्ड स्थिर किए हैं, वे उच्च एवं परिश्रम-साध्य हैं। वे चाहते हैं कि अव्यावसायिक (नौसिखुए) 'व्यावसायिकों जैसे ही कुशल हो जायें; और उनका यह उद्देश्य बहुत कुछ सफल भी हुआ है।

ऐसे ही प्रयत्नों द्वारा यह संभव हो सकेगा कि वर्तमान अव्यावसायिक नाट्य ऐसे अभिनेताओं और निर्देशकों को तैयार कर दे जो कि अपना सम्पूर्ण समय इस कार्य के लिए दे सकें। भारत के कुछ भागों में ऐसा हो भी गया है—उदाहरण के लिए गुजरात और उड़ीसा में—कि अर्ध-व्यावसायिक कम्पनियां हैं, और उनके कुछ अभिनेताओं को मासिक वेतन मिलता है, तथा अन्य नाट्य-प्रेमी कलाकार अपना

अतिरिक्त समय देते हैं। काम बहुत धीरे-धीरे प्रारम्भ हुआ है, पर इसीसे, वह सर्वांगीण आधुनिक भारतीय नाट्य विकसित होगा, जिसमें उत्साही नौसिखुए नाट्य-प्रेमी जन अभिनय को एक गौरवपूर्ण व्यवसाय के रूप में ग्रहण करेंगे।

इस प्रकार के विकास के लिए, इस सम्बन्ध में पश्चिम के अनुभव क्या थे, यह याद रखना अच्छा रहेगा। वह, संक्षेप में, यह है कि व्यावसायिक नाट्य एक आवश्यकता है, परन्तु ऐसी आशा नहीं की जा सकती कि वह रंगमंच के लिए सब कुछ कर देगा। 'कला-नाट्य' तथा अव्यावसायिक नाट्य के लिए भी बहुत-कुछ करने का क्षेत्र है।

अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त

—डॉ० नगेन्द्र
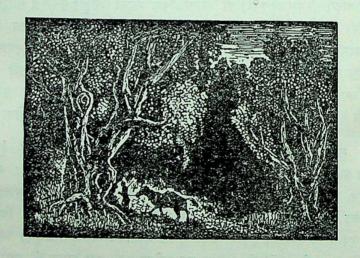
विरेचन-सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू के दो ग्रंथों में मिलता है—राजनीति-शास्त्र में और काव्य-शास्त्र में। राजनीति-शास्त्र में संगीत के प्रभाव का वर्णन करते हुए यवन आचार्य लिखते हैं :

"किन्तु इससे आगे हमारा यह मत है कि संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए — (१) अर्थात् शिक्षा के लिए (२) विरेचन (शुद्धि) के लिए [इस समय हम 'विरेचन' शब्द का प्रयोग बिना व्याख्या के कर रहे हैं, किन्तु इसके उपरांत काव्य का विवेचन करते समय हम इस विषय का और अधिक यथार्थ प्रतिपादन करेंगे] (३) संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है, इससे परिश्रम के उपरांत मनोविनोद होता है। अतः यह है स्पष्ट कि हमें सभी रागों का प्रयोग करना चाहिए, किन्तु सभी की विधि एक नहीं होनी चाहिए। शिक्षा के लिए सर्वाधिक नैतिक रागों को प्राथमिकता देनी चाहिए, किन्तु दूसरों का संगीत सुनने के समय' (अर्थात् संगीत-सभाओं में या रंगमंच पर) हम कार्य (उत्साह) और आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागों का भी आनन्द ले सकते हैं क्योंकि करुणा और त्रास अथवा आवेश कुछ व्यक्तियों में बड़े प्रबल होते हैं, और उनका न्यूनाधिक प्रभाव तो प्रायः सभी पर रहता है। कुछ व्यक्ति 'हाल' की दशा में आ जाते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि धार्मिक रागों के प्रभाव से—ऐसे रागों के प्रभाव से जो रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं — वे शान्त हो जाते हैं मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति —प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार प्रायः सभी—इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं—उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।' (राजनीति-शास्त्र', भाग ८, अध्याय ७)।

उपर्युक्त उद्धरण में काव्य-शास्त्र के जिस प्रसंग की ओर संकेत किया गया है, वह कदाचित् खण्डित है। उपलब्ध संस्करणों में केवल एक वाक्य है :

१—दी बेसिक वर्क्स आफ़ अरिस्टोटिल—पृ० १३१५—सम्पादक रिचर्ड मेकिओन

"अस्तु: त्रासदी किसी गंभीर, स्वत:पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।" (काव्यशास्त्र पृ० १४)।

विरेचन का अर्थ—अरस्तू के व्याख्याताओं ने भिन्न-भिन्न शताब्दियों में विरेचन शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। मूलत: यह शब्द चिकित्सा-शास्त्र का है—जिसका अर्थ है रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों—प्राय: उदर के विकारों की शुद्धि। उदर में बाह्य अथवा अनावश्यक पदार्थ का अंतर्भाव हो जाने से जब आन्तरिक व्यवस्था गड़बड़ हो जाती थी यूनानी चिकित्सक रेचक औषधि देकर बाह्य पदार्थ को निकाल कर रोगी का उपचार करते थे। इस अनावश्यक अस्वास्थ्यकर पदार्थ के निकल जाने से रोगी पुन: स्वास्थ्य और शान्ति लाभ करता था। अरस्तू स्वयं वैद्य के पुत्र थे और इस प्रकार के उपचार आदि का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था। अत: यह शब्द निश्चय ही उन्होंने चिकित्सा-शास्त्र से ग्रहण किया था, जहाँ उसका अर्थ था रेचक औषधि द्वारा अशुद्ध तथा अस्वास्थ्यकर पदार्थ का बहिष्कार कर शरीर-व्यवस्था को शुद्ध और स्वस्थ करना।

विरेचन शब्द इस अर्थ में यूनानी चिकित्सा-शास्त्र में अरस्तू के पहले से प्रचलित था—अरस्तू ने वहाँ से ग्रहण कर इसका लाक्षणिक प्रयोग किया है। लक्षणा के आधार पर परवर्ती व्याख्याकारों ने इसके प्राय: तीन अर्थ किये हैं—(१) धर्म-परक (२) नीति-परक आर (३) कला-परक।

(१) **धर्म-परक अर्थ**— धर्म-परक अर्थ की एक विशेष पृष्ठभूमि है। अन्य देशों की भाँति यूनान में भी नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवों से ही हुआ था। प्रो० गिल्बर्ट का कथन है कि यूनान में दिओन्युसस नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था—विगत वर्ष के कलुष और विष, पाप और मृत्यु के दु:संसर्गों से शुद्धि का प्रतीक। लिवी के अनुसार ३६१ ई० पू० में—अरस्तू के जीवन-काल में ही—यूनानी त्रासदी का रोम में प्रवेश कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं वरन् एक प्रकार के धार्मिक अन्धविश्वास के रूप में हुआ था।[१] उपर्युक्त उद्धरण में अरस्तू ने स्वयं एक अन्य प्रकार की धार्मिक प्रक्रिया का उल्लेख किया ही है। 'हाल' की स्थिति से उत्पन्न आवेश के शमन के लिए यूनान में उद्दाम संगीत का उपयोग होता था, बाह्य विकारों के द्वारा आन्तरिक विकारों की शान्ति का यह उपाय अरस्तू के समय में धार्मिक संस्थाओं में काफ़ी प्रचलित था—और उन्होंने इसका लाक्षणिक प्रयोग उसी के आधार पर किया है।

१— प्रो० गिल्बर्ट मरे की भूमिका पृ० १६ (काव्य-शास्त्र, अनुवादक बाईवाटर)

अतएव इन दो तथ्यों के आधार पर विरेचन का अर्थ हुआ—

बाह्य उत्तेजना और अंत में उसके शमन द्वारा शुद्धि और शांति।

(२) **नीति-परक अर्थ** — नीति-परक अर्थ का आधार भी अरस्तू का यही उद्धरण है। बरनेज़ नामक जर्मन विद्वान ने इसी के आधार पर विरेचन का नीति-परक अर्थ प्रस्तुत किया है। मानव-मन अनेक मनोविकारों से आक्रान्त रहता है जिन में करुणा (शोक) और भय—ये दो मनोवेग मूलतः दुःखद हैं। त्रासदी रंगमंच पर अवास्तविक परिस्थितियों के द्वारा इन्हें अतिरंजित रूप में प्रस्तुत कर कृत्रिम अतः निर्दोष उपायों से प्रेक्षक के मन में वासना-रूप से स्थित मनोवेगों के दंश का निराकरण और उसके फलस्वरूप मानसिक सामंजस्य का स्थापन करती है। अतएव विरेचन का नीति-परक अर्थ हुआ विकारों की उत्तेजना द्वारा सम्पन्न अंतवृत्तियों का समंजन अथवा मन की शान्ति एवं परिष्कृतिः मनोविकारों के उत्तेजन के उपरांत उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता। वर्तमान मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र इस अर्थ को पुष्ट करते हैं। हमारे मनोवेग प्रायः कुंठित होकर अवचेतन में जाकर आश्रय लेते हैं और वहाँ से अव्यक्त रूप में मन को दंशित करते रहते हैं। इस मानसिक रुग्णता का उपचार यह है उनको उद्बुद्ध कर उचित रूप से परितुष्ट किया जाय। अभुक्त मनोवेग मनोग्रन्थि में परिणत हो जाता है और सम्यक् रीति से परितृप्त मनोवेग मानसिक स्वास्थ्य और सामंजस्य प्रदान करता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र में प्रतिपादित उन्मुक्त विचार-प्रवाह प्रणाली द्वारा मानसिक रोगों का उपचार इसी सिद्धान्त पर आधृत है। इसमें सन्देह नहीं कि अरस्तू इस प्रणाली से परिचित नहीं थे, परन्तु उनकी क्रान्तदर्शी प्रतिभा में जीवन के मूल-भूत सत्यों का साक्षात्कार करने की सहज शक्ति थी। अतः यह मानना असंगत न होगा कि मनोविश्लेषण शास्त्र की आधुनिक-प्रणाली से अपरिचित होते हुए भी वे उसके आधारभूत सत्य से अवगत थे। मानसिक स्वास्थ्य की साधक होने के कारण यह पद्धति नैतिक मानी गयी है। यूरोप में शताब्दियों तक इसी नीति-परक अर्थ का प्राधान्य रहा : कारनेई, रेसीन आदि ने अपने-अपने ढंग से इसी को प्रतिपादित किया है।

(३) **कला-परक अर्थ** :—कला-परक अर्थ के संकेत गेटे तथा अंगरेज़ी के स्वच्छन्दतावादी कवि-आलोचकों में मिलते हैं। बाद में अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो० बुचर ने इस अर्थ का अत्यंत आग्रह के साथ प्रकाशन किया है :

"किन्तु इस शब्द का, जिस रूप में कि अरस्तू ने इसे अपनी कला की शब्दावली में ग्रहण किया है, और भी अधिक अर्थ है। यह केवल मनोविज्ञान अथवा

निदान-शास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला-सिद्धान्त का अभिव्यंजक है।

इस प्रकार त्रासदी का कर्तव्य-कर्म केवल करुणा या त्रास की अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, किन्तु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है, उनको कला के माध्यम में ढाल कर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।[1] प्रो० बुचर का आशय सर्वथा स्पष्ट है, उनके अनुसार विरेचन का केवल चिकित्सा-शास्त्रीय अर्थ करना अरस्तू के अभिप्राय को सीमित कर देना है। राजनीति-शास्त्र के उद्धरण में तो उसका केवल उतना ही अर्थ माना जा सकता है, परन्तु काव्यशास्त्र में कला-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों के प्रकाश में उसका अर्थ व्यापक है : मानसिक संतुलन उसका पूर्व-भाग मात्र है, उसकी परिणति है कलात्मक परिष्कार जिसके बिना त्रासदी के कलागत आस्वाद का वृत्त पूरा नहीं होता।

अरस्तू का अभिप्राय : अरस्तू का वास्तविक अभिप्राय क्या था ? इस प्रश्न का उत्तर अनुमान और तर्क के आधार पर ही दिया जा सकता है क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग से सम्बद्ध उनका अपना विवेचन अत्यंत अपर्याप्त है।

अपने अनुकरण-सिद्धान्त की भाँति अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन भी प्लेटो के आक्षेप के प्रतिवाद के रूप में किया है। प्लेटो ने काव्य पर यह दोषारोप किया था कि "कविता हमारी वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका सिंचन करती है" (गणतंत्र)। अरस्तू ने अपने समय में प्रचलित चिकित्सा-पद्धति से संकेत ग्रहण कर, विरेचन के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा इसी आक्षेप का उत्तर दिया है: त्रासदी में 'करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।' उनके इस वाक्य में वस्तुतः क्या और कितना अर्थ निहित है, इसका अनुसंधान करना है।

विरेचन शब्द के उपरि-लिखित तीनों अर्थों में निश्चय ही सत्य का अंश वर्तमान है फिर भी हमारी धारणा है कि कदाचित् कुछ व्याख्याकारों ने उसमें अभिप्रेत से अधिक अर्थ भरने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए प्रो० गिल्बर्ट मरे का ही अर्थ लीजिए। उनकी दृष्टि यूनानी भाषा और पुराविद्या के ज्ञान से इतनी आक्रान्त प्रतीत होती है कि सिद्धान्त पक्ष उसके नीचे दबा जाता है, उनकी भूमिका का पूर्वार्ध, जिसमें उन्होंने काव्य-शास्त्र के शुद्ध अनुवाद का नमूना दिया है, इसका प्रमाण है। यूनान की प्राचीन प्रथा के साथ अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त का सीधा

१— आरिस्टोटिल्स थियरी आफ़ पोइट्री एंड फ़ाइन आर्ट —पृ० २३६

सम्बन्ध-स्थापन कदाचित् उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने युग की परिस्थितियों से अरस्तू ने निश्चय ही प्रभाव ग्रहण किया होगा और सम्भव है विरेचन-सिद्धान्त की परिकल्पना पर उपर्युक्त प्रथा अथवा इसी प्रकार की किसी अन्य प्रथा या घटना का प्रभाव रहा हो, परन्तु वह प्रभाव सर्वथा अप्रत्यक्ष ही माना जा सकता है — दोनों में कोई सीधा सम्बन्ध स्थापित करना अनावश्यक है।

इसी प्रकार प्रो० बुचर का अर्थ भी विचारणीय है। उनके अनुसार विरेचन के अर्थ के दो पक्ष हैं : एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। मनोवेगों के उत्तेजन और तत्पश्चात् उसके शमन से उत्पन्न मनःशांति उसका भावात्मक पक्ष है। यह भावात्मक पक्ष कदाचित् अरस्तू के शब्दों की परिधि से बाहर है। अरस्तू के सामंजस्य और तज्जन्य विशदता को ही त्रासदी का प्रयोजन मानते हैं—इस प्रकार का सामंजस्य परिणामतः भावनाओं की शुद्धि और परिष्करण भी करता है, यह भी ग्राह्य है। परन्तु उसके उपरांत कला-जन्य आस्वाद भी अरस्तू के विरेचन शब्द में अंतर्भूत है यह मानने में कठिनाई हो सकती है। कलागत आस्वाद से वे अपरिरित नहीं थे— काव्य-शास्त्र के आरम्भ में ही उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अनुकरण-जन्य इस कलास्वाद का स्वरूप-विश्लेषण किया है। त्रासदी भी अनुकरण-मूलक कला है— वरन् अरस्तू के मत से कला का सर्वश्रेष्ठ रूप है, अतः कलास्वाद या बुचर के शब्दों में 'कलात्मक परितोष' की उपलब्धि त्रासदी के द्वारा निश्चित रूप में होती है और अन्य कला-भेदों से अधिक होती है। परन्तु क्या यह आस्वाद 'विरेचन' के अंतर्गत आता है ? हमारा मत है कि विरेचन कलास्वाद का साधक तो अवश्य है : समञ्जित मन कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कलास्वाद का सहज अंतर्भाव नहीं है। अतएव विरेचन-सिद्धनत को भावात्मक रूप देना न्याय्य नहीं है, यह व्याख्याकार की अपनी धारणा का आरोप है। अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति तक ही सीमित है, 'विरेचन' शब्द से मन की यह विशदता अभिप्रेत है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने अन्तर्वृत्तियों के समंजन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

विरेचन-सिद्धान्त और आनन्द : इस प्रकार अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त अपने ढंग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। त्रास और करुणा दोनों ही कटु भाव हैं : अरस्तू की अपनी परिभाषा के अनुसार दोनों ही दुःखद अनुभूति के भेद हैं। त्रास में किसी आसन्न घातक अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति रहती है और करुणा में किसी निर्दोष व्यक्ति के घातक अनिष्ट के साक्षात्कार से—

और इन दोनों में ही अपने अनिष्ट की भावना भी प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहती है।[1] मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटुता अथवा दंश नष्ट हो जाता है और प्रेक्षक एक प्रकार की मनःशांति का उपभोग करता है। विरेचन के द्वारा उत्तेजना समाहित हो जाती है, और मन सर्वथा विशद हो जाता है। यह मनःस्थिति कटु विकारों से मुक्त होने के कारण निश्चय ही सुखद होती है — पीड़ा या कटुता का अभाव भी अपने आप में सुख है।

प्रो० बुचर ने 'दुःख में सुख' का इस समस्या के समाधान में अरस्तू के विवेचन के आधार पर दो और प्रमुख कारण दिये हैं। त्रास और करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दुःखद अनुभूतियाँ हैं, परन्तु त्रासदी में वे वैयक्तिक दंश से युक्त, साधारणीकृत रूप में उपस्थित होती है। 'स्व' की भौतिक सीमा में बद्ध वे कटु अनुभूतियाँ हैं, परन्तु 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्त होकर उनकी कटुता नष्ट हो जाती है। स्व का यह विस्तार अथवा उन्नयन एक उदात्त और सुखद अनुभूति है। दूसरा कारण है कलात्मक प्रक्रिया। कला की प्रक्रिया का आधारभूत सिद्धान्त है समंजन—अव्यवस्था में व्यवस्था की स्थापना ही अरूप को रूप देना है, यही कलात्मक सृजन है जो सुखद है। इस प्रक्रिया में पड़कर त्रास और करुणा का दंश नष्ट हो जाता है, दुख सुख में परिणत हो जाता है।

उपर्युक्त दोनों कारण विरेचन-प्रक्रिया से सम्बद्ध होते हुए भी उसके अंगभूत नहीं हैं। विरेचन में न तो स्व का उन्नयन अंतर्भूत है और न कला का आनन्द। अरस्तू इन दोनों तत्त्वों से सर्वथा अवगत थे, और इन दोनों का संक्षिप्त विवेचन भी उन्होंने किया है, परन्तु यह विवेचन विरेचन-सिद्धान्त का अंग नहीं है। अतएव विरेचन-सिद्धान्त में सुख का केवल अभावात्मक रूप ही प्रतिपादित है—मनःशान्ति, विशदता, या राहत से आगे वह नहीं जाता। यह अनुभव में निश्चय ही सुखद है, परन्तु यह सुख ऋणात्मक है, धनात्मक नहीं। भारतीय दर्शन के अनुसार आनन्द की भूमिका है, आनन्द नहीं है।

विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार—अनेक आलोचकों को त्रासदी द्वारा विरेचन की प्रक्रिया का अस्तित्व ही मान्य नहीं है। उनका आक्षेप है कि वास्तविक अनुभव में इस प्रकार का विरेचन नहीं होता। हमारे करुणा, भय आदि मनोवेग उद्बुद्ध तो हो जाते हैं, परन्तु उनके रेचन से मनःशान्ति सर्वदा नहीं होती—अनेक नाटक केवल भावों को क्षुब्ध कर ही रह जाते हैं। इसके विपरीत कभी-कभी हम

---

१ – अरस्तू : भाषण-शास्त्र (भाग २, अ० ४, १३८२ अ – २०) और भाग २, अ० ७, १३८५ ब १२-१६ (दी बेसिक वर्क्स आफ़ अरिस्टोटिल-रिचर्ड मेकिओन)

केवल कला का आस्वादन ही करते हैं, अवास्तविक होने के कारण त्रासदी में प्रदर्शित भाव हमारे भावों को उत्तेजित ही नहीं करते अतः विरेचन का प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे विचार में ये दोनों आक्षेप असंगत हैं; त्रासदी से प्रेक्षक को केवल कवि तथा नट की कला का चमत्कार ही प्राप्त होता है, रागात्मक प्रभाव नहीं पड़ता—यह मानना त्रासदी के महत्व का घोर अवमूल्यन करना है। काव्य के किसी भी रूप का और विशेषतः त्रासदी का चमत्कार तो मूलतः रागात्मक ही होता है, अन्यथा वह काव्य-रूप कला न रहकर शिल्प मात्र रह जाता है। और जब त्रासदी का रागात्मक प्रभाव असंदिग्ध है तो उनके प्रेक्षण या श्रवण-पाठ से सहृदय के भावों की उद्बुद्धि स्वतःसिद्ध है। भावों की उद्बुद्धि आनन्द नहीं है, उनका समंजन आनन्द है और यह धारणा सर्वथा मिथ्या है कि त्रासदी केवल भावों को विक्षुब्ध कर छोड़ देती है। कोई भी सकल त्रासदी ऐसा नहीं करती—यह सारभूत समंजनकारी प्रभाव ही तो उसकी सफलता का कारण है, इसी के लिए प्रेक्षक समय और रुपया खर्च करता है अतः यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है, अनुभव से प्रसिद्ध है।

विरेचन-सिद्धान्त और करुण रस :

अरस्तू-प्रतिपादित त्रासद प्रभाव का भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस से पर्याप्त साम्य है। त्रासद प्रभाव के आधारभूत मनोवेग हैं करुणा और त्रास और इन दोनों में ही पीड़ा की अनुभूति का प्राधान्य है। उधर करुण रस का स्थायी भाव है शोक जिसके कुछ प्रतिनिधि लक्षण इस प्रकार है :—

(१) शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धनदुःखानुभवनादिभिर्विभावैस्समुपजायते।

अर्थात् शोक नाम का भाव इष्ट-वियोग, विभव-नाश, वध, क़ैद तथा दुखःनुभूति आदि विभावों (कारणों) से उत्पन्न होता है। (नाट्य-शास्त्र)।

(२) इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।

अर्थात् इष्ट के नाश आदि से उत्पन्न चित्त के क्लेश का नाम शोक है। (साहित्य-दर्पण)।

(३) मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एवं सः।

एक के मरने पर जहाँ दूसरा शोक करे वहाँ शोक होता है। (दशरूपक)

इन सभी लक्षणों में शोक के अंतर्गत करुणा का प्राधान्य तो है ही, किन्तु वध, बन्धन आदि के कारण त्रास का भी सद्भाव है। अतः करुण रस के परिपाक में

शोक स्थायी भाव के अन्तर्गत भारतीय काव्य-शास्त्र भी करुणा के साथ त्रास के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इष्टनाश अथवा विपत्ति शोक का कारण है—और इससे करुणा और त्रास दोनों की ही उद्‌भूति होती है : करुणा की वास्तविक विपत्ति के साक्षात्कार से और त्रास की वैसी ही विपत्ति की आवृत्ति की आशंका से। परन्तु अरस्तू और भारतीय आचार्य के दृष्टिकोण में कदाचित् एक मौलिक अन्तर यह है कि अरस्तू का त्रासद प्रभाव एक प्रकार का मिश्र-भाव है परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र का शोक स्थायी भाव मूलतः अमिश्र ही रहता है। यहाँ भयानक एक पृथक् रस माना गया है। वह करुणा का मित्र रस है और अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर प्रायः उसका सम्वर्द्धन करता है। किन्तु ऐसी स्थिति में वह करुणा का उद्दीपक एवं संचारी बन जाता है, उसके संयोग से किसी मिश्र रस अथवा भाव को उद्‌बुद्ध नहीं करता। और, फिर उपरिलिखित अनेक कारण ऐसे भी हैं जो त्रास उत्पन्न नहीं करते। जहाँ तक इष्टजन के वध का सम्बन्ध है उसमें तो त्रास अनिवार्य है किन्तु करुण के लिए वध तो अनिवार्य नहीं है—केवल मृत्यु ही अनिवार्य है, जो त्रास उत्पन्न किए बिना घटित हो सकती है। उदाहरण के लिए सीता के दुर्भाग्य से उत्पन्न करुणा में त्रास का स्पर्श नहीं है। अरस्तू भी ऐसी स्थिति से अनभिज्ञ नहीं हैं परन्तु वे त्रासहीन करुण प्रसंग को आदर्श त्रासद-स्थिति नहीं मानते। भारतीय आचार्य इस विषय में उनसे सहमत नहीं हैं क्योंकि उसकी दृष्टि में सीता की कथा से अधिक 'करुण' प्रसंग कदाचित् और कोई नहीं है। इस अन्तर के लिए दोनों के देश-काल और तज्जन्य संस्कार उत्तरदायी हो सकते हैं।

करुण रस का आस्वाद :

भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रतिनिधि मत तो यही है कि करुण रस का आस्वाद भी श्रृंगार आदि की भाँति सुखात्मक ही होता है। करुण के साथ रस शब्द का प्रयोग ही इसके आनन्द का द्योतक है। रसवादी आचार्यों ने इस प्रश्न को प्रायः स्वतःसिद्ध मानकर अधिक तर्क-वितर्क नहीं किया—मानो करुण का रसत्व ही अपने आप में इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर हो। फिर भी उनके पास इस विषमता का निश्चित समाधान था, इसमें सन्देह नहीं हो सकता। इस समाधान के प्रायः तीन रूप हैं :— (१) काव्य-रस अलौकिक होता है अतः लौकिक कार्य-कारण सम्बन्ध उसके लिए अनिवार्य नहीं है। दुख से दुःख की उत्पत्ति तो लौकिक नियम है। किन्तु कवि की अलौकिक प्रतिभा के स्पर्श से काव्य में दुःख से सुख की उत्पत्ति भी सम्भव हो जाती है—यही काव्य की अलौकिकता है।

(२) दूसरा समाधान अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है। भट्टनायक की स्थापना

के अनुसार काव्य में प्रत्येक भाव साधारणीकृत होकर अन्ततः भोग्य बन जाता है। इस प्रकार भाव की विशिष्टता नष्ट हो जाती है। व्यक्ति सम्बन्ध से मुक्त हो जाने पर उसके स्थूल लौकिक सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उसका रूप सामान्य जीवन-गत अनुभूति की अपेक्षा अधिक उदात्त और अवदात्त हो जाता है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में व्यक्तिबद्ध 'अल्प' की चेतना में सुख नहीं है, किन्तु व्यक्ति की सीमाओं से मुक्त 'भूमा' की चेतना में परम सुख की उपलब्धि है। इसी न्याय से काव्य में शोक आदि अप्रिय भाव भी साधारणीकृत होकर व्यक्ति-सम्बन्ध-जन्य दोषों से मुक्त रसमय बन जाते हैं। स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र ने योग की 'मधुमती भूमिका' के आधार पर इसे काव्य की 'रसवती भूमिका' कहा है।

(३) तीसरा समाधान अभिव्यक्तिवादियों की ओर से प्रस्तुत किया गया है। इनका कहना है कि रस की उत्पत्ति नहीं होती, अभिव्यक्ति होती है। यदि उत्पत्ति होती तब तो शोक से शोक की उत्पत्ति का तर्क काव्य पर लागू हो सकता था, किन्तु रस की तो अभिव्यक्ति होती है अर्थात् काव्य-नाट्य गुणों के प्रभाव से प्रेक्षक की आत्मा में रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव और सतोगुण का उद्रेक होता है—जिसके परिणामस्वरूप उसका आत्मानन्द 'रस' रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। सत्व का उद्रेक और रज-तम का तिरोभाव आनन्द की स्थिति है जिसमें दूसरा भाव विद्यमान नहीं रह सकता। अतः रसत्व को प्राप्त होने पर, सत्व के पूर्ण उद्रेक तथा रजोगुण-तमोगुण के नाश के कारण, शोक आदि की कटुता स्वतः नष्ट हो जाती है और आनन्दमयी चेतना शेष रह जाती है।

संस्कृत के प्रतिनिधि आचार्यों ने सारतः ये ही तीन समाधान प्रस्तुत या व्यंजित किये हैं। किन्तु कुछ स्वतन्त्रचेता आचार्य अपवाद भी हैं। उदाहरणार्थ शार-दातनय ने शैव-दर्शन के ही आधार पर एक चौथा समाधान प्रस्तुत किया है। उनका तर्क यह है : यद्यपि यह संसार दुःखमोहादि से कलुषित है, फिर भी जीवात्मा राग, विद्या और कला—अपने इन तीनों तत्त्वों के द्वारा उसका भोग करता है। इनमें राग सुखत्व का अभिमान है, विद्या राग का वह उपादान है जिसके द्वारा अविद्या से आच्छन्न चैतन्य का ज्ञान अभिव्यक्त हो जाता है, और कला आत्मा को अभिज्वलित (प्रदीप्त) करने वाला हेतु है। इसी न्याय से प्रेक्षक भी शोक, भय, ग्लानि आदि से निष्पन्न करुण, भयानक, बीभत्स आदि रसों का अपने आत्मस्थ तीन तत्त्वों—राग, विद्या और कला के द्वारा 'चर्वण' करता है।

शारदातनय तो अन्तत्वोगत्वा भाववादियों की परिधि में ही रहे हैं। परन्तु रुद्रभट्ट और उनसे भी अधिक नाट्य-दर्पण के लेखक-द्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने

शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध अत्यंत निर्भीक शब्दों में यह स्थापना की है : "सुखदुःखात्मकोरसः" (नाट्यदर्पण—श्लोक ०९ पृ० ११५८) अर्थात् रस की अनुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही न होकर दुःखात्मक भी होती है। इनके अनुसार "तत्रेष्ट विभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृंगार-हास्य-वीराद्भुत-शान्ताः पंचसुखात्मनोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनातात्मानः करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः" (नाट्यदर्पण पृ० १०९) अर्थात् शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत (इष्टविभावादि पर आश्रित रहने के कारण) सुखात्मक हैं और करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक (अनिष्ट विभावादि से उपनीत होने के कारण) दुःखात्मक हैं। तब फिर प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में सामाजिक करुण आदि का प्रेक्षण या श्रवण क्यों करता है? नाट्यदर्पण में इसका विस्तृत उत्तर दिया गया है :

"यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तु-प्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वांगाह्लादकेन कवि-नटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नतः सुख-दुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति।"

(नाट्यदर्पण पृ० १५९)

इसका सारांश यह है कि करुण, रौद्र आदि के द्वारा भी जो चमत्कार की प्रतीति होती है उसका कारण है यथार्थवस्तु-प्रदर्शन में निपुण नट का कौशल। शौर्य-गर्वित वीर शत्रु के शिरश्छेदकारी प्रहार-कौशल को देखकर भी विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। प्रेक्षक इसी चमत्कार के लोभ से करुणादि दृश्यों को देखता है—इस चमत्कार से ही प्रवंचित होकर वह दुःखात्मक दृश्यों में आनन्द की प्रतीति करता है। उधर कवि भी सुखदुःखात्मक संसार के अनुरूप रामादि के चरित्र को सुखदुःखात्मक रस से अनुबिद्ध प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार मिर्च आदि के संयोग से पानक (सोंठ) के स्वाद में चमत्कार आ जाता है, इसी प्रकार दुःख के तीक्ष्ण आस्वाद से सुख और भी आस्वाद्य हो जाता है।

इस विवेचन से पूर्वोक्त चार समाधानों के अतिरिक्त दो और समाधान उपलब्ध होते हैं :

(५) करुण रस से प्राप्त आनन्द (चमत्कार) काव्य-कौशल अथवा काव्य तथा

नाट्य दोनों के समवेत कौशल पर आधृत रहता है। प्रेक्षक या श्रोता करुण रस में आनन्दानुभूति नहीं करता, वरन् उसकी अभिव्यंजना करने वाले कवि तथा अभिनेता के कला-नैपुण्य से चमत्कृत होता है। इस चमत्कार से ही करुण रस में आनन्द की भ्रांति अथवा आभास हो जाता है।

(६) जीवन में अपार वैविध्य है। षट्रसों में जहाँ मधुर रस है, वहाँ तिक्त और अम्ल रस भी। विपरीत स्वादु होने पर भी सभी को 'रस' नाम से अभिहित किया जाता है और प्रपानक आदि में रसना-रसिक इनका 'रस' लेते हैं। इसी प्रकार नव रस में एक ओर रतिमूलक शृंगार है तो दूसरी ओर शोकमूलक करुण भी। अनुभूत्यात्मिक रूप सर्वथा विपरीत होने पर भी शास्त्र में इनका नाम 'रस' ही है और काव्य के 'प्रपानक' में सहृदय इन सभी का आस्वादन करते हैं।

इस प्रकार 'दुःख में सुख' की इस विषम समस्या के भारतीय काव्य-शास्त्र छह मौलिक समाधान प्रस्तुत करता है।

काव्य की सृष्टि अलौकिक है, वह नियतिकृत नियमों से रहित नाना चमत्कारमयी है अतः लोकानुभव से भिन्न दुःख से सुख की उद्भूति उसमें सहज-सम्भव है। यह मूलतः वही तर्क है जिसको कलावादियों ने—ब्रेडले, क्लाइव वैल आदि ने बीसवीं शती के आरम्भ में नवीन रूप में पुनःप्रस्तुत किया है: "पहले तो यह अनुभव अपना उद्देश्य आप ही है, अपने ही लिए उसकी स्पृहा की जा सकती है, इसका अपना निजी मूल्य है। दूसरे काव्य की दृष्टि से उसके इस निजी मूल्य का महत्त्व है क्योंकि सामान्य अर्थ में वस्तु-जगत् का एक अंग होना या उसकी अनुकृति होना इसका स्वभाव नहीं है, यह तो अपने आप में ही एक दुनिया है—स्वतंत्र, स्वतःपूर्ण और स्वायत्त।

(ब्रैडले—आक्सफर्ड लेक्चर्स, पृ० ५)

रस की अनुभूति साधारणीकृत अनुभूति होने के कारण व्यक्ति-बद्ध रागद्वेष से मुक्त होती है—अतः करुण आदि रसों में शोकादि का दंश नष्ट हो जाता है, शुद्ध भाव "आस्वाद" रूप में शेष रह जाता है। इस तर्क का संकेत वास्तव में अरस्तू में भी मिल जाता है, किन्तु वह अत्यन्त अविकसित रूप में है: प्रो० बुचर ने जिस शब्दावली में उसे प्रस्तुत किया है, वह यूरोप के विकासशील आलोचना-शास्त्र से प्राप्त आधुनिक शब्दावली है। इस दृष्टि से भारतीय आचार्य भट्टनायक का महत्व अक्षुण्ण है: उन्होंने अत्यन्त तर्कसंगत तथा तात्त्विक शब्दों में साधारणीकरण के द्वारा "करुण" आदि के भोग का प्रतिपादन किया है।

भट्टनायक के सिद्धान्त से एक और समाधान का संकेत मिला है: काव्य-

निबद्ध अनुभव प्रत्यक्ष न होकर भावित अनुभव होते हैं, अतः कटु अनुभवों की प्रत्यक्ष अनुभूत कटुता इनमें नहीं रह जाती, वरन् कल्पना के चमत्कार का समावेश हो जाता है जिससे शोक भी आस्वाद्य बन जाता है। पश्चिम के आलोचना-शास्त्र में यह मत काफ़ी प्रचलित रहा है।

रस का परिपाक सत्त्व के उद्रेक की अवस्था में ही होता है—अर्थात् ऐसी अवस्था में होता है जब रजोगुण और तमोगुण तिरोभूत हो जाते हैं और सहृदय की चेतना सतोगुण से परिव्याप्त हो जाती है। यह अवस्था सुख की अवस्था है, इसमें तमोगुण से उत्पन्न (मोह-विकारी) शोक की कटु अनुभूति सम्भव नहीं है। यह शब्दावली भारतीय काव्य-शास्त्र की अपनी पारिभाषिक शब्दावली है, वर्तमान यूरोप का मनोविज्ञान अथवा प्राचीन-नवीन आलोचना-शास्त्र इससे परिचित नहीं है। परन्तु शब्द-भेद को हटा देने से उपर्युक्त मत अधिक अपरिचित नहीं रह जाता। अभिनव का सत्वोद्रेक वास्तव में अरस्तू के "विरेचन", रिचर्ड्स के अंतर्वृत्तियों के सामंजस्य और शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित हृदय की मुक्तावस्था से बहुत भिन्न नहीं है। भेद केवल विचार-पद्धति का है: अरस्तू ने चिकित्सा-शास्त्र की पद्धति और शब्दावली ग्रहण की है, रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान की, शुक्लजी ने आलोचना-शास्त्र की और अभिनव आदि ने दर्शन (अधिमानस-शास्त्र)[१] की। तमोगुण और रजोगुण के तिरोभाव के उपरांत सत्य का भाव शेष रहना अरस्तू के शब्दों में "कटु भावों का रेचन और तज्जन्य मनःशान्ति" ही तो है। अन्तर केवल "उद्रेक" शब्द पर आश्रित है जिसका विवेचन आगे करेंगे।

शारदातनय का समाधान इसी का विकास है। उसका आधार यह है कि आत्मा नित्य आनन्दरूप है। उसकी आनन्दमयी प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि वह संसार के दुःखमोहादि मायाजन्य कलुषों पर अनिवार्यतः विजय प्राप्त कर उन्हें भोग्य बना लेती है। करुण रस के आस्वाद्य का मूल कारण आत्मा की यही आनन्दमयी प्रवृत्ति है। यह समाधान शुद्ध भारतीय आनन्दवाद पर आधृत है—करुणा-प्रधान मसीही दर्शन पर आश्रित पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में इसकी प्रतिध्वनि भी प्रायः नहीं मिलती।

कला का सौन्दर्य करुण के उद्वेग को चमत्कार में परिणत कर देता है। कला का आधारभूत सिद्धान्त है सामंजस्य—अनेकता में एकता की स्थापना। अंतर्वृत्तियों का समन्वय करने के कारण यह प्रक्रिया अपने आप में सुखद होती है: इसे ही कला-सृजन या सौन्दर्य की सृष्टि का आनन्द कहते हैं। कला-सृजन के समय

(१) मेटाफ़िज़िक्स।

कवि तथा कलानुभूति के समय सहृदय का चित्त इस प्रक्रिया द्वारा समाहित होकर उक्त आनन्द का अनुभव करता है । इसके अतिरिक्त समृद्ध अभिव्यंजना, विशिष्ट पद-रचना, संगीत-गुण तथा नाटक में नाट्य-प्रसाधन आदि "काव्यालंकार"-जन्य आह्लाद भी करुण की कटुता को नष्ट करने में ससायक होता है ।

यूरोप के आलोचना-शास्त्र में भी इसी मत की स्थापना की गई है : वहाँ इसे "काव्य-रूप सिद्धान्त" के नाम से अभिहित किया जाता है । इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य-रूप के सौन्दर्य से करुण रस की कटुता नष्ट हो जाती है और सहृदय का चित्त चमत्कार का अनुभव करता है ।

अन्तिम समाधान उपर्युक्त समाधान की अपेक्षा अधिक दार्शनिक है—मानव-प्रकृति त्रिगुणात्मक है, मधुर और कटु दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ जीवन का अंग है । मानव जीवन के वैविध्य में रस लेता है, अतःकरुण आदि के प्रदर्शन या अभिव्यंजन में उसकी अभिरुचि होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । आधुनिक आलोचना-शास्त्र का "अभिरुचि-सिद्धान्त" भी इससे मिलता-जुलता है । इस सिद्धान्त के अनुसार मानव को मानव-जीवन के सभी अनुभवों में अभिरुचि है—वह जहाँ विवाह आदि मंगल-उत्सवों में रस लेता है, वहाँ मृत्यु आदि से सम्बद्ध दुर्घटनाओं में भी उसकी कम रुचि नहीं है । वरयात्रा और शवयात्रा दोनों में मानव का उत्साह दृष्टव्य है । इसी न्याय से कामद और त्रासद दोनों प्रकार के दृश्यों में प्रेक्षक की दिलचस्पी होती है ।

इन छह समाधानों के अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद पर आधृत एक और भी समाधान भारतीय शास्त्र की ओर से प्रस्तुत किया जा सकता है । बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख प्रथम आर्य-सत्य है । इसका सम्यक् ज्ञान जीवन की प्रथम सिद्धि है जिस पर अन्य सिद्धियाँ आश्रित हैं । अतः करुण रस जीवन का आद्य रस है । सत्य की उपलब्धि में जो आनन्द निहित रहता है, वही आनन्द जीवन में करुण का अंगित्व प्रतिपादन करने वाले काव्य से प्राप्त होता है । भारत में दुःखवाद का प्रतिपादन प्रधानतः बाद्ध दर्शन में ही हुआ है अतः करुण रस का यह दुःखवादी समाधान केवल वहीं से उपलब्ध है ।

यूरोप के दर्शन तथा आलोचना-शास्त्र में दुखःवादियों प्रस्तुत ने समस्या के प्रायः इसी प्रकार के समाधान उपस्थित किये हैं । जर्मनी के प्रसिद्ध दुःखवादी दार्शनिक शोपेनहोर का तर्क है कि त्रासदी जीवन के गम्भीर और दुःखमय पक्ष को महत्व देती है, जीवन की व्यर्थता एवं जगत-प्रपंच की असारता को व्यक्त कर चरम सत्य का उद्‌घाटन उसका प्रयोजन है । सत्य की यही उपलब्धि प्रेक्षक के आनन्द का

कारण है। श्लेगेल का तर्क इससे थोड़ा भिन्न है : उसके अनुसार त्रासदी के द्वारा हमारे मन में इस चेतना का उदय होता है कि पार्थिव जीवन का संचालन किसी अदृष्ट शक्ति (नियति) के हाथ में है जिसके समक्ष मानव का समस्त बल-वैभव तुच्छ है। यह विचार एक ओर अहंकार का शमन करता है और दूसरी ओर दुःख में हमें धैर्य प्रदान करता है। जीवन के इस अलौकिक विधान की अनुभूति निश्चय ही एक उदात्त एवं सुखद भाव है और यही "त्रासद आनन्द" का रहस्य है। प्रो० बुचर ने अरस्तू के विवेचन में इस सिद्धान्त का भी अनुसन्धान कर लिया है। यहाँ भी हमारा मत यही है कि अरस्तू के त्रासदी-प्रकरण में इसका बीज मात्र मिलता है, उसका विकास प्रो० बुचर ने परवर्ती शोधों के आधार पर किया है : जिस विकसित रूप में बुचर ने उसे प्रस्तुत किया है, वह अरस्तू में निश्चय ही उपलब्ध नहीं है। भारतीय चिन्तक के लिये यह धारणा अज्ञात नहीं है। साहित्य में इस "नियतिवाद" की शत-शत मार्मिक व्यंजनायें मिलती हैं। रामायण, महाभारत, पुराण, भक्ति-काव्य और आधुनिक साहित्य में इसकी अनुगूंज स्थान-स्थान पर मिलती है। न जाने कब से भारतीय मन यह गा-गा कर अपने को धीरज देता चला आ रहा है :—

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि बसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।
सीता-हरन मरन दसरथ को बन में बिपति परी।।

परन्तु अन्तर केवल यही है कि इस धारणा ने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त का रूप कभी धारण नहीं किया।

क्यों ?—भारतीय काव्य-शास्त्र के प्राण रस-सिद्धान्त का विरोधी होने के कारण।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट है कि अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त भारत के रस-सिद्धान्त से बहुत भिन्न नहीं है—यह कहना कदाचित् असंगत न होगा कि भारतीय रस-सिद्धान्त में प्रकारान्तर से विरेचन-सिद्धान्त अन्तर्भूत है। विरेचन-प्रक्रिया के दो अंग हैं : (१) अतिशय उत्तेजना द्वारा मनोवेगों का शमन और (२) तज्जन्य मनः-शांति। मनोवेगों की अतिशय उत्तेजना रस-सिद्धान्त के अन्तर्भूत स्थायी भावों के चरम उद्बोध के समानान्तर है। मनःशान्ति रस-सिद्धान्त की "समाहिति" की अवस्था है जब सहृदय श्रोता का मनोमुकुर भौतिक विकार-जन्य मलिनता से मुक्त सर्वथा निर्मल हो जाता है। रस की स्फुरणा के समय कवि का मन और रस के आस्वाद के समय सहृदय का मन व्यक्ति-सम्बन्धों से मुक्त होकर अनिवार्यतः समाहिति की अवस्था को प्राप्त करता है। तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव और सत्व की परिव्याप्ति की स्थिति वही है। परन्तु इसके आगे भेद हो जाता है। अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त

यहीं रुक जाता है—यदि प्रो० बुचर के श्राख्यान को स्वीकार कर लें तो भी श्रधिक से श्रधिक यह कहा जा सकता है कि इस समाहिति की स्थिति में प्रेक्षक या श्रोता का मन कला के श्रानन्द का श्रास्वाद करने में तत्पर हो जाता है। इसका श्रभिप्राय यह हुश्रा कि त्रासदी का श्रानन्द या तो मनःशान्ति की सुखद स्थिति मात्र है, जिसमें भावों के परिष्करण की सुखद श्रनुभूति का भी ससावेश है, या फिर वह कला के श्रानन्द से (जो पर्याप्त मात्रा में बौद्धिक होता है) एकात्म है। श्रर्थात् श्ररस्तू के श्रनुसार त्रासदी के श्रास्वाद के तीन तत्त्व हैं :

(१) उद्वेग के शमन से उत्पन्न मनःशांति।

(२) भावों के परिष्कार की श्रनुभूति।

(३) कला-जन्य चमत्कार।

भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस श्रौर उपर्युक्त श्रास्वाद में मौलिक श्रन्तर यह है कि करुण रस उद्वेग का (राहत) शमन मात्र न होकर उसका भोग है। भावों का परिष्कार यहाँ भी यथावत् मान्य है : भाव के साधारणीकरण में उसका परिष्कार स्वतःसिद्ध है, तमोगुण तथा रजोगुण के तिरोभाव में उद्वेग का शमन भी निहित है, परन्तु रस इनसे श्रतिरिक्त है। रस तो भौतिक रागद्वेष से मुक्त श्रात्मा द्वारा 'श्रस्मिता' का भोग है—उसके लिए तमोगुण श्रौर रजोगुण का तिरोभाव ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए तो श्रानन्दरूप श्रात्मा से सत्त्व का प्रचुर उद्रेक श्रनिवार्य है। यहाँ हम वास्तव में भारतीय दर्शन की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं। भारत में श्रानन्द के विषय में भावात्मक श्रौर श्रभावात्मक दोनों सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुश्रा है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य श्रादि में श्रानन्द का स्वरूप श्रभावात्मक माना गया है—उनकी स्थापना है कि दुःख का श्रत्यन्त विमोक्ष ही श्रपवर्ग है : **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः** (न्यायमंजरी १।१।२२।) किन्तु इसके विपरीत मीमांसा, वेदान्त श्रादि में श्रानन्द के भावात्मक रूप की श्रत्यन्त प्रबल शब्दों में प्रतिष्ठा की गयी है :

दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः।

श्रर्थात् कुमारिल के श्रनुसार दुःख का नितान्त समुच्छेद हो जाने पर श्रात्मा में स्थित नित्य सुख का मनसा उपभोग ही मुक्ति है। इन वेदान्ती, मीमांसक श्रादि श्राचार्यों, शैवों श्रौर वैष्णवों ने न्याय-वैशेषिक-प्रतिपादित श्रभावात्मक श्रपवर्ग का उपहास किया है। श्रौर वास्तव में श्रपवर्ग की भावात्मक कल्पना ही भारतीय दर्शन का प्रतिनिधि सिद्धान्त है जिसके श्रनुसार श्रानन्द दुःख का श्रभाव मात्र नहीं है, वह शुद्ध-बुद्ध श्रात्मा का "श्रात्म-भोग" है।

भारत का रस-सिद्धान्त, जैसा कि प्रसाद जी ने स्पष्ट किया है, शैव-दर्शन पर

आधृत है अतः उसका स्वरूप भी तदनुकूल आत्मानन्द-प्रधान ही है। भारतीय काव्य-शास्त्र का शैवाचार्य अभिनव-प्रतिपादित प्रायः सर्वमान्य अभिव्यक्तिवाद सिद्धान्त अत्यन्त भावात्मक "रस" की ही स्थापना करता है। यह रस शोकादि भावों के उन्नयन से भी आगे आत्मानन्द का भोग है। यह शांति-रूप नहीं है, भोग-रूप है। कलाजन्य चमत्कार, भावों की परिष्कृति आदि उसकी सहायक अथवा आनुषंगिक उपलब्धियाँ हैं : वह स्वयं उनसे कहीं ऊपर है।

भारत के अन्य प्रमुख सिद्धान्तों की भाँति, उसका रस-सिद्धान्त भी अध्यात्म-वाद पर आधृत है : उसको यथावत् ग्रहण करने के लिए आत्मा की स्थिति और उसकी सहज आनन्दरूपता में विश्वास करना आवश्यक हैं। आधुनिक आलोचक को इसमें कठिनाई हो सकती है। परन्तु उपर्युक्त स्थापना विज्ञान के विरुद्ध नहीं है, मनो-विज्ञान भी उसकी पुष्टि करता है। दुःख और सुख भावों के ये दो अनुभूत्यात्मक रूप हैं। इच्छा की (प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष) विफलता की अनुभूति दुःखात्मक होती है और इच्छा-पूर्ति या सफलता की अनुभूति सुखात्मक। अब प्रश्न यह है कि दुःख और सुख का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? कुछ विचारक दुःख के अभाव को ही सुख मानते हैं—उनके अनुसार दुःख की स्थिति भावात्मक है और सुख की अभावात्मक। उनका तर्क यह है कि व्यावहारिक जीवन में विभिन्न प्रकार की बाधाओं के कारण हमें दुःख की अनुभूति होती है और उनके निराकरण से सुख की, अतः दुःख का अभाव ही सुख है। यह तर्क सामान्यतः ग्राह्य प्रतीत होता है, परन्तु इसमें एक सूक्ष्म हेत्वाभास विद्यमान है। उदाहरण के लिए शिर-शूल दुःख का कारण है, उसके शमन से हमें राहत मिलती है—प्रायः प्रसन्नता भी होती है। तो क्या शिर-शूल का अभाव ही आनन्द है ? नहीं। वास्तव में रोगविशेष की शांति से हमने स्वास्थ्य का लाभ किया : इससे मन क्लेश-मुक्त तथा विशद हो गया। यह तो रोग-शांति का तर्क-सम्मत परिणाम है, परन्तु इसके आगे जो प्रसन्नता होती है उसका कारण रोग-शान्ति नहीं है, वरन् यह आश्वा-सन है कि अब हम जीवव के भोग में समर्थ हैं जिसके पीछे कदाचित् अपनी विजय का भाव भी लगा हुआ है। ऋण-शोध से आत्मा प्रायः अत्यन्त विशद हो जाती है, किन्तु एक तो यह विशदता सर्वदा अनिवार्य नहीं है—कभी-कभी ऋण-शोध के उपरान्त मन में एक प्रकार की ग्लानि और आतंक-सा भी शेष रह जाता है, दूसरे इसमें और लाभ-जन्य आनन्द में स्पष्ट अन्तर है। एक ऋणात्मक है, दूसरा धनात्मक। ऋण-शोध के पश्चात् भी प्रसन्नता का अनुभव हो सकता है, परन्तु उसका कारण ऋण-मुक्ति न होकर यह विश्वास है कि अब मेरे लिए लाभ का मार्ग प्रशस्त हो गया है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में कालिदास की पारदर्शिनी प्रतिभा ने इन दोनों मनोदशाओं का भेद स्पष्ट किया है—शकुन्तला को विदा करने के पश्चात् कण्व को

जो अनुभव होता है उसे कालिदास आनन्द की संज्ञा नहीं देते, वह तो आत्मा का वैशद्य मात्र है जो न्यास के भार से मुक्त होने पर या ऋण-मोक्ष के उपरांत प्राप्त होता है—

जातो ममायं विशदः प्रकामं,
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।

इसके अतिरिक्त चतुर्थ अंक में ही एक और प्रकरण है : शकुन्तला के इस कातर प्रश्न के उत्तर में कि अब में तात के दर्शन कब करूँगी कण्व कहते हैं :

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ।४।२०।

अर्थात्—बनि तिय बहुत दिवस भूपति की । सौतिनि चार कोन बसुमति की
करके ब्याह सुवन समरथ को । मारग रुके न जाके रथ को ।।
दैकै ताहि कुटुम को भारा । तजि के राजकाज ब्यवहारा ।।
पति तेरो तुहि संग ले ऐहै । या आश्रम तब तू पग देहै ।। (लक्ष्मणसिंह)

कण्व के जीवन में यह प्रसंग आया या नहीं इसके विषय में शाकुन्तलम् मौन है और महाभारत भी । परन्तु उनकी यह मनोदशा आत्मा का वैशद्य मात्र न होकर आनन्दरूपिणी होती इसमें संदेह नहीं किया जा सकता । सहृदय पाठक कल्पनात्मक तादात्म्य के द्वारा दोनों का अन्तर स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं । कन्या की विदा और पुत्रवधू के आगमन के समय गृहस्थ की दो भिन्न मनोवृत्तियाँ मेरे कथन को पुष्ट करेंगी ।

सुख का अर्थ है सु+ख=आत्मा की वृद्धि और दुःख का अर्थ है दुः+ख आत्मा की क्षति । मनोविज्ञान के शब्दों में सुख को चेतना का उत्कर्ष और दुःख को चेतना का अपकर्ष कह सकते है । अतः दुःख के अभाव का अर्थ हुआ आत्मा की क्षति की पूर्ति––अथवा चेतना के अपकर्ष का निराकरण । यह स्थिति भी निश्चय ही अनुकूल है परंतु आत्मा की वृद्धि अथवा चेतना के उत्कर्ष के समकक्ष तो वह नहीं हो सकती । अरस्तू-प्रतिपादित विरेचन-जन्य प्रभाव तथा भट्टनायक-अभिनव के रस में यही अन्तर है और यह अन्तर साधारण नहीं है, 'क्षतिपूर्ति' और 'लाभ' का अन्तर है ।

साधारणतः यह प्रसंग यहीं समाप्त हो जाना चाहिए । किन्तु मेरे जिज्ञासु मन का परितोष अभी नहीं हुआ और मेरी भाँति कदाचित् अन्य जिज्ञासुओं के मन में भी अभी यह शंका विद्यमान हो सकती है । मान लिया कि भारतीय करुण रस की स्थिति अरस्तू के त्रासद-करुण प्रभाव से अधिक उदात्त है, परन्तु क्या वह अधिक सत्य भी है ? इस शंका का समाधान शास्त्र की दृष्टि से ऊपर किया जा चुका है, यहाँ

हम शास्त्र का आश्रय न लेकर सहृदय के अनुभव को ही प्रमाण मानकर चलना चाहते हैं। करुण-रस-प्रधान नाटक या काव्य का प्रेक्षण-श्रवण सहृदय किस लिए करता है ? इसका एक सीधा उत्तर है—आनन्द के लिए ! आनन्द-उपलब्धि की प्रक्रिया और आनन्द के आधार के विषय में मतभेद हो सकता है, परन्तु आनन्द की प्रयोजनता असंदिग्ध है। यदि यह उत्तर स्वीकार्य है, तब तो शंका निश्शेष हो जाती है। किन्तु हम यह देख चुके हैं कि यह उत्तर सर्वमान्य नहीं है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र, आई० ए० रिचर्ड्स, रामचन्द्र शुक्ल जैसे तत्त्वविद् इसे स्वीकार नहीं करते। आनन्द के विकल्प दो हैं—(१) मनोरागों का समंजन और परिष्कार—त्रासदी आदि के प्रेक्षण से हमारी अन्तवृत्तियों का समंजन और परिष्कार होता है, यही उसकी सिद्धि है—इसी के लिए हमें उसके प्रति आग्रह है। (२) जीवन में अनुराग—हमें जीवन के प्रति अनुराग है अतः उसके हर्ष-विषादमय सभी रूपों के प्रति हमारी अभि-रुचि है, वरयात्रा में भी हमें उत्साह है और शवयात्रा में भी। इनमें से पहला विकल्प अर्थात् अन्तर्वृत्तियों का समन्जन और परिष्करण तो निश्चय ही एक उपलब्धि है। अन्तवृत्तियों के परिष्कार से हमारी चेतना का उत्कर्ष—अथवा आत्मा की वृद्धि होती है। दूसरा विकल्प भी अधिक भिन्न नहीं है—स्थूल भौतिक अर्थ में नहीं वरन् तात्त्विक अर्थ में जीवन के प्रति अनुराग या आस्था का नाम ही आस्तिक भाव है। जीवन की मूल वृत्ति यही है और जीवन के भोग (आनन्द) का आधार भी यही है, इसका विचलन क्लेश है और अविचल भाव आनन्द। शवयात्रा में सहृदय का उत्साह दुःख-मूलक नहीं होता, उसमें एक ओर दिवंगत व्यक्ति के जीवित सम्बन्धियों के प्रति कर्तव्य का आनन्द और दूसरी ओर मृत्यु की बाधा से अनवरुद्ध जीवन-प्रवाह में आस्था का आनन्द विद्यमान रहता है। इसलिए मैं इन दोनों विकल्पों को केवल दृष्टि-भेद मानता हूँ। वास्तव में ये विकल्प आनन्द के स्वरूप की अशुद्ध धारणा पर आधृत हैं—आनन्द की परिकल्पना हमारे यहाँ बड़े गम्भीर रूप में की गयी है। वह मनोरंजन, लज़्ज़त या प्लेज़र का पर्याय नहीं है। इसीलिए भारतीय दर्शन में उसकी उपमा समुद्र से दी गयी है—जीवन के सुख-दुख जिसकी लहरों के समान हैं। जिस प्रकार असंख्य लहरों को अपने वक्ष पर खिलाती हुई समुद्र की अन्तर्धारा आत्मस्थ बहती रहती है, इसी प्रकार अनेक करुण-मधुर अनुभूतियों से खेलती हुई आत्मा या चेतना की अन्तर्धारा अपने सुख में निरन्तर प्रवाहित रहती है। उदात्त काव्य—वह चाहे शृंगार-मूलक हो या करुण-मूलक सहृदय-के मन को शृंगार और करुण की लौकिक अनुभूति से नीचे इसी अन्तर्धारा में निमज्जन का सुयोग प्रदान करता है। इसी अर्थ में रस अखण्ड है और उसमें आस्वाद-भेद नहीं है।

———

भारतीय नाट्य-साहित्य

प्राचीन नाट्य-साहित्य

हिन्दी नाट्य-साहित्य

संस्कृत नाटकों का उद्भव और विकास

—डॉ० भोलाशंकर व्यास

नृतत्त्व-विशारदों ने संगीत, काव्य एवं नाटक के आदिम बीज आदिम जातियों की उन कर्मकाण्डीय पद्धतियों में ढूंढे हैं, जिन्हें वे 'टोटेम' के नाम से अभिहित करते हैं। अफ्रीका, पोलिनेशिया न्यूज़ीलेंड आदि की आदिम जातियाँ समय-समय पर एकत्रित होकर सामूहिक गान, नृत्य तथा अभिनय करती आज भी देखी जाती हैं, यही गान और नृत्य धीरे-धीरे सभ्य जातियों में परिष्कृत होकर एक ओर संगीत, दूसरी ओर काव्य, तीसरी ओर नाटक (रूपक) का स्वरूप धारण करते हैं। 'नाटक' शब्द का प्रयोग यहाँ हम 'नाटक साहित्य' के अर्थ में न कर उसकी प्रायोगिक या अभिनयात्मक पद्धति के लिए कर रहे हैं। जहाँ तक 'साहित्य'-विशेष के अर्थ में 'नाटक' के प्रयोग की बात है, उसे एक प्रकार से 'काव्य' का ही अंग मानना होगा। आदिम जातियों का समाज ज्यों-ज्यों विकास की ओर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उनका 'जादू' भी 'धर्म' के रूप में विकसित होने लगता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विद्वानों ने इसका कारण आर्थिक परिस्थिति का विकास माना है। जब यायावर तथा अव्यवस्थित आदिम समाज कृषि के अन्वेषण से व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने लगता है, तो उसके जीवन में एक अपूर्व गुणात्मक परिवर्तन हो आता है, और वह आदिमयुगीन जादू, जिसमें मूलतः धर्म के बीज विद्यमान थे, धर्म का रूप धारण कर लेता है। इस तरह संगीत और नृत्य धर्म के भी अंग बन बैठते हैं। जब आर्यों ने भारत में प्रवेश किया, उस काल में वे आदिम सभ्यता को बहुत पीछे छोड़ चुके थे। यद्यपि आरम्भ में वे घुमक्कड़ तथा पशुचारण-जीवन का यापन करते थे, किन्तु सप्तसिंधु प्रदेश में आकर वे क्रमशः कृषि से जीवन-निर्वाह करने लगे। इसी समय आर्यों ने एक निश्चित धार्मिक संगठन को जन्म दिया। वैदिक कर्मकाण्ड में संगीत एवं नृत्य का समुचित विनियोग होता था। संगीत ने ही एक ओर वैदिक काव्य तथा दूसरी ओर साम-गान की पद्धति को विकसित किया, तथा नृत्य एवं अभिनय ने नाट्य को। नृत्य का उल्लेख वैदिक साहित्य में बहुत मिलता है। ऋग्वेद में ही वैदिक कवि ने उषा का वर्णन करते समय उसे उस 'नृत्य' (नर्तकी) के रूप में देखा था, जो अपने अधखुले लावण्य को प्रकाशित करती है। इस प्रकार मूलतः संस्कृत या भारतीय नाटकों का बीज इसी वैदिककालीन नृत्य में माना जा सकता है, जो वैदिक धर्म तथा कर्मकाण्ड का एक अंग था।

यद्यपि संस्कृत नाटकों की अखंड परम्परा ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्व से नहीं मिलती, तथापि यह निश्चित है कि अश्वघोष के बहुत पहले से जनता का रंग-मंच अवश्य विकसित हो गया होगा, तभी तो वह 'साहित्य' के रूप में ढल पाया। यही कारण है, संस्कृत नाटकों के उद्भव के लिए हमें अश्वघोष से कई शताब्दियों पूर्व वैदिक साहित्य तक में बिखरे उन बीजों की छानबीन करनी पड़ती है, जो समय पाकर संस्कृत नाट्य-साहित्य के रूप में पल्लवित हुए। वैसे संस्कृत नाटकों के विकास के विषय में एक परम्परावादी मत भी है, जो इसकी दैवी उत्पत्ति का संकेत करता है। इस मत का उल्लेख भरत के नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में हुआ है। इसके अनुसार त्रेता-युग में देवताओं की प्रार्थना पर पितामह ब्रह्मा ने शूद्रादि के लिए नाट्यवेद नामक पंचम वेद की रचना इसीलिये की थी कि उनके मोक्ष का कोई साधन न था। नाट्यवेद की रचना में ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्ववेद से रस को ग्रहण किया तथा इस पंचम वेद की रचना कर इसे भरत मुनि को प्रयोगार्थ सौंप दिया। भरत ने सौ शिष्यों तथा सौ अप्सराओं को नाट्य-कला की व्यावहारिक शिक्षा दी तथा उनकी सहायता से सर्वप्रथम अभिनय किया, जिसमें भगवान् शंकर तथा भगवती पार्वती ने भी योग दिया। किन्तु इस दैवी उत्पत्ति को निश्चित प्रामाणिकता नहीं दी जा सकती। हाँ, वैसे इसमें भी एक तथ्य अवश्य है कि नाट्य के उदय में शूद्रों का ख़ास हाथ रहा है, तथा प्रो० जागीरदार ने इस तथ्य पर विशेष ज़ोर देते हुए अपनी अलग मत-सरणि स्थापित की है, जिसका संकेत हम यथावसर करेंगे।

हम देखते हैं कि नाट्य-कला में प्रमुखतया दो तत्त्व पाये जाते हैं:—संवाद तथा अभिनय। इन दोनों तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व (संवाद) ऋग्वेद में ढूँढा जा सकता है। ऋग्वेद के कई सूक्त संवादपरक हैं। इन संवाद-परक सूक्तों में इन्द्रमरुत् संवाद (१.१६५; १.१७०), विश्वमित्र-नादी-संवाद (३.३३), पुरूरवस्-उर्वशी संवाद (१०.५६), यम-यमी संवाद (१०.१०) का ख़ास तौर पर उल्लेख किया जा सकता है। इन्हीं संवादों को देखकर प्रो० मैक्समूलर ने यह स्थापना की थी कि इन संवादात्मक सूक्तों का यज्ञ के समय इस ढंग से पाठ किया जाता रहा होगा कि प्रत्येक पात्र के लिए एक-एक ऋत्विक् रहता होगा, जो तत्तत् पात्र की उक्ति वाली ऋचा का शंसन करता होगा। प्रो० मैक्समूलर के इस मत की पुष्टि अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने भी की है। प्रो० सिलवन लेवी ने ऋग्वेद काल में अभिनय की स्थिति मानी है। उनका कहना है कि वैदिक काल में संगीत अत्यधिक विकसित हो चुका था इसकी पुष्टि सामवेद से होती है। साथ ही ऋग्वेद में उन नर्तकियों का उल्लेख है, जो सुन्दर वेशभूषा में सुसज्जित हो नृत्य करती हैं तथा युवकों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। इसके साथ ही

अथर्ववेद में लोगों के नाचने-गाने का उल्लेख है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई विरोध नहीं दिखाई देता कि ऋग्वेद के काल में नाट्यात्मक अभिनय का प्रचार था। यह नाट्यात्मक अभिनय धार्मिक प्रकृति का था, तथा पुरोहित-वर्ग देवताओं तथा ऋषियों की भूमिका में आकर उनका अभिनय करते थे। लेवी तथा मैक्समूलर की भाँति हर्तेल ने भी ऋग्वेद के सूक्तों में नाटकों के बीज माने हैं। पर इन विद्वानों के मतों में यह त्रुटि है कि वे इन संवाद-सूक्तों को नाटक के स्थानापन्न ही समझ बैठते हैं इसीलिये डॉ० ए० बी० कीथ को इनके मत का प्रथम अंश तो ग्राह्य है कि ऋग्वेद में नाटकों के बीज अवश्य विद्यमान हैं, किन्तु उक्त संवादों को नाटकीय संवाद मानने से वे सहमत नहीं, उनके मत से ये केवल पौरोहित्य कर्म के संवाद हैं। इस तरह इन सभी विद्वानों ने संस्कृत नाटकों का उद्गम-स्रोत भी यूनानी नाटकों की भाँति धार्मिक क्रिया-कलाप में ढूँढा है।

इसी से मिलता-जुलता एक दूसरा मत है, जो संस्कृत-नाटकों के बीज धार्मिक उत्सवों में ढूँढता है। यूनान में धार्मिक उत्सवों के समय लोग उन दुःखान्तकियों का अभिनय करते थे, जो किन्हीं वीरों की जीवनियों से संबद्ध होती थीं। इस प्रकार ग्रीक 'रंगमंच' तथा नाटकों का उद्गम वीर-पूजात्मक उत्सवों में ढूँढा गया है। प्रो० वेबर जैसे विद्वानों ने ठीक यही सिद्धान्त संस्कृत नाटकों पर भी लागू किया है। उनके मत से इन्द्रध्वज आदि उत्सवों के समय होने वाले अभिनयों से ही संस्कृत-नाटकों का विकास हुआ है। किन्तु हम देखते हैं कि संस्कृत में अधिकांश नाटक वीररसात्मक नहीं है, अतः उन्हें वीर-पूजात्मक उत्सवों से जनित कैसे माना जा सकता है ?

एक अन्य मत नाटकों का सम्बन्ध 'नृत्य' से जोड़ता है। प्रो० मैकडौनल ने नृत्य को ही नाटक का पूर्वरूप माना है। जहाँ तक विकास का प्रश्न है नाच का नाटकों के रूप में विकास मानने में कोई आपत्ति नहीं होती, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि एक मात्र नृत्य ही नाटकों का जन्मदाता नहीं। नृत्य, वैदिक मंत्रों के संवाद तथा सामवेद का संगीत तीनों ने मिल कर नाटकों को जन्म दिया होगा।

प्रो० पिशेल ने पुत्तलिका-नृत्य तथा छाया-नाटकों से भी संस्कृत-नाटकों का उद्भव माना है। छाया-नाटकों वाले मत की पुष्टि स्टेनकोनो ने भी की है। पिशेल के प्रथम मत के अनुसार भारत में पुत्तलिका-नृत्य का प्रचार बहुत पुराना है। महाभारत में पुतलियों का वर्णन मिलता है। इन पुतलियों को नचाने वाला व्यक्ति उनके डोरों को पीछे से पकड़े रहता था, इसलिये वह 'सूत्रधार' कहलाता था। यही पुत्तलिका-नृत्य का सूत्रधार नाटकों का 'सूत्रधार' बन बैठा है। किन्तु प्रो० पिशेल की इस स्थापना का यथेष्ट खण्डन हो चुका है। इसके बाद पिशेल ने छाया-नाटकों वाले मत

का प्रकाशन किया। छाया नाटकों में पर्दे के पीछे मूर्तियों या अभिनेताओं का अभिनय प्रदर्शित किया जाता है, तथा सामाजिक केवल उनकी छाया के अभिनय को देखता है। पिशेल को अपने मत की पुष्टि के लिए संस्कृत नाटकों में एक छाया-नाटक भी मिल गया। किन्तु पिशेल ने अपने मत की पुष्टि के लिए जिस छाया-नाटक—सुभट्ट कृत 'दूतांगद' का हवाला दिया है, वह बहुत बाद की रचना है, अतः संस्कृत-नाटकों को छाया-नाटकों से विकसित मानने में उसे प्रमाण-स्वरूप नहीं माना जा सकता।

नाटकों के अभिनय का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख यदि हमें कहीं मिलता है, तो वह महाभारत के हरिवंश वाले अंश में है, जो महाभारत के बहुत बाद की (कीथ के मतानुसार ईसा की दूसरी या तीसरी शती की) रचना मानी जाती है। इसमें बताया गया है कि वज्रनाभ नामक दैत्य का वध करने के लिए यादवों ने कपट-नटों के वेश में उसकी पुरी में प्रवेश किया तथा वहाँ रामायण तथा कौवेररंभाभिसार नामक दो नाटकों का अभिनय किया। इनके सुंदर अभिनय को देखकर दैत्य व उनकी पत्नियाँ अत्यधिक प्रसन्न हुईं। यदि हरिवंश महाभारत के बहुत बाद की रचना है, तो उसके इस प्रकरण को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। वैसे, नाटक शब्द का उल्लेख तो रामायण में भी मिलता है। आरंभ में ही अयोध्या के वर्णन में उसे 'वधूनाटकसंघैश्चसंयुक्तां' बताया है, तथा राम के अभिषेक के समय नटों, नर्तकों, गायकों, आदि का उपस्थित होना वर्णित है।

महाभारतोत्तर काल के साहित्य में सबसे पहले हम पाणिनि का संकेत कर सकते हैं। पाणिनि के एक सूत्र में शिलालिन् नामक आचार्य तथा अपर सूत्र में कृशाश्व नामक आचार्य के नटसूत्रों का संकेत मिलता है:—'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयो:' (४. ३. ११०), 'कर्मन्द कृशाश्वदिनि:' (४. ३. ११)। पाश्चात्य विद्वानों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि पाणिनि में कहीं भी 'नाटक' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, उक्त 'नट' शब्द संभवतः उस काल में पुत्तलिका-नृत्य की पुष्टि करता है। पाणिनि-सूत्रों में 'नाटक' शब्द उसके अन्य-वाचक पद का प्रयोग न होना इस बात की पुष्टि करता है कि उस समय (कीथ के मतानुसार ४०० ई० पू०) तक संस्कृत नाटकों का निश्चित विकास न हो पाया था।

पाणिनि के बाद कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'कुशीलवों' (नटों) तथा उनके द्वारा नागरिकों को प्रेक्षणक (नाटक) दिखाये जाने का उल्लेख है। (कौ० अर्थशास्त्र १.४.२८-३१) इसके बाद पतंजलि के महाभाष्य में तो 'कंसवध' तथा 'बलिबंधन' इन दो कथाओं से संबद्ध नाटकों का स्पष्ट उल्लेख है। (महाभाष्य ३.१.२६)। ईसा

की प्रथम शताब्दी से तो हमें संस्कृत नाटकों की परिपक्व अवस्था दृष्टिगोचर होने लगती है।

इस सारे विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के विषय में शुद्ध भारतीय परंपरावादी मत दैवी उत्पत्ति में विश्वास करता है, जिसे आज का विद्यार्थी किसी भी तरह स्वीकार करने को प्रस्तुत न होगा। पाश्चात्य विद्वानों में अधिकांश इनकी उत्पत्ति वैदिक-कालीन धार्मिक कर्मकाण्ड या पौरोहित्य कर्म से मानते हैं। अब तक प्रायः सभी पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् संस्कृत नाटकों का धार्मिक उद्भव ही मानते हैं। प्रो० आर० वी० जागीरदार ने ही सर्वप्रथम इस मत का खंडन कर एक नये मत की उद्भावना की है। अपने ग्रन्थ 'दि ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर' के पंचम परिच्छेद में उन्होंने डा० कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों के इस मत का खंडन किया है कि संस्कृत नाटकों का उद्गम-स्रोत धार्मिक है। उन्होंने इस बात की स्थापना की है, कि संस्कृत नाटकों का उद्गम-स्रोत धार्मिक नहीं है।

प्रो० जागीरदार के मत के दो अंश हैं। प्रथम अंश में उन्होंने भरत तथा भारतीय नाटच-कला के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन करते हुए, भारतीय नाटच-कला के उद्भव पर नया प्रकाश डाला है। जैसा कि स्पष्ट है, भारत की परम्परा नाटक का संबंध भरत नामक मुनि से जोड़ती है, तथा इस किंवदंती का प्रचार कालिदास से भी पहले पाया जाता है। स्वयं कालिदास ने ही 'विक्रमोर्वशीय' के प्रथम अंक में भरत को नाट्याचार्य के रूप में माना है, तथा उनके द्वारा इन्द्र की सभा में एक नाटक खेले जाने का संकेत मिलता है। नाट्य-शास्त्र तथा नंदिकेश्वर के अभिनय-दर्पण में भी प्रस्तावना भाग में भरत का नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख है। क्या भरत कोई वास्तविक व्यक्ति थे, या इनका पौराणिक व्यक्तित्व रहा है ? प्रो० जागीरदार ने इस प्रश्न को दूसरे ढंग से सुलझाया है। उनके मतानुसार नाट्य-कला के आचार्य भरत का सम्बन्ध वैदिक साहित्य की आर्य जाति की एक शाखा 'भरत' से जोड़ा जा सकता है। वैदिक साहित्य में 'भूत' आर्यों की प्रमुख जाति के रूप में प्रसिद्ध रही है। किंतु उत्तर वैदिक-काल में आकर 'भरत' जाति का वह गौरव नहीं रहा है। इसी भूत जाति ने सर्व-प्रथम नाट्य-कला का पल्लवन किया था। वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति चिपके रहने वाले पुरोहित-वर्ग ने नाट्य-कला को हेय दृष्टि से देखा था। वे इसे कुत्सित कार्य—नीच कर्म—समझते थे। फलतः 'भरतों' के सन्मुख नाट्य-कला को छोड़कर अपने सामाजिक सम्मान की रक्षा करने या नाट्य-कला को न छोड़ने पर 'शूद्रों में परिगणित होने का विकल्प सामने आया। 'भरत' जाति ने शूद्र बनना स्वीकार किया पर नाट्य-कला न

छोड़ी। प्रो० जागीरदार ने नाट्य-शास्त्र से ही इस बात की पुष्टि की है कि भरत के सौ पुत्रों को ब्राह्मणों ने रुष्ट होकर यह शाप दे दिया था कि वे शूद्र हो जायें तथा उन का वंश भी शूद्र रहे। (नाट्य-शास्त्र ३६.३४-३६)। वैदिक कर्मकाण्डीय पद्धति के प्रेमी आर्यों ने नाट्य-कला को कोई आश्रय नहीं दिया, फलतः 'भरतों' को सप्तसिंधु प्रदेश छोड़कर दक्षिण की ओर जाना पड़ेगा। संभवतः ये राजपूताना की ओर से दक्षिण गये और वहाँ एक अवैदिक (अथवा अनार्य) राजा ने इनकी कला का आदर किया। नाट्य-शास्त्र में ही इस बात का संकेत मिलता है कि 'नहुष' नामक राजा ने 'भूतों' को आश्रय दिया (वही ३६.४८ तथा परवर्ती श्लोक)। यह 'नहुष' जैसा कि स्पष्ट है, कोई अनार्य राजा था जो इसके 'न-हुट्' (यज्ञ न करने वाला) नाम से ही सिद्ध है, तथा पुराणों में देवता तथा ब्राह्मणों से इसके विरोध की कथायें पाई जाती हैं। इस प्रकार प्रो० जागीरदार ने संस्कृत नाटकों का विकास धार्मिक (वैदिक) क्रिया-कलापों में न मानकर वेद-विरोधी प्रवृत्ति में माना है।

प्रो० जागीरदार की स्थापना का दूसरा अंश 'सूत्रधार' शब्द की व्युत्पत्ति से तथा संस्कृत नाटकों के विकास में सूत्रधार का क्या हाथ रहा है—इस मीमांसा से सम्बद्ध है। हम देख चुके हैं कि पिशेल ने 'सूत्रधार' शब्द को लेकर संस्कृत नाटकों का विकास पुत्तलिका-नृत्य से माना था। जागीरदार के मतानुसार 'सूत्रधार' मूलतः पुतलियों की डोर को पकड़ कर पीछे से नचाने वाला न होकर वैदिक क्रिया-कलाप के लिये वेदी आदि को नापने वाला शिल्पी है। इसी से नाटकों से 'सूत्रधार' का सम्बन्ध जोड़ा गया है। वैदिक काल में संभवतः 'सूत्रधार' के कई कार्य थे। वह शिल्पागमवेत्ता था तथा इसके साथ वंशावली आदि सुनाने का भी कार्य करता होगा। पुराणों के 'सूत' से 'सूत्रधार' का सम्बन्ध जोड़ कर इस बात को सिद्ध किया गया है कि 'सूत्रधार' शब्द का प्रयोग बन्दीजन के अर्थ में किया जाता होगा। महाभारत के आदिपर्व में ही 'सूत' को 'सूत्रधार' भी कहा गया है। (**इत्यब्रवीत् सूत्रधारो सूतः पौराणिकस्तया — आदिपर्व० ५१-१५**)। सूत्रधार को 'स्थपति' भी कहा जाता है तथा इस आधार को लेकर यह भी कल्पना की गई है कि नाटक के प्रस्तावना भाग का 'स्थापना' नाम इसी 'स्थपति' के सादृश्य पर रखा गया है। इस तरह 'सूत' (या सूत्रधार) का काम इधर-उधर घूम कर वीर-गीतों और लोक-कथाओं का गान करना तथा उसके द्वारा जनरञ्जन करना था। इस कार्य में धीरे-धीरे उसने अपने साथ संगीत का भी प्रबन्ध कर लिया होगा और इस प्रकार 'सूत' तथा 'कुशीलवों' (गायकों) का गठबन्धन हो गया होगा। इतना ही नहीं आगे जाकर इसमें स्त्री नटी या नर्तकी का भी समायोग हुआ होगा, प्रो० जागीरदार ने महाकाव्योत्तर (पोस्ट-एपिक)—रामायण, महाभारत

काल के परवर्ती—सूत को ही संस्कृत नाटकों का जन्मदाता माना है। इस तरह उन्होंने महाकाव्यों से संस्कृत नाटकों का घनिष्ठ सम्बन्ध घोषित किया है।

"इस नाट्य-कला का जन्मदाता महाकाव्योत्तर सूत ही है, पुत्तलिका-नृत्यों का सूत्रधार नहीं; महाकाव्यों का पाठ ही भारती वृत्ति है, धार्मिक मन्त्रों का नहीं; सूत तथा कुशीलवों का गान ही सात्वती वृत्ति है; कैशिकी वृत्ति में नटी (नर्तकी) का समायोग किया गया; आरभटी वृत्ति नाटक को परिपूर्ण रूप में आरम्भ से अन्त तक अभिनीत करना है, संस्कृत नाटक ने अपना नायक सूत से तथा उन महाकाव्यों से लिया है, जिसका वह पाठ करता था, धार्मिक साहित्य अथवा वैदिक देव-समूह से नहीं, कदापि नहीं।" (दि ड्रामा इन संस्कृत लिटरेटर, पृ० ४१)

संस्कृत नाटक-साहित्य की सर्वप्रथम रचनाएँ, जो हमें उपलब्ध हैं, तुर्फान से मिले तीन नाटकों के खण्डित रूप हैं। इनमें एक नाटक शारिपुत्र प्रकरण है, अन्य दो कृतियाँ क्रमशः 'अन्यापदेशी रूपक' तथा 'गणिका-रूपक' हैं। प्रथम कृति नौ अङ्कों का एक प्रकरण है, शेष दो कृतियों के कलेवर के विषय में पूरी तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता। इन तीनों नाटकों की शैली को देख कर प्रो० ल्युडर्स ने इन्हें अश्वघोष की कृतियाँ घोषित किया है। शारिपुत्र-प्रकरण में मौद्गल्यायन तथा शारिपुत्र के बुद्ध के द्वारा शिष्य बनाये जाने की कथा है। इसमें विदूषक का भी प्रयोग है, जो अन्य 'गणिका-रूपक' में भी पाया जाता है। शारिपुत्र की कथा शृंगार से शान्ति की ओर बहती दिखाई गई है, और इससे यह स्पष्ट है कि सौंदरानन्द की भाँति अश्वघोष की यह नाट्य-कृति भी 'मोक्षार्थगर्भा' है, तथा इसका लक्ष्य 'रतये' (मनोरञ्जनार्थ) न होकर 'व्युपशान्तये' (धार्मिक उपदेशार्थ) है। अन्यापदेशी रूपक (एलेगरिकल ड्रामा) में बुद्धि, कीर्ति, धृति आदि को मानवीय परिवेश में उपस्थित किया है। इसके एक पात्र स्वयं बुद्ध भी हैं: इस प्रकार यह नाटक—जिसके शीर्षक का पता नहीं है—श्रीकृष्णमिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय की अन्यापदेशी शैली का अग्रदूत कहा जा सकता है। तृतीय कृति एक 'गणिका-रूपक' है, जिसमें सोमदत्त नामक नायक तथा वेश्या के प्रेम की कथा जान पड़ती है। इसके पात्र मृच्छकटिक की भाँति समाज के उच्च तथा निम्न दोनों स्तरों से लिये गये हैं—राजकुमार, दास, दासी, दुष्ट आदि। साथ ही इसमें भी विदूषक का समावेश पाया जाता है। यदि ये नाटक अश्वघोष के ही हैं—क्योंकि विद्वानों का एक दल इन्हें अश्वघोष की कृतियाँ नहीं मानता तथा इन्हें कालिदास के बाद के नाटक मानता है—तो हम कह सकते हैं कि अश्वघोष से पहले ही किसी कलाकार के हाथों ने भारतीय नाट्य-कला को सँवार दिया था, उसने नाटकों में 'विदूषक' का समावेश कर एक नवीन कौशल भारतीय नाटकों को दिया था। यह

नाटककार कौन था ? इसके विषय में हमारा इतिहास मौन है, और हम उस अज्ञात-नामा नाटककार का ध्यान आते ही श्रद्धानत हो जाते हैं, जिसने संस्कृत नाटकों की अखण्ड परम्परा को जन्म दिया। यह तो निश्चित है कि अश्वघोष संस्कृत नाटकों के आदिम कलाकार नहीं है।

अश्वघोष से कालिदास तक आने के पूर्व हम एक और नाटककार से परिचित होते हैं—भास। भास का नाम आज से ४२–४३ वर्ष पूर्व तक संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक समस्या बना हुआ था। कालिदास, बाण तथा राजशेखर ने भास की कला की संस्तुति की थी और प्रसन्नराघवकार जयदेव ने उसे कविताकामिनी का 'हास' बताया था। पण्डितों व कवियों में एक किंवदन्ती प्रचलित थी कि भास की एक नाट्य-कृति–स्वप्नवासवदत्तम्–को आग में डाल देने पर अग्नि भी न जला सकी। सम्भवतः यह पार्थिव अग्नि न हो कर आलोचकों की आलोचनाग्नि थी, जिसमें तप कर भास की कृति और अधिक प्रभा-भास्वर हो उठी थी और इसी तथ्य को राजशेखर ने लाक्षणिक शैली में व्यञ्जित किया था। सन् १९१३ में म० म० गणपति शास्त्री ने सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान तेरह नाटकों की ओर आकृष्ट किया तथा उन्हें भास की कृतियाँ घोषित किया। त्रिवेंद्रम से प्रकाशित नाटकों के विषय में विद्वानों के तीन मत हैं:—

(१) प्रथम मत के अनुसार ये नाटक निश्चित रूप से भास के ही हैं। इन नाटकों की प्रक्रिया, शैली, भाषा आदि को देखने पर पता चलता है कि ये सब एक ही कवि की कृति हैं, तथा इनका रचनाकार कालिदास से पूर्ववर्ती है। स्वप्नवासव-दत्तम् के आधार पर इन सभी कृतियों को भास की ही मानना ठीक जान पड़ता है।

(२) दूसरे मत के अनुसार ये रचनाएँ भास की नहीं। इनका रचयिता सातवीं-आठवीं शती का कोई दाक्षिणात्य कवि जान पड़ता है।

(३) तीसरे मत के अनुसार ये नाटक मूलतः भास की रचनायें हैं, किन्तु जिस रूप में आज ये उपलब्ध हैं, वह उनका रंगमंचोपयुक्त संक्षिप्त रूप है।

इन तीन प्रसिद्ध मतों के अतिरिक्त एक चौथे मत का भी संकेत किया जा सकता है, जिसके अनुसार इन नाटकों को दो वर्गों में बाँटा सकता है, एक वे नाटक, जिनमें अनुष्टुप पद्यों की संख्या अधिक हैं। ये नाटक भास की प्रामाणिक रचनाएँ जान पड़ती हैं। दूसरी कोटि के नाटक जिनमें अनुष्टुप पद्यों की संख्या बहुत कम है, भास की प्रामाणिक रचनाएँ नहीं है। इस मत के पोषक विद्वान् 'दरिद्रचारु-दत्त' को भास की कृति नहीं मानते।

भास के तेरह नाटकों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है :-

१. रामायण नाटक (प्रतिमा तथा अभिषेक) २. महाभारत नाटक (पंचरात्र, मध्यम व्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग तथा बालचरित), ३. अन्य नाटक (स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, अविमारक, दरिद्रचारुदत्त)। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि भास के नाटकों की कथावस्तु का स्रोत विविध है। एक ओर वह रामायण-महाभारत जैसे महाकाव्यों से अपनी कथा चुनता है, दूसरी ओर तत्कालीन लोक-कथाओं को भी अपनी कला के साँचे में ढालता है। यह विविधता भास की प्रतिभा की मौलिकता को व्यक्त करती है। इतना होते हुए भी भास के सभी नाटकों में एक-सी नाट्य-कुशलता नहीं मिलती। रामायण वाले दोनों नाटकों का कथा-संविधान शिथिल है। यहाँ नाटकीय कुतूहल का अभाव है। प्रतिमा नाटक में एक स्थान पर जहाँ ननिहाल से लौटते भरत देवकुल में दशरथ की प्रतिमा देखकर उनकी मृत्यु से अवगत होते हैं—नाटकीयता लाने का प्रयत्न किया गया है, पर वहाँ कवि सफल नहीं हो सका है। वस्तुतः रामायण के दोनों नाटक रामायण की कथा का शुष्क संक्षेप है, जिन्हें मंच के उपयुक्त बना दिया गया है। महाभारत वाले नाटकों में फिर भी कवि ने अधिक कौशल से काम लिया है। वैसे यहाँ भी कलाकार का परिपक्व कार्त्तित्व नहीं दिखाई देता। भास की सच्ची कुशलता का परिचय स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगंधरामण से मिलता है। स्वप्नवासवदत्तम् का घटना-चक्र विशेष कुशलता से निबद्ध किया गया है। इसमें व्यापारान्विति का पूर्ण ध्यान रखा गया है। कवि ने लोक-कथा को लेकर अपने ढंग से सजाया है। नाटक की दोनों नायिकाओं—वासवदत्ता और पद्मावती—के चरित्रों को स्पष्ट रूप से निजी व्यक्तित्व दिया गया है। हर्ष की नाटिकाओं का विलासी उदयन भास के नाटक में अधिक गंभीर रूप लेकर आता है। वासवदत्ता के चरित्र को चित्रित करने में कवि ने बड़ी सावधानी और कुशलता बरती है। वासवदत्ता अपनी वास्तविकता को छिपा कर अपने पति के पराक्रम के लिए अपूर्व त्याग करती है। वैसे आरंभ में ही वासवदत्ता के जीवित रहने का संकेत कर देना नाटकीय कौतूहल को कुछ समाप्त कर देता है। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि कवि यहाँ 'नाटकीय अपेक्षा' (ड्रेमेटिक एक्सपेकटेशन) की योजना कर रहा है। कवि के रूप में भास को प्रथम श्रेणी में स्थान नहीं दिया जा सकता, किंतु भास का लक्ष्य कविता करना न होकर नाटकीय योजना करना था। वैसे भास के नाटकों में नाट्य-कला का वह प्रौढ़ रूप न भी मिले, जो हमें कालिदास के नाटकों में मिलता है, किंतु भास की नाट्य-कला उस कृत्रिमता से मुक्त है, जिसने बाद के संस्कृत नाटक-साहित्य को दबोच लिया है। भास के नाटक मंचीय विनियोग को ध्यान में रखते जान पड़ते हैं, और उन्होंने कालिदास के नाटकों की सफलता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है।

कालिदास के हाथो में नाट्य-कला उस समय आई, जब वह समृद्ध हो रही थी और उसे किसी महान् कलाकार के अंतिम स्पर्श की आवश्यकता थी। भास के नाटक—यदि वे मूलतः इसी रूप में थे, तो शेक्सपियर के पूर्व के आंग्ल मोरेलिटी तथा मिरेकिल नाटकों की भाँति कलात्मक रमणीयता से रहित हैं, न उनमें कथा-वस्तु की नाटकीय सज्जा का प्रौढ़ संविधान मिलता है, न पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण, न काव्य की अतीव उदात्त महिमा ही। कालिदास ने नाट्य-कला के इन अभावों की पूर्ति की यद्यपि कालिदास अन्तस् से कवि हैं, तथापि उनके नाटकों को देखकर कहा जा सकता है कि विश्व के चोटी के नाटककारों में उनका भी नाम लिया जा सकता है और यह उनके कवित्व के आधार पर नहीं, अपितु उनकी नाट्य-कला के आधार पर। कालिदास के विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुंतल की कथा-वस्तु का विनियोग, इस बात का प्रमाण है कि वे जीवन के गत्यात्मक चित्र का निर्वाह करने में भी उतने ही कुशल थे, जितने कि कवि-कल्पना में। परवर्ती नाटककारों की भाँति जो मूलतः कोरे कवि हैं—कालिदास ने अपने कवित्व के भार से नाटकीय कथा-वस्तु को कहीं भी आक्रांत नहीं किया है। कालिदास की नाट्य-कला का इससे बढ़ कर क्या प्रमाण चाहिये ?

कालिदास के तीन नाटक हमें उपलब्ध हैं:—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, तथा अभिज्ञानशाकुंतल। अभिज्ञानशाकुंतल कवि की अंतिम कृति है, किंतु प्रथम कृति के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग विक्रमोर्वशीय को प्रथम कृति घोषित करते हैं, किंतु हमें मालविकाग्निमित्र ही पहली कृति दिखाई देती है। मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र तथा मालविका के प्रणय की कथा पाँच अंकों में निबद्ध की गई है। यद्यपि शास्त्रीय पद्धति के अनुसार यह नाटक है, किन्तु प्रकृत्या यह 'नाटिका' उपरूपकों के ढंग का दिखाई देता है। इसे इस दृष्टि से हर्ष की नाटिकाओं के विशेष समीप माना जा सकता है। राजप्रासाद तथा प्रमदवन से सीमित क्षेत्र में घटित प्रणय-कथा ही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है, जीवन की विशेषता के दर्शन यहाँ नहीं होते। राजा अग्निमित्र अपनी बड़ी रानी धारिणी तथा छोटी रानी इरावती से छिप-छिप कर मालविका से प्रेम करता है। इस तरह शास्त्रीय पद्धति से चाहे अग्निमित्र 'धीरोदात्त' माना जाय, हमें तो वह 'धीरललित' ही जान पड़ता है। कालिदास का दूसरा नाटक पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रसिद्ध प्रणय-कथा को आधार बनाकर आया है। इसकी कथा-वस्तु में निश्चित रूप से मालविकाग्निमित्र से प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा विक्रमोर्वशीय का संसार अधिक विस्तृत है, वह राजाप्रसाद की चहारदीवारी से सीमित नहीं। साथ ही विक्रमोर्वशीय का पुरुरवा अग्निमित्र की तरह केवल विलासी न होकर पौरुष से संपन्न है।

नाटक का आरंभ तथा अंत उसके पौरुष की उदात्त एवं गरिमामय झाँकी से समन्वित है। वह सच्चे शब्दों में 'धीरोदात्त है । वह दानवों के द्वारा अपहृत उर्वशी को युद्ध करके छुड़ा लाता है। यही पौरुष उर्वशी के आकर्षण का कारण बनता है, और उसके मुँह से कवि ने स्वगत उक्ति कहलवा ही दी है:—'उपकृतं खलु दानवेंद्रसंरंभेण' (विक्रमोर्वशीय प्रथम अंक)। विक्रमोर्वशीय में प्रणय का बीज सर्वप्रथम नायिका ही के हृदय में उद्भिन्न होता है, वही नायक से मिलने का प्रयास करती है। उर्वशी के अप्सरात्व को देखते हुए यह बात ठीक प्रतीत होती है। किंतु मालविकाग्निमित्र की भाँति विक्रमोर्वशीय का प्रणय लौकिक तथा विलासमय नहीं है। विक्रमोर्वशीय में कवि ने प्रेम को एक 'दिव्य' स्वरूप दिया है, संभवतः दैवी पात्र उर्वशी को चुनने का यह भी कारण हो, साथ ही इसकी चरम परिणति भी दिव्य वातावरण—इन्द्र की कृपा—में प्रदर्शित की गई है। दूसरे पुरुरवा तथा उर्वशी का प्रणय तब तक सफल नहीं समझा जब तक कि वह पुत्रोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। इस प्रकार कवि ने अफल प्रणय को वासना घोषित करने का संकेत किया है। कालिदास के दोनों परवर्ती नाटकों का उपसंहार नायक नायिका के प्रणय की मूर्त सफलता—एक में आयुष् के रूप में, अन्य में भरत के रूप में—में परिणत होता है। यह कालिदास के रघुवंश की प्रसिद्ध उक्ति 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' का निदर्शन दिखाई पड़ता है।

अभिज्ञानशाकुंतल में कवि ने विशेष कलाकृतित्व की व्यंजना की है। अभिज्ञानशाकुंतल दुष्यंत तथा शकुन्तला की प्रसिद्ध प्रणय-कथा पर निबद्ध सात अंकों का नाटक है। यद्यपि इस प्रणय-कथा का मूल स्रोत महाभारत तथा पद्मपुराण हैं, तथापि कालिदास ने इसे नाटकीय परिवेश में उपस्थित किया है। इतिहास-पुराणों का दुष्यंत कामुक दिखाई पड़ता है, जो अकारण शकुन्तला को विस्मृत कर देता है। कालिदास ने दो स्थानों पर दुष्यंत के कामुकत्व को बचा कर उसे खरा 'धीरोदात्त' बनाने की पूरी कोशिश की है। कालिदास का पहला प्रयास वहाँ दिखाई देता है, जहाँ दुष्यंत तपोवन में शकुन्तला की पहली झाँकी देखते ही मोहित हो जाता है। एक राजा का तपोवन-वासिनी के प्रति मुग्ध होना राजधर्म ही नहीं, आचार के भी विरुद्ध है। और इस आचार-विरोध को कवि ने 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' कहलवा कर मिटा दिया है। आखिर दुष्यन्त जैसे पवित्र-हृदय व्यक्ति का अंतःकरण इस बात का साक्षी है कि शकुन्तला 'क्षत्रपरिग्रहक्षमा' है। इसी तरह शकुन्तला को भूलने के कारण के रूप में दुर्वासा-शाप की कल्पना करना भी कालिदास की नायक के चरित्र की अकलुषता बनाये रखने का प्रयत्न है। कालिदास के चरित्रों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि उसकी नाट्य-कला का प्रमुख लक्ष्य चरित्र-चित्रण न होकर रस-व्यञ्जना है। यही कारण है शेक्सपियर जैसी चरित्रों

की मनोवैज्ञानिक स्थिति, उनके अन्तर्द्वन्द्व का संघर्ष यहाँ नहीं मिलेगा फिर भी कालिदास के चरित्र कहीं बाहर के जीव न होकर, इसी ज़मीन के खाद-पानी से पनपे हुए हैं। यह दूसरी बात है कि वे यथार्थ के मर्त्यलोक और आदर्श के स्वर्ग को जोड़ कर इतने सुन्दर ताने-बाने में बुन दिये जाते हैं कि गेटे के शब्दों में हम उन्हें भी 'हैवन अर्थ कम्बाइंड' कह सकते हैं। कालिदास के नाटककार ने उनको यथार्थ की रेखाओं में आलिखित किया है, और कालिदास के कवि ने उनमें आदर्श का रंग भरकर भावना तथा कल्पना की 'लाइट और शेड' वाली द्वाभा झलका-दी है। दुष्यन्त जहाँ एक ओर रसिक-शिरोमणि है, वहाँ आदर्श राजा भी। जो दुष्टों को शिक्षा देता है, प्रजा के विवाद को शांत करता है, तथा प्रजा का सच्चा बन्धु है; वह तपोवन की रक्षा के लिए, देवताओं की सहायता के लिए आततायी दानवों से सदा लोहा लेने को प्रस्तुत है। दुष्यन्त के उदात्त चरित्र की पराकाष्ठा में कालिदास अग्निमित्र जैसे कोरे शृंगारी नायक का चित्र उपस्थित नहीं करना चाहता, अपितु वर्णाश्रमधर्म के व्यवस्थापक राजा का आदर्श भी उपस्थित करना चाहता है। खेद है, आज के नाटककार इस आदर्श को भूल से गये। हर्ष का 'उदयन' अग्निमित्र का ही 'प्रोटोटाइप' है। हाँ, भवभूति के राम में हमें फिर एक आदर्श नायक के दर्शन होते हैं। नायिकाओं के चित्रण में भी कालिदास की तूलिका अति पटु है। उनके सौकुमार्य, लावण्य तथा स्वाभाविक लीला का अंकन करने में उसकी लेखनी संभवतः अपना सानी नहीं रखती। हर्ष की प्रियदर्शिका, रत्नावली, यहाँ तक कि मलयवती भी मालविका की ही नकल है। शूद्रक की वसंतसेना निस्संदेह संस्कृत नाटकों की अनन्य नायिकाओं में से है, किंतु उस पर भी थोड़ी-बहुत उर्वशी की छाया पड़ी दिखाई पड़ती है। भवभूति की सीता का अपना निजी व्यक्तित्व है, पर वह सौकुमार्य जो कालिदास की नायिकाओं में है, वहाँ नहीं मिलता; वह गंभीर प्रकृति की नायिका है, जिसे जीवन के समस्त हास-विषाद, सुख-दुःख के अनुभवों ने अधिक प्रौढ़ बना दिया है, तथा उसमें 'रोमानी' नायिका-सुलभ चंचलता समाप्त हो गई है। मालविकाग्निमित्र की नायिका धारिणी की सेविका बनी प्रणय-लीलानभिज्ञ राजकुमारी है, तो विक्रमोर्वशीय की नायिका रति-विशारदा उर्वशी। शाकुन्तल की नायिका एक ऐसे वातावरण में पली है, जहाँ विलास और काम-कला से दूर तपस्वी संयम का जीवन व्यतीत करते हैं; किंतु इतना होने पर भी भोली शकुन्तला आरंभ के तीन अंकों में जिस तेजी से प्रणय-व्यापार करती है, उस दोष को तपस्या की आँच में तपाकर कालिदास ने उसके स्वर्णिम चरित्र की भास्वरता को स्पष्ट कर दिया है।

कालिदास की काव्य-कला के विषय में यहाँ कुछ कहना आवश्यक न होगा, किन्तु इतना संकेत कर दिया जाय कि कालिदास के नाटकों की सफलता एक अंश

तक उनकी काव्यात्मकता पर भी निर्भर करती है। कालिदास मूलतः शृंगार के कवि हैं, तथा शृंगार के विविध पात्रों का जिस बारीकी से उन्होंने चित्रण किया है, वह संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त कालिदास की नैसर्गिक अलंकार-योजना उनकी रस-व्यंजना में उपस्कारक सिद्ध होती है। कालिदास के नाटक इसी काव्यात्मकता के कारण भावनावादी अधिक हैं, काव्य की भाँति-वे आदर्शवादी वातावरण की सृष्टि करते हैं, किन्तु यथार्थ से अछूते नहीं हैं भले ही मृच्छकटिक जैसी कठोर यथार्थता वहाँ न मिले।

संस्कृत के नाटकों में मृच्छकटिक का अपना महत्त्व है। यह अपने ढंग का अकेला नाटक है, जिसमें एक साथ प्रणयकथात्मक प्रकरण, धूर्त्तसंकुल भाण, हास्य-मिश्रित प्रहसन तथा राजनीतिक नाटक के विचित्र वातावरण का समन्वय दिखाई देता है। सम्पूर्ण संस्कृत नाटक-साहित्य में यही अकेला ऐसा नाटक है, जो उस काल के मध्यवर्ग की सामाजिक स्थिति का पूर्ण प्रतिबिंब कहा जा सकता है। मृच्छ-कटिक को पंडित-परंपरा शूद्रक की रचना मानती चली आ रही है, और इसका आधार स्वयं मृच्छकटिक का ही प्रस्तावना-भाग है। किन्तु शूद्रक केवल एक अर्ध-ऐतिहासिक या 'रोमैंटिक' व्यक्तित्व जान पड़ता है तथा किसी अज्ञातनामा कवि ने अपने नाम को प्रकाश में न लाकर इसे शूद्रक के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। मृच्छकटिक की रचना-तिथि के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। वैसे विद्वानों का बहुमत इसे ईसा की दूसरी शती की रचना मानता है, तथा इस मत के मानने वालों में वे दोनों तरह के विद्वान हैं, जो कालिदास को ईसा-पूर्व प्रथम शती तथा ईसा की चौथी शती में मानते हैं। इस तरह एक मृच्छकटिककार को कालिदास का ऋणी बताते हैं, अन्य कालिदास पर मृच्छकटिककार का प्रभाव मानते हैं। नये विद्वान् इस मत से सहमत नहीं कि मृच्छकटिक ईसा की दूसरी शती की रचना है। यह तो निश्चित है कि मृच्छकटिक कालिदासोत्तर रचना है, किन्तु स्वयं कालिदास ही इतने पुराने नहीं जान पड़ते कि उन्हें ईसा पूर्व प्रथम शती का माना जा सके। फलतः मृच्छकटिक की शैली, उसमें वर्णित सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि यह कालिदास (चौथी शती ईसवी) के परवर्ती—संभवतः गुप्त-साम्राज्य के ह्रास तथा हर्षवर्धन के उदय के बीच के काल की रचना है। हमने इस विषय का अधिक विवेचन अन्यत्र किया है, वह यहाँ अनावश्यक होगा।

मृच्छकटिक १० अंकों का एक संकीर्ण-कोटि का प्रकरण है। प्रकरण रूपक के १० भेदों में से एक है तथा नाटक से इसमें यह भेद है कि जहाँ नाटक में इतिवृत्त प्रख्यात होता है, यहाँ वह कल्पित होता है। नाटक का नायक सदा धीरोदात्त—राजन्य,

दिव्य या दिव्यादिव्य व्यक्ति—होता है, जबकि प्रकरण का नायक धीरशान्त—ब्राह्मण या वैश्य—होता है। नाटक का रस वीर अथवा श्रृंगार ही होता है। मृच्छकटिक में अवंती के ब्राह्मण सार्थवाह चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रेम की कथा है, जिसके बीच में कवि ने प्रासंगिक कथा के रूप में गोपालदारक आर्यक की राजनीतिक क्रांति वाली कथा को बुन दिया है। यह कथा मूल प्रणय-कथा से इतनी संश्लिष्ट है कि वह सम्पूर्ण रूपक में अनुस्यूत दिखाई पड़ती है। इतना ही नहीं, यह उप-कथावस्तु उस काल की सामाजिक अस्तव्यस्तता के वातावरण की सृष्टि करने में भी पूरा योग देती है।

मृच्छकटिक की सबसे बड़ी विशेषता इसका घटना-चक्र, जीवन के विविध गत्यात्मक चित्रों का अंकन तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण है। समस्त संस्कृत नाट्य-साहित्य पर सरसरी निगाह दौड़ाने पर पता चलता है कि अधिकांश संस्कृत रूपकों का घटना-चक्र बड़ा कच्चा रहता है। इस दृष्टि से कालिदास, मृच्छकटिककार (शूद्रक ?) तथा विशाखदत्त को ही अपवाद कहा जा सकता है। नाटक की सफलता असफलता की कसौटी उसका काव्यत्व न होकर नाटकीय गतिमत्ता या व्यापार है। नाटक की कथावस्तु-व्यापार के द्वारा जितनी ही अग्रसर होगी, नाटक उतना ही खरा उतरेगा। मृच्छकटिक में व्यापार-योजना में बड़ी सतर्कता बरती गई है। दूसरे मृच्छकटिक कवि ने सर्व-प्रथम राजन्य-वर्ग को छोड़कर मध्यवर्ग के जीवन से अपनी कहानी चुनी है। उज्जयिनी के मध्यवर्ग समाज की दैनंदिन चर्चा को रूपक का आधार बनाकर कवि ने इसमें यथार्थता के प्राण डाल दिये हैं। इस दृष्टि से यह संस्कृत का एक मात्र यथार्थवादी नाटक है तथा इसकी तुलना संस्कृत के समस्त साहित्य में दण्डी के दशकुमारचरित को छोड़कर अन्य किसी कृति से नहीं की जा सकती। दशकुमारचरित की तरह ही मृच्छकटिक भी तात्कालिक समाज पर एक करारा व्यंग्य है। मृच्छकटिक के पात्र समाज के प्रायः सभी तरह के वर्गों से चुने गये हैं—अत्यधिक सभ्य ब्राह्मण और पतित चोर, पतिव्रता पत्नी और गणिका, पवित्र भिक्षु और पापी शकार, न्याय और व्यवस्था के रक्षक अधिकरणिक तथा रक्षक (सिपाही), जुआरी और लफंगे। और सबसे बड़ी विशेषता तो यह कि ये सभी पात्र संस्कृत-नाटकों के अन्य पात्रों की भाँति 'टाइप' न होकर व्यक्ति हैं। पवित्र-हृदय विट, जिसे पेट के लिए नीच और भूखे शकार का नौकर बन कर अपमान करना पड़ता है, लोगों के घरों तथा युवतियों के हृदय में सेंध लगाने की कला में पटु शर्विलक, जिसे प्रेम के लिए न चाहते हुए भी चोरी करनी पड़ती है, जुए के कुत्सित कर्म के प्रायश्चित्त रूप में बौद्ध भिक्षुत्व धारण करने वाला संवाहक—ऐसे

छोटे-छोटे पात्र भी अपना निजी व्यक्तित्व लेकर हमारे समक्ष अवतरित होते हैं। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त तो महार्घ गुणों से संपन्न व्यक्ति है, जिसने समस्त उज्जयिनी के मन को जीत लिया है। वह कुलीन, सभ्य, सच्चरित्र तथा त्यागी युवक है, जो अपनी त्यागशीलता के ही कारण समृद्ध सार्थवाह से दरिद्र बन गया है। वसंतसेना का चरित्र दृढ, सत्य और विशुद्ध सात्विक प्रेम, अपूर्ण त्याग और गुणस्पृहा की आँच में तपकर, गणिका-वृत्ति की कालिमा का परित्याग कर, शुद्ध भास्वर स्वर्ण के समान उपस्थित होता है। गणिका होते हुए भी वह राजवल्लभ संस्थानक (शकार) तथा उसकी सुवर्णराशि को ठुकराकर अपने शुद्ध एवं गम्भीर प्रेम का परिचय देती है। मृच्छकटिक का तीसरा महत्त्वपूर्ण पात्र राजश्याल संस्थानक है। कवि ने शकार के व्यक्तित्व में एक साथ बेवकूफी, कायरपन, हठधर्मिता, दंभ, क्रूरता तथा विलासिता के विविध उपादानों को सँजोया है। वह न केवल नाटक का 'प्रति-नायक' है, अपितु सामाजिकों में अपने 'विद्रूप' से हास्य की सृष्टि करता है। हास्य-सृष्टि के लिए विदूषक मैत्रेय भी महत्त्वपूर्ण पात्र है, पर शकार और मैत्रेय के हास्य में बड़ा अंतर है। शकार का हास्य बेवकूफी से भरा तथा विद्रूप है, विदूषक का हास्य प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा बुद्धिमत्ता का परिचय देता है। जीवन की विविध चित्रमत्ता, यथार्थ वातावरण, धूर्तसंकुलत्व, विद्रूप तथा शिष्ट हास्य के समायोग ने ही मृच्छकटिक को ग्रीक 'कामेडी' के समान स्तर पर खड़ा कर दिया है। किंतु खेद है, मृच्छकटिक का यह गुण बाद के किसी भी संस्कृत नाटकों में दिखाई नहीं देता। जैसा कि हमने अन्यत्र लिखा है:— "मृच्छकटिक प्रकरण ने जो परंपरा संस्कृत-साहित्य को दी, उस अनुपम दाय को सँभालने वाला कोई न मिला। मृच्छकटिक के लावारिस रचयिता की विरासत कुछ लोगों ने अपनानी चाही, पर वे मृच्छकटिक के रचयिता की अमूल्य निधि का दुरुपयोग करने वाले निकले। भवभूति ने मालती-माधव प्रकरण के द्वारा संभवतः इसी तरह की वातावरण-सृष्टि करनी चाही थी, पर भवभूति की गंभीर प्रकृति धूर्तसंकुल प्रकरण के उपयुक्त न होने से उसने हास्य और व्यंग के पुट को छोड़ दिया। फलतः भवभूति का प्रकरण 'कामेडी' के उस वातावरण तक न उठ सका। ...... प्रहसनों और भाणों ने मृच्छकटिक की एक विशेषता को अवश्य आगे बढ़ाने का भार लिया, किंतु आगे जाकर भाण केवल गणिकाओं और विटों, वेश्यापणों और कोठों के इर्द-गिर्द ही घूमते रहे, मध्यवर्ग के जीवन को विविधता का दिग्दर्शन न हो सका, और संस्कृत के विपुल नाटक-साहित्य में मृच्छकटिक आज भी गर्वोन्नत स्थिति में खड़ा जैसे संस्कृत नाटक-साहित्य की जीवन रस से अछूती कृतियों की बिडम्बना कर रहा है।"

जब साहित्य के क्षेत्र में कोई महान् व्यक्तित्व किसी भी कलात्मक क्रांति को

जन्म देता है, अभिनव मौलिकता का संनिवेश करता है, तो परवर्ती साहित्यिक उस की कृतियों को 'आदर्श' मानकर उनकी नकल करना शुरू कर देते हैं। कालिदास तथा मृच्छकटिककार ऐसे ही क्रांतदर्शी कलाकार थे, जिन्होंने संस्कृत नाटकों में नई पद्धति को जन्म दिया था और अपनी कृतियों में जीवन का प्रतिबिंब उतार कर 'नाटक मानव प्रकृति का दर्पण है,' इस उक्ति की पुष्टि की थी; किंतु बाद के नाटककारों ने कालिदास को ही आदर्श मान कर नाट्य-शास्त्र के नियमों का आलेखन आवश्यक समझा और इस प्रकार बाद के नाटककारों के लिये शास्त्रीय सिद्धांतों का बंधन बना दिया गया। श्रव्य काव्य की तरह अब दृश्य काव्य भी कला-कौशल तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन का क्षेत्र माना जाने लगा। नाटक की सफलता-असफलता की कसौटी सैद्धांतिक 'टेकनीक' का पालन ही समझी जाने लगी, भले ही उनमें जीवन के गत्यात्मक चित्रों का अभाव ही क्यों न हो? नाटककार के लिए नाटक में अर्थ-प्रकृति, अवस्था, संधि, तत्तत् सन्ध्यंग आदि का विनियोग करना काफ़ी था, भले ही रंगमंच की प्रायोगिक शिक्षा का 'क ख ग' भी उसने नहीं सीखा हो। भरत के नाट्य-सिद्धांतों की लीक पर कदम-ब-कदम चलने की इस प्रवृत्ति ने जिन दो नाटककारों को जन्म दिया, वे हैं— हर्षवर्धन तथा भट्टनारायण।

कान्यकुब्जाधीश्वर महाराज हर्षवर्धन के नाम से तीन रूपक प्राप्त होते हैं, इनमें एक नाटक है, दो नाटिकायें। कुछ लोगों ने इन्हें हर्षवर्धन की कृतियाँ न मानकर हर्ष के किसी दरबारी कवि की रचना माना है, पर प्रमाणाभाव में इन्हें हर्षवर्धन की की ही कृतियाँ मान लेने के सिवाय कोई दूसरा चारा नज़र नहीं आता। हर्ष कृतियाँ प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानंद हैं। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली दोनों की कथा वत्सराज उदयन के अन्तःपुर-प्रणय से संबद्ध है तथा ये दोनों नाटिकायें मालविकाग्निमित्र की साफ़ तौर पर नकल जान पड़ती है। प्रियदर्शिका तो पूर्णतया असफल नाटिका है। संभवतः प्रियदर्शिका की असफलता ने ही कवि को उसी प्रकार की वस्तु से संबद्ध अन्य नाटिका-रत्नावली की रचना करने को उत्तेजित किया हो। रत्नावली की कथा-वस्तु अधिक चुस्त तथा गठी हुई है। घटना में गतिशीलता है, किंतु जब हम हर्ष की तुलना कालिदास तथा मृच्छकटिककार से करते हैं. तो वह मध्यम श्रेणी का कलाकार ही दिखाई पड़ता है। नागानंद बोधिसत्व जीमूतवाहन के अपूर्व त्याग की कहानी पर पाधृत पाँच अंकों का नाटक है। इसकी योजना देखकर ऐसा जान पड़ता है कि यह प्रियदर्शिका तथा रत्नावली के मध्य-काल की रचना है। यद्यपि यहाँ जीमूतवाहन की अपूर्व दानशीलता तथा त्याग की झाँकी दिखाना ही कवि का प्रमुख लक्ष्य है, तथापि ऐसा जान पड़ता है, कवि अपनी 'रोमानी' प्रकृति को नहीं भुला सका है। नागानंद के प्रथम तीन अंकों के प्रणय व्यापार—जीमूतवाहन तथा

मलयवती के प्रणय—को देखते हुए इसे भी नाटिका रूपकों की प्रवृत्ति से अत्यधिक प्रभावित कहना होगा। संभवतः हर्ष अपनी प्रणयाभिरुचि को नहीं छोड़ पाया है तथा प्रियदर्शिका के प्रभाव से उसने नागानंद में भी उसका समावेश कर दिया है। यदि नागानंद कहीं तीसरे अंक पर ही समाप्त हो जाता, तो यह प्रियदर्शिका रत्नावली के समान प्रणय-रूपक (लव कामेडी) होता। आगे के दो अंकों को इन तीन अंकों से जिस सूक्ष्म सूत्र से जोड़ा गया है, वह कवि की असफलता का व्यंजक है। कुल मिलाकर यह नाटक असफल कृति है, यदि इसमें विशेषता है तो वह जीमूतवाहन के त्यागशील चरित्र की झाँकी कही जा सकती है। इस प्रकार स्पष्ट है, हर्ष की सारी कीर्ति केवल एक ही कृति रत्नावली के बूते पर टिकी है। नाट्य-शास्त्र के परवर्ती ग्रंथों ने तो उसे एक आदर्श नाट्य-कृति माना है तथा धनिक एवं विश्वनाथ ने दशरूपकावलोक तथा साहित्यदर्पण में तत्तत् नाटकीय टेकनीक के उदाहरण इसी कृति से या भट्टनारायण के वेणीसंहार से उद्धृत किये हैं।

हर्ष के मूल्यांकन के विषय में विद्वानों के दो मत हैं। एक मत के अनुसार हर्ष कालिदास के ही मार्ग के पथिक हैं, तथा रत्नावली की रचना उसने सैद्धांतिक टेकनीक को ध्यान में रख कर कभी नहीं की है, यद्यपि बाद के शास्त्रकारों ने उसकी एक कृति को आदर्श नाट्य-कृति मान लिया है। काव्य-कला की दृष्टि से भी हर्ष संयोग शृंगार के कुशल चित्रकार हैं। अन्य मत के अनुसार हर्ष की कृतियाँ मानव-जीवन के रस से सर्वथा अछूती है। हर्ष ने नाटक के क्षेत्र में सैद्धांतिक 'टेकनीक' को बढ़ावा दिया है। वह नाटककार बनने के योग्य नहीं था। उसने अपनी कथा-वस्तु दूसरों से ली है तथा दूसरे नाटककारों की नकल की है। कथा-वस्तु की नाटकीय योजना में वह असफल सिद्ध हुआ है तथा उसके पात्र चेतनताशून्य हैं, वे केवल कवि के हाथ की कठपुतली दिखाई देते हैं। यह निश्चित है कि हर्ष एक कुशल कवि है, किंतु नाटककार के रूप में वह पूर्णतः असफल हुआ है। प्रो० जागीरदार के शब्दों में, "**हर्ष के लिए कविता केवल विनोद का साधन मात्र थी, स्वाभाविक स्फूर्ति नहीं; साथ ही नाटक भी उसके लिए मानव-जीवन की झांकी न हो कर नाट्य-शास्त्र के अध्ययन का फल था।**" प्रो० जागीरदार यहीं नहीं रुकते, वे जन-समाज की मानसिक एवं सामाजिक क्रांति के प्रधान अस्त्र नाटक को एक राजा के हाथ पड़े देख कर दुःखी होते हैं, और कह उठते हैं :—"**यद्यपि हर्ष ने अपनी नाट्य-कला की सफलता के केवल २५ प्रतिशत श्रेय का भागी अपने आपको घोषित किया है, तथापि साहित्य के लिए वह एक कुसमय था जब साहित्य के प्रमुख जनवादी अंगों में से एक (नाटक) एक राजा के हाथों जा पड़ा। न्याय और व्यवस्था का नियम साहित्य के क्षेत्र में भी लागू हो गया। कौन जानता है कि हर्ष ने बुद्धिवादी जनतांत्रिकों तथा**

निरंकुश कलाकारों को निर्वासित करते हुए कुछ रूढ़िवादी पण्डितों को स्वयं उसी के नाटकों के सम्बन्ध में इन नये सिद्धान्तों (नियमों) का विधान बनाने को प्रोत्साहित किया हो और इस तरह उस काल की म्रियमाण संस्कृत भाषा में रचना कर उन पर अपनी राजकीय सम्मति दी हो।"

नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर लिखा गया अन्य नाटक भट्ट-नारायण का वेणीसंहार है, जो हर्ष के कुछ ही दिनों के बाद की रचना है। भट्ट-नारायण आदिसूर आदित्यसेन (राज्यकाल ६७१ ई० तक) के समय में विद्यमान थे। वेणीसंहार महाभारत की कथा पर लिखा गया ६ अंकों का नाटक है। इसका अंगी रस वीर है। वेणीसंहार रत्नावली की भाँति नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के निदर्शन के लिए प्रसिद्ध है तथा धनिक और विश्वनाथ ने इससे भी कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इतना होने पर भी वेणीसंहार नाटकीय दृष्टि से एक असफल कृति है। वेणीसंहार की कथा-वस्तु गठी हुई नहीं हैं, इसमें व्यापारान्विति का अभाव है, यद्यपि नाटक में अत्यधिक व्यापार पाया जाता है। कवि व्यापार को नाटकीय ढंग से सजाने में असफल हुआ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उसने समस्त महाभारत-युद्ध को नाटक में वर्णित करने की चेष्टा की है; यह प्रयत्न नाटक की अन्विति में बाधक हुआ है। वैसे वेणीसंहार में कुछ छटपुट दृश्य ऐसे हैं, जिनमें प्रभावोत्पादकता है, किन्तु कुल मिला कर समग्र नाटक की प्रभावात्मकता में वे योग नहीं देते। इतना होने पर भी वेणीसंहार में दो-तीन गुण हैं। पहला गुण उसका चरित्र-चित्रण है। यद्यपि वेणीसंहार के पात्र 'व्यक्ति' नहीं हैं, फिर भी परवर्ती नाटकों की तरह वे चेतनाशून्य न होकर सजीवता से समवेत हैं। कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम तथा दुर्योधन के चरित्रों को कवि की तूलिका ने सुन्दर चित्रित किया है। दूसरा गुण, इसके संवाद हैं। तृतीय अंक का कर्ण तथा अश्वत्थामा का संवाद अपना विशेष महत्व रखता है। भट्ट-नारायण ने इस संवाद के द्वारा वाक्-युद्ध की जो परम्परा दी है, वह भवभूति के महावीर-चरित, मुरारि के अनर्घराघव तथा जयदेव के प्रसन्नराघव तक चली आई है, और यहीं से उसे तुलसी ने परशुराम-लक्ष्मण संवाद के रूप में तथा केशव ने रावण-बाणासुर संवाद के रूप में अपनाया है। काव्य की दृष्टि से भी भट्टनारायण का नाटक विशेष प्रसिद्ध है, पर कवि के रूप में भट्टनारायण गौडीय मार्ग के ही पथिक हैं, तथा कृत्रिम एवं अलंकृत शैली के शौकीन हैं। इतना सब होते हुए भी संस्कृत नाटकों का इतिहासकार भट्टनारायण की संस्तुति करते समय सतर्कता ही बरतेगा, क्योंकि नाटक के रूप में उसकी कृति कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त या भवभूति के नाटकों के समकक्ष नहीं रक्खी जा सकती, और यहाँ तक कि पुराने आलोचकों ने भी भट्टनारायण को एक दोष के लिए कोसा था कि उन्होंने व्यर्थ ही वीर रस के नाटक

में (द्वितीय अंक में) भानुमती तथा दुर्योधन के प्रेमालाप का चित्रण किया था, जो सर्वथा अस्वाभाविक तथा अनुपयुक्त है। भट्टनारायण पर निर्णय देते समय आलोचक डॉ० दे के स्वर में यही कहेगा:—**"यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भट्ट-नारायण की कृति निम्न कोटि का नाटक है तथापि उसके नाटक में सुन्दर कविता विद्यमान है किन्तु कविता में भी, नाटक की ही तरह, भट्टनारायण की सशक्त कृति को विकृत बनाने वाला तत्त्व यह है कि उसकी शैली अत्यधिक कृत्रिम तथा अलंकृत है, और बुरी कदर अलंकृत होना उदात्त-काव्य या नाटक से मेल नहीं खाता।"**

उक्त सैद्धांतिक नाटकों की प्रतिक्रिया हमें विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में मिलती है, जो सम्भवतः भट्टनारायण का ही समसामयिक था। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस संस्कृत के उन गिने-चुने नाटकों में है, जो काव्य के लिए न लिखे जा कर नाटकीय विनियोग के लिए लिखे गये हैं। इतना ही नहीं, विशाखदत्त पहला नाटक-कार है, जिसने सैद्धांतिक रूढ़ियों को झकझोरा। कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण तथा काव्य-शैली सभी में वह मौलिकता का परिचय देता है। विशाखदत्त के नाटक की कथा चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य से सम्बद्ध है। चाणक्य नन्दवंश का उच्छेद कर चन्द्र-गुप्त को मूर्धाभिषिक्त करता है, किंतु उसका कार्य तो पूर्ण तब होगा, जब वह नन्द के स्वामि-भक्त अमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का शुभचिंतक अमात्य बना सके। इसी कार्य के लिए वह चालें चलता है। राक्षस उसकी चालों से सतर्क रहता है, पर आखिर चाणक्य की 'गुणवती' नीति-रज्जु राक्षस-रूपी मस्त वन्य हाथी को बाँध ही लेती है। इस प्रकार मुद्राराक्षस के सात अंकों में मुख्य रूप से चाणक्य तथा राक्षस का नीति-युद्ध है, और इस नाटक का अंगी रस वीर होते हुए भी न यहाँ एक भी रक्त की बूँद गिरी है, न तलवारों की झनझनाहट ही सुनाई देती है। मुद्राराक्षस की कथा-वस्तु राजनीति के दाव-पेंच से सम्बद्ध होने के कारण अत्यधिक गम्भीर है। उसमें कालिदास या शूद्रक के नाटकों का रोमानी वातावरण नहीं, न हर्ष की नाटिकाओं की विलासवत्ता है, न भट्टनारायण के नाटक की भयानक दृश्यों की योजना ही। चाहे यहाँ भवभूति के नाटकों की गीतिमत्ता भी न हो, फिर भी मुद्रा-राक्षस में अपनी निजी विशेषता विद्यमान है, जो अन्य किसी संस्कृत नाटक में नहीं पाई जाती। **"सम्भवतः सहृदय भावुक ऐसे नाटक की प्रभावात्मकता के विषय में शंका कर सकता है, जिसमें न प्रेम-व्यापार की मधुरिमा है (मुद्राराक्षस में स्त्री-पात्रों का अभाव है, केवल एक नगण्य पात्र चन्दनदास की पत्नी मंच पर आती है), न संगीत की तान, न नृत्य का लास्यमय पदविक्षेप, न सीन-सिनेरी से रमणीय प्रकृति-परिवेश ही; किन्तु इसमें कोई शक नहीं कि नाटक की वस्तु-योजना इतनी चुस्त और गठी हुई है कि व्यापार की गत्यात्मकता कहीं क्षुण्ण नहीं होती, और पात्रों का प्रवेश उस व्यापार**

को गति देने के लिए कराया जाता है।" यही कारण है, मुद्राराक्षस के लिए विशिष्ट कोटि के सामाजिक (दर्शक) की आवश्यकता है। साथ ही मुद्राराक्षस की रसानुभूति भी इस दृष्टि से अन्य नाटकों की रसानुभूनि से भिन्न कोटि की है। जैसा कि मुद्राराक्षस की प्रभावोत्पादकता के विषय में हमने अन्यत्र लिखा है, **"मुद्राराक्षस की लड़ाई चाणक्य और राक्षस की लड़ाई नहीं, उनकी मंत्रशक्तियों की लड़ाई है, और नाटक का सारा कौतूहल दोनों की चाल और अपने मोहरे को बचाकर दूसरी चाल चलने तथा प्रत्येक पक्ष के द्वारा अपर पक्ष को शै देने के प्रयत्न में है, दर्शक पास में बैठा शतरंज के इन दो खिलाड़ियों की चालें देखकर अभिभूत होता रहता है।"**

नाटक के नायक को चुनने तथा उसके चरित्र में गहरे रंग भरने में भी विशाखदत्त की तूली ने क्रांतिकारिता का परिचय दिया हैं। उसके नाटक का नायक 'धीरोदात्त' है, निस्संदेह; किन्तु क्या उसे रूढिवादी 'धीरोदात्त' मानेगा ? पहले तो यही विवाद हो सकता है कि इसका नायक कौन है, चन्द्रगुप्त या चाणक्य। परम्परावादी आलोचक चन्द्रगुप्त के पक्ष में मतदान करेगा, किंतु विशाखदत्त चन्द्रगुप्त को कभी भी नायक के रूप में नहीं देखना चाहता। मुद्राराक्षस का नायक वस्तुतः चाणक्य है। क्या रूढिवादी उसे 'धीरोदात्त' मानेगा, संभवतः चाणक्य का ब्राह्मणत्व इसमें बाधक सिद्ध हो। कुछ भी हो, कलाकार ने अपनी समस्त कलावित्ता का रंग चाणक्य तथा प्रतिनायक राक्षस के चित्रांकन में ही उँडेल दिया है। चाणक्य निःस्वार्थ, दृढप्रतिज्ञ, कूटनीति-विशारद एवं महान् राजनीतिज्ञ है। उसकी सबसे बड़ी जीत तो यह है कि मित्र एवं शत्रु सभी उसकी नीति की प्रशंसा करते हैं। भागुरायण को तो चाणक्य की नीति नियति की तरह चित्र-विचित्र रूप वाली दिखाई पड़ती है। बाहर से चाणक्य का चरित्र कठोर प्रतीत होता है, पर उसके अन्तस् के नवनीतत्व की झाँकी भी कलाकार ने एक आध स्थान पर दिखा कर उसे लोकोत्तर चरित्र बना दिया है। **"चाणक्य वस्तुतः पत्थर से भी ज्यादा सख्त तथा मोम से भी ज्यादा मुलायम है।"** प्रतिनायक राक्षस का चरित्र जिस प्रोज्ज्वल रूप में सामने आता है, ऐसा कम प्रतिनायको में मिलेगा। राक्षस में मानवोचित उदात्तता इतनी कूट-कूट कर भरी है कि यही उसकी पराजय का कारण बनती है। राक्षस चाणक्य की तरह दृढ़ बुद्धिवादी न होकर भावुक है, वह अपने हृदय को पूर्णतः वश में नहीं कर सका है, फलतः प्रत्येक व्यक्ति काविश्वास कर बैठता है। यद्यपि नाटक के निर्वहण में राक्षस की हार होती है, पर उसकी पराजय भी इतनी भव्य एवं उदात्त है कि सामाजिक उसके आगे श्रद्धानत हो जाता है और यह तथ्य चाणक्य पर उसकी नैतिक विजय सिद्ध करता है। राक्षस हार कर भी जीतता है, और चाणक्य जीत कर भी हार जाता है। काव्य-शैली की दृष्टि से भी विशाखदत्त को मध्यम श्रेणी का कवि कदापि नहीं कहा जा सकता।

विशाखदत्त के बाद हम संस्कृत साहित्य के एक और महान् नाटककार की कृतियों से अवगत होते हैं। जिस प्रकार विशाखदत्त के नाटक को पूर्ववर्ती सैद्धान्तिक नाटकों की प्रतिक्रिया माना जा सकता है, उसी प्रकार भवभूति में उनकी प्रतिक्रिया अन्य रूप में उद्भिन्न दिखाई पड़ती है। भवभूति के तीन नाटक हमें उपलब्ध हैं :—मालतीमाधव, महावीरचरित एवं उत्तररामचरित। मालतीमाधव दस अंकों का प्रकरण है, जिसमें कवि ने मालती तथा माधव की कल्पित प्रेमकथा को निबद्ध किया है। यह अवश्य है कि कवि को इसकी प्रेरणा बृहत्कथा की किसी प्रेमकथा से मिलती होगी, क्योंकि वैसी कई कथानक-रूढियों का प्रयोग इसमें पाया जाता है। भवभूति की यह प्रथम कृति विशेष सफल नहीं कही जा सकती। इस प्रकरण में व्यापारान्विति का अभाव है, तथा वस्तु-संविधान की रूढ़ पुनरुक्ति भी पाई जाती है; जैसे एक स्थान पर मकरंद मालती का वेश धारण करता है, अन्यत्र माधव लवंगिका का; इसी तरह माधव मालती को अघोरंघट के पंजे से छुड़ाता है, मकरन्द मदनिका को शेर से बचाता है। वैसे 'मालतीमाधव' में कतिपय उत्तेजक एवं प्रभावोत्पादक घटनाओं का संकलन पाया जाता है। काव्य की दृष्टि से यह कवि की प्रथम कृति होते हुए भी उत्कृष्ट कृति कही जा सकती है।

मालतीमाधव के कथावस्तु-शैथिल्य को कवि ने महावीरचरित में हटाने की चेष्टा की है। यह रामायण की कथा पर निबद्ध सात अंकों का नाटक है। वैसे रामायण की कथा को लेकर संस्कृत में दर्जनों नाटक लिखे गये हैं, पर भवभूति का महावीर-चरित उन सब में उत्कृष्ट है, (यहाँ हम राम के जीवन के उत्तरार्ध का समावेश नहीं कर रहे हैं)। भवभूति ने भट्टनारायण की तरह महाकाव्य की कथा को ज्यों का त्यों न लेकर उसमें से कुछ घटनाओं को चुन कर इस प्रकार से सजाया है कि एक ओर वह रावणवध तथा राज्याभिषेक तक के राम-जीवन की पूरी कथा भी हो जाय, दूसरी ओर नाटकीयता का भंग भी न हो। इसके लिए भवभूति ने कथा में कुछ आवश्यक परिवर्तन भी किये हैं, जिन्हें ज्यों का त्यों पीछे के कवि-नाटककार—मुरारि, राजशेखर व जयदेव—अपनाते रहे हैं। इतना होते हुए भी नाटक की कथा-वस्तु विशेष प्रभावोत्पादक नहीं बन पाती **"नाटकीय संघर्ष की मूल भित्ति दुर्बल दिखाई पड़ती है। माल्यवान् की कूटनीति की असफलता का कारण राम की शक्तिमत्ता नहीं जान पड़ती, अपितु भवितव्यता ही दिखाई गई है।"** परवर्ती रामायण-नाटककारों की भाँति भवभूति के राम विष्णु के अवतार नहीं हैं अपितु मानवी रूप में ही हमारे सामने आते हैं। महावीरचरित के राम मानव हैं, वैसे शक्ति, कुलीनता तथा शौर्य की दृष्टि से कवि ने उन्हें एक आदर्श नायक के रूप में अवश्य चित्रित किया है। भवभूति के चरित्र इसी पृथ्वी पर चलते-फिरते जान पड़ते हैं, और उत्तररामचरित के रूप में

तो भवभूति ने जो मानवोचित चित्र हमारे समक्ष उपस्थित किया है, वह संस्कृत साहित्य की अपूर्व निधि है।

भवभूति का तीसरा नाटक, जिसके कारण उन्हें मज़े से कालिदास के साथ बिठाने का साहस किया जा सकता है, उत्तररामचरित है। यह कृति कवि के जीवन के प्रौढ अनुभवों की देन हैं। उत्तररामचरित की कथावस्तु नाटकीय 'टेकनीक' तथा चरित्रचित्रण की दृष्टि से अत्यधिक प्रौढ़ है। कार्य के रूप में भी यह निःसन्देह प्रथम कोटि की रचना है। वैसे उत्तररामचरित में उक्त गुण होते हुए भी व्यापार की कमी है। इसका ख़ास कारण भवभूति की अत्यधिक भावुकता है। यदि उत्तररामचरित को 'गीति-नाट्य' की कसौटी से परखा जाय, तो इसका यह दोष नहीं खटकेगा। उत्तर-रामचरित के सात अंकों में राम के उत्तर जीवन की कथा निबद्ध है। यह कथा सीता-बनवास से सम्बद्ध है। कवि ने एक करुण कथा को चुनकर उसे अपनी भावुकता से और अधिक करुण बना दिया है। उत्तररामचरित में भवभूति ने दाम्पत्य-प्रणय के उस महनीय पवित्र चित्र की झाँकी दिखाई है, जिसकी अन्य सभी संस्कृत कवियों और नाटककारों ने उपेक्षा की थी। भवभूति के राम और सीता की कहानी वस्तुतः राम और सीता की कहानी न होकर सामाजिक रूढियों व पुरुष के द्वारा नारी पर किये गये अत्याचार की तथा नारी के उत्कृष्ट त्याग की कहानी है। उत्तर-रामचरित में कवि ने राम और सीता के चरित्रों को सुचारुरूप से अंकित किया है। सीता का चरित्र आत्मा की पवित्रता, दृढ़ता और सहनशीलता में बेजोड़ है, तो राम का चरित्र कर्तव्यनिष्ठा के आदर्श वातावरण से सम्पन्न दिखाई देते हुए भी मानव-सुलभ भावात्मक दुर्बलताओं से समवेत है। उत्तररामचरित के अन्य पात्रों में लव, जनक तथा कौशल्या के चरित्र मार्मिक बन पड़े हैं। उत्तररामचरित के काव्यत्व के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक होगा। भवभूति कोमल तथा गम्भीर दोनों तरह के भावों के सफल चित्रकार हैं। दाम्पत्य-प्रणय के वियोग वाले चित्र उत्तरराम-चरित में अत्यधिक मार्मिक बन पड़े हैं, जो भवभूति के ही शब्दों में 'पत्थर को भी रुला देते हैं वज्र के हृदय के भी टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं' (अपिग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्)। भवभूति की सबमें बड़ी विशेषताओं में एक उनका प्रकृति-चित्रण भी है। भवभूति संस्कृत के अन्तिम कवि हैं, जिन्हें प्रकृति से—मानव-प्रकृति ही नहीं, जड़ प्रकृति से भी विशेष अनुराग था। उत्तर-रामचरित का द्वितीय अंक का जनस्थान-वर्णन इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियों में अन्यतम है, जहाँ एक साथ प्रकृति के कोमल तथा भीषण स्वरूप को फ़िल्म पर उतारा गया है। "भवभूति जहाँ एक ओर कमलवनों को कम्पित करने वाले मल्लिकाक्ष हंसों या पादपशाखाओं पर झूमते शकुन्तों की कोमल भंगिमा का अवलोकन करते हैं, वहाँ प्रचंड ग्रीष्म में अजगर

के पसीनों को पीते प्यासे गिरगिटों को भी देखने में आनन्द लेते हैं । वे एक साथ दण्डकारण्य के 'स्निग्ध श्याम' तथा 'भीषणाभोगरुक्ष' सौंदर्य को वाणी देने में समर्थ हैं।" पद-योजना की दृष्टि से भवभूति जैसा कुशल संगीतज्ञ संस्कृत-साहित्य में ऐसा कोई नहीं, जो पंचम की कोमलता तथा धैवत की गम्भीर धीरता का एक-सा निर्वाह कर सके। कालिदास केवल पंचम के गायक हैं, तो माघ केवल धैवत के, पर भवभूति कालिदास के मार्ग पर चल कर वैदर्भी के अपूर्व निदर्शन का परिचय देते हैं, वहाँ गौडी के ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर उसी तेज़ी से चलते दिखाई पड़ते हैं। भवभूति की कविता का नाद-सौंदर्य भी इस काम में हाथ बँटाता है । "उनकी पदयोजना स्वतः प्रकृति के वर्ण्य विषय की ध्वनि को उपस्थित कर देती है, चाहे वह कलकलनिनादिनी निर्झरिणियों की ध्वनि हो, या श्मशान के पेड़ पर टँगे शवों के सिरों की माला के सरन्ध्र भागों में गूँजते और श्मशान की पताका को हिलाकर उसकी घंटियों को बार-बार बजाते वायु की भयंकरता हो।" भवभूति जैसी तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति कालिदास और बाण को छोड़कर शायद किसी संस्कृत कवि में नहीं दिखाई पड़ेगी। भवभूति के व्यक्तित्व में हमें संस्कृत नाटक-साहित्य का अन्तिम महान् कलाकार दिखाई देता है, जिसके बाद के आने वाले सभी विख्यात (कुख्यात ?) नाटककार उसकी जूठन खाकर ही सन्तुष्ट रहे, वे भवभूति से आगे बढ़ना तो दूर रहा, पीछे हटते रहे । भवभूति की प्रतिभा और पांडित्य, भावकता और अनुभवदक्षता, रसप्रकरणता और कल्पना-तति में उन्होंने केवल पांडित्य को ही अपना लक्ष्य बनाया और अपने नाटकों को व्याकरण-ज्ञान, वाग्वैदग्ध्य और कृत्रिम अलंकार के भार से इतना लाद दिया कि उसका दम ही टूट गया।

भवभूति के साथ ही संस्कृत नाटकों का ज्वलन्त युग समाप्त हो जाता है । वैसे भवभूति के बाद में संस्कृत में जितने रूपक लिखे गये, उनकी गणना कई सौ के ऊपर होगी—अकेले रामचन्द्र (जैन साधु) ने ही लगभग सौ रूपकों की रचना की थी—किन्तु ये सब नाटक कोरे नाम भर के लिये दृश्य काव्य हैं। यद्यपि इस काल में नाटक, प्रकरण तथा नाटिका के अतिरिक्त, प्रहसन, भाण आदि अन्य प्रकार के रूपक भी लिखे गए, पर वे सभी रूढ़िबद्ध होने के कारण उदात्त कला के स्तर तक नहीं उठ पाते । पिछले खेवे के नाटकों के रचयिता मूलतः कवि रहे हैं, वे भी मध्यम श्रेणी के कलावादी कवि; नाटक के रंगमंचीय विनियोग का उन्हें रंचमात्र ज्ञान नहीं है । साथ ही कथा-वस्तु के चयन और गत्यात्मक निर्वाह, चरित्रों की सजीव मूर्ति उपस्थित करने की क्षमता आदि की दृष्टि से भी वे असफल हुए हैं। भवभूति के साक्षात् उत्तराधिकारी मुरारि (८५० ई०) में ये ही दुर्गुण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । अनर्घराघव पुराने पंडितों को कितना ही प्रिय प्रतीत होता हो, दो कौडी का नाटक है । कृत्रिम

कलात्मकता की दृष्टि से चाहे इसे उच्च कोटि का काव्य मान लिया जाए । मुरारि' उन्हीं के शब्दों में, (नाटक नहीं लिखना चाहते थे किन्तु) 'वाचोयुक्ति' का प्रदर्शन करना चाहते थे। ठीक यही दशा राजशेखर (९५० ई०) के बालरामायण तथा जयदेव (१२५० ई०) के प्रसन्नराघव की है। इन तीनों नाटकों के पात्र भी कठपुतलियाँ भर हैं। कालिदास से लेकर भवभूति तक के नाटकों में (जिनमें हर्ष व भट्टनारायण अपवाद हैं) मानव-जीवन की स्पन्दनशील झाँकी दिखाई देती है । उनके नाटक मानव-प्रकृति के दर्पण हैं, उनके चरित्र इसी ज़मीन पर चलते-फिरते सचेतन प्राणी हैं, बाद के किसी नाटक ने इस गुण को नहीं अपनाया है । इन्हीं दिनों में संस्कृत में अन्यापदेशी नाटकों (एलेगरिकल ड्रामा) की परम्परा भी चल पड़ी है । श्रीकृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' इस मार्ग का अग्रदूत है, जिसमें नाटक के बहाने अद्वैत वेदान्त के मत की स्थापना की गई है। इसी ढंग पर कवि कर्णपुर का 'चेतनाचन्द्रोदय' लिखा गया था। नाटक के लिए सबसे बड़ा दुर्भाग्य का दिन तो वह था जब आनंदराय मखि ने वैद्यक के सिद्धान्तों को लेकर भी एक आयुर्वेदीय अन्यापदेशी नाटक की रचना की। 'जीवानंद' में ज्वर, विसूचिका जैसे रोग भी मानवी-रूप में मंच पर प्रविष्ट होते बताये गये हैं। इस काल में दो-तीन प्रकरण अवश्य लिखे गये, पर वे भी असफल कृतियाँ हैः उद्दण्डी का 'मल्लिकामारुत' तो भवभूति के 'मालतीमाधव' की हूबहू नकल है । इस काल में प्रहसनों तथा भाणों में हास्य तथा व्यंग्य की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया । इन कृतियों में शंखधर का 'लटकमेलक' प्रहसन, वामन भट्ट बाण तथा युवराज रविवर्मा के भाण प्रमुख हैं। पर प्रहसनों का हास्य छिछले ढंग का रहा, उसमें शिष्ट हास्य का वातावरण नहीं बन पाया, और भाण श्रव्य काव्य के स्तर से अधिक ऊपर न उठ पाये । वैसे संस्कृत में नाटक बीसवीं सदी तक लिखे जाते रहे हैं। उदाहरण के लिए भट्टाचार्य जी के 'अमर मंगल' का नाम लिया जा सकता है। कुछ अनुवाद भी संस्कृत में हुए है, जैसे शेक्सपियर के 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' का अनुवाद भी संस्कृत 'वासंतिकास्वप्न' : पर ये सब गड़े मुर्दे उखाड़ना ही होगा।

संस्कृत नाटकों की इसी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं (प्राकृत तथा अपभ्रंश) के साहित्य में यह परंपरा विकसित न हो सकी। वैसे प्राकृत में एक-दो सट्टक कृतियाँ मिलती हैं, जिनमें राजशेखर की 'कर्पूर-मंजरी' विशेष प्रसिद्ध है, तथापि इन्हें अपवाद ही मानना होगा । अपभ्रंश में तो एक भी साहित्यिक नाटक नहीं पाया जाता। ठीक यही हाल देश्य भाषाओं के साहित्य का रहा है। मैं जनता के लोकमंच की बात नहीं करता, हाँ जनता का रंगमंच अवश्य मध्ययुग में भी अक्षुण्ण रहा होगा, और वही आगे जाकर पूरब की 'कजरी' 'भड़ैती' 'नौटंकी', 'स्वांग', राजस्थान के 'ख्यालों' और गुजरात की 'भवायी' के रूप में विक-

सित हुआ है। पर संस्कृत के साहित्यिक नाटकों से इनका संबंध जोड़ना हठधर्मिता और दुराग्रह ही कहा जायगा : संस्कृत के नाटकों की चेतना मध्यकाल ही में विलुप्त हो गई थी। इस साहित्यिक मृत्यु के कई कारण थे।

(१) संस्कृत नाटकों की रचना सामंत-वर्ग तथा पंडित-मण्डली को ध्यान में रख कर की गई थी। प्राकृत काल में फिर भी ये नाटक कुछ लोकप्रिय इसलिये रहे होंगे कि साधारण जनता भी थोड़ी-बहुत संस्कृत समझ लेती होगी (चाहे वह बोल न पाती हो) और साथ ही उनमें उनकी अपनी भाषा प्राकृत का भी प्रचुर समावेश रहता था। अपभ्रंश काल में आकर जन-भाषा में अधिक भाषा-शास्त्रीय परिवर्तन होने के कारण जनता के लिए संस्कृत तथा प्राकृत दोनों दुरूह बन गईं।

(२) कालिदासोत्तर काल के कवियों ने—शूद्रक तथा विशाखदत्त को छोड़-कर—नाटक में श्रव्य-काव्य की प्रचुर कलातमकता भरना शुरू किया।

(३) पूर्ववर्ती काल में संस्कृत नाटकों का रंगमंच से कोई संबंध नहीं रहा, नाटक का रंगमंच केवल रचयिता की बुद्धि तथा पाठक (दर्शक नहीं) की कल्पना-शक्ति में ही सीमित हो गया।

(४) इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक तथा राजनीतिक कारण भी थे। बौद्धों व जैनों ने नाटक-साहित्य की उपेक्षा की; इसका कारण उनकी धार्मिक प्रवृत्ति थी, मध्यकालीन भारत की राजनीतिक स्थिति बड़ी डाँवाडोल रही तथा इस्लामी साम्राज्य की स्थापना ने भी इसके ह्रास में योग दिया।

इन्हीं कारणों से जब हम आधुनिक भारतीय भाषाओं के नाटक-साहित्य का अनुशीलन करते हैं, तो उन्हें संस्कृत नाटकों की परम्परा का अंग नहीं मान सकते : हिन्दी साहित्य के नाटकों को भी (कतिपय संस्कृत-नाटकों के अनुवादों या पुराने गतानुगतिक नाटकों को अपवाद मान लें) संस्कृत-नाटकों की परंपरा का अंग नहीं माना जा सकता : जैसा कि स्पष्ट है, हिंदी के नाटक बीसवीं सदी तथा पाश्चात्य साहित्य की देन है। आजकल हर हिन्दी की चीज़ को अपभ्रंश में ढूँढने का फ़ैशन-सा हो चला है, और एक विद्वान् ने तो 'संदेशरासक' को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक मान लिया है। पर यह सब से बड़ी साहित्यिक भ्रांति है, जिसमें और नये लेखक बहते दिखाई पड़े हैं। संदेशरासक हिन्दी का प्रथम नाटक होना तो दूर रहा, नाटक ही नहीं है, वह शुद्ध श्रव्य-काव्य है। मध्ययुग के हिन्दी के 'हनुमन्नाटक' (हिन्दी अनुवाद) आनंदरघुनन्दन नाटक आदि तथा आधुनिक काल के 'शाकुन्तल' (राजा लक्ष्मणसिंह कृत) तथा हरिश्चन्द्र के कतिपय अनूदित संस्कृत-नाटक भी हिन्दी नाटकों की निजी

प्रकृति के परिचायक नहीं हैं । स्वयं भारतेन्दु के ही नाटकों में संस्कृतेतर प्रभाव परिलक्षित होता है । बाद में तो प्रसाद के नाटकों में पाश्चात्य नाटकों तथा बंगाली नाटकों (जो स्वयं पाश्चात्य नाटकों से प्रभावित हैं) का पर्याप्त प्रभाव है । ठीक यही बात परवर्ती हिन्दी नाटक-साहित्य के विषय में कही जा सकती है, जिस पर इब्सन, शॉ तथा गाल्सवर्दी के यथार्थवादी तथा बुद्धिवादी नाटकों का प्रभाव है । इतना होने पर भी संस्कृत-नाटक हिन्दी-साहित्य के सदा प्रेरक बने रहेंगे, वे इस बात की चेतावनी भी देते रहेंगे कि नाटककार को सदा रंगमंच का, दृश्य काव्यत्व का, सामाजिक का, ध्यान रखना है, कोरी कलात्मकता और श्रव्य-काव्यत्व का अधिक पुट उसकी कृति को विकृति कर देगा, ऐसा करने पर वह अपने हाथों अपनी ही कला का गला घोंट देगा ।

संस्कृत के प्रमुख नाटककार

—डॉ० सूर्यकान्त

प्रस्तुत विषय पर विचार करने से पहले इस बात का संकेत कर देना उचित होगा कि नाटक किसे कहते हैं और संस्कृत में नाटक का आविर्भाव कब हुआ। निश्चय ही नाटक शब्द का आधार 'नट' शब्द है और 'नट' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'नाचना' है। 'नृत्' धात्वंतर्गत 'ऋ' के कारण 'त्' के स्थान में मूर्धन्य 'ट्' हो गया है, जैसा कि संस्कृत के भट, कट, पट, जठर तथा आढ्य आदि शब्दों में देखा जाता है।

और ज्यों ही—हम 'नट' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत्' धातु से मान लेते हैं त्यों ही नाटक का उद्भव हमारे सामने साकार हो जाता है। भूखंड की किसी भी आदिम जाति को ले लीजिये, सभी के जीवन में नृत्य एवं गीति की मात्रा पर्याप्त दीख पड़ेगी—क्योंकि प्रसाद एवं अवसाद, संयोग एवं वियोग सभी के जीवन में आते रहते हैं और इनका प्ररोचन और प्रतीकार नृत्य एवं गीति के द्वारा किया जाता है।

हम देखते हैं कि सूर्य भगवान प्रातःकाल के समय आकाश में उभरते और धरती-अंबर को तपा-खिलाकर शाम के समय पश्चिम में अपने अस्त (घर) की ओर सरक जाते हैं। फिर चाँद और तारे खिलते हैं। ये भी कुछ याम आँख-मिचौनी खेलकर प्रातः काल के क्षण में तिरोहित हो जाते हैं। नक्षत्रों के उतार-चढ़ाव पर ऋतुएं निर्भर हैं और ऋतुओं के मनकों से ही संवत्सर की माला सजी है। आदि मानव को नक्षत्रों की इस नियतगति के पीछे किसी छिपे देवता का हाथ दीख पड़ता था—इसी रहस्यमय देव के विविध रूपों की अर्चना में उसके धर्म एवं कर्मकांड का उद्भव हुआ है।

हम लोग हर घड़ी रोते बच्चों को उनके संमुख भाँति-भाँति का नाच करके रिझाया करते हैं। नृत्य में एक प्रकार का अजीब कौतुक है जिस पर छोटे-बड़े सभी समान रूप से रीझ जाते हैं। जब नृत्य को देख आदि मानव का सरदार वशंवद बन सकता था तब उसे देख उसका देवता क्यों न रीझ जाता होगा ? कर्मकांड में देवताओं के संमुख नाचने-गाने की प्रथा का मूल इसी बात में संनिहित है।

संसार की अन्य आदिम जातियों की न्याईं आदिम आर्य भी नृत्य-गीति में पनपते आये थे और वे भी अपने देवी-देवताओं को इन्हीं के द्वारा रिझाया करते थे। वैदिक सूत्रों के मध्य आने वाले अवकाशों में नृत्य-गीति द्वारा मनोरंजन की प्रथा चलती रही होगा ऐसी कल्पना युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

आर्यों का परिष्कृत कर्मकांड वैदिक कर्मकांड के रूप में अमित काल के लिये अडिग बन गया; वह जैसा आदि युग में था वैसा ही शाखा-भेद के अनुसार आज भी हमारे देश में प्रवर्तमान है। उसमें किंचित-सी हेराफेरी से भी अनर्थ हो जाने की आशंका बनी रहती है। किन्तु परिष्कृत कर्मकांड के साथ-साथ आर्यों की दैनिक चर्या भी चलती रही होगी और उस दैनिक जीवन में संताप एवं अवसाद के साथ प्रसाद और प्रमोद का होना भी अनिवार्य रहा होगा। और इनके प्ररोचन एवं प्रतीकार के लिये आर्य लोग भी नृत्य और गीति का सहारा लेते रहे होंगे। बस सामान्य जनता के इस सामान्य नृत्य-गान में ही हमारे नाटक का आदि मूल छिपा हुआ है।

नाट्य-शास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि ने अपने निम्नलिखित श्लोक में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है:—

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्॥

अर्थात् वैदिक क्रिया-कलाप को जानने-सुनने का अधिकार शूद्र को नहीं है। इसलिए ऐसा पाँचवाँ वेद बनाइये जिसे देखने-सुनने का सभी वर्णों को समान अधिकार हो। उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकांड के मध्य आने वाले अवकाश में मनोरंजनार्थ किये जाने वाले नृत्य-गान में अभिनय के बीज संनिहित होने पर भी साक्षात् उससे संस्कृत-नाटक का जन्म नहीं हुआ, अपितु सामान्य जनता में प्रवर्तमान नृत्य-गान से ही सामान्य जनता के लिये रचे गये नाटक का अविर्भाव हुआ है।

एक बात और—यदि वैदिक कर्मकांड का उद्देश्य एक प्रकार के अदृष्ट का सृजन करना है तो नाटक का प्रयोजन तो इस से सुतरां भिन्न है और वह है सामान्य लोक का मनोरंजन। भरत कहते हैं:—

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्॥
दुःखार्तानां समर्थानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥

मेरा बनाया नाट्य-शास्त्र उत्तम, मध्यम एवं अधम लोगों के क्रिया-चक्र पर निर्भर है। उसका प्रयोजन क्षेमकारी आदेश देना, मनोविनोद एवं प्रसाद उपजाना और दुःखियों का, समर्थों का, शोकार्तों एवं तपस्वियों का समान रूप से दिल बहलाना है।

उक्त श्लोक से निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार के उद्देश्य वाले नाटक का जन्म वैदिक क्रिया-कलाप से संवद्ध नृत्य-गान से न होकर आर्यों की आम जनता में प्रवर्तमान नृत्य-गान से हुआ है—फिर भी नाट्य को गौरवान्वित करने की दृष्टि से भरत ने उसके घटकों को चारों वेदों से संग्रह करने की बात कही है :—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

अर्थात् भरत ने नाट्य का पाठ्यांश, (अर्थात् भाषा) ऋग्वेद से ली, गीत सामवेद से लिये, अभिनय (क्रिया-कलाप) यजुर्वेद से लिया और रस अथर्ववेद (के भैषज्य) से लिया, और इस प्रकार इस पाँचवें वेद की रचना का। किन्तु यह बात युक्ति-विपरीत है—क्योंकि नाटक के चारों ही घटक मूल रूप से जनता में पहले से ही वर्तमान थे और वहीं से इनका संनिवेश वेदों में भी हुआ था—तथापि नाट्य को आदर देने की दृष्टि से भरत ने उक्त प्रकार से नाट्य-संग्रह की बात कही है।

भरत के संकेत से स्पष्ट है कि संस्कृत में रूढ़ नाटक का आविर्भाव उस युग में हुआ था जब कि आर्यों की वर्ण व्यवस्था पूरी तरह फल-फूल कर झड़ने की ओर उन्मुख हो रही थी और उसके अनुसार शूद्र को वेद-श्रवण का अधिकार नहीं रह गया था। हमारी दृष्टि में भारतीय सभ्यता के विकास में ऐसा युग उस समय आया था जब कि रूढ़ कठोरताओं को दूर करने के निमित्त इस देश में बुद्ध आदि सुधारकों का अवतरण हुआ था और साथ ही हमारी आंतरिक कमज़ोरियों से प्रेरित होकर फारस तथा यूनान के आक्रमणकारी इस देश में घुस आये थे। और यद्यपि नाटक की आदिम रूपरेखा आर्ष-काव्यों में आने वाली महापुरुषों की जीवनियों के अभिनय के रूप में आम जनता में पहले ही से चली आ रही थी तथापि उसका उपलभ्यमान विकास देश में यूनानी सामंतों के आने पर ही हुआ था, जो कि ग्रीक-बैक्ट्रियन राजाओं के दरबारों में खेले जानेवाले नाटकों से चुनकर लिये हुए घटकों को अपने में सम्मिलित करके ही परिपक्वता को प्राप्त हुआ। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में हमें नाटक के उसी परिपुष्ट रूप का वर्णन मिलता है और भास आदि नाटककारों की रचनाओं में हमें नाटक का वही परिपुष्ट रूप जगमगाता दीख पड़ता है।

संस्कृत नाटक का जन्म आम जनता के सामान्य जीवन में हुआ है न कि वैदिक क्रिया-चक्र में, यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब कि हम उसके पाठ्यांश अर्थात् भाषा-तत्त्व पर ध्यान देते हैं। स्मरण रहे कि नाटक का पाठ्यांश केवल संस्कृत ही नहीं, अपितु प्राकृत भी है और वह भी अपने विविध रूपों में, जो कि नाटक में भाग लेने वाले पात्रों के सामाजिक स्तर के अनुसार उनमें सदा के लिये बाँट दी गई हैं। निश्चय ही मागधी, शूरसेनी एवं महाराष्ट्री आदि प्राकृतों का सम्बन्ध मूल रूप से उस प्रदेश विशेष के साथ रहा होगा, जिस-जिसमें कि वे बोली जाती थीं—किन्तु नाटकों में पहुँच कर उनका यह सम्बन्ध देश-विशेष के साथ जुड़ा न रह कर पात्र-विशेष के साथ बँध गया है, यहाँ तक कि गीत के लिये तो हर देश के लिये महाराष्ट्री ही नियत कर दी गई है। प्राकृतों के प्रयोग की यह परिस्थिति ऐसे युग में उभरी होगी जब कि प्राकृत भी निरी बोलियाँ न रहकर साहित्यिक भाषाएँ बन चुकी थीं और उनके जीवन-तन्तु देश-विशेष से छूट कर श्रेणी-विशेष एवं सरणि-विशेष के साथ जुड़ चुके होंगे। प्राकृतों की यह परिस्थिति हमें ईसा की बारहवीं शती में उभरती प्रतीत होती है और तभी से हमें संस्कृत में नाटक का उत्थान भी होता दीख पड़ता है।

संस्कृत में दुःखांत नाटकों का अभाव है; और यह तथ्य हमारे देश की उस दार्शनिक दृष्टि की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार कि हमारी दृष्टि हमेशा परलोक की ओर लगी रहती है और जिसके अनुसार हमारे जीवन का चरम अवसान प्रसाद में होता है, न कि अवसाद में। किंतु इस बात का यह आशय कदापि नहीं कि संस्कृत के नाटकों में अवसाद का सुतरां अभाव है। संस्कृत के नाटकों में जगह-जगह ऐसी घटनाएँ आ खड़ी होती हैं जो रोमांचकारी हैं और जिनमें विषाद एवं अवसाद अपने सघन स्वर में साकार हुए हैं। किंतु इन सभी संतापों एवं उत्पातों का चरम परिणाम प्रसाद में किया गया है—क्योंकि जीवन "जीने" का नाम है और हमारे अशेष क्रियाकलापों का एकमात्र उद्देश्य इस 'जीने' में से मरण के अंधकार को सदा के लिये धो डालना है।

हमारे लक्षण-ग्रंथों में नाटक के दो विभाग किये गए हैं : रूपक और उप-रूपक। रूपक को नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अंक और ईहामृग-इन दस उपविभागों में और उपरूपक को नाटिका और सट्टक आदि अठारह उपविभागों में बांटा गया है। इन उपविभागों का प्रमुख आधार पात्रों की विधा एवं अंक आदि की संख्या है, जिसमें उलझना इस समय हमारे लिये अनुचित है क्योंकि नाटक की आत्मा अर्थात् 'संघर्ष' का तो सभी नाटकों में विद्यमान होना वांछ-नीय है।

आइये, अब संस्कृत के प्रमुख नाटककारों का दिग्दर्शन भी कर लीजियेः—

संस्कृत में सब से पहले नाटक अश्वघोष के हैं, जिनके खंडित हस्तलेख मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं और जिनके पुनःउद्धार एवं संपादन में प्रोफ़ेसर ल्यूडर्स ने सच-मुच नाटकीय करामात दिखाई है - किंतु ये नाटक त्रुटित हैं इसलिये इन पर विचार करना अनुपयुक्त है।

बाण और कालिदास ने कवि के रूप में भास का आदर के साथ नाम लिया है और संस्कृत के अन्य लेखकों ने भी नाटककार के रूप में उनकी प्रशंसा की है। १९११ ईसवी में म० म० गणपति शास्त्री ने संस्कृत के तेरह नाटकों का उद्धार किया था और उन सभी का लेखक उन्होंने भास को ठहराया था। नाटकीय कला की दृष्टि से ये तेरहों नाटक कालिदास से पहले के स्तर में आते हैं। इन सभी में सूत्रधार के प्रवेश के बाद नांदी-वाचन है, प्रस्तावना के स्थान में स्थापना का प्रयोग है और व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों के छींटे जगह-जगह छपे पड़े हैं। भास के एक नाटक का नाम स्वप्नवासवदत्त पहले से सुनिश्चित है। इन तेरह नाटकों में एक का नाम स्वप्नवास-वदत्त है और क्योंकि स्वप्नवासवदत्त का कर्ता भास है और यह नाटक इन तेरह नाटकों में उन्हीं के साथ मिला है, इस लिये गणपति शास्त्री के मत में ये सभी नाटक भास की रचना हैं। उनके इस मंतव्य से बहुत से विद्वान् सहमत हैं।

किंतु कुछ विद्वान् इस निष्कर्ष को नहीं मानते। उनका कहना है कि कला की निर्दिष्ट विशेषता व्यक्ति विशेष की विशेषता न होकर उस देश विशेष की विशेषता है जहाँ कि ये नाटक उपलब्ध हुए हैं। क्योंकि ये विशेषताएँ उस प्रदेश के इतर नाटकों में भी पाई जाती हैं—जैसे कि मत्तविलास प्रहसन में, जो कि भास की रचना नहीं है। अनार्ष प्रयोगों का संबंध भी परिस्थिति-विशेष, काल-विशेष एवं प्रदेश-विशेष के साथ है न कि लेखक विशेष के साथ—क्योंकि बौद्धकाल के युग-विशेष में खंडित संस्कृत का प्रयोग आम प्रचलित था। साथ ही—ऐसे उद्धरण, जो कि संस्कृत कवियों ने स्वप्न-वासवदत्त से लिये बताए जाते हैं वर्तमान स्वप्नवासवदत्त में नहीं मिलते—और यह युक्ति प्रबल है, जिसकी उपेक्षा करना अनुचित है। इन विद्वानों के मत में ये तेरहों नाटक भास की मौलिक रचनाओं के रूपान्तरण हैं जो कि संभवतः पल्लवराज नरसिंह वर्मा के द्वितीय के राजकाल में (६८०–७०० ई० प०) रंगमंच संबंधी धारणाओं एवं सुविधाओं को ध्यान में रख कर किसी नाटककार ने कर दिये होंगे। ये नाटक स्वयं भास की रचना हों या किसी अन्य कवि की, इनकी मौलिकता और सूझ उत्कृष्ट कोटि की है और हमें ये नाटक संस्कृत नाट्य-कला के कण्ठहार के रूप में सजे दीख पड़ते हैं।

इन नाटकों में दो का आधार रामायण, छह का महाभारत, एक का कृष्ण-जीवन और चार का आधार काल्पनिक कथाएँ हैं ।

रामायण प्रसूत प्रतिमा नाटक में सात अंक हैं । इसमें राजा दशरथ की मृत्यु से आरंभ करके राम के राज्याभिषेक तक की कथा का मौलिक अभिनय है । भरत ननिहाल से अयोध्या लौटते समय मृत सम्राटों की पंक्ति में अपने पिता दशरथ की प्रतिमा को देख चौंक जाते हैं—इस प्रतिमा के आधार पर ही नाटक का 'प्रतिमा' नाम पड़ा है । सीताहरण का समाचार पाकर भरत अपनी सेना श्रीराम की सहायता के लिये पठाते हैं, किंतु सेना के वहाँ पहुँचने से पहले ही रामचन्द्र शत्रु-विजय पूरी करके लौट आते हैं । राज्याभिषेक के साथ नाटक समाप्त हो जाता है ।

अभिषेक नाटक के छह अंकों में बालि-वध से लेकर रामाभिषेक तक की कथा का अभिनय है। पर बालि-वध दिखा कर भास ने भारतीय परिपाटी का उल्लंघन किया है ।

पंचरात्र का आधार महाभारत है और इस में तीन अंक हैं । दुर्योधन यज्ञ रचता है और उसमें आचार्य द्रोण को मुँहमाँगी वस्तु देने की प्रतिज्ञा करता है । द्रोण पांडवों को उनका राज्य लौटा देना माँग लेते हैं । विचार-विनिमय के बाद दुर्योधन इस शर्त पर उनकी माँग पूरी करना स्वीकार कर लेता है कि उस दिन से पाँचवीं रात तक के समय में पांडवों को खोज निकाला जाय । निदान कौरव विराट नगर पर धावा बोल देते हैं और वहाँ की गौओं को खदेड़ लेते हैं । युद्ध होता है और बृहन्नला के रूप में अर्जुन कौरवों को परास्त कर देता है । पांडवों का पता चल जाता है और दुर्योधन अपना वचन पूरा कर देता है ।

दूतवाक्य में एक अंक है और इसमें कृष्ण पांडवों के दूत बन कर दुर्योधन के दरबार में आते हैं । इस नाटक में प्राकृत का एक भी संदर्भ नहीं है और यह बात ध्यान देने योग्य है ।

मध्यम व्यायोग में भी एक ही अंक है । घटोत्कच अपनी माता की पारणा के लिये एक ब्राह्मण के मंझले पुत्र को ले जा रहा है । ब्राह्मण-पुत्र पानी की तलाश में इधर-उधर चला जाता है । घटोत्कच उसे 'मध्यम' कह कर आवाज़ देता है । इस नाम को सुनकर भीमसेन उधर आ निकलते हैं । और घटोत्कच के साथ ऊँची-नीची करते हैं । दोनों में युद्ध होता है किंतु इससे पूर्व की भीमसेन घटोत्कच को धराशायी कर दें, घटोत्कच की माता उधर आ निकलती है और दोनों का बीच-बिचाव कर देती है । भेद खुल जाने पर तीनों प्रसन्न होते हैं और घटोत्कच आगे से किसी भी ब्राह्मण को न मारने की प्रतिज्ञा करता है ।

दूत घटोत्कच में एक ही अंक है। इसमें अभिमन्यु के वध के बाद घटोत्कच आता है और अर्जुन के हाथ कौरवों के समूल विनाश की भविष्यवाणी करता है।

कर्णभार में एक ही अंक है। इसमें इंद्र वेष भरकर कर्ण का अमोघ कवच उससे माँग लेता है।

उरुभंग के एक ही अंक में भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध वर्णित है। मंच पर दुर्योधन की मृत्यु दिखाकर भास ने परिपाटी का उल्लंघन किया है।

बालचरित के पाँच अंकों में कृष्ण की बाल-लीला का अभिनय है। नाटकवर्णित कृष्ण विषयक घटनाएँ भागवत, विष्णुपुराण एवं हरिवंश आदि में नहीं मिलतीं। कृष्ण को वसुदेव का सातवाँ पुत्र बताया गया है और नाटक में राधा का नाम तक नहीं आता। कृष्ण-लीला की आत्मा शृंगाररस का नाटक में अभाव है और यह बात ध्यान देने योग्य है। इस नाटक में भास ने कृष्ण और अरिष्ट का पारस्परिक युद्ध दिखाकर मंच पर ही अरिष्ट का निधन भी दिखाया है जो कि संस्कृत-परिपाटी के प्रतिकूल है।

प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में चार अंक हैं इसमें उज्जैन का प्रद्योत राजा उदयन राजा को कैद कर लेता है क्योंकि वह उसके साथ अपनी कन्या वासवदत्ता का विवाह करना चाहता है। उदयन का मंत्री यौगन्धरायण अपने स्वामी को छुड़ाने का संकल्प करता है और अंत में अपने लक्ष्य में सफल हो जाता है। भामह ने (७०० ई० पू०) में इस नाटक के कथनक की समालोचना की है।

स्वप्नवासवदत्त में छह अंक हैं। उदयन वासवदत्ता के साथ विवाह करने के बाद उसमें इतना रम जाता है कि शत्रु उसके राज्य का बड़ा भाग उससे छीन लेते हैं। उसके मंत्री को खोया राज्य वापस लेने की युक्ति सूझ जाती है। एक दिन जब कि राजा शिकार के लिये जंगल में दूर निकल जाता है मंत्री झूठमूठ यह प्रचारित कर देता है कि मंत्री और वासवदत्ता दोनों शिविर में लगी आग में जल मरे हैं। संन्यासी का वेश धारण करके वह वासवदत्ता को मगधराज की पुत्री पद्मावती के पास ले जाता है क्योंकि पद्मावती का विवाह वह उदयन के साथ कराना चाहता है जिससे कि उसके पिता की सहायता से शत्रु का दमन कर राजा का खोया हुआ राज्य फिर से प्राप्त कर लिया जाये। वासवदत्ता पद्मावती की देख-रेख करती है। उदयन वासवदत्ता को मरा जान बेहाल हो जाता है और न चाहने पर भी पद्मावती से विवाह कर लेता है। विवाह के बाद एक दिन पद्मावती की तबीयत खराब होती है और राजा लीला भवन में रह जाता है। वासवदत्ता भी पद्मावती की सेवा के लिये वहाँ

पहुँचती है। राजा की आँख लग जाती है और सोते-सोते उसके मुँह से कातर स्वर में 'वासवदत्ता' 'वासवदत्ता' यह नाम निकल पड़ता है। राजा के मुँह से स्वप्न में अपना नाम सुनकर वासवदत्ता प्रसन्न होती है किंतु उसके जाग जाने के भय से वह वहाँ से सरक जाती है और मंत्री सब बातों का भेद कर प्रकट देता है। उदयन पद्मावती और वासवदत्ता के साथ आनन्द से रहने लगता है।

स्वप्नवासवदत्त में नाटकीय तत्त्वों का उत्कर्ष देख कर किसी ने यह कहावत प्रचलित कर दी थी :—

भास नाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य पावकोऽभून्न दाहकः ॥

अर्थात् भास के और सब नाटक तो अग्नि में भस्म हो गए, किंतु स्वप्नवास-वदत्त अपने तत्त्वों के उत्कर्ष के कारण आग से अछूता बच गया।

चारुदत्त में चार अंक हैं - चारुदत्त एक गरीब ब्राह्मण हैं। वह वसन्तसेना नामक वेश्या के साथ प्रेम करता है और वह भी उसे दिल से चाहती है। एक रात चोरों के भय से वसन्तसेना अपने आभूषण चारुदत्त के पास रख देती है। शर्विलक नाम का चोर चारुदत्त के घर से उन आभूषणों को चुरा लेता है और अगले दिन उन्हें वसन्तसेना के संमुख पेश करके उससे अपनी प्रेयसी को मुक्ति दिलाना चाहता है। इसी प्रसंग पर नाटक की समाप्ति हो जाती है।

अविमारक में छह अंक हैं। कुन्तिभोज राजा की पुत्री कुरंगी राजकुमार अवि-मारक के साथ प्रेम करती है, किंतु अविमारक शाप के कारण अपना राज खो बैठा है। वह छिपे-छिपे राजकुमारी से मिलता है। अंत में नारद मुनि भेद खोल देते हैं और दोनों का धूमधाम से विवाह हो जाता है।

भास के नाटकों की सब से बड़ी विशेषता उनके कथातत्त्व की मौलिकता है, जो सरलता की छाप के कारण शतधा आकर्षक बन कर प्रेक्षकों के संमुख उपस्थित होती है। कथा-तत्त्व को आगे चलाने की प्रक्रिया भी इन नाटकों की अत्यंत सुन्दर है, निराली है क्योंकि यह चलती न दीखने पर भी तेजी के साथ कथा को आगे बढ़ाती है। भास की शैली परिपक्व है। उनकी रचनाओं में दैवी सरलता है जो कालिदास के सिवाय और किसी भी नाटककार में नहीं मिलती। प्रतिमा-नाटक के पाँचवें अंक के तीसरे श्लोक में आता है:—

योऽस्याः करः श्राम्यति दर्पणेऽपि

स नैति खेदं कलशं वहन्त्या
कष्टं वनं स्त्रीजन सौकुमार्यं
समं लताभिः कठिनीकरोति ॥

इस पद्य में राम ने पौधों को सींचती हुई सीता के सौकुमार्य का अत्यंत ही मनोरम वर्णन किया है। श्लोक की प्रथम पंक्ति मार्मिक है: सीता का जो हाथ दर्पण में खड़ा हुआ भी थक जाता है यह वाक्य सीता के सौकुमार्य को चार चाँद लगा देता है और उसे सौंदर्य की उसी परिधि में ला बिठाता है जिसके विषय में तुलसीदास ने कहा था की "सुन्दरता कहं सुन्दर करही"

इस प्रकार की छोटी-छोटी पंक्तियाँ उन पिचकारियों का काम करती हैं जो कि देखने में तो छोटी हैं किंतु जिनका फुहारा दूर तक जाता है। और सहज ही प्रेक्षक को आमूलचूल रस में सराबोर कर देता है। सीता का सौकुमार्य वन-तापसों की दृष्टि में तो वंदनीय था ही स्वतः राक्षसराज रावण 'स्वरपदपरिहीणा हव्यधारा' कह कर उसकी वंदना करता है। इस प्रकार की सारगर्भ उक्तियाँ भास के नाटकों में भरी पड़ी हैं: इनकी सर्चलाइट में भास की मौलिकता सहस्रधा फूटी पड़ती है।

ईसा के बाद की पाँचवीं शती में कालिदास के रूप में साक्षात् नाट्य-कला धराधाम पर उतरती और उनकी रचना मालविकाग्निमित्र एवं विक्रमोर्वशीय में किशोरावस्था बिताकर उनके अमर नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रफुल्ल यौवन का रसास्वादन करती है।

मालविकाग्निमित्र में पाँच अंक हैं। मालविका, मालवा के राजा माधवसेन की बहिन है। उसका विवाह विदिशा के राजा अग्निमित्र के साथ ठहर चुका है। माधवसेन बहिन के साथ विदिशा को प्रस्थान करता है। मार्ग में उसका भतीजा यज्ञसेन उस पर आक्रमण कर देता है। माधवसेन कैद हो जाता है, किंतु उसके साथी आगे निकल जाते हैं। मार्ग में उन पर डाकू छापा मारते हैं और मालविका भी रास्ते से भटक जाती है। चलती-चलती वह विदिशा के प्रान्तरक्षक के घर पहुँचती और वहाँ से अग्निमित्र की रानी धारिणी की शरण में जा पहुँचती है। अग्निमित्र उसके साथ प्रेम करने लगता है और विदूषक के द्वारा उसके साथ मेल-जोल बढ़ाता है। किंतु उसकी छोटी रानी इरावती दोनों की प्रेमलीला में प्रतिरोधक बनती है। कुछ दिन बाद माधवसेन के दल के दो आदमी जो कि मार्ग में भटक गए थे, अग्निमित्र के दरबार में आ पहुँचते हैं और मालविका की असलियत को प्रकाशित कर देते हैं। राजा मालविका के साथ विवाह करके आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हैं।

विक्रमोर्वशीय में पाँच अंक हैं। स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी को एक राक्षस उड़ा ले जाता है। प्रतिष्ठान का राजा पुरुरवा उस राक्षस से उर्वशी को बचाता है। उर्वशी अपने रक्षक से प्रेम करने लगती है। एक दिन जब कि वह देव-सभा में नाटक खेल रही थी उसके मुँह से विष्णु की जगह 'पुरूरवा' यह नाम निकल गया। भरत ने उर्वशी की प्रेमलीला को भांप लिया और उसे शाप दिया कि "जा धरती पर, जब तक तेरा प्रेमी तुझ से उत्पन्न हुए पुत्र का मुँह नहीं देख लेगा तब तक तू उसी के साथ धरती पर रहेगी।" शाप क्या आया उर्वशी की मुराद पूरी हो गई! वह पुरूरवा के साथ जा मिली और दोनों यथेष्ठ आनन्द विहार करने लगे। गलती से उर्वशी एक दिन ऐसे आराम में जा पहुँची जहाँ जाना निषिद्ध था। वहाँ पहुँचते ही वह एक लता के रूप में बदल गई। उसके विरह में पुरुरवा कातर हो इधर-उधर भटकने लगा। निदान, एक दिन वह भी उसी बगीचे में आ पहुँचा और उसने उसी लता को छू दिया जिसके रूप में कि उर्वशी परिणत हुई थी। उसके छूते ही उर्वशी उठ बैठी। दोनों महल पहुँचे और उनका पुत्र जिसे कि उर्वशी ने धाई को दे रखा था, राजा के सामने आ गया। ज्यों ही राजा की दृष्टि पुत्र के मुँह पर पड़ी त्योंही उर्वशी अप्सरा बनकर स्वर्ग जा पहुँची। राजा उसके विरह में बन चला गया। इसी बीच स्वर्ग से नारद मुनि यह संदेश लाते हैं कि पुरुरवा के जीवन-काल में इन्द्र ने उर्वशी को उनके साथ आनन्द-विहार करने की अनुमति दे दी है। दोनों फिर मिल जाते हैं और आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हैं।

अभिज्ञान शाकुन्तल में सात अंक हैं। दुष्यन्त शिकार खेलते-खेलते वन में दूर जा निकलते हैं और अंत में कण्व के आश्रम के निकट जा पहुँचते हैं। वहाँ वे पौधों को सींचती शकुन्तला को देखते और उस पर रीझ जाते हैं। वह भी उनसे प्रेम करती है और दोनों का गांधर्व विवाह हो जाता है। कुछ दिन आश्रम में ठहर कर दुष्यन्त राजधानी को लौट आते हैं और याद के लिये शकुन्तला को अपनी अंगूठी पहना आते हैं। एक दिन आश्रम में दुर्वासा आते हैं। शकुन्तला उन्हें सामने खड़ा देख कर भी नहीं देख पाती, क्योंकि उसकी मुद्रा इस समय पतिदेव के चरणों में है। क्रोधी तपस्वी जलकर शाप देता है: "जा, जैसे तू ने मुझे देखकर भी नहीं देखा, इसी तरह तेरा पति तुझे देखकर भी नहीं पहचानेगा"। शाप क्या था, ज़हर बुझी बरछी थी। निदान शकुन्तला दुष्यन्त के मन से उतर गई। इसी बीच कण्व लौटते हैं और योग द्वारा सब बातें जान कर शकुन्तला को बड़े प्रेम के साथ दुष्यन्त के दरबार में पठाते हैं। शकुन्तला श्रद्धा से नतमस्तक हो राजा के संमुख उपस्थित होती है किंतु राजा उसे नहीं पहचानते। शकुन्तला के अनुनय-विनय करने पर वे उसे कोई प्रत्यभिज्ञान दिखाने को कहते हैं, किंतु अंगूठी तो शकुन्तला के हाथ से गिर गई है! दिखावे तो क्या दिखावे? बिचारी मन मसोस कर रह जाती है।

निदान राजा उसे पुरोहित के घर भेज देता है। किंतु शकुन्तला की माता मेनका उसे स्वर्ग उठा ले जाती है। दिन बीतते हैं और बरस चले जाते हैं। एक दिन एक मछिहारा अँगूठी हाथ में लिये दरबार में पेश किया जाता है और पूछने पर बताता है कि यह अँगूठी मुझे मछली के पेट से मिली है। राजा अँगूठी को पहचान लेता है और उसे शकुन्तला की याद सताने लगती है। कुछ दिन बाद इन्द्र उसे देवताओं की सहायता के लिये न्यौतते हैं। राजा विजयी बनकर स्वर्ग से लौटता हुआ मारीच के आश्रम में पहुँचता है और वहाँ अपने पुत्र भरत और अपनी पत्नी शकुन्तला से मिल कर प्रसन्न हो जाता है।

नाटक का आधार अँगूठी हैं उसके खोये जाने पर राजा शकुन्तला को भुला बैठता है और उसे देखकर उसे शकुन्तला की याद आ जाती है।

सरलता, ऐंद्रियता एवं भावमयता की दृष्टि से कालिदास की रचना विश्व-साहित्य में अनुपम है। उनके नाटकों में देवी-देवताओं का मानवों के समतल पर मिलाप हुआ है, जो कि मर्त्य जगत् को शाश्वत जगत् की झाँकी दिलाने के साथ-साथ यह संकेत भी देता है कि थोड़े ही प्रयत्न से मर्त्य भी अमरता की परिधि में पहुँच सकता है। देव-मानवों की इस पुण्य लीला में ऐंद्रियता कूट-कूट कर भरी है किंतु कहीं भी वह वासना-दलदल में परिणत नहीं होती और प्रेक्षक को उसके विकास की प्रत्येक स्टेज पर आत्म-ज्योति की एक अलौकिक पौ दिखाती है जो कि उसे उसकी यात्रा में अनुपम सहायता देती है। कालिदास के पात्र प्रशांत मुद्रा में पिहित रहने पर भी सतत आगे की ओर ही बढ़ते दीख पड़ते हैं और उनके धैर्य एवं प्रसाद के सम्मिश्रण में एक दैवी संतुलन का उदय होता है जो कि विश्व के किसी भी कलाकार में इस मात्रा में नहीं मिलता।

नाटक तो अभिनय के लिये औरों ने भी लिखे हैं और भाँति-भाँति के लिखे हैं किंतु कालिदास के नाटकों में देव-मानव ही नहीं, अपितु हरिण, पौधे, लता, सरित आदि सभी स्थावर-जंगम पदार्थ एक अजीब अभिनय में व्यापृत हुए दीख पड़ते हैं, जो कि सतत क्रिया-रूप होने पर भी अवसान में मंगलमय है और रसवद् रूप से प्रेक्षकों को सत् और रजस् के चरम संमिश्रण का आभास दिला देता है।

कालिदास की शकुंतला दुष्यन्त से प्रेम करती है; साथ ही कालिदास की मूक प्रकृति का पत्ता-पत्ता और चप्पा-चप्पा इन दोनों के प्रेम में अपने आप को भुला बैठता है और स्तिमित मुद्रा में पिहित हुआ प्रेक्षक को उस दैवी प्रेम की ओर अग्रसर करता है जिसमें कि धरती-अम्बर का रोम-रोम बिंधा अपने कर्तव्य-पालन में दत्तचित्त है।

कालिदास का शकुन्तला नाटक प्रेम-संवलित जीवन का आदर्श अभिनय है। इसका एक-एक पद और एक-एक वाक्य अपनी जगह पर बिंधा रखा है और कथा को आगे बढ़ाने में अनिवार्य कड़ी का काम कर रहा है। शब्दों के चुनाव में एक ऐसे पारखी का हाथ दीख पड़ता है, जिसकी दृष्टि में शब्द और अर्थ घुल-मिल कर एक हो चुके हैं और जिसकी चुकटी में अर्थ-रहित शब्द-पुष्प आने ही नहीं पाता। और फिर कालिदास के अर्थ को तो देखिए—कितना परिपूत एवं मंगलमय है यह! प्रतीत होता है कि चेतनाचेतन जगत का सारा ही मंगल इन शब्द-पुष्पों की पंखड़ियों में एकत्र कर दिया है। कालिदास के काव्य पढ़िये, पंक्तियाँ पढ़िये—रस की पिचकारियाँ छूटती दीख पड़ेंगी जिनमें प्रेक्षक का हृदयपटल रस में सराबोर हो जाता है और वह एक ऐसे काव्य-जगत् में सरक जाता है जहाँ रस ही रस का आसार है; और जो, "कुछ न होने" पर भी कवि के हाथों "सब कुछ" में परिणत हो गया है। और फिर वह "सब कुछ" कितना अनायास, कितना स्वारसिक! कुछ न करने पर भी विश्व का सारा मंगल मूर्त बन कर सामने उत्तान होता चला जाता है। कालिदास की कला सचमुच निराली है— उसकी बाजीगरी अपने जैसी आप है।

भरतखंड पर अनेक कवि आये और यहाँ के मनु-जगत् को कुछ कह कर, कुछ सुनाकर अपने जगत् में चले गए। भरतखंड के मानव ने उनकी वाणी को सुना और उन्हें साधुवाद भी दिये; और, बस, बात समाप्त हो गई। कालिदास के अवतरण पर अशेष भरतखंड चौकन्ना होकर खड़ा हो गया और प्रशान्त मुद्रा के साथ उसने उसकी शाश्वत वाणी को सुना और उसके अभिनय को देखा। उसकी वाणी में और उसके अभिनय में यहाँ के मानव को अपना चिरविस्मृत रूप फिर से सबल होता दीख पड़ा; उसकी (सरस्वती) मुद्रा को देख इसे अपनी चिति-शकुन्तला की सुध आ गई और तत्परता के साथ इन्द्रियशत्रुओं का दमन करके यह अपनी प्रेयसी परमार्थता से मिलकर एक हो गया। अन्य कवियों की वाणी में और कालिदास की भारती में हमें यही मौलिक भेद दीख पड़ता है।

कालिदास की वाणी को हमने जानकर भारती के नामसे पुकारा है–क्योंकि इसमें भरतखंड की समस्त मांगलिक शक्तियाँ एक साथ मुखरित हो उठी हैं और इसके भीतर की किरणों के प्रकाश में यह सारा भरतखंड परिपूत होकर अमित काल के लिये जगमगा उठा है।

कालिदास की रचनाओं में हमें जीवन की वही उदात्त व्यापकता दीख पड़ती है जो कि वाल्मीकि और व्यास की रचनाओं में छिपी पड़ी है और जिसके होने पर ही किसी कवि को हम विश्व-कवि कहा करते हैं। कालिदास के बाद की रचनाओं में यह

व्यापकता नहीं रह जाती । अब कवित्व का प्ररोचन उदात्त जीवन न रह कर सामान्य जीवन बन जाता है और कवियों की रचनाएँ हमें अवदात जीवन की ओर न ले जाकर जीवन के उन कोनों की ओर ले जाती हैं जिनका होना तो जीवन में अनिवार्य है किन्तु जहाँ प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार की मात्रा अधिक रहा करती है। शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक में हमें जीवन के ऐसे ही कोनों की झांकियाँ मिलती हैं।

चारुदत्त एक निर्धन ब्राह्मण है । वह वसन्तसेना नाम की वेश्या से प्रेम करता है, जो कि वेश्या होने पर भी शिष्ट एवं साधन-संपन्न महिला है। वहाँ के महाराज का साला शकार भी उससे प्रेम करता है किन्तु वह उसे दुतकार चुकी है । शकार का सारा क्रोध अब चारुदत्त पर आ टूटता है। उपवन में चारुदत्त से मिलने के लिये वसन्तसेना एक गाड़ी पर सवार होती है । किन्तु यह गाड़ी दुर्भाग्य से शकार की है और वसन्तसेना अनजाने ही उसमें बैठ शकार के यहाँ जा पहुँचती है। शकार मारे प्रसन्नता के फूला नहीं समाता और प्रेम करने के लिये आगे बढ़ता है; किन्तु वसन्त-सेना घृणा के साथ उसे दुतकार देती है। इस पर शकार उसे धरती पर मार गिराता है । अगले दिन इस अपराध को वह चारुदत्त के सिर थोपता और दरबार में उस पर मुकदमा दायर करता है । चारुदत्त को दोषी ठहराया जाता है और उसे फाँसी की सज़ा सुना दी जाती है । इसी बीच आर्यक राजगद्दी पर अधिकार कर लेता है और अपने उपकारी चारुदत्त को फाँसी से बचा लेता है । वसन्तसेना, जो कि चोट के कारण बेहोश हो गई थी, होश में आ जाती और अपने प्रेमी चारुदत्त से आ मिलती है ।

नाटक की विशेषता इस बात में है कि इसमें कवि ने उदात्त जीवन का अभिनय न करके जीवन के उन पहलुओं को सहलाया है जो कि अत्यन्त सामान्य हैं और अभिजात समाज में जिनका होना किसी सीमा तक वांछनीय समझा जाता रहा है। शूद्रक की दृष्टि में अभिजात-वर्ग के लिये वेश्याओं के यहाँ आना-जाना शिष्टता का चिह्न था । फलतः चारुदत्त वसन्तसेना के साथ प्रेम करके भी ब्राह्मण बना रहता है और समाज में उसका आदर बना रहता है। वेश्याओं के साथ द्यूत एवं नाचने-गाने का समवाय सम्बन्ध है और इन सभी पहलुओं पर इस नाटक में अच्छा प्रकाश डाला गया है । संक्षेप में शूद्रक ने जीवन के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार प्रयोजनों में से बीच के दो प्रयोजनों को अपनी रचना का आधार बनाया है। वात्स्यायन मुनि के काम-शास्त्र में हमें इन्हीं दोनों की चर्चा मिलती है ।

शूद्रक का दृष्टिकोण दरबार के आस-पास फलने-फूलने वाले जीवन तक सीमित था । उसकी दृष्टि में साहित्य का लक्ष्य जीवन को सत्य, शिव, सुन्दर की ओर ले

जाना न होकर, जीवन की व्याख्या करना मात्र था--वह जीवन भला है या बुरा इस बात से उसे क्या सरोकार ? वह तो बढ़ई है जिसका काम खिलौने घड़ना है; लकड़ी भली है या बुरी इससे उसे क्या मतलब ! शूद्रक का बनाया खिलौना सचमुच सलौना है; उसके अनेक पहलू हैं, बहुत से अंग हैं और सभी अंग अपनी-अपनी जगह चतुराई से बिठाए गए हैं। उसकी शकटी सुनहरी न हो कर सचमुच मिट्टी की है और उसने जान-बूझ कर अपना खिलौना मिट्टी से बनाया है वह इसलिये कि दुनिया स्वयं मिट्टी की बनी है और इसलिये वह मिट्टी के खिलौनों को अधिक पसन्द करती और उन्हीं में रमती-रमती जीवन से उपरत भी हो जाती है। शूद्रक की कथा का लक्ष्य आम लोगों के जीवन का अभिनय करके आम लोगों का दिल बहलाना है।

और यदि शूद्रक के मृच्छकटिक में कामसूत्र-निर्दिष्ट शिष्ट जनों के जीवन का अभिनय है तो विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक में देश के तात्कालिक राजनीतिक पहलू का अभिनय किया गया है। कथा यों है :--राक्षस नन्दों का भक्त है और वह चन्द्रगुप्त से जलता है। उसकी दृष्टि में राज्य के अधिकारी नंद हैं, जिन्हें कपट से मारकर किसी ने चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बिठा दिया है। वह चन्द्रगुप्त को राज्यच्युत करने के लिये दिन-रात उपाय करता है किन्तु चाणक्य उनकी एक नहीं चलने देता। इतना ही नहीं--दूतों द्वारा वह राक्षस की मुद्रा हथिया लेता है और उसकी मुहर लगा कर एक पत्र राक्षस के सहायकों के पास भेजता है। इसे पाकर राक्षस के सहायक टूट जाते हैं और राक्षस विचारा अकेला रह जाता है, इसी बीच राक्षस के एक अभिन्न मित्र को फाँसी का हुक्म होता है। राक्षस उसे बचाने का यत्न करता है किन्तु सब विफल। अन्त में चाणक्य उसके मित्र को इस शर्त पर छोड़ देने के लिये राजी होता है कि राक्षस चन्द्रगुप्त का प्रधान मन्त्रित्व स्वीकार कर ले। कोई चारा न पा कर राक्षस इस शर्त को मान लेता है और नाटक की प्रसाद में समाप्ति हो जाती है।

मुद्राराक्षस का वस्तु-तत्त्व राजनीतिक है और इस दृष्टि से यह नाटक संस्कृत में अद्वितीय है : दरबारों में दिन-रात खेले जाने वाले दाँव-पेचों का इसमें फड़कता अभिनय है जो इस बात पर बल देता है कि धन-प्राप्ति के लिये किसी प्रकार का पाप भी पाप नहीं है क्योंकि राजनीति में सफलता ही पुण्य है और उसे प्राप्त करने के लिये शासक को सभी प्रकार के पाप क्षम्य हैं। यदि शूद्रल अपने समकालिक समाज के सामान्य पहलू का अभिनेता है तो विशाखदत्त अपने युग के राजनीतिक चित्रपट का चतुर चितेरा है। सामाजिक जीवन की व्याख्या करना दोनों का समान लक्ष्य है।

रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द नाटक हर्षवर्धन के बताए जाते हैं,

किन्तु कुछ लोग उन्हें उसके दरबारी कवि बाणभट्ट की रचना बताते हैं। तीनों ही नाटक सामान्य कोटि के हैं और यह बाण की कादम्बरी को देखते हुए उसकी रचना नहीं माने जा सकते।

रत्नावली के चार अंकों में उदयन की प्रेम-गाथा का अभिनय है। कौशाम्बी का राजा उदयन लंका की राजकुमारी सागरिका से प्रेम करता है। इस बात से जल कर वासवदत्ता सागरिका को कैद कर लेती है; किन्तु उदयन एक जादूगर की सहायता से उसे कैद से छुड़ा लेता है। लंका का राजा सागरिका को अपनी पुत्री घोषित करके उसे उदयन के साथ मिला देता है।

प्रियदर्शिका के चार अंकों में उदयन और अरण्यिका के प्रेम की गाथा है।

नागानन्द में पाँच अंक हैं। विद्याधरों का राजकुमार जीमूतवादन शंखचूड नामक साँप को गरुड़ के मुँह से, अपना शरीर उसके सम्मुख प्रस्तुत करके, बचाता है। उसके त्याग को देख कर गरुड़ भी हिंसा से मुँह मोड़ लेता है और सभी मरे साँपों को फिर से जीवित कर देता है। जीमूतवाहन को गौरी फिर से जीवन-दान देती है और उसे विद्याधरों का राजा बना देती है।

तीनों नाटक सामान्य कोटि के हैं। रत्नावली में आने वाला लंका की राजकुमारी का वर्णन एवं जादूगर के हाथों उसका स्वतन्त्र किया जाना पद्मावत वर्णित घटनाओं की याद दिलाता है, जबकि नागानन्द पर बुद्ध-धर्म का प्रभाव सुव्यक्त है।

भट्टनारायण कृत वेणीसंहार के छह अंकों में भीमसेन द्रौपदी के केशपाश को सजाकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता है। द्यूतभवन में दुःशासन द्वारा अपमानित होकर द्रौपदी ने अपनी वेणी खुली छोड़ दी थी और उसे तब तक खुली रखने की प्रतिज्ञा की थी जब तक कि दुर्योधन को मार कर भीमसेन स्वयं उसे न बांधे। इस नाटक में भीमसेन की इसी कथा का वीररसपूर्ण अभिनय दिखाया गया है। नाटक के कुछ दृश्यों में नाटकीय छटा खिल उठी है—किन्तु कथानक कुछ ढीला-ढाला है और यह बात इस नाटक को प्रथम कोटि से नीचे गिराने के लिए पर्याप्त है।

ईसा के पश्चात् सातवीं सदी में भवभूति ने महावीर-चरित, मालती-माधव और उत्तररामचरित नाम के तीन नाटक लिखे। महावीर-चरित के सात अंकों में राम विवाह से प्रारम्भ करके उनके अभिषेक तक की कथा का अभिनय है। सीता को वरने के लिए रावण भी अपना दूत पठाता है; किन्तु राम शिवधनुष को खींच देते हैं और रावण का दूत मुँहमारा रह जाता है। रावण का मन्त्री माल्यवान् राम से

बदला लेने की ठान लेता है। शूर्पणखा, मंथरा के वेष में अयोध्या पहुँचती और कैकेयी की ओर से राजा दशरथ के सामने दो वर प्रस्तुत करती है । माल्यवान् ही बालि को राम पर धावा बोलने की सलाह देता है। अन्तिम अंक में राम विमान में बैठ कर अयोध्या को लौट आते हैं।

भवभूति की दूसरी रचना मालती-माधव है जो कि दस अंकों में है। इसमें विदर्भराज के मन्त्री देवरात के पुत्र माधव का पद्मावती के राजा के मन्त्री भूरिवसु की पुत्री मालती से विवाह सम्पन्न होता है और साथ ही माधव के मित्र मकरंद का मालती की सहेली मदयंतिका से परिणय होता है ।

नाटक में शृंगाररस की प्रधानता है और मालती-माधव के विरहोद्गारों में एक गहरी कूक है जो पाठकों के दिल में गाँस की नाईं धँसती चली जाती है।

भवभूति का तीसरा नाटक उत्तररामचरित है, जिसमें सात अंक हैं । इसका आधार रामायण का उत्तरकांड है । अन्त में राम का सीता एवं उनके पुत्र लव-कुश के साथ पुनर्मिलन सुन्दर तरीके से दिखाया गया है ।

निःसन्देह उत्तररामचरित की कथावस्तु उदात्त कोटि की है और उसमें करुण रस का परिपाक परा कोटि पर जा पहुँचा है । नाटक की कुछ सूक्तियाँ मन को मोह लेती हैं और कथा का प्रवाह भी त्वरित, समपद एवं गौरवशाली है। किन्तु यह सब होते हुए भी हम कहेंगे कि भवभूति नाट्य-पंडित हैं, उत्कृष्ट कोटि के नाट्यकार नहीं। उनकी भाषा दुरूह है, उनके श्लोकों के जगड्वाल में प्रेक्षक घबरा जाता है और उनकी रचना में एक ऐसी बनावट है जो सहृदय प्रेक्षकों को अखरती है।

भवभूति के साथ संस्कृत-नाटक की विभूति समाप्त हो जाती है और कवित्व का यह पहलू पंगु बन जाता है। कहने को तो नाटक बाद में भी लिखे गये और पर्याप्त मात्रा में लिखे गये, किन्तु वे लिखने के लिए लिखे गये, देखे जाने के लिये नहीं। और नाटक के विषय में इस प्रवृत्ति का उदय होना उसकी आत्मा को नष्ट कर देना है।

और अब डालिये शब्द ब्रह्म की क्रममयी काव्य-जाह्नवी पर एक विहंगम दृष्टि; कितना विशाल है इसका आयाम और कितना विपुल है इसका व्याम ? इस जाह्नवी के दो तट हैं : पहला विशुद्ध श्रव्य-काव्य और दूसरा दृश्य-काव्य। पहले तट पर आपको वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि अनेक कविपुङ्गव इसकी अर्चना में करबद्ध होकर खड़े मिलेंगे—इनकी अंजलियों के अमर प्रसूनों ने कविता-जाह्नवी के इस तट को सदा के लिये परिपूत एवं भास्वर बना दिया है। फिर देखिये इसके

दृश्य-तट को। सैकड़ों मील के अन्तराल के बाद आपको इस पर भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त और भवभूति अपनी अंजलियों में नाट्य-प्रसून लिये भव्यमुद्रा में खड़े दीख पड़ेंगे। ये सारे ही कविपुङ्गव भरतखण्ड के अमर दूत हैं; इन सभी के अभिनय में इस खण्ड के मानव की आत्मा साकार हुई है। किन्तु जहाँ कालिदास की नाटय-कला में स्वयं प्रतिरोधी एवं अभ्यनुज्ञा शक्तिरूप कालब्रह्म अपनी झाँकी ले रहा है वहाँ इतर नाटककारों की नाटय-कला कुछ काल के लिये बुलन्द होकर सहसा मंद पड़ जाती है और कविता-सरित् के इस तट पर सुनसान छा जाता है। इस नीरव में ही हमारी काव्य सरित् एक टीस के साथ, एक विषादपूर्ण निःश्वास के साथ आगे बढ़ती दीख पड़ती है—इस आशा को मन में रखकर कि आगे कहीं कोई कालिदास फिर मिलेगा और भारती के यशोगान से दूसरी बार भूखण्ड को भर देगा।

अपभ्रंश नाट्य-साहित्य

—डॉ० हरिवंश कोछड़
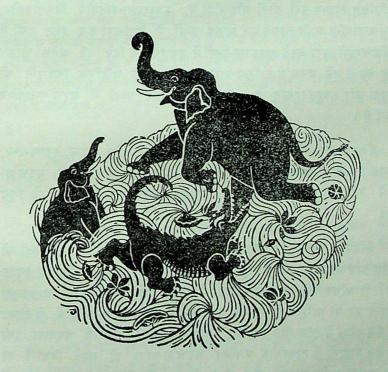
अपभ्रंश-भाषा का समय भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने ५०० ई० से १००० ई० तक बताया है किन्तु इस का साहित्य हमें लगभग ८वीं शती से मिलना प्रारम्भ होता है। प्राप्त अपभ्रंश-साहित्य में स्वयम्भू सब से पूर्व हमारे सामने आते हैं। अपभ्रंश-साहित्य का समृद्ध युग ९वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक है। इसी काल हैं स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनन्दी, कनकामर, धाहिल इत्यादि अनेक प्रभावशाली अपभ्रंश-कवि हुए।

जैनों द्वारा लिखे गए महापुराण, पुराण, चरिउ आदि ग्रन्थों में, बौद्ध सिद्धों द्वारा लिखित स्वतन्त्र पदों, गीतों और दोहों में, कुमारपाल-प्रतिबोध, विक्रमोवशीय, प्रबन्ध-चिन्तामणि आदि संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ कुछ स्फुट पद्यों में और वैयाकरणों द्वारा अपने व्याकरण-ग्रन्थों में उदाहरणार्थ दिये गये अनेक फुटकर पद्यों के रूप में हमें अपभ्रंश-साहित्य प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त विद्यापति की कीर्तिलता और अब्दुलरहमान के संदेश-रासक आदि ग्रन्थों में अपभ्रंश-साहित्य उपलब्ध है।

जिस प्रकार जैनाचार्यों ने संस्कृत-वाङ्मय में अनेक काव्य, पुराण-ग्रन्थ, कलात्मक एवं रूपक-काव्यादि ग्रन्थों का निर्माण किया इसी प्रकार उन्होंने अपभ्रंश-भाषा में भी इस प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन कर अपभ्रंश-साहित्य को समृद्ध किया।

जैनियों के अपभ्रंश को अपनाने का कारण यह था कि जैन पण्डितों ने अधिकांश ग्रन्थ प्रायः श्रावकों के अनुरोध से लिखे। ये श्रावक तत्कालीन बोलचाल की भाषा से अधिक परिचित होते थे अतः जैनाचार्यों एवं भट्टारकों द्वारा श्रावकगण के अनुरोध पर जो साहित्य लिखा गया वह तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश में ही लिखा गया। जैसे बौद्धों ने तत्कालीन प्रचलित पाली को अपने प्रचारार्थ अपनाया इसी प्रकार जैन विद्वानों ने तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश-भाषा को अपने विचारों का माध्यम बनाना अभीष्ट समझा। जैन, बौद्ध और इतर हिंदुओं के अतिरिक्त मुसलमानों

ने भी अपभ्रंश में ग्रंन्थ-रचना की। सन्देश-रासक का लेखक अब्दुलरहमान इस का प्रमाण है।

जैन कवियों ने किसी राजा, राजमन्त्री या गृहस्थ की प्रेरणा से काव्य-रचना की अतः इन की कृतियों में उन्हीं की कल्याण-कामना के लिये किसी व्रत के माहात्म्य का प्रतिपादन या किसी महापुरुष के चरित का व्याख्यान किया गया है। राजाश्रय में रहते हुए भी इन्हें धन की इच्छा न थी क्योंकि ये लोग अधिकतर निष्काम पुरुष थे, और न इन कवियों ने अपने आश्रयदाता के मिथ्या-यश का वर्णन करने के लिये या किसी प्रकार की चाटुकारी के लिए कुछ लिखा। इन जन कवियों ने अपने मत का प्रचार करने की दृष्टि से भी कुछ काव्यों का निर्माण किया। बौद्ध सिद्धों की कविता का विषय अध्यात्मपरक होने के कारण उपरिलिखित विषयों से भिन्न है। अपनी महत्ता के प्रतिपादन के लिए प्राचीन रूढियों का खण्डन, गुरु की महिमा का गान, रहस्यवाद आदि ही इनकी कविता के मुख्य विषय रहे। अपभ्रंश-साहित्य की पृष्ठभूमि प्रायः धर्म-प्रचार है। जैन कवि प्रथम प्रचारक हैं फिर कवि।

अपभ्रंश-साहित्य में हमें महापुराण, पुराण और चरित-काव्यों के अतिरिक्त रूपक काव्य, कथात्मक ग्रन्थ, सन्धि-काव्य, रास, स्तोत्र आदि भी उपलब्ध होते हैं। अपभ्रंश कवियों का लक्ष्य जन-साधारण के हृदय तक पहुँच कर उनको सदाचार की दृष्टि से ऊँचा उठाना था। इन कवियों ने शिक्षित और पण्डित-वर्ग के लिए ही न लिखकर अशिक्षित और साधारण वर्ग के लिये भी लिखा। उपरिनिर्दिष्ट अपभ्रंश ग्रंथों के अतिरिक्त चूनरी, चर्चरी, कुलकादि नामांकित कुछ अपभ्रंश ग्रन्थ भी मिले हैं।

अपभ्रंश-साहित्य के जिन भी ग्रंथों का ऊपर निर्देश किया गया है वे सब अपभ्रंश के महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रन्थों में अनेक काव्यात्मक सुन्दर स्थल दृष्टिगत होते हैं।

उपरिलिखित विषयों के अतिरिक्त अपभ्रंश में अनेक उपदेशात्मक ग्रन्थ भी मिलते हैं। इनमें काव्य की अपेक्षा धार्मिक-उपदेश भावना प्रधान हैं। काव्य-रस गौण है, धर्म-भाव प्रधान। इस प्रकार की उपदेशात्मक कृतियाँ अधिकतर जैन धर्म के उपदेशकों की ही लिखी हुई हैं। इनमें से कुछ में आध्यात्मिक तत्त्व प्रधान है कुछ में लौकिक-उपदेश तत्त्व।

जैन-धर्म सम्बन्धी उपदेशात्मक रचनाओं के समान बौद्ध सिद्धों की भी कुछ फुटकर रचनायें मिलती हैं जिनमें वज्रयान और सहजयान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन

किया गया है। इन धार्मिक कृतियों का भाषा की दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं जितना भाव-धारा की दृष्टि से।

अपभ्रंश-साहित्य अधिकांश धार्मिक आवरण से आवृत है। माला के तन्तु के समान सब प्रकार की रचनाएँ धर्मसूत्र से ग्रथित हैं। अपभ्रंश कवियों का लक्ष्य था एक धर्म-प्रवण समाज की रचना। पुराण, चरित, कथात्मक कृतियाँ, रासादि सभी प्रकार की रचनाओं में वही भाव दृष्टिगत होता है। कोई प्रेम कथा हो चाहे साहसिक कथा, किसी का चरित-वर्णन हो चाहे कोई और विषय सर्वत्र धर्म-तत्त्व अनुस्यूत है मानो धर्म इन लेखकों का प्राण था और धर्म ही इनकी आत्मा।

राजशेखर (१०वीं शताब्दी) ने राजसभा में संस्कृत और प्राकृत कवियों के साथ अपभ्रंश-कवियों के बैठने की योजना भी बताई है। इससे स्पष्ट होता है उस समय अपभ्रंश कविता भी राज-सभा में आद्दत होती थी। उसी प्रकरण में भिन्न-भिन्न कवियों के बैठने की व्यवस्था बताते हुए राजशेखकर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश कवियों के साथ बैठने वालों का भी निर्देश किया है। अपभ्रंश कवियों के साथ बैठने वाले चित्रकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई आदि समाज के मध्यम कोटि के मनुष्य होते थे। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत कुछ थोड़े से पण्डितों की भाषा थी, प्राकृत जानने वालों का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा था। अपभ्रंश जानने वालों का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत था एवं अपभ्रंश का सम्बन्ध जन-साधारण के साथ था। राजा के परिचारक-वर्ग का 'अपभ्रंश भाषण प्रवण' होना भी इसी बात ओर संकेत करता है।

श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अनेक अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। इस ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि अनेक राज-सभाओं में अपभ्रंश का आदर चिरकाल तक बना रहा। राजा भोज या उनके पूर्ववर्त्ती राजा अपभ्रंश कविताओं का सम्मान ही नहीं करते थे, स्वयं भी अपभ्रंश में कविता लिखते थे। राजा भोज से पूर्व मुंज की सुन्दर अपभ्रंश-कविताएँ मिलती हैं।

इस विवेचन से हमारा अभिप्राय अपभ्रंश-साहित्य की आलोचना प्रस्तुत करना नहीं। हमारा इतना ही निवेदन है कि अपभ्रंश साहित्य पर्याप्त समृद्ध था और पूर्ण रूप से आदृत था। जैन विद्वानों ने अनेक काव्य आख्यायिका, चम्पू, नाटकादि ग्रन्थों का यद्यपि संस्कृत भाषा में निर्माण किया किंतु अपभ्रंश में नाना काव्यादि के उपलब्ध होने पर भी कोई नाटक उपलब्ध नहीं हुआ।

जो भी अपभ्रंश-साहित्य अद्यावधि प्रकाश में आ सका है वह अधिकांश जैन-भाण्डारों से उपलब्ध हुआ है। जैन-मन्दिरों में मन्दिर के साथ एक पुस्तकालय भी संलग्न होता था। मन्दिर में जा कर प्रतिमा-पूजनादि के साथ-साथ जैनी लोग वहाँ ग्रन्थों का स्वाध्याय भी करते थे। किसी ग्रन्थ की हस्त-लिखित प्रतिलिपि कर या करवा कर अन्य श्रावकों के लाभार्थ मन्दिर में रखवा देना एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। फलतः मन्दिरों में पर्याप्त ग्रन्थों का संग्रह हो गया। अभी तक अनेक जैन-भण्डारों के ग्रन्थों का सम्यक् निरीक्षण, वर्गीकरण एवं अनुशीलन नहीं हो सका है। प्रचुर साहित्य अभी तक वहाँ प्रच्छन्न पड़ा है। ऐसी अवस्था में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अपभ्रंश-साहित्य में नाटकों का सर्वथा अभाव है। हो सकता है कि नवीन अनुसन्धान के परिणाम-स्वरूप अतीत के गर्भ में लीन कोई अपभ्रंश-नाटक प्रकाश में आ सके। जैन भण्डारों की अधिकांश ग्रन्थ राशि प्रायः धर्म-प्रधान है। अतः ऐसा भी सम्भव है कि अपभ्रंश में नाटक लिखे तो गये हों किन्तु धार्मिक ग्रन्थों के साथ मन्दिर में प्रवेश न पाने के कारण सुरक्षित न रह सके हों। संस्कृत में लिखित अनेक नाटक श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत हो जाते हैं। दृश्यत्व रूप से नाटक रचना के लिये शान्तिमय वातावरण का होना आवश्यक है। यवनों के आक्रमण से विक्षुब्ध परिस्थितियों में संभवतः ऐसे नाटकों की रचना न हो सकी हो। कारण कुछ भी हो अपभ्रंश-भाषा में लिखित नाटकों का अभी तक अभाव है। ऐसी अवस्था में पर्याप्त सामग्री के न होने से अपभ्रंश नाट्य-साहित्य की पूर्ण विवेचना सम्भव नहीं।

अपभ्रंश भाषा में नाटक लिखे गये या नहीं इस विवाद को छोड़ दीजिए। श्री मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के अन्तर्गत एक प्रकरण से ऐसा आभास मिलता है कि हास्य-विनोद के लिये अपभ्रंश-नाटक लिखे जाते थे। राजा भोज ने 'सिद्धरस' बनाने वाले योगियों को बुलवा कर यह रस बनवाना चाहा। जब वे इस प्रकार का रस न बना सके तो उनकी हँसी उड़ाने के लिये अपभ्रंश में एक नाटक लिखवाया गया। नाटक के अभिनय के बीच पात्रों के संभाषण को सुन हँसी में लोट-पोट होते हुए राजा भोज को सम्बोधन कर एक सिद्धरस-योगी कहता है —

अत्थि कहंत किंपि न दीसइ।
नत्थि कहउत सुहगुरु रूसइ॥
जो जाणइ सो कहइ न कीमइ।
अज्जाणं तु वियारइ ईसई।-

अपभ्रंश में यद्यपि कोई नाटक उपलब्ध नहीं तथापि चर्चरी, रास इत्यादि कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जिनसे अपभ्रंश के लोक-नाट्य पर कुछ प्रकाश पड़ता है। चच्चरी, चाचरि, चर्चरी ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। चर्चरी शब्द ताल एवं नृत्य के साथ, विशेषतः उत्सव आदि में गाई जाने वाली रचना का बोधक है। इस का उल्लेख विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक के अनेक अपभ्रंश पद्यों में मिलता है। वहाँ अनेक पद्य चर्चरी कहे गये हैं। समरादित्य-कथा, कुवलय-माला कथा आदि ग्रन्थों में भी इस का उल्लेख मिलता हैं। श्री हर्ष ने अपनी रत्नावली नाटिका के आरम्भ मिलता हैं—

अये यथाऽयमभिहन्यमान मृदु मृदंगानुगत गीतमधुरः पुरः पौराणां समुच्चरति चर्चरी ध्वनिस्तथा तर्कयामि...इत्यादि

अपभ्रंश के वीरकवि (वि० सं० १०७६) ने अपने 'जंबुसमिचरिउ' में भी एक स्थान पर चच्चरि का उल्लेख किया है—

चच्चरि बंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारु जसु। १.४

नयनंदी कवि (वि० सं० ११००) ने अपने 'सुदंसण चरिउ' में वसन्तोत्सव वर्णन के प्रसंग में लिखा है—

जिणहरेसु आढत्तिय सुचच्चरि, करहिं तरुणि सवियारी चच्चरि। ७.५

श्रीचन्द्र कवि (वि० सं० ११२३) के 'रत्न करण्ड शास्त्र' में अनेक छन्दों के साथ चच्चरि का उल्लेख किया गया हैं।

अब्दुल रहमान ने अपने 'संदेश-रासक' में वसन्त वर्णन के प्रसंग में चर्च्चरी गान का उल्लेख किया हैं—

चच्चरिहि गेउ झुणि करिवि तालु,
नच्चीयइ अउव्व वसंतकालु।
घण निबिड हार परि खिल्लरीहिं,
रुणझुण रउ मेहल किंकिणीहिं ॥२१९

इस से प्रतीत होता है कि चर्चरी, आनन्दोत्सव के अवसर पर जनसाधारण में या मन्दिरों में ताल और नृत्य के साथ गाई जाती थी। मलिक मोहम्मद जायसी ने अपने 'पद्मावत' में वसन्त, फाग एवं होली के प्रसंग में चाचरि या चाँचर का उल्लेख किया हैं, जो कि अपभ्रंश-कालीन चर्चरी के अवशिष्ट रूप के सूचक है।

जिनदत्त सूरि ने विक्रम की १२वीं शती के उत्तरार्ध में 'चर्चरी' की रचना की थी। रचनाकर ने सूचित किया है कि यह कृति पढ (ट) मंजरी भाषा-राग में

गाते हुए और नाचते हुए पढ़ी जानी चाहिये। इस में कृतिकार ने ४७ पद्यों में अपने गुरु जिनवल्लभ सूरि का गुणगान किया है और नाना चैत्य विधियों का विधान किवा है।

इस चर्चरी के अतिरिक्त प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में सोलन कृत चर्चरी का व्याख्यान है। एक वेलाउली राग में गीयमान ३६ पद्यों की 'चाचरि स्तुति' और गुर्जरी राग में गीयमान १५ पद्यों की 'गुरुस्तुति चाचरि' का पाटण-भण्डार की ग्रन्थ-सूची में निर्देश मिलता है।

अपभ्रंश में कुछ रास ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं। इन में से कुछ की भाषा को प्राचीन गुजराती वा प्राचीन राजस्थानी कहा जाता है। किन्तु प्राचीन गुजराती, प्राचीन राजस्थानी सब अपभ्रंश के ही रूप हैं और इन सब का सामान्य आधार एवं स्रोत अपभ्रंश या उत्तरकालीन अपभ्रंश ही है।

रास, रासो या रासक शब्द का क्या अर्थ है, क्यों इन ग्रन्थों का नाम रास पड़ा ? इस विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। किसी ने इसे ब्रह्मवाचक रस से, किसी ने साहित्यिक रस से, किसी ने स्त्री-पुरुषों के मंडलाकार नृत्य-वाची रास से, किसी ने राजयश से और किसी ने काव्य-वाचक रसायन से इस शब्द की व्युत्पत्ति मानी है।

संस्कृत के अलंकार-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में रास शब्द का उल्लेख है। वहाँ इस का लक्षण इस प्रकार दिया है—

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नाय (यि) काः।
पिंडी बन्धादि विन्यासै रासकं तदुदाहृतम्॥

इस प्रकार ८, १२, १६ स्त्री-पुरुषों के मंडलाकार नर्त्तन को रासक कहा गया है। किन्तु प्रश्न होता है कि रासक केवल नृत्त है या नृत्य या उसमें अभिनय का भी होना आवश्यक है ? नाट्य नृत्त और नृत्य से भिन्न है। धनंजय ने अपने दश-रूपक में तीनों पर विचार किया हैं। नृत्त में ताल-लय पर आश्रित पद-संचालनादि क्रियाएँ होती हैं (नृत्तं ताललयाश्रयम्)। नृत्त में केवल गात्र-विक्षेप होता है, नृत्य में गात्र विक्षेप के साथ-साथ अनुकरण भी पाया जाता है; नृत्य में भाव-प्रदर्शन भी होता हैं (भावाश्रयं नृत्यम्)। नृत्त और नृत्य से आगे नाट्य आता है। नृत्य और नाट्य में यह भेद है कि नृत्य केवल भावाश्रित होता है और नाट्य रसाश्रित। नृत्य में आङ्गिक अभिनय का और नाट्य में वाचिक अभिनय का प्राधान्य होता है। नृत्य और नाट्य दोनों में अभिनय-साम्य होने पर भी नृत्य मे पदार्थ-रूप अभिनय होता है और नाट्य

में वाक्यार्थ-रूप अभिनय। नाट्य का लक्षण किया गया है--**"अवस्थानुकृति-र्नाट्यम्"** अर्थात् शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के अनुकरण को नाट्य कहा जाता है। यह अनुकरण आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक चार प्रकार का होता है। इस प्रकार नाट्य में इन चारों प्रकार के अभिनयों के द्वारा सामाजिकों में रस का संचार किया जाता है।

साहित्यदर्पणकार ने उपरूपकों का विभेद प्रदर्शित करते हुए नाट्य-रासक और रासक दोनों को विभिन्न उपरूपक माना है और दोनों के अलग-अलग लक्षण दिये हैं।[1]

इससे प्रतीत होता है हि विश्वनाथ के समय (११वीं शती) तक नाट्य-रासक और रासक उपरूपकों के एक भेद के रूप में स्वीकार किये जाने लगे थे। इस प्रकार इन में केवल नृत्य ही न होता था अपितु अभिनय भी किया जाता था। नृत्य और नाट्य दोनों का योग नाट्य-रास और रासक में होता था। नाट्य-रास और रासक दोनों एकांकी होते थे। नाट्य-रास में उदात्त-नायक और वासकसज्जा नायिका होती थी, रासक में कोई ख्यात नायिका किन्तु मूर्ख नायक होता होता था और इसमें भाषा और विभाषा का अर्थात् प्राकृत और अशिक्षित एवं जन-साधारण से प्रयुक्त लोक-भाषा का प्राधान्य होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में जन-साधारण द्वारा किसी लोक-प्रचलित नायक को लेकर प्रदर्शित उपरूपक को

---

१. नाट्यरासकमेकांकं बहुताललयस्थिति।।
उदात्तनायकं तद्वत् पीठमर्दोपनायकं।
हास्योऽङ्गच्यत्र स श्रृंगारो नारी वासकसज्जिका।।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च।
केचित्प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलं।।

चौखंभा संस्कृत सीरीज प्रकाशन षष्ठ, परिच्छेद, २७७–२७९।

रासकं पंचपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम्।
भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम्।।
असूत्रधारमेकांकं सवीथ्यंगं कलान्वितम्।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम्।।
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम्।
इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते।।

छ० २८१–२९०.

अलंकारियों ने रासक का नाम दिया और शिक्षित एवं शास्त्र-प्रचलित नायक के आधार पर रचित उपरूपक को नाट्य-रास का नाम दिया ।

अलंकार-ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में भी रासक का निर्देश मिलता है । बाण ने अपने हर्षचरित में हर्षवर्धन की उत्पत्ति पर पुत्र-जन्मोत्सव के वर्णन में इस रासक शब्द का प्रयोग किया है ।[1] वहाँ रासक शब्द मण्डलाकार नृत्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

अपभ्रंश-साहित्य में भी रास और रासक के कुछ उल्लेख मिलते हैं । 'जंबु सामि चरिउ' के कर्त्ता (वि० सं० १०७६) ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है :

कविगुण रस रंजिय विउससह, वित्थारिय सुद्दय वीर कह ।
चच्चरि वंधि बिरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारु जसु ।
नच्चिज्जइ जिणपय सेवर्याहि, किउ रासउ अंबा देवर्याहि ।। १.४

यहाँ जिनपद-सेवकों द्वारा नृत्यपूर्वक गीयमान रास का निर्देश है । इस उद्धरण से एक और बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना है । 'चच्चरि बंधि' पद से प्रतीत होता है कि 'पद्धडिया बंध' के समान 'चच्चरि बंध' भी प्रयुक्त होता था । अर्थात् चच्चरि छंद में रचित रचना ही 'चच्चरि बंध' कहलाती थी । विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में प्रयुक्त अनेक अपभ्रंश छन्दों में चच्चरि के प्रयोग का पीछे निर्देश किया जा चुका है । श्रीचन्द्र-रचित (वि० सं० ११२३) 'रत्न करण्ड शास्त्र' नामक अपभ्रंश ग्रन्थ में एक स्थल पर अन्य छन्दों के साथ चच्चरि, रासक और रास का उल्लेख किया गया है—

छंदणियारणाल आवलर्याहि, चच्चरि रासय रासहि ललियहि ।
वत्थु अवत्थु जाइ विसेसहि, अडिल मडिल पद्धडिया अंसहि ।। १२.३

अपभ्रंश के अनेक छन्द ग्रन्थों में भी रासा छन्द का निर्देश मिलता है । इस से प्रतीत होता है कि संभवतः पहले चच्चरि और रास ग्रन्थों में यही छन्द पूर्णतः या अधिकतः प्रयुक्त होता था पीछे से विषय और प्रकार की दृष्टि से चच्चरि और रास शब्द ग्रन्थों के अर्थ में भी रूढ़ हो गये । अपभ्रंश के 'संदेश-रासक' नामक ग्रन्थ में

---

[1] शनैःशनैर्व्यंजृम्भत च क्वचिन्नृत्तानुचित चिरंतन शालीन कुलपुत्रक लोक लास्य प्रथित पार्थिवानुरागः......सपर्वत इव कुसुम राशिभिः, सधाराग्रह इव सीधुप्रपाभिः ......सावर्त्त इव रासकमण्डलैः,......सप्ररोह इव प्रसावदानैरुत्सवामोदः ।
हर्ष० च० चतुर्थ उच्छ्वास

रासा (रासक) का, जिसे आभाणक भी कहा गया है, प्रचुरता से प्रयोग किया गया है।

रास शब्द का उल्लेख 'संदेश-रासक' में भी एक स्थल पर मिलता है। वहाँ कवि सामोरु--मूल स्थान--मुल्तान नामक नगर का रासा छन्द में वर्णन करता हुआ कहता है—

कह व ठाइ चउवेईहिं वेउ पयासियइ,
कह बहुरूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ ॥ ४३

अर्थात् "उस नगर में किसी स्थान पर चतुर्वेदियों द्वारा वेद प्रकाशित किया जा रहा है, कहीं चित्र-विचित्र वेशधारी बहुरूपियों द्वारा निबद्ध रासक का पाठ किया जा रहा है।" यहाँ रासक शब्द के साथ यद्यपि 'भाष्' धातु का ही प्रयोग किया गया है तथापि 'बहुरूवि णिबद्धउ' वाक्यांश से रामलीलादिवत् प्रदर्शन का भी आभास मिलता है।

सन्देश-रासक का आरम्भ और अन्त मंगलाचरण से किया गया है—

रयणायर धर गिरितरुवराइँ गयणंगणंमि रिक्खाइं,
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो बुहयण वो सिवं देउ ॥१
माणुस्सदिव्व विज्जाहरेहिँ णहमग्गि सूर-ससि बिंबे।
आएहिं जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तारं ॥२

ग्रन्थ समाप्ति पर कवि कहता है—

जेल अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्ध खणद्धि महंतु,
तेम पढंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु ॥ २२३

आदि और अन्त के ये मंगलाचरण के पद्य रूपक और उपरूपक के अन्तर्गत नान्दी और भरत-वाक्य का आभास देते हैं।

कथा-वस्तु में स्थान-स्थान पर सुन्दर कथोपकथन भी दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ—

पहिउ भणइ पहि जंत अमंगलु मह म करि,
रुयवि रुयवि पुणरुत्त वाह संवरिवि धरि।
पहिय ! होउ तुह इच्छ अज्ज सिज्झउ गमण,
मइ न रुन्नु विरहग्गि धूम लोयण सवणु ॥ १०९

पथिक कहता है—(हे सुन्दरि !) रो-रो कर, मार्ग में जाते हुए मेरा अमंगल मत करो, अपने इन आँसुओं को रोक कर रखो ।

विरहिणी कहती है—हे पथिक ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, तुम्हारा आज गमन सिद्ध हो । मैं रोई नहीं, विरहाग्नि के धूमाधिक्य से आँखों में जल आ गया ।

संदेश-रासक में पात्रों की संख्या अधिक नहीं । उन की वेशभूषा, सौन्दर्य-चेष्टा अवस्थादि का निर्देश पद्यों द्वारा ही किया गया है । शब्द-योजना द्वारा वर्ण्य-वस्तु को साक्षात् चित्रवत् उपस्थित किया गया है । जैसे—

वयण णिसुणेवि मणमत्थ सरवट्टिया,
मयउसर मुक्क णं हरिणि उत्तट्ठिया ।
मुक्क दीउन्ह नीसास उस संतिया,
पढिय इय गाह णियणयणि वरसंतिया ।।८३

अर्थात् पथिक के वचनों को सुनकर काम के बाण से विद्ध वह विरहिणी शिकारी के बाण से विद्ध हरिणी के समान छटपटाने लगी । लम्बे-लम्बे उष्ण उच्छ्वास छोड़ने लगी । आहें भरते-भरते और आँखों से आँसू बरसाते हुए उस ने यह गाथा पढ़ी ।

वातावरण को सजीवता प्रदान करने के लिये यथास्थान उद्यान-शोभा और विविध ऋतुओं का दृश्य भी पद्यों द्वारा अंकित किया गया है ।

इस प्रकार अपभ्रंश-काल में गद्य के विकसित न होने के कारण जैसे अनेक अपभ्रंश-ग्रन्थों में उपन्यास के तत्त्व सूक्ष्म रूप से दृष्टिगत होते हैं, वैसे ही सन्देश-रासक में सूक्ष्म रूप से नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी कुछ तत्त्वों का आभास मिल जाता है और ये गद्य के विकास-काल में लिखित रूपकों के पूर्वरूप से प्रतीत होते हैं ।

सन्देश-रासक के अतिरिक्त अन्य रास-ग्रन्थ प्रायः राजस्थान में उपलब्ध हुए हैं । जैन-धर्मानुयायियों की अधिकांश जनता राजस्थान में रहती है अतः वहाँ इस प्रकार के रास-ग्रन्थों का बाहुल्य से मिलना अस्वाभाविक नहीं ।

सन्देश-रासक का समय विद्वानों ने ११वीं-१३वीं शताब्दी के बीच निर्धारित किया है । सन्देश रासक अद्दहमाण (अब्दुलरहमान) नामक मुसलमान जुलाहे का लिखा काव्य है । सन्देश-रासक के अतिरिक्त जिनदत्त सूरि कृत 'उपदेश रसायन रास' नामक रास भी उपलब्ध है । जिनदत्त सूरि वि० सं० ११३२ में उत्पन्न हुए थे ।

'उपदेश रसायन रास' ८० पद्यों की एक छोटी-सी कृति है। इस का आरम्भ भी मंगलाचरण से होता है। 'कृति के जल को जो कर्णांजलि से पान करते हैं वे अजरामर होते हैं' इस वाक्य से मंगलकामना-पूर्वक कृति समाप्त होती है। रास में कवि ने गृहस्थोचित नाना धार्मिक कृत्यों का उल्लेख किया है।

'गय सुकुमार रास' की रचना वि० सं० १३०० के आस-पास मानी जाती है। इस में वसुदेव की पत्नी देवकी जी कृष्ण के समान गुण-रूप-निधान एक और पुत्र की कामना करती हैं। इन की अभिलाषा के पूर्ण होने का वर्णन इस में किया गया है।

उपरिनिर्दिष्ट रासों के अतिरिक्त राजस्थानी से प्रभावित अनेक रास-ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

शालिभद्र सूरि-रचित--'भरत बाहुबलि रास' की रचना वि० सं० १२४१ में हुई। यह वीररस-प्रधान रास-ग्रन्थ है। इस में पुष्पदन्त के महापुराण में वर्णित कथा के आधार पर ऋषभ के पुत्र भरत और उसके छोटे भाई बाहुबली के युद्ध का वर्णन है।

धर्मसूरि ने वि० सं० १२६६ में जंबू स्वामी के चरित के कथानक के आधार पर 'जंबू स्वामि रासु' की रचना की थी। विजयसेन सूरि ने वि० सं० १२८८ में 'रेवंत गिरि रास' की रचना की। इसमें सोरठ देश में रेवंत गिरि पर नेमिनाथ की प्रतिष्ठा के कारण रेवंत गिरि की प्रशंसा और नेमिनाथ की स्तुति की गई है।

अंबदेव (वि० सं० १३७१) रचित 'समरारासु' में संघपति देसल के पुत्र समर सिंह की दानवीरता का वर्णन किया गया है। उसी वर्ष इस ने शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार किया। तीर्थ का भी सुन्दर भाषा में वर्णन मिलता है।

रास-ग्रन्थों के इस संक्षिप्त विवरण से प्रतीत होता है कि विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से रास-ग्रन्थों में धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, नैतिक, लौकिक आदि सभी विषयों का वर्णन होता था। जैन मन्दिरों में प्रायः धार्मिक रासों का ही गान और नृत्य-पूर्वक पाठ एवं प्रदर्शन होता था।

उपरिनिर्दिष्ट रासों के अतिरिक्त ताला-रास और लकुट-रास का भी निदश 'उपदेश रसायन रास' में मिलता है--

उचिय थुत्ति-थुयपाढ पढिज्जहिं,
जे सिद्धंतिहिं सहु संधिज्जहिं।

तालारासु वि दिंति न रयणिहिं,
दिवसि वि लउडारासु सहुं पुरिसिंहि ।।३६

तालियों के ताल और लकड़ी की डंडियों के साथ गाये जाने वाले रास—ताला-रास और लकुट-रास—कहलाते है । लकुट रास तो गुजराती 'गर्बा' से बहुत मिलता-जुलता है ।

डॉ० दशरथ ओझा ने 'हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास' नामक अपने प्रबन्ध में रास-ग्रन्थों का विशद विवेचन किया है । उन की सम्मति में 'गय-सुकुमार रास' हिन्दी-साहित्य का प्रथम नाटक है । उन का अभिप्राय यह है कि इन रास-ग्रन्थों से ही आगे चल कर हिन्दी-नाटकों का विकास हुआ ।

उपरिलिखित रास-ग्रन्थों के विवेचन का सारांश यह है कि ११वीं से १४वीं शताब्दी तक प्राप्त अनेक अपभ्रंश रासक एवं रास-ग्रन्थ लोक-नाट्य के लिये उत्सवों एवं मन्दिरों में किये जाते थे । साधारण जनता इन्हीं से मनोविनोद करती थी, किंतु शिष्ट समाज में संस्कृत-नाट्य किये जाते थे और उनका प्रचार भी अभी तक चल रहा था । इन रास-ग्रन्थों में यद्यपि उत्तरकालीन नाटकों के नाट्य-तत्त्वों का सूक्ष्म रूप से आभास मिल जाता है तथापि इन रासों के पद्य रूप में होने के कारण वे तत्त्व पूर्णरूप से विकसित न हो सके थे । इन रासों में दृश्यत्व पूर्ण रूप से दृष्टिगत नहीं होता । नृत्य और संगीत का ही प्राधान्य था ऐसा प्रतीत होता है । संदेश-रासक के कर्त्ता ने अपने ग्रन्थ को मध्यवर्ग के सन्मुख बार-बार पढ़ने का निर्देश किया है ।[1] ग्रन्थ की समाप्ति पर भी लेखक ने इस के पढ़ने और सुनने का ही निर्देश किया है ।[2] 'उपदेश रसायन रास' में भी कवि ने कृति के जल को कर्णामृत से पान करने वालों के लिये अजरामरत्व की मंगल-कामना की है । 'समरारास' में भी इसके पढ़ने की ओर संकेत किया गया है ।[3] क्रमशः इन रासों में श्रव्यत्व के स्थान पर दृश्यत्व का भी प्रचार होने लगा और इन के रूपक तत्त्व उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होने लगे ।

---

१ **जिण मुक्ख न पंडिय मज्झयार,**
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्व वार ।।२१

२ **जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्ध खणद्धि महंतु,**
तेम पढ़ंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु ।।२२३

३ **एह रासु जो पढ़ई गुणई नाचिउ जिणहरि देई ।**

हिन्दी नाटक का उद्भव

—डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल

"नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।"

लोक वृत्तानुकरणं नाट्यमे तन्मया कृतम् ।। (नाट्य-शास्त्र १।१०९)

नाटक लोक-वृत्ति का अनुसरण है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने अपने कथन में इसकी पुष्टि की है। किसी न किसी परम्परागत अथवा कल्पित कथा की अनुकृति नाटक में प्रदर्शित की जाती है। साहित्य लोक-जीवन के कार्यकलापों में ही नाटक का उद्भव खोजता है। आदियुग से नाटकों के उद्गम का क्रम-बद्ध इतिहास चला आ रहा है। भारतीय संस्कृति के इतिहास का आविर्भाव वैदिक काल से है। नाटक की उत्पत्ति के विषय में लोक-प्रचलित प्राचीन किंवदन्तियाँ भी हैं। देवराज इन्द्र ने वेदों के रचयिता ब्रह्मा से जन-साधारण के मनोरंजनार्थ एक ग्रन्थ की रचना करने की प्रार्थना की[1] जिससे कि सर्वसाधारण का मनोरंजन हो सके। ब्रह्मा ने पाठ्य सामग्री ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से एवं रस-तत्त्व अथर्ववेद से लेकर एक पंचम वेद की रचना की जिसे नाट्यवेद कहते हैं। इसका सूत्रधार भरत मुनि को बना कर नाट्याभिनय के कार्य-संचालन का भार इन्हें सौंपा। नाट्य की उत्पत्ति की प्रथम किंवदन्ती के रूप में यह कथा व्यापक रूप से प्रचलित है।

भारतीय साहित्य की प्रायः सभी साहित्यिक प्रेरणाओं का सूत्र वेदों में है। नाटकों की उत्पत्ति का आरंभिक विकासमान स्वरूप वेदों में विद्यमान है। संवादों की परंपरा का उद्भव वेदों में दिखाई देता है। ऋग्वेद में 'संवाद सूत्र' विद्यमान हैं। उनमें नाटकीय प्रयोजन की प्रथम भूमिका उपस्थित प्रतीत होती है। ऋग्वेद में संवाद तथा स्वगत-कथन उपस्थित हैं। उदाहरण के रूप में[2] संवाद-सूक्तों में क्रमशः

---

१ "जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।"
यजुर्वेदादभिनयान्रसानाथर्वणादपि ।।१७।।
वेदोपवेदैः संबद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना (१) ।।१८।।

२ ऋग्वेद—मंडल १०,१०,१,८ (नाट्य-शास्त्र, प्रथम अध्याय)

यम तथा यमी, पुरुरवा और उर्वशी, अगस्त्य और लोपामुद्रा, इन्द्र तथा वाक् आदि का कथोपकथन मिलता है। स्वगत कथनों में इन्द्र अथवा सोमरस से छके हुये व्यक्ति का स्वगत कथन विद्यमान है। वस्तुतः यह मानना कि 'संवाद सूक्त वैदिककालीन रहस्यात्मक नाटकों के अवशिष्ट चिन्ह हैं' युक्तिसंगत होगा।

नाटक के उद्‌गम के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों के दो मत हैं। एक वर्ग भारतीय नाट्य का उद्‌भव धार्मिक कार्य-कलापों से प्रेरित मानता है परन्तु दूसरा उसका उदय लौकिक और सामाजिक कृत्यों द्वारा मानता है। प्रो० मैक्समुलर, लेवी तथा डाक्टर हर्तेल आदि आचार्यों का मत है कि नाटक का उदय वैदिक ऋचाओं के गान से हुआ है। यज्ञों के अवसर पर ये ऋचाएँ समवेत स्वर से गाई जातीं थीं जिनके बीच कथोपकथन भी आते थे। नाटकीय संवादों की प्रेरणा संभवतः इन्हीं कथोपकथन युक्त ऋचाओं से मिलती है।

अभिनय का स्वरूप नृत्त और नृत्य में विद्यमान प्रतीत होता है। नृत्त में ताल-स्वर के अनुसार पद-सञ्चालन का भाव प्रदर्शित किया जाता है। इसका भाव-निरूपण पद चालन की गति पर निर्भर है। नृत्य के भावों में अभिनयमूलक प्रेरणा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। नृत्य में भाव बता कर मूक इंगितों में अवयवों का परिचालन किया जाता है। नृत्त तथा नृत्य की प्रेरणा का उदय शंकर तथा पार्वती के ताण्डव तथा लास्य से माना गया है। पाश्चात्य विद्वानों में डा० रिजवे नाटक का उदय वीर-पूजा से मानते हैं। यह मत पाश्चात्य नाट्य के लिए उपयुक्त हो सकता है परन्तु पौर्वात्य नाट्योद्भव के लिए युक्ति-संगत नहीं है।

महाकाव्य-काल में वाल्मीकीय रामायण में नटों तथा नर्तकों का उल्लेख आया है। महाभारत काल में काष्ठ-पुत्तलिका के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। पिशेल ने इन्हीं उल्लेखों के आधार पर नाटक की प्रारंभिक अवस्था कठपुतलियों के नाच तथा उनके द्वारा किये हाव-भाव पर आधारित की है। यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य में कठपुतलियों के प्रचलन का उल्लेख तो मिलता है परन्तु यह प्रामाणिक रूप में नहीं कहा जा सकता कि अभिनय का आरंभ इन्हीं की प्रेरणा का फल है। यद्यपि नाटकों में आने वाले सूत्रधार में उपयुक्त कथन की कुछ सार्थकता का भान होता है। प्रो० कीथ ने भी उपर्युक्त कथन पर अपना मंतव्य अपनी पुस्तक 'संस्कृत ड्रामा' में दिया है। उन्होंने छाया-नाटकों के उल्लेख में पुतलियों के प्रचलन को आधार माना है।

कामसूत्र के द्वितीय शतक में वात्स्यायन ने नटों द्वारा प्रस्तुत मनोरंजन का

उल्लेख किया है। उनके वर्णन में 'कुशीलवों' द्वारा सामाजिक उत्सवों में प्रदर्शित कौतुक-क्रीड़ा का वर्णन है। पाणिनि के नट-सूत्रों में भी नाट्य-बोध की गरिमा है। अतः वैदिक काल से विक्रम के समय तक अनेक रूपों में बिखरे हुये नाटक के परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप मिलते हैं।

भारतीय नाट्य-साहित्य की रूपरेखा संस्कृत नाटकों में विद्यमान है। ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण तथा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में संस्कृत-साहित्य के प्रथम नाट्यकार अश्वघोष का रचनाकाल प्रमाणित किया गया है। इनके 'सारिपुत्र' प्रकरण में नाटकीय अवयवों की व्यवस्थित रूपरेखा है। संस्कृत नाट्य-साहित्य के प्रमुख नाटककार अश्वघोष, भास, शूद्रक, श्रीहर्ष, विशाखदत्त, राजशेखर, कालिदास, भवभूति, क्षेमीश्वर, भट्टनारायण, मुरारि, श्रीदामोदर मिश्र तथा जयदेव आदि हैं। संस्कृत नाट्य-साहित्य में पौराणिक तथा सामाजिक आख्यायिकाओं के वर्णमय चित्र हैं।[1] ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण से बारहवीं शताब्दी तक संस्कृत नाट्य-साहित्य का विकास हुआ है। संस्कृत के नाटक प्रसादान्तक नीड़ पर विश्राम करते प्रतीत होते हैं। फलप्राप्ति की कल्पना हर्षातिरेक की भावना लेकर चलती है। मनोरंजन में भी मानव हर्ष तथा आह्लाद पाकर सुखानुभूति प्राप्त करता है अतः इसी विचारधारा से प्रेरित संस्कृत के नाटक सुखान्तक रखे गये हैं। पाश्चात्य त्रासदी का संस्कृत नाट्य-साहित्य में अभाव है। नाटकों में नाट्यशास्त्रानुसार सैद्धान्तिक मर्यादाओं का पालन किया गया है। नाटक के विभिन्न अवयवों में कथा-वस्तु कथोपकथन, पात्र तथा रस सभी विद्यमान प्रतीत होते हैं। संवादों में गद्य तथा पद्य शैली दोनों ही विद्यमान है। संस्कृत नाट्यकारों ने बड़ा ही प्रौढ़ तथा सुसंस्कृत साहित्य विश्व नाट्य-साहित्य के सम्मुख रखा है। अपनी अनूठी-कल्पना शक्ति और विलक्षण नाट्य-नैपुण्य के कारण संस्कृत के नाट्यकार एक परम्परा-सी बना गये हैं। हिन्दी के आरंभिक नाट्यकारों ने उन्हीं का अनुकरण किया है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य को वास्तविक प्रेरणा संस्कृत नाट्य-साहित्य से प्राप्त हुई है। हिन्दी के आरम्भिक नाटक संस्कृत-नाटकों के अनुवादों के रूप में उपस्थित हुये हैं। हिन्दी नाट्य-साहित्य को सर्वप्रथम संस्कृत-नाटक के पद्यात्मक संवादों ने आकृष्ट किया था। वस्तुतः यह कहना उपयुक्त है कि हिन्दी नाटक का उदय संस्कृत के नाटकीय काव्य (Dramatic Poetry) से हुआ था। प्रारम्भिक रचनाओं में से

---

१. "अश्वघोषस्तथा भासः शूद्रकश्चापि भूपतिः। कालिदासश्च दिङ्नागो नृपति हर्षवर्धनः। भवभूतिर्विशाखश्च भट्टनारायणस्तथा। मुरारि शक्तिभद्रश्च पुनः श्रीराजशेखरः॥ क्षेमीश्वरश्च मिश्रौच कृष्ण दामोदरा वुभौ। जयदेवश्च वत्सश्च ख्याता नाट्यकारकाः।

हनुमन्नाटक तथा समयसार आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। रचना-क्रम के अनुसार प्रबोध-चन्द्रोदय हिन्दी-साहित्य का सर्वप्रथम नाटक है। इसका अनुवाद जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिंह ने संस्कृत के मूल नाटक प्रबोध-चन्द्रोदय से किया था। हिन्दी नाटक के उदय-काल में भाषा का स्वरूप पद्य तथा गद्य मिश्रित ब्रजभाषा था। संस्कृत नाटकों के आधार पर उनके अनुवादों में यथास्थान गद्य तथा पद्य संवाद प्रस्तुत किये जाते थे। उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम ब्रजभाषा ही थी। हिन्दी के आरम्भिक नाट्यकारों ने अपने अनूदित नाटकों में मूल नाटकों का अक्षरशः अनुवाद करने का प्रयास किया है।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आनन्द रघुनन्दन नाटक रीवां-नरेश विश्वनाथ सिंहजू द्वारा प्रस्तुत किया गया। यह नाटक हिन्दी नाटक-साहित्य का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। प्रस्तुत नाटंककार ने भी प्रचलित रचना-शैली के अनुसार इसकी भाषा गद्य तथा पद्य मिश्रित ब्रजभाषा रखी है। तदुपरान्त उपर्युक्त नाटककार द्वारा गीत रघुनन्दन की रचना की गई। आदिकाल के नाटक केवल संस्कृत-नाटकों के अनुवाद मात्र ही रहे हैं, परन्तु कालान्तर में हिन्दी नाटक दो विशिष्ट वर्गों में विभक्त हो गया। अनूदित तथा मौलिक नाटकों का प्रचलन हिन्दी नाट्य-साहित्य में अपनाया गया। यह परम्परा चिरकाल तक हिन्दी नाट्य-साहित्य का अंग बनी रही। हिन्दी नाटक के आरम्भिक विकास-काल में इन्हीं मनोवृत्तियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य में संस्कृत नाट्य-प्रणाली की प्रतिच्छाया लिए हुए नाटकों की रचना हुई है; प्रायः उनका मूलाधार धार्मिक आख्यानों की कथा-वस्तु रही है। हिन्दी साहित्य का आदि युग वीरगाथा काल से आरम्भ होता है। इस युग में वीर नर-पुंगवों की गाथा पद्यमय वर्ण-चित्रों में उपस्थित की गई थी। इन्हीं वीर-गाथाओं का काव्य-वर्णन पद्यमय कथोपकथनों के रूप में भी प्रस्तुत किया गया था। कथोपकथन नाटक-साहित्य का विशिष्ट अंग है। वस्तुतः यह पद्यमय कथोपकथन भी हिन्दी नाट्य-साहित्य के प्रोत्साहन का कारण रहा है। अतः कहा जा सकता है कि काव्य का यह स्वरूप नाट्योद्भव का प्रेरक है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि पूर्व-भारतेन्दु-काल से भारतेन्दु-युग तक नाट्यकारों की प्रवृत्ति संस्कृत नाट्य-साहित्य तथा पौराणिक आख्यायिकाओं को भाषान्तर रूप देकर हिन्दी नाट्य-साहित्य की परंपरा का आविर्भाव करना ही रहा है। मौलिक नाटकों का अभाव इस काल में खटकने वाली वस्तु थी, यद्यपि मौलिक नाटकों की रचना कालान्तर में अवश्य हुई है जिसका इस युग के साहित्य में नगण्य स्थान है। नाटककारों की मूल प्रवृत्ति अनुवादों की ही ओर थी।

आरम्भ के मौलिक नाटक अधिकांश पद्यमय ही थे। प्राणचन्द चौहान कृत 'रामायण महानाटक', रघुराम नागर कृत 'सभासार', लच्छीराम कृत 'करूणाभरण' आदि को मौलिक रचनाओं की कोटि में रखा जा सकता है। इस युग के नाटकों का निर्माण-काल भक्ति और रीतिकाल के बीच का युग है। सम-सामयिक वातावरण के प्रभाव से इस युग की रचनाएँ अछूती नहीं रह सकीं हैं। पौराणिक गाथाओं में शृंगारिक भावना का प्रयोग इस युग की मूल मनोवृत्ति प्रतीत होती है। इस युग के नाटककारों ने प्रेम-व्यापार के साथ वीररस की अभिव्यक्ति से कथानकों को अनुप्राणित किया है। उपर्युक्त शैली का प्रयोग संस्कृत नाट्य-साहित्य में पूर्व ही विद्यमान था। हिन्दी नाटकों में भी उसका अनुसरण किया गया था।

सत्रहवीं शताब्दी में संस्कृत नाट्य-साहित्य से प्रभावित पद्यमय हिन्दी नाटक का आविर्भाव हुआ था। आगे चलकर आलोच्य-काल में हिन्दी नाट्य-प्रवाह दो प्रमुख धाराओं में विभक्त हो गया। इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से करना उपयुक्त होगा: सर्वप्रथम साहित्यिक नाटकों का उदय तथा विकास हुआ, जिसने आगे चलकर हिन्दी साहित्य के अक्षय भाण्डार की अभिवृद्धि की है। परन्तु युग का साहित्यकार अपने समुचित प्रसाधनों में ही सीमित न रह सका। वह रूपक के दृश्य-काव्यत्व की सार्थकता का उपयोग करना चाहता था। वैदिक युग में ही भरत मुनि द्वारा रंगमंच की उपयोगिता का महत्व बताया गया था। संस्कृत साहित्य के नाटक भी अपने काल में रंगमंच के हेतु प्रयोग में लाये गये थे। इस युग में साहित्यिक नाटक इतने परिष्कृत न थे कि उनका प्रयोग रंगमंच पर सरलता से किया जा सके। पद्यमय संवाद अथवा वर्णनात्मक लम्बे गद्यात्मक कथोपकथन बाधा के रूप में उपस्थित हो जाते थे। नाटक के उपांग के रूप में जन-नाट्य रंगमंच पर प्रयुक्त किया गया, धीरे-धीरे इसी अभिनय-मूलक रंगमंच ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। यद्यपि यह प्रश्न युक्तिसंगत है कि रंगमंचीय नाटकों को साहित्यिक-नाटकों से पृथक् क्यों न रखा जाये जबकि उनका अस्तित्व साहित्यिक नाटकों से भिन्न जान पड़ता है परन्तु स्मरण रहे कि नाटक दृश्य-काव्य है और अभिनेय होना उसका आवश्यक लक्षण है। इस दृष्टिकोण से आदर्श कहे जाने वाले नाटक तो उसी वर्ग के कहे जायेंगे जिनमें साहित्य के साथ-साथ अभिनेय गुण भी होगा, रंगमंचीय नाटकों को साहित्य से पृथक नहीं किया जा सकता है, वे भी नाट्य-सिद्धान्त के एक मुख्य अंश के प्रतिनिधि हैं।

जन-नाट्य को रंगमंचीय प्रेरणा चैतन्य महाप्रभु के कीर्तन संप्रदाय तथा महाप्रभु वल्लभाचार्य की भक्ति-भावना से मिली। रासलीला, यात्रा तथा रामलीला के स्वरूपरंगमंचीय प्रयोजन की परितुष्टि करते प्रतीत होते थे। हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाले मनोरंजनों में संभवतः रास-लीला सबसे प्राचीन है। भगवत चर्चा के साथ-साथ यह

मनोरंजन का भी सुलभ साधन था। हिन्दी रंगमंच भी साहित्यिक नाटकों के अनुरूप ही मनोवृत्तियों का पोषक रहा है। पौराणिक वृत्तों को ही लीला का स्वरूप दिया गया, रास में कृष्ण-लीला तथा राम-लीला में रामकथा वर्णित तथा अभिनीत की जाती थी जिस परम्परा का निर्वाह आज भी होता है। रंगमंच-नाट्य की परम्परा अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के विकास सम्बन्ध की आवश्यक शृंखला प्रस्तुत करती है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि नाट्य लोक का अनुकरण है, अतएव लोक में जो कुछ है उसकी छाया नाटकों से प्रदर्शित की जाती है। साहित्य, वास्तु-कला, चित्र-कला, संगीत-नृत्यादि, ज्ञान-विज्ञान सभी कुछ नाटक में यथास्थान प्रयुक्त हो सकते हैं। नाटक की उद्भावना इसी अभिप्राय से प्रेरित है। हिन्दी के नाटकों में भी इन्हीं संस्कारों की छाप विद्यमान हैं जो उसे प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य से प्राप्त हुये हैं। हिन्दी नाटकों का उद्भव प्राचीन भारतीय नाट्य-परम्परा से है जिसकी देन प्रौढ़ संस्कृत नाट्य-साहित्य है। हिन्दी का नाटक आरम्भ में संस्कृत नाट्य-साहित्य से पूर्ण प्रभावित था तथा संस्कृत साहित्य के नाट्यकारों ने यह मार्ग प्रदर्शित न किया होता तो संभवतः हिन्दी के नाट्य-साहित्य का लोप हो गया होता, और हिन्दी के साहित्यकारों में साहित्य के इस अंग की कल्पना भी न उत्पन्न हुई होती।

भारतेंदु के नाटक

—डॉ० सत्येन्द्र

भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं।

यों तो, स्वयं भारतेन्दु जी ने लिखाहै :

'हिन्दी-भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रन्थ की सृष्टि हुए पचीस वर्ष से विशेष नहीं हुए। यद्यपि नेवराज कवि का शकुन्तला नाटक, वेदान्त विषयक भाषा ग्रन्थ समयसार नाटक, व्रजवासी दास के प्रबोधचन्द्रोदय प्रभृति नाटक के भाषानुवाद नाटक नाम से अभाहित हैं किन्तु इन सबों की रचना काव्य की भाँति है अर्थात् रीत्यनुसार पात्र प्रवेश इत्यादि कुछ नहीं है। भाषा-कवि-कुल-मुकुट-माणिक्य देव कवि का देवमाया प्रपंच नाटक और श्री महाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ प्रभावती नाटक तथा श्री महाराज विश्वनाथसिंह रींवा का आनन्द रघुनन्दन नाटक यद्यपि नाटक रीति से बने हैं किन्तु नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपालन इनमें नहीं है और ये छंद प्रधान ग्रन्थ हैं। विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्यचरण श्री कविवर गिरिधरदास वास्तविक नाम बाबू गोपाल चन्द्र जी का है। इसमें इन्द्र को ब्रह्महत्या लगना और उसके अभाव में नहुष का इन्द्र होना, नहुष का इन्द्रपद पाकर मद, उसकी इन्द्राणी पर कामचेष्टा, इन्द्राणी का सतीत्व, इन्द्राणी के भुलावा देने से सप्तऋषि को पालकी में जोत कर नहुष का चलना, दुर्वासा का नहुष को शाप देना और फिर इन्द्र का पूर्व पद पाना यह सब वर्णित है। मेरे पिता ने बिना अंग्रेज़ी शिक्षा पाए इधर क्यों दृष्टि दी, यह बात आश्चर्य की नहीं। उनके सब विचार परिष्कृत थे। बिना अँग्रेज़ी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे परिष्कृत थे कि वैष्णवव्रत पूर्ण पालन के हेतु उन्होंने अन्य देवतामात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिये थे। टामसन साहब लेफ़्टिनेण्ट गवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत कठिन था क्योंकि इसमें बड़ी ही लोक निन्दा थी। हम लोगों को अंग्रेज़ी शिक्षा दी। सिद्धान्त यह है कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है। नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है आज पच्चीस वर्ष हुए

होंगे जब कि मैं सात बरस का था नहुष नाटक बनता था। केवल २७ वर्ष की अवस्था में मेरे पिता ने देह-त्याग किया, किन्तु इसी अवसर में चालीस ग्रन्थ जिनमें बलराम कथामृत, गर्गसंहिता, भाषा वाल्मीकि-रामायण, जरासंध-वध महाकाव्य और रस रत्नाकर ऐसे बड़े-बड़े भी हैं, बनाए।

हिन्दी भाषा में दूसरा ग्रन्थ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का शकुन्तला नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रन्थों की गिनती में है। तीसरा नाटक हमारा विद्यासुन्दर है। चौथे के स्थान में हमारे मित्र लाला श्रीनिवास दास का तपती संवरण, पंचम हमारा वैदिकी हिंसा, षष्ठ प्रिय मित्र बाबू तोताराम का केटोकृतान्त और फिर तो और भी दो चार कृतविद्य लेखकों के लिखे हुए अनेक हिन्दी नाटक हैं।"

इस दृष्टि से पहला नाटक नहुष होना चाहिए। किन्तु भारतेन्दु जी ने ही विद्यासुन्दर को द्वितीय आवृत्ति का उपक्रम लिखते समय बताया कि "विद्यासुन्दर की कथा बंग देश में अतिप्रसिद्ध है ... प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र राय ने इस उपाख्यान को बंगभाषा में काव्य स्वरूप में निर्माण किया है......महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलम्बन करके जो विद्यासुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह बरस हुए यह हिन्दी भाषा में निर्मित हुआ है। विशुद्ध हिन्दी-भाषा के नाटकों के इतिहास में यह चौथा नाटक है। निवाज का शकुन्तला या ब्रजवासी दास का प्रबोध चन्द्रोदय नाटक नहीं काव्य हैं। इससे हिन्दी भाषा में नाटकों की गणना की जाय तो महाराज रघुनाथसिंह का आनन्द रघुनन्दन और मेरे पिता का नहुष नाटक यही दो प्राचीन ग्रन्थ भाषा में वास्तविक नाटककार मिलते हैं यों नाम को तो देवमाया प्रपंच, समयसार इत्यादि कई भाषा ग्रन्थों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया है। इसके पीछे शकुन्तला का अनुवाद राजा लक्ष्मण सिंह ने किया है। यदि पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों को ब्रजभाषा मिश्र[1] होने के कारण हिन्दी न माना तो विद्यासुन्दर गुणों में अद्वितीय न होने पर भी द्वितीय है।'[2]

यहाँ स्वयं भारतेन्दु जी ने नहुष को हिन्दी का नाटक नहीं माना।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का अभिमत है कि 'यद्यपि भारतेन्दु ने आनन्द रघुनन्दन को हिन्दी के सर्वप्रथम नाटकों में स्थान देने में संकोच किया है क्योंकि नाटकीय यावत् नियमों का उसमें पालन नहीं है, और वह छंद प्रधान है, किन्तु उनका

---

१ ब्रज-भाषा मिश्र नहीं, मात्र ब्रज-भाषा में ही यह नाटक लिखा गया है। इसका एक अंक पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रंथ में प्रकाशित हुआ है।

२ वही विद्यासुन्दर नाटक की द्वितीय आवृत्ति का उपक्रम।

यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। उसमें छन्दों का प्रयोग अवश्य है किन्तु गद्य का प्रयोग भी कम नहीं। कथोपकथनों का अधिकांश गद्य में ही है। नाटकीय नियमों का पालन भी उसमें पाया जाता है। भारतेन्दु जी के पिता कविवर गिरधरदास कृत 'नहुष नाटक' के साथ-साथ आनन्द रघुनन्दन की गणना हिन्दी के प्रथम नाटकों में की जानी चाहिए'[१]।

वार्ष्णेय जी ने इसे आगामी नाट्य-युग का अग्रदूत माना है।[२] साथ ही एक स्थान पर लिखा है कि 'ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है और भाषा प्रधानतः ब्रजभाषा है।[३] इन नाटक की शैली संस्कृत की नाट्य-शैली के अनुकरण पर हुई है।

भाषा का स्वरूप और नाट्य-शैली ये दोनों ही स्वयं ये सिद्ध करते हैं कि इन्हें हिन्दी के आधुनिक नाटकों का पूर्वगामी नहीं माना जा सकता। आधुनिक युग की आत्मा के मर्म को ये नाटक नहीं अपना सके थे। इस दृष्टि से भारतेन्दु जी का विद्यासुन्दर ही पहला नाटक माना जाना चाहिये और इसी लिए भारतेन्दु जी हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं।

हिन्दी के इस युग-प्रवर्त्तक महान् पुरुष ने निम्नलिखित नाटक लिखे :—

१. मुद्रा राक्षस	११. दुलर्भबन्धु
२. सत्य हरिश्चन्द्र	१२. प्रेम योगिनी
३. विद्यासुन्दर	१३. जैसा काम वैसा परिणाम
४. अंधेर नगरी	१४. कर्पूरमंजरी
५. विषस्य विषमौषधम	१५. नील देवी
६. सती प्रताप	१६. भारत दुर्दशा
७. चन्द्रावली	१७. भारत जननी
८. माधुरी	१८. धनंजय विजय
९. पाखंडविडंबन	१९. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति
१०. नवमल्लिका	२०. रत्नावली

बाबू ब्रजरत्नदास जी ने माधुरी, नवमल्लिका, जैसा काम वैसा परिणाम इन तीनों को भारतेन्दु नाटकावली में सम्मिलित नहीं किया। नाटक नामक ग्रन्थ में ये तीनों भारतेन्दु जी की रचनाएँ मानी गयी हैं। ब्रजरत्नदास जी ने रत्नावली को सम्मिलित किया है जब कि भारतेन्दु जी ने उसे अपनी रचनाओं में सम्मिलित नहीं किया।

---

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ४९६।

२ वही पृ० ४९८

३ वही पृ० ४९७

रत्नावली के सम्बन्ध में बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है :

'रत्नावली की भूमिका से उसके पूरे अनुवाद हो जाने की ध्वनि निकलती है पर इतनी ही प्राप्त है।'[1]

उधर डा० दशरथ ओझा लिखते हैं कि :

'परन्तु यह विषय संदिग्ध है कि जो रत्नावली की प्रति इस समय उपलब्ध है और उनकी कृति बतलाई जाती है, वह वास्तव में उन्हीं की रचना है।.......यह विषय अभी अत्यन्त विवादास्पद है।'[2]

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि भारतेन्दु जी ने स्वयं अपनी कृतियों की सूची में इसे क्यों सम्मिलित नहीं किया।[3] रत्नावली की जो भूमिका उपलब्ध है उसमें एक वाक्य यह भी है :

'मुझे इसका उलथा करने में पण्डित श्री शीतलाप्रसाद जी से बहुत सहायता मिली है।'

कुछ भी कारण हो यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी ने रत्नावली को कहीं भी अपना नाटक नहीं माना।

एक विद्वान ने लिखा है : क्या यह सम्भव नहीं कि उनकी वास्तविक रचना इस समय अप्राप्य हो और उपलब्ध रचना किसी अन्य की प्रतिलिपि हो ? यदि भारतेन्दु जी ने रत्नावली लिखी होती तो वे उसे अपनी कृतियों में तो अवश्य सम्मि-

---

१ भारतेन्दु ग्रंथावली, पहला भाग ब्रजरत्नदास, भूमिका पृ० २

२ हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास डा० दशरथ ओझा प्रथम संस्करण पृ० १६५।

३. सूची में सम्मिलित नहीं किया गया केवल इतनी सी बात नहीं, नाटकों के इतिहास का उल्लेख करते हुए भी उन्होंने अपनी रत्नावली का कहीं संकेत नहीं किया। नाटक में अर्थभाषा नाटक शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दी के चार नाटकों की गिनती में पहला नहुष उनके पिताजी का, दूसरा शकुन्तला राजा लक्ष्मणसिंह का, तीसरा विद्यासुन्दर उन का अपना, चौथा तपती संवरण लाला श्रीनिवास दास का, पाँचवाँ वैदिकी हिंसा उनका अपना, छठा केटोकृतान्त बाबू तोताराम का—इसमें कहीं भी रत्नावली का उल्लेख नहीं। आगे रत्नावली के किसी अनुवाद की कटु आलोचना उन्होंने की है, वहाँ भी अपने अनुवाद का कोई संकेत नहीं। विद्यासुन्दर की द्वितीय आवृत्ति की भूमिका में भी रत्नावली का उल्लेख नहीं। शकुन्तला के बाद विद्या-सुन्दर का उल्लेख है जिससे सिद्ध होता है कि वे विद्यासुन्दर को ही अपना पहला नाटक मानते थे।

लित करते, फिर भले ही वह अप्राप्य ही क्यों न होती।' उदाहरण के लिए 'नव मल्लिका' आज अप्राप्य है पर उसे भारतेन्दु जी ने अपनी कृति माना है और उसे सूची में अपने नाम से सम्मिलित किया है। यदि रत्नावली की भूमिका को भारतेन्दु लिखित माना जाय तो एक विकल्प तो यह होता है कि यह भूमिका या तो अनुवाद से पूर्व ही लिखी गयी या अनुवाद का जितना अंश प्राप्त हुआ है उतना ही लिखकर उसकी भूमिका लिख डाली गयी, यह समझ कर कि अब यह काम पूरा हुआ समझना चाहिये। पर पीछे यह काम पूरा नहीं हो सका और सम्भवत: अनुवाद में पं० शीतला प्रसाद जी का हाथ विशेष रहा या उनसे कुछ मतभेद हो गया और भारतेन्दु जी ने उसे अपनी कृतियों में स्थान नहीं दिया।

जो कुछ भी हो भारतेन्दु जी ने 'रत्नावली' को अपनी कृति माना ही नहीं, और हम भी इसे उनकी कृतियों में नहीं स्वीकार करते।

'माधुरी' को बाबू ब्रजरत्नदास ने भारतेन्दु जी की कृतियों में स्थान नहीं दिया। इस सम्बन्ध में 'नयापथ' में भी सर्वश्री श्री नारायण पांडेय और डा० महादेव साहा ने जो लिखा है उसे उद्धृत किया जाता है:

"बाबू ब्रजरत्नदास ने अपने ग्रन्थ 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' संस्करण द्वितीय सन् १९४८ के पृष्ठ २०७ पर माधुरी को हरिश्चन्द्र-कृत नहीं बताया है। उनका कहना है कि यह नाटक रावकृष्ण देवशरण सिंह कृत है, जो भरतपुर नरेश राजा दुर्जबसाल के पुत्र तथा हरिश्चन्द्र के अन्तरंग मित्र थे। यह कविता में अपना 'गोप' उपनाम लिखते थे। इस रूपक के एक पद का 'गोपराज' शब्द उन्हीं का द्योतक है। परन्तु प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि क्या फिर 'नाटक' नामक ग्रन्थ हरिश्चन्द्र का लिखा हुआ नहीं है? यदि हरिश्चन्द्र लिखित है जिसे स्वतः ब्रजरत्नदास भी मानते हैं, तो उसमें हिन्दी नाटकों की तालिका के अन्दर आये 'माधुरी' को हम क्यों न हरिश्चन्द्र-कृत मानें, जिसे हरिश्चन्द्र स्वतः स्वीकार करते हैं। जहां तक गोपराज के एक पद का प्रश्न है, यदि वह 'गोपराज' का है भी तो हो सकता है कि उसे अगर हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में ले लिया हो तो कोई बात नहीं, जैसा कि वे पद्माकर आदि को ले लिया करते थे। बिना ठोस आधारों के यह बात अभी समस्या-सी बनी है। इसी के आधार पर वार्ष्णेय ने अपने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में इसको रावकृष्ण-कृत माना है; मात्र सूचना के विशेष प्रमाण वहाँ भी नहीं है।"

इन लेखक-द्वय ने ऊपर यह भी बताया है कि जहाँ तक माधुरी का सम्बन्ध है वह तो खड्गविलास प्रेस से रामदीन सिंह द्वारा सम्पादित नाटकावली में छपी भी है। यहाँ

इसका नाम 'माधुरी' अथवा 'वृन्दावन दृश्यावली' लिखा गया है। यही नहीं श्री कृष्ण-शंकर शुक्ल ने अपने आधुनिक हिन्दी साहित्य[२] के आठवें संस्करण में इस नाटक से एक उद्धरण भी दिया है। आदि।

भारतेन्दु जी ने 'माधुरी' को अपनी कृति माना है। खड्गविलास प्रेस ने उसे उनके संग्रह में स्थान दिया है। अतः माधुरी को उनके नाटकों में सम्मिलित किया जाना चाहिये।

'नवमल्लिका' का कोई पता नहीं चला। इसे भारतेन्दु जी ने तो अपनी सूची में लिखा ही है, रामदीन सिंह जी ने भी इस नाटक का नामोल्लेख किया है। १८८४ में रामशंकर व्यास ने भी एक अंग्रेज़ी लेख (Kashmir flower) में इसका उल्लेख किया है। यह नाटक अभी तक अनुपलब्ध है।

'जैसा काम वैसा परिणाम' नाम के नाटक का उल्लेख भारतेन्दु जी ने अपनी कृतियों की सूची में किया है। हमने 'हिन्दी एकांकी' नामक पुस्तक में लिखा है :

'अब एक हिन्दी प्रहसन भी इसी युग का हमें मिलता है, यों तो 'अन्धेर नगरी' और 'विषस्यविषमौषधम्' भी प्रहसन हैं, पर वे तो विख्यात व्यक्ति के लिखे हुए हैं।'

उस काल के अन्य व्यक्ति साधारणतया कैसे प्रहसन लिखते थे यह हम 'हिन्दी-प्रदीप' में ही प्रकाशित ''जैसा काम वैसा परिणाम' के अध्ययन से जान सकते हैं। यथा—दृश्य खुलता है—स्थान—जनानखाने में रसोई का घर। प्रदीप हाथ में लिये शशिकला का प्रवेश। शशिकला पतिव्रता स्त्री, उसका पति तीन दिन से ग़ायब है, वह जानती है वह कहां गया है फिर भी वह उसकी चिन्ता में है। राधावल्लभ उसका पति आता है और भोजन में शोरबा न होने के कारण उसे धक्का देकर चला जाता है। वह गिर पड़ती है, खाना फैल जाता है, उसकी पड़ोसिन दूध लेने आती है वह पूछती है तो कहती है कि मैं ठोकर खाकर गिर पड़ी वे भूखे चले गये, दुखी है। तब दूसरा गर्भाङ्क : स्थान-मोहिनी का घर। मोहिनी और राधवल्लभ बैठे हैं, पास भोजन और ग्लास रखा है। मोहिनी वेश्या है और वसन्त की रखेली है, वही सब खर्च करता है। राधावल्लभ से बातें हो रही हैं, कि बसन्त आ छाता है। मोहिनी राधाबल्लभ को स्त्री के वस्त्र पहना कर छिपा लेती है। उसे माँ बताकर पहले बसन्त को पेड़ा लेने बाज़ार भेजती है, फिर पानी मंगाती है, फिर धोती मंगाती है और माँ के नाम से राधाबल्लभ को बिदा कर देती है। बसन्त कहता है वह तो आदमी था तो मोहिनी उसे छोड़ जाती है। बसन्त को अब ज्ञान होता है। वह अन्त में कहता है :

"दर्शक महाशयो, बचे रहना देखिये कहीं यही परिणाम आप लोगों का भी न हो।" 'जवनिका पतन।'

यह एकांकी तो है पर दो दृश्शों में दृश्य को नाटककार ने 'गर्भाङ्क' नाम दिया है। दृश्य के लिए गर्भाङ्क का प्रयोग इस समय प्रचलित-सा हो गया था, यह हमें पण्डित बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन की एक साक्षी से भी विदित होता है। लाला श्रीनिवासदास के **'संयोगिता स्वयंवर'** की बड़ी विस्तृत और कठोर समालोचना कादंबिनी में करते आपने लिखा है —

"......एक गँवार भी जानता होगा कि स्थान परिवर्तन के कारण गर्भाङ्क की आवश्यकता होती है, अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है और इसी परदे के बदलने को दूसरा गर्भाङ्क मानते हैं सो आपने एक ही गर्भांक में तीन बदल डाले।"

इस एकांकी का विषय सामाजिक है। नाटककार ने पतिव्रता और वेश्या का अन्तर प्रकट किया है। पहला दृश्य तो गम्भीर करुणा पैदा करने वाला है, हास्य का नाम भी नहीं। दूसरे में राधावल्लभ के माँ बनने में हास्य माना जा सकता है, पर उतना ही इसे प्रहसन बनाने के योग्य नहीं। वह हास्य भी पाठकों में कम स्थित होगा, पात्रों में ही अधिक। पात्र साधारण और हीन है, हीन वंश से नहीं कर्म से। यर्थाथतः किसी रस का भी पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया। कथानक में बसन्त को इतना बुद्धू बनाना भी व्याघात पैदा करता है सामाजिक नाटकों में स्वाभाविकता की सबसे अधिक रक्षा होनी चाहिए।

इन दो उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि आरम्भ—कालीन एकांकियों में न तो संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन होता था न किसी अन्य विशेष परिपाटी का।

इसी सम्बन्ध में आगे पृष्ठ १९ पर यों लिखा है :

"आरम्भ में जिस प्रहसन का उल्लेख किया गया है "जैसा काम वैसा परिणाम" वह भट्ट जी का ही हो सकता है। उस पर लेखक का नाम न होने से इस अनुमान को स्थान मिलता है।"

पर विदित होता है कि यह नाटक भारतेन्दु जी का ही लिखा हुआ है। भट्ट

---

१ हिन्दी एकांकी, द्वितीय संस्करण पृष्ठ १५, १६।

जी ने उस पर अपना नाम नहीं दिया और भारतेन्दु जी ने उसे अपनी सूची में स्थान दिया है। तब भारतेन्दु जी की बात ही माननी होगी।

इनके अतिरिक्त रामदीनसिंह जी ने निम्नलिखित दो नाटकों का और नामोल्लेख किया है।

१ पुष्पारीजात।

२ गौरचन्द्रोदय। "गौरचन्द्रोदय" तो वह नाटक प्रतीत होता है जिसके सम्बन्ध में बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है :

भारतेन्दु जी के गोस्वामी श्री राधाचरण जी से लिखे एक पत्र से ज्ञात होता है कि वह श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु की लीला को नाटक रूप में लिखना चाहते थे और उसके लिए उनसे कुछ साधन माँगा गया था। परन्तु इसका भी कोई अंश प्राप्त नहीं है। अतः यह समझ लेना पड़ता है कि यह आरम्भ ही नहीं किया गया था।

एक "प्रवास" नाटक का उल्लेख बाबू ब्रजरत्नदास ने और किया है, पर उस का भी कोई अंश प्राप्त नहीं होता।

भारतेन्दु जी के इन नाटकों के प्रकाशन का ऐतिहासिक क्रम यह है :

१ विद्यासुन्दर	१९२५ संवत्	सन् १८६८ नाटक अनु० बंगाल में १८५६, १८५८ प्रथम संस्क० जतीन्द्र मोहन, १८६५ द्वितीय संस्करण
२ पाखंड विडंबन	१९२९ ,,	१८७२ रूपक अनु०
३ वैदिकी हिंसा	१९३० ,,	१८७३ प्रहसन
४ धनंजय विजय	१९३० ,,	,, व्यायोग अनु०
५ मुद्राराक्षस	१९३२ ,,	१८७५ नाटक अनु०
६ सत्य हरिश्चन्द्र	१९३२ ,,	१८७५ नाटक
७ प्रेमजोगिनि	१९३२ ,,	१८७५ हरिश्चन्द्र चन्द्रिका [नाटिका में सन् १८७४ में छपना आरम्भ]
८ विषस्यविषमौषधम्	१९३३ ,,	१८७६ भाण मलहाराव गायकवाड़ १८७३, १८७५
९ कर्पूरमंजरी	१९३३ ,,	१८७६ सट्टक अनु०
१० श्री चन्द्रावली	१९३३ ,,	१८७६ नाटिका; चन्द्रावली १८६६
११ भारत दुर्दशा	१९३३ ,,	१८७६ नाट्य-रासक, वालास्वरूपक
१२ भारत जननी	१९३४ ,,	१८७० आपेरा भारतमाता १८७३ (छाया)

१३	नील देव	१९३७ ,,	१८८० गीति रूपक
१४	दुर्लभबन्धु	१९३७ ,,	१८८० नाटक (छाया)
१५	अंधेर नगरी	१९३८ ,,	१८८१ प्रहसन
१६	सती प्रताप	१९४१ ,,	१८८४ गीति-रूपक; सावित्री सत्यवान १८५८

जैसा काम वैसा परिणाम सं० १९३५/सन् १८८७ । १ अक्तूबर १८७८ के 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुआ ।

प्रहसन : बंगाल में 'येमन कर्म तमन फल' १८६६

यह किंचित् असमंजस में डालने वाली बात है कि 'सतीप्रताप' १९४१ संवत् में प्रकाशित हुआ, किन्तु यह १९४० में प्रकाशित होने वाले 'नाटक' नामक ग्रन्थ में भारतेन्दु की कृतियों में छठे स्थान पर सम्मिलित है। विदित होता है कि ऐसा किसी बाद के संस्करण में किया गया है। ऐसे कुछ संवर्द्धनों का उल्लेख तो संपादक बाबू ब्रजरत्नदास जी ने जहाँ-तहाँ पाद-टिप्पणियों में कर दिया है। जैसे 'नाटक' के पृष्ठ ७५२ पर ५९वीं० पाद-टिप्पणी है। यहाँ भी उन्हें वैसी टिप्पणी देनी चाहिये थी। संभवतः यह भूल ही है। और हमें यह मानना चाहिये कि 'सतीप्रताप' पहले 'नाटक' नामक पुस्तक के बाद लिखा गया और उसके बाद के संस्करणों में 'सती-प्रताप' को भी सूची में सम्मिलित कर लिया गया।

इन नाटकों में से, स्वयं भारतेन्दु जी ने, कुछ के सम्बन्ध में सूचना दी है :

"विद्यासुन्दर"—'महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलंबन करके जो विद्यासुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह वर्ष हुए यह हिन्दी भाषा में निर्मित हुआ'।

(द्वितीय आवृति के उपक्रम में)।

पाखंड बिडंबन—"इति श्री प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में पाखण्ड विडम्बन नाम यह तीसरा खेल समाप्त हुआ।"

धनंजय-विजय—विदित हो कि यह जिस पुस्तक से अनुवादित किया गया है वह संवत् १५३७ की लिपि है। यह कांचन कवि के संस्कृत नाटक का अनुवाद है।

मुद्राराक्षस—महाकवि विशाखदत्त का बनाया 'मुद्राराक्षस'।

सत्य हरिश्चन्द्र—'इसकी कथा शास्त्रों में बहुत प्रसिद्ध है और संस्कृत में राजा महिपाल देव के समय में आर्य क्षेमीश्वर कवि ने चण्ड कौशिक नामक नाटक

इन्हीं हरिश्चन्द्र के चरित्र में बनाया है। अनुमान होता है कि इस नाटक को बने चार सौ वर्ष के ऊपर हुए क्योंकि विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्य ग्रन्थ में इसका नाम लिखा है।'

कर्पूरमंजरी : पारिपार्श्वक : हां आज सट्टक न खेलना है !

सूत्र : किसका बनाया ?

पारि० : राज्य की शोभा के साथ अंगों की शोभा का और राजाओं में बड़े दानी का अनुवाद किया।

सूत्र : (विचार कर) यह तो कोई कूट सा मालूम पड़ता है। (प्रकट) हाँ, हां; राजशेखर का और हरिश्चन्द्र का।

भारतेन्दु के इन निजी उल्लेखों से विदित होता है कि विद्यासुन्दर, पाखण्ड विडम्बन, धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस, और कर्पूरमंजरी तो निश्चय ही अनुवाद हैं या छायानुवाद।

'सत्य हरिश्चन्द्र' के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी ने यह नहीं लिखा कि 'चण्ड-कौशिक' से उन्होंने इसका अनुवाद किया है। किन्तु 'चण्डकौशिक' का जिस रूप में उन्होंने उल्लेख किया है, उससे ध्वनि कुछ यही निकलती है कि यह यदि उसका अनुवाद नहीं तो उसके मूल कथानक के आधार पर निर्मित किया है, किंतु 'प्रस्तावना' में जिस रूप में 'भारतेन्दु जी' ने अपना वर्णन किया है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह उन्हीं का लिखा हुआ है। इसकी कथा वहीं से ली गई है जहाँ से 'चण्ड-कौशिक' की ली गई है। इधर शुक्ल जी ने सूचना दी कि "सत्य हरिश्चन्द्र मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बँगला नाटक देखा है, जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है।" **(हिन्दी साहित्य का इतिहास)**

बंगाल में मनमोहन बोस ने १८७४ के दिसम्बर में हरिश्चन्द्र नाटक लिखा था। यह नाटक 'बऊ बाजार थियेटर' के लिए लिखा गया था पर यह वहाँ एक दुर्घटना हो जाने के कारण न खेला जा सका।[1] भारतेन्दु जी का 'सत्य हरिश्चन्द्र' १८७५ में लिखा गया विदित होता है।[2] संवत् १९३२ सन्

---

१ इंडियन स्टेज दूसरा भाग पृ० १३२

२ देखिये 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त पृ० ३८ तथा पृ० ६८२। डा० गुप्त ने पृ० ३८ पर सत्य हरिश्चन्द्र का रचनाकाल १८७५ देते हुए उसके आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया है। इससे यह सब कुछ संदिग्ध हो जाता है।

१८७५ के निकट ही बैठेगा। सन् १८७४ तक यदि पहुँचेगा भी तो उसकी समाप्ति के ओर-पास ही रहेगा। यह सन्-संवत् हर दशा में मनमोहन बोस की कृति की रचना-तिथि के इतना निकट होगा कि इन दोनों में किसी प्रकार के पारस्परिक लेन देन का सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा। भारतेन्दु जी का सत्य हरिश्चन्द्र फलतः एक स्वतन्त्र रचना विदित होती है। शुक्ल जी ने बँगला का कौन-सा नाटक देखा, वह कब लिखा गया और किसने लिखा यह विदित नहीं। पर बँगला के नाटक-साहित्य में मनमोहन बोस का हरिश्चन्द्र प्रसिद्ध है। वह नाटक भारतेन्दु का सहारा नहीं बन सकता यह हम देख चुके हैं। हरिश्चन्द्र का पौराणिक आख्यान अत्यन्त लोकप्रिय आख्यान है, और एक महान् आदर्श प्रस्तुत करता हैं। अतः 'सत्य हरिश्चन्द्र' को उस समय तक हरिश्चन्द्र का मौलिक नाटक ही मानना होगा जब तक कि वह बँगला नाटक हस्तगत नहीं होता जिसे शुक्ल जी ने देखा था।

'भारत जननी' के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। शुक्ल जी ने बताया है कि यह नाटक भारतेन्दु जी के किसी मित्र ने बंगला के 'भारतमाता' नामक नाटक से अनुवाद किया था, भारतेन्दु जी ने उसका संशोधन किया। ऐसा संशोधन किया कि उसको एक नया ही रूप दे दिया। डा० महादेव साहा तथा श्रीनारायण पांडे ने अपने लेख में लिखा है कि 'भारत जननी' के भी मुखपृष्ठ पर रामदीनसिंह की प्रथम प्रकाशित नाटकावली में 'बंग भाषा' की 'भारत माता' के आशय के अनुसार भारत—भूषण हरिश्चन्द्र ने संकलित किया का उल्लेख है।[1] इन लेखक द्वय ने इसमें से 'संकलित' को पकड़ा है। फिर शुक्ल जी के इतिहास का उक्त हवाला भी दिया है। साथ ही 'क्षत्रिय-पत्रिका' के एक विज्ञापन का उद्धरण देकर उसमें आये 'अनुमति' शब्द से भी कुछ निष्कर्ष निकालना चाहा है जो उन्हीं के शब्दों में यों प्रकट हुआ है :

"बाद में बहुतेरे लेखकों ने भी इसको अनुवाद बताया है, परन्तु आज भी बहुतेरे इसे मौलिक बनाने का मोह न जाने क्यों नहीं छोड़ पा रहे हैं।" 'आज भी बहुतेरों' में लेखक-द्वय ने डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी को सम्मिलित किया है। इसी प्रसंग में इन लेखक-द्वय ने आगे लिखा है **"हरिश्चन्द्र ने प्रारम्भ में २, ३ भाग जोड़े हैं। बीच में यवनों को लाकर तथा महारानी की भूरि-भूरि प्रशंसा कर इस नाटक को घोर साम्प्रदायिक तथा राजभक्तिपूर्ण बना दिया।"**

---

१ यहाँ हम अपनी पुस्तक 'हिन्दी एकांकी' के द्वितीय संस्करण के पृ० ११ की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। श्री राधाचरण गोस्वामी ने हिन्दी प्रदीप के एक विज्ञापन में 'भारतमाता' का रूपान्तर 'भारत-जननी' माना है।

इस अन्तिम कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं लेखक-द्वय के मत से इस नाटक का अभिप्राय बंगला के नाटक से एकदम भिन्न हो जाता है। फिर भारतेन्दु जी ने दो तीन भाग तो आरम्भ में बढ़ाये और बीच में यवनो का समावेश कर दिया। यह बातें क्या सिद्ध करतीं हैं ? इतना बदलने, जोड़ने, घटाने के बाद भी यह नाटक क्या बंगला की 'भारत माता' का अनुवाद ही कहा जायेगा। "बंग भाषा में एका और उत्साह का प्रवेश भी दिखलाया है किन्तु इस देश में अभी न एका है न उत्साह। इस हेतु स्वांग यहाँ नहीं लाए।[1]

इन समस्त कथनों का निष्कर्ष यही निकलता है कि 'भारत जननी' का 'प्रबन्ध विधान' बँगला की रचना 'भारत माता' से लिया गया है और उसमें भारतेन्दु जी ने अपने मनोनुकूल परिवर्तन करके प्रस्तुत किया। ऐसी स्थिति में उसे मौलिक भी कहा जाय तो विशेष आपत्ति नहीं हो सकती। भले ही स्वयं भारतेन्दु ने अत्यन्त विनम्र भाव से यही क्यों न लिखा हो कि :

'भारत-जननी' रूपक जो गत नवम्बर १८७८ ई० से छपता है उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है। वह मेरा बनाया नहीं है। बंगभाषा में 'भारतमाता' नामक जो रूपक है वह उसी का अनुवाद है जो मेरे एक मित्र का किया है जिन्होंने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है। मैंने उसको शोधा है और जो अंश कुछ भी अयोग्य था उसको बदल दिया है। कवि कीर्ति का लोभ नहीं करता। अतएव यह प्रकाश करना मुझ पर आवश्यक हुआ।"

अब प्रश्न 'दुर्लभ बन्धु' का है। 'दुर्लभ बन्धु' अंग्रेज़ी के मर्चेन्ट आफ़ वेनिस नामक शेक्सपियर के नाटक का अनुवाद है, इसमें कोई संदेह नहीं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इसके सम्बन्ध में यह लिखा है कि :

"दुर्लभबन्धु" अर्थात् वंशपुर का महाजन। महाकवि शेक्सपियर के बांधुत्व निदर्शन के अपूर्व संयोगान्त नाटक 'मर्चेण्ट ऑफ़ वेनिस' का साधु भाषा में अनुवाद। निजबन्धु श्री बाबू बालेश्वर प्रसाद बी० ए० की सहायता से और बँगला पुस्तक 'सुरलता' की छाया से हरिश्चन्द्र ने लिखा।[2]

---

१ भारतेन्दु ग्रन्थावली पृ० ५१४

२, देखिये 'नया पथ' 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कुछ नाटक'—लेखक श्रीनारायण पांडे, महादेव साहा।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'दुर्लभ बन्धु' में पात्रों के नामों का भारतीयकरण बंगला पुस्तक 'सुरलता' की प्रेरणा पर किया है। वस्तुतः 'दुर्लभबन्धु' के अनुवाद में प्रमुख माध्यम बँगाली 'सुरलता' का रहा है। भारतेन्दु जी ने नामों के भारतीय-करण में अंग्रेज़ी की निकटता का बहुत ध्यान रखा है जैसे पोर्शिया का पुरश्री।

भारतेन्दु जी के उक्त नाटकों के अतिरिक्त कुछ अन्य नाटक भी ऐसे हैं जिनके नामराशी अथवा विषय-विषयक नाटक तो बँगला में मिल ही जाते हैं। जैसे '**विषस्य विषमौषधम्** का विषय-विषयक **मल्हारराव गायकवाड़** भारतेन्दु के भाण से तीन वर्ष पूर्व लिखा गया।

श्री **चन्द्रावली** का नामराशी '**चन्द्रावली**' भारतेन्दु की कृति से दस पूर्व लिखा **गया था।**

"**जैसा काम वैसा परिणाम**" का नामराशि "**येमन कार्य तेमन फल**" भारतेन्दु कृति से १२ वर्ष पूर्व लिखा गया। **सती प्रताप** विषय-विषयक "**सावित्री सत्यवान**" भारतेन्दु कृति से २६ वर्ष पूर्व लिखा गया।

भारतेन्दु जी ने अपने 'नाटक' नामक ग्रन्थ में एक वाक्य कह दिया है :

"**आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जायेंगे और अपनी सम्पत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षय रत्न भांडागार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करे।**" यह वाक्य भारतेन्दु के यथार्थ स्रोत को भली प्रकार बता देता हैं।

भारतेन्दु जी के नाटकों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि 'उनकी प्रेम-योगिनी,'[1] नीलदेवी, विषस्य-विषमौषधम, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, भारत दुर्दशा, भारत जननी, सती प्रताप एकांकी नाटक ही हैं। यह ध्यान देने की बात है, कि भारतेन्दु जी के लिखे मौलिक नाटकों में से चन्द्रावली और अन्धेर नगरी[2] तो नाटक हैं, शेष सब एकांकी हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में लिखे तो गये हैं 'अंक' पर

---

१. प्रेमयोगिनी में नाटककार ने प्रस्तावना दी है और आरम्भ में 'पहिला अंक, पहिला गर्भांक' दिया है। इससे विदित है, कि भारतेन्दु जी इसे नाटक का रूप देना चाहते थे एकांकी का नहीं, यह अपूर्ण है। अपूर्ण होने के कारण ही इसमें केवल चार गर्भांक हैं—जिससे यह एकांकी जैसा लगता है।

२. अन्धेर नगरी में अंक इतने छोटे हैं, कि वे गर्भांक ही लगते हैं। ऐसी अवस्था में इस प्रहसन को भी वस्तुतः एकांकी माना जा सकता है। वस्तुतः अंक संज्ञा उसे ही मिलनी चाहिए जिसमें कई गर्भांक हों या जो बहुत बड़ा हो।

ये 'अंक' यथार्थ में 'दृश्य' ही हैं। इस समय दृश्य के लिए किस शब्द का प्रयोग किया जाय यह किंचित् अनिश्चत था। 'गर्भाङ्क' का प्रयोग 'दृश्य' के लिए ही होता था, 'सती प्रताप' में भारतेन्दु जी ने गर्भाङ्क का प्रयोग किया है।[1] 'दृश्य' शब्द का भी प्रयोग होता था, नीलदेवी में 'दृश्य' का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः सवसे पहले 'अङ्क' शब्द को ही 'दृश्य' का पर्याय माना गया होगा। संस्कृत नाटकों में 'अंक' का विधान तो होता है, 'दृश्य' का नहीं। फलतः नयी प्रणाली की नाटक योजना में 'अंक' को वही स्थान दिया जा सकता था जो दृश्य को है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के तीन अंक इतने लघु व्यापार के प्रदर्शक हैं कि वे 'Act' के पर्याय अंक के द्योतक नहीं हो सकते। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' भारतेन्दु जी का पहला मौलिक नाटक है। उस समय नयी और पुरानी परिपाटी के सामंजस्य का कोई मार्ग ढूँढ़ने के लिए वे व्यस्त होंगे। उन्होंने तब 'अंक' को 'दृश्य' अर्थ में ग्रहण कर लिया होगा। तब बाद के विचार से अंक को Act का अर्थवाचक और गर्भाङ्क को Scene का पर्याय माना गया। फिर 'दृश्य' शब्द का ही उपयोग कर डाला। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' एकांकी नाटकों का पूर्व रूप है। इसी प्रकार 'नीलदेवी' भी। प्रो० ललिता प्रसाद सुकुल ने 'नीलदेवी' का सम्पादन करते हुए उसकी भूमिका में लिखा है :—

"अब प्रश्न है शास्त्रोक्त नियमों के पालन का। जैसे ऊपर कहा जा चुका है रूपक का यह भेद या उपभेद[2] प्राचीन नहीं है, अतः प्राचीन शास्त्र में उसके नियम खोजना व्यर्थ है। इसमें हम देखते हैं, कि अंकों के आधार पर इसका विभाजन नहीं हुआ है वरन् केवल दस दृश्यों में इसकी सामग्री पेश की गई है। यह एक विशेष नवीनता है। यदि इसे आधुनिक एकांकी का पूर्व रूप कहा जाये तो अनुचित न होगा।"

अङ्क में विभाजित न कर दृश्यों में विभाजित करना एक विशेष नवीनता बतायी गयी है, पर यह नवीनता नहीं। यह तो प्रथा उस समय प्रचलित हो गयी थी—और निस्सन्देह यह हिन्दी के एकांकियों की प्रथमा-वस्था है। 'नीलदेवी' में हमें न तो सूत्रधार के दर्शन होते हैं, न नान्दी के। पहले दृश्य में तीन अप्सरायें गाती हैं;—

---

१. भारतेन्दु जी ने अपनी 'नाटक' नाम की रचना में यह आदेश दिया है—"प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है।" यहाँ गर्भांक के अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है। पृष्ठ ७२३ की पहली पद टिप्पणी: वर्तमान समय में जहाँ जहाँ ये दृश्य बदलते हैं, उसको गर्भांक कहते हैं।'

२. इसको (नीलदेवी को) गीत-रूपक नाम दिया गया है। इसी से यहाँ अभिप्राय है।

दो गीत हैं : पहले में भारत की क्षत्राणियों की स्तुति है, यह नाटक का मूल सन्देश है। दूसरे गीत में प्रेम की बधाई है। इन अप्सराओं का शेष नाटक से कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरा दृश्य कथारम्भ करता है। बिना किसी भूमिका के नाटक में गति का आरम्भ हो जाता है। हमें इस दृश्य में एकदम विदित होता है, कि सूरजदेव राजपूत से शरीफ परेशान हैं और वह इस निश्चय पर पहुँचता है कि लड़कर फ़तह पाना मुश्किल है, किसी रात को सोते हुए उसे गिरफ़्तार कर लाना चाहिए। नाटक के कथा-सूत्र का एकदम इस प्रकार गतिवान हो जाना 'एकांकी' का सबसे प्रमुख लक्षण है, जो हमें नीलदेवी में मिलता है। 'नीलदेवी' में पारसी स्टेज का भी किंचित् प्रभाव दिखायी पड़ता है। आरम्भ में अप्सराओं द्वारा गायन, तथा स्थान-स्थान पर संगीत का प्रयोग। 'भारत-दुर्दशा' को भारतेन्दु जी ने 'नाट्यरासक' वा 'लास्यरूपक' नाम दिया है। इसमें नान्दी तो नहीं मंगलाचरण अवश्य मिलता है, पर यह मंगलाचरण नाटक का उस प्रकार का कोई भाग नहीं जिस प्रकार का नान्दी होता है। पर इसका भी प्रथम दृश्य रूप में नीलदेवी के प्रथम दृश्य के समान है। इसमें एक योगी आकर एक गीत द्वारा भारत की दुर्दशा की ओर संकेत करता है और प्रथम दृश्य समाप्त हो जाता है, इस योगी का शेष नाटक से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

भारतेन्दु जी के अधिकांश एकांकियों की प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें संस्कृत शैली का अनुकरण नहीं मिलता। जिन विद्वानों ने यह आरोप उन पर किया है, उन्होंने गहरी दृष्टि नहीं डाली। इनका विषय मुख्यत: भारत के गौरव का ज्ञान, उसकी दुर्दशा पर रोना तथा भारत के राष्ट्रीय कल्याण की आशा-निराशा का द्वन्द्व-भारतेन्दु जी में फिर भी भारत के सम्बन्ध में भविष्य सम्बन्धी दुःखद भाव ही प्रधान थे। 'भारत दुर्दशा' में भारत मूर्च्छित है, भारत भाग्य उसे छोड़ जाता है। नीलदेवी में यद्यपि नीलदेवी के शौर्य, को वरेण्य और श्लाघ्य दिखाया गया है, किन्तु सूर्यदेव को एक देवता ने जो भविष्यवाणी सुनायी, उससे नाटक में प्रदर्शित नीलदेवी की वीरता और शरीफ का घात कर डालना भी किसी प्रकार नाटक को अवसाद से बाहर नहीं निकाल सके। 'सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ रहि नासा। अब तजहु वीरवर भारत की सब आसा से समस्त नाटक पर दुःख की छाया लम्बी होकर जा पड़ी है।

इन नाटकों का तन्त्र बहुत सीधा-सादा है। नाटककार ने एक कथा भाग की कल्पना करली है, उसमें से उसने कुछ दृश्य चुन लिए हैं और उन दृश्यों को अपने अन्दर पूर्ण बनाकर इस प्रकार उनको व्यवस्थित कर दिया है कि कथा-सूत्र सम्बद्ध प्रतीत होता है। कहीं-कहीं महत्त्वहीन दृश्यों का भी समावेश है। ऐसे दृश्य या तो

पूर्व की घटना और आगे आने वाली घटना में समय का विशेष व्यवधान उत्पन्न करने के लिए अथवा शूद्र-पात्रों वाले हीन विष्कम्भक की तरह किसी स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए हैं। नीलदेवी में सराय का दृश्य साधारणतः कथा-सूत्र सम्बन्धी कोई महत्त्व नहीं रखता। इस प्रकार कथा-सूत्र दृश्यों में हलके-हलके आगे बढ़ता चला जाता है। एक भारी घटना घटित होती है, जिससे नाटक का अणु-अणु काँपने लगता है और नाटक समाप्त हो जाता है। भारतेन्दु जी के एकांकियों में दृश्य के स्थान बदलते हैं, समय का कोई निबन्धन विशेष नहीं प्रतीत होता।

भारतेन्दु जी के स्वतन्त्र एकांकी नाटकों की यही व्यवस्था है। अतः भारतेन्दु जी को हिन्दी का प्रथम एकांकीकार मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आज के विकसित एकांकियों की साहित्य-धारा में जो प्रथमावस्था हो सकती है वह भारतेन्दु जी में हमें स्वतः मिलती है। यद्यपि एकांकी के नाम से भारतेन्दु जी परिचित नहीं थे, और उसे साहित्य का अलग अङ्ग नहीं मानते थे।

'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण को हम संस्कृत प्रणाली का एकांकी कह सकते हैं।

भारतेन्दु के समस्त नाटकों को रूप की दृष्टि से विभाजित किया जाय तो उन्होंने ग्यारह प्रकार अनुवाद और मौलिक नाटकों के रूप में प्रस्तुत किये हैं जिन्हें उनकी परिभाषा के साथ यहाँ लिखा जाता है :

१. **नाटक :** काव्य के सर्वगुण-संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इनका नायक कोई महाराज (जैसा दुष्यन्त) वा ईश्वरांश (जैसा राम) वा प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसा श्री कृष्ण) होना चाहिए। रस शृंगार वा वीर। अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिए। (भारतेन्दु)

नवीन नाटकों के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी का परामर्श है कि जिनमें कथा भाग विशेष और गीतिन्यून हो वह नाटक। भारतेन्दु जी की रचनाओं में से विद्यासुन्दर, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चन्द्र और दुर्लभ-बन्धु को नाटक संज्ञा दी गयी है। इसमें से "सत्य हरिश्चन्द्र" पर भारतेन्दु जी का कुछ मौलिक अधिकार है। शेष पर वह अधिकार नहीं।

२. **रूपक :** 'रूपक' की भारतेन्दु जी ने कोई परिभाषा नहीं दी। संस्कृत नाट्य-शास्त्रों में "रूपक" जिस विशद अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसमें "पाखण्ड विडम्बन" या ऐसे ही अन्य नाटकों को इस काल में रूपक नहीं कहा गया। इसे स्पष्ट करने लिए मैं अपना ही एक उद्धरण यहाँ देता हूँ।

उक्त विज्ञापन में 'नाटक' नाम नहीं दिया गया है, 'रूपक' शब्द का प्रयोग है। यह रूपक शब्द विशेषार्थक ही कहा जायेगा। संस्कृत नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से यों प्रत्येक नाटक ही रूपक है, पर 'रूपक' नाम का कोई नाटक नहीं है। या तो लेखक अपने नाटक को शास्त्रीय दृष्टि से उचित नाम नहीं दे सका इसलिए उसने जाति के नाम का उपयोग किया है; या जिसकी अधिक सम्भावना प्रतीत होती है, ऐसे छोटे नाटक जो किसी विशेष सामयिक उपयोग के लिए लिखे गए हो बँगला में रूपक कहे जाते रहे हों। जो भी हो गोस्वामी जी ने 'भारत-जननी' और 'भारतवर्ष में यवन लोग' इन रचनाओं को 'रूपक' संज्ञा दी है। बँगला में ऐसे नाटक रूपक कहे गये इसका प्रमाण हमें मिलता है। १५ फरवरी १८७३ में हिन्दू मेले के अवसर पर 'नेशनल थियेटर' में एक राष्ट्रीय नाटक खेला जिसका नाम 'भारत-माता-विलाप' था। हो सकता है यही वह नाटक हो जिसका 'भारत-माता' नाम से ऊपर उल्लेख हुआ है, और जिसका अनुवाद भारतेन्दु जी ने 'भारत-जननी' नाम से किया। इसके सम्बन्ध में कार्तिक १२८० b.s. के बंग दर्शन में टिप्पणी दी गयी :

'A Burlesque or allegory, Mother India, the presiding deity of fortune, some Indians and two Europeans, Patience and courage were its characters. It was a tolerably good production.'

तो रूपक का प्रयोग अलंकार्य अर्थ में है—जिसमें ऐसे पात्रों की रूप-कल्पना की जाय जो मनुष्य-शरीरधारी नहीं। उदाहरण के लिए न तो 'भारत-लक्ष्मी' जैसा कोई व्यक्तित्व कहीं है, न भारत माता ही मानव के रूप में कहीं मिलेगी। यह मनुष्यत्व का आरोप (Personification) ही इनके रूपक होने का कारण है। (हिन्दी एकांकी पृ० १२, १३) भारतेन्दु जी का 'पाखंड विडंवन' रूपक माना गया है।

३. प्रहसन : हास्यरस का मुख्य खेल। नायक, राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिये किन्तु अब अनेक दृश्य दिए बिना नहीं लिखे जाते। उदाहरण····'वैदिकी हिंसा' अन्धेर नगरी। इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि "वैदिकी हिंसा" तथा अन्धेर नगरी में आये हुए अंक "दृश्य" के समान ही हैं। अत: दोनों को एक अंक वाला ही माना जा सकता है। भारतेन्दु जी के दोनों ही प्रहसन मौलिक हैं।

४. व्यायोग : युद्ध का निदर्शन, स्त्री पात्र रहित और एक ही दिन की कथा का होता है। नायक कोई अवतार वा वीर होना चाहिये। ग्रन्थ नाटक की अपेक्षा छोटा। उदाहरण "धनंजय विजय"।

५. नाटिका : नाटिका में चार अंक होते हैं और स्त्री पात्र अधिक होते हैं तथा नाटिका की नायिका कनिष्ठा होती है अर्थात् नाटिका के नायक की पूर्व प्रणयिनी के वश में रहती है।

भारतेन्दु की रचनाओं में "प्रेम जोगिनी" और "चन्द्रावली" नाटिका कही गयी हैं। प्रेम जोगिनी के प्राप्त पृष्ठों में नाटिका के कोई लक्षण नहीं दिखायी पड़ते। प्रथम अं के चार गर्भाङ्कों में एक भी स्त्री पात्र नहीं झांका। चन्द्रावली में नाटिका के लक्षण सिद्ध हैं।

६. भाण : भाण में एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देख-देख कर जैसे किसी से बातें करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीच में हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना, इत्यादि आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीच में संगीत भी होता है। उदाहरण "विषस्यविषमौषधम्"। यह भाण भी भारतेन्दु जी की मौलिक रचना है, भले ही विषय की प्रेरणा कहीं अन्यत्र से मिली हो।

७. सटक : जो सब प्राकृत में हो और प्रवेशक, विष्कम्भक, जिसमें न हों और शेष सब नाटिका की भाँति हो वह सट्टक है। उदाहरण "कर्पूर मंजरी"। इसको भारतेन्दु जी ने अनुवाद करके प्रस्तुत किया है।

८. नाट्यरासक वा लास्यरूपक : इसमें एक अंक, नायक उदात्त, नायिका वासकसज्जा, पीठमर्द उपनायक, और अनेक प्रकार के गान नृत्य होते हैं। भारतेन्दु की रचनाओं में "भारत दुर्दशा" नाट्य-रासक माना गया है।

९ आपे: भारतेन्दु जी ने आपेरा के लिए 'संगीत-नाट्य' पर्याय दिया है। नाटक पृ० ७५८। भारत जननी को 'आपेरा' कहा गया है। १८८३ फर्वरी के बंगला-दर्शन नामक बंगाली पत्र में 'आपेरा' के सम्बन्ध में यह टिप्पणी है :

"कवेक वत्सर हेला, आर एक पद्धतिर यात्रा आरम्भ हइयाले। इहा के केह-केह अपेरा वाले, केह वा उपहास करिया 'ओप्पेयेरा' वले।

इहाते सामला आचे, पेंटुलुन आचे, तखारी आचे, साधु भाषा आचे, वक्रता आचे, चीत्कार आचे, पतन आचे, उत्थान आचे, इहाते देखिवार जिनिस यथेष्ठ, पूर्व लोके यात्रा सुनित, एखन लोके यात्रा देखे। ताहातेइ एइ नूतन यात्राते वेषभूषार एत जाक संगीत ओ काव्यरसेर एत अभाव"

१० **गीत-रूपक :** भारतेन्दु जी ने लिखा है कि

"ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं : एक नाटक, दूसरा गीति-रूपक। जिनमें कथाभाग विशेष और गीति न्यून हो वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हो वह गीति रूपक। 'नीलदेवी' तथा 'सती-प्रताप' को गीतिरूपक माना गया है।

इस प्रकार भारतेन्दु जी ने दस प्रकार के नाट्य-रूप अपनी लेखनी । अनुवाद अथवा मौलिक कृति के रूप में प्रस्तुत किये। इन दस में से तीन रूप ऐसे हैं जिनका प्राचीन नाट्य-शास्त्र में उल्लेख नहीं : रूपक, आपेरा तथा गीतिरूपक, और सात रूप ऐसे हैं जो प्राचीन शास्त्र के अनुकूल हैं, प्रश्न यह है कि भारतीय शास्त्र के अन्य रूपों को प्रस्तुत क्यों नहीं किया गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेन्दु जी की मृत्यु अत्यन्त ही छोटी अवस्था में हो गयी थी। यदि वे जीवित रहते तो संवत: शेष नाटकों के रूपों के उदाहरण भी वे प्रस्तुत करते। पर ऐसी बात नहीं प्रतीत होती। क्योंकि एक तो उन्होंने 'नाटक' नामक ग्रन्थ लिख डाला जो ऐसा विदित होता है कि उनकी नाटक रचना के क्रम में अन्त में ही लिखा जाना चाहिये था। किन्तु एक दूसरा कारण इसी नाटक नामक पुस्तक के अध्ययन से विदित होता है। उन्होंने थ में प्राचीन शास्त्र की दृष्टि से निम्न भेदों का उल्लेख किया है :

रूपक-भेद

१. नाटक
२. प्रकरण
३. भाण
४. व्यायोग
५. समवकार : उदाहरण भाषा में नहीं है।
६. डिम : उदाहरण नहीं।
७. ईहामृग : उदाहरण नहीं।
८. अंक : उदाहरण नहीं।

९. वीथी : उदाहरण नहीं ।
१०. प्रहसन
११. महानाटक

उपरूपक-भेद

१२. नाटिका
१३. त्रोटक
१४. गोष्ठी : उदाहरण नहीं ।
१५. सट्टक
१६. नाट्यरासक

इनमें से ५, ६, ७, ८, ९, ११, १४, ये सात ऐसे भेद हैं जिनके सम्बन्ध में भारतेन्दु जी ने यह स्वीकार किया है कि उदाहरण नहीं । संस्कृत-साहित्य के अध्ययन की उस समय तक जो स्थिति थी, उस समय तक इन समस्त रूपों के उदाहरण ग्रन्थ भारतेन्दु जी को प्राप्त नही हो सके तो आश्चर्य नहीं किया जा सकता । ऐसी अवस्था में केवल शास्त्र ज्ञान के आधार पर ही नाटक के किसी रूप की रचना नहीं की जा सकती थी । पर केवल प्रकरण और त्रोटक ये दो रूप ही ऐसे हैं जिनके उदाहरणों से भारतेन्दु जी परिचित थे पर जिन पर उन्होंने लेखनी नहीं उठायी । इनमें में 'प्रकरण' और नाटक में केवल कथावस्तु के प्रकार भेद-मात्र के कारण संभवतः उन्होंने उसका अलग उदाहरण देने का प्रयत्न नहीं किया । केवल त्रोटक ही ऐसा रहता है जिसके न लिखने के लिए कोई कारण प्रतीत नहीं होता सिवाय इस कारण के जो उन्होंने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

अथ शेष उपरूपक

यों ही थोड़े-थोड़े भेद में और भी शेष उपरूपक होते हैं। न तो इन सबों का काम ही विशेष पड़ता है । इससे सविस्तार वर्णन नहीं किया गया। (नाटक)

इससे भारतेन्दु जी के दृष्टिकोण का कुछ पता चलता है। उन्होंने प्रायः उन्हीं नाटक-भेदों की रचना की है जिनका कुछ विशेष काम पड़ सकता है।

जिन नाटकों के प्रकारों की रचना की गयी हैं उनके स्वभाव में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण अन्तर है। नाटक तो सामान्य लक्षणों से युक्त कृति होगी ही, इसलिए इसकी रचना तो सहज ही अनिवार्य है। प्रहसन में हँसी की प्रमुखता होती है इसलिए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। 'भाण' सभी नाटक-प्रकारों में एक

अत्यन्त ही अद्भुत प्रकार है, केवल एक ही कवि या पात्र अभिनय करता है। इसमें अभिनय-कला की आधुनिक दृष्टि से संभावना मानी जा सकती है। यह इतना अनोखा रूप है कि अनायास ही ध्यान आकर्षित करता है। 'व्यायोग' की तीन विशेषतायें भारतेन्दु के युग के लिए महत्त्वपूर्ण थीं :

१. स्त्री पात्रों का अभाव।

२. युद्ध का निदर्शन, जिससे वीर रस का परिपाक होता।

३. एक ही दिन की कथा यानी छोटा वृत्त।

इन विशेषताओं के कारण यह रूप स्वयं ही भारतेन्दु के लिए आकर्षक हो गया होगा कौर तत्कालीन दृष्टि से उन्हें संभावनाशील लगा होगा।

नाटिका में स्त्री पात्रों की बहुलता और प्रधानता ने उनके कृष्ण-भक्ति पूर्ण मानस को मुग्ध कर लिया होगा। यह उनकी चन्द्रावली से सिद्ध है। इसीलिए नाटिका में उनका मन रमा।

नाट्यरासक या लास्यरूपक विविध नाम नृत्यों के समावेश के कारण प्रिय हुआ, पर इससे भी अधिक इसलिए कि यह बंगाल में प्रचलित हो गया था।

प्राचीन रूपों में केवल 'सट्टक' ऐसा रहता है जिसके लिए कोई महत्त्वपूर्ण कारण प्रतीत नहीं होता। पर इसमें प्रवेशक, विष्कंभक न होने से यह भी नये नाटकों के निकट पहुँचता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु जी ने नाटक-रचना में इस बात का ध्यान रखा है कि नवीन दृष्टि से बनने वाले नाट्य-शास्त्र के लिए सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण भेदों के उदाहरण प्रस्तुत कर दिये जायें।

रूपक, आपेरा और गीतिरूपक किसी सीमा तक नये प्रयत्न माने जा सकते हैं। रूपक में अलौकिक तत्त्वों का मानवीयकरण तो प्रधान होता ही है, और इस रूप में 'प्रबोधचन्द्रोदय' संस्कृत में भी लिखा गया था, पर इसके साथ ही भारतेन्दु-काल में रूपक को प्रायः एक ही अंक में समाप्त किया जाता था। भारतेन्दु-युग में 'रूपक' की आवश्यकता थी क्योंकि इस बहाने उन विविध विकारों की व्याख्या रोचक रूप में की जा सकती थी और दर्शक या पाठक उन विकारो के प्रभाव को पूरी तरह हृदयंगम कर सकता था।

'आपेरा' में नाटक के अन्य भेदों से कुछ अधिक संगीत नाट्य रहता है। बंगाल में इसका उस समय विशेष रिवाज था।

'गीतरूपक' में गीतिमयता की प्रधानता रहती थी इसलिए भारतेन्दु जी को पसन्द आया।

भारतेन्दु जी के इन नाटकों की कथावस्तु के स्रोत एक तो बंगाली और दूसरे संस्कृत के नाटक थे जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। स्वतन्त्र रचनाओं में वैदिकी हिंसा का कथानक, प्रेमजोगिनी का, विषस्यविषमौषधम् का कल्पना से लिया गया है। इनके द्वारा नाटककार ने अपने समय का यथार्थ चित्र देने की चेष्टा की है।

'वैदिकी हिंसा' का कथानक यह है :

गृद्धराज नामक राजा मांस, मदिरा, महिला-सेवन को वैदिक धर्म के रूप में मानता है। उसके पुरोहित उसके पोषक हैं जो अपनी तरह विविध प्रमाणों का अर्थ लगाते हैं। विविध धर्मावलंबी राजा के यहाँ आते हैं, पर केवल धूर्त ही वहाँ टिकते हैं। मांस-मदिरा का खूब ज़ोर रहता है। तब अन्त में सब यमलोक पहुँचते हैं। राजा के अनुयायी नरक पाते हैं और शेष वैष्णव स्वर्ग।

इससे नाटककार ने अपने समय के बढ़ते हुए अनाचार पर चोट की है : मांस खाने वालों पर, पुनर्विवाह करने वालों पर, स्त्री की स्वतन्त्रता पर, मत्स्य को मांस न मानने वालों पर, तन्त्र पर, अंग्रेजी पढ़े हिन्दुओं पर, मिथ्यावादियों पर, बाबू राजेन्द्रलाल पर, शाक्तों पर, घूँस देने वालों पर। प्रेमजोगिनी तो स्वयं भारतेन्दु जी की अपनी जीवनी के रूप में लिखी जा रही थी। उसके पात्र तो यथार्थ जगत के पात्र विदित होते हैं जिनके नाम नाटक के लिए बदले गये हैं।

"विषस्यविषमौषधम्" में तत्कालीन ऐतिहासिक और अन्य स्थिति का वर्णन दिया गया है। मल्हारराव होल्कर के गद्दी से उतरवाने की घटना का चित्रण है। "चन्द्रावली" का आख्यान कृष्ण चरित्र से लिया गया है। नील देवी ऐतिहासिक वृत है। "अंधेर नगरी" लोकवार्ता से है। इस लोकवार्ता का संक्षिप्त उल्लेख हैनरी ईलियर ने अपने मेमोयर्स में किया है।[1] उन्होंने "हरबोंग का राज" शीर्षक के अन्तर्गत बताया है कि इस शब्द का अर्थ है अव्यवस्था तथा कुप्रबन्ध। हरबोंग से "हरभूम" का मतलब है जो आजकल भूंसी या भूसी कहलाती है। इस हरभूम का राजा हरबोंग था और इसी के सम्बन्ध में यह विख्यात है कि :

अंधेर नगरी बेबूझ राजा ।
टका सेर भाजी टका सेर खाजा ॥

---

1. Memories on the history, folklore and distribution of the Races of the North Western Provinces of India Vol. I

इसकी मृत्यु की कहानी में गोरख और मछन्दर का हाथ था। गोरख को फाँसी का हुक्म हुआ पर मछन्दर ने युक्ति से स्वर्ग का प्रलोभन दिखाकर स्वयं राजा को ही फाँसी पर चढ़ने के लिए प्रेरित किया।

"चन्द्रावली" नाटिका शुद्ध भक्ति-भावना के परिपाक के लिए लिखी गई है और पूर्णतः सफल है। शेष उनके मौलिक प्रायः समस्त नाटकों में सामयिक छाप बहुत गहरी है। "नील देवी" स्त्रियों में शौर्य को उभारने के लिए है और धर्म सम्बन्धी संकुचित दृष्टिकोण को त्यागने के परामर्श से युक्त है। "वैदिकी हिंसा" विविध धर्मों की कलई खोलने और वामाचारी व्यक्तियों की बखिया उधेड़ने के लिए लिखी गयी है। इसमें शैव वैष्णव की प्रतिष्ठा स्थापना का भाव भी है। भारतेन्दु स्वयं वैष्णव थे। "प्रेम जोगिनी" में धर्म के अड्डों पर होने वाले मिथ्याचारों का दिग्दर्शन और भंडाफोड़ है। अंधेर नगरी में भी तत्कालीन स्थिति की जहाँ-तहाँ झलक है। यों समस्त नाटक ही उनके अपने अनुभवों पर निर्भर न्याय-व्यवस्था पर गंभीर व्यंग हैं। उनका संदेश बहुत स्पष्ट है।

यदि सामयिकता की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि

श्रृंगार विद्यासुन्दर : उन्मुक्त प्रेम तथा विवाह और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा पितृ अनुशासन के समझौते का परामर्श देता है।

समाज संस्कार, पाखंड विडंबन : धर्म को लेकर विविध पाखंडों का खंडन तथा कृष्ण-भक्ति का प्रतिपादन।

समाज संस्कार, वैदिकी अहिंसा : धर्मवंचकों और वामाचार का उद्‌घाटन और भर्त्सना तथा वैष्णव शैव की प्रतिष्ठा।

समाज संस्कार, धनंजय विजय : १ ऐतिहासिक गौरव
२ गोरक्षा तथा
३ वीर रस का परिपाक

देशवत्सलः मुद्राराक्षस : १ ऐतिहासिक गौरव
२ स्व राजा के राज्य की रक्षा प्रतिष्ठा पर राजा और उसका साथ देने वाले स्वजन के पराभव के लिए कुटिल नीति अथवा चैतन्य तत्परता और युक्ति से मार्गच्युत। स्व विरोधी स्वजन को पुनः अपनाना। युक्तिपूर्ण राजनैतिक अहिंसा का प्रयोग।

समाज संस्कार : सत्य हरिश्चन्द्र : १ सत्य के स्वरूप का आदर्श, मन-वचन-कर्म तीनों में सत्य की साधना : सत्य की महत्ता : व्यक्ति, समाज और राज्य सबके ऊपर सत्य ।
२ प्राचीन भारतीय इतिहास का गौरव ।

हास्य : प्रेमजोगिनी : १ अपने समय में भारत के जन में ह्रास और दुर्गति के लक्षणों का निरूपण ।

देशवत्सल : विषस्य : विषयोषधम : १ अंग्रेज़ी राजनीति का दुपहलू स्वरूप ।
२ भारतीय राजाओं में लगे घुन का स्वरूप; चरित्र दौर्बल्य परिणाम ।

शृंगार : कर्पूर मंजरी: १ संस्कृत से;भाषा का महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए ।
२ शृंगार रस ।

समाज संस्कार-भक्ति चन्द्रावली : श्रीकृष्ण-भक्ति

देशवत्सल : भारत दुर्दशा : १ भारत की दुर्दशा करने वाले कारणों का निरूपण ।
२ प्राचीन गौरव का स्मरण ।
३ वियोगान्त ।

देशवत्सल : भारत जननी : १ भारत की हीन दशा ।
२ अंग्रेज़ों की दुपहलू नीति ।

देशवत्सल : नीलदेवी : १ स्त्री जाति में शौर्य भाव ।
२ भारतीय गौरव ।

शृंगार : दुर्लभ बंधु : १ बंधुत्व
२ रक्तशोषक की व्यापारिक नीति ; देते समय कुछ लेते समय कुछ ।
३ स्त्री साहस
४ करुणा और न्याय
५ प्रेम

हास्य : अंधेर नगरी । १ अन्याय का मोहक स्वरूप
२ लोभ के परिणाम
३ विवेकहीन राज्य का अभिशाप

समाज संस्कार : सतीप्रताप : १ भारतीय गौरव
२ सतीत्व का महत्व; संभवतः विधवा-विवाह के विरोध में।

भारतेन्दु जी ने नवीन नाटक-रचना के पांच मुख्य उद्देश्य बताये हैं :—

(१) श्रृंगार (२) हास्य (३) कौतुक (४) समाज-संस्कार (५) देशवत्सल।

१. श्रृंगार—श्रृंगार रस प्रधान—भारतेन्दु जी के नाटकों में विद्यासुन्दर तथा कर्पूर-मंजरी व दुर्लभबन्धु भी इस कोटि में हैं।

२. हास्य—प्रहसन 'अंधेर नगरी', जितना अंश प्राप्त है उसके अनुसार प्रेमयोगिनी भी।

३. कौतुक—भारतेन्दु जी के शब्दों में "कौतुक वह है जिसमें लोगों के चित्त विनोदार्थ किसी यन्त्र विशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्भुत छटा दिखाई जाय।" कौतुक का उदाहरण भारतेन्दुजी के नाटकों में नहीं।

४. समाज संस्कार—के 'नाटकों में' देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथा-शिक्षा की उन्नति, विवाह सम्बन्धी कुरीति-निवारण अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। "किसी प्राचीन कथा-भाग का इस बुद्धि से संगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अन्तर्गत है।" 'भारतेन्दु'।

इसके उदाहरण—(१) पाखण्ड विडंबन (२) वैदिकी हिंसा (३) धनंजय-विजय (४) सत्य हरिश्चन्द्र (५) सती प्रताप (६) चन्द्रावली।

५. देशवत्सल—इन नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों वा देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्रायः करुण और वीर रस के होते हैं।" उदाहरण—(१) भारत जननी (२) नीलदेवी (३) भारत दुर्दशा (४) विषस्यविषमौषधम् (५) मुद्राराक्षस।

इस सूची से यह स्पष्ट विदित होता है, कि भारतेन्दु जी की रचना में मुख्य दृष्टि समाज-संस्कार तथा देशवत्सल-विषयक थी। समाज-संस्कार के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है कि भारतेन्दु जी आदर्शवादी सुधारक थे। प्राचीन आदर्शों के

विस्तृत रूप को वे शुद्ध करने के पक्षपाती थे। देशवत्सल नाटकों के देखने से कहीं-कहीं यह भ्रम होता है, कि वे साम्प्रदायिक हो गये हैं। कहीं-कहीं यह भी प्रतीत होता कि वे अंग्रेज़ों अथवा राजराजेश्वरी की खुशामद कर रहे हैं।

वस्तुतः भारतेन्दु जी के समस्त साहित्य की आत्मा को समझ कर ही ऐसा आपत्तियाँ की जानी चाहिये। साहित्य की आत्मा का छद्म भाषा में दिखायी पड़ता है, 'जैसा देश वैसा भेष' के सिद्धान्त को भारतेन्दु जैसी शक्ति कभी स्वीकार नहीं कर सकती, पर सृजन-धर्म की संजीवनी के लिए शक्तिनद को कुछ कूल किनारों की सीमायें तो माननी ही पड़ती हैं। युग की लॉजिक की ओर आँखें नहीं बन्द की जा सकतीं। भारतेन्दु की आत्मा के शब्द तो ये हैं :—

> भला इससे पाखंड का विडंबन क्या होना है ? यहाँ तो तुम्हारे सिवा सभी पाखंड है, क्या हिन्दू क्या जैन ? क्योंकि मैं पूछता हूँ कि बिना तुमको पाए मन की प्रवृत्ति ही क्यों है, तुम्हें छोड़कर मेरे जान सभी झूठे हैं चाहे ईश्वर हो चाहे ब्रह्म, चाहे वेद हो चाहे इंजील। तो इससे यह शंका न करना कि मैंने किसी मत की निन्दा के हेतु यह उल्था किया है क्योंकि सब तुम्हारा है इस नाते से तो सभी अच्छा है और तुमसे किसी से सम्बन्ध नहीं इस माने सभी बुरे हैं।
>
> **(समर्पण—पाखंड विडंबन)**

यह वास्तविक वैष्णव-भाव भारतेन्दु जी की कृतियों में प्रकट है। फिर जहाँ-जहाँ साम्प्रदायिकता का आरोप किया जा सकता है वहाँ भारतेन्दु जी ने धर्म को नहीं स्पर्श किया। उन्होंने व्यक्ति और उसके उस संगठन के उन दुष्कृत्यों का विरोध किया है, जो मुसलमान संज्ञा धारण कर हिन्दू नाम के व्यक्ति मात्र के साथ अत्याचार के रूप में किये जाते रहे ; उनमें भी केवल आक्रमणकारी रूप का। उस आक्रमणकारी रूप में भी गर्हित विलासिता का उन्होंने विरोध किया। ऐसे अवसरों पर मुसलमान-यवन-विदेशी आक्रमणकारी। इस लॉजिक से उनका असंतोष अंग्रेजों पर ही होता है।

फलतः न तो उन पर साम्प्रदायिकता का लांछन लगाया जा सकता है, न अंग्रेज़ों की खुशामद का। उनकी आत्मा में राष्ट्रीयता का भाव था। ये परदासता को घृणा करते थे। हिन्दुओं की दुर्दशा से वे त्रस्त थे भारत को दुर्भाग्य का शिकार बनते देख रहे थे और इनका मूल कारण वे उस नैतिक हीनता को मानते थे जिसे उन्होंने बारबार नाटकों में दिखाया है।

भारतेन्दु जी के नाटकों का यह अध्ययन यह सिद्ध करता है कि भारतेन्दु जी ने समस्त भारतीय नाटक–प्रणालियों को समझने की चेष्टा की और हिन्दी के लिए उपयोगी शैली निर्धारित की, जिसमें पूर्व का पूर्ण परित्याग न हो, पर नूतन का उचित आदर हो । वे वस्तुतः युग-प्रवर्तक हैं ।

भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाटक

—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व भारत में नाटकों का पूर्ण प्रचार हो चुका था और उनकी परम्परा में आगे चलकर विश्व-विश्रुत नाट्य-रचनाओं का निर्माण हुआ। यह क्रम ईसा की लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी तक निरन्तर सुरक्षित रहा। सम्राट् हर्ष की मृत्यु (सातवीं शताब्दी) के बाद भारतवर्ष का संपर्क एशिया की एक नवोदित संस्कृति के साथ स्थापित हुआ। प्रारम्भ में यह प्रभाव सैनिक और राजनीतिक क्षेत्रों तक सीमित रहा। किन्तु शीघ्र ही इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होने लगा। यद्यपि मध्ययुगीन जीवन वीर-दर्प-पूर्ण और उत्तेजना-पूर्ण था, और दो संस्कृतियों के पारस्परिक संपर्क द्वारा साहित्य, कला, शिल्प, संगीत, धर्म आदि के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रियाशीलता का जन्म हुआ, तो भी तत्कालीन जीवन विस्तार-भार से उसी प्रकार बोझिल रहा जिस प्रकार रीतिकालीन कविता, तत्कालीन चित्रकलांतर्गत सज्जा और शिल्प की पच्चीकारी और सजावट में बोझिलता थी; उसमें तीव्र गति का अभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आवि-र्भाव-काल उन्नीसवीं शताब्दी में जो एक महत्वपूर्ण बात दिखाई देती है वह यह कि इस समय पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का अविश्वसनीय रूप में तीव्र प्रभाव पड़ा; उसने कई शताब्दियों से अलसाए जीवन को एकदम झकझोर डाला। प्रेस, तार, डाक, रेल तथा अन्य प्रकार की मशीनों और एंजिनों आदि का प्रभाव एक-दो पीढ़ियों में ही मालूम होने लगा था और फलस्वरूप, जीवन के मानदण्ड बदलने लगे थे। मध्ययुगीन मानसिक निष्क्रियता में स्पन्दन और नई संभावनाओं का जन्म हुआ। बाह्य संसार के साथ परिचय प्राप्त करने, देश के राजनीतिक एकसूत्रता में बद्ध हो जाने, और समान शिक्षा-प्रणाली के प्रचलित हो जाने से जीवन व्यापक धरातल पर स्थित और ऐक्य-संपन्न हुआ। यूरोपीय औद्योगिक क्षेत्र में प्राप्त विकास, भू-गर्भ में प्रवेश करने, समुद्र-तल तक पहुँचने आदि की साहसिक एवं रोमांचकारी कहानियाँ, मनुष्य-शरीर के सम्बन्ध में ज्ञात अनेक नवीन बातें हिन्दी-मन को उत्तेजित करने लगीं। भारतवासियों ने देखा कि वैज्ञानिक आविष्कारों और मशीनों के द्वारा मनुष्य ने नवीन शक्ति अर्जित कर अपने को पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली बना लिया था। प्रेस और बारूद ने तो अपना प्रभाव दिखाया ही था, किन्तु कम्पस, दूरबीन आदि ने भी मनुष्य को अपने

चारों ओर की परिस्थिति पर अधिकार प्राप्त करने योग्य बना दिया था । अस्तु, जीवन के साथ-साथ साहित्य में भी यह परिवर्तन-क्रम काफ़ी तीव्र गति धारण कर अवतरित हुआ जिसका सर्वप्रमुख उदाहरण साहित्य में गद्य की क्रमबद्ध परम्परा के जन्म में मिलता है । वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी खड़ी बोली गद्य भारत-प्रचलित उस यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का प्रतीक बना जो, ग्रियर्सन के शब्दों में 'कलकत्ता सिविलाइज़ेशन' की देन के रूप था । इसी गद्य की एक शाखा भारतेन्दु-युगीन नाटक के रूप में प्रस्फुटित हुई । ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी के बाद नाट्य-रचना की दृष्टि से हिन्दी में ही नहीं, संपूर्ण भारतवर्ष में उन्नीसवीं शताब्दी ही उल्लेखनीय है ।

भारतीय इतिहास के मध्य युग में संस्कृत विद्या का ह्रास हो गया था । फलतः उस समय उच्च श्रेणी के साहित्यिक नाटकों और अभिनय-कला का लोप हो गया । उस समय नाट्य-कला उठ-सी गई । यही कारण है कि श्रव्य-काव्य से सम्बंधित अनेक लक्षण-ग्रन्थों की रचना तो हुई, किन्तु दृश्य-काव्य के लक्षणों की ओर किसी का ध्यान न गया । केवल गाँवों में रूपक के कुछ हीन भेदों का प्रचार बना रहा । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ये भेद भी भ्रष्ट हो गए थे । उनसे नाट्य-रचना के लिए कोई प्रेरणा प्राप्त न हो सकी । उन्नीसवीं शताब्दी में देशी-विदेशी प्रयासों द्वारा प्राचीन साहित्य की खोज और अध्ययन प्रारम्भ हुआ और साथ ही पाश्चात्य साहित्य के संपर्क ने नवीन प्रेरणा प्रदान की । इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों के, जिनमें नाटक भी थे, अनुवाद प्रस्तुत किए गए । भारतवासियों द्वारा अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन तो हुआ ही, किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी के काल में अंग्रेज़ों ने भी अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, पटना आदि बड़े-बड़े नगरों में अपने मनोरंजन के लिए अभिनय-शालाओं की स्थापना कर भारतीय शिक्षित समुदाय का ध्यान नाट्य-कला की ओर आकृष्ट किया । वे अंगरेज़ी नाटकों या कालिदास के शकुन्तला नाटक का प्रायः अभिनय किया करते थे । सर विलियम जोन्स द्वारा तथा फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में 'शकुन्तला' के दो-तीन अनुवाद प्रस्तुत हो ही चुके थे । साहित्यिकों में रुचि उत्पन्न करने के लिए यह बहुत था । और फिर प्राचीन भारतीय और एलिज़बेथन युग की नाटकीय रचना-पद्धतियों में बहुत-कुछ साम्य होने से भी नाट्य-रचना को काफ़ी प्रोत्साहन मिला; शेक्सपियर तथा अन्य नाटककारों का अध्ययन होने ही लगा था । वास्तव में सच तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में नवोत्थान-कालीन भावना से प्रेरित संस्कृत और फिर अंगरेज़ी साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप और फिर से अनुकूल वातावरण पाकर—क्योंकि इस्लामी संस्कृति ने नाट्य-साहित्य तो कोई प्रोत्साहन प्रदान न किया था—हिन्दी नाट्य-साहित्य का जन्म हुआ । काल-गति से जो वृक्ष सूख गया था वह फिर से पुष्पित-पल्लवित हो

उठा । जिस समय भारतेन्दु का उदय हुआ उस समय नाटककारों, अभिनेताओं और अभिनय-शालाओं का कोई मान नहीं था । ऐसे लोगों और स्थानों को 'निम्नस्तर' का समझा जाता था । नवोत्थान-कालीन चेतना के अंतर्गत संस्कृत और यूरोपीय नाट्य-साहित्य के अध्ययन ने नाटक की ललित कला के रूप में फिर से स्थापना की, उसे साहित्य के एक प्रमुख अंग के रूप में स्वीकार किया गया, अनेक प्राचीन-नवीन नाटकों का अध्ययन करने के पश्चात् कालानुसार एक नवीन नाट्य-शिल्प की रूपरेखा प्रस्तुत की गई, और प्रेक्षागृहों और अभिनय के सिद्धान्तों के निर्धारण का प्रयास हुआ । उस समय नाट्य और अभिनय-कला की पूर्ण उन्नति तो न हो सकी, किन्तु जन-जीवन का प्रधान अंग बनने में उसे देर न लगी । नवोदित राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों ने विचार-सामग्री और उपकरण जुटाने में सहायता प्रदान की ।

आधुनिकतम नाट्य-कला की अभिव्यंजना के चार साधन हैं: रंगमंच, ऑपेरा, सिनेमा और रेडियो (तथा टेलिविज़न) । वास्तव में सिनेमा और रेडियो तथा टेलिविज़न प्रथम दो के ही विकास मात्र हैं । इन प्रथम दो का जन्म भारतीय और और पश्चिमी कलाओं के समन्वय से भारतेन्दु युग में ही हुआ था और स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मूल प्रेरक-शक्ति थे । उन्होंने अनुवादों और मौलिक रचनाओं के द्वारा कथा-वस्तु के संगठन, चरित्र-चित्रण, रस-निष्पत्ति, कथोपकथन, नाट्यालोचन आदि की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम का अद्भुत समन्वय उपस्थित कर अन्य नाटककारों का मार्ग-प्रदर्शन किया । इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व शाश्वत रूप में अक्षुण्ण बना रहेगा । भरत मुनि ने नाट्य-कला को पंचम वेद माना है जिसमें शूद्रों तक को अधिकार है । उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नवजागरण काल में, जब कि जीर्ण-शीर्ण जन-जीवन के पुनस्संस्कार की अत्यधिक आवश्यकता थी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक को प्रमुख साधन बनाने में नेतृत्व ग्रहण किया और वे भावी नाटककारों के लिए प्रेरणा-स्रोत बने ।

भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र तथा उनके युग के नाटककारों ने अपने चारों ओर के जीवन और भारतीय पुराणों तथा इतिहास से संवेदना स्वीकार की और जीवन को पुष्ट कर जन-मन की वीणा से नवीन स्वर झंकृत करने का सराहनीय प्रयास किया । किसी भी अनूदित, रूपान्तरित और मौलिक नाट्य-रचना के अध्ययन से तत्कालीन जीवन और लेखकों की आकांक्षाओं पर प्रकाश पड़े बिना नहीं रह सकता । नवोत्थान काल के उस प्रथम चरण में भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान ने उन्हें निर्माण और विकास के लिए बेचैन कर दिया था । स्वयं

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मौलिक रचनाएँ सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक और प्रेम-संबंधी कोटियों में आती हैं। इन्हीं में हिन्दी नाट्य-साहित्य की तत्कालीन कोटियाँ निर्धारित हुईं। पहले दो का साहित्यिक मूल्य कम है, यद्यपि संख्या में वे तीसरी और चौथी से अधिक हैं। नवोत्थान ने नाटककारों को संप्रदायगत सीमित और संकुचित दृष्टिकोण के स्थान पर व्यापक और उदार दृष्टिकोण ग्रहण करना सिखाया था। धार्मिक असहिष्णुता और विद्वेष, व्यर्थ का वितण्डावाद और मतमतांतरों का संघर्ष उन्हें अरुचिकर और देश-हित के लिए घातक प्रतीत होने लगा। विदेशी सत्ता से मोर्चा लेने के लिए भी तो अपने दोषों का परिहार करना अनिवार्य था। उन्होंने विविध भारतीय मतों की समान गति में विश्वास उत्पन्न किया और तदनुकूल व्यवहार करने की चेष्टा की। संकुचित मनोवृत्तियाँ—जो मध्य-युग में उत्पन्न हो गई थीं—और अंध-विश्वासों से मुक्त हो उन्होंने स्वस्थ समाजोन्मुख व्यक्तित्व को जन्म दिया। उनकी स्वस्थ सांस्कृतिक परम्परा उन्हें बल प्रदान करती थी। यहाँ तक कि मनुष्यता के नाते उन्हें इस्लाम, मसीही धर्म या अन्य किसी विदेशी मत से कोई विद्वेष नहीं था। देश की अधोगति पर विचार करते समय उनका ध्यान बरबस विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव और भारत के प्राचीन आर्य-गौरव और वीरतापूर्ण ज्वलन्त उदाहरणों की ओर चला जाता था और उनका नीरव राष्ट्रीय-गान जग उठता था। किन्तु इतने पर भी उनमें संकीर्णता का प्रादुर्भाव न हो पाता था। सत्य की खोज के लिए ही वे साधनारत हुए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन तथा अन्य अनेक नाटककारों की विविध प्रकार की रूपक-रचनाओं में जीवन की कुरूपताओं और उनके निराकरण और परिष्कार की भावना प्रधान है। भारत की दुरवस्था पर वे आँसू बहाते हुए रोग, महर्घ, कर, मद्य, आलस्य, धनहीनता, बलहीनता, अविद्या, पारस्परिक फूट, कलह, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अन्ध-विश्वास, छूआछूत, दम्भ, पाखण्ड, भूत-प्रेत तथा अनेक देवी-देवताओं की पूजा, दुर्भिक्ष, निज भाषा के प्रति उदासीनता और फलतः अधःपतन, स्वदेशी के प्रचार का अभाव, देश के उद्योग-धन्धों का पतन, देश का आर्थिक शोषण, नाना प्रकार के मतों का बाहुल्य, अनैक्य, असंगठन, अन्ध परम्परा आदि का उल्लेख और भारत में चारों ओर छाए हुए अँधियारे का उन्होंने अत्यन्त क्षोभपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है। भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण करते ही और अपने हृदयोद्गारों को रोक न सकने के कारण वे आशा-निराशा के बीच डूबने-उतरने लगते और विचलित हो उठते थे। उनकी तत्कालीन राजनीतिक चेतना ने उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सजग बना दिया था, किन्तु अंगरेज़ी राज्य से पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद की भावना

अभी पैदा नहीं हुई थी। भारतवर्ष में छोटे-छोटे अँगरेज कर्मचारियों का जातीय पक्षपात, काले-गोरे का भेद-भाव, भारतवासियों के साथ दुर्व्यवहार, सरकारी पदों पर भारतवासियों का नियुक्त न होना, भारत की निर्धनता और आर्थिक दुरवस्था आदि बातें उन्हें मानसिक पीड़ा पहुँचाती थीं और अवसर मिलने पर वे इस प्रकार की अनीतियों का विरोध किए बिना भी न रहते थे। लेकिन साथ ही वे भारत और इंगलैंड के बीच सौहार्द-भाव भी सुरक्षित बनाए रखना चाहते थे। सच तो यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके युग के अन्य नाटककारों की रचनाओं में अहितकर सरकारी नीतियों की आलोचनाय भरी पड़ी हैं। वैसे सामाजिक जीवन के किसी क्षेत्र में वे अभारतीयता और 'अँगरेज़ों के औगुन' अपनाने के कट्टर विरोधी और पाश्चात्य सभ्यता की अच्छी-अच्छी बातें ग्रहण करने के पक्षपाती थे। भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य में नवोत्थान-कालीन भावना पूर्णतः मुखरित हो उठी थी उसमें आधुनिक, नवीन भारत का स्वर स्पष्टतः घोषित है। देश-काल की परिधि में बँधे रहने पर भी उसमें युग-युग के जीवन को स्फूर्ति प्रदान करने वाली प्रेरक शक्तियों का भी अभाव नहीं है।

भारतेन्दु-युगीन नाटकों की साहित्यिक परम्परा के अतिरिक्त एक ऐसी परम्परा भी थी जो पारसियों की वणिक्-वृत्ति का शिकार बन गई थी और वह प्रारम्भ ही से हिन्दी के पुष्ट नाट्य-साहित्य के सम्यक् विकास में अनुल्लंघीय बाधा के रूप में सिद्ध हुई। साहित्य-रसिकों को इससे मर्मान्तक पीड़ा होती थी। किन्तु वे केवल दुःख-प्रकाशन के अतिरिक्त और कुछ न कर पाए। उच्च कोटि के अनूदित और मौलिक ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए भी उन्हें निराश होना पड़ा। वास्तव में हिन्दी की अपनी साधु नाट्य-परम्परा के अभाव में 'शतरंजी मशाल वाले भ्रष्ट खेलों' की इतिश्री करना कोई सहज कार्य नहीं था। हिन्दी के साहित्यिकों के पास न अपनी अभिनय-शालाएँ थीं—परम्परा के रूप में—और न अधिकतर लेखकों के पास रंगमंचीय अनुभव ही था। अभिनेता साहित्यिक लेखक नहीं थे और साहित्यिक लेखक अभिनेता नहीं था। साथ ही हिन्दी की शिक्षित जनता का अभाव था। अँगरेज़ी के मोह में ग्रस्त शिक्षित समुदाय को तो हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति कोई रुचि थी ही नहीं। इसलिए हिन्दी के नाटककारों के सामने जो जनता थी वह मूढ़ और अज्ञानान्धकार के गर्त में डूबी हुई थी। वह केवल साहित्यिक नाटकों का अनादर करना ही नहीं जानती थी, वरन् नाटककारों को उपहासास्पद दृष्टि से देखना भी जानती थी। पारसी नाटकों और अभिनयों की ओर आकृष्ट होकर अपने कु-संस्कारों का परिचय देने के साथ-साथ उसने श्रेष्ठ साहित्यिकता को भी कालिमा-मंडित किए बिना न छोड़ा। समाज का अधिकांश भाग, जो निम्नमध्य-वर्ग और निम्न-वर्ग से निर्मित

था, वत्र रूप में अशिक्षित था। उसे सस्ते और भद्दे ढंग के पारसी थिएटरों में बड़ा आनन्द आता था। उनकी तड़क-भड़क और चलते हुए सस्ते गानों से अशिक्षित जनता का काफ़ी मनोरञ्जन हुआ और वह उन्हीं की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक नाटककार रुपए के लोभ से जनता की रुचि के अनुकूल रचनाएँ करने लगे। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू रामकृष्ण वर्मा आदि विचारवान् साहित्यिकों ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु के बाद इस प्रथा को साहित्य की सम्यक् प्रगति के लिए सर्वथा हानिकारक बताया और लोगों का ध्यान देश-हितैषिता और नाट्य-कला-चातुर्य की ओर आकृष्ट करना चाहा। परन्तु उन्हें अपने पुनीत कार्य में सफलता प्राप्त न हो सकी। सच तो यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ही जनता की रुचि विकृत हो गई थी। उनके जीवन-काल में और विशेषतः उनकी मृत्यु के पश्चात् सस्ते नाटकों की हिन्दी में भरमार हो गई। परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके अनेक साथी अपनी प्रतिभा के बल पर उच्च कोटि के और प्रभावशाली नाटकों की रचना कर साहित्य के निर्माण में योग दे रहे थे, उधर अनेकानेक नाटककार विषय की दृष्टि से पुराणों तथा लीलाओं के विषय ग्रहण कर प्रचलित पारसी रंगमंच के लिए नाटक-रचना कर रहे थे। इन नाटकों से जनता की धार्मिक वृत्ति की तुष्टि हुई। श्रद्धा-परायण जनता की मानसिक परितुष्टि और मन-बहलाव के साथ-साथ नाटककार उसे सद्वृत्ति की की ओर ले जाना चाहते थे। उसके मृतप्राय जीवन में जान फूँकने के लिए ये रचनाएँ काफ़ी थीं। सीता, द्रौपदी, रुक्मिणी आदि का पातिव्रत धर्म, भक्तों की सहनशीलता और प्रेम-गाथाओं की रसीली बातें लोगों को अत्यन्त प्रिय लगती थीं। उन्हें देख कर जनता में उत्साह का समुद्र उमड़ पड़ता था। इन सब बातों के साथ नाच-गानों और चमकीली पोशाकों से उनकी तबियत फड़क उठती थी। ऐसी रचनाओं में श्रेष्ठ नाटकीय गुण और कला-तत्त्व की आशा करना व्यर्थ है।

साधु अभिनयशाला के अभाव और पारसी रंगमंच के विनाशकारी प्रभाव के अलावा, जो स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'चन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा' और 'नीलदेवी' नाटकों में भी दृष्टिगोचर होता है, भारतेन्दु के अनुगामियों के ही हाथों हिन्दी नाट्य-साहित्य का ह्रास हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाट्य-कला में ही दक्षता नहीं दिखलाई, वरन् उन्होंने अपनी रचनाओं में देश की दुरवस्था का दिग्दर्शन करा कर उसके प्रतिकार की चेष्टा भी की है, क्योंकि नाटक में केवल हृद्गत भावनाओं का ही स्पष्टीकरण नहीं रहता, उसमें समाज के बाह्य जीवन का अनुकरण भी रहता है; उसमें मनोरंजन ही नहीं, वरन् समाज-हित की भावना भी निहित रहती है। उनकी आँखों के सामने समाज नाशोन्मुख हो रहा था। भारत के पुनर्जीवन के लिए जीर्ण-

शीर्ण सामाजिक जीवन को प्राणदान देना अत्यन्त आवश्यक था। बाल-विवाह, नशाखोरी, वेश्यावृति, अविद्या, फ़िज़ूलखर्ची, पश्चिम का अन्धानुकरण, विदेशी वस्तुओं का अत्यधिक प्रयोग आदि कुरीतियाँ समाज में घुन का काम दे रही थीं। आर्यसमाज बड़ी तत्परता के साथ समाज-सुधार में प्रवृत्त था ही। मुसलमानों द्वारा गो-वध, हिन्दुओं को मुसलमान बनाना आदि धार्मिक अत्याचार याद कर सब भारतीय तिलमिला उठते थे। भारतेन्दु के बाद इंडियन नैशनल काँग्रेस ने भी देश के जीवन में काफ़ी उन्नति कर ली थी। नए करों, धार्मिक दुरवस्था, शासन-सुधार, नवीन शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता के कुप्रभावों, राजनीतिक प्रगति, शिक्षा का अभाव, काले-गोरे का भेद-भाव आदि बातों ने उस समय उग्र रूप धारण कर लिया था। ऐसी अवस्था में किसी भी साहित्यिक के लिए इन आन्दोलनों के प्रभाव से बचना कठिन था। प्रत्येक लेखक को देश-हित और समाज-सुधार की धुन पैदा हो गई थी। बड़े-बड़े विद्वान् इस ओर विशेष रूप से चिन्तित थे। भारतेन्दु, श्रीनिवास दास आदि जैसे लेखक जब तक ज़बर्दस्ती समाज से विमुख होने का प्रयत्न न करते तब तक उनका उससे बचना दुष्प्राय ही था। 'चन्द्रावली' और 'तप्तासंवरण' में विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से कला को प्रधानता मिली है। परन्तु देश के संक्रांति-काल में इस ओर वे अधिक योग न दे सके। अन्ततोगत्वा उन्हें समाज की ओर मुड़ना ही पड़ता था। दूसरे लेखकों ने भी उनका अनुकरण किया। चारों तरफ़ नाट्य-साहित्य द्वारा सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ हल करने का प्रयत्न होने लगा। धार्मिक अराज-कता दूर करने में लेखकों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। परन्तु इन महत्त्वपूर्ण विषयों का सुन्दर रूप से प्रतिपादन करने के लिए प्रतिभावान् कलाकार की आवश्यकता होती है, ऐसे कलाकोविद की जो साधारण घटनाओं को जन-साधारण के धरातल से ऊपर उठ कर विस्तृत दृष्टिकोण से देख सके। भारतेन्दु ने समाज-हित के लिए जो साधन चुना उसमें अन्य लेखकों को अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। नाटक साहित्य का एक परिमित रूप है और अनेक जटिल नियमों से बद्ध है। यह ठीक है कि उसके द्वारा संसार का कल्याण किया जा सकता है, परन्तु उसके लिए लेखक में सूक्ष्म बुद्धि द्वारा संक्षेप में मनुष्य की हृद्गत भावनाओं और बाह्य कार्य-कलाप का समावेश करने की दक्षता और कला-नैपुण्य होना परमावश्यक है। अधिकांश हिन्दी-लेखक कला के इस शिखर तक न पहुँच सके। हिन्दी में वैसे भी एक सुरुचि-सम्पन्न शिक्षित समुदाय का अभाव था। फलतः हिन्दी नाट्य-साहित्य का पतन होना अवश्यम्भावी था। हिन्दी नाटकों का जन्म जिस धार्मिक, सामाजिक और नैतिक अराजकता के युग में हुआ था उसमें नाट्य-कला की उन्नति सम्भव नहीं थी। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के फलस्वरूप हिन्दी-लेखकों के सामने नए-नए

विचार और आदर्श उपस्थित हो रहे थे। ज्ञान की वृद्धि के लिए लोग व्यग्र हो रहे थे। देश में पाश्चात्य-शिक्षा का प्रचार हो चुका था और, इतिहास इस बात का साक्षी है कि, शिक्षा के प्रचार से प्रत्येक युग में जनता की सभ्यता नहीं, वरन् मानसिक व्याकुलता बढ़ी है। ज्ञान-वृद्धि की प्रबल आकांक्षा के फलस्वरूप यहाँ मानसिक असन्तोष बढ़ा। ऐसी परिस्थिति में साहित्य का स्थूल कलेवर तो बढ़ गया, परन्तु स्थायी साहित्य की उत्पत्ति न हो सकी। नाटककार एक प्रकार से अपना संयम खो बैठे थे। बहुत-कुछ हद तक आर्यसमाज आन्दोलन भी हिन्दी नाटकों के लिए घातक सिद्ध हुआ। आर्यसमाज ने अनेक विषय सुझाए, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु आर्यसमाज की प्रचार-शैली और शास्त्रार्थ-शैली से नाटकों की कलात्मकता को क्षति पहुँची। अनेक रचनाओं में ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं लेखक विविध पात्रों के रूप में आर्य-समाज के प्लेटफ़ार्म से बोल रहा हो। लेखक समाजी उपदेशक की भाँति समाज-सुधार के आवेग में अपने कर्त्तव्य से विचलित हो कर कथानक और कथोपकथन के क्रमिक विकास को भी ले डूबता है। अस्तु, काल-प्रभाव के कारण नाट्य-साहित्य की जसी उन्नति होनी चाहिए थी, वैसी न हो सकी। वास्तव में अपने शैशव-काल में ही वह रोग-ग्रस्त हो गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में ही साहित्यिक कोटि के नाटकों का स्थान प्रचारात्मक नाटकीय कृतियों ने ले लिया। साथ ही मानसिक अस्तव्यस्तता के कारण अन्तर्जगत के अनुभवों का भी ठीक-ठीक स्पष्टीकरण न हो सका। परिणाम वही हुआ जिसकी आशा ऐसी दशा में की जा सकती है—साहित्यिक मूल्य का ह्रास।

रूपक और उपरूपक के विविध भेदों में से सबसे अधिक रचना नाटकों और प्रहसन की हुई है। भारतेन्दु युग में भी इन्हीं दो की प्रधानता रही—यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अन्य भेदों के उदाहरण-स्वरूप कुछ अनूदित और मौलिक रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। नाटक और प्रहसन के अतिरिक्त अन्य भेदों को लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी—संस्कृत में भी सम्भवतः उन्हें अधिक लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी थी। जहाँ तक प्रहसन से सम्बन्ध है संस्कृत नाट्य-शास्त्रियों ने नवरसों में हास्यरस की गणना की है। रूपकों में प्रहसन हास्यरस-प्रधान है। परन्तु संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार प्रहसन की रचना का मुख्य उद्देश्य हास्य-विनोद है, न कि समाज की निन्दनीय बातों पर व्यंग्य करना। पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अनुकरण पर भारतीय लेखकों ने भी तदनुसार रचना करना आरम्भ कर दिया। वे तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक कुरीतियों और दौर्बल्य पर तीव्र व्यंग्य कसने लगे। हिन्दी में पहले-पहल १८७३ ई० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन लिखा जिसमें उन्होंने मांसाहारियों, मद्यपान करने वालों, पशु-बलि आदि का मज़ाक बनाया

है । १८८१ ई० में उनके 'अन्धेर नगरी' के बाद प्रहसन लिखने का अत्यधिक प्रचार हो चला और उसका क्षेत्र भी निरंतर विस्तृत होता गया । देवकीनंदन त्रिपाठी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, लाल खंग बहादुर मल्ल, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने अपनी-अपनी रचनाओं में बहुविवाह, वेश्यावृत्ति, बाल-विवाह, नशेबाज़ी, स्त्रियों की हीन दशा, अविद्या, सूदखोरी, पाश्चात्य सभ्यता, खान-पान और आचार-विहीनता, अंग्रेज़ी शिक्षा और फ़ैशन के कुत्सित प्रभावों आदि से पीड़ित भारतीय समाज का क्रन्दन अभिव्यक्त किया । इन सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों और कुप्रथाओं तथा कट्टरता और अन्ध-विश्वासों का उन्होंने ख़ूब मज़ाक उड़ाया है । व्यापारी-वर्ग में प्रचलित अनेक सामाजिक एवं धार्मिक कर्म-काण्डों और पुरोहितों, पण्डों, ज्योतिषियों आदि का आधिपत्य, उनका स्वार्थपूर्ण दृष्टि से दान और तीर्थ-यात्रा, धन का मोह या कंजूसी, अत्यधिक व्याज लेना, विवाहिता स्त्रियों की ओर से उदासीन होकर वेश्यावृत्ति, जुआ खेलना, मद्यपान, डरपोकपन, बाल-विवाह, बहु-विवाह, अपव्यय आदि बातें उन्होंने विशेष रूप से लक्ष्य बनाईं । पश्चिमी सभ्यता से उत्पन्न तीन बातों ने उनका ध्यान अधिक आकृष्ट किया--मांसाहार, मद्यपान तथा अपव्यय, और भारतीय आचार-विचारों और अंग्रेज़ी न पढ़े-लिखे लोगों की अवहेलना । इन हास्यरसात्मक ग्रन्थों से पता चलता है कि सामाजिक और धार्मिक विषयों की ओर लेखकों का कितना ध्यान जा रहा था । किंतु उनमें अधिकतर अर्थहीन प्रलाप देखने को मिलता है । हास्य निम्न श्रेणी का है और व्यंग्य प्राणहीन । भारतेन्दु हरिश्चंद्र, देवकीनंदन त्रिपाठी और राधाचरण गोस्वामी को छोड़कर अन्य लेखकों ने उच्च कोटि के तीक्ष्ण व्यंग्य की सृष्टि नहीं की । उनका परिहास असंगत और स्वाभाविकता की सीमा का उल्लंघन करने वाला हैं । मालूम होता है ज़बर्दस्ती हास्य और व्यंग्य प्रकट करने का प्रयत्न किया जा रहा है । एक तो पराधीन देश का हास्य ही क्या; दूसरे, इन रचनाओं के पात्र निम्न श्रेणी के हैं । अधिकतर हमें कोई बुड्डा, शिशुतर, वेश्या, कुटनियाँ, चरित्रहीन स्त्रियाँ, नशेबाज़, मोटा महाजन, मसखरा और वाक्पटु नौकर, ओझा आदि ही मिलते हैं । इस अशिक्षित और असंस्कृत जन-समूह में हमें किसी अधकचरे समाज-सुधारक और देश-सेवक के भी दर्शन हो जाते हैं । परन्तु उनका सामाजिक कुरीतियों का मज़ाक भी ऊटपटांग, भद्दे और अश्लील ढंग का है । भारतेन्दु युग में ऐसे परिहास की सृष्टि न हो सकी जो साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन सकता और जो सीधा हृदय पर चोट करता ।

भारतेन्दु-युगीन नाटच-साहित्य हिन्दी का प्रारम्भिक नाटच-साहित्य है । उसकी परम्परा जनता में प्रचलित उप-रूपक के हीन भेदों—जिन्हें स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'भ्रष्ट' कहा—से अलग स्थापित हुई और उस पर नवयुग के मन और मस्तिष्क

दोनों का प्रभाव है। भारतीय नवोत्थान का विद्यार्थी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित है कि यूरोपीय और भारतीय संस्कृतियों के अपूर्व सम्मिलन में जहाँ भारतवर्ष ने ज्ञान-विज्ञान के व्यावहारिक क्षेत्र में अनेक नवीन बातों का स्वागत किया, वहाँ दूसरी ओर पूर्व और पश्चिम का संघर्ष भी प्रारम्भ हुआ—आध्यात्मिकता और भौतिकता का संघर्ष; ऐसी भौतिकता के साथ संघर्ष जो भारतीय आध्यात्मिकता का हनन करने वाली समझी गई। जैसा कि रौनेल्ड्शे का मत है, इसी संघर्ष का एक बाह्य स्थूल प्रतीक विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह में था। भारतेन्दु-युगीन नाटय-साहित्य का नाटय-कला के उच्च और श्रेष्ठ मापदण्डों के अनुसार जो भी मूल्यांकन हो— और जो वास्तव में उसके प्रारम्भिक नाटय-साहित्य होने के नाते ही किया जाना चाहिए, किन्तु इतना निश्चित है कि उसमें पूर्व और पश्चिम के संघर्ष के बीच आध्यात्मिक पुनस्संस्कार की अथक चेष्टा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में तो उसका स्थान है ही, लेकिन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की लम्बी यात्रा में, नवीन परिस्थितियों—दो विरोधी परिस्थितियों—के बीच भारतीय मन की विवृति होने की दृष्टि से उसका कहीं अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। बीसवीं शताब्दी के हिन्दी-जीवन में जो स्थान उपन्यास-साहित्य का है, या जो पूर्व-आधुनिक कालों में महाकाव्य का था, वही स्थान भारतेन्दु-युग में नाट्य-साहित्य का था। उसमें जीवन के नवीन सत्यों की उपलब्धि और आत्म-संस्कार का मांगलिक एवं अभिनंदनीय प्रयास है।

'प्रसाद' के नाटक

—डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

सामान्य परिचय और पृष्ठभूमि

मानव-अभिव्यक्ति के सशक्त व प्रभावशाली माध्यमों में रूपक अथवा नाटक का मूर्धन्य स्थान है। कला और साहित्य का समस्त अन्तःसौन्दर्य, मन के सक्रिय सहयोग से श्रवणेन्द्रिय एवं नेत्र द्वारा चर्वणीय और आस्वादनीय होता है। कला एवं साहित्य के अन्तर्गत आने वाले समस्त रूप अथवा प्रकार (नृत्य, संगीत, चित्र, स्थापत्य, मूर्ति, कविता, उपन्यास, कहानी, गद्यगीत आदि) उक्त दोनों इन्द्रियों में से प्रायः केवल एक के ही उपयोग (मन सहित) की अपेक्षा और आकांक्षा करते हैं अतः वे आँख, कान व मन इन तीनों के सामूहिक उद्योग से अर्जनीय रस अथवा आनन्द की मात्रा से न्यून का ही भरोसा बँधाते हैं। साहित्य के प्रकारों में परिगणित 'रूपक' अथवा 'नाटक' वस्तुतः ललित कला एवं साहित्य का एक मिश्रित रूप है। उसमें गीत वाद्य, नृत्य, अभिनय, चित्र, मूर्ति (अंतिम दोनों प्रेक्षागृह, मंच-सौन्दर्य, पट-दृश्यावली, पात्र-पात्रियों के सुन्दर रूपाकार आदि के द्योतक हैं) का संगम हो जाता है। रूप, रंग और स्वर की इस संसृष्टि के साथ प्रेक्षकों अथवा सामाजिकों को कल्पना के सक्रिय सहयोग से प्राप्त आनंद, मनोरंजन और नाट्य-कृति में निहित 'कान्तासम्मित' लोक-शिक्षण आदि मानसिक तत्त्वों एवं मंचसज्जा, मेक-अप, प्रकाश-क्रीड़ा के विधान, पर्दे, वातावरण आदि उपकरणों को मिला कर देखने से नाट्य-सृष्टि की व्यापक-गंभीर प्रभविष्णुता का सहज ही अनुमान हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि किसी महा-काव्य या खण्ड-काव्य आदि को पढ़कर भी इस कल्पना के बल से नाट्य-सुलभ सामूहिक प्रभाव और वातावरण की प्रतीति कर सकते हैं किन्तु जीवित-जाग्रत प्रत्यक्ष की चाक्षुष प्रतीति एक ऐसा विशिष्ट प्रभाव रखती है, जिसे कि कल्पना, उक्त प्रतीति का स्थानापन्न होकर और गंभीरतम क्षमताओं और शक्तियों से सम्पन्न होते हुए भी, संभवतः उसी मात्रा में व वेग के साथ सम्पादित नहीं कर सकती। सम्पूर्ण अन्तः-सत्ता पर गंभीर प्रभाव डालने के उद्देश्य से आविष्कृत नाटक नामक कला-साहित्य-रूप मानव की एक परमोच्च सफलता है।

हिन्दी में नाटक-रचना का श्री-गणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ होता है। उन्होंने संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती आदि समृद्ध भाषाओं के नाटकों से प्रेरणा

ग्रहण कर हिन्दी में मौलिक नाटकों के सृजन का सूत्रपात किया। पुराण, इतिहास, समाज, और कल्पना के क्षेत्रों से रोचक वृत्त लेकर उन्होंने लोक-शिक्षा, समाज-संगठन और मनोरंजन के गंभीर और व्यापक उद्देश्य से प्रवाहपूर्ण, व्यंग्य-विनोद मिश्रित चटपटी और सरल लोक-भाषा में, जीवन के यथार्थ व आदर्श का सामञ्जस्य करते हुए, बहुत से ऐसे नाटकों की रचना की, जो अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुए। रचना-तंत्र (Technique) की दृष्टि से उन्होंने प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र का ही अनुसरण किया। भारतेन्दु का ध्यान मुख्यतः जन-जागरण, समाज-सुधार व राष्ट्र-प्रेम सम्बन्धी भावनाओं तक ही सीमित रहा। अतः कल्पना की कुशल कारीगरी, मानव और प्रकृति का सामञ्जस्य, नाटक-शैली-शिल्प, मनोवैज्ञानिक व सजीव चरित्र-सृष्टि, समग्र व शाश्वत मानव-जीवन की व्याख्या आदि उन बहुमूल्य नाट्य-तत्त्वों की ओर वे उतना ध्यान न दे सके जो नाटक को श्रेष्ठतम साहित्य-रूप एवं जीवन की विशद व्याख्या बना देते हैं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम मौलिक, श्रेष्ठ, लोकप्रिय एवं रससिद्ध नाटककार हैं।

भारतेन्दु के बाद न्यूनाधिक महत्त्व के सैकड़ों नाटककार हुए हैं किन्तु उनमें से अपनी प्रतिभा का उज्ज्वलतम प्रकाश फैलाने वाले नाटककार हैं श्री जयशंकर 'प्रसाद'। नाटक के ही क्षेत्र में नहीं, साहित्य के प्रायः सभी अन्य क्षेत्रों कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि—में वे नई-नई शैलियों और रूपों के प्रवर्तक हैं। हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में तो उनकी प्रतिभा अद्‌भुत व अपूर्व हैं। प्रसाद जी का नाटक-रचना का काल-प्रसार सन् १९१० से १९३३ तक है। उन्होंने 'सज्जन' (एकांकी, सन् १९१०), 'कल्याणी-परिणय' (१९१२), 'करुणालय' (गीति-नाट्य, १९१३), 'प्रायश्चित्त' (एकांकी, १९१४), 'राज्य श्री' (१९१५), 'विशाख' (१९२१), 'अजात-शत्रु' (१९२२), 'कामना' (अन्यापदेशिक नाटक, १९२३-१९२४ में लिखित व १९२७ में प्रकाशित), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२३), 'स्कन्दगुप्त' (१९२८-२९), 'एक घूँट' (एकांकी, १९२९ में लिखित व१९३० में प्रकाशित), 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१९३१), और 'ध्रुव-स्वामिनी' (१९३३) आदि नाटकों की रचना की है। वस्तुतः प्रसाद जी अपने मूल रूप में कवि हैं। उनकी समस्त साहित्य-सृष्टि में काव्य के व्यंजन प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। साथ ही कल्पना के धनी होने से जीवन की नाटकीय स्थितियों के वे इतने कुशल आविष्कर्त्ता व प्रयोक्ता हैं कि उनके द्वारा कविता कहानी, उपन्यास आदि अन्य साहित्य-रूपों में भी मनोरम नाटकीय परिस्थितियों की सहज ही अवतारणा हो गई है। नाटक में कविता व कविता में नाटक के तत्त्व, आमने-सामने से आती हुई कारों की सर्चलाइट की किरणों की तरह, एक दूसरे में मिल गये हैं।

नाट्य-साहित्य

यों तो प्रसाद जी की प्रत्येक नाट्य-कृति अपना स्वतंत्र महत्व रखती है किन्तु 'राज्य-श्री', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और 'ध्रुव-स्वामिनी' आदि कृतियाँ उनकी अक्षय कीर्ति की आधार हैं। आरंभ से ही 'प्रसाद' एक प्रयोगशील कलाकार रहे हैं। 'सज्जन' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक प्रयोगों की एक अविराम शृंखला जारी है। ये प्रयोग 'प्रसाद' जी ने एक अत्यन्त सजग व प्रबुद्ध कलाकार की भाँति देश-विदेश के नाट्य-शिल्प के क्षेत्र में होने वाले प्रयोगों व परीक्षणों पर आलोचनात्मक दृष्टि रखकर, भारतीय नाट्य-तंत्र के व्यापक और समृद्ध ढाँचे में ही रहते हुए किये हैं। ये प्रयोग स्थूलतः चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किये जा सकते हैं।—(१) कथानक-निर्माण अथवा वस्तु-संगठन-कौशल सम्बन्धी, (२) प्रभावशाली चरित्र-कौशल सम्बन्धी, (३) साहित्यक शैली-शिल्प सम्बन्धी, तथा (४) मंच-प्रभाव सम्बन्धी। प्रत्येक सजग कलाकार प्रयोगों की अटूट शृंखला के माध्यम से निर्दोष कृतित्व की सिद्धि की ओर बढ़ता जाता है। यह पूर्ण निर्दोषता तो मानव-अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक अज्ञात वस्तु ही है। 'प्रसाद' भी इस नियम के अपवाद नहीं।

'प्रसाद' मूलतः कवि हैं। उन्होंने अपने कवित्व को इतिहास की विराट् रंग-स्थली में मानव-जीवन के जटिल क्रिया-कलापों के बीच दिखाकर पूर्ण व्यवहार्य व अमिट प्रभावशाली बना दिया है। मानव-जीवन की विशद व्याख्या के उद्देश्य से भावमूलक कवित्व का मानवाश्रित उपयोग व ललित विन्यास ही उनकी नाट्य-कला की मूल प्रेरणा है। नाटकों में जीवन-व्याख्या की प्रेरक विचारधारा का समावेश और कवित्व का यह ग्रहण भी प्रसाद की एक नवीन व मौलिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित व प्रभावित है। अतः 'प्रसाद' की नाट्य-सृष्टि पर कुछ विस्तार से विचार करने से पूर्व इस जीवन-दृष्टि के विधायक तत्वों और उसके स्वरूप पर दृष्टिपात करना अत्यन्त आवश्यक है। इस जीवन-दृष्टि को हम नवीन **'रोमांटिक'** जीवन-दृष्टि कह सकते हैं जिसके विधायक तत्त्व रूढ़ परम्परा का त्याग, नवीन जीवन-दर्शन का ग्रहण, सौन्दर्य-चेतना के प्रति एक अभिनव आकर्षण-कुतूहल, प्रेम की मानवीय संवेदना, अतीत के प्रति एक रहस्यात्मक मोह, प्रकृति तथा मानव का भावुकतापूर्ण तादात्म्य, उच्चादर्शों के प्रति उत्कट अनुराग और शैली-शिल्प की स्वच्छन्दता आदि तत्त्व हैं। इस जीवन-दृष्टि का स्वरूप, जीवन के विविध अनुभूति-क्षेत्र में अविर्भूत आनन्द-वाद, रसवाद, जीवनवाद, भाग्यवाद, प्रकृतिवाद और भोगवाद आदि विचारधाराओं से संपुष्ट एवं समृद्ध हुआ है। भारतीय उपनिषद् और शैव-दर्शन में उपलब्ध आनन्द या शिवत्व की चराचर-व्यापी विराट् चेतना प्रसाद की जीवन-दृष्टि का मूलाधार है। यह आनन्द-भावना प्रसाद-साहित्य में अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रही है।

रसवाद उसी आनन्द या शिवत्व की भावना का साहित्यिक रूपान्तर मात्र है। 'प्रसाद' विवेकवादी न होकर रसवादी हैं अतः उनके साहित्य में सर्वत्र अनुभूति की ही प्रधानता है। जीवनवाद से 'प्रसाद' की वह विचारधारा फूटी है जो 'निगेटिव' अथवा निवृत्ति-मूलक जीवन-दर्शनों के विरुद्ध पौज़िटिव अर्थात् प्रवृत्ति-मूलक जीवन-दर्शनों को स्वीकृति देती है। 'प्रसाद' में कर्म-प्रेरणा और उत्साह की कहीं भी कमी नहीं। यद्यपि 'प्रसाद' जीवन की इस पौज़िटिव फ़िलॉसफ़ी के प्रचारक हैं पर वे इस निष्ठुर सत्य से भी अपरिचित नहीं कि मनुष्य पुरुषार्थी होने पर भी उसका जीवन प्रत्येक क्षण किसी ऐसी अन्ध शक्ति के हाथ का क्रीड़ा-कन्दुक है जिसे वे नियति, भाग्य, अदृष्ट, अनागत आदि नामों से पुकारते हैं। उन के समस्त साहित्य में भाग्य सम्बंधी सैकड़ों उक्तियाँ बिखरी मिलेंगी। वे मानव-जीवन को विश्वात्मा का ही अंश होने के नाते प्रकृति से रहित कहीं भी नहीं देख पाते। प्रकृति उनकी मानवीय सृष्टि की अनिवार्य संगिनी है। भोगवाद को हम आनन्दवाद, रसवाद, जीवनवाद और प्रकृतिवाद में ही समाविष्ट कर सकते हैं, पर आत्म-भाव से इन्द्रियों के द्वारा स्वस्थ भोग का उनके साहित्य में (विशेषतः कामना, लहर, कामायनी, एक घूँट, इरावती आदि में) इतनी अधिक स्वीकृति है कि उसे स्वतंत्र दृष्टि के रूप में ही रखना उचित होगा। रोमांटिक जीवन-दृष्टि के उक्त तत्त्वों एवं उसकी पोषक धाराओं को समझ लेने पर ही 'प्रसाद' के नाटकों में निहित सामाजिक-सांस्कृतिक विचार-धारा, रचनातंत्र-गत प्रयोग और भाव-विभूति के सौन्दर्य का समवेत महत्त्व व सौन्दर्य आँका जा सकता है। यथार्थ के डंठलों पर आदर्श की घनी हरियाली और नाटकों के गंभीर 'टोन' का सीधा सम्बंध इसी जीवन-दृष्टि से है।

'प्रसाद' ने इस जीवन-दृष्टि का निर्माण, परिष्कार, पुष्टि और विकास (१) जन्मांतरीण संस्कार अथवा प्रतिभा (Intuition), (२) अध्ययन, (३) निरीक्षण, (४) चिन्तन और (५) अनुभव द्वारा किया है। प्रातिभ-ज्ञान उपरोक्त विविध साधनों के मूल में है क्योंकि, सब साधनों से सम्पन्न होने पर भी, इसके बिना उनमें समन्वय, व्यवस्था, संगठन और स्फूर्त्ति आदि गुण नहीं आ सकते। भारतीय संस्कृति, साहित्य व कला आदि के गंभीर अनुशीलन से 'प्रसाद' की दृष्टि संतुलित व प्रौढ़ हुई। जीवन (व्यक्ति व समाज) के निरीक्षणों द्वारा प्रयोग-सिद्ध होकर वह प्रामाणिक हो गई, चिन्तन के ताप से तरल होकर वह रसमयी हो गई और अनुभव द्वारा सहृदय-संवेद्य होकर वह प्रेषणीय हो गई। 'प्रसाद' की जीवन-दृष्टि ऐसे आँवे में पक कर खरी व दृढ़ हुई है। इसलिए उनकी उक्त दृष्टि से सम्पन्न समस्त कला-सृष्टि में दृढ़ता और अन्विति है। उसके जीवन के गंभीर विश्वास अथवा अवस्थायें इसी दृष्टि से प्रसूत हैं। उनकी समस्त चरित्र-सृष्टि भी इसी

संश्लिष्ट जीवन-दृष्टि की उपज है। नाटकों में जीवन की व्याख्या इसी दृष्टि से हुई है और नाटकों की समाप्ति के स्वरूप का नियंत्रण व शासन भी इसी के द्वारा हुआ है। सांस्कृतिक नव-निर्माण के लिये नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापनायें 'प्रसाद' जी ने अपनी इसी जीवन-दृष्टि पर पूरा भरोसा रख कर की हैं।

जीवन-दृष्टि की इस व्याख्या के उपरांत अब हम 'प्रसाद' के नाटकों का एक सामूहिक व परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

कथानक और देशकाल—'प्रसाद' ने अपने नाटकों के कथानकों का संकलन इतिहास-पुराण, प्रस्तुत समाज और शुद्ध कल्पना—इन तीनों क्षेत्रों से किया है। 'करुणालय', 'विशाख', 'राज्य श्री', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों के कथानकों का वृत्त ऐतिहासिक-पौराणिक, 'एक घूँट' का वर्तमान सामाजिक एवं 'कामना' का शुद्ध काल्पनिक है। लुप्त इतिहास की शृंखलाओं को जोड़ कर अपनी जीवन-दृष्टि को प्रसारित करने एवं नाटकीय प्रभावोत्कर्ष के लिये, ऐतिहासिक नाटकों में भी नवीन पात्रों व घटनाओं के निर्माण में कल्पना का पर्याप्त समावेश हुआ है, किन्तु सामान्यतः इस वर्ग के सब नाटक इतिहासनिष्ठ हैं। नाटकों में संकलित इतिहास का काल-विस्तार भी ध्यान देने योग्य है। महाभारत काल और पुराण काल से लेकर ठेठ सम्राट हर्षवर्धन तक के काल का विस्तृत वृत्त लेकर 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में अपने प्रगाढ़ इतिहास-प्रेम, दीर्घ कालव्यापिनी अखण्ड व समन्वयात्मक ऐतिहासिक-दृष्टि और गंभीर इतिहासानुशीलन का बड़ा ही भव्य परिचय दिया है। प्रभाव (Appeal) की दृष्टि से विविध क्षेत्रों के कथानकों को लेकर विभिन्न नाट्य-रूपों (गीति-नाट्य, नाट्य-रूपक, अन्यापदेशिक नाटक आदि) के निर्माण में भी उन्होंने अपना हाथ आज़माया है। यद्यपि ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास ही प्रमुख विषय है किन्तु कहीं-कहीं तो वह सर्वथा निमित्त मात्र ही रह गया है और कहीं-कहीं काल-विशेष का पूर्ण विश्वसनीय वाहक। सभी प्रकार के नाटकों में रस-सिद्धि ही प्रमुख उद्देश्य दिखाई पड़ता है। मंच पर इतिहास की पुनरावृत्ति रस-सिद्धि की दृष्टि से बहुत ही प्रभाव-शालिनी होती है। अतः 'प्रसाद' ने इतिहास को ही अपनी नाट्याभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनाया। इस माध्यम का प्रयोग इन पाँच विशिष्ट उद्देश्यों से किया गया जान पड़ता है—(१) भारत के अतीत की भव्य झाँकी दिखा कर भारतीय धर्म-संस्कृति का गौरव गान करने के लिये, (२) इतिहास के विराट् रंगमंच पर सुख-दुःख, हास-रुदन, जय-पराजय, उत्थान-पतन के फूलों के बीच प्रवाहित होते मानव-जीवन की गति-विधि के चित्रण द्वारा शाश्वत मानव-जीवन का वास्तविक

स्वरूप दिखाकर जीवन की व्याख्या करने के लिये, (३) अप्रत्यक्ष रूप में युग-समस्यायें सुलझा कर वर्तमान का कुहरा साफ़ करने के लिये, (४) राष्ट्रीयता का संदेश देकर अन्तर्राष्ट्रीयता व शुद्ध मानवीयता के सनातन आदर्शों के प्रचार के लिये, तथा (५) सात्त्विक मनोरंजन अथवा रससिद्धि के लिये।

नाटक की पूर्ण सफलता के लिये यह आवश्यक नहीं कि कथानक सदा ऐतिहासिक-पौराणिक ही हो, अथवा काल्पनिक-सामाजिक ही हो। वस्तुतः इनमें से कोई भी ढाँचा अपनाया जा सकता है। वास्तविक प्राण-प्रतिष्ठा तो रचना-तंत्र पर अधिकार, भाव-विचार की गंभीरता व उद्देश्य की स्पष्टता पर ही निर्भर करती है। बढ़िया चिकनी मिट्टी के साथ ही हाथों की सफाई, चित्त की एकाग्रता और रूप-पारखी आँखों की भी अपेक्षा है। कथानक के बहुत रोचक होने पर भी विन्यास की अकुशलता से वह बड़ा अशक्त व निस्तेज प्रमाणित हो सकता है। इसी प्रकार साधारण कथानक स्निग्ध, स्वच्छ व सुडौल ढँग से सँवारा जाकर अत्यंत प्रभावशाली हो जाता है। प्रसिद्ध अथवा रोचक कथानक की उपस्थिति मात्र ही नाटक की सफलता की गारंटी नहीं देती अतः रसोत्पत्ति की दृष्टि से वस्तु का पुष्ट संगठन, उसके विविध अंगों का कौशलपूर्ण अवस्थान, व सुस्निग्ध घटना-क्रम स्थापन आदि बातें अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। 'प्रसाद' ने अपने कथानक-निर्माण में नाट्य-शास्त्र के अन्तर्गत प्राप्त विशिष्ट रचना-विधियों का पर्याप्त उपयोग किया है और उसे पुष्ट व निर्दोष बनाने का प्रयत्न भी किया है पर वे इस क्षेत्र में आंशिक सफलता ही प्राप्त कर सके हैं। इसका एक प्रमुख कारण है। 'प्रसाद', जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मूलतः एक कवि थे अतः स्थूल-बाह्य कथानक के निर्माण में शिल्पाधिकार-प्रदर्शन की अपेक्षा वे भाव-सृष्टि के सूक्ष्म सौन्दर्य के उद्घाटन एवं जीवन की गंभीर व्याख्या के कार्य में ही अपेक्षाकृत अधिक दत्तचित्त थे।उन्होंने कथानक को भी जो सजाने-सँवारने का प्रयत्न किया है वह भी वस्तुतः अपनी चरित्र-सृष्टि की सफलता के लिए किये गये उद्योग का अंगभूत मात्र है। (स्कन्दगुप्त, और ध्रुवस्वामिनी जैसी कृतियाँ इस कथन की अपवाद हैं)। यदि 'प्रसाद' दूसरे पक्ष की ओर इतने आकृष्ट न होते तो वे कदाचित् अध्यवसायपूर्वक कथानक निर्माण की निर्दोष सिद्धि सहज ही प्राप्त कर सकते थे, इसमें भी संदेह नहीं। पर जब दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि उनकी उत्तरकालीन प्रौढ़ कृतियाँ (स्कन्दगुप्त व ध्रुवस्वामिनी आदि) ही कथानक-निर्माण-कौशल की दृष्टि से अधिक परिपुष्ट, स्वच्छ व कांतिमान् है तो यह भी सहज ही कल्पित किया जा सकता है कि 'प्रसाद' वस्तु-संगठन की कला में भी निपुणता के आकांक्षी थे। उन्हें वांछित सफलता काफ़ी समय के बाद ही मिली। जो हो 'प्रसाद' का कथानक-निर्माण-कौशल प्रयोग-पथ पर अनेक सीढ़ियों को पार करता हुआ ही सफलता

की ओर अग्रसर होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस पर थोड़ा और अधिक विस्तार से विचार किया जाय।

सामान्य प्रेक्षकों के मनोरंजन व रंगमंचीय सामूहिक प्रभाव की दृष्टि से देखने पर अधिकांश कृतियाँ भले ही मनोरंजन सिद्ध हों किन्तु प्रयोगसिद्ध शास्त्रीय रचना-विधान की कसौटी पर, वस्तु-संकलन की दृष्टि से अधिकांश कृतियाँ निर्दोष नहीं हैं। वस्तु-संगठन और चरित्रांकन के सन्तुलन की दृष्टि से 'प्रसाद' की केवल दो ही रचनायें अधिकतम सफलता की अधिकारिणी समझी जाती हैं—स्कन्दगुप्त और ध्रुवस्वामिनी। शेष कृतियाँ न्यूनाधिक त्रुटियों, असंगतियों व अभावों से युक्त हैं। 'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'विशाख' आदि कृतियों में तो कथानक के अनुरंजनकारी और चमत्कार-पूर्ण विन्यास का कोई विशेष प्रश्न ही नहीं, क्योंकि यह सब अपने गुणदोषों को लिये हुए प्रयोगकालीन कृतियाँ हैं। सब में कहानी की मृदु मंथर धारा साधारण वैचित्र्य लिए दिखाई पड़ती है। स्थितियों के भावान्दोलक आरोह-अवरोह, चरित्र-चित्रण-कौशल या कोई गूढ़ मंच-प्रभाव लक्षित नहीं होता। हाँ, 'राज्यश्री' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक रचना-कौशल अवश्य परिष्कार की एक सजग व प्रौढ़ दृष्टि लेकर सोत्साह यात्रा करता हुआ दिखाई पड़ता है। 'कामना' में मन के भावों को नराकार बना कर उन्ह नाटकीय पात्रता प्रदान की गई है। इस कृति में घटना-व्यापार तो बहुत है पर पात्रों के चरित्र-विकास की कोई गुंजाइश नहीं, क्योंकि मनोजगत में भावों की मूल प्रकृति प्रायः सर्वत्र एकरस ही बनी रहती है। हाँ, नाटकीय चमत्कार उत्पन्न करने के आग्रह से उनके चारित्र्य में मानवोचित उत्कर्षापकर्ष का आरोप भले ही कर दिया जाय। 'एक घूँट' की आत्मा नाटकीय न होकर विचारात्मक है। एक विशिष्ट तथ्य तक पहुँचने के उद्देश्य से पात्रों के संवाद चलते रहते हैं। नाटकीय वातावरण के उपयुक्त बीच-बीच में कुछ उपकरण हैं अवश्य पर वे नाटक के गद्यात्मक अथवा विचारात्मक रूपाकार के शासन के कारण अशक्त से ही हैं। इस प्रकार नाट्य-सौन्दर्य की दृष्टि से विचारणीय कृतियाँ केवल पाँच-छः ही बच रहती हैं—'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'। इन कृतियों के संबंध में समीक्षा-जगत में स्थिर किये गये या किये जा सकने वाले कुछ तथ्य ये हैं :—

लघुकाय 'राज्यश्री' के पहले संस्करण का साहित्यिक सौन्दर्य कोई विशेष महत्वपूर्ण नहीं। 'राज्यश्री' के अधिकांश दृश्य बहुत छोटे-छोटे हैं। घटना-शृंखला इस छोटी-सी कृति के लिए बहुत बोझीली है। दूसरे संस्करण में जोड़ा गया चौथा अंक आवश्यक ही है क्योंकि यह हर्षवर्धन व राज्यश्री के चरित्रगत दिव्य गुणों

का विशिष्टीकरण और विस्तार मात्र है। सामूहिक प्रभाव की दृष्टि से यह कृति पर्याप्त सशक्त है। घटना-विस्तार के कारण राज्यश्री को छोड़ कर और किसी का भी चरित्र विकसित नहीं हो पाया है।

'अजातशत्रु' में कोशल, मगध और कौशाम्बी—इन तीन घटना-केन्द्रों तक कथा का विस्तार आवश्यक ही किया गया है। प्रसेनजित्, उदयन, वासवदत्ता आदि पात्रों की कोई विशेष सार्थकता नहीं। मगध की मुख्य कथा कुल २९ में से केवल ८ दृश्यों में ही समाप्त हो गई है। कार्य-व्यापार की अधिकता और संघर्षमूलक ऐतिहासिक परिस्थितियों (अजात-बिम्बसार गृह-कलह, विरुद्धक-प्रसेनजित्-गृहकलह, करुणा-हिंसा अथवा गौतम- देवदत्त-संघर्ष) के चित्रण के कारण चरित्र-प्रस्फुटन का बहुत कम अवकाश बचा है। फलतः अजातशत्रु आदि के चरित्र परिवर्तन अस्वाभाविक ढंग से करने पड़े हैं। मागन्धी-शैलेन्द्र जैसे प्रासंगिक-काल्पनिक उपकथानक मूल कथा के प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं। अन्तर्द्वन्द्व के अभाव में बलात् हुए चरित्र-परिवर्तन ऐतिहासिक परिस्थितियों के विस्तार का सीधा परिणाम हैं। नाटक का नायक कौन है—मल्लिका, गौतम अथवा अजातशत्रु? यह विषय भी इस भाग-दौड़ में विवादास्पद ही बना रह गया है। नायक के मुख्य गुण किसी एक ही पात्र में केन्द्रित न होकर अनेक पात्रों में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। हाँ, तीनअंकों में कार्य की पाँचों अवस्थाओं को बैठाने का प्रयास अवश्य संतोषजनक दिखाई पड़ता है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' में लेखक का ध्यान ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष व तत्सम्बन्धी घटनावली तथा वतावरण-निर्माण पर ही अधिक टिका है। फलतः मनसा, सरमा जैसी पात्रियों के चरित्र का ही विकास कुछ अच्छा हो पाया है; अन्य पात्र बौने रह गये ह। कार्य की अवस्थाओं, संधियों आदि का विधान भी बहुत अकुशल और दुर्बल है। नाटक के आरम्भ में पात्रों के कुलशील का भी वैसा रोचक व जिज्ञासा-वर्धक परिचय नहीं मिलता जैसा 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' आदि में। नाटक की समाप्ति पर जो सामूहिक प्रभाव उत्पन्न होता है वह भी कथा की मूल धारा के वेगवान् व स्वाभाविक पर्यवसान के रूप में नहीं। संवाद (भाषण!) भी अनेक स्थानों पर बहुत बड़े-बड़े व उकताने वाले हो गये हैं। घटना-व्यापार और चरित्र की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया भी नाटक के प्रतिपाद्य के साथ एकजीव नहीं हो पाती। इसप्रकार अंगी और अंगों का सुन्दर संगठन नहीं हो पाया है।

'स्कन्दगुप्त' नाट्य-तंत्र की दृष्टि से 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ कृति कही जाती है। पाँच अंकों में कार्य की पाँच अवस्थाओं, संधियों और अर्थ-प्रकृतियों का सफ़ाई के साथ कलापूर्ण अवस्थान हुआ है। कथानक यद्यपि स्कन्द-कालीन व्यापक राजनीतिक-

धार्मिक ऊहापोह से लबालब भरा है पर वह अनुपात-बुद्धि द्वारा इस कौशल से सजाया गया है कि इतिहास के वातावरण की सफल अवतारणाओं के साथ ही पात्रों का अन्तः-प्रकृति-प्रकाशक चारित्र्य अपने पूर्ण वैचित्र्य के साथ संतोषजनक रूप में चित्रित हो सका है। स्कन्दगुप्त, देवसेना, विजया, भटार्क आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण अन्तर्द्वन्द्व व बहिर्द्वन्द्व की स्वाभाविक क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से, बहुत सुडौल- न स्पष्ट, न महीन-रेखाओं में उभर आया है। नाटक में आदि से अंत तक जिज्ञासा-कौतूहल बराबर बना रहता है। स्कन्द की आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक कथाएँ (अनन्तदेवी, पुरुगुप्त-प्रपंचबुद्धि, देवसेना-विजया, बंधुवर्मा-जयमाला) बहुत सफ़ाई के साथ गुँथी हुई हैं। आवश्यक प्रसंगों की अवतारणा नहीं के बराबर है। कार्य-व्यापार और चरित्र-चित्रण में संतुलन है। प्रत्येक अंक कई दृश्यों में विभाजित है किन्तु दृश्यों का परिवर्तन दृश्य-संख्या के द्वारा सूचित नहीं किया जाकर पट-परिवर्तन के द्वारा किया गया है।

'चन्द्रगुप्त' प्रसाद की एक अत्यन्त सशक्त कृति है। सामूहिक प्रभाव की दृष्टि से यह बहुत रोचक है। किन्तु कथानक में इतिहास-निष्ठा के आग्रह से लगभग २५-३० वर्षों की दीर्घकाल-व्यापिनी घटनाओं के ठूँस दिये जाने से उसमें 'विशाख' अथवा 'ध्रुवस्वामिनी' का सहज-प्रसन्न प्रवाह नहीं रह गया है। घटना-बाहुल्य के कारण बहुत बातें केवल सूचित कर दी जाती हैं। ऐतिहासिक युग के चित्रण के आग्रह से पात्रों के चरित्रों में विकास का अवकाश बहुत ही कम रह गया है। केवल चाणक्य के चरित्र में ही अच्छा विकास हो पाया है। उसका मस्तिष्क तो नाटक में सूर्य की तरह तप रहा है पर हृदय-पक्ष (जिसका उद्घाटन चाणक्य के चरित्र को मानवीय बनाने के उद्देश्य से नाटककार का लक्ष्य है) अनावृत-सा ही रह गया है। शेष पात्र अविकसित से हैं। प्रासंगिक कथाएँ (अलका-सिंहरण, कल्याणी-पर्वतेश्वर, राक्षस-सुवासिनी, चन्द्रगुप्त-मालविका) संख्या में इतनी अधिक व विस्तार में विषम अनुपात में है कि मूल कथा का प्रवाह अवरुद्ध होता जाता है। चतुर्थ अंक ऊपर से जुड़ा हुआ जान पड़ता है—चाहे वह प्रथम तीन अंकों से निकाले गये बहुत महीन रेशमी धागों से ही सिला हो। तृतीय अंक के बाद चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया विवाह, सिंहरण द्वारा चन्द्रगुप्त की अधीनता-स्वीकृति व राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त के मंत्री-पद के लिये स्वीकृति आदि बातें चन्द्रगुप्त को निष्कंटक अवश्य प्रगट करती हैं पर तृतीय अंक की समाप्ति के साथ ही दर्शक-मन की सब जिज्ञासाएँ पूरी तरह शांत हो चुकने से चौथा अंक आसोज के बादलों-सा जान पड़ता है। नायक-नायिका के निर्णय का प्रश्न भी बहुत गंभीर है। नायक चन्द्रगुप्त है अथवा चाणक्य ? नायिका कार्नेलिया है अथवा अलका है, कल्याणी या मालविका ? इस सम्बन्ध में लेखक का मन्तव्य भी

बहुत स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। समन्वित प्रभाव की दृष्टि से अवश्य 'चन्द्रगुप्त' एक शक्तिशाली व रोचक रचना है।

'ध्रुवस्वामिनी' मंच-सज्जा व अभिनय, वस्तु-संगठन व चरित्र-चित्रण, समस्या व उसका समाधान तथा वातावरण-चित्रण आदि सभी दृष्टियों से एक अत्यन्त श्रेष्ठ कलाकृति है। कोई प्रासंगिक उपकथा नहीं। कहानी अगहन की नदी सी-सहज गति लिये बढ़ती जाती है। आद्यन्त जिज्ञासा बनी रहती है। कार्य-व्यापार की शृंखला बराबर जुड़ी चलती है। कार्य की अवस्थाओं, सन्धियों व अर्थ-प्रकृतियों का विधान भी अत्यन्त कौशलपूर्ण ढंग से हुआ है। सारी कथा केवल तीन अंकों में विभाजित है; अंकों का दृश्यों में विभाजन कहीं नहीं। स्थान, समय व कार्य-व्यापार में अन्विति अच्छी प्रकार बैठ गई है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व व बहिर्द्वन्द्व का बहुत ही मार्मिक चित्रण हुआ है जो सम्भवतः कहानी की सुडौलता के कारण ही सम्भव हो सका है।

कथानक से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रखने वाली कुछ अन्य बातों का भी उल्लेख यहाँ असंगत न होगा। आकाश-भाषित, स्वगतकथन, अतिप्राकृतिक तत्त्वों का समावेश (ध्रुवस्वामिनी व स्कन्दगुप्त में धूम्रकेतु का कथानक में संगुफन) 'प्रायश्चित्त', 'करुणालय', 'सज्जन', 'राज्यश्री' (प्रथम संस्करण), 'ध्रुवस्वामिनी' आदि कृतियों में हुआ है जो स्वाभाविक नहीं जान पड़ता। 'सज्जन' व 'राज्यश्री' (प्रथम संस्करण) में नांदी-पाठ, नट-नटी, सूत्रधार आदि का विधान किया गया है जो आगे चल कर छोड़ दिया गया। 'करुणालय', 'सज्जन', राज्यश्री' व 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि नाटकों में शास्त्रीय भरत-वाक्य के ढंग पर मंगल-कामना या मंगल-घोष का विधान, विष्कंभक, गर्भांक आदि का प्रयोग उन कृतियों के बाद नहीं हुआ। कविता में संवादों की जो भद्दी परम्परा 'विशाख', 'सज्जन', आदि में दिखाई पड़ती है, यह भी आगे चलकर छूट गई है। 'विशाख' में बातचीत में पुराने ढंग की तुकबाज़ी का भी भद्दापन प्रकट हुआ है। मंच पर व्यस्त पात्रों के वाक्य के पकड़ते हुए आना भी बड़ा अस्वाभाविक लगता है। स्कन्दगुप्त में भी यह (देवकी की मृत्यु के आयोजन पर स्कन्द का प्रवेश) दिखाई पड़ता है। प्रसाद ने प्राचीन ढंग के विदूषक भी रखे हैं—यथा, 'विशाख' में राजा का सहचर महापिंगल व 'स्कन्दगुप्त' में मुदगल आदि। महापिंगल का आचरण बहुत हलका हो गया है। 'प्रसाद' ने प्राचीन नियमों का उल्लंघन (परिष्कार ?) करते हुए मंच पर हत्या, मृत्यु आदि के दृश्य भी दिखाये हैं। अनेक स्थानों में तो मृत्यु केवल सूचित ही कर दी जाती हैं। इस सम्बन्ध में 'प्रसाद' ने पूर्ण स्वतन्त्रता बरती है। दृश्य या अंक के आरम्भ में रंग-संकेत की शैली भी ('एक-घूँट', 'करुणालय',

'ध्रुवस्वामिनी' आदि में) पाश्चात्य नाटकों के अनुकरण पर प्रयुक्त की गई है। 'प्रसाद' ने गीतों का विधान भी किया है। कहीं-कहीं तो वे अवसरोपयोगी, साभिप्राय, सरल व महत्वपूर्ण हैं। किन्तु जहाँ वे बार-बार गाये जाते हैं, अत्यधिक कलापूर्ण व अलंकृत हैं, संवादों में तुकबाजी के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ वे बड़े उबाने वाले हो गये हैं।

कथानक और देश-काल का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कथानक किसी भी प्रकार का हो—चाहे काल्पनिक ही—उसमें किसी न किसी देश और काल की अवतारणा है। ऐतिहासिक कृतियों से, विश्वसनीयता और रसोद्बोधन की दृष्टि से, देश-काल के चित्रण इतिहासानुमोदित होना अत्यन्त आवश्यक है। उनके द्वारा भौगौलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक-राजनीतिक, धार्मिक-नैतिक-आध्यात्मिक आदि सभी परिस्थितियों का सम्यक् ज्ञान कराने के लिए तत्सम्बन्धी युग के रहन-सहन, बोल-चाल, खान-पान, आमोद-प्रमोद, वेश-भूषा, रीति-नीति, युद्ध-विग्रह, मत-विश्वास, संस्था-विचार आदि का यथातथ्य रूप में इस सीमा तक प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है कि हम कृति अथवा नाट्य का आनन्द लेते समय उस युग के पवन में ही साँस लेते जान पड़ें। किन्तु यह भी विस्मृत न हो जाय की साहित्य में कल्पना भी एक अनिवार्य तत्त्व है अतः नाटक में इतिहास की अवतारणा इस जड़ सीमा तक भी न हो जाय किकल्पना के लिए किञ्चित् भी अवकाश न रहे। अतः प्रमुख इतिहासनिष्ठ घटना-व्यापारों व परिस्थितियों के ठूँठों पर कल्पना का रमणीय हरीतिमा-प्रसार किया जा सकता है। 'प्रसाद' ने भारतीय इतिहास को इतिहास के प्रबुद्ध अन्वेषक की तीक्ष्ण दृष्टि से पूर्णतया शोध कर प्रस्तुत किया है अतः वह प्रामाणिक तथा 'इतिहास-रस' का संचार कराने में पूर्ण समर्थ हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में एक मांसल व प्राणवान् अतीत मुसकरा रहा है। देश-काल को प्रत्यक्ष कराने वाले घटना-व्यापरों के साथ ही शतद्रु, कुभा, शिप्रा, सिन्धु, विपाशा, रावी, कपिशा, उद्भाण्ड, अवन्ती, उज्जयिनी, दशपुर, विदिशा, मूलस्थान, मगध, कोशल, कौशाम्बी, तक्षशिला, पाटलीपुत्र, कुसुमपुर, गान्धार, मालव, अन्तर्वेद, पंचनद, सप्तसिन्धु, आर्यावर्त, लौहित्य, स्कन्धावार, शिविर, गिरिसंकट, आर्य, महादेवी, भद्र, आर्यपुत्र, वत्स, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य, महाप्रतिहार, महादण्डनायक, परमभट्टारक, महासन्धिविग्रहिक, युवराजभट्टारक, अश्वमेधपराक्रम, महेंद्रादित्य व ऐसे ही सैकड़ों विशिष्ट शब्दों का प्रयोग समस्त नाट्य-सृष्टि में इतिहासोपयोगी सजीव वातावरण की सृष्टि में बहुत सहायक होता है।

पर, देश-काल-संबंधी बात यहीं समाप्त नहीं होती। यों तो किसी युग का तटस्थ चित्रमात्र ही मनोरंजन व रस-संचार की दृष्टि से पर्याप्त शक्तिशाली सिद्ध

होता है पर ध्वनि अथवा अनुरणन उत्पन्न करने में समर्थ कुशल कलाकार अपने अंकित चित्र को प्रस्तुत देश-काल की परिस्थितियों-समस्याओं और उनके चित्रण-समाधान के दोहरे उद्देश्य की सिद्धि से साभिप्राय बना देते हैं। वस्तुतः इस विशिष्ट प्रयत्न में ही लेखक की जातीय जीवन अथवा विश्व-जीवन-सम्बन्धी व्याख्या निहित रहती है। पराधीन भारत की शारीरिक, मानसिक व आत्मिक स्थिति का गूढ़ चित्रण व पादाक्रांत, लुंठित व धूलिसात् भारतीय जीवन की विषम समस्याओं का सर्वांगपूर्ण समाधान किस मनोयोग के साथ प्रसाद जी ने किया है, यह कृतियों का अनुशीलन करके जाना जा सकता है।

पात्र-सृष्टि

'प्रसाद' के नाटकों का सर्वाधिक आकर्षक उपकरण उनकी बहुरंगी व गम्भीर पात्र सृष्टि है। नाटक के तत्त्वों में पात्र-सृष्टि एक अत्यन्त व्यापक तत्त्व है जिसमें संवाद, शैली व उद्देश्य तत्त्व भी सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं। कथानक का अपना सौन्दर्य जो भी हो पात्र-सृष्टि ही वास्तव में इसे प्राणवान बनाती है। 'प्रसाद' के नाटकों में कथानक का वैशिष्ट्य न हो कर पात्र-सृष्टि का ही अधिक महत्त्व है। वस्तुतः 'प्रसाद' को अपने नाटकों के माध्यम से जो कुछ कहना है उसके लिए कथानक कदाचित् निमित्त मात्र ही है; कथानक के सौन्दर्य का महत्त्व चरित्र-सृष्टि की सफलता की सिद्धि में सहायक होने भर में है। रसात्मक कथानक तो भारतीय नाटकों की अपनी विशेषता है। 'प्रसाद' उसके साथ पाश्चात्य ढंग का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण मिलाकर नाटक के स्वरूप को पूर्ण व समृद्ध करना चाहते हैं। इस सामंजस्य में ही उनकी मौलिकता है। अस्तु, ज्यों-ज्यों 'प्रसाद' की नाट्य-कला का विकास होता गया त्यों-त्यों उसमें सधे व सुडौल हाथों के रेखांकन की स्थिरता व सुगढ़ता आती गई। पात्र-सृष्टि और चरित्र-चित्रण-कौशल में ही लेखक की प्रतिभा की खरी परीक्षा होती है। जीवन के अन्तरंग का व्यापक अनुभव, लोक-व्यवहार का ज्ञान, वस्तु-व्यापार-स्थिति, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति, जगत व जीवन के प्रति विकसित हुई अपनी मौलिक दृष्टि, मानव-जीवन की व्याख्या और मनोविज्ञान की गहराई, रचना-तंत्र (Technique) के अभ्यास से प्राप्त सिद्धहस्तता और लेखक के व्यक्तित्व के निर्माण करने वाले तत्त्वों—अध्ययन, पांडित्य, भावुकता, कल्पना आदि—का उत्कर्ष आदि समस्त गुणों व शक्तियों का समवेत परिचय हमें उसकी चरित्र-सृष्टि के द्वारा ही प्राप्त होता है। वस्तुतः इन गुणों व शक्तियों के उत्कर्ष के अनुपात में ही उस सृष्टि की सफलता एवं प्रभावशालिता दिखाई पड़ती है। प्रसाद की पात्र-सृष्टि भी इस सत्य का अपवाद नहीं।

पात्र-सृष्टि में प्रसाद की अन्तर्बाह्य दृष्टि का बोध उनके बहुविध क्षेत्रों से चुने

हुए पात्रों की विविधता से होता है। इस विविधता को हम लिंग, जाति, वर्ग, पद-व्यवसाय, विचारधारा, वृत्ति, प्रकृति आदि में विभाजित कर सकते हैं। समस्त स्त्री-पुरुष पात्र निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत किये जा सकते हैं :—

(१) जाति-वर्ग : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—जन्म के आधार पर निर्धारित वर्गों से पात्रों का चयन किया गया है। ब्राह्मण-वर्ग में केवल यज्ञोपवीत-धारी द्विज ही न होकर उन सब वर्गों के पात्र सम्मिलित हैं जो सार्वभौम ब्राह्मणत्व नामक आचारचिंता-विशिष्ट सात्विक गुण के अभ्यासी अथवा धारणकर्त्ता हैं। सारिपुत्र और मिहिरदेव जैसे आचार्य; गौतम, दाण्ड्यायन, वशिष्ठ, दिवाकरमित्र, विश्वामित्र, च्यवन, शौनक, प्रेमानन्द एवं जगत्कारू जैसे महात्मा, ऋषि, मुनि, संन्यासी और तपस्वी; तुरकावषेय, सोमश्रवा और काश्यप जैसे पुरोहित, प्रपंचबुद्धि एवं सत्यशील जैसे बौद्ध कापालिक और बौद्ध मंहत अपने समस्त गुणावगुणों के साथ इस वर्ग में समाविष्ट किये जा सकते हैं। क्षत्रियों में चन्द्रगुप्त मौर्य, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु आदि राजा-सम्राट, राज-माताएँ, राजकुमारियाँ, सेनापति, राज-परिजन आदि सम्मिलित हैं। विजया वेश्या-वर्ग की है। झाड़ू वाला (एक घूँट) शूद्र जाति का है। इसी प्रकार तक्षक, आर्य, यवन, शक, हूण आदि जातियों के पात्र भी गुण-कर्म आदि के आधार पर किसी न किसी वर्ग के अधिकारी हैं।

(२) पद-व्यवसाय : यह वर्ग प्रथम से अधिक सूक्ष्म है क्योंकि पद-व्यवसाय, गुण-रुचि व प्रवृत्ति के अनुसार कोई भी व्यक्ति प्राप्त अथवा ग्रहण कर सकता है। इस वर्ग के पात्रों में पर्याप्त विविधता है। मालिन (सुरमा), विदूषक (मुद्गल, वसंतक, चंदुला), दस्यु (शान्तिदेव, विकटघोष), झाड़ूवाला (एक घूँट में), पहरी, सैनिक, दूत (साइबर्टीयस, मेगास्थनीज़), दौवारिक, नर्तकी, कंचुकी, दासी, वेश्या (श्यामा), शिकारी (लुब्धक, भद्रक), वैद्य (जीवक), कवि (मातृगुप्त, रसाल), सेनापति (बन्धुल,पर्णदत्त, चण्डभार्गव) श्रमण स्थविर (प्रख्यातकीर्ति), यात्री (हुएनच्यांग), भिक्षु (धर्मसिद्धि, शीलभद्र) दण्डनायक, अमात्य, सहचर, दास, विद्यार्थी (उत्तंक, त्रिविक्रम), हिजड़े, बौने, कुबडे आदि विविध पद-व्यवसाय के पात्र 'प्रसाद' की पात्र-सृष्टि को विस्तार व विविधता प्रदान करते हैं।

(३) विचार-धारा व वृत्ति-प्रकृति : इसी प्रकार इस तृतीय आधार पर भी पात्रों का वर्गीकरण हो सकता है। यह आधार प्रथम दो आधारों से भी अधिक सूक्ष्म है। चाणक्य और मुकुल (एक घूँट) तार्किक हैं। रसाल व मातृगुप्त कवि हैं। आनन्द प्रेम का प्रचारक है। प्रेमलता, ध्रुवस्वामिनी, देवसेना, वाजिरा, कोमा, राज्यश्री,

चन्द्रलेखा, मणिमाला, कल्याणी, कार्नेलिया आदि पात्रियां स्नेहमयी, अनुरागमयी, कल्पनाशील और अनुभूति-प्रवण नारियाँ है। इसी प्रकार गौतम, मातृगुप्त, चाणक्य, दाण्ड्यायन, स्कन्द, प्रेमानन्द आदि भी अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण पात्र-विभाजन का एक स्वतंत्र आधार प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण-विभाजन से यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' ने सहस्रमुखी जीवन के सभी स्तरों और अंचलों—अभिजात-दीन, जटिल-सरल, महत्वाकांक्षी-संतोषी, भौतिक-आध्यात्मिक, यथार्थवादी, तर्क-प्रधान, अनुभूति-प्रधान, अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी, निवृत्तिमूलक-प्रवृत्तिमूलक, पुरुषार्थी-नियतिसमर्पित, श्रमिक-विलासी, ग्रामीण-नागरिक, कृत्रिम-स्वाभाविक—का अनुशीलन किया है। फिर भी यह मानना होगा कि उनकी दृष्टि समाज के अभिजात, दार्शनिक व राजकीय वर्ग की ओर जितनी थी उतनी समाज के निम्न वर्ग की ओर नहीं। उनके पात्रों में अतिशय निम्न वर्ग के पात्र हैं किन्तु प्राय: वे सब एक विशाल यंत्र के पुर्जे ही बनकर चल रहे हैं। उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। हाँ, भरत-वाक्या या मंगल-घोषों में प्राणिमात्र (जिसमें शोषित, दीन-हीन मानव-वर्ग सम्मिलित है) की सुख-शान्ति आनन्द-कल्याण की भावना सर्वत्र व्यक्त की गई है। किन्तु युग-प्रवृत्ति के अनुसार अथवा शुद्ध मानवीयता के नाते उनके किसी स्वतन्त्र नाटकीय विश्लेषण-विवेचन का एकाग्र प्रयत्न प्राय: कहीं नहीं दिखलाई पड़ता। 'एक घूँट' में भी उच्च, भद्र व बौद्धिक-हार्दिक जीवन का ही व्याख्यान अधिक है जब कि वहाँ समाज के दीन प्राणियों के जीवन चित्रण की पर्याप्त गुंजाइश निकल सकती थी। वास्तव में 'प्रसाद' के लिये यह स्वाभाविक ही था क्योंकि प्रत्येक कलाकार अपने ही संस्कार, वातावरण व रुचि आदि से ही सहज-स्वाभाविक रूप में नियंत्रित रहता हैं। अत: इसे हम कोई त्रुटि भी नहीं कह सकते। जो कुछ भी हमारे सामने है हमें तो उसी का विश्लेषण-विवेचन करना है।

ऊपर पात्रों का वर्गीकरण-विभाजन जिन आधारों पर किया गया है वे आधार अपने आप में वस्तुत: बड़े स्थूल व बाह्य हैं। चरित्रों के विभाजन का एक मात्र सूक्ष्म व पक्का आधार सार्वदेशिक व सार्वकालिक मानवी प्रवृत्तियां अथवा मानसिक वृत्तियाँ ही हो सकती हैं और इस आधार को ग्रहण करने पर 'प्रसाद' की चरित्र-सृष्टि का विश्लेषण करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। गीता में सात्विक, राजसिक, तामसिक इन तीन वृत्तियों अथवा प्रकृति-गुणों के ढांचे में सूक्ष्म-स्थूल आदि सब का सम्यक् विवेचन पूर्ण सम्भव हो सका है। अत: हम भी सात्विक, राजसिक व तामसिक—इन वर्गों में ही पात्रों का विभाजन करके अपना काम चलायेंगे। कहने

की आवश्यकता नहीं कि संसार में न तो कोई व्यक्ति पूरा सात्विक ही होता है, न पूरा राजसिक ही और न पूरा तामसिक ही। हाँ, कुछ अत्यन्त विरल अपवाद भले ही हो सकते हों। सामान्यतः मानव-प्राणियों में आत्यंतिक प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। वे तीनों ही गुणों में डूबते-उतराते रहते हैं।

'प्रसाद' की पात्र-समष्टि में सात्विक वृत्ति के पात्रों की संख्या काफ़ी बड़ी है। गौतम, सारिपुत्र, मौग्गलायन, मिहिरदेव, प्रेमानन्द, च्यवन, शौनक, चाणक्य, विम्बसार, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, बन्धुवर्मा, मणिमाला, मल्लिका, कल्याणी, अलका, देवसेना, चन्द्रलेखा, कार्नेलिया आदि पात्र अपनी सात्विक ज्योति से समस्त नाट्य-सृष्टि को आलोकित किये हुए हैं। गहराई से विचार करने पर ये पात्र चार श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) जो जन्मान्तरीण संस्कारों के कारण प्रकृति से ही शुद्ध सात्विक हैं....यथा, गौतम, मणिमाला, देवसेना, ध्रुवस्वामिनी आदि, (२) जो परिस्थितिवशव घटना-प्रवाह में पड़कर जीवन-संग्राम में चोट खाकर, अपने व्रणों को सहलाते हुए एक कोमल-स्निग्ध व सहानुभूतिपूर्ण हृदय व दार्शनिक मस्तिष्क के सम्बल से जीवन का पथ पार कर रहे हैं यथा, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि (३) जो राग-भोगों से तृप्त होकर स्वभावतः परिपक्व फल की तरह जीवन-तरु से मुक्त हो चुके हैं अथवा होने के लिये विवेक- वैराग्य आदि का अभ्यास कर रहे हैं, जैसे राजा बिम्बसार, प्रसेनजित्, राजमाताएँ आदि और (४) जो बीज-रूप से सात्विक प्रकृति के तो हैं किन्तु अवसरों की हवाओं में उड़कर विपथ-गामी, महत्वाकांक्षी बने सत्ता-प्राप्ति के लिये षड्यंत्रों का सृजन कर रहे हैं। ऐसे पात्रों में अपने चरित्र में सुधार कर सकने की भी क्षमता है—उदाहरणार्थ, अजात-शत्रु, भटार्क, विरुद्धक, छलना, विकटघोष आदि। इन पात्रों में से अधिकांश का मनो-विधान प्रायः दार्शनिक-धार्मिक टाइप का है। इनमें से प्रथम श्रेणी के पात्र तो प्रायः निष्कलुष हैं। सब मिलाकर देखने पर ये पात्र न्यूनाधिक मात्रा में सदाचारी, कल्याणकारी, व्रती, संयमी, त्याग-तपोनिष्ठ, सेवापरायण, लोकोपकारी, प्रशांत, संघर्ष-मुक्त, आत्मतत्व-चिन्तनमग्न, संसारत्यागी, विरागी, निरीह व विश्वप्रेम के सन्देशवाहक हैं। वे व्यक्ति व देश को अन्तर्बाह्य संघर्ष-विद्रोह से मुक्त कराकर जगत का पाप-ताप शांत करने वाले हैं। तटस्थ या उदासीन पात्र भी लोक-जीवन को प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में बहुत गंभीरता से प्रभावित किये रहते हैं। नाटक के घटना-चक्र के घुमाव-फिराव में इनका बहुत लम्बा हाथ रहता है। और इन्हीं के प्रभावों से नाटक लेखक की जीवन-दृष्टि-सम्मत समाप्ति की ओर बहुत शांत मधुर गति से बढ़ चलता है। 'प्रसाद' के नाटकों में आद्यन्त व्याप्त सांस्कृतिक स्वर के मूल उद्गम ये ही विशिष्ट पात्र हैं। विश्व-प्रेम, करुणा, क्षमा, उदारता, सन्तोष, सेवा, त्याग आदि गंभीर जीवन

मूल्यों की प्रतिष्ठा इन्हीं पात्रों के क्रिया-कलापों, विचारों व उपदेशों से संभव हो सकी है। राजसिक व तामसिक जीवन अंचलों की समस्त दुःखदावा को शांत कर उनमें शांति, क्षमता व करुणा की हरियाली और तरावट का प्रसार इन्हीं का प्रसाद है। नाटकों में वर्णित रसों के अंगीभूत शांत रस की स्थिति के भी आधार ये ही हैं। कल्पना व दार्शनिकता के उपकरणों से संयुक्त हुए इनके उद्गार 'प्रसाद'-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। 'प्रसाद' अपने नाटकों में मुख्यतः इन्हीं पात्रों के माध्यम से बोले हैं।

दूसरा वर्ग राजसिक पात्रों का है। राजसिक पात्रों की भी, सात्विक पात्रों की ही तरह, अनेक कोटियाँ अथवा श्रेणियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। परमोच्च राजसिक पात्रों की स्थायी प्रवृत्ति शुद्ध सात्विक की ओर ही है। किन्तु नियत कर्त्तव्य की प्रेरणा और व्यक्तिगत व सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए उन्हें कर्म-क्षेत्र में उतर कर, दण्डग्रहण, शस्त्र-संचालन, कुचक्र-निवारण आदि कार्य करने पड़ते हैं। ऐसे कार्यों में आत्मा विकारों के कर्दम से असम्पृक्त नहीं रह सकती। इस श्रेणी में स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि पात्र रखे जा सकते हैं। दूसरी श्रेणी में वे ही पात्र रखे जा सकते हैं जिनकी प्रकृति कर्म-मात्र में है; जो कर्म से उत्पन्न पाप-पुण्य आदि सब सहर्ष भोगने को तैयार हैं। सिकन्दर आदि वीरपात्रों का उस श्रेणी में रखा जाना सम्भवतः उपयुक्त होगा। तीसरी श्रेणी के पात्र वे हैं जो अपनी कोई निजी प्रेरणा या आत्म-ज्योति के अभाव में कर्म-चक्र में यंत्रवत् घूमते रहते हैं। निम्न बौद्धिक वर्ग के राज-कर्मचारी, सेवक, भृत्य, नर्तकी, दौवारिक आदि पात्र राजसिक पात्रों की इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

वास्तव में बहुत बड़ी संख्या ऐसे पात्रों की भी है जिन्हें हम सात्विक, राजसिक अथवा तामसिक जैसी स्पष्ट कोटि में नहीं रख सकते। वे समशीतोष्ण रक्त वाले पात्र ऐसे साधारण-प्रवाह जीव हैं जो लहरों से लड़े बिना धारा में बहते चलते हैं अथवा एक विशाल राजयंत्र के पुर्ज़े बने चुपचाप अपनी जगह घूमते रहते है। उनमें सत्व, रज और तम तीनों का ही मिश्रण मिल सकता है। वे केवल कड़ियों को जोड़ने का कार्य करते रहते हैं। उनकी सीढ़ी बना कर महत्वाकांक्षी लोग आगे बढ़ते रहते हैं।

राजसिकता शुभ्र सात्विकता व तामसिकता की मध्यवर्तिनी स्थिति है, अतः राजसिक वर्ग की स्थिति बहुत चंचल व तरल है। नीति-न्याय की स्थापना के लिये राजसिक वर्ग के राजकीय पात्रों को कभी राज्य-सत्ता की रक्षा के हेतु राजनीतिक वात्या-चक्रों में फँसना पड़ता है, कभी रक्त की लाली से असि-धारा का शृंगार करना

पड़ता है और कभी तामसिक शक्तियों के अन्ध घटाटोप को चीरने का विराट् उपक्रम करना पड़ता है। न्याय की विजय व धर्म की प्रतिष्ठा के साथ ही वे सत्व का पूरा-पूरा आनन्द लूट सकते हैं। इस प्रकार विकट कर्म व तुमुल कोलाहल के बीच अधिकांश राजसिक पात्रों के जीवन-व्यापार चलते हैं। सत्तारूढ़ सम्राट, अधिकार-पद-यश के आकांक्षी राजकुमार-राजकुमारियाँ व अपनी जीवन-स्थिति से चिंतित राजकुल से सम्बन्धित व्यक्ति आदि इस मैदान के खिलाड़ी हैं। राजसिक (कई जगह सात्विक भी) पात्रों की स्थिति कहीं भी निरापद नहीं। उन्हें सम्बद्ध तामसिक शक्तियों से टकराकर अपनी धातुओं की कड़ी परीक्षा देनी पड़ती है। इस 'मध्यम वर्ग' के पात्रों की स्थिति-रक्षा असत् शक्तियों की जय अथवा पराजय पर आश्रित है। व्यक्तियों, विचार-धाराओं, परिस्थितियों की पारस्परिक टक्करों के कटाव इसी राजसिक अथवा 'मध्यम वर्ग' के पात्रों को सहने पड़ते है। संघर्ष सर्वत्र दो पक्षों के बीच रहता है—

(१) सात्विक-राजसिक पात्रों के साथ तामसिक पात्रों का संघर्ष

(२) एक संस्कृति, जाति, राज्य अथवा धर्म का दूसरी संस्कृति, जाति, राज्य तथा धर्म के साथ संघर्ष : यथा, यवन व आर्य संस्कृति का (चन्द्रगुप्त मौर्य में), नाग जाति व आर्य जाति का (जनमेजय के नागयज्ञ में); शक तथा हूण व आर्य जाति का (ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त); भारत के परस्पर विभिन्न राज्यों का (चन्द्रगुप्त), बौद्ध-ब्राह्मण धर्मों का (स्कन्दगुप्त, विशाख); ।

(३) अन्तःसंघर्ष : देश-प्रेम व कर्त्तव्य-प्रेम के साथ प्रणय का—देवसेना, कल्याणी, कार्नेलिया, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त ।

(४) गृह-कलह (अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में ।)

इस प्रकार सारी नाट्य-सृष्टि में व्याप्त इन अन्तर्बाह्य संघर्षों में अधिकांश पात्र-पात्रियाँ आँधी में उड़ती, नीम की सूखी पत्तियों की तरह दिखाई पड़ रही हैं। राजसिक-तामसिक प्रवृत्तियों के अनुसार मोटे ढंग से दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। एक ओर तो सात्विक-राजसिक प्रवृत्ति के प्रतीक चन्द्रगुप्त मौर्य, चाणक्य, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, सिकन्दर, हर्षवर्धन, प्रख्यातकीर्ति, सिंहरण, ध्रुवस्वामिनी, देवसेना, जयमाला, कमला, अलका, कल्याणी, मणिमाला, राज्यश्री, मल्लिका, कार्नेलिया, मालविका आदि हैं और दूसरी ओर तामसिक शक्तियों के नंद, रामगुप्त, आंभीक, प्रपंचबुद्धि, देवदत्त, भटार्क, पुरुगुप्त, मागंधी, मनसा, अनन्तदेवी, विजया, छलना आदि पात्र-पात्रियाँ हैं।

सात्विक, राजसिक और तामसिक शक्तियों की इस टक्कर में ही पात्रों के चरित्रों का प्रस्फुटन और विकास होता है। कभी प्रकाश की जीत होती है तो कभी

अंधकार की। इस प्रकार प्रकाश और अंधकार का द्वन्द्व नाटकों के अंत तक चला चलता है। और अंत में धर्म, न्याय और सत्य रूप प्रकाश की सर्वत्र विजय होती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है संघर्ष को इस घाट लगाने का सारा श्रेय सात्विक वर्ग के पात्रों का है जो अपनी सदाशयता, कल्याण-कामना, व धर्मबुद्धि से घटना-चक्र को ठीक दिशा में घुमा-फिरा कर ले जाते हैं। आदर्शवादी 'प्रसाद' को यह गवारा नहीं कि वे मंच पर कभी भी असत् पक्ष की विजय दिखावें। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में जीवन के घने व निर्मम यथार्थ के आगे एक बार घुटने टेक दिये हैं। स्वयं 'प्रसाद' ने 'कंकाल' में समाज व जीवन की घोर वास्तविकता दिखा दी पर मंच पर वे कभी भी पुरुगुप्त अथवा रामगुप्त की विजय दिखाने का साहस न कर सके। 'प्रसाद' का यह आदर्श-प्रेम विचारणीय है।

तामसिक चरित्रों के परिवर्तन पर कुछ ध्यान देने की आवश्यकता है। दुष्ट तामसिक प्रवृत्ति के पात्र नाटक को गति और व्यापार प्रदान करने वाले हैं। इनके द्वारा फैलाये गये अंधकार के विरोध (Contrast) में ही प्रकाश की अनुभूति अधिक स्पष्ट, गहरी और मधुर होती हैं। नाटकों में दुष्ट पात्र प्रायः ये हैं—अन्याय-पूर्वक दूसरों की सम्पत्ति-अधिकार को हड़पने वाले; मद्यप, क्रूर, क्लीव, विलासी सम्राट आदि जो बलात्कार व स्वेच्छाचार आदि अनैतिक आचरणों से नहीं डरते, नारी के मान और लज्जा का दिन-दहाड़े अपहरण करने वाले, न्यायोचित अधिकार के विरुद्ध कुचक्र और षड्यन्त्रों की रचना करके राजनीति और धर्मनीति को पंकिल करने वाले; उद्दाम विजय-लालसा की तामसिक तृप्ति के लिये घर-बार, खेती-बाड़ी जलाने-लुटाने वाले बर्बर आक्रमणकारी; दस्युवृत्ति से जीवन-निर्वाह करने वाले परपीड़क डाकू-लुटेरे आदि; धर्म के नाम पर अलौकिक सिद्धियों का चमत्कार दिखा कर अपनी धार्मिक सत्ता का भोली-भाली जनता पर आतंक जमाने वाले, दंभी, धर्मान्ध, विमूढ़ व क्रूर श्रमण-भिक्षु, पण्डे-पुरोहित, तांत्रिक आदि; व्यक्तिगत विद्वेष व प्रतिहिंसा की भावना से धधकती हुई अतृप्त, प्रणयवंचित, कामांध, रूपगर्वितायें; अधिकार-प्राप्ति और सत्ताभोग की आकांक्षिणी सुन्दरी विपथगामिनियाँ आदि।

नाटकों का अधिकांश कलेवर इन्हीं संघर्षों व असत् पात्रों की गतिविधियों से भरा हुआ है।

'प्रसाद' ने नियमबद्ध रूप से प्रायः सर्वत्र असत् पर सत् की विजय दिखाई है। दुष्ट पात्रों को या तो समाप्त कर दिया है या उनमें वांछित परिवर्तन उपस्थित किया गया है। रामगुप्त का वध कर दिया जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में शकराज

चन्द्रगुप्त के हाथों मौत के घाट उतार दिया जाता है। शकटार के हाथों नंद की जीवन-लीला समाप्त होती है। 'विशाख' में महापिंगल का वध हो जाता है। विजया अपराध प्रमाणित हो जाने पर आत्म-ग्लानि से आत्महत्या कर लेती है। 'प्रायश्चित्त' के अंत में जयचन्द गंगा में डूब मरता है। 'राज्य-श्री' में दुष्ट देवगुप्त प्रसन्नतापूर्वक राज्यवर्द्धन के हाथों मृत्यु स्वीकार करता है। अनेकों स्थानों पर मृत्यु या वध केवल सूचित मात्र कर दिया गया है—यथा, राज्यश्री में राज्यबर्द्धन की हत्या व प्रभाकरवर्द्धन का निधन। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में जनमेजय के द्वारा हुई ब्रह्म हत्या सूचित मात्र कर दी गई है। प्रायः सभी नाटकों में शांति, प्रेम और करुणा की विजय होती है। 'जनयेजय का नागयज्ञ' पाप-ताप की शांति के पश्चात् विश्व-प्रेम के गंभीर स्वर के साथ समाप्त होता है। राज्यश्री का अन्त भी पाप की पराजय, धर्म की विजय व लोक-सेवा व कल्याण-कामना के साथ होता है। विकट-घोष व सुरमा महाश्रवण सुएनच्यांग से क्षमा माँगते हैं और उन्हें क्षमादान मिलता है। 'सज्जन' नाटक धर्मराज युधिष्ठर की उदारता के बखान व धर्म की जय के साथ समाप्त होता है। कामना में संतोष, विवेक व सत्य की विजय, एवं कामना की पराजय होती है। 'करुणालय' की समाप्ति अहिंसा की विजय से होती है। अजातशत्रु तो क्षमा, करुणा व पश्चात्ताप की भावना से कूट-कूट कर भरा हुआ है। प्रसेनजित् सेनापति बंधुल की हत्या करके मल्लिका के आगे प्रायश्चित्त करता है। अजातशत्रु माता वासवी से क्षमा माँगता है। श्यामा मल्लिका के आगे आत्म-ग्लानि से भर कर अपने को धिक्कारती है। पितृ-द्रोही विरुद्धक पिता प्रसेनजित् से क्षमा माँगता है। छलना अपने पति बिम्बसार के चरण पकड़ कर अपना परितोष करती है और अपनी बड़ी सौत वासवी से स्वाभाविक स्नेह पाती हैं। 'विशाख' में नरदेव विशाख के द्वारा क्षमा कर दिया जाता है। 'चन्द्रगुप्त' में आततायी पर्वतेश्वर अपनी ही प्रेमिका कल्याणी के छुरे से मृत्यु के घाट उतारा जाता है। किन्तु 'चन्द्रगुप्त' में कल्याणी की आत्म-हत्या तथा मालविका का प्रेम-पथ पर नीरव आत्मोत्सर्ग और 'विशाख' में महारानी का सहसा गंगा में डूब मरना आदि कार्य-व्यापारों से दर्शक के मन पर एक बहुत कोमल और गहरा दचका लगता है।

प्रकृति पर विचार किये बिना 'प्रसाद' की पात्र-सृष्टि का अध्ययन 'लवण बिना व्यंजन' है। मानव और प्रकृति एक ही विश्व-चेतना के दो अंश हैं अतः स्वभावतः दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। 'प्रसाद' का प्रकृति के साथ निःशेष तादात्म्य हो गया है अतः प्रकृति उनकी चरित्र-सृष्टि का प्राणतत्त्व है। मनोविज्ञान से आनन्दवादी और जीवन-दृष्टि से रोमांटिक कवि 'प्रसाद' ने प्रकृति को शुद्ध मानवीय और आध्यात्मिक धरातलों पर पहुँचा दिया है। वाल्मीकि, कालिदास

और भवभूति में प्रकृति में जो आध्यात्मिकता दिखाई पड़ती है प्रायः उसी कोटि की आध्यात्मिकता 'प्रसाद' में भी दिखाई पड़ती है। आश्रमों, अरण्यों और लता-कुंजों का मानव-हृदय पर जो स्निग्ध-गंभीर प्रभाव प्राचीन साहित्य में अंकित किया गया है ठीक वसे ही प्रभाव की प्रतीति 'प्रसाद' के नाटकों में होती है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में महर्षि च्यवन का आश्रम व भगवान् वादरायण का आश्रम, 'एक घूंट' में अरुणाचल आश्रम, 'चन्द्रगुप्त' में दांड्यायन का आश्रम वैसे ही प्रभाव की सिद्धि कराने में सहायक होते हैं। सांस्कृतिक महानता के जो तत्त्वभूत गुण हैं वे आश्रम-कुंजों और प्रकृति के ही सान्निध्य में उत्पन्न हो सकते हैं। अतः मानवता, कल्याण व करुणा की विजय के ध्येय से रचना करने वाले 'प्रसाद' ने प्रकृति को अपने समस्त साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व दिया है। विपथगामी व आततायी पात्रों में परिवर्तन प्रायः सर्वत्र प्रकृति के ही प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभावों द्वारा कराया गया है। सात्त्विक पात्रों का हृदय तो प्रकृति के साथ दूध-पानी व आकाश-नीलिमा हो गया है। प्रकृति ज्वलनशील किन्तु शांतिकामी हृदयों को सर्वत्र शीतलता, शांति व सुख-संतोष प्रदान करने वाली सत्ता के रूप में दिखाई गई है। हतचेतन अस्तित्व अपने जीवन की बंद पड़ी घड़ी को जब चाहे तब प्रकृति की चिर-चेतन घड़ी से मिला कर ठीक कर सकता है। इस प्रकार प्रकृति 'प्रसाद' के नाटकों का एक बहुमूल्य तत्त्व है।

इस धारणा के पोषण में 'प्रसाद' के नाट्य-साहित्य में प्राप्त अनेक भावनाएँ सारांश रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। 'प्रकृति से घुल-मिलकर रहने वाली जाति में 'महत्त्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं है' (कामना १।३)। 'अन्न के पके खेतों में पवन के सर्राटे से उठने वाली लहरों का आनन्द लेने के लिए दरिद्रता कैसी' (कामना २।७)! 'नैसर्गिक जीवन की ओर लौटने और कृत्रिमता का पीछे छोड़ने में ही सुख है।' (कामना ३।१)। 'प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वालों को ही प्रभु समस्त आलोक, चैतन्य और प्राण-शक्ति देते हैं' (चन्द्रगुप्त १।११)। 'चन्द्र, सूर्य व नक्षत्र का दीपक जलाकर आकाश के वितान के नीचे शस्य-श्यामला पृथ्वी की शय्या पर शयन करने वाला ही आनन्द-समुद्र में शांति द्वीप का अधिकारी हो सकता है' (चन्द्रगुप्त ३।५)। 'गौरवमय अरुणोदय का दर्शन करने वाला जगत की मंगल-कामना करके निष्काम हो सकता है और समस्त भ्रांतियों से मुक्त होकर जीवन के अमृत तत्त्व को समझ सकता है' (चन्द्रगुप्त ४।१३)। 'कानन के वातावरण में ही आर्द्र हृदय में करुण कल्पना का आविर्भाव, सात्त्विक रोमांच और कामनाओं की प्रफुल्लता का अनुभव हो सकता है' (अजातशत्रु ३।१)। 'अपने नीड़ों की ओर प्रसन्न कोलाहल से लौटता हुआ व्योम-विहारी पक्षियों का झुण्ड स्वस्थ व शांतिपूर्ण विश्राम की प्रेरणा

देता है' (ध्रुवस्वामिनी)। इस प्रकार की भावनाएँ हैं जो 'प्रसाद' की नाट्य-सृष्टि में पात्रों के जीवनानुभाव के छन्ने में से छन कर निकली हैं।

प्रकृति मानव को प्रत्येक क्षण अपने बहुमूल्य और रहस्यपूर्ण प्रभाव व संदेश लुटा रही है, जिसके कान खुले हों, सुन ले। कल्पना-प्रधान रूपक 'कामना' में एक वृद्ध सहसा एक आशंका से घबरा कर पूछ उठता है कि क्या अब पक्षियों के स्वर्गिक संदेश बन्द हो जायेंगे ?(कामना १।५)। मणिमाला सिंधु-तट के परम शांत प्राकृतिक वातावरण में अनुभव करती है कि मानव-जीवन को जो कुछ भी प्राप्त हो सकता है, वह सब आज मुझे मिल गया (जनमेजय का नागयज्ञ ३।१)। सिंधु-तट पर चाणक्य को अनुभव होता है--'मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना; सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना; यही तो ब्राह्मण का आदर्श है (चन्द्रगुप्त ४।६)। सोमश्रवा आस्तिक से कहता है—'क्यों भाई आस्तिक, रमणीयता के साथ ऐसी शांति कहीं और भी तुम्हारे देखने में आई है ?' और मणिमाला शीला को सम्बोधन करके कहती है—'सिंधु की सुन्दर तरंग-भंगी हिमालय के शीत-सुरभि पवन के साथ निसर्ग मनोहर क्रीडा कर रही है। बहन शीला, यहाँ के तरुवर कैसी निराली काट-छाँट के हैं (जनमेजय का नागयज्ञ ३।१)।' ऐसी बहुमूल्य अनुभूतियाँ व संदेश प्रकृति की आत्मा में गहरी डुबकी लगाए बिना मिल सकते हैं क्या ?

प्रकृति मानव-हृदय में सहानुभूति, ममता, करुणा, क्षमा, सहिष्णुता, उदारता, सेवा, संतोष आदि उच्च मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा करती है और उसमें अनमोल अनुभूतियों का संचार करती है। जनमेजय अपने गुरु-भाई से पूछते हैं—'अब तो वृद्ध हो गए होंगे ! महावट का वृक्ष वसा ही हरा-भरा है ? (जनमेजय का नागयज्ञ १।३)। भूतमात्र-व्यापी यह भाव कितना मर्मस्पर्शी है ! (कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल में शकुन्तला की भी इसी प्रकार की एक जिज्ञासा सहसा स्मरण हो आ रही है)। माणवक आस्तीक से कहता है—'देखो, उस तपोवन में शस्य-श्यामला धरा और सुनील नभ का, जो एक दूसरे से इतने दूर हैं, कैसा सम्मिलन है (जनमेजय का नागयज्ञ, ३।६)। आस्तीक को भगवान् वादरायण के आश्रम की लता-वल्लरियों में, पशु-पक्षियों में, तापस बालकों में परस्पर स्नेह का, तृण-तृण को शांति के आश्वासन की पुचकार का, स्नेह का, दुलार, स्वार्थत्याग का प्यार सर्वत्र बिखरा हुआ अनुभव हो रहा है (जनमेजय का नागयज्ञ, ३।६)। महत्त्वाकांक्षाओं से फटे-चिरे अजातशत्रु से मल्लिका कहती है—'शीतल हो, विश्राम लो। देखो, यह अशोक की शीतल छाया तुम्हारे हृदय को कोमल बना देगी, बैठ जाओ' (अजातशत्रु, २।७)। आचार्य मिहिरदेव कोमा से कहते हैं—'चल कोमा, हम लोगों को लताओं, वृक्षों,

चट्टानों से छाया और सहानुभूति मिलेगी। इस दुर्ग से चल।....हम लोग अखरोट की छाया में बैठेंगे--झरनों के किनारे, दाख के कुन्जों में विश्राम करेंगे' (ध्रुवस्वामिनी, २)। प्रकृति उदार और दानी है। अतः प्रकृति की गोद में पलने वाले के लिए ये अनुभूतियाँ सहज-सुलभ हैं। उत्तंक कहता है—'फूल प्रकृति की उदारता का दान है। पवन उससे सौरभ लेता है, उसे कोई रोक नहीं सकता' (जनमेजय का नागयज्ञ, १।२)। प्रकृति का एक लघु दृश्य मात्र गम्भीर व रहस्यपूर्ण अनुभूति का प्रसाद देता है। कार्नेलिया कहती है--'उस संध्या के दृश्य ने मेरी तन्मयता में एक स्मृति की सूचना दी है। सरला संध्या, पक्षियों के नाद से शांति को बुलाने लगी है' (चन्द्रगुप्त, ४।६)। प्रकृति माँ की तरह मानव-सृष्टि की रक्षा में लीन रहती है। कार्नेलिया कहती है-- 'देखते-देखते, एक-एक करके दो-चार नक्षत्र उदय होने लगे। जैसे प्रकृति, अपनी सृष्टि की रक्षा, हीरों की कील से जड़ी हुई काली ढाल लेकर कर रही है और पवन किसी मधुर कथा का भार लेकर मचलता हुआ जा रहा है (चन्द्रगुप्त, ४।६)। मणिमाला झरने की शोभा पर इतनी लट्टू है कि वह आस्तीक से कहती है--'हाँ भाई, मैंने इस झरने का बहना अभी जी भर कर नहीं देखा। तुम चलो, मैं अभी थोड़ा ठहर कर आती हूँ' (जनमेजय का नागयज्ञ, २।१)। अलका अपने देश की प्रकृति की आत्मा को थाह कर कहती है--'मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं, (चन्द्रगुप्त, १।१०)। इसी प्रकार कार्नेलिया सपनों के देश भारत की प्राकृतिक शोभा में, दूध में चीनी की तरह घुल कर जो उद्गार व्यक्त करती है वे बिजली के अक्षरों में आकाश पर लिखकर स्थिर रखे जाने योग्य हैं— "चन्द्रगुप्त मुझे इस देश से...भारत मानवता की जन्मभूमि है, (चन्द्रगुप्त, ३।२)।

ऐसा आध्यात्मिक संदेश देने वाली प्रकृति को बिसरा कर मानव कितना दयनीय है! कामना विलास से कहती है—'परन्तु विलास, देखो यह हरी-हरी घास रक्त से लाल-लाल रँगी जाकर भयानक हो उठी है' (कामना २।१)। कोमा कहती है—'सब जैसे रक्त के प्यासे! प्राण लेने और देने में पागल! वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है' (ध्रुवस्वामिनी, २)।

पात्र-सृष्टि-संबंधी शेष बातें दो उप-शीर्षकों के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं— (१) अन्तर्पक्ष व (२) बहिर्पक्ष। अन्तर्पक्ष में मनोविज्ञान, भाव-रस, दार्शनिकता-काल्पनिकता-भावुकता तथा बहिर्पक्ष में भाषा, अलंकार व संवाद आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। पहले हम अन्तर्पक्ष को लें—

नाट्य-सृष्टि में मनोविज्ञान पर दो प्रकार से विचार हो सकता है—(१) लेखक की भाव-विभूति और लेखक का मनोविज्ञान-संबन्धी सूक्ष्म और यथार्थ ज्ञान, और (२) नाटककार द्वारा रचित पात्रों के कार्य-व्यापारों का मनोविज्ञान-सम्मत होना तथा पात्रों के आंतरिक भावों की स्थिति। इस प्रकार मनोविज्ञान की जड़ें नाटक में बहुत गहराई तक फैली रहती हैं। नाट्य-सृष्टि लेखक की ही सृष्टि है अतः मूलतः सारा प्रश्न लेखक के मन के अध्ययन तक सिमट आता है। मन के दो पक्ष होते हैं—भावना और बुद्धि अथवा हृदय और मस्तिष्क। सफल नाट्य-सृष्टि में दोनों का मंजुल सामंजस्य होता है। सर्वत्र नाटककार की बौद्धिक और हार्दिक शक्तियों का ही प्रकाश होता है। कल्पना का अभिनिवेश, नाटक के विविध तत्त्वों अथवा अंगों का, रस-निष्पत्ति के उद्देश्य से आनुपातिक विन्यास और कला-संबन्धी विविध कौशल—ये सब नाटककार के बौद्धिक विकास एवं क्षमता के परिचायक हैं। पात्रों के भाव-प्रपंच से ही लेखक के भाव-कोष की सम्पन्नता, विविधता एवं विशालता का पता चलता है। इसी प्रकार पात्रों के क्रिया-कलापों एवं उनसे व्यंजित विचारों में लेखक की विचारधारा निहित रहती है। नाट्य-सृष्टि में लेखक अपने विचारों को पात्रों के संवाद आदि के माध्यम से ही व्यक्त करता है। वह उपदेशक या मंच-वक्ता की तरह विचारों का सीधे-सीधे प्रचार न करके उनको साहित्य की विशिष्ट पद्धति में ढाल कर रमणीय व रसात्मक बना देता है। इस प्रकार नाटकों के समस्त स्नायु-जाल में मनोविज्ञान सक्रिय रहता है। 'प्रसाद' की नाट्य-सृष्टि भी इस सत्य का अपवाद नहीं।

भारतीय आचार्यों ने काव्य की आत्मा 'रस' निर्धारित की है। रस का आधार है भाव। मानव-हृदय एक अतलान्त महासमुद्र के समान है जिसमें सैकड़ों जटिल भाव-तरंगें विविध प्रकार की गति, आकार व स्वर लिए जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में निरन्तर क्रियाशील रहती हैं। जीवन के समस्त बाह्य क्रिया-कलापों की मूल प्रेरिका ये ही भाव-तरंगें हैं अतः मानव-आचरण के प्रभावशाली चित्रकार के लिये जटिल मानव-हृदय के क्रिया-कलापों एवं बाह्य जगत में इन भावों व स्थितियों के पारस्परिक घात-प्रतिघात का सूक्ष्म व सर्वांगपूर्ण ज्ञान अनिवार्य है। यह ज्ञान कोरे शास्त्रानुशीलन से नहीं अपितु प्रत्यक्ष जीवनानुभव से ही संग्रहीत होने पर अनुभव-सिद्ध अतः प्रामाणिक होता है। कलाकार की आत्म-चेतना में रस-रूप हुए ऐसे ही अनुभव-सिद्ध ज्ञान के बल पर अत्यन्त सजीव, यथार्थ व प्रभावशाली पात्र-सृष्टि सम्भव है।

'प्रसाद' भावों के बहुत कुशल शिल्पी हैं। यों तो उनकी नाट्य-सृष्टि में प्रायः सभी रसों का न्यूनाधिक उत्कर्ष दिखाई पड़ता है पर शृंगार, वीर व शांत रसों की

व्यंजना अत्यन्त ही पुष्ट व विशद है। शृंगार रस प्रायः सभी नाटकों में उपस्थित है और वह अंग अथवा अंगी रूप में आया है। शृंगार रस के वर्णन के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि 'प्रसाद' ने सर्वत्र प्रेम को विलास से भिन्न जीवन की एक पवित्र अनुभूति, शक्ति व प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है। कालिदास की कृतियों की तरह 'प्रसाद' की कृतियों में भी काम अथवा विलास की सर्वत्र पराजय और पवित्र प्रेम की विजय हुई है। जहाँ उद्दाम विलास-वासना के सतरंग-इत्रभीने तिक्त मादक चित्र हैं वे सब शुद्ध प्रेम की भावी विजय के लिये पृष्ठभूमि और विरोध (Contrast) के लिये ही रखे गये हैं। 'प्रसाद' में प्रेम इन्द्रियों के विरोध से नहीं किन्तु इन्द्रियों के मर्यादित व संयमित प्रयोग से ही निष्पन्न होता है। 'प्रसाद' में पवित्र प्रेम का अर्थ है उदात्त मानवीय प्रेम, जो देवत्व व राक्षसत्व के बीच प्रवाहित होते हुए मानवत्व की धारा का प्राण-प्रवाह बन कर बहता है। एकनिष्ठ, विश्वासपूर्ण व मर्यादित मानवीय प्रेम का चरमोत्कर्ष ही 'प्रसाद' का आदर्श अथवा पवित्र प्रेम है, बस आगे कुछ नहीं। अस्तु, कामना, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु आदि नाटकों में वर्णित प्रेम इस कथन का प्रमाण है। अलका, ध्रुवस्वामिनी, कार्नेलिया, देवसेना, मालविका, कोमा, कल्याणी, चाणक्य, मातृगुप्त, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (हम चन्द्रगुप्त मौर्य को इस श्रेणी में नहीं रखना चाहेंगे) व राक्षस आदि पात्र 'प्रसाद' के सुप्रसिद्ध प्रणयी पात्र हैं। प्रायः ये सभी पात्र जीवन में एकनिष्ठ प्रेम की शक्ति लेकर ही क्रियमाण हैं। प्रेम ही उनके जीवन का अन्तसूंत्र, प्रेरणा और प्राण है। प्रेम-वृत्ति जीवन में जो भी सूक्ष्मतम पुरस्कार दे सकती है, इनमें से अधिकांश ने वह पाया है—चाहे रोकर, चाहे हँस कर। प्रायः ये सभी पात्र प्रलय-वृष्टि के पश्चद्वर्ती भोर की किरणों में मुस्कराती सौम्य धरती अथवा आकाश से दिखाई पड़ते हैं।

प्रेम से सम्बन्धित ही सौन्दर्य का प्रश्न है। शारीरिक, प्राकृतिक और मानसिक काल्पनिक सौन्दर्य और प्रेम में घनिष्ठतम सम्बन्ध है। 'प्रसाद' ने सर्वत्र बाह्य सौन्दर्य अथवा रूप की पराजय दिखा कर (उदाहरणार्थ—कामना, लालसा, विलास मागन्धी, विजया आदि पात्रों में) आत्मिक सौंदर्य की ही विजय दिखाई है। प्रेम और सौंदर्य का यह स्वरूप और धरातल 'प्रसाद' की आदर्शवादी विचार-धारा से ही निर्मित है।

वीर-रस 'प्रसाद' का अत्यन्त प्रिय रस है। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों वीर-रस-प्रधान रचनाएँ हैं। शृंगार के छप्पन मसाले जुटाने में तो 'प्रसाद' प्रसिद्ध ही हैं पर वीर रस की निष्पत्ति का भी आयोजन वे जिस उत्साह से करते हैंवह भी

परम श्लाघ्य है । स्कन्दगुप्त, पर्णदत्त, बन्धुवर्मा, सिंहरण, सिकन्दर, चन्द्रगुप्त, अलका, देवसेना, कल्याणी, ध्रुवस्वामिनी, जयमाला आदि महाप्राण पात्रों के माध्यम से 'प्रसाद' ने क्षात्र तेज और ओज की जो विद्युद्धारा बहाई है वह रक्त में कई उफान ला देती है ।

शांतरस के पात्र बिम्बसार, गौतम, प्रेमानंद, वासवी, मल्लिका, प्रख्यातकीर्ति वेदव्यास, आदि हैं जो जेठ की तपती धरती पर छिड़काव करते रहते हैं । वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति 'अजातशत्रु' में पर्याप्त सुन्दर हुई है । विदूषकों, बौनों, कुबड़ों, हिजड़ों, नट-मदारियों व वेश्या-सेवकों व ऐसे ही अन्य पात्रों के द्वारा जो हास्य की सृष्टि हुई है वह पर्याप्त मनोरंजक है । 'प्रसाद' का हास्य बहुत शिष्ट, सोद्देश्य व गंभीर है । वह कथा की मूल धारा से सम्बद्ध अतः साभिप्राय है । हाँ, विशाख के महापिंगल जैसे पात्रों का हास्य अवश्य कुछ मर्य्यादातीत-सा हो गया है । इसी प्रकार अन्य रसों की भी स्थितियाँ दिखाई पड़ती है ।

भावों के घात-प्रतिघात के चित्रण में भी 'प्रसाद' बहुत कुशल हैं । बिम्बसार, चाणक्य (अतीत का स्मरण करते हुए), शकटार, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, मागन्धी, राज्यश्री आदि पात्रों में लेखक ने भावों के जो रेगिस्तानी अंधड़ उठाये हैं वे अन्तर्द्वन्द्व की मार्मिक अनुभूति के द्योतक हैं ।

दार्शनिकता-काल्पनिकता-भावुकता भी अन्तर्पक्ष के अन्तर्गत है क्योंकि ये मन की ही स्थायी वृत्तियाँ हैं । दार्शनिकता मस्तिष्क की गूढ़वृति है जो जगत व जीवन की स्थिति पर बौद्धिक दृष्टि से क्यों, क्या, कैसे करके सृष्टि के मूल स्वरूप के सम्बन्ध में अंतिम तथ्य जानने को विकल रहती है । यह वृत्ति प्रायः जन्मजात होती है जो जीवन की अनुकूल स्थितियों में कुछ निर्बल और प्रतिकूल परिस्थितियों में अत्यन्त प्रखर व सक्रिय हो जाती है । भावुकता के संयोग से इसमें एक विचित्र लोच व दीप्ति आ जाती है अन्यथा वह विकृत होकर तर्क-शुष्क मरुस्थल में जा भटकती है । बिम्बसार एक भावुक व दार्शनिक पात्र है जो प्रौढ़ गंभीर स्वर में जगत्-जीवन की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या करता है । गौतम आदि पात्र विश्वप्रेम की भावना से भरे हुए सदाचरणशील भावुक दार्शनिक हैं । काल्पनिकता भी मूलतः मस्तिष्क की वृत्ति है किन्तु इसमें भावुकता के तत्त्व भी निहित रहते हैं । कल्पना वस्तु-व्यापारों की मनोनुकूल रमणीय रूप-योजना करती रहती है । यदि भावुकता का मसाला उसमें मिल जाय तो फिर क्या कहना ! नव प्रणयीजनों में दर्शनिकता तो क्या, हाँ सौन्दर्य-भावना-जन्य जिज्ञासा-कुतूहल, कल्पना और भावुकता का मधुर अनुपातों में बड़ा ही रमणीय

सामंजस्य होता है। देवसेना, मालविका, कोमा, कार्नेलिया आदि पात्र इसी वग के हैं। इस वर्ग के पात्र समस्त क्षुब्द वातावरण में एक सजीव कमनीयता व माधुर्य का संचार करते रहते हैं—आँधी के बाद जैसे जूही-बेला की गंध लिए चाँदनी रात का पवन !

अन्तर्पक्ष की स्पष्ट, सुडौल व प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति के लिए बहिर्पक्ष का विधान किया जाता है। भाषा के द्वारा ही भावों की अभिव्यक्ति होती है। 'प्रसाद' की भाषा विचार का एक स्वतन्त्र ही विषय है। उस पर कठिनता, अलंकार-बहुलता, अस्वाभाविकता आदि कई आरोप लगाये जाते हैं। यहाँ स्थानाभाव से इस वाद-विवाद में न उलझ कर हम इतना ही कहेंगे कि 'प्रसाद' की औसत भाषा साधारणतः पुष्ट, मृसरण, कांतिवान् और प्रवाहपूर्ण है। नाटकों में भाषा के प्रायः तीन रूप दिखाई पड़ते हैं--(१) संस्कृत-गर्भित और अलंकारबहुल भाषा (२) औसत दर्ज की शिष्ट भाषा, और (३) खटमिट्ठी चरपरी भाषा जो प्रायः हास्य-व्यंग आदि के अवसरों पर प्रयुक्त होती है। 'प्रसाद' की भाषा की समस्त श्री एक ही साथ वहाँ बिखर पड़ती है जहाँ भारतीय धर्म-संस्कृति का स्तवन होता है, भारतीय अतीत का महिमा-गान होता है, भावों का उत्कर्ष व विचारों का गाम्भीर्य प्रकट होता है, अथवा प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन एवं रहस्यधूमिल, अतीन्द्रिय, सौंदर्यलोक का काल्पनिक व्याख्यान होता है। ऐसे अवसरों पर उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं के लच्छों वाली कुलीन भाषा एक विचित्र बाँकपन, शालीनता और मरोर लिये उपस्थित होती है ।

भाषा के साथ ही संवाद का प्रश्न है। संवादों में भाषा पात्रानुसार स्वरूप-परिवर्तन करती चलती है। 'प्रसाद' के संवाद कुछ स्थलों पर बहुत लम्बे-लम्बे व उकताने वाले ही हो गये हैं—जैसे, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में। किन्तु समस्त कृतियों को देखने पर रोचकता, सादगी, प्रवाह, स्वाभाविकता और पात्रोपयुक्तता का भी अभाव नहीं। संवाद प्रायः सर्वत्र कथा को विकसित करने वाले एवं पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाले हैं। कहीं-कहीं संवाद केवल भावुकता के प्रदर्शन मात्र ही होकर रह गये हैं।

'प्रसाद' की पात्र-सृष्टि की ये ही कुछ मुख्य विशेषतायें हैं जो अपने गुण-दोषों के साथ विद्यमान हैं। आलोचकों ने 'प्रसाद' की पात्र-सृष्टि के अनेक अवगुणों, असंगतियों, त्रुटियों, अस्वाभाविकताओं आदि की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। 'प्रसाद' के कथानकों की उलझन व विस्तार के कारण पात्रों को विकसित होने का अवसर नहीं मिला है। उनके चरित्र एकांगी हैं। पात्रों की संख्या में अनावश्यक वृद्धि हो जाती है। कई पात्रों की सृष्टि का उद्देश्य समझ में नहीं आता। अनेक

घटना-केन्द्रों तक कथा को फैला कर और अनावश्यक उपकथाओं की अवतारणा करने से चरित्र-विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अधिकांश पात्र साधारण लौकिक धरातल से बहुत ऊपर के हैं। भाषा नाटकोपयुक्त नहीं—बहुत कठिन, अस्वाभाविक केवल भद्रजनोचित है। सभी पात्र—चाहे वे किसी वर्ग या मनोविधान के हों—प्राय: अभिजात वर्गोचित ही आचरण करते हैं। सर्वत्र आदर्शों की ही विजय हुई है। बहुत कम गीत सरल, स्वाभाविक एवं नाटकोपयोगी हैं, आदि-आदि आपत्तियाँ व आक्षेप हैं जो अवश्य विचारणीय हैं। ध्रुवस्वामिनी ही एक मात्र अभिनयोपयोगी नाटक है, अन्य नाटक अत्यन्त बड़े होने के कारण सफलतापूर्वक मंच पर खेले नहीं जा सकते। रंगमंच के सम्बन्ध में विचार करना भी आवश्यक है जो स्थानाभाव से यहाँ संभव नहीं।

उपसंहार

'प्रसाद' ने पराधीन व ह्रासोन्मुख देश के वातावरण से क्षुब्ध-कुपित होकर रक्त में विद्युद्वेग लिए कल्याणमयी व वेगवती प्रेरणा से अपनी रस-मुखी लेखनी पकड़ी। धन संभवत: उनका उद्देश्य नहीं रहा। उच्च कोटि का सात्विक मनोरंजन, रस अथवा आनन्द की सृष्टि और शिवेतर समस्त कलुष-कालिमा का प्रक्षालन, जिस में मानव-चेतना का उन्नयन सन्निहित है, उनका एकमात्र उद्देश्य रहा। इस उद्देश्य की सिद्धि से यश के नद स्वयं उनकी ओर दौड़ पड़े। उनके तात्कालिक अथवा व्यावहारिक प्रयोजन ये तीन दिखाई पड़ते हैं—(१) भारतीय इतिहास का जीर्णोद्धार-पुनर्लेखन और भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रयत्न, (२) पराधीन देश की मुक्ति के लिए अनिवार्य, संगठन-सूत्र में बाँधने वाली राष्ट्रीयता का शंखनाद और राष्ट्रीयता में से होकर जाने वाली अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा सहज मानवता का प्रचार, और (३) विचार-प्रौढ़ता भाव-गांभीर्य, चरित्रांकन-कौशल और नाट्यतंत्राधिकार के योग द्वारा नाट्य-कला की पूर्णता की प्रगति और हिन्दी नाट्य-साहित्य की श्री-वृद्धि। इन व्यापक उद्देश्यों के अन्तर्गत वे सब छोटे-मोटे उद्देश्य समाहित हैं जो व्यक्ति के सुख तथा समाज के कल्याण और दोनों के योग से मानव-संस्कृति का उज्ज्वलतम रूप संगठित करते हैं।

इस महत् उद्देश्य से सृजित नाट्य-साहित्य में ही 'प्रसाद' का गम्भीर संदेश ध्वनित होता है। इस प्रकार 'प्रसाद' के नाटक श्रेष्ठ भारतीय अध्यात्म की रमणीय व्याख्या हैं। 'तुमुल कोलाहल कलह में' वे हमसे 'हृदय की बात' कहते हैं—न देवता बनो, न राक्षस, खरे मनुष्य बनो; जीवन के प्राकृतिक रूप को न छोड़ो, फूलों के देश (कामना) वाले दिग्भ्रांत लोगों की तरह अशांत हो जाओगे; महत्त्व की अनिश्चित

स्थिति की अपेक्षा नीची किन्तु सुदृढ़ स्थिति में प्रसन्न रहो। विवेक न छोड़ो। उद्दाम कामनाएँ और अनियंत्रित वासनाएँ तुम्हें फाड़ खायेंगी। विलास तुम्हें नष्ट कर देगा। आंतिम शांति ही परम काम्य है। न्याय से जियो। संयमपूर्वक, आत्मा की प्राप्ति के लिए, भोगो। सत्यं वद। धर्मं चर। एष आदेश। एष उपदेश। एतदनुशासनम्।

प्रतिभा, बुद्धि और भावना के सुष्ठु सामंजस्य से रचे हुए 'प्रसाद' के नाटक इतिहास, धर्म, दर्शन, संस्कृति, विज्ञान, कला, राजनीति, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान-धाराओं का पुनीत संगम हैं। मानव-ज्ञान इनमें गल कर रस-रूप हो गया है। 'प्रसाद' जीवन-कला के महान् आचार्य के रूप में हमें जीना सिखाते हैं। जीवन का विराट् चित्र अंकित करके उन्होंने हमें अपने जीवन को सार्थक व सफल करने का गुर दे दिया है। इतिहास की विराट् पीठिका पर मनुष्य की शाश्वत वृत्तियों की कठोर-कोमल क्रीड़ा और तत्प्रेरित उत्थान-पतन का अत्यन्त प्रभावशाली चित्र खींच कर उन्होंने हमें संकेत से अपने व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन को संशोधित व परिष्कृत करने का मार्ग सुझा दिया है। अजातशत्रु की भूली-भटकी श्यामा (मागन्धी) आँधियों के आकाश में उड़ कर साँझ को ठिकाने पहुँचती है तो वह प्रशांत हृदय से जीवन की सारी जोड़-बाकी लगा कर अनुभव करती है—'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं—वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है।' इसी धरती को सुन्दर और इसी संसार को सार्थक बनाने के लिए प्रेरित करने वाले कवि से ऐसे नपे-तुले शब्दों में ऐसी नपी-तुली बात से बढ़ कर और हम क्या चाहते हैं?
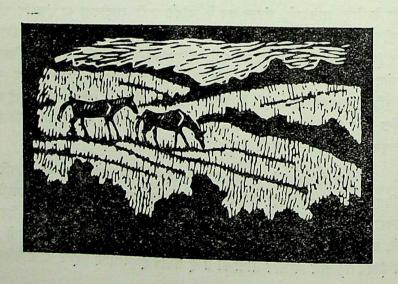
प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य की प्रवृत्तियाँ

—डॉ० प्रेमशंकर तिवारी

प्रायः आलोचकों की यह धारणा है कि भारतेन्दु और प्रसाद के अनन्तर हिन्दी नाट्य-साहित्य ने कोई महत्वपूर्ण कृतिकार नहीं प्रस्तुत किया। इसे वे गतिरोध की स्थिति मानते हैं और भारतेन्दु तथा प्रसाद को हिन्दी नाटक के चरम-विन्दु घोषित करते हैं। प्रत्येक देश और साहित्य के कुछ महान् साहित्यकार होते हैं जो शीर्ष-स्थान के अधिकारी होते हैं। वे अपने देश की ही नहीं, वरन् समस्त विश्व-साहित्य की स्थायी निधि होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके अनन्तर साहित्य कोई प्रगति नहीं करता, अथवा उन महत्तर ऊँचाइयों तक आना असम्भव होता है। वास्तव में हर युग में एक ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न महान् स्रष्टा का उदय होता है जो बिखरी हुई युग-चेतना को संग्रथित कर देता है। शेक्सपियर मानव-जीवन का सर्वोत्तम अध्येता है, पर शॉ समाज पर व्यंग्य करने में अपना सानी नहीं रखता। भारतेन्दु हिन्दी-नाटक के प्रतिष्ठापक हैं तो प्रसाद उसके उन्नायक। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके पश्चात् हिन्दी-नाटकों ने विराम ले लिया।

नाटकों के क्षेत्र में भारतेन्दु का महत्व ऐतिहासिक अधिक है। उन्होंने हिन्दी नाटक के लिये ही नहीं, वरन् समस्त हिन्दी-साहित्य के लिए एक वातावरण की सृष्टि की। मंगलाचरण, नन्दीपाठ, भरत-वाक्य आदि की प्राचीन परम्पराओं से भारतेन्दु मुक्त न हो सके। उनमें कलात्मक परिपक्वता का अभाव है। प्रसाद अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत शैली के नाटककार हैं। भारतीय रस-दृष्टि के साथ पाश्चात्य चरित्रांकन का समन्वय उनके नाटकों में प्रतिफलित हुआ है। किन्तु संस्कृत गर्भित भाषा, अनभिनेय स्थल, शिथिल कार्य-व्यापार आदि के कारण प्रसाद के नाटक रंगमंच पर कठिनाई से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। साथ ही एक कवि-व्यक्तित्व के कारण नाटक में जिस तटस्थता की आशा नाटककार से की जाती है, उसका उनमें अभाव है। अपनी सीमाओं के बावजूद प्रसाद ने हिन्दी को जो पठनीय नाटक दिए उनकी परम्परा अभी तक चली आ रही है। इन नाटकों में भावनामयता, चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व तथा सांस्कृतिक स्वर की जो विशेषताएँ हैं, उन्होंने हरिकृष्ण प्रेमी, डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि नाटककारों को प्रभावित किया है।

ये तीनों ही नाटककार प्रसाद की भाँति कवि भी हैं, इसी कारण उनके नाटकों

में भावुकता के साथ ही एक तीव्र मानवीय संवेदना है जिसे वे राष्ट्रीय भावना से मिला देते हैं। मुग़लकालीन इतिहास से उन्होंने अपनी कथावस्तु ग्रहण की है, जिसमें हिन्दू-मुस्लिम समस्या को एक भावुक स्तर पर सुलझाया गया है। कुछ-कुछ प्रेमचन्द जी जैसा हल पेश किया गया है। 'रक्षाबंधन' में हुमायूँ कर्मवती की राखी पाकर चित्तौड़ के लिए प्रस्थान कर देता है। हुमायूँ और कर्मवती को भाई-बहिन के रूप में प्रस्तुत किया जाना साम्प्रदायिक समस्या का एक भावुक समाधान ही कहा जायगा। प्रेमी की राष्ट्रीय भावना देश की सामयिक राजनीति से परिचालित है। उस पर गाँधी का स्पष्ट प्रभाव है। सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद समकालीन परिस्थितियों से ऊपर उठने में समर्थ हुए हैं। प्रेमी के भावुकतापूर्ण कथोपकथन प्रभाव-स्थापन में नाटककार की सहायता करते हैं। नाटक का नायक प्रायः अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति ईमानदारी और सचाई से करता है। इस प्रकार नाटकों में एक भावुक संवेदना (Emotional appeal) रहती है।

डॉ० रामकुमार वर्मा का स्थान एकांकी लेखकों में सर्वप्रमुख है। ऐतिहासिक कथा-वस्तु के मार्मिक स्थलों को उन्होंने अपने लेखन का विषय बनाया है। इस अवसर पर तुलसी का स्मरण हो आता है। रामचरितमानस के मार्मिक स्थलों का प्रयोग महाकवि ने कवितावली में किया है। यहाँ तुलसी की भावुकता को सहज ही देखा जा सकता है। डा० वर्मा के एकांकी गीत-खण्ड कहे जा सकते हैं। भावुकता का पूर्ण विकास नाटककार ने स्त्री-पात्रों में दिखाया है और इस दृष्टि से वह प्रसाद से बहुत समीप है। डा० वर्मा के एकांकी एक विचित्र वातावरण की सष्टि करते हैं। दया, करुणा, प्रेम, सौहार्द आदि की भावनाओं पर उनमें अधिक ज़ोर दिया गया है। मानवीय संवेदना पर आधारित इसी धारा में उदयशंकर भट्ट ने भी कार्य किया है। भट्ट जी के अधिकांश नाटक पौराणिक कथाओं से सम्बन्ध रखते हैं। वे धर्म, नीति, मर्यादा आदि के प्रश्नों से उलझते हैं। इस दिशा में उनका दृष्टिकोण पुरातनपंथी नहीं है। पौराणिक घटना के माध्यम से उन्होंने नई समस्याओं को प्रस्तुत किया है। ब्राह्मण, बौद्ध-जैन आदि के संघर्षों में आधुनिक जाति-प्रथा पर विचार किया गया है।

नाटकों की इस भावना-प्रधान धारा में भारतीय आदर्शों की रक्षा का प्रयत्न भी देखा जा सकता है। इसी मोह में इन नाटककारों ने इतिहास से कथा-वस्तु अधिक ग्रहण की है। इसी के समकक्ष नाटककारों की एक अन्य प्रवृत्ति को भी रखा जा सकता है। इसमें सामाजिकता का आग्रह अधिक है। सामाजिक समस्याओं को एक भावुक रीति से सुलझाने का प्रयत्न इनमें मिलता है। किसी सीमा तक इन नाटकों में हम भारतीय जीवन का करुण और मार्मिक चित्र पा जाते हैं। यह प्रेमचन्द की

आदर्शवादी यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति का ही रूपान्तर है। वातावरण का सजीव चित्रण आदर्शवादी आधार पर किया गया है । यथार्थ को इस रूप में अंकित करने का कारण यह है कि लेखक भावुक दृष्टि से यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा करते हैं, उसमें वैज्ञानिकता का आग्रह कम रहता है । ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण लेखक राष्ट्रीय भावनाओं से इतना अनिभूत हो गए थे कि तटस्थ होकर लिखना उनके लिए सम्भव न था। सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पंत इसी धारा के नाटककार हैं। सेठ गोविन्ददास ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लिया है । देश के प्रति उनकी एक ममता है । प्रकाश, सेवा-पथ, सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य, दलित कुसुम, बड़ा पापी कौन ?, दुःख क्यों ?, पाकिस्तान, प्रेम या पाप आदि अनेक सामाजिक नाटक उन्होंने लिखे हैं ।

सामाजिक जीवन के प्रति अनेक प्रकार के दृष्टिकोण होते हैं । ये दृष्टिकोण विभिन्न विचारधाराओं से परिचालित होते हैं । इस अवसर पर हमें यह स्वीकार करने में अधिक लज्जा न होनी चाहिए कि आधुनिक युग में अनेक पाश्चात्य विचारधाराओं ने भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है । यूरोप में इब्सन और शॉं बुद्धिजीवी नाटककार कहे जाते हैं । प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं पर उन्होंने प्रहार किए है । उनकी कृतियों के इस 'समाज तत्त्व' को मार्क्सवादी लेखकों से किंचित् दूर रख कर देखना होगा । मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष की भावना लेकर चलता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि सर्वहारा वर्ग की विजय घोषित की जाये । इब्सन और शॉं फेबियन समाजवादी लेखक हैं । उनकी कृतियों में एक नए समाज की कल्पना है, जो रूढ़िमुक्त होगा । इस क्रान्ति को बौद्धिक कहा जा सकता है। यह एक प्रकार का वैचारिक आन्दोलन है जो आदर्श की अपेक्षा साहित्य में यथार्थ की माँग करता है । हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र एक बुद्धिवादी नाटककार है । अपने नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका (मै बुद्धिवादी क्यों हूँ ।) में उन्होंने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वे स्वयं को यूरोपीय बुद्धिवादी नाटककारों से अलग रखना चाहते हैं और इसलिये उन्होंने भारतीय तर्क-शास्त्र और विचार-पद्धति का सहारा लिया है। बुद्धिवादी नाटककार समाज के प्रश्नों से उलझने के कारण समस्या नाटकों की सृष्टि करता है । वह अपने युग और समाज से किंचित् घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लेता है । प्राचीन मान्यताओं पर वह निर्मम प्रहार करता है । समाज के विकास में उसका योगदान रहता है इस सृष्टि से उसका स्थान महत्त्वपूर्ण होता है । किंतु सामाजिक कल्याण के आवेश में कहीं-कहीं वह एक पत्रकार हो जाता है और इसी कारण कला की महत्तर ऊँचाइयों तक नहीं पहुँच पाता । शेक्सपियर और शॉं में यही अन्तर है । लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में एक तीव्र असन्तोष की भावना है। भावना-प्रधान

नाटकों के विरोध में लिखे गए उनके नाटक समस्या का बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। 'राजयोग' में प्रेम की समस्या बुद्धि द्वारा सुलझाई गई है। मिश्र जी ने हिन्दी नाटकों में जिस बौद्धिक तत्त्व का संनिवेश किया, उस परम्परा में अधिक लोगों ने कार्य नहीं किया किन्तु उन्होंने एक प्रकार से हिन्दी नाटक को झकझोर दिया। नाटकों में बुद्धि-तत्त्व का प्रवेश मिश्र जी की देन है। वे उसे काल्पनिक जगत् से यथार्थ की ओर ले गए।

फेबियन समाज के बुद्धि-तत्त्व और मार्क्सवाद के सामाजिक तत्त्व के समन्वय की प्रवृत्ति यूरोप के कतिपय लेखकों में रही है। फेबियन समाजवाद की विचारधारा से प्रभावित लेखक कभी-कभी स्थूल यथार्थ तक रह जाते हैं। समस्या के मूल में जाकर वे उसका समाधान खोजने का प्रयत्न नहीं करते। मार्क्सवादी लेखक कभी-कभी वर्ग-संघर्ष में इतने उलझ जाते हैं कि कला-पक्ष का ध्यान ही नहीं रखते। सामाजिक तत्त्व के साथ कलात्मक परिपक्वता का प्रयास आधुनिक नाटककारों ने किया है। ये लेखक मुख्यतः मार्क्सवाद से प्रभावित हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भुवनेश्वर आदि इसी धारा के नाटककार हैं। समाज की पृष्ठभूमि में व्यक्ति का चित्रण इन लेखकों की मुख्य प्रवृत्ति है। व्यक्ति अपने संस्कारों से सहज में ही मुक्त नहीं हो सकता, 'अंजोदीदी' इसका अच्छा उदाहरण हैं। घड़ी-सा नियमित जीवन उन्होंने अपने नानाजी से उत्तराधिकार में पाया है। सामाजिक प्रवृत्ति को लेकर नाटकों का सृजन करने वाले इन नाटककारों-ने अपने समाज का किसी सीमा तक अन्वेषण किया हैं। उन्होंने आस-पास के जीवन को निकट से देखने का प्रयास किया है। अश्क जी के 'स्वर्ग की झलक' नाटक में वर्तमान शिक्षा के कुप्रभाव की चर्चा है। 'कैद और उड़ान' में प्रेम और विवाह की समस्या है। भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' हिन्दी के सर्वोत्तम एकांकी नाटकों में से एक है। वास्तव में स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण की प्रवृत्ति को लेकर नाटकों की सृष्टि करने वाले लेखक इस बात का प्रयत्न करते हैं कि समस्या को उचित रीति से प्रस्तुत कर दिया जाय और यदि सम्भव हो तो उसका हल भी ढूँढ निकाला जाय।

एकांकियों के विकास से नाट्य-साहित्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। यूरोप में स्ट्रिंडबर्ग आदि नाटककारों ने नाटकों में मनोविज्ञान का प्रवेश कराया। सामाजिक विषमताओं ने हमारे बाह्य और आन्तरिक जीवन को अस्त-व्यस्त किया है। बाह्य अथवा भौतिक विषमताओं को मार्क्सवादी लेखकों ने ग्रहण किया। मनुष्य के आन्तरिक विश्लेषण की ओर जो लेखक प्रवृत्त हुए उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि वर्तमान जीवन की पृष्ठभूमि में ही मानव का मनोवैज्ञानिक चित्र उतारा जाय। प्राचीन संस्कृत नाटकों में स्वगत-कथन की सहायता से मनुष्य की मानसिक अवस्था को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। एकांकियों में मानसिक

स्थिति का अंकन कुछ कठिन कार्य था, इसीलिए अनेक प्रकार के शैली-सम्बन्धी प्रयोग किए गए। डा० रामकुमार वर्मा का रेडियो-रूपक 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' औरंगज़ेब की एक सुन्दर आन्तरिक तस्वीर है। केवल मानसिक विश्लेषण के आधार पर नाट्य-सृष्टि एक कठिन कार्य है; वास्तव में नाटक में द्रष्टा का इतना महत्त्व है कि उसे दृष्टि से ओझल करना सहज नहीं हो सकता। ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जा सकती है जिनमें आन्तरिक द्वन्द्व दिखाया जाये, और उनकी मानसिक स्थिति का संकेत हो। हैमलेट एक ऐसा ही चरित्र है। किन्तु केवल मानसिक पोस्टमार्टम के आधार पर सुन्दर नाटक की रचना सम्भव नहीं है।

प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य में विविधता है। भावभूमि के नए क्षेत्र उद्घाटित किए गए हैं। यथार्थ की नई भूमि पर उसका पदार्पण हुआ है। शैली के नए प्रयोग हुए हैं, जैसे ध्वनि-रूपक आदि। किन्तु नाटक को सबसे बड़ी आवश्यकता एक विकसित रंगमंच की होती है। उसके अभाव में नाट्य-साहित्य पंगु हो जाता है। नाटक पठनीय सामग्री बनकर रह जाते हैं। आशा है राष्ट्रीय रंगमंच के विकास के साथ हिन्दी नाट्य-साहित्य अधिक समृद्ध हो सकेगा।

नाटकों के विरोध में लिखे गए उनके नाटक समस्या का बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। 'राजयोग' में प्रेम की समस्या बुद्धि द्वारा सुलझाई गई है। मिश्र जी ने हिन्दी नाटकों में जिस बौद्धिक तत्त्व का संनिवेश किया, उस परम्परा में अधिक लोगों ने कार्य नहीं किया किंतु उन्होंने एक प्रकार से हिन्दी नाटक को झकझोर दिया। नाटकों में बुद्धि-तत्त्व का प्रवेश मिश्र जी की देन है। वे उसे काल्पनिक जगत् से यथार्थ की ओर ले गए।

फेबियन समाज के बुद्धि-तत्त्व और मार्क्सवाद के सामाजिक तत्त्व के समन्वय की प्रवृत्ति यूरोप के कतिपय लेखकों में रही है। फेबियन समाजवाद की विचारधारा से प्रभावित लेखक कभी-कभी स्थूल यथार्थ तक रह जाते हैं। समस्या के मूल में जाकर वे उसका समाधान खोजने का प्रयत्न नहीं करते। मार्क्सवादी लेखक कभी-कभी वर्ग-संघर्ष में इतने उलझ जाते हैं कि कला-पक्ष का ध्यान ही नहीं रखते। सामाजिक तत्त्व के साथ कलात्मक परिपक्वता का प्रयास आधुनिक नाटककारों ने किया है। ये लेखक मुख्यतः मार्क्सवाद से प्रभावित हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भुवनेश्वर आदि इसी धारा के नाटककार हैं। समाज की पृष्ठभूमि में व्यक्ति का चित्रण इन लेखकों की मुख्य प्रवृत्ति है। व्यक्ति अपने संस्कारों से सहज में ही मुक्त नहीं हो सकता, 'अंजोदीदी' इसका अच्छा उदाहरण हैं। घड़ी-सा नियमित जीवन उन्होंने अपने नानाजी से उत्तराधिकार में पाया है। सामाजिक प्रवृत्ति को लेकर नाटकों का सृजन करने वाले इन नाटककारों-ने अपने समाज का किसी सीमा तक अन्वेषण किया हैं। उन्होंने आस-पास के जीवन को निकट से देखने का प्रयास किया है। अश्क जी के 'स्वर्ग की झलक' नाटक में वर्तमान शिक्षा के कुप्रभाव की चर्चा है। 'कैद और उड़ान' में प्रेम और विवाह की समस्या है। भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' हिन्दी के सर्वोत्तम एकांकी नाटकों में से एक है। वास्तव में स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण की प्रवृत्ति को लेकर नाटकों की सृष्टि करने वाले लेखक इस बात का प्रयत्न करते हैं कि समस्या को उचित रीति से प्रस्तुत कर दिया जाय और यदि सम्भव हो तो उसका हल भी ढूँढ निकाला जाय।

एकांकियों के विकास से नाट्य-साहित्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। यूरोप में स्ट्रिंडबर्ग आदि नाटककारों ने नाटकों में मनोविज्ञान का प्रवेश कराया। सामाजिक विषमताओं ने हमारे बाह्य और आन्तरिक जीवन को अस्त-व्यस्त किया है। बाह्य अथवा भौतिक विषमताओं को मार्क्सवादी लेखकों ने ग्रहण किया। मनुष्य के आन्तरिक विश्लेषण की ओर जो लेखक प्रवृत्त हुए उन्होंने इस बात का ध्यान रखा है कि वर्तमान जीवन की पृष्ठभूमि में ही मानव का मनोवैज्ञानिक चित्र उतारा जाय। प्राचीन संस्कृत नाटकों में स्वगत-कथन की सहायता से मनुष्य की मानसिक अवस्था को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। एकांकियों में मानसिक

स्थिति का अंकन कुछ कठिन कार्य था, इसीलिए अनेक प्रकार के शैली-सम्बन्धी प्रयोग किए गए। डा० रामकुमार वर्मा का रेडियो-रूपक 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' औरंगज़ेब की एक सुन्दर आन्तरिक तस्वीर है। केवल मानसिक विश्लेषण के आधार पर नाट्य-सृष्टि एक कठिन कार्य है; वास्तव में नाटक में द्रष्टा का इतना महत्त्व है कि उसे दृष्टि से ओझल करना सहज नहीं हो सकता। ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जा सकती है जिनमें आन्तरिक द्वन्द्व दिखाया जाये, और उनकी मानसिक स्थिति का संकेत हो। हैमलेट एक ऐसा ही चरित्र है। किन्तु केवल मानसिक पोस्टमार्टम के आधार पर सुन्दर नाटक की रचना सम्भव नहीं है।

प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य में विविधता है। भावभूमि के नए क्षेत्र उद्घाटित किए गए हैं। यथार्थ की नई भूमि पर उसका पदार्पण हुआ है। शैली के नए प्रयोग हुए हैं, जैसे ध्वनि-रूपक आदि। किन्तु नाटक को सबसे बड़ी आवश्यकता एक विकसित रंगमंच की होती है। उसके अभाव में नाट्य-साहित्य पंगु हो जाता है। नाटक पठनीय सामग्री बनकर रह जाते हैं। आशा है राष्ट्रीय रंगमंच के विकास के साथ हिन्दी नाट्य-साहित्य अधिक समृद्ध हो सकेगा।

गोविन्ददास : एक सफल साहित्य-स्रष्टा

—श्री गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

सेठ जी का साहित्य-निर्माण-प्रयत्न अनेक दिशाओं में प्रवाहित हुआ है—उन्होंने काव्य-रचना[1] की है; उपन्यास लिखा है, यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकें लिखी हैं; अपनी आत्मकथा लिखी है, निबन्ध लिखे हैं : और संसद के तथा हिन्दी भाषा के प्रचार के भाषण प्रस्तुत किए हैं : किन्तु वे प्रमुख रूप से नाटककार हैं, और देश एवं समाज-हित-कामना से प्रेरित होकर उन्होंने जिस प्रकार नाटकों का सृजन किया है, उससे अनिवार्य रूप से यह कल्पना हृदय में उठती है कि सम्भवतः प्रकृति ने काशी के

---

१. नमूने के रूप में एक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

सबसे प्यारा, सबसे न्यारा
सुन्दर पावन भारत देश।
सकल सृष्टि सुषमा नव आश्रित
नवता का नवतम प्रदेश।
पर्वत पंक्ति कहीं परिवेष्टित
हिम से हीरक तुल्य चमक।
चकाचौंध चक्षुद्वय करती
दिनकर-कर में दमक चमक।
कहीं विविध वृक्षों से विकलित
वन कोसों तक लहराते।
आते जाते रंग-बिरंगे
मेघों-सी सुषमा पाते।
कहीं कलित काश्मीर पुष्प-फल
पूरित नन्दन कानन-सा।
और कहीं तरु-रहित 'प्रान्त मरु'
शुष्क सिंधु सिकता बन-सा।
कहीं धवल धारा गंगा की
श्यामा का शुचि श्यामल वाह।
उछल उछल फिर नाच कहीं पर
बहता रेवा रम्य प्रवाह।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य की सम्पूर्ति के लिए जबलपुर में सेठ जी के रूप में उनका पुनर्निमाण किया है। मेरे ऐसा कहने का विशेष कारण है और वह यह कि भारतेन्दु के नाटकों की दो प्रधान विशेषताएँ—(१) लोक-संग्रह के प्रति तीव्र आग्रह तथा (२) अभिनेयता—जितनी मात्रा में गोविन्ददास जी के नाटकों में सुलभ है, उतनी वर्तमान काल के अन्य किसी नाटककार की कृतियों में नहीं।

काव्य के क्षेत्र में सेठ जी ने अधिक प्रगति नहीं की, किन्तु "जन्मभूमि प्रेम" आदि कुछ स्फुट कविताओं के अतिरिक्त यह स्मरणीय है कि उन्होंने अल्प वय में ही एक महाकाव्य की रचना का कार्य हाथ में लिया: इस महाकाव्य का नाम पहले 'बाणासुर पराभव' था, किन्तु बाद को इसके स्थान में 'प्रेम-विजय' नाम रखा गया। इस महाकाव्य को सेठ जी ने सर्वथा भुला दिया है; वह अब तक अपूर्ण पड़ा है और उसे पूर्ण करने की ओर अब उनकी रुचि नहीं जान पड़ती है। अस्तु।

गोविन्ददास जी के नाटकों के सम्बन्ध में कुछ लिखने के पूर्व में यह उचित समझता हूँ की उनकी यात्रा-पुस्तकों तथा उनके श्रेष्ठ उपन्यास 'इन्दुमती' पर संक्षिप्त चर्चा यहाँ कर लूँ।

विदेशों की तीन यात्रा

गोविन्ददास जी की यात्राएँ संसार के प्रायः सभी प्रमुख देशों में हुई हैं और उन यात्राओं पर उन्होंने जो पुस्तकें लिखी हैं, वे अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। उन्होंने तीन बार भारत के बाहर भ्रमण किया। पहली बार वे अफ्रीका

---

१. इस महाकाव्य की कुछ पंक्तियाँ यहाँ अवलोकनार्थ दी जाती हैं:—

निकट वे पहुँचे अनिरुद्ध के
लख परस्पर एक द्वितीय को।
प्रथम तो अति विस्मित हो गए
असुर सैनप ने फिर यों कहा—
दनुज-नायक ने मुझको दिया,
यह निदेश तुम्हें द्रुत बाँध लू।
इसलिए निज को तुम मान लो,
असुर-ईश-उपग्रह में युवा।
दनुज-नायक कौन? न जानता,
न अपराध किया उनका कभी।
फिर बिना रण के यदु-पुत्र क्या
जगत में निज बन्धन मानते।

गए, दूसरी बार न्यूज़ीलेंड, आस्ट्रेलिया, फीजी और मलाया तीसरी बार मिस्र, यूनान, इटली, स्विट्ज़रलैण्ड, फ्रांस, इंगलैण्ड, कनैडा, अमरीका, हवाई द्वीप, जापान, चीन, स्याम और बरमा आदि में पर्यटन किया। इन तीनों ही यात्राओं पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे—पहली यात्रा पर उन्होंने जो पुस्तक लिखी उसका नाम है 'हमारा प्रधान उपनिवेश', दूसरी यात्रा की पुस्तक का नाम है, 'सुदूर दक्षिण पूर्व' और तीसरी का नाम है 'पृथ्वी परिक्रमा'। दूसरी पुस्तक उन्होंने अंग्रेजी में भी 'आन विंग्स टू दी ऐंज़ैक्स' के नाम से लिखी है। इन हिन्दी पुस्तकों का हमारे देश में तथा अंग्रेज़ी पुस्तक का विदेशों तक में बड़ा आदर हुआ है। उनकी यात्रा-सम्बन्धी ये पुस्तकें किस कोटि की हैं इसके सम्बन्ध में हम स्वयं कुछ न कहकर उनकी 'पृथ्वी परिक्रमा' की भूमिका में लोकसभा के अध्यक्ष स्वर्गीय श्री मावलंकर ने जो कुछ लिखा है, उसका एक अंश तथा 'आन विंग्स टू दी ऐंज़ैक्स' पर कुछ विदेशियों तक ने जो कुछ कहा है उसे ही उद्धृत कर देते हैं, श्री मावलंकर 'पृथ्वी परिक्रमा' की भूमिका में लिखते हैं :—

"पुस्तक में न केवल लेखक द्वारा विश्व के विभिन्न भागों की यात्रा का विवरण दिया गया है, वरन् उन देशों के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर लेखक ने अपना मत भी सरल भाषा में व्यक्त किया है।........एक प्रकार से प्रस्तुत पुस्तक को विश्व इतिहास का एक ठोस भाग कहा जा सकता है।......जिन जिन देशों में लेखक गया उनके लिए तो यह एक 'एनसाइक्लोपीडिया' ही है।...... पुस्तक से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक देश के इतिहास, धर्म, संस्कृति, कला इत्यादि का परिश्रमशील अध्ययन किया गया है।"

'आन विंग्स टू दी ऐंज़ैक्स' के सम्बन्ध में 'कामनवैल्थ पार्लियामैन्टरी एसोसियेशन' के सभापति और कैनेडा की पार्लियामैन्ट के एक वयोवृद्ध सदस्य लिखते हैं :—

"I have found every word in this book most interesting and the volume is a valuable record of the notable gathering of the commonwealth Parliamentary Association in Newzealand and Australia in 1950. I was particularey captivated with the glimpses the author gives of his own remarkable career and of how completely he has freed his mind of the psychology of the wealthy and has become in Truth one of the people."

जहाँ तक हमें ज्ञात है न तो हिन्दी के किसी साहित्यकार ने ऐसा विश्व-भ्रमण ही किया है और न यात्रा-सम्बन्धी ऐसा विशद साहित्य-सृजन।

सेठ जी के उपन्यास 'इन्दुमती' की विशेषताओं का वर्णन करते हुए डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है :—

"इस उपन्यास को उपलक्ष करके इस देश के पिछले पचास-साठ वर्षों की तूफ़ानी हलचलों का बहुत सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। इन्दुमती का चरित्र बहुत दृढ़ अंकित हुआ है.....। इन्दुमती के वैधव्य-जीवन को अपने ढंग का अनूठा ही चित्रित किया गया है। इसे धक्कामार परिस्थितियों और विचारों की अवतारणा का साधन बनाकर देश के सामाजिक उपन्यासों में एक नये प्रयोग का सूत्रपात किया गया है। इन्दुमती उपन्यास हमारी अनेक सामाजिक समस्याओं के मूल उत्स को समझने की ऐतिहासिक दृष्टि देता है। आज के जटिल सामाजिक जीवन को जो प्रश्न निरन्तर चुनौती दे रहे हैं उनके वास्तविक रूप को स्पष्ट भाव से समझाने में यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।"

श्रेष्ठ मनीषी डा० भगवानदास का इस उपन्यास के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत है :—

"इन्दुमती एक महान् कृति है, कलेवर और वर्ण्य विषय दोनों ही दृष्टियों से। श्री प्रेमचन्द की, जिनको साहित्यिक समाज ने 'उपन्यास-सम्राट' की पदवी दी है, प्राय: सभी छोटी-बड़ी कहानियों और कथाओं को मैंने पढ़ा है। किन्तु बहुविध विविधता और मनोविश्लेषण की दृष्टि से उनका कोई भी आख्यानक—'सेवासदन' या 'कर्मभूमि' अथवा 'रंगभूमि' जो उनके सबसे बृहत् ग्रन्थ हैं—इन्दुमती की स्पर्धा नहीं कर सकता। पुस्तक के कई अंश, कदाचित् कोई अन्य सुयोग्य कथाकार भी लिख सकता किन्तु इन्दुमती के साथ अपने मन का इतना पूर्ण तादात्म्य करके कल्पना द्वारा उसे अपनी मानस-भूमि पर प्रतिष्ठित करके, उसकी निरन्तर परिवर्तमान मनोदशाओं का, तथा परस्पर-विरोधी विचारों, भावनाओं, वासनाओं और क्रियाओं के बीच झूलती हुई उसकी अस्थिर चित्त-वृत्तियों का ऐसा अद्वितीय और मार्मिक निरूपण करने के लिए केवल योग्यता ही नहीं, अपितु उत्कृष्ट प्रतिभा (जीनियस) भी चाहिए।"

प्रसिद्ध साहित्यिक डा० बेरियर एल्विन ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में लिखा है :—

"It is a very great achievement, and I am filled with admiration both for author's deep knowledge of human nature as well as for the Literary power and grace

with which he has expressed it. It is also most refreshing to read so frank and open a discussion of many problems which the timid avoid."

भारत के उपराष्ट्रपति और विश्व के एक मान्य तत्ववेत्ता डा० राधाकृष्णन ने इन्दुमती की सुन्दर व्याख्या अंग्रेज़ी के एक ही वाक्य में कर दी है :—

"It mirrors our social and political life with great ability and vast learning."

इसमें सन्देह नहीं कि विचार-धारा की दृष्टि से भी और औपन्यासिक कला की दृष्टि से भी हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में यह उपन्यास बेजोड़ है। सूक्ष्म अध्ययन, संयम और सामाजिक हितैषणा के सम्मिलित सहयोग ने इसे सौन्दर्य सम्पन्न, संतुलित और लोकोपयोगी स्वरूप दे दिया है। हिन्दी-उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में यह कृति एक नवीन लेखन-शैली लेकर प्रस्तुत हुई है, और यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि उक्त शैली का प्रचार हिन्दी में हो सकेगा, तथापि यह तो निर्विवाद है कि उसका व्यक्तित्व हिन्दी उपन्यास की समस्त शैलियों से पृथक् रहेगा।

भारतीय समाज की राजनीतिक स्वाधीनता तथा भारतीय व्यक्ति की मानसिक स्वाधीनता—इन दो प्रश्नों को लेकर इन्दुमती का कथानक अग्रसर हुआ है। ये दोनों ही प्रश्न इन्दुमती के जीवन में अन्योन्य सम्बन्धित हैं और यदि हमें इन्दुमती के जीवन को समझना है तो हमें चाहिये भारतीय स्वतन्त्रता-संघर्ष की पृष्ठभूमि में उसे रख कर हम समझें; साथ ही भारतीय व्यक्ति जिन मानसिक हलचलों के बीच से चल रहा है, उससे भी पृथक् करके हम उसके जीवन के मर्म को हृदयंगम नहीं कर सकेंगे।

भारतीय समाज के सामने स्वतन्त्रता की समस्या तो कठिनाइयों से पूर्ण थी ही, इन्दुमती के पिता वकील अवधबिहारी लाल ने व्यक्ति की मानसिक स्वतन्त्रता के प्रश्न को भी भूलभुलैयों से भरी एक पहेली के रूप में प्रस्तुत कर दिया। ब्रिटिश शासन के अधीन भारत की जैसी परिस्थिति थी, उसे देखते हुए उसका स्वतन्त्र होना टेढ़ी खीर थी ; इसी प्रकार अवधबिहारी लाल ने व्यक्ति के मानसिक स्वातन्त्र्य का प्रश्न जिस रूप में प्रस्तुत किया वह व्यक्ति और समाज का पूर्ण और सर्वथा स्पष्ट समन्वय लेकर न चला ; इसने इस भ्रम को उत्पन्न किया कि सम्भवत: समाज उपभोग्य है और व्यक्ति उपभोक्ता। जैसे संघर्ष और प्रेम से कथानक को शक्ति और विस्तार की प्राप्ति होती है, वह प्रचुर परिमाण में इन्दुमती उपन्यास को मिल गया

ग्रोर पुस्तक के ग्रन्त में डा० त्रिलोकी नाथ से हमें 'ग्रभेद-भावना-विकास' के रूप में जो हल प्राप्त हुग्रा, वही हमारे सम्पूर्ण संगस का शमन करता है। 'ग्रभेद-भावना-विकास' के स्तर पर पहुँच कर ही हम भारतीय स्वाधीनता को हस्तगत ग्रौर सुरक्षित कर सकते हैं तथा उसी के द्वारा व्यक्ति की मानसिक ग्रशांन्ति का निराकरण करने में भी समर्थ हो सकते हैं।

इस उपन्यास की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसकी नायिका इन्दुमती यथार्थ तत्त्वों के बहुत निकट पहुँच कर भी उनके गढ़े में गिरी नहीं। वीरभद्र के प्रति उसकी तीव्र ग्रासक्ति से कथानक के भीतर एक संकटमय मार्मिक स्थल उपस्थित हो गया था, किन्तु वहाँ लेखक के रचना-कौशल से वह बाल-बाल बची।

इस उपन्यास के भीतर जहाँ कहीं वर्णन-सापेक्ष ग्रवसर उपस्थित हुए हैं, लेखक ने चित्रामक शैली की बहुत सुन्दर नियोजना की है, जिससे पात्रों का स्वरूप बहुत स्पष्ट होकर सामने ग्राया है, ग्रौर उनके कार्य-कलाप के प्रति ग्राकर्षण बढ़ गया है। ग्रत्यन्त संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लगभग एक सहस्र पृष्ठों का यह 'इन्दुमती' उपन्यास सेठ जी की ग्रत्यन्त सफल कृति है। ग्रौर ग्रच्छा होता, यदि वे हमें इन्दुमती के ढंग के दो-चार उपन्यास ग्रौर दे सकते, उससे यह लाभ होता कि हिन्दी साहित्य में उनकी शैली की पूर्ण प्रतिष्ठा होती तथा उनका प्रचार भी द्रुत गति से सम्भव होता। किन्तु, सेठ जी की जितनी रुचि नाट्य-कला के विकास की ग्रोर है, उतनी साहित्य के ग्रन्य किसी ग्रंग की पुष्टि की ग्रोर नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी नाटक को भी इनकी सेवाग्रों की बहुत ग्रधिक ग्रावश्यकता है ग्रौर हिन्दी साहित्य का कोई हितैषी यह नहीं चाहेगा कि इस क्षेत्र की क्षति करके वे केवल उपन्यास लिखने में प्रवृत हों। हिन्दी नाटक हिन्दी उपन्यास की ग्रपेक्षा कम समृद्ध भी है, ऐसी ग्रवस्था में उसकी पूर्ति ग्रौर परिपुष्टि की ग्रोर उनका लगना सर्वथा उचित है। सच बात तो यह है कि हिन्दी नाटक को उनकी विचार-धारा ग्रौर भाव-प्रवाह की वर्तमान समय में ग्रनिवार्य ग्रपेक्षा है।

नाटच-कला सम्बन्धी मत

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामयिक नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक एवं ग्रपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से ग्रपने नाटकों के लिए सामग्री का चयन किया था, थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ यही प्रवृति परवर्ती नाटककारों में भी दिखाई पड़ती है। स्वर्गीय बाबू जयशंकर 'प्रसाद', श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' तथा ग्रन्य कई नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटक लिखने की परम्परा का निर्वाह ग्रक्षुण्ण बनाये रखा है। श्री उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक नाटक लिखने में ग्रच्छे कौशल

का परिचय दिया है, साथ ही ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक रचना का प्रयास भी उन्होंने किया है। इन सभी नाटककारों की एक प्रवृत्ति यह देखने में आती है कि इनके पौराणिक और ऐतिहासिक पात्र भी वर्तमान सामाजिक आदर्शों के ढाँचों में ढले होते हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक भी है; उच्च कल्पना और अनुभूतियों से आन्दोलित होने वाला कोई भी सहृदय साहित्यकार सामाजिक परिस्थितियों से उदासीन नहीं हो सकता। किसी न किसी रूप में वे अपना प्रभाव उसकी कृतियों पर डालेंगी। अधिकांश हिन्दी साहित्यकारों की समाज-सम्बन्धी जो प्रतिक्रियाएँ उनकी साहित्यिक कृतियों में व्यक्त हुई हैं, वे शोचनीय प्रसंगों के प्रति करुणा-भाव की रही हैं। राष्ट्रीय जागरण ने अनेक दुर्बलताओं और अपूर्णताओं का उद्घाटन किया, जिन्हें अपनी कृति में झलका देना तथा उनका एक समाधान भी उपस्थित करना आवश्यक समझ कर उक्त नाटककारों ने अपनी रचनात्मक प्रकृति और प्रतिभा का परिचय दिया। जो प्रहसनात्मक नाटक लिखे गये उनका उद्देश्य भी अन्ततोगत्वा करुण भाव को ही अभिव्यक्त करना रहा। किन्तु ज्यों-ज्यों पाश्चात्य साहित्य का सम्पर्क हिन्दी नाटककारों को अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त हुआ, त्यों-त्यों उनमें से अनेक वहाँ के विकृत प्रभावों के वशीभूत होने लगे। पाश्चात्य साहित्य में भी यथार्थवाद मूलतः विकृत भावनाओं के प्रसार के लिए नहीं; वरन् साहित्यिक कृतियों की, अतिशयता को प्राप्त निराधार आदर्शवादिता और भावुकता को संयत स्वरूप देने ही के लिए अस्तित्व प्राप्त कर सका था, एक सीमा तक हमारे यहाँ भी यथार्थवाद के इस रूप में क्रियाशील होने के लिए बहुत अधिक गुंजाइश थी और अब भी है। किन्तु इस कारण कि निर्माण की शक्ति रखने वाला साहित्य सदैव साधनापूरक होता है, इस ओर न पाश्चात्य साहित में ही अधिक समय तक अभिरुचि बनी रही और न अनुसरणशील आधुनिक हिन्दी साहित्यिक की लेखनी यथार्थवाद के विकृत स्वरूप की ओर अधिक उन्मुख होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोक सकी विज्ञान की प्रगति ने मनुष्य में अपनी शक्ति का अहंकार उत्पन्न कर दिया; जीवन के नैतिक मूल्यों का अधःपतन हो गया, समाज में उपेक्षित 'लघु' ने महत्ता प्राप्त की और विकारग्रस्त 'महान्' विरोधी आलोचना का पात्र बना, इन सबका सम्मिलित प्रभाव एक ऐसी संस्कृति को जन्म देने में सफल हुआ जो दिनों-दिन प्रबल होती जा रही है, जिसमें 'अर्थ' और 'काम' की महिमा सर्वोपरि है तथा अन्य सभी बातें गौण हो गई हैं। फलतः रचनाकार के जीवन की पूर्णता से प्रसूत होने वाली करुणा की धारा मरुभूमि में विलीन होती जा रही है और जीवन के खोखलेपन को अधिकाधिक शोचनीय बनाने वाली अतृप्ति और कामुकता सर्व-प्रधान स्थान ग्रहण करने की घोषणा कर रही हैं। पराधीनता के संस्कारों में जकड़ा हुआ, मौलिक चिंतन की

शक्ति से रहित औसत श्रेणी का हिन्दी साहित्यिक यदि ऐसे वातावरण में अपना सिर ऊँचा न रख सका तो यह तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है।

कला का यह कर्त्तव्य है कि वह अतृप्ति और कामुकता को भी ऐसे स्तर पर पहुँचाये, जहाँ ये मनुष्य के व्यक्तित्व को बन्धनों से मुक्ति प्रदान करें, यह नहीं कि और भी अधिक बन्धनों को एकत्र कर उसकी सारी प्रगति ही को रोक दे। किन्तु कला के नाम पर अप्रभावित, सर्वथा स्वतन्त्र साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होने की घोषणा करने वाला, कलाकारों का एक ऐसा दल हिन्दी जगत में अवतीर्ण हुआ है जो जीवन के प्रति किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं रखना चाहता; यही नहीं, भोगवाद के प्रति आत्म-समर्पण करने में ही कला की समस्त विशेषताओं की सम्पूर्त्ति समझता है। नाटक के क्षेत्र में समस्या-नाटकों की सृष्टि का प्रयास किया गया है और इब्सन एवं बर्नार्ड शा के तथाकथित अनुसरण का आतंक हिन्दी पाठकों के समक्ष उत्पन्न करने की चेष्टा की जा रही है। किन्तु सच बात यह है कि कल्पित समस्याओं को वहाँ बिठाने का प्रयत्न हो रहा है, जहाँ उनके लिए किसी प्रकार की भूमि तैयार नहीं है। हमारे देश और समाज में समस्याएँ न हों, सो बात नहीं; वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं की हमारे यहाँ कमी नहीं है, किन्तु स्थूल जड़वादी, भोगवादी दृष्टिकोण के कारण वे हमारी दृष्टि में आती नहीं और उस अवस्था में हमें यूरोप, अमरीका आदि में जाकर वहीं की समस्याओं को यहाँ माँग लाना पड़ता है। आश्चर्य तो तब होता है जब इन नाटककारों में ऐसे लोग भी मिलते हैं जो भारतीय संस्कृति का दम भरने पर भी आध्यात्मिक विशिष्टताओं को कोई महत्व नहीं देते तथा अपने नाटकों की परिणति पर भौतिक दृष्टिकोण का उचित से अधिक प्रभाव पड़ने देते हैं।

सन्तोष की बात है कि सेठ गोविन्ददास जी की रचनाएँ उक्त प्रकार के रोगों से ग्रस्त नहीं हैं, इन्दुमती में हम देखते हैं कि यथार्थ में बहुत निचले स्तरों तक उसे उतार ले जाकर भी उन्होंने ढंग से उसकी रक्षा कर ली और 'सबेरे का भूला साँझ को घर पहुँच जाय तो उसे भूला नहीं कहते'—इस कहावत के अनुसार जब अविवेक और अदूरदर्शिता के अनेक धक्के खाने के अनन्तर उसे हम जीवन-सत्य के निकट पहुँचती पाते हैं तब हमें उसके पिछले सारे प्रमाद भूल जाते हैं।

नाटक-रचना के क्षेत्र में तो सेठ जी को और भी अधिक सफलता प्राप्त है। इस सम्बन्ध में जो बात सब से महत्वपूर्ण है, वह यह है कि उन्होंने भारतीय समाज के विकासकारक तथा ह्रासकारक तत्त्वों को अच्छी तरह पहचाना और जब कि अन्य नाटककार प्रायः कृत्रिम भूख उत्पन्न करने की चेष्टा करते रहे, उन्होंने प्रकृत भूख के शमन की ओर ध्यान दिया, मर्मस्थलों पर चोट की, वास्तविक दुर्बलताओं के प्रतीक खड़े किये, शक्ति के सरल और सरस स्रोतों को प्रवाहित किया।

गोविन्ददास जी की नाटच-कला के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करते हुए श्री रामचरण महेन्द्र ने ठीक ही लिखा है "टेकनीक की दृष्टि से सेठ जी युगान्तर-कारी वर्ग के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। ...साहित्यिकता तथा सूक्ष्म अन्वेक्षण के अतिरिक्त आपका सबसे बड़ा गुण नाटकों का रंगमंचीय विधान है। सफल अभिनय के लिए इनमें सतत गतिमान कथानक और जीवित कथोपकथन है।" इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध समीक्षक गुलाबराय जी का मत है—"नये नाटकीय प्रयोग करने में सेठ जी बड़े कुशल हैं।" गोविन्ददास जी के अनेक नाटक अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में नियुक्त हैं। अनेक का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ है, कुछ का अंग्रेज़ी में भी और इन अंग्रेज़ी अनुवादों में से "दि किंग एण्ड दि बैगर मेड" नामक एकांकी नाटक न्यूयार्क में भी बड़ी सफलता के साथ खेला गया है।

५ महीनों में १४ नाटक

यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की सी ही सत्वर लेखन-शक्ति उनमें विद्यमान है। अनेक नाटकों के लिखने में उन्होंने जितना कम समय लिया है, उसे जानने पर आश्चर्य होता है। अभी कोई पाँच महीने पूर्व तक सेठ जी के पचासी नाटक थे। कुछ मित्रों के सुझाव पर उन्होंने पन्द्रह नाटक और लिख कर शतक पूर्ण करने का निश्चय किया और पाँच महीने में ही अन्य कार्यों के करते हुए इन पन्द्रह में से चौदह नाटक लिख डाले। इन चौदह नाटकों में एकांकी केवल ६ हैं, शेष आठ पूरे नाटक हैं, तीन, चार और पाँच अंकों के[1]। सेठ जी अपना सौवाँ नाटक महात्मा गांधी की जीवनी पर लिख रहे हैं। बड़े से बड़ा नाटक लिखने में उन्हें शायद ही कभी एक सप्ताह से अधिक लगा हो। फिर इतना अधिक लिखने पर भी उनके नाटक एक विशिष्ट उच्च स्तर के होते हैं। उनका कोई भी नाटक कथा, पात्र, विचार अथवा कथोपकथन में दूसरे से नहीं मिलता, हर नाटक का कथानक, चरित्र-चित्रण, विचार-सरणि, कथोपकथन एक दूसरे से भिन्न, किसी क्षेत्र में भी पुनुरुक्ति नहीं। अपने नाटकों को उन्होंने आधुनिकता की वेश-भूषा से, दूषित न करके, अलंकृत किया है। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों

---

(१) इन चौदह नाटकों के नाम हैं—विजयबेलि, 'सिहलद्वीप, भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु, अशोक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रहीम, महाप्रभु वल्लभाचार्य भविष्य-वाणी, उठाओ खाओ खाना, पाप का घड़ा, महाकवि कुंभनदास, महर्षि की महत्ता, चैतन्य का संन्यास, परमहंस का पत्नी-प्रेम। इनमें प्रथम आठ पूरे और शेष ६ एकांकी हैं। 'भविष्य वाणी' और 'उठाओ खाओ खाना' दो प्रहसनो को छोड़कर शेष ऐति-हासिक अथवा किसी सत्य घटना पर आधारित हैं, ये नाटक शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

से अपने नाटकों के लिए विषयों का निर्वाचन किया है और आधुनिकता की तूलिका से सब रंग भरने की चेष्टा की है; किन्तु उनका यह प्रयत्न उतनी ही दूर तक गतिशील हुआ है, जितनी दूर तक उसका गतिशील होना उचित ही नहीं, कलात्मकता की दृष्टि से भी अनिवार्यतः आवश्यक है, क्योंकि भिन्न युग में अवस्थित होकर भी यदि हम अपने प्रस्तुत विभिन्न जीवन का, प्राचीन नमूनों के चित्रों से किंचित् संस्कार न कर लें तो इससे हमारी कलाकारिता नहीं प्रकट होगी केवल हमारा अनाड़ीपन सिद्ध होगा।

हमारे प्रस्तुत जीवन से जो प्राचीन ऐतिहासिक अथवा पौराणिक पात्र युगों का अन्तर लेकर उपस्थित हैं, कलात्मक कृति में उसका उपयोग उस अवस्था में अत्यन्त आवश्यक हो जाता है जब हम देखते हैं कि उस पात्र से कलात्मक कृति का दर्शक अथवा पाठक कल्पना-जात घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर चुका है। उदाहरण के लिए राम और कृष्ण को ले लीजिए, करोड़ों व्यक्तियों के मानसिक जगत में इन दोनों महापुरुषों की काल्पनिक मूर्त्तियाँ विद्यमान हैं। हम चाहें तो इनका सहारा लेकर सहृदय को बहुत शीघ्रता और सरलता के साथ रस-दशा को पहुँचा दें। किन्तु वास्तव में यह कार्य उतना सरल नहीं है जितना सरल प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए कलाकार में उच्च कोटि की रचनात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। उसमें यह विवेक भी होना चाहिए कि अपनी युगानुरूप संस्करण-प्रक्रिया में कितनी दूर तक जाकर वह निषेधात्मक प्रवृत्तियों के प्रभाव से बचा रह सकता है। सेठ जी की नाटक-रचना की यह बहुत बड़ी सफलता है कि उन्होंने अपने नाटकों में जहाँ कहीं संस्कार करके पात्रों को उपस्थित किया है अथवा नवीन, कल्पित पात्रों की नियोजना की है, वहाँ रस के परिपाक में सहायता ही पहुँची है, उसमें बाधा नहीं उत्पन्न हुई है।

अन्य कई नाटककारों की तरह सेठ जी ने अपने नाटकों के लिए पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक क्षेत्रों से विषयों का चयन तो किया ही है, पर अपने ही ढंग पर उन्होंने समस्या-नाटकों का भी प्रणयन किया है। 'अपने ही ढंग पर' शब्दों का प्रयोग हम इसलिए कर रहे हैं कि वे उन समस्या नाटककारों की पद्धति के अनुयायी नहीं हैं, जो घर वालों की भूख की ओर ध्यान न देकर नये रंग-ढंग की भूख की तलाश में यूरोप, अमरीका आदि का भ्रमण करते हैं और 'भूख' के नाम पर सड़ी-गली कोई भावना लाकर उसे हृदय में स्थान देने के लिए घर वालों को विवश करना चाहते हैं। सेठ जी ने अपने समस्या नाटकों में भारतवर्ष की, भारतीय समाज की, समस्याओं की ओर सहृदय-जनों का ध्यान आकर्षित किया है।

पौराणिक नाटक

उनके प्रकाशित नाटकों में कर्त्तव्य और कर्ण प्रमुख पौराणिक नाटक हैं। नाटककार अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा प्राचीनयुगीन पात्रों को प्रस्तुत युग में किस प्रकार व्यवस्थित करता है, इसका परिचय हमें 'कर्त्तव्य' नाटक में उनके द्वारा प्रस्तुत राम, कृष्ण और राधा के मूल्यांकन से प्राप्त होता है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, नैतिकता के प्रतीक है, लेखक को उनके प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा हो सकती है, किन्तु उनको वह हृदय का पूर्ण प्रेम प्रदान नहीं कर सकता; प्रेम तो वह कृष्ण ही को दे सकता है, जिनमें राम के अनुशासन के स्थान पर प्रेम की प्रथम महत्ता दिखायी पड़ती है; किन्तु कृष्ण में भी आत्म-दर्शन-जन्य गाम्भीर्य है, जिससे आकर्षण अधिक होने पर भी तादात्म्य सम्भव नहीं होता; लेखक को यह ऐकात्म्य तो राधा के व्यक्तित्व ही के प्रति प्राप्त होता है; क्योंकि वह दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति के अनुराग का प्रतिनिधित्व करती हुई कृष्ण की ओर उन्मुख होती है, निर्बाध एकाकार के ही कारण लेखक ने राधा के व्यक्तित्व का अंकन रसार्द्र होकर किया है। डॉ० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—"नख से शिख तक प्रेम में पगी हुई आनन्द-परायणा राधा का चित्रण नाटक की अन्यतम सफलता है।"

श्रीकृष्ण के चरित्र-चित्रण में सेठ जी ने एक नवीनता का समावेश किया है—ऐसी नवीनता जो श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व से सर्वथा मेल खाती है; किन्तु जिसकी ओर अन्य किसी की दृष्टि पहुँच नहीं सकी थी। यह सभी जानते हैं कि जरासन्ध के आक्रमणों से त्रस्त होकर श्रीकृष्ण भाग कर द्वारिका चले गये थे; किन्तु इस पलायन में निहित गूढ़ रहस्य का उद्घाटन करना सेठ जी की प्रतिभा के लिए ही सुरक्षित था। उन्होंने अपने 'कर्तव्य' नाटक में यह समझाने की चेष्टा की है कि श्रीकृष्ण के भागने का कारण कायरता नहीं थी, वरन् वे अपने इस कार्य द्वारा जरासंध को आश्वस्त करना चाहते थे कि अब वह विशिष्ट पराक्रम-सम्पन्न हो गया है और अब उसे उन पर आक्रमण की आवश्यकता नहीं है। 'महाभारत' में युधिष्ठिर के सामने श्रीकृष्ण ने जरासंध के भय से मथुरा को छोड़कर द्वारिका को चले जाने की स्वीकारोक्ति की है, उसके रहते हुए भी उनके ऐश्वर्य के सम्बन्ध में किसी को संदेह नहीं हुआ; किन्तु समुचित व्याख्या के अभाव में औसत श्रेणी का मनुष्य यह कह सकता है कि श्रीकृष्ण के भागने के मूल में कायरता थी। सेठ जी की व्याख्या ने श्रीकृष्ण के त्याग-विशिष्ट ऐश्वर्य को, उनके प्रकृत रूप को दृष्टि प्रदान कर दी।

ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाटकों में उनके जो नाटक प्रकाशित हो चुके हैं, उनमें हर्ष, शशिगुप्त, शेरशाह और कुलीनता उल्लेख योग्य हैं। इनमें से कुलीनता और शेरशाह

में लेखक को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। 'कुलीन' में भी सेठ जी ने अपनी कल्पना-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। ऐतिहासिक कथा को नाट्योपयुक्त बनाने के लिए, कथानक को सुन्दर प्रवाह, प्रगति, सुडौलपन देने के उद्देश्य से उन्होंने उसमें 'चण्डपीड' 'देवदत्त' 'रेवासुन्दरी' एवं 'विन्ध्याबाला' इन चार कल्पित पात्रों की नियोजना की है। इस नाटक में रसात्मकता की यथेष्ट रूप से रक्षा हुई है। साथ ही लेखक ने यथास्थान अपने सामयिक विचारों का भी सन्निवेश कर दिया है। इस दृष्टि से निम्नलिखित स्थल अवलोकनीय हैः—

(१) **"क्षमा में जो महत्ता है, जो औदार्य है, वह क्रोध और प्रतिकार में कहाँ? प्रतिहिंसा हिंसा पर ही आघात कर सकती है, उदारता पर नहीं।"**

···यदुराव (अंक ४, पृ० १)

(२) **"संसार में कर्म ही मुख्य है और कुलीनता कर्म पर निर्भर रहती है।"**

···विजयसिंह देव (अंक ४)

(३) **"जिन्हें वैधव्य प्राप्त हो गया है और जो एक पवित्र व्रत के कारण अपना सारा जीवन महान् संयम एवं अद्भुत स्वार्थ त्याग से व्यतीत कर समस्त संसार को संयम तथा त्याग का जीता-जागता उदाहरण बना रही हैं···उनका शुभ तथा मंगलकारी अवसर पर उपस्थित होना अशुभ और अमंगल ? कृतघ्नता की भी सीमा होती है।'**

···सुरभि पाठक (अंक ४, दृश्य ५)

'शेरशाह' नाटक में तो गोविन्ददास जी की कल्पना-शक्ति का चमत्कार देखते ही बनता है। शेरशाह जो पहले शेर खाँ और उससे भी पहले 'फ़रीद' नामधारी था, चुनार के सूबेदार ताजख़ाँ को मारकर उसकी बीवी लाड़बानू से विवाह कर लेता है। संयोग से ताजखाँ की पत्नी होने के पहले ही वह शेरशाह के छोटे भाई निज़ाम के प्रेम-जाल में पड़कर हृदय खो चुकी थी। शेरशाह की पत्नी होने पर वह अपने खोये हुए निजाम को फिर पा जाती है, किन्तु दुर्बल-हृदय निज़ाम उसे अपना लेने का साहस संग्रह नहीं कर सका, फलतः लाड़बानू का प्रेम निष्फल और जीवन निराशामय हो गया है। किन्तु लेखक ने लाड़बानू के प्रणय की पवित्रता और उसके औचित्य के समर्थन में लाड़बानू के द्वारा जो तर्क उपस्थित कराये हैं, वे अकाट्य हैं और इसी कारण नाटकीय व्यवधान को सहृदय के हृदय में गड़ने वाला काँटा-सा बना देते हैं। अभागिनी लाड़बानू की बातें सुनिएः—

"सच्ची मुहब्बत के बाद एक दूसरे से मिलने, एक दूसरे से बात करने की ख़्वाहिश तो कुदरती चीज़ है। और यह सब चीज़ें गिराती नहीं; एक दूसरे को क़रीब

लाती हैं। हमारे दिल एक दूसरे को चाहते हैं, लेकिन इनके जरिए तो हमारे जिस्म ही हैं...शक्ल वालों की मुहब्बत में दिलों का मिलना तो तब तक अधूरा ही रहता है जब तक जिस्म भी न मिल जायें। बगैर मुहब्बत के भी अगर शौहर और बीबी के जिस्मों का मिलना नापाक नहीं, वह गिराने वाली चीज नहीं, तो जिनमें सच्ची मुहब्बत है और उस मुहब्बत की वजह से जो एक-दूसरे के नजदीक आने के लिए एक दूसरे से मिलना चाहते हैं, उनकी यह बातें नापाक और गिराने वाली कैसे कही जा सकती हैं?"

पौराणिक और ऐतिहासिक पूरे नाटकों के अतिरिक्त सेठ जी ने पौराणिक और ऐतिहासिक एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

सामाजिक नाटक

'प्रकाश', 'सेवापथ' और 'सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' सेठ जी के वे प्रकाशित सामाजिक नाटक हैं, जिनका प्रधान उद्देश्य राजनीति है। सामाजिक नाटकों ही के अन्तर्गत उनके समस्या नाटक हैं, जिनमें से किसी में राजनीतिक उद्देश्य प्रधान है तो किसी में आर्थिक, किसी नाटक में वैयक्तिक नैतिकता ने महत्व प्राप्त कर लिया है, तो किसी नाटक में वैयक्तिक आर्थिकता ने और किसी नाटक में वैयक्तिक मानसिकता ने।

इन्हीं विविध उद्देश्यों को लेकर सेठ जी ने बहुत बड़ी संख्या में एकांकी नाटक लिखे हैं, जो 'सप्तरश्मि', 'अष्टदल', 'एकादशी', 'पंचभूत', तथा 'चतुष्पथ' नामक संग्रहों में संकलित हुए हैं। यह स्मरणीय है कि 'स्पर्धा' नामक सामाजिक एकांकी नाटक को लेकर ही सेठ जी ने एकांकी नाटकों के क्षेत्र में प्रवेश किया था। इसका अवलोकन करके ही सेठ जी के सम्बन्ध में स्वर्गीय प्रेमचन्द जी ने अपनी निम्नलिखित सम्मति प्रकट की थीः—

"स्पर्धा सेठ जी की पहली रचना है जो हमारी नजरों से गुजरी। इसके बाद इस सामाजिक नाटक ने हमारी यह धारणा मजबूत कर दी कि सामाजिक नाटक ही आपका क्षेत्र है।"

इसमें सन्देह नहीं कि पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों को लिखने में यदि सेठ जी की रचनात्मक प्रतिभा को श्रद्धा और अध्ययन अथवा केवल अध्ययन का अवलम्ब लेना पड़ा है, तो सामाजिक नाटकों के निर्माण में ऐसा प्रतीत होता है कि उनके प्राण उनमें घुल-मिल गये हैं, न किसी अवलम्ब की आवश्यकता रह गयी है और न किसी प्रकार का व्यवधान ही उनके सामने दिखायी पड़ता है; जिस सरलता और स्वाभाविकता के साथ मछली नदी या तालाब में तैरती है और चिड़िया आकाश में उड़ती है, उसी सरलता और स्वाभाविकता के साथ सेठ जी सामाजिक नाटकों की रचना करते हैं।

मैं कह आया हूँ कि हमारे देश और समाज में यहीं की जलवायु और मिट्टी में उत्पन्न होने वाली 'भूख' वर्तमान है, उसकी उपेक्षा करना तथा सात समुद्र पार जाकर नकली 'भूख' लाने और यहाँ के प्रतिकूल वातावरण में भी उसे आरोपित करने के लिए आग्रहशील होने की आवश्यकता नहीं है। मैं यह भी कह चुका हूँ कि सेठ गोविन्ददास जी ने इस देश के मानव-जीवन में जहाँ खोखलापन है, जहाँ नीरसता है, उस स्थल को पहचाना है और अपनी रचना द्वारा उसे औरों को भी समझाने का प्रयत्न किया है। यह एक बहुत बड़ी सेवा है जिसे सम्पन्न करने के लिए संस्कार, अनुभव आदि सभी बातों की दृष्टि से जितनी उपयुक्तता उनमें है, उतनी शायद ही किसी अन्य लेखक में पायी जा सकेगी। सेठ जी के सभी सामाजिक नाटकों और एकांकियों की चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। उनमें जो विशेष उल्लेख योग्य हैं, उन्हीं के सम्बन्ध में कुछ कहा जायेगा।

सेठ गोविन्ददास जी पिछले चालीस वर्षों से भारतवर्ष के बड़े से बड़े नेताओं के कंधों से कंधा लगाकर देश की सेवा करते आ रहे हैं। इस लम्बी अवधि में उन्हें न जाने कितने उद्यान-भोजों में सम्मिलित होने का अवसर मिला होगा। कभी-कभी ऐसा भी हुआ होगा कि किसी उत्साही नवयुवक ने ऐसे चाटुकारिता-प्रेरित आयोजनों में देशहित की सच्ची बात कहकर रंग में भंग कर दिया हो। गवर्नर की पार्टी देने वाले 'राजा अजयसिंह' तथा उसका विध्वंस करने वाले 'प्रकाश' जैसे पात्र उन्हें ऐसे ही अनुभव से मिले होंगे। 'प्रकाश' नामक नाटक के उपक्रम में दिखाया गया है कि मिट्टी के बर्तनों की दूकान में घुसकर एक साँड ने बर्तनों को तोड़-फोड़ डाला; 'प्रकाश' ने 'राजा अजयसिंह' की स्वार्थ-सिद्धि की दूकान में प्रवेश करके इसी प्रकार सर्वनाश का दृश्य उपस्थित कर दिया। 'सेवापथ' में प्रधान पात्र 'दीनानाथ' के माध्यम से सेवा का सच्चा मार्ग दिखाया गया है तथा 'शक्तिपाल' और 'मारगेरेट' जैसे चरित्रों का अवतारण करके विपथगामी, चरित्र-भ्रष्ट लोगों की नकली सेवा की पोल खोली गयी है। 'त्याग का ग्रहण' नामक नाटक में उच्च शिक्षा-प्राप्त, किन्तु पथ-च्युत 'विमला' का साम्यवादी 'नीतिराज' से गांधीवादी नवयुवक 'धर्मध्वज' द्वारा उद्धार कराया गया है, तथा उसके माध्यम से नाटककार ने यह कहा है, कि भारतवर्ष में, अध्यात्म विज्ञान का पार्थिव विज्ञान एवं मनोविज्ञान से समन्वय होना चाहिए। असहयोग आन्दोलन के दिनों में वकालत आदि का त्याग लोगों ने कभी-कभी शुद्ध सेवा-भाव से नहीं, वरन् हल्की श्रेणी की यशेषणा से प्रेरित होकर किया। इसका एक चित्र हमें 'दुख क्यों ?' शीर्षक नाटक में मिलता है, जिसमें एक ओर तो 'यशपाल' की नीच भावना से मिली हुई सेवा है, दूसरी ओर 'गरीबदास' की सेवा है, जिसके विपत्तिग्रस्त

होने पर स्वयं 'यशपाल' की स्त्री सच्ची साक्षी देने और इस प्रकार 'गरीबदास' की रक्षा करने के लिए न्यायालय में उपस्थित होती है।

खेद है, स्थानाभाव से अन्य सामाजिक नाटकों और एकांकी नाटकों के सम्बन्ध में अधिक लिखना सम्भव नहीं है। संक्षेप में इतना ही कथन यथेष्ट होगा कि इन सब का निर्माण सच्ची सेवा के प्रति अत्यन्त अधिक आग्रह का भाव लेकर किया गया है। अहिंसा की भावना लेखक के हृदय में सर्वोपरि रही है। सेठजी ने गरीबी का भी पक्ष किया है और विलासितापूर्ण जीवन की निन्दा की है। किन्तु गरीबी के लिए उस आग्रह को उन्होंने नापसन्द किया है, जिसमें परिस्थिति के प्रति सापेक्षता न हो, जो व्यावहारिकता से शून्य हो। अपने अनेक प्रहसनों और व्यंग-प्रधान नाटकों में उन्होंने कहीं सट्टेबाज़ों के हथकंडों का उद्घाटन किया है, तो कहीं साम्राज्यवादी मनोवृत्तियों से प्रेरित अंग्रेज़ शासकों का। 'धोखेबाज', 'अधिकार लिप्सा', 'जाति-उत्थान', 'निर्माण का आनन्द', 'विटेमिन', 'फाँसी', 'बूढ़े की जीभ', 'हंगरस्ट्राइक', 'आई सी', 'यू नो', 'सुदामा के तंदुल' आदि एकांकी नाटकों में उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक जीवन के छिपे हुए दोषों को रोचक और मनोहर ढंग से सब के सामने रख दिया है।

कुछ विशेष नाटक

'नवरस' सेठजी का प्रतीक नाटक है ; विकास नाटकीय संवाद है ; स्नेह या स्वर्ग' गीति-नाट्य है, तथा 'षट्दर्शन' एकपात्रीय भाव-नाटक। इन रूपकों के अतिरिक्त 'भूदान' भी उनका एक रूपक है, जिसमें आचार्य विनोबा भावे के भूदान-आन्दोलन का एक चित्र, जीवित नेताओं का आधार लेकर, अंकित किया गया है।

पाश्चात्य नाटककार 'ब्राउनिंग', 'स्ट्रेंडबर्ग' तथा 'नील' की शैली का अनुसरण कर के सेठजी ने 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर' तथा सच्चा जीवन' नामक अन्य एकपात्रीय नाटक (मोनोड्रामा) लिखे हैं, जो 'चतुष्पथ' नामक अन्य संग्रह में संगृहीत है। इनमें पूँजीपति, क्रान्तिकारी, महाजन, ज़मींदार आदि शोषकों का चित्रण किया गया है। हिन्दी में इस प्रकार के नाटकों का श्रीगणेश सेठजी ने ही किया है। और सेठजी ने नाटक-लेखन के लिए जिस नवीनतम क्षेत्र का आविष्कार किया है, वह है जीवनी नाटक। 'रहीम', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'महाप्रभु वल्लभाचार्य,' आदि नाटक लिखकर उन्होंने जीवनी-नाटकों की उपयोगिता भी प्रमाणित की है।

भारतीय समाज का सिंहावलोकन

संक्षेप में, अपने नाटकों में सेठजी ने भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग पर दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है और अधिकांश में विचार-धारा एवं कलात्मकता दोनों ही का सुन्दर समन्वय स्थापित करने में इन्हें सफलता मिली है। पौराणिक, ऐतिहासिक

ग्रौर सामाजिक तीनों ही श्रेणियों के नाटकों को एक साथ रखकर देखा जाये तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सेठजी ने भारतीय समाज के समस्त जीवन का, अनेक सहस्र वर्ष से लेकर अब तक का, सिंहावलोकन ग्रौर स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। जिस निर्मल ग्रौर निर्लिप्त भाव से विवेक एवं निष्ठापूर्वक रचनाकार के रूप में उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया है, वह अपूर्व है ग्रौर वे न केवल सहृदय साहित्यिकों की ग्रोर से बधाई के पात्र हैं, वरन् सम्पूर्ण भारतीय समाज की कृतज्ञता के भी उचित अधिकारी हैं। सेठजी की हिन्दी की विविध सेवाग्रों के उपलक्ष में हिन्दी संसार ने उन्हें दो बार उनके प्रदेश के हिन्दी साहित्य सम्मेलन का तथा एक बार अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया ग्रौर यह उनके लिए गौरव की बात है कि जिस समय भारतीय संविधान में हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर ग्रासीन हुई उस समय सेठजी अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष थे। हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर ग्रासीन कराने का, बड़े से बड़े नेताग्रों के कोप की भी परवाह न कर, उन्होंने जो अथक परिश्रम किया है वह तो अब इतिहास की सामग्री हो गयी है।

सेठजी नार्वे के नाटककार इब्सन के अधिकांश सिद्धान्तों को स्वीकार करके उनका अनुसरण करते हैं, किन्तु कई बातों में ग्रापने अपने निबन्ध 'नाट्य-कला मीमांसा' में अपना स्वतंत्र मत निर्धारित किया है। ये निम्नलिखित हैं:—

(१) नाटक में गीतों की नियोजना होनी चाहिए।

(२) स्वगत-कथन अश्राव्य (Soliloquy) ग्रौर नियत श्राव्य (Aside) दोनों ही रूपों का बहिष्कार उचित नहीं, नियत-श्राव्य अस्वाभाविक है, किन्तु अश्राव्य स्वाभाविक है ग्रौर उसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

(३) एकांकी नाटक में जहाँ काल-संकलन से बाधा उपस्थित हो रही हो, वहाँ ग्रारम्भ में 'उपक्रम' ग्रौर अन्त में 'उपसंहार' का प्रयोग किया जाय।

(४) जहाँ काल-संकलन की बाधा न हो, वहाँ भी 'उपक्रम' ग्रौर 'उपसंहार' के प्रयोग से कोई हानि नहीं है; यही नहीं, उससे लाभ है; उसके द्वारा नाटक की सुन्दरता बढ़ाई जा सकती है।

अंत में, सफल उपन्यासकार एवं सफल नाटककार सेठ गोविन्ददास जी अपनी साहित्य-सेवा में निरन्तर प्रगति करें ग्रौर भारतीय समाज उससे उत्तरोत्तर उपकृत हो, ईश्वर से यही मेरी प्रार्थना है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाट्य-कला

—डॉ० देवराज उपाध्याय

पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र जी के नाटकों से मेरा परिचय एक विचित्र नाटकीय ढंग से हुआ। सन् १९३० में मैं इतिहास के एम०ए० का विद्यार्थी था। पटने में युवक आश्रम के पास ही मढिया में रहा करता था। "युवक" बिहार का एक-मात्र सर्वप्रथम क्रान्तिकारी मासिक पत्र था। जिन नवयुवकों में हिन्दी-साहित्य के प्रति प्रेम था और जिनके हृदय में क्रान्ति की आग थी, नवयुवक आश्रम इनके लिये तीर्थस्थान था। विशेषतः बनारस विश्वविद्यालय के तरुण साहित्यिक तो सदा आते ही रहते थे।

मिश्र जी एक बार आये थे : 'सिन्दूर की होली' नामक नाटक उन्होंने लिख लिया था। प्रतिलिपि करानी थी। परीक्षा सर पर खड़ी थी। पर मैंने 'सिन्दूर की होली' की प्रतिलिपि तैयार कर अपने को गौरवान्वित समझा। शायद वह मिश्र जी का दूसरा नाटक था। इसके पहले वे "अशोक" की रचना कर चुके थे। इन पच्चीस वर्षों में हिन्दी साहित्य के अन्य अंगों की तरह नाटक का भी पर्याप्त विकास हो गया है और वह समृद्ध नज़र आता है। पर उस समय भारतेन्दु और प्रसाद ये दो ही नाम नाटक के क्षेत्र में याद किये जाते थे। भारतेन्दु को भी शायद लोग भूल चले थे। पारसी थियेट्रिकल नाटकों की सस्ती चमक का इन्द्रजाल भी कम से कम साहित्यिक सुरुचि वालों के मन से उठ चुका था और वे प्रसाद जी के साहित्यिक नाटकों पर लट्टू हो रहे थे। ऐसे ही अवसर पर मिश्रजी अपने नाटकों को लेकर साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित हुए।

अतः मिश्रजी के नाटकों पर विचार करते समय प्रसाद की नाट्य-कला को हमें सदा सामने रखना होगा। साहित्य के विकास में सदा क्रिया और प्रतिक्रिया की शृंखला काम करती रहती है। प्रसाद जी स्वयं पारसी नाटकों की प्रतिक्रिया-स्वरूप तथा डी० एल० राय के नाटकों के रोमांस से प्रेरणा ग्रहण कर नाटक-क्षेत्र में आये थे। उसी तरह मिश्रजी के नाटक का जन्म प्रसादजी की साहित्य पर अग्रवादिता काल्पनिक रंगीनी और अनभिनेयता की प्रतिक्रिया के रूप में इब्सन की प्रेरणा से हुआ था।

डा० दशरथ ओझा ने 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में एक स्थान पर लिखा है कि "मिश्रजी का मत है कि प्रसाद के नाटको में रंगमंच पर जो आत्महत्याएँ कराई जाती हैं, संवादों में जो अस्वाभाविकता पाई जाती है, प्रेम की अभिव्यक्ति में जो लम्बे भाषण कराए जाते हैं, कौमार्य को विवाह से श्रेष्ठ माना जाता है, कल्पना में जो उन्माद भरा रहता है, वह भारतीय नाटक-पद्धति के विरुद्ध है। इसी कारण वह अपने नाटकों में आत्महत्या, काव्यमय संवाद, प्रेमी-प्रेमिका के लम्बे भाषण और कौमार्य-महत्त्व एवं कल्पना में अतिरंजन को स्थान नहीं देते।" आलोचक की इन पंक्तियों से तथा अपने नाटकों की भूमिका में यत्र-तत्र मिश्रजी ने जो पंक्तियाँ लिखी हैं, उन से यह स्पष्ट है मिश्रजी प्रसाद से भिन्न मान्यताओं को लेकर आये और ये मान्यतायें ठीक प्रसाद के नाटकों के सिद्धान्तों के विरोध में उत्पन्न हुई थीं।

यहाँ हम यही देखेंगे कि मिश्रजी ने हिन्दी नाटक-साहित्य के लिये क्या किया! उसमें उनका अनुदान क्या है? नाटक की कथा-वस्तु तीन तरह की होती है। प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्रित। जिस नाटक की रचना किसी पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथा के आधार पर होती है उसे प्रख्यात कहते हैं तथा जिसमें नाटककार की कल्पना स्वतंत्र रूप में कथा की सृष्टि कर तत्कालीन किसी समस्या के स्वरूप को हमारे समक्ष रखती है वह है उत्पाद्य। संस्कृत साहित्य के जितने नाटक हैं वे प्रायः प्रख्यात हैं। भारतेन्दु-युग में जब हमारा अँग्रेजी साहित्य से परिचय बढ़ा और एक नई रोशनी मिली तो हमारी आँखें खुलीं। मध्य-युग की दी हुई मनोवृत्ति जब दूर हुई और हम में स्वतंत्र चिन्तन के भाव जागे, हमने प्राचीनता की ओर देखने की प्रवृत्ति का त्याग किया। नाटक के क्षेत्र में हमारी आधुनिकता इस रूप में परिलक्षित होती है कि वहाँ कल्पना ने प्रवेश किया और उत्पाद्य कथाओं की पूछ होने लगी। भारतेन्दु की कल्पना ने अनेक उत्पाद्य नाटकों की सृष्टि कर आधुनिक समस्याओं को महत्त्व दिया।

इस उत्पाद्यता का दर्शन भारतेन्दु-युग के अन्य नाटककारों में भी पाया जाता है। आशा यही बँधती है कि आगे चल कर हिन्दी में निरंतर इस प्रवृत्ति का विकास होना चाहिये। पर प्रसादजी में यह प्रवृत्ति कुछ अवरुद्ध-सी मालूम पड़ती है। उनके सब नाटक प्रख्यात हैं जिसमें भारतीय इतिहास के किसी गौरवपूर्ण पृष्ठ को जागृत किया गया है। आधुनिकता का रंग है अवश्य पर वह प्राचीनता की भव्यता के सामने छिप जाता है।

'ध्रुवस्वामिनी' में आधुनिकता तथा उसकी समस्या कुछ अधिक स्पष्ट रूप में अवश्य आई है पर कथा तो वही प्रख्यात ही है। मिश्रजी में इस प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया पाई जाती है; मैं यह नहीं कहता कि उन्होंने प्रख्यात नाटक लिखे ही नहीं, 'वितस्ता की

लहरें' 'दशाश्वमेघ', 'अशोक' इत्यादि तो प्रख्यात ही हैं। पर मेरा ख्याल है कि आगे चलकर हिन्दी नाटकों की प्रगति का इतिहास लिखा जायेगा तो वे 'सिन्दूर की होली,' 'राक्षस के मंदिर,' 'संन्यासी,' 'मुक्ति का रहस्य', इत्यादि के लिये ही याद किये जायेंगे। प्रसादजी के नाटकों का कथानक जटिल होता था तथा उसमें पात्रों की भरमार रहती थी। यहाँ तक कि उनकी संख्या तीस-तीस, चालीस-चालीस तक भी पहुँच जाती थी। अज्ञातशत्रु में तीन राजकुलों के कथानकों को इस तरह एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया गया है कि सारा नाटक उलझे हुए सूत्रों का जखीरा बन गया है और अनेक बार पढ़ने पर भी पाठकों को कथा की गति को समझने में कठिनाई होती है। दर्शकों को जिस परीक्षा तथा मस्तिष्क-भार का सामना करना पड़ता होगा वह तो कल्पना ही की जा सकती है। राम की कथा को लेकर रचित नाटक में यदि जटिलता आ जाय तो काम चल सकता है कारण प्रत्येक व्यक्ति राम-कथा से परिचित है। वह कथा का टूटी कड़ियों को अपनी कल्पना से भी जोड़ कर काम चला ले सकता है। पर अजातशत्रु की ऐतिहासिक जटिलता से जनता परिचित नहीं है।

यह बात दूसरी है कि कुछ इतिहासवेत्ता ही नाटक के पाठक या दर्शक हों। पर यह नाटक की अपील को बहुत सीमित कर देना होगा। मिश्रजी ने सबसे पहली बात यही की कि कथानक को सीधा-सादा सहज और बोधगम्य बना दिया। पात्रों की संख्या स्वयं ही कम हो गई और नाटक के शरीर में एक स्फूर्ति, कान्ति, चुस्ती आ गई मानो अस्वस्थ और अतिरिक्त मांस तथा वसा प्राकृतिक उपचार के कारण क्षीण हो गये हैं और स्वस्थ शरीर में ताजे रक्त की लालिमा फैली हो। प्रसादजी के नाटक प्रायः पाँच अंकों में समाप्त होते थे तथा एक अंक में १०, १५ तक भी दृश्य हो सकते थे। मनोविज्ञान तो यही कहता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता है दर्शकों के धैर्य की सीमा भी छूटती जाती है।

अतः अंकों को क्रमशः लघुता का रूप धारण करते जाना चाहिये। पर प्रसाद जी के नाटकों का अंतिम अंक सबसे बृहत्तम भी हो सकता था। मिश्रजी के नाटकों में इन मनोवैज्ञानिक त्रुटियों का सर्वथा अभाव है। ये प्रायः तीन अंकों में समाप्त हैं, नाटकों में गीतों का सर्वथा अभाव है। भाव-वैभव और कल्पना तो है पर बौद्धिक विवेचन का आग्रह सदा वर्तमान रहा है। भाषा प्रवाहमयी, कथा को अग्रसर करने वाली है। परिस्थिति से अनुकूलता तथा स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए भी वह साहित्यिक रही है और दैनिक वार्त्तालाप के साधारण स्तर पर नहीं उतरने पाई।

ऐसा लगता है कि मिश्रजी मन ही मन यह ठान कर चले थे कि वे पौरा-

णिक या ऐतिहासिक आधार पर नाटकों का निर्माण नहीं करेंगे। 'संन्यासी' की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि "इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं।" हो सकता है कि उनके हृदय में ये भाव प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए हों। इस भाव से प्रेरित होकर उन्होंने जो कतिपय नाटक संन्यासी, राक्षस का मंदिर, सिन्दूर की होली, आधीरात इत्यादि लिखे हैं उनमें ही उनकी नाट्य-कला का पूर्ण निखार दिखलाई पड़ता है। इनमें ही मिश्रजी का निजत्व मिलता है। इनमें ही संवादों की स्वाभाविकता, लम्बे-लम्बे संवादों का अभाव, चलते व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग, कथानक का सीधापन, आधुनिक समस्याओं का साग्रह प्रवेश इत्यादि विशेषतायें दिखलाई पड़ती है जो प्रसाद की नाट्य-कला से उन्हें पृथक् कर देती हैं। यद्यपि भारतेन्दु-युग के नाटकों में ही बाल-विवाह, विधवा-विवाह, देश-भक्ति इत्यादि समस्याओं का प्रवेश हो चला था और नाटकों के माध्यम से विचार करने तथा इनके प्रति लोगों के ध्यान आकृष्ट करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी पर फिर भी हिन्दी के समस्या-नाटकों के जन्मदाता मिश्रजी ही कहे जायेंगे। कारण कि उनके पहले जितने नाटककार हुए हैं वे राम-कथा या कृष्ण-कथा में निमग्न रहे और यों ही कभी आँख उठाकर तत्कालीन समस्याओं की ओर भी देख लेते हैं। प्रसाद जी चाहते हुए भी आधुनिक समस्याओं के साथ न्याय नहीं कर सके

उनकी प्रतिभा प्रेरणा के लिये सदा अतीत का ही मुँह जोहती रही जिससे वे पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो सके। पर मिश्र जी हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं जो देह झाड़ कर नवीनता के रंगमंच पर आ गये और उसी का जयोच्चार करने लगे। और एक पर एक ताबड़तोड़ कितने ही समस्या-नाटकों की रचना करके ही दम लिया। 'संन्यासी' (सं० १९८८) में सह-शिक्षा की समस्या के साथ राष्ट्रीय जीवन के अनेक पहलू आ गये है। 'राक्षस का मन्दिर' (सं० १९८८) आधुनिक युग के, प्रत्यक्ष काम-वासनामय व्यक्तियों की कथा है तथा नारी-उद्धार आन्दोलन के नाम पर स्थापित मातृ-मन्दिरों की पोल खोली गई है। 'मुक्ति के रहस्य' (सं० १९८९) में आधुनिक युग के पुरुष और नारी के बीच एक दूसरे परपुरुष के स्थापन करने लिये जो वैज्ञानिक स्तर पर युद्ध चलता है उसका वर्णन है। 'सिंदूर की होली' (१९९१) में आधुनिक मनुष्य की धन-लिप्सा तथा उसके लिये जघन्य कर्म करने की प्रवृत्ति का वर्णन है। साथ ही एक नारी के हृदय की विशालताका भी वर्णन है। 'आधी रात' (१९९४) में एक ऐसी नारी की समस्या छेड़ी गई है जो जन्म से तो भारतीय है पर शिक्षा-संस्कार में विदेशी है। 'राजयोग' (सं० २००६) में भी विषम विवाह की समस्या उठाई गई है। इस तरह इन नाटकों को देखने में हमारे मस्तिष्क के सामने

लहरें' 'दशाश्वमेघ', 'अशोक' इत्यादि तो प्रख्यात ही हैं। पर मेरा ख्याल है कि आगे चलकर हिन्दी नाटकों की प्रगति का इतिहास लिखा जायेगा तो वे 'सिन्दूर की होली,' 'राक्षस के मंदिर,' 'संन्यासी,' 'मुक्ति का रहस्य', इत्यादि के लिये ही याद किये जायेंगे। प्रसादजी के नाटकों का कथानक जटिल होता था तथा उसमें पात्रों की भरमार रहती थी। यहाँ तक कि उनकी संख्या तीस-तीस, चालीस-चालीस तक भी पहुँच जाती थी। अज्ञातशत्रु में तीन राजकुलों के कथानकों को इस तरह एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया गया है कि सारा नाटक उलझे हुए सूत्रों का जखीरा बन गया है और अनेक बार पढ़ने पर भी पाठकों को कथा की गति को समझने में कठिनाई होती है। दर्शकों को जिस परीक्षा तथा मस्तिष्क-भार का सामना करना पड़ता होगा वह तो कल्पना ही की जा सकती है। राम की कथा को लेकर रचित नाटक में यदि जटिलता आ जाय तो काम चल सकता है कारण प्रत्येक व्यक्ति राम-कथा से परिचित है। वह कथा का टूटी कड़ियों को अपनी कल्पना से भी जोड़ कर काम चला ले सकता है। पर अजातशत्रु की ऐतिहासिक जटिलता से जनता परिचित नहीं है।

यह बात दूसरी है कि कुछ इतिहासवेत्ता ही नाटक के पाठक या दर्शक हों। पर यह नाटक की अपील को बहुत सीमित कर देना होगा। मिश्रजी ने सबसे पहली बात यही की कि कथानक को सीधा-सादा सहज और बोधगम्य बना दिया। पात्रों की संख्या स्वयं ही कम हो गई और नाटक के शरीर में एक स्फूर्ति, कान्ति, चुस्ती आ गई मानो अस्वस्थ और अतिरिक्त मांस तथा वसा प्राकृतिक उपचार के कारण क्षीण हो गये हैं और स्वस्थ शरीर में ताजे रक्त की लालिमा फैली हो। प्रसादजी के नाटक प्रायः पाँच अंकों में समाप्त होते थे तथा एक अंक में १०, १५ तक भी दृश्य हो सकते थे। मनोविज्ञान तो यही कहता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता है दर्शकों के धैर्य की सीमा भी छूटती जाती है।

अतः अंकों को क्रमशः लघुता का रूप धारण करते जाना चाहिये। पर प्रसाद जी के नाटकों का अंतिम अंक सबसे बृहत्तम भी हो सकता था। मिश्रजी के नाटकों में इन मनोवैज्ञानिक त्रुटियों का सर्वथा अभाव है। ये प्रायः तीन अंकों में समाप्त हैं, नाटकों में गीतों का सर्वथा अभाव है। भाव-वैभव और कल्पना तो है पर बौद्धिक विवेचन का आग्रह सदा वर्तमान रहा है। भाषा प्रवाहमयी, कथा को अग्रसर करने वाली है। परिस्थिति से अनुकूलता तथा स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए भी वह साहित्यिक रही है और दैनिक वार्त्तालाप के साधारण स्तर पर नहीं उतरने पाई।

ऐसा लगता है कि मिश्रजी मन ही मन यह ठान कर चले थे कि वे पौरा-

णिक या ऐतिहासिक आधार पर नाटकों का निर्माण नहीं करेंगे। 'संन्यासी' की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि "इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं।" हो सकता है कि उनके हृदय में ये भाव प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए हों। इस भाव से प्रेरित होकर उन्होंने जो कतिपय नाटक संन्यासी, राक्षस का मंदिर, सिन्दूर की होली, आधीरात इत्यादि लिखे हैं उनमें ही उनकी नाट्य-कला का पूर्ण निखार दिखलाई पड़ता है। इनमें ही मिश्रजी का निजत्व मिलता है। इनमें ही संवादों की स्वाभाविकता, लम्बे-लम्बे संवादों का अभाव, चलते व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग, कथानक का सीधापन, आधुनिक समस्याओं का साग्रह प्रवेश इत्यादि विशेषतायें दिखलाई पड़ती है जो प्रसाद की नाट्य-कला से उन्हें पृथक् कर देती हैं। यद्यपि भारतेन्दु-युग के नाटकों में ही बाल-विवाह, विधवा-विवाह, देश-भक्ति इत्यादि समस्याओं का प्रवेश हो चला था और नाटकों के माध्यम से विचार करने तथा इनके प्रति लोगों के ध्यान आकृष्ट करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी पर फिर भी हिन्दी के समस्या-नाटकों के जन्मदाता मिश्रजी ही कहे जायेंगे। कारण कि उनके पहले जितने नाटककार हुए हैं वे राम-कथा या कृष्ण-कथा में निमग्न रहे और यों ही कभी आँख उठाकर तत्कालीन समस्याओं की ओर भी देख लेते हैं। प्रसाद जी चाहते हुए भी आधुनिक समस्याओं के साथ न्याय नहीं कर सके

उनकी प्रतिभा प्रेरणा के लिये सदा अतीत का ही मुँह जोहती रही जिससे वे पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो सके। पर मिश्र जी हिन्दी के प्रथम नाटककार हैं जो देह झाड़ कर नवीनता के रंगमंच पर आ गये और उसी का जयोच्चार करने लगे। और एक पर एक ताबड़तोड़ कितने ही समस्या-नाटकों की रचना करके ही दम लिया। 'संन्यासी' (सं० १९८८) में सह-शिक्षा की समस्या के साथ राष्ट्रीय जीवन के अनेक पहलू आ गये है। 'राक्षस का मन्दिर' (सं० १९८८) आधुनिक युग के, प्रत्यक्ष काम-वासनामय व्यक्तियों की कथा है तथा नारी-उद्धार आन्दोलन के नाम पर स्थापित मातृ-मन्दिरों की पोल खोली गई है। 'मुक्ति के रहस्य' (सं० १९८९) में आधुनिक युग के पुरुष और नारी के बीच एक दूसरे परपुरुष के स्थापन करने लिये जो वैज्ञानिक स्तर पर युद्ध चलता है उसका वर्णन है। 'सिंदूर की होली' (१९९१) में आधुनिक मनुष्य की धन-लिप्सा तथा उसके लिये जघन्य कर्म करने की प्रवृत्ति का वर्णन है। साथ ही एक नारी के हृदय की विशालताका भी वर्णन है। 'आधी रात' (१९९४) में एक ऐसी नारी की समस्या छेड़ी गई है जो जन्म से तो भारतीय है पर शिक्षा-संस्कार में विदेशी है। 'राजयोग' (सं० २००६) में भी विषम विवाह की समस्या उठाई गई है। इस तरह इन नाटकों को देखने में हमारे मस्तिष्क के सामने

संस्कृत अलंकार-शास्त्रियों के दीर्घ-दीर्घतर न्याय की बातें याद आ जाती है। यदि पूरी शक्ति लगा कर आप बाण छोड़िये, उसके मूल में जितनी प्रेरणा-शक्ति होगी उसी के अनुरूप वह दीर्घ से दीर्घ होता हुआ अपने गतंव्य लक्ष्य-विंदु पर जाकर ही तो दम लेगा। बीच में नहीं। उसी तरह मिश्र जी के हृदय में मौलिक समस्या-नाटकों की रचना करने के जो भाव जगे हैं वे उनसे अपने अनुरूप कुछ नाटकों का प्रणयन करा कर ही शांत हुए हैं और इन्हीं नाटकों में मौलिकता की देदीप्यमान चमक है। सं० २००० के बाद के नाटकों को देखने से ऐसा लगता है कि मिश्रजी की नाट्य-कला ने मोड़ लिया है और फिर से वे ऐतिहासिक कथानकों की तरफ मुड़े हैं। 'नारद की वीणा' (सं २००३), 'गरुड़ध्वज' (सं २००८) 'वितस्ता की लहरें' (सं २०१०), दशाश्वमेध (सं २००९) ये सब इधर की रचनायें हैं। मिश्र जी की नाट्य-कला के इस परिवर्तन का क्या कारण है? इसका भी उत्तर मिश्र जी ने दे दिया है: प्रसाद के नाटकों से भारतीय संस्कृति और जातीय जीवन-दर्शन की जो हानि मुझे दिखाई पड़ी, भावी पीढ़ी के पथभ्रष्ट होने की आशंका मेरे भीतर उपजने लगी—उसके निराकरण के लिये मुझे ऐसे नाटक रचने पड़े जिनमें हमारी संस्कृति और जीवन-दर्शन का वह सत्य उतर उठे जो कालिदास और भासके नाटकों में पहले से ही निरूपित है। यह उत्तर कहाँ तक संगत तथा युक्तियुक्त है—इस पर पाठक स्वयं विचार करें। मेरा कहना यह है कि कोई कृतिकार अपनी कृति के बारे में जो-कुछ कहता है वह सर्वथा निर्भ्रामक हो यह कोई निश्चित नहीं है।

जब कोई अपनी रचना के बारे में कुछ विचार करने लगता है तो वह भी एक साधारण पाठक की स्थिति में आ जाता है। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा एकदम अलग-अलग शक्तियाँ रही हैं और उनका क्षेत्र भी अलग-अलग रहा है। जहाँ तक आलोचना करने का प्रश्न है, रचनाकार की कोई विशिष्ट स्थिति नहीं होती बल्कि यह भी हो सकता है कि एक साधारण तटस्थ आलोचक किसी रचना के बारे में जो विचार व्यक्त करे वह अधिक संगत तथा विश्वासनीय हो: कारण कि वह थोड़ी तटस्थता से काम ले सकता है। रचनाकार की आत्म-निष्ठता उसे ग़लत ढंग से भी देखने को प्रेरित कर सकती है।

मिश्रजी के नाटकों में इस परिवर्तन का अर्थात् उत्पाद्यता से हट कर व्याख्या स्तर की ओर मुड़ने का कारण दूसरा है। भले ही मिश्र जी के चेतन मस्तिष्क पर वह स्पष्ट हो कर नहीं आता हो और आया भी हो तो छद्मवेश में दूसरा रूप धारण कर—ठीक उसी तरह जिस तरह हमारे स्वप्न हमारी कुछ मूल भावनाओं के परि-

वर्तित तथा मार्जित रूप होते हैं। मिश्र जी की अन्तश्चेतना प्रसाद और उनकी कला से प्रभावित है। वह महसूस करती है कि नाटक को आज के युग में भी इतिहास तथा पौराणिक कथाओं के आधार से गड़े मुर्दे उखाड़ने के नाम पर वंचित कर देना उसके हाथ से एक बड़े साधन को छीन लेना होगा जिसके द्वारा वह मानव का हृदय स्पर्श करता है। पर कुछ तो नूतनता के प्रभाव में आकर और कुछ नई चीज़ देने की प्रवृति के कारण भी मनुष्य 'पुराणमेतत् न साधु सर्वं' वाले सिद्धान्त को खींचकर दूर तक ले जाता है और क्रांति के नाम पर अपने को पुजवाना चाहता है। यह भावना मिश्र जी में अवश्य काम कर रही थी। नहीं तो बात-बात में प्रसाद जी का नाम लेने का क्या अर्थ हो सकता है ?

स्पष्ट है कि प्रसाद जी की कला के वे कायल हैं। सम्भव है परिस्थितियों के कारण उनके अन्दर प्रसाद की नाटच-कला के प्रति विद्रोह के भाव जगे हों पर उनके अन्दर कहीं न कहीं आदर-भावना भी दुबकी पड़ी थी जो ज्वार उतर जाने पर फिर उभर आई। इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप को हम स्वर्गीय महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के जीवन से देख सकते हैं। द्विवेदी जी से बढ़ कर हिन्दी साहित्य का हितैषी और अंग्रेज़ी मत का विद्रोही कौन होगा ? पर उनके साहित्य के किसी पाठक को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उन पर अंग्रेज़ी की छाप कितनी गहरी थी—उन्होंने जो कुछ लिखा है वह ८० प्रतिशत अंग्रेज़ी साहित्य से प्रभावित है। फिर भी वह अंग्रेज़ी का अंधानुसरण मात्र नहीं। उसमें द्विवेदीजी का निजत्व है। उन्होंने उसे अपने रंग में इस तरह ढाल दिया है कि वह बिल्कुल स्वदेशी बन गया है। उसी तरह मिश्र जी के सारे नाटक विशेषतः इधर के ऐतिहासिक नाटक प्रसाद जी के ही प्रभाव से लिखे गये हैं फिर भी प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' और मिश्र जी का 'वितस्ता की लहरें' एक ही क़िस्म की चीज़ें नही है। लेकिन यह भी ठीक है कि इन नाटकों में प्रसाद जी की कला का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

संवादों को लीजिये। हम मिश्र जी के नाटकों को दो श्रेणियों में विभाजित कर लें—उत्पाद्य और प्रख्यात काल की दृष्टि से इन्हें पूर्व २०वीं शती विक्रमांक कहें और दूसरे को विक्रम वीसवीं शताब्दी तो हम पायेंगे कि दूसरी श्रेणी के नाटकों के संवाद अधिक गंभीर, भावनात्मक, भावपूर्ण तथा लम्बे हैं फिर भी इनमें प्रसाद के संवादों की गतिहीनता, दार्शनिकता तथा बोझिलता नहीं है। उदाहरण लीजिये

''यवन विजय की यह कथा हमारी भाषा में नहीं लिखी जायेगी। नींद में सोए अजगर को जम्भुक ने दाँत मारा है। अजगर की नींद समय पर खुलेगी तब यह भी मर चुका रहेगा। अपने नाम का नगर जो यह बसाता चला आ रहा है......

.... उन नगरों को नहीं रहने होगा। यवन विजय के .....ऐसे पाताल में गाड़े जायेंगे कि भावी पीढी को इसका पता भी नहीं चलेगा। क्षत्रिय की असि का कलंक ब्राह्मण की लेखनी पर नहीं चढ़ेगा।" (वितस्ता की लहरें)। ये पंक्तियाँ साधारण बोल चाल की भाषा की नहीं है।

ऐसा लगता है कि प्रसाद जी ज़रा नीचे उतर आये हों और मिश्र जी ऊपर उठ गये हों, और दोनों के मिलन-विन्दु पर भाषा की सृष्टि हो।

मिश्र जी प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी में नाटककार की प्रमुखता की स्थापना की। उनके पूर्व के नाटककार मंच-निर्देश नहीं देते थे अतः प्रबन्धक को पात्रों की वेशभूषा, वातावरण, अभिनय, अंग-संचालन के रूप को निश्चय करने की पूरी स्वतन्त्रता रहती थी और इसके कारण कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ हो जाता था। यह कोई आवश्यक नहीं कि निदेशक नाटक की आत्मा को ठीक तरह से हृदयंगम कर ही सके। मिश्र जी ने अपने नाटकों में रंग-निर्देश पूर्ण रूप से दिये हैं। अतः मंच-प्रबंधक के अनुचित हस्तक्षेप से नाट्य-कला की रक्षा की है। कहने का अर्थ यह कि मिश्र जी की नाट्य-कला में भारतीय आत्मा अपने वास्तविक गौरव के साथ नयी साज-सज्जा में प्रगट हुई है। इनमें यूरोप के विकसित नाटकों की पद्धति का पूर्ण रूप से उपयोग किया गया है। लेकिन इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता वे भारतीय मान्यताओं के प्रतिकूल हैं।

उन्होंने सदा ही पति-पत्नी के संयत और कर्त्तव्य की सीमा में आबद्ध प्रेम को स्वच्छंद तथा वैयक्तिक प्रेम से श्रेष्ठ बताया है। विधवा-विवाह को उन्होंने कभी भी उतने महत्त्वपूर्ण रंग में रंग कर चित्रित करने का प्रयत्न नहीं किया है। ऐतिहासिक नाटकों में हिन्दी नाटककारों का ध्यान उत्तर भारत के इतिहास के गौरवमय पृष्ठों तक ही सीमित रहता था। पर मिश्र जी का ध्यान प्रागैतिहासिक युग तथा दक्षिण-भारत के इतिहास की ओर भी गया है। 'नारद की वीणा' (सं २००३) का निर्माण एक प्रागैतिहासिक काल की घटना के आधार पर हुआ है इसमें आर्यों और अनार्यों के संघर्ष की एक झलक दिखलाई गई है। 'कावेरी' कुल तीन एकांकियों का संग्रह है। इसमें दक्षिण भारत की कथा है।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी नाट्य-कला दक्षिण-भारत के इतिहास को भी अपना संरक्षण और पोषण देने लगी है। हिन्दी नाट्य-कला की प्रगति की दृष्टि से इसे मैं एक बड़ी बात मानता हूँ। यह हिन्दी साहित्य की सफलता और दृष्टि-व्यापकता का चिह्न है। आज जब हम हिन्दी के अन्य नाटककारों की रचना को देखते हैं तो यही कहना पड़ता है कि मिश्र जी ने हिन्दी नाटकों को जिस स्थान पर लाकर छोड़ दिया

था, वह वहीं पर ज्यों का त्यों है। हिन्दी नाटक-साहित्य में मिश्र जी की देन क्या है ? उसे यों समझिये तो बातें स्पष्टतर होंगी। हिन्दी नाट्य-साहित्य में चाहे जो कुछ घटना घटे पर एक बात नहीं होगी। वह यह प्रसाद के रोमांटिक कल्पना-प्रधान नाटकों के दिन लद गये। उन्हें फिर से पुनर्जीवित करने वाला नाटककार सचमुच बड़ा साहसी होगा ! इसका श्रेय मिश्र जी को है भविष्य में जो भी नाटक हिन्दी में लिखे जायेंगे उनकी रचना मिश्र जी की पद्धति पर होगी या उसी का कोई विकसित रूप होगा।

क्या उतने विश्वास के साथ कोई कह सकता है कि मिश्र जी द्वारा प्रवर्त्तित नाटक-शैली की जड़ को किसी नूतन प्रतिभा ने ज़रा भी टस से मस किया है। सबसे बड़ी बात यह कि मिश्र जी ने हिन्दी-नाटक को एक उपयुक्त शरीर दिया है। प्राणों का सम्पादन तो पहले भी था पर शरीर के प्रभाव में उसका महत्त्व नगण्य है। कालिदास ने दिलीप के दिव्य वपु का वर्णन करते हुए लिखा है।

व्यूढ़ोरस्को वृषस्कन्ध शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमंदेहं क्षात्रो धर्म इवापरः॥

[रघु० १—१३]

ठीक उसी तरह मिश्र जी ने हिन्दी नाटक को "नाट्य-धर्म... आत्मकर्म क्षमं देहं" से समन्वित किया है। सरल स्वाभाविक अन्तर्जगत के चित्रण में समर्थ भाषा, सीधा-साधा कथानक तथा अभिनय, अंकों एवं दृश्यों का संतुलित विभाजन : और आप चाहते ही क्या हैं ? हिन्दी नाटकों के ही विगत अर्द्धशताब्दी की प्रगति को देखता हूँ तो मेरीं कल्पना के सामने मनोविज्ञान के साहचर्य-सिद्धांत (Law of association) के सहारे १९वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी नाटकों का इतिहास उपस्थित हो जाता है। १९वीं शताब्दी जहाँ साहित्य के अन्य रूप-विधानों में समृद्ध रहीं, काव्य-वैभव का वैसा युग कभी आया ही नहीं पर नाटकों के लिये तो यह युग दरिद्र ही रहा। १८वीं शताब्दी के अन्त में प्रकाशित शेरिडन के 'school for scandal' और आस्कर वाइल्ड या बर्नार्ड शॉ की प्रारम्भिक सुखान्त नाट्य-कृतियों के बीच कोई ऐसी रचना देखने में न आई जो नाटक नाम को सार्थक कर सके। रोमांटिक कवियों ने कुछ नाटक जैसी चीज़ें लिखी अवश्य हैं पर उनमें उनकी वैयक्तिक कल्पना का प्रवाह, हृदयस्थ स्वच्छन्द भावों की अभिव्यक्ति ही प्रधान हो गयी है और उनकी नाटकीयता छिप गई है। ठीक इसी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दी का छायावाद जो अंग्रेज़ी के रोमांटिक काव्य के ही अनुरूप है हमें एक भी नाटक नहीं दे सका। पर छायावादी युग इस बात में सौभाग्य

शाली है कि इसके प्रारम्भ से ही, इसके कैम्प से ही विद्रोह का अंकुर निकला जिसने अनाटकीयता के लांछन से इसे मुक्त करने का सफल प्रयत्न किया। मैं इस लिए कह रहा हूँ कि मिश्र जी ने भी अपना साहित्यिक जीवन वैयक्तिक उद्गीतियों के संग्रह—अन्तर्जगत्—से ही प्रारम्भ किया था जिसमें हृतंत्री के तार की झंकार ही अधिक प्रमुख थी।
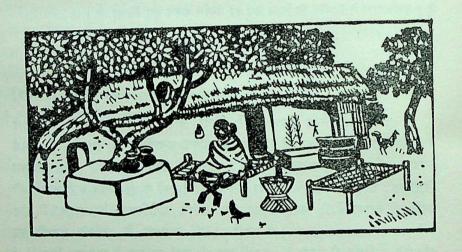
नाटककार उदयशंकर भट्ट

—डॉ० बि० ना० भट्ट

पं० उदयशंकर भट्ट की प्रतिभा और कला का प्रतिफलन कविता, नाटक, उपन्यास इत्यादि साहित्य कीअनेक विधाओं में हुआ, तथापि नाटककार के रूप में वे जितने प्रसिद्ध हैं, उतने उपन्यासकार अथवा कवि के रूप में नहीं। प्रारंभिक नाटकों में उनका मन पौराणिक या फिर ऐतिहासिक कथा-वस्तु में ही अधिक रमा है। इन दोनों ही क्षेत्रों के भीतर से उन्होंने जिन पात्रों का चयन किया है वे प्राय: परिस्थितियों से विक्षुब्ध ऐसे व्यक्ति हैं, जो जीवन के घात-प्रतिघात और विषण्णताओं का नैतिक समाधान लेकर हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। इन नाटकों में स्वर्णिम अतीत और वर्तमान इतिवृत्तात्मक यथार्थ का जो आकर्षक समन्वय हुआ है वह उसी युग की चेतना का परिणाम है जिसमें इन प्रारंभिक नाटकों का प्रथम प्रकाशन हुआ था। भट्टजी द्विवेदी-युग और छायावादी युग के प्रत्यक्ष साक्षी हैं और इसमें संदेह नहीं कि इनकी प्राथमिक रचनाएँ उन्हें द्विवेदी-युग से प्रेरणा प्राप्त साहित्यकार घोषित करता हैं। इन नाटकों में स्थूल सत्यों का उन्मेष अधिक किन्तु जीवन के सूक्ष्म सौन्दर्य की स्थापना कम है। पात्रों में कर्त्तव्य की प्रेरणा तो है किन्तु प्राणों की चेतना की कांति प्राय: धूमिल हो गयी है।

रीतिकालीन राग-रसिकता की प्रतिक्रिया-स्वरूप सुधारवादी युग अतीत के वैभव और व्यावहारिक आदर्श का पुजारी बन गया था। राष्ट्रीयता के साथ वीर-पूजा की भावना उद्दीप्त हो गयी थी; इसी कारण भट्टजी ने भी अपने नाटकों के लिए मध्यकालीन इतिहास को अपनाया। उनके ऐतिहासिक नाटक भारत के सामन्तयुगीन इतिहास पर आधारित हैं। किन्तु ऐतिहासिक गवेषणा द्वारा काव्योपयोगी मौलिक तथ्यों का उद्घाटन वे नहीं कर सके हैं। इसी कारण उनके ऐतिहासिक नाटकों में सामान्यवर्गीय पात्र तो मिलते हैं, किन्तु किसी पात्र के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र वैशिष्ट्य परिलक्षित नहीं होता। 'दाहर' का तो नामकरण ही नायक के नाम पर हुआ है परन्तु नायक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण यहाँ भी नहीं हो सका है। हो भी नहीं सकता था, क्योंकि सामन्तयुगीन स्वाभिमान जान पर खेल जाना तो जानता है, परन्तु मानवीय वृत्तियों के सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व से प्राय: मुक्त रहता है। उसमें आद्यन्त एक प्रकार की

ऋजुता रहती है; वैसा आन्तरिक संघर्ष नहीं, जिसकी नाट्य-कला में अपरिहार्य आवश्यकता है ।

तथापि क्या पौराणिक और क्या ऐतिहासिक नाटकों में भट्टजी को अतीत मात्र अतीत के लिए प्रिय नहीं है । अपने पात्रों को नूतन भावनाओं और वाणी से मुखर बनाकर लेखक ने उनकी विषमताओं में अतिशय आत्मीयता और आधुनिकता समाहित कर दी है । फलतः एक ओर तो पात्रों का स्वभावगत आभिजात्य अक्षुण्ण बना रहा है, दूसरी ओर वे पिछले युग की राष्ट्रीय और नैतिक चेतना के निकट भी आ गये हैं । उनके नाटक कथा-वस्तु में प्राचीन होते हुए भी अपनी अभिव्यक्ति में अर्वाचीन हैं । पौराणिक नाटक 'सगर-विजय' में दुर्दम की मनमानी, सत्यनिष्ठ नागरिकों को मृत्यु-दण्ड, प्रजा का विद्रोह, सगर का माता की प्रसन्नता के हेतु राष्ट्र-सेवा का व्रत लेना जैसी घटनाएँ, अथवा ऐतिहासिक नाटक 'दाहर' में वर्ण-भेद, प्रान्त-भेद इत्यादि से दृष्टिकोण की संकीर्णता, धर्मवाद की अकर्मण्यता, रूढ़िवाद की विवेक-शून्यता जैसे दुर्गुणों के परिणाम-स्वरूप पराधीनता का अभिशाप, या फिर 'शक विजय' में संघ-शासन का आदर्श, गण-तन्त्र की स्थापना, विदेशी न्यायप्रिय शासन से भी अन्यायपूर्ण स्वदेशी शासन की श्रेष्ठता, व्यक्ति की अपेक्षा देश के महत्त्व की घोषणा पिछले युग की राष्ट्रीय नैतिकता की ही पुकार है । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हेतु ऐसी ही विषमताओं से भारत ने निरन्तर संघर्ष किया है । किन्तु भट्टजी के इन नाटकों में नाट्य-तन्त्र की शिथिलता खटकती है । संस्कृत तथा अँग्रेज़ी नाट्य-कला की विशेषताओं के समन्वय का जो प्रयत्न उन्होंने किया है वह भी सफल नहीं हो सका है ।

'कमला' उनका उत्कृष्ट और 'अंतहीन अंत' सामान्य सामाजिक नाटक है, 'कमला' पर विचार करते समय 'विद्रोहिणी अंबा' को भी सम्मिलित कर लेना उचित होगा क्योंकि 'कमला' और 'अंबा' दोनों में सामाजिक विषमताओं से उद्भूत नारी-समस्या का तादात्मय है।

'कमला' का नायक देवनारायण सामन्तयुगीन नारी-विषयक मनोवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है । इस युग की नारी उपभोग की साधारण वस्तु मात्र है । देवनारायण भी नारी को जीवन के सामान्य उपकरण से अधिक और कुछ नहीं समझता । वृद्धावस्था में वह कमला से विवाह कर लेता है किन्तु देवनारायण और कमला के मानसिक धरातल में युगों का अंतराल है । फलतः वर्तमानयुगीन नारी-भावना का विगत युग की नारी-भावना से संघर्ष आरम्भ हो जाता है । कमला का सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना देवनारायण की दृष्टि से अनुपयुक्त है । इसी कारण वह उसे दुश्चरित्रा समझ कर उसके साथ अत्यन्त क्रूर व्यवहार करता है; जिसके परिणाम-स्वरूप नाटक दुःखान्त हो जाता है ।

'विद्रोहिणी अंबा' में भी पुरुष के प्रति नारी के चिर विद्रोह और प्रतिकार-वासना का व्याख्यापन है। यहाँ भी नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की समस्या उठा कर नाटककार ने वर्तमान-कालीन स्त्री-पुरुष संघर्ष और नारी-स्वातन्त्र्य-भावना का आरोप किया है। 'कमला' और 'अंबा' दोनों ही में पुरुष की अधिकार-लिप्सा के विरोध में नारीत्व चीत्कार उठा है। सामाजिक नाटक 'कमला' में नारी-समस्या यदि प्रत्यक्ष रूप में प्रदर्शित है तो पौराणिक भाव-नाट्य 'अंबा' में उसकी विवशता की चेतना प्रतीक-रूप में उभरी है। 'अंबा' में भीष्म, शान्तनु और शाल्व उसी चिरन्तन पुरुषत्व-दंभ के प्रतीक हैं जो नारी को पुरुष की उपभोग्या मात्र मानता है। इधर अंबा, अंबालिका अंबिका और सत्यवती उन प्रपीड़ित नारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो नारी को अधिकृत वस्तु समझे जाने का घोर विरोध करते हुए उसकी स्वतन्त्र सत्ता प्रतिपादित करना चाहती हैं। अंबिका की निम्नोक्त अभिव्यक्ति में तो उसका एक-एक शब्द अग्नि स्फुलिंग बन गया है:—

"यही तो समाज की मर्यादा है। असमर्थ रोगी पुरुष के विवाह के लिए एक नहीं तीन-तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो और क्या है? हमारे अधिकार किसने छीन लिए, समाज ने ही तो। मैं तो कहती हूँ हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं।"

पुरुष के प्रति आज की नारी का स्वर भी ऐसा ही तीखा है। नारी का पुरुष द्वारा शासिता रहना एक कटु सत्य है। इसका कारण चाहे आध्यात्मिक हो, चाहे मनोवैज्ञानिक, आर्थिक अथवा शारीरिक; किन्तु नारी की परावलम्बिता है एक ठोस सत्य। यह ठीक है कि नारी के रूप और यौवन की काई पर पुरुष फिसल जाता है, पर क्या नारी ने प्रायः इसी को अपना अस्त्र नहीं बनाया है? नारी जब तक अपने क्षेत्र में रह कर पुरुष से संघर्ष करती है वह अजेय है, अपराजिता है, परन्तु पुरुष के क्षेत्र में पदार्पण करके संघर्ष छेड़ते ही उसकी विजय संदिग्ध हो जाती है। भट्ट जी के भाव या गीति-नाट्यों में इसी सत्य की उपस्थापना हुई है। नारी का रूप-सौन्दर्य उसके लिए वरदान भी है और अभिशाप भी। इसी कारण अशिक्षिता मत्स्यगंधा ने च्युत-संस्कृति-दोष-युक्त भाषा में कहा है:—

"नारी के स्वरूप मुख-शोभा में छिपे हैं देव,
संख्याहीन अभिशाप, संख्याहीन यातना।"

'विश्वामित्र' में मेनका और उर्वशी के वार्तालाप में यह बात और भी स्पष्ट हो गयी है। उर्वशी जब नारीत्व की विडम्बना से आहत होकर कहती है:—

"नारी प्राण-विहीन चेतना से रहित
एक भावना पुञ्ज पराई आस है ।
जो साधन है जग में मानव-सौख्य को
सुख-हीना है स्वयं, अपर का सुख सदा ।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की
मदिरा जिसको स्वयं नशा होता नहीं ।"

तब मेनका यही प्रत्युत्तर देती है कि :—

"वह सत्ता है, कोमल जग के तत्व की
और कल्पना सहज विधाता-हृदय की ।
मानव के नैराश्य पुञ्ज में रूप की
ज्योति-शिखा है नारी नर की चाहना
यदि इस जग में रहे न बुद्धि विवेक तो
नारी कोमल हृदय-तन्तु की स्फूरणा ।

नारी के कृष्ण-पक्ष और शुक्ल-पक्ष के ज्वलन्त सत्य का यह उद्घोष सर्वथा संवर्धनीय और मौलिक है । नारी के प्रति इससे स्वस्थ जीवन-दर्शन और हो भी क्या सकता है ? नारी-समस्या को भट्ट जी ने अपनी अनेक कृतियों में उठाया है, परन्तु उसका समुचित समाधान वे यहीं कर सके हैं । विद्रोहिणी अंबा को भीष्म से प्रतिशोध लेने के लिए भी किसी पुरुष—परशुराम—की ही शरण लेनी पड़ती है; और परशु-राम के असफल होने पर जब दो जन्मों की अतिप्राकृतिक साधना के पश्चात् अंबा विजयिनी होती है तब स्वाभाविकता कितनी रह जाती है ?

भट्ट जी को सर्वाधिक सफलता 'मत्स्यगंधा' और 'विश्वामित्र' में मिली है । विश्वामित्र में नाटच-तन्त्र पर पूर्ण ध्यान रखा गया है, फिर भी सभी दृष्टियों से मत्स्य-गंधा का सौन्दर्य अक्षय है । हिन्दी नाट्य-साहित्य में भट्ट जी के गीति-नाट्यों का महत्व अतर्क्य है । उनके बड़े नाटकों में घटनाओं की उलझनें प्रायः वैरस्याधायक सिद्ध हुई हैं, किन्तु गीति-नाट्य में घटना और व्यापार का उतना महत्त्व नहीं होता जितना नाट-कीय शैली में अभिव्यक्त सहज भावोच्छलन का होता है । भट्ट जी के अन्तस् में उनका कवि और गीतकार जितना जागरूक है, उतना नाटककार नहीं । नाटक लिखने के पूर्व वे पर्याप्त कविताएँ लिख चुके थे, अत: उनके हृदय की काव्यमयी स्निग्धता को गीति-नाट्य में अनुकूल क्षेत्र मिला । इसी के साथ उनकी उस पुराण-प्रियता का संप्लवन हुआ जिसने आरंभ में उन्हें नाटक लिखने की प्रेरणा दी थी, फलतः 'विश्वामित्र' और

मत्स्यगंधा जैसे गीति-नाट्यों में उनकी कला अपने उत्कर्ष के चरम विन्दु पर पहुँच गयी है।

इन दोनों गीति-नाट्यों में मानव-हृदय का आलोड़न करने वाली भोग-वृत्ति, नैतिक-बुद्धि, और अहंकार के घात-प्रतिघात की निदर्शना बहुत-कुछ काव्योचित मनोविज्ञान पर आधृत है। वस्तुतः इन तीनों का सामंजस्य ही जीवन-साफल्य की कुञ्जी है। भट्ट जी ने नर के प्रबुद्ध अहंकार को विश्वामित्र के प्रतीक के रूप में खड़ा किया है। अपने तप-ऐश्वर्य से प्रमत्त होकर विश्वामित्र कहते हैं:—

"बुझ सकते रवि भृकुटि निपात से।
फट सकता ब्रह्मांड एक संकेत पा।"

यहाँ अहंकार ने भोग-वृत्ति और नैतिक बुद्धि को अभिभूत कर लिया है। किंतु मेनका के रूप और यौवन से टकरा कर उनका दंभ खंड-खंड होकर नारी के चरणों पर बिखर जाता है। सब कुछ भूल कर वह कह उठते हैं:—

"सब प्रपञ्च अध्यात्म एक तुम सत्य हो।
यह सौन्दर्य समग्र सृष्टि का मूल है।"

तथापि समाधि-भंग होने पर विश्वामित्र जैसे तपोनिष्ठ का बिना किसी तीव्र आंतरिक संघर्ष के साधना-च्युत होकर हृदय हार बैठना समझ में नहीं आता। इस स्थल पर अन्तर्द्वन्द्व का सम्यक् तनाव निश्चय ही उत्कर्षाधायक हो सकता था। यह ठीक है कि अपूर्णता में भी कला की सत्ता संभाव्य है, किन्तु औचित्य की उपेक्षा करके नहीं।

'मत्स्यगंधा' में आद्यन्त नारी-मनोवृत्ति अतीव कोमलता से अनुस्यूत है। 'विश्वामित्र' और 'मत्स्यगंधा' की कथा-वस्तु में थोड़ा-बहुत साम्य होने के कारण दोनों की नारी-भावना का सम्मिलित रूप नाटककार के तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण को पर्याप्त स्पष्ट कर देता है। 'विश्वामित्र' में मेनका कहती है:—

"सौन्दर्य और रूप हमारे अस्त्र हैं,
जिसके वश त्रैलोक्य नाचता है सखी
यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा
नाच नचाऊँ जड़ पुतली कर काम की।"

और अनंग से परिचय होने पर जब मत्स्यगंधा को अक्षय यौवन का वरदान प्राप्त होता है तब भी मानो नारी-हृदय की यही चिरन्तन ऐषणा निरावरण होकर

मूर्तिमान हो उठती है। यौवन के उद्दाम आवेग से मत्स्यगंधा के हृदय में भी शत सहस्र अभिलाषाएँ करवटें लेने लगती हैं। उसके हृदय-मंथन की यह अभिव्यक्ति गीति-तत्त्व की विभूति से समृद्ध है :—

> "कौन उठता है कौन सोता मेरे पास छिप
> जान सकना कठिन ! किन्तु देखती यही कि कोई
> राग-सा बजाने मेरे प्राणों की बीन पर
> चल-चल आता है।"

किन्तु प्यास अतृप्त है ! लहर-सी मुक्त केवट की यह बेटी अपने अभाव के कारण ही अपने आपको धरा-धाम पर उल्कापात समझती है। अनंग-प्रदत्त अक्षय यौवन के वरदान की प्रथम अस्वीकृति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भोग-वृत्ति का दमन है। यह दमित भावना उसके हृदय को और भी आलोड़ित कर देती है। अनंग का वरदान भी क्या किसी की इच्छा का मुखापेक्षी होता है ?

पराशर और मत्स्यगंधा के मिलन में काम के आवेग और यौवन के चाञ्चल्य का समवेत चरम विन्दु अपने विकास क्रम में एकान्ततः मनोवैज्ञानिक है—श्लाघ्य है। और नारी जिस रूप तथा यौवन को इतना काम्य एवँ वरेण्य समझती है, पुरुष के अभाव (वैधव्य) में उसी का हाहाकार कितना उत्कट है यह महारानी सत्यवती बनी हुई मत्स्यगंधा के इन शब्दों में मुखर है :—

> "घूमता शरीर यन्त्र, घूमते नगर धाम
> घूमता है नील नभ, जगत अलात-सा"

निःसंदेह अपनी रंगोज्ज्वलता के कारण 'मत्स्यगंधा' हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

'राधा' भट्ट जी का नवीनतम गीति-नाट्य है। किन्तु जिन गीति-तत्त्वों के माधुर्य-ऐश्वर्य से 'मत्स्यगंधा' का सौन्दर्य समृद्ध बना है उन्हीं के अभाव से 'राधा' भी हीन है। गीति-काव्य के समान गीति-नाट्य भी विचार, चिन्तन, अथवा दार्शनिक ऊहा-पोह के लिए उपयुक्त क्षेत्र नहीं है। इस गीति-नाट्य के राधा-कृष्ण परंपरागत राधा-कृष्ण से भिन्न हैं, राधा इसी भू-लोक की विवाहिता युवती है जो कृष्ण से प्रेम करने लगती है और कृष्ण कर्म-योग, ज्ञान-योग इत्यादि का विस्तृत व्याख्यान करने वाले— धर्म-संस्थापन के सुनिश्चय से अवतरित महाभारत के योगेश्वर कृष्ण हैं, प्रणय-रीति में चतुर भागवत के गोपीवल्लभ नहीं। फलतः यहाँ प्रेम और वासना के संघर्ष में वह अन्तश्चमत्कार नहीं मिलता जो गीति-नाट्य का मेरुदंड है।

रूपक के इन विविध प्रकारों के अतिरिक्त भट्ट जी ने अनेक एकांकियों की भी रचना की है। यत्र-तत्र त्रुटियाँ तो इनमें भी हैं, तथापि बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकियों में उन्हें कहीं अधिक सफलता मिली है। 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह' जैसी रचनाएँ यदि धूमिल अतीत में क्लृप्ति-किरण सहायता से प्रवेश करके मानव सभ्यता के प्रारंभिक सोपानों पर प्रकाश डालती हैं, तो 'सेठ लाभचन्द,' 'नेता', वर-निर्वाचन, उन्नीस सौ पैंतीस, जैसे एकांकियों में वर्तमान सामाजिक जीवन के सजीव चित्र अंकित हुए हैं। आज के मध्यम-वर्गीय और उच्च-वर्गीय सामाजिक जीवन में अहंमन्यता के आवरण के नीचे छिपी दुर्बलताएँ उनकी सन्तुलित तूलिका से खूब उभरी हैं। इसी कारण उनके एकांकी हृदय को निकटता से स्पर्श करते हैं। कुछ एकांकी तो ऐसे हैं जिनमें स्वयं भट्ट जी के ही जीवन में घटित कतिपय घटनाओं का सच्चाई के साथ चित्रण हुआ है। कहीं-कहीं तो घटनाओं से सम्बन्धित अपने परिवार के लोगों के नाम भी उन्होंने ज्यों के त्यों रहने दिये हैं। 'बड़े आदमी की मृत्यु' भी ऐसा ही नाटक है जिसके प्रकाशन से उनके जाति भाइयों में हलचल मच गयी थी। वस्तुतः व्यंग्यात्मक चुभन का यही निक्षेप उनकी एकांकी-कला का केन्द्र-विन्दु है। रेडियो से प्रसारित उनके ध्वनि-रूपक भी पर्याप्त लोकप्रिय हुए हैं। हिन्दी के सतृष पाठकों को भट्ट जी से अभी अनेक आशाएँ हैं।
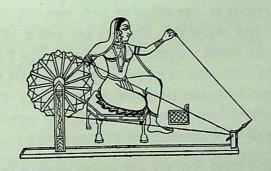
नाटककार हरिकृष्ण 'प्रेमी'

—श्री सुरेशचन्द्र गुप्त

आधुनिक युग में भारतीय इतिहास की पूर्ण अथवा आंशिक रूप से उपेक्षित विविध घटनाओं को नाटक-साहित्य के माध्यम से जन-प्रेरणार्थ उपस्थित करने वाले साहित्यकारों में श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने नाटककार के अतिरिक्त कवि के रूप में भी अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। इस दिशा में उनकी 'रूप-दर्शन', 'वन्दना के बोल' तथा 'आँखों में' शीर्षक काव्य-रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नाटक के क्षेत्र में उनकी 'रक्षा-बन्धन', 'आहुति', 'स्वप्न-भंग', 'उद्धार', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'बन्धन' 'मित्र', 'पाताल-विजय', 'छाया', 'विषपान', 'एवं शपथ' आदि अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से उन्होंने ऐतिहासिक, सामाजिक और पौराणिक कथाओं से सम्बद्ध नाटकों की रचना की है। इनके अतिरिक्त उन्होंने नाट्य-शिल्प की ओर प्रमुख रूप से ध्यान देते हुए एक ओर तो 'स्वर्ण-विहान' नाम्नी पद्य-नाटिका की रचना की है और दूसरी ओर 'मन्दिर' तथा 'बादलों के पार' शीर्षक एकांकी-नाटक-संग्रह उपस्थित किये हैं।

'प्रेमी' जी ने नाटक-रचना को अपने साहित्य का मुख्य अंग बनाया है और नाट्य-रचना के सिद्धान्तों का गहन अध्ययन कर अपनी रचना-नीति को प्रौढ़ रूप में स्थिर किया है। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में लोकप्रियता प्राप्त करने के अतिरिक्त उनके नाटक इतर भारतीय भाषाओं में अनुवादित होकर भी प्रसारित हुए हैं। इस दृष्टि से उनके 'रक्षा-बन्धन' शीर्षक नाटक का गुजराती में अनुवाद हुआ है और काका कालेलकर ने इस अनुवाद के लिए श्रेष्ठ परिचयात्मक भूमिका लिखी है। इसी नाटक को श्री मणिराम 'दीवाना' ने उर्दू में अनूवादित किया है। इसी प्रकार उनके 'छाया' शीर्षक नाटक का भी उर्दू में 'पतवार' के नाम से रूपान्तर हुआ है।

'प्रेमी' जी के नाटकों को अभिनय एवम् मूल्यांकन की दृष्टि से विविध साहित्य-संस्थाओं की ओर से भी विशेष समर्थन प्राप्त हुआ है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा उनके 'रक्षा-बन्धन' एवम् 'स्वप्न-भंग' शीर्षक नाटकों पर क्रमशः प्रदत्त किए गए 'मानसिंह-पुरस्कार' तथा 'रत्नकुमारी-पुरस्कार' इसके प्रतीक हैं। उनके 'विष-पान' शीर्षक नाटक को भी 'बंगाल हिन्दी-मंडल' ने पुरस्कृत किया है। उन्होंने

अपने नाटकों की अत्यन्त मनोयोगपूर्वक रचना की है और अध्ययन तथा अभिनय-दर्शन दोनों ही की स्थिति में वे पाठक को अनिवार्यतः प्रभावित करते हैं। हिन्दी में संक्षिप्त और भावपूर्ण नाटकों की रचना करने वाले नाटककारों में वह अग्रगण्य हैं और रंगमंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने किसी भी नाटक का व्यर्थ विस्तार नहीं किया है। इतना होने पर भी अभी हिन्दी में उनके नाटकों की विशद समीक्षा नहीं हुई है और उनकी नाट्य-कला के विषय में केवल कतिपय लेख एवम् आलोचना-ग्रन्थों में प्रासंगिक उक्तियाँ ही उपलब्ध होती हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम उनके नाटकों में उपलब्ध होने वाली विविध विशेषताओं का क्रमशः विश्लेषण करेंगे।

नाट्य-सिद्धान्त

किसी भी साहित्यकार के साहित्य को हृदयंगम करने के लिए उसके साहित्य-विषयक विचारों का अध्ययन विशेष सहायक होता है। उस दृष्टि से 'प्रेमी' जी के साहित्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उनके नाटकों के प्रारम्भिक वक्तव्यों में प्रायः नाटक के विषय में विविध उक्तियाँ उपस्थित की गई हैं। नाटक के अतिरिक्त उन्होंने साहित्य के सामान्य स्वरूप की चर्चा भी की है, किन्तु इस प्रकार के वक्तव्यों का अध्ययन भी नाटक की आधार-भूमि पर ही करना समीचीन होगा। यद्यपि यह सत्य है कि नाट्य-रचना के विषय में उन्होंने स्वतन्त्र मौलिक लेखों की रचना नहीं की है, तथापि उनके नाटकों में उपलब्ध होने वाले पूर्व-कथनों से हमें उनके नाटक-सम्बन्धी विचारों के पर्याप्त संकेत उपलब्ध हो जाते हैं। उनके नाट्य-सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त करने के लिए एक अन्य स्रोत उनके नाटकों का अध्ययन भी हो सकता है। इस दृष्टि से हम उनके नाटकों की विविध विशेषताओं के आधार पर उनके नाट्य-सिद्धान्तों की परिकल्पना भी कर सकते हैं।

'प्रेमी' जी नाटकों में यथार्थवाद को संयत रूप में उपस्थित करने के समर्थक हैं। उन्होंने साहित्य में लोक-हित के समावेश को अनिवार्य मानते हुए कुप्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाले पात्रों के उल्लेख को सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकर माना है। भारत की प्राचीन संस्कृति को नियमित करने वाले विविध आदर्श गुणों को साहित्य में समाविष्ट कर उनके माध्यम से पाठकों को वर्तमान युग के विग्रहात्मक जीवन से विकर्षित कर पुनः सांस्कृतिक विभूति की ओर ले जाना वह साहित्य का प्रमुख उद्देश्य मानते हैं। इस दिशा में उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टि से समाज के अभावग्रस्त प्राणियों के जीवन में उपलब्ध होने वाली विविध कुप्रवृत्तियों के विषय में उन्होंने अपने गहन अध्ययन का स्पष्ट परिचय दिया है। उनके

जीवन की विवशताओं का चित्रण करते हुए उन्होंने उनके दोषों के लिए भी समाज के उच्च वर्ग को ही दोषी ठहराया है। यह वर्तमान भौतिकताबादी युग का एक एकान्त सत्य है । 'प्रेमी' जी ने इसका प्रतिपादन कर अपनी सूक्ष्म और गहन अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है । 'बन्धन' में हमें मूलतः उनकी यही बिचारधारा पोषित होती हुई मिलती है ।

'प्रेमी' जी ने साहित्य में राष्ट्रीयता के समावेश की आवश्यकता का भी उपयुक्त प्रतिपादन किया है । उन्होंने अपनी नाट्य-भूमिकाओं में स्थान-स्थान पर इस प्रकार के संकेत उपस्थित किए हैं कि उनके नाटक देश की सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार प्रणीत हुए हैं ।इतना होने पर भी उनके नाटकों पर एकांततः सामयिक होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता । इस विषय में उनकी स्थिति प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द जी से पर्याप्त भिन्न है। जहाँ प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्राप्त होने वाली विविध समस्याओं में से अधिकांश का आज पूर्ण अथवा अर्ध-विलोप हो गया है वहाँ 'प्रेमी'जी के नाटकों में उपलब्ध होने वाली सामाजिक समस्याएँ प्रायः शाश्वत हैं। यद्यपि उनमें से कुछ को स्थिति आधुनिक भौतिकवादी युग के स्वरूप पर आधृत है और भौतिक जीवन-दृष्टि के परिवर्तन के साथ-साथ उनकी उपयोगिता में भी अन्तर आना सम्भाव्य है, तथापि नाटक और उपन्यास के तात्त्विक भेद के कारण 'प्रेमी' जी के नाटकों में सामयिकता की स्थिति अधिक नहीं उभर पाई है ।

कथानक

'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में कथा-तत्त्व को अत्यन्त सहज और प्रभावोत्पादक रूप में उपस्थित किया है । उनके नाटकों का सम्बन्ध अधिकतर इतिहास से रहा है । अतः उनके नाटकों की कथावस्तु की समीक्षा करते समय सहसा यह प्रश्न उठता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में इतिहास का किस सीमा तक निर्वाह किया है । इस विषय में अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं में कल्पना की मधुरता को मिश्रित कर अपने नाटकीय कथानकों को इतिहास की शुष्कता से दूर रखने का यथासम्भव प्रयास किया है। रस-सृष्टि और किसी विशिष्ट पात्र के व्यक्तित्व के उन्नयन के लिए उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों में कल्पित पात्रों एवं घटनाओं की योजना की है । उनका मत है कि ऐतिहासिक नाटकों में कल्पना के मिश्रण द्वारा कथा को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए नाटककार को सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए । उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित वक्तव्य देखिए :—

"नाटकों में इतिहास की अक्षरशः रक्षा करना कठिन कार्य होता है.......

नाटकों में दो-एक पात्रों का चरित्र सर्वथा काल्पनिक भी हो सकता है।"

—(शिवा-साधना, अपनी बात, पृष्ठ ८ तथा १०)

'प्रेमी' जी के नाटकों में आदर्शवाद को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। युग के नैतिकतामय जीवन का चित्रण उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है। उनके प्रत्येक नाटक में आदर्शवाद के स्वर प्रमुख रहे हैं और प्रायः उनके किसी न किसी पात्र ने घटनाओं को आदर्श-प्रेरित रखने में मुख्य योग प्रदान किया है। इस आदर्शवादिता की योजना के लिए उन्होंने मनोविज्ञान और आचार-शास्त्र का व्यापक आधार लिया है। उनके नाटकों के कथानकों में साधारणीकरण के गुण की भी उपयुक्त व्याप्ति हुई है। अतः उनका अध्ययन करने पर अध्येता का चित्र स्वभावतः आदर्श-ग्रहण की प्रेरणा का अनुभव करने लगता है। अपनी आदर्शवादी मनोवृत्ति के कारण ही उन्होंने आधुनिक युग में समाज-साम्य की स्थापना करने से सम्बन्धित विविध विचार-प्रणालियों को ग्रहण करने पर भी अतीत काल के भारतवर्ष की उपलब्धियों की उपेक्षा न करने का सन्देश दिया है। वह आधुनिक युग में भौतिकता के प्राधान्य के कारण उभरने वाली समस्याओं के निदान के लिए प्राचीन आदर्शों से सहयोग लेने का परामर्श देते हैं। यथा :—

"हमें जहाँ अपने देश की वर्तमान समस्या पर विचार करना चाहिए वहीं अपने अतीत में वर्तमान समस्याओं के कारण खोजने चाहिएँ; वहीं से हमें उनका निदान भी प्राप्त होगा।"

—(प्रकाश-स्तम्भ, संकेत, पृष्ठ ख)

'प्रेमी' जी के नाटकों की कथा-वस्तु सर्वत्र संक्षिप्त रही है और उन्होंने उसका अनावश्यक विस्तार करने की प्रवृत्ति का कहीं भी परिचय नहीं दिया है। उनका प्रत्येक नाटक एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चला है और सामान्यतः यह उद्देश्य भारतीय जनता के स्वातन्त्र्य-प्रेम को अभिव्यक्त कर पाठकों को देश-प्रेम की ओर प्रवृत्त करना रहा है। देश-प्रेम की यह चेतना उनके सभी नाटकों में समान रूप से व्याप्त रही है और पात्रों के संवादों में अभिव्यक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त उन्होंने इसे अपने नाटकों के अधिकांश गीतों में भी स्थान दिया है।

'प्रेमी' जी ने अपने अधिकांश नाटकों की रचना उस समय की थी जब भारतवर्ष विदेशी शासन के बन्धन में आबद्ध था। ऐसे समय राष्ट्र-निर्माण में सहयोग देने वाले सभी साहित्यकार अपनी-अपनी रचनाओं द्वारा जनता की चेतना को स्वान्त्र्य-पूरित करने में प्रयत्नशील थे। तत्कालीन साहित्य का अध्ययन करने पर हमें सर्व श्री प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि सभी राष्ट्रीय साहित्य की

रचना करने वाले लेखकों में यही प्रवृत्ति उपलब्ध होती है। 'प्रेमी' जी ने भी इस पर यथोचित ध्यान दिया है। उनके नाटकों में गान्धीवादी विचारधारा मूर्त रूप में उपलब्ध होती है। उनका 'यह मेरी जन्म-भूमि है' शीर्षक एकांकी नाटक पाठकों के अन्तस् में राष्ट्र-प्रेम की ज्योति जागृत करने का सफलतम प्रयास है। सम्भवतः हिन्दी में राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत ऐसा कोई अन्य एकांकी नाटक अभी तक नहीं लिखा गया है। जनता के हृदय में राष्ट्र-प्रेम की सात्विक उद्भावना के लिए 'प्रेमी' ने परतन्त्रता के विनाश के अतिरिक्त अपने नाटकों में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की आवश्यकता पर भी व्यापक प्रकाश डाला है। इस दृष्टि से उनके 'रक्षा-बन्धन', 'स्वप्न-भंग' 'शिवा-साधना' शीर्षक नाटक विशेष रूप से पठनीय हैं।

उनके देश-प्रेम-सम्बन्धी नाटकों में स्वतन्त्रता-प्रेमी सैनिकों, वीर माताओं, वीर पत्नियों एवं वीरता की प्रेरणा प्रदान करने वाले अनेक सूक्ष्म तथा स्थूल उपकरणों को स्थान प्राप्त हुआ है। उनके कृतित्व का आधुनिक नाट्य-साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम समष्टि-रूप में यह कह सकते हैं कि आधुनिक युग में नाटकों के माध्यम से राष्ट्रीय विचार-धारा को उपस्थित करने वाले साहित्यकारों में उनका उत्कृष्ट स्थान है।

'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में मुख्य रूप से भारतवर्ष पर मुग़ल सत्ता के प्रसार के समय की राजपूत नरेशों की स्थिति के चित्रण की ओर ध्यान दिया है। अतः देश-प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए उनके समक्ष राजपूताना के इतिहास से ही प्रेरणा ग्रहण करने की सुविधा थी। उन्होंने पारस्परिक विद्वेष में उलझे हुए राजपूत-नरेशों की राजनैतिक दुरभिसन्धियों का चित्रण करते हुए उन्हें प्रत्येक नाटक में उनसे विमुक्त रहने का संदेश दिलाया है। राजपूत-युग से सम्बंधित इन सभी ऐतिहासिक नाटकों में प्रायः राजपूत-नरेशों अथवा उस समय के प्रमुख राजपूत-राजनीतिज्ञों के क्षुद्र स्वार्थों एवं उनके व्यर्थ के व्यक्तिगत तथा जातिगत अभिमान की निन्दा की गई है। इस युग में प्रायः देश-हित की अपेक्षा व्यक्ति-हित तथा वंश-कल्याण की ओर ही अधिक ध्यान देने वाले राज्य-सत्ता के अधिकारियों का प्राधान्य था। ऐसी स्थिति में आदर्शवादी चिन्ता-धारा से प्रभावित होने के कारण 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में कुछ देश-प्रेमी व्यक्तियों द्वारा निस्वार्थ भाव से देश की ओर ध्यान देने का भी वर्णन किया है। 'विषपान' में चूड़ावत और शक्तावत सरदारों के पारस्परिक विद्वेष का चित्रण कर उन्हें समय-समय पर उद्बोधन प्रदान कर उन्होंने इसी प्रवृति का परिचय दिया है। 'शपथ' में विष्णुवर्धन के नेतृत्व में मालव को स्वतन्त्र गणराज्य की दिशा में विकास-लाभ करते हुए दिखाकर भी उन्होंने इसी उद्देश्य की अभिव्यक्ति की है।

'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में राजाओं और सामन्तों की अनिश्चित मनोवृत्ति का सफल चित्रण किया है। भारतीय नरेशों ने स्वार्थ-प्रेरित होकर अपनी व्यक्तिगत उन्नति की कामना से समय-समय पर विदेशी शक्तियों से सहायता लेकर जिस प्रकार देश की अखंडता को हानि पहुँचाई है उसके लिए उन्होंने अपने किसी न किसी पात्र द्वारा उनकी तीव्र भर्त्सना कराई है। इस प्रकार की विदेशी शक्तियाँ भी अपने विशिष्ट स्वार्थों के कारण ही राजपूतों को सहयोग प्रदान करती थीं। 'विष-पान' में अमीर खाँ के निहित स्वार्थों का चित्रण इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। यथा :—

"अमीर—मैं राजपूतों के अभिमान को कुचलना चाहता हूँ। इस समय राजस्थान के प्रत्येक राज्य में गृह-युद्ध जारी है। सरदारों ने अपने-अपने दल बना रखे हैं, प्रत्येक दल ने गद्दी का अपना-अपना हकदार बना रखा है। षड्यन्त्र और अत्याचारों का बाज़ार गरम है। मैं गृह-युद्ध की ज्वाला को और अधिक भड़काकर राजस्थान को निष्प्राण बना देना चाहता हूँ। सम्पूर्ण राजस्थान में अमीर खाँ की तूती बोलेगी।"

—(पृष्ठ-संख्या, ४८-४६)

'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों की कथावस्तु में सम्बन्धित ऐतिहासिक युग की राजनीतिक स्थिति का चित्रण करने के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए विविध सामाजिक कुरीतियों और दोषों की विवेचना कर अपने चिन्तन की गहनता का भी उपयुक्त परिचय दिया है। उन्होंने अपने नाटकों में विविध सामाजिक प्रथाओं को यथास्थान अभिव्यक्ति दी है। 'विष-पान' में राजपूतों द्वारा अनेक स्थानों पर अमल-पान का वर्णन कर उन्होंने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उन्होंने अपने नाटकों में राजस्थान के तत्कालीन राज-प्रासादों में नारी-जीवन की विवशताओं की ओर भी मार्मिक संकेत किए हैं। उस समय के राजाओं एवं सामन्तों की विलास-स्थिति का चित्रण करना भी उन्हें अभीष्ट रहा है, किन्तु उनके नाटकों में इसकी अधिक व्याप्ति नहीं हुई है। 'विष-पान' में जवानदास दासी-पुत्र होने के कारण मेवाड़ के महाराणा के धा-भाई होने पर भी उचित सम्मान प्राप्त नहीं कर पाते-इस समस्या को उपस्थित कर उन्होंने जवानदास को देश के प्रति अनुत्तर-दायित्वपूर्ण कार्य करने के लिए उद्यत दिखा कर इस प्रकार की विलास-स्थिति के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है।

आधुनिक सामाजिक दृष्टिकोण से परिचालित होने के कारण 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में सामाजिक समानता की आवश्यकता का भी चित्रण किया

है। इस दृष्टि से 'विष-पान' में महाराज जगतसिंह द्वारा वेश्या-विवाह का समर्थन करा कर एवम् राजकुमारी कृष्णा का धीवर से वार्तालाप करा कर उन्होंने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उनके नाटकों में राष्ट्र-चिन्तन के पश्चात् समाज-कल्याण से सम्बन्धित तत्वों के चिन्तन को ही मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त उन्होंने कहीं-कहीं अध्यात्म-चिन्तन को भी विकसित होते हुए दिखाया है। चिन्तन के अतिरिक्त अनुभूति-ग्रहण की प्रवृत्ति भी उनके नाटकों की उत्कृष्ट निधि है। इस अनुभूति का सम्बन्ध स्पष्टतः समाज-दर्शन से रहा है। उनके नाटक निश्चय ही उनकी अनुभूति की ही देन हैं। अनुभूतियों से समृद्ध होने के कारण ही वे इतने हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं। 'प्रेमी' जी का व्यक्तित्व वेदना-भार से युक्त रहा है जिसका प्रभाव-उनके नाटकों पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अपने 'छाया' शीर्षक नाटक में उन्होंने कवि प्रकाश के माध्यम से अपने साहित्यिक जीवन के वेदना-पूर्ण अनुभवों की ओर ही संकेत किया है। 'शिवा-साधना' के 'अपनी बात' शीर्षक प्रारम्भिक वक्तव्य में भी उन्होंने अपने जीवन की व्यथा को करुण अभिव्यक्ति दी है। अतः यह स्पष्ट है कि उनका साहित्य कल्पना-प्रेरित न होकर अनुभवों से पुष्ट है। उनके अनुभवों की गहनता का सामान्य बोध निम्न-लिखित सूक्तियों से हो जाता है :—

(अ) "वीर पुरुष सुख का साथी चाहे न हो लेकिन दुःख का अवश्य होता है।"

—(विष-पान, पृष्ठ-संख्या ६८)

(आ) "हमें सारे संसार के सामने आवरण-हीन हो कर रहना चाहिए। तभी हमें सच्ची शान्ति मिलेगी।"

—(बादलों के पार, पृष्ठ-संख्या १३)

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'प्रेमी' जी के नाटकों में वैविध्य की स्थिति सर्वत्र वर्तमान रही है। उन्होंने आधिकारिक कथावस्तु के अतिरिक्त अपने नाटकों में प्रासंगिक कथानकों का भी सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। उनका आकांक्ष्य सर्वत्र देश-प्रेम की अनुभूति को स्पष्ट करना ही रहा है और उनके नाटकों के कथानक निश्चय ही पाठकों को देश-भक्ति की सजीव प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में तो यह तथ्य सत्य है ही; अपने सामाजिक नाटकों में भी उन्होंने समाज-कल्याण की इच्छा से सामाजिक गतिरोधों को समाप्त करने के उद्देश्य से जिन घटनाओं का विकास किया है वे उनके राष्ट्र-प्रेम की ही प्रतीक हैं।

चरित्र-चित्रण

नाटक के भाव-सौन्दर्य को गति प्रदान करने की दृष्टि से उसमें चरित्र-चित्रण

का अपना विशिष्ट महत्व होता है। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक में चरित्र-चित्रण की ओर अपेक्षा-कृत अधिक ध्यान दिया जाता है। 'प्रेमी' जी ने इस तथ्य की ओर उपयुक्त ध्यान देते हुए अपने नाटकों में उत्कृष्ट चरित्र-योजना की है। उनके नाटकों में शैशव से वृद्धावस्था तक के विभिन्न आयु के पुरुष तथा नारी पात्रों एवं विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्रों का उपस्थापन हुआ है। वयस्क पात्रों की भाँति किशोर वय के पात्रों का चित्रण भी उन्होंने कुशलता के साथ किया है। इस दृष्टि से 'स्वप्न-भंग' में उपलब्ध होने वाला बालिका वीणा का चरित्र तथा 'छाया' शीर्षक नाटक में कबि प्रकाश की पुत्री स्नेह का चरित्र विशेष रूप से दृष्टव्य हैं।

'प्रेमी' जी के नाटकों में उपलब्ध होने वाले पुरुष-पात्रों को विविध वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से उनकी कृतियों में निम्नलिखित चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करने वाले पुरुष-चरित्र उपलब्ध होते हैं :—

(१) राजनीतिक कुचक्रों के संघर्षशील स्वरूप से विरक्त होकर जीवन में माधुर्य का संचार करने के आकांक्षी राज-पुरुष—इस दृष्टिसे 'स्वप्न-भंग' में दारा और 'विष-पान' में मेवाड़ के महाराणा के चरित्र विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

(२) राजनीतिक षड्यन्त्रों की योजना करने अथवा उनमें भाग लेने वाले राज-पुरुष तथा इसी प्रकार के अन्य राजकीय व्यक्ति—'शपथ' में मालवराज धन्यविष्णु और 'विष-पान' में मेवाड़ के चूड़ावत सरदार अजीतसिंह एवं महाराणा के धा-भाई जवानदास के चरित्र इसी प्रकार के हैं।

(३) देश-रक्षा के लिए सन्नद्ध एवं शस्त्र-संचालन में कुशल उत्साही वीर युवक—इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'शपथ' में विष्णुवर्धन एवम् उनके सहयोगियों (वत्स भट, जयदेव एवम् धर्मदास) द्वारा उपस्थित किया गया है।

(४) प्रेम की मधुर कल्पनाओं में लीन अथवा प्रेम की सजीव प्रतिकृति लगने वाले युवक-पात्र—'प्रेमी' जी के नाटकों में प्रेम के शुद्ध स्वरूप का व्यापक कथन हुआ है। इस दृष्टि से 'शपथ' में विष्णुवर्धन और सुहासिनी के प्रेम, 'विष-पान' में महाराज जगतसिंह के वेश्या-पुत्री केसर बाई से प्रेम तथा 'बादलों के पार' शीर्षक एकांकी-संग्रह के 'निष्ठुर न्याय' शीर्षक एकांकी में राजकुमार अजयसिंह के भीलराज की पुत्री श्यामा के प्रति प्रेम का वर्णन उल्लेख के योग्य है। इसके अतिरिक्त उनके अन्य नाटकों में भी सात्विक प्रेम का

उत्कृष्ट निदर्शन उपस्थित करने वाले पुरुष-पात्रों का प्रायः समावेश हुआ है ।

(५) समाज के आर्थिक वैषम्य से पीड़ित मानवतावादी श्रमिक-वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति—'प्रेमी' जी ने भारत के राजपूत-युग एवं मुग़ल-युग के इतिहास से इस प्रकार की स्थिति को व्यक्त करने वाले पात्रों को ग्रहण करने के अतिरिक्त आधुनिक युग में पूँजीवाद की अतिशयता से पीड़ित मज़दूरों का भी चित्रण किया है । इस दृष्टि से राजपूत-संस्कृति का चित्रण करने वाले 'विष-पान' नाटक में धीवर युवक कलुआ, मुग़ल संस्कृति को उपस्थित करने वाले 'स्वप्न-भंग' नाटक में वृद्ध श्रमिक प्रकाश एवं आधुनिक युग की श्रमिक-वर्ग की स्थिति का निरुपण करने वाले 'बन्धन' नाटक के सभी श्रमिक पात्र इसके प्रतीक हैं ।

पुरुष-पात्रों की भाँति 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में स्त्री-पात्रों को भी विविध रूपों में उपस्थित किया है । इस दृष्टि से उनके नारी चरित्रों को निम्नलिखित रीति से विभाजित किया जा सकता है :—

(१) राज-नियन्त्रण से त्रस्त होकर राजकीय जीवन से विरत होने की इच्छा रखने वाली राजमहलों की नारियाँ–'विष-पान' में मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णा 'प्रेमी' जी के इस प्रकार के नारी-पात्रों का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधित्व करती है ।

(२) राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने वाली रमणियाँ—इस वर्ग को दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम उपवर्ग में राजनीति के उचित पक्ष का निर्वाह करने वाली 'जहांनारी' (स्वप्न-भंग), 'सुहासिनी' (शपथ), 'मन्दाकिनी' (शपथ), एवं 'उमा' (शपथ) के नाम उल्लेखनीय हैं । उनके विविध नाटकों में उपलब्ध होने वाले चारणी-विषयक प्रकरण भी इसी उपवर्ग के अन्तर्गत रखे जायेंगे । द्वितीय उपवर्ग में राजनीतिक दुरभि-सन्धियों में भाग लेने वाली नारियों को रखा जा सकता है । 'स्वप्न-भंग नाटक में उनकी योजना में सिद्धहस्त रोशनआरा को हस प्रकार की नारियों का प्रतिनिधित्व करने वाली कह सकते हैं ।

(३) यौवनागम होने पर हृदय में स्वभावतः संचरित होने वाले प्रेम की अनुभूति में लीन नारियाँ—'शपथ' में सुहासिनी एवम् मन्दाकिनी, 'बन्धन' में मालती एवं 'प्रेम अन्धा है' शीर्षक एकांकी में वासन्ती इसी प्रकार की नारियाँ हैं । 'घर या होटल' शीर्षक एकांको में उन्होंने सुरेन्द्र की पत्नी कला के चरित्र के माध्यम से आधुनिक युग के ध्वस्त नारी-प्रेम (पति के जीवित होते

परपुरुष में अनुरक्ति) का भी वर्णन किया है। विवाह के पूर्व एवम् पश्चात् नारी के प्रेम की क्रमशः जो आवेगमयी तथा सात्विक स्थिति होती है उसका भी उन्होंने उपयुक्त चित्रण किया है।

(४) विवाह से पूर्व प्रेमानुभूति से अपरिचित, ललित कलाओं में भाग लेने वाली कन्याएँ-इस दृष्टि से 'स्वप्न-भंग' में बालिका वीणा द्वारा प्रदर्शित संगीत-प्रेम एवम् 'विष-पान' में उपलब्ध होने वाला राजकुमारी कृष्णा का संगीत एवं चित्रकारिता के प्रति अनुराग उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'प्रेमी' जी ने अपनी नाट्य-रचनाओं में पात्र-योजना की ओर विशेष ध्यान दिया है। सामन्तीय संस्कृति से परिपुष्ट प्राचीन जीवन-दर्शन और वर्त्तमान भौतिक संघर्षों से परिचालित जीवन-धारा को उन्होंने अपने पात्रों में पूर्ण रूप से साकार कर दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि आदर्शोन्मुख नाटकों की रचना करने के कारण उन्होंने केवल कुछ कुटिल प्रकृति के व्यक्तियों के अतिरिक्त अपने अधिकांश पात्रों को भी आदर्श-प्रेमी रखने पर बल दिया, तथापि इस विषय में अतिवादिता का परिचय उन्होंने कहीं भी नहीं दिया है। उनके पात्र विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होने पर भी अतिमानवीयता से युक्त नहीं होने पाए हैं। उनके 'प्रकाश-स्तम्भ' शीर्षक नाटक में बाप्पा रावल का चरित्र इसी कथन का प्रमाण है—लेखक ने उनके विषय में राजस्थान में प्रसिद्ध विविध किम्वदन्तियों से परिचित होने पर भी उन्हें अतिमानव के रूप में उपस्थित नहीं किया है।

संवाद-योजना

नाटक में चरित्र-चित्रण को सजीवता प्रदान करने के लिए सम्वाद-योजना की ओर उपयुक्त ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक होता है। 'प्रेमी' जी ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अपने नाटकीय सम्वादों के माध्यम से मानव-जीवन को उपयुक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने अपने सम्वादों में भाव-तत्त्व और विचार-तत्त्व, दोनों का उपयुक्त रूप में समावेश किया है। उन्होंने सम्वादों को स्वाभाविक रखने के लिए उन्हें प्रायः संक्षिप्त रूप में उपस्थित किया है। सम्वादों को अनावश्यक विस्तार प्रदान करते हुए उनमें यत्र-तत्र विषयान्तर हो जाने देना उन्हें इष्ट नहीं रहा है। सम्वाद-विस्तार से नाटकीय शैली में वर्णनात्मकता का प्राधान्य हो जाता है और पात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं के स्पष्टीकरण में शिथिलता आ जाती है। इसी कारण 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में शब्द-विन्यास को सरल, स्वाभाविक तथा विस्तार-रहित रखा है।

'प्रेमी' जी के नाटकों में समाज, इतिहास तथा पौराणिक युग को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। अतः उनके नाटकों के सम्वादों का सम्बन्ध भी स्पष्टतः इन तीनों विषयों से रहा है। समय-परिवर्तन के साथ-साथ मानव के स्वभाव, रुचियाँ एवम् वार्तालाप-विधियों में भी परिवर्तन आता रहता है। इसी कारण 'प्रेमी' जी के विविध विषयों से विभूषित नाटक विविध प्रकार के सम्वादों से युक्त रहे हैं। उनके सम्वादों में प्रेम, शौर्य, दार्शनिकता एवम् समाज-चिन्तन को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। निरर्थक संवादों की योजना भी उन्होंने नहीं की है और प्रायः उनके सम्वाद पात्रों के व्यक्तित्व को प्रकाशित करने वाले रहे हैं। उदाहरणार्थ संक्षिप्तता के गुण से युक्त निम्नलिखित चमत्कारिक सम्वाद-योजना देखियेः—

"वत्स—जान पड़ता है कि निकट के वन से मृग क्षिप्रा का जल पीने आए हैं।

कंचनी—और सिंह आया हो तो!

वत्स—नहीं शृगाल हो सकता है।

(सहसा धन्यविष्णु का प्रवेश……)

धन्यविष्णु—कौन है मुझे शृगाल कहने वाला ?

वत्स—मैं नहीं, क्षिप्रा की हिलोरें ऐसा उच्चारण करती हैं।

……(शपथ, पृष्ठ-संख्या ६७)

अभिनेयता

रंगमंच के अभाव के कारण हिन्दी में अभिनेय नाटकों की रचना की ओर प्रारम्भ से ही नाटककारों ने अधिक ध्यान नहीं दिया। 'प्रेमी' जी ने इस अभाव को लक्षित कर अपने नाटकों को रंगमंच के लिए उपयोगी बनाने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। उनके द्वारा लिखे गए सभी पूर्ण नाटक एवं एकांकी नाटक प्रायः अभिनय की विशेषताओं से पुष्ट रहे हैं और उनमें से अनेक का समय-समय पर भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में सफल अभिनय भी हो चुका है। यद्यपि यह सत्य है कि उनके 'शिवा-साधना' शीर्षक नाटक में पात्राधिक्य होने के कारण अभिनय में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा और इसी प्रकार उनके नाटकों में दृश्यों के शीघ्रतापूर्ण परिवर्तन ने भी अभिनेयता में बाधा पहुँचाई है तथापि समष्टि-रूप में हम यह कह सकते हैं कि उनके नाटकों में हिन्दी के इतर नाट्य-साहित्य की अपेक्षा रंगमंच-सम्बन्धी सुविधाओं को कहीं अधिक स्थान प्राप्त हुआ है।

'प्रेमी' जी ने अपनी नाट्य-भूमिकाओं में हिन्दी-रंगमंच के अभाव की ओर

संकेत करते हुए अपने नाटकों की रंगमंचीय क्षमता को भी प्रायः निर्दिष्ट किया है। इस दृष्टि से उनके 'प्रकाश-स्तम्भ', 'बादलों के पार', 'स्वप्न-भंग' एवम् 'विष-पान' शीर्षक नाटकों की भूमिकाएँ विशेष रूप से पठनीय हैं। उन्होंने आधुनिक रंगमंच को चित्रपट के शिल्प से पृथक् रखने पर बल दिया है और यह स्पष्ट किया है कि अभिनय-विस्तार के लिए अवकाश होने पर भी यदि अध्यवसायी रंगमंच को चित्रपटीय कला से प्रभावित रखने का प्रयत्न किया जाएगा तो अभिनय में अस्वाभाविकता के संचार की पर्याप्त सम्भावना रहेगी। तथापि उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि आवश्यकता पड़ने पर यथास्थान परिवर्तन करते हुए रंगमंच पर अभिनय के लिए लिखित नाटकों को चित्रपट के अनुकूल बनाया जा सकता है। इस प्रकार उन्होंने चित्रपट पर प्रदर्शित दृश्यों से अति प्रभावित नाटककारों को चित्रपट का मोह त्याग कर रंगमंच के अनुकूल नाट्य-रचना का संदेश प्रदान किया है। 'विष-पान' के 'पुकार' शीर्षक प्रारम्भिक कथन में उन्होंने कतिपय उदाहरण देते हुए अपनी इस धारणा को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में उपस्थित किया है।

'प्रेमी' जी के नाटकों की अभिनय-विषयक सम्भावनाओं की चर्चा करते समय प्रायः आलोचकों ने उनके नाटकों पर दो आरोप लगाये हैं। उनके अनुसार एक ओर तो 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों में गीतों के अतिशय प्रयोग द्वारा रंगमंच पर जीवन की वास्तविकता को कुछ अंशों तक उपेक्षित रखा है और दूसरी ओर दृश्य-योजना में शिथिलता का परिचय दिया है। 'प्रेमी' जी ने अपनी नाट्य-भूमिकाओं में इन आरोपों का भी प्रतिवाद किया है। 'विष-पान' की भूमिका में प्रथम आरोप का उत्तर देते हुए उन्होंने संगीत को रस-सृष्टि में सहायक मानकर नाटक में वातावरण के स्पष्टीकरण के लिए गीत-प्रयोग को आवश्यक माना है। यद्यपि यह सत्य है कि उनके गीतों में स्वाभाविकता, प्रवहमानता और प्रभाव-सृष्टि के गुण वर्तमान है, तथापि संक्षिप्त नाटकों में भी प्रायः प्रत्येक दृश्य में गीत-समावेश के विषय में उन्होंने जो समाधान दिया है वह आलोचक को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। द्वितीय आरोप के उत्तर में 'प्रेमी' जी ने कहा है कि रंग-सज्जा की योजना के लिए कभी-कभी दृश्य-योजना को विशिष्ट रीति से परिचालित रखना नाटककार के लिए आवश्यक हो जाता है। इस विषय में उनका स्पष्टीकरण सन्तोषप्रद ही रहा है। यथाः—

"जो नाटक रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखा गया है उसका पूर्ण सौन्दर्य रंगमंच पर ही देखा जा सकता है—या वह व्यक्ति देख सकता है जो उसे पढ़ते समय रंगमंच की कल्पना अपने मस्तिष्क में रखता है।"

—(विष-पान, पुकार, पृष्ठ १२-१३)

दृश्य-परिवर्तन की शीघ्रता के दोष को स्वीकार कर 'प्रेमी' जी ने अपने बाद के नाटकों में इसका प्रायः परिहार कर दिया है। इस दृष्टि से उनका 'प्रकाश-स्तम्भ' शीर्षक नाटक विशेषतः पठनीय है। इसमें उन्होंने अंक-परिवर्तन होने पर रंग-सज्जा में विपुल अन्तर नहीं आने दिया है और दृश्यों की संख्या को भी सीमित रखा है। इस विषय में उनका वक्तव्य इस प्रकार है —

"मेरे इस नाटक से पहले के प्रायः सभी नाटक पटों (पर्दों) की सहायता से खेले जाने वाल रहे हैं। सेट्स के हिसाब से वे नहीं लिखे गए। मेरा यह नाटक केवल दो सेटिंग्स पर खेला जा सकता है और दृश्यों की संख्या भी इसमें बहुत थोड़ी है।"

—(प्रकाश-स्तम्भ, संकेत, पृष्ठ 'ग')

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'प्रेमी' जी ने अपनी नाट्य-रचनाओं को रंगमंच के लिए उपयोगी रखने का सर्वत्र ध्यान रखा है। अपने नाटकों के कतिपय अनभिनेय प्रकरणों को अभिनय के अवसर पर यत्र-तत्र परिवर्तित करने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। अपने 'बादलों के पार' शीर्षक एकांकी-संग्रह की भूमिका में उन्होंने अपने नाटकों में रंगमंचीय कला के प्रौढ़ स्वरूप की निष्पत्ति न होने का एक अन्य ठोस कारण यह दिया है कि हिन्दी में कुशल निर्देशन से युक्त व्यावसायिक रंगमंच के अभाव के कारण नाटककार अभिनय-कला से परिचित होने पर भी अपनी इच्छानुसार नाटक में अभिनय-क्षमता का प्रौढ़ स्तर पर समावेश नहीं कर पाता। रंगमंचोपयोगी नाटक की रचना करते समय दृष्टि-पथ में सर्वत्र साधारण सुविधाओं से युक्त रंगमंच की ही स्थिति रहती है। हम 'प्रेमी' जी के इस कथन से पूर्णतः सहमत हैं और इस कसौटी पर कसने पर उनके नाटकों को रंगमंच पर अभिनय के लिए पूर्णतः सफल पाते हैं। अभिनय को सुविधाजनक बनाने के लिए उन्होंने रंग-संकेत उपस्थित करने की ओर भी ध्यान दिया है। ये संकेत कहीं-कहीं तो इतने स्पष्ट रहे हैं कि उनके आधार पर रंग-सज्जा का कार्य नितान्त सरल हो जाता है। उनके नाटकों के उद्देश्य को उनकी निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है:—

इतना प्रयत्न तो मैं करता हूँ कि नाटक रंगमंच के उपयुक्त रहें, जन-साधारण की पहुँच के बाहर न हो और उनमें रसानुभूति का अभाव न हो।

—(स्वप्न-भंग, कुछ बातें, पृष्ठ ३)

गीत-प्रयोग

नाटक में गीत-प्रयोग से उसमें एक विशिष्ट कवित्व-गति के समावेश की

संभावना हो जाती है और गद्य में भी कवित्व का प्रयोग संभाव्य रहता है। गीत जीवन की सरलता और स्वाभाविकता के प्रतीक होते हैं। गीत-विहीन मानव-जीवन की स्थिति सम्भवतः असम्भव ही है। अतः नाटक में भी उनका प्रयोग उसकी स्वाभाविकता का विधान करता है। आधुनिक युग में कतिपय नाटककार नाटक में गीत-प्रयोग का समर्थन नहीं करते, किन्तु 'प्रेमी' जी ने इसे आवश्यक तत्त्व माना है। उन्होंने गीतों को अभिनय में सजीवता लाने वाला कहा है। वह नाटकों में कथानक को गति प्रदान करने और इस प्रकार रस-प्रभाव को घनीभूत करने के लिए गीत-प्रयोग को आवश्यक मानते हैं।

'प्रेमी' जी ने अपने सभी नाटकों में गीतों का सफल प्रयोग किया है। उनसे पूर्व हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने भी अपने नाटकों में गीतों को व्यापक स्थान दिया था। 'प्रेमी' जी ने सम्भवतः उनसे प्रेरणा लेकर ही इस परम्परा को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया है। उनके गीतों के विषय विविध रहे हैं और वातावरण को गति प्रदान करने का गुण उनमें पूर्ण रूप से वर्तमान रहा है। उनके गीतों का सम्बन्ध प्रायः वीर रस, शान्त रस, शृंगार रस, करुण रस या प्रकृति-चित्रण से रहा है। उनके कतिपय गीतों में श्रमिक-जगत् के सुख-दुःखों को भी मार्मिक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। उनके गीत भावना और विचार, दोनों ही की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध बन पड़े हैं और उनमें श्रोता को प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति पूर्ण रूप से वर्तमान है। उदाहरणार्थ उनके एक उद्बोधन-गीत की निम्न-लिखित पंक्तियाँ देखिए :—

वीरों से कहती क्षत्राणी,
जाँचो तलवारों का पानी।

—(आहुति, पृष्ठ ३४)

'प्रेमी' जी ने अपने नाटकीय गीतों को खड़ी बोली में उपस्थित किया है। सहजता, संक्षिप्तता एवम् प्रवहमानता के गुणों से युक्त होने के कारण उनके गीतों का पाठक अथवा श्रोता के चित्त पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इसका श्रेय उनकी भाषा-योजना-विषयक कुशलता को ही दिया जाना चाहिए। उनके गीतों की भाषा भावानुसार परिवर्तनीय रहने पर भी किसी भी स्थान पर दुर्बोध शब्दों के कारण जटिल नहीं होने पाई है। उन्होंने कोमल भावनाओं को व्यक्त करने वाले रसों—शृंगार रस, शान्त रस, करुण रस इत्यादि—का प्रयोग करते समय अपनी भाषा को माधुर्य गुण से सम्पन्न रखा है और वीररसात्मक गीतों में ओज गुण का सफल समावेश किया है गीतों में प्रवाह-सृष्टि के लिए उन्होंने लोक-गीतों की शब्दावली

का भी यथास्थान प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उनके द्वारा प्रयुक्त किए गए 'कोयलिया', खिवैया', 'हौले', 'पुरवैया' तथा 'बाला' (बालना, प्रज्वलित करना) आदि शब्द विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। शिल्प-सम्बन्धी अन्य आवश्यकताओं के निर्वाह की दृष्टि से उन्होंने अपने गीतों में एक ओर तो अलंकारों का स्वाभाविक रूप में प्रयोग किया है और दूसरी ओर, अपेक्षित न होने पर भी, अपने गीतों को छन्द-बन्धन में आबद्ध रखने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने गीतों में दो, तीन, चार अथवा पाँच पंक्तियों से युक्त पद्यों का सफल प्रयोग किया है और तुक-निर्वाह की ओर सर्वत्र उचित ध्यान दिया है। उनके गीत सम्बद्ध पात्रों की अनुभूतियों से पूर्णतः समृद्ध रहे हैं और उन्होंने उनकी रचना करते समय व्यर्थ ही अतिरिक्त शब्दों के द्वारा पंक्ति-विस्तार नहीं किया।

'प्रेमी' जी के नाटकों में सहगान, पुरुष-पात्रों के गान, नारी-पात्रों के गान तथा बालक-बालिकाओं के गान आदि के रूप में अनेक प्रकार के गीत उपलब्ध होते हैं। ये गीत समाज के तथाकथित उच्च वर्ग तथा सामान्य वर्ग, सभी से सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा गाए गए हैं। उनके कतिपय नाटकों में गीतों को आवश्यकता से अधिक स्थान प्रदान किया गया है और कुछ में उन्हें स्वाभाविक स्तर पर ही उपस्थित किया गया है। इन दोनों प्रवृत्तियों को उदाहृत करने के लिए हम क्रमशः उनके 'आहुति' तथा 'शपथ' शीर्षक नाटकों का उल्लेख कर सकते हैं। तथापि इतना स्पष्ट है कि नाटकों में गीत-प्रयोग की प्रवत्ति उनकी आत्मा की विशिष्ट स्फूर्ति से सम्बद्ध रही है। उनके नृत्य-गति से परिचालित गीतों में ध्वनन-शक्ति का भी आकर्षक समावेश हुआ है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकीय गीतों की रचना एक सुनिश्चित योजना के अनुसार की है और अपने नाटकों एवं एकांकी नाटकों में उन्हें गीत-प्रयोग करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

भाषा

'प्रेमी' जी के नाटकों की भाषा प्रायः सरल रही है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी भाषा को केवल उसी स्थिति में क्लिष्ट होने दिया है जब उन्होंने गहन विचारों की अभिव्यक्ति की है। उनकी भाषा भावानुरूप परिवर्तित होती रही है। यही कारण है कि जहाँ शृंगार, करुण और शान्त आदि कोमल रसों के प्रयोग में उनकी भाषा माधुर्य गुण-सम्पन्न रही है वहाँ वीर रस के प्रकरणों में वह ओजगुणमयी हो गई है। तद्भव शब्दों के साथ-साथ उन्होंने देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। लोक-साहित्य में उपलब्ध शब्दावली भी उनके नाटकों में प्रचुरता से प्राप्त होती है। इसी प्रकार उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों में तत्कालीन देश-

काल को सुरक्षित रखने के लिए कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनके 'शपथ' शीर्षक नाटक में उपलब्ध होने वाले 'विषयपति', 'संधिविग्रहक', 'वलाधिकृत' तथा 'नगर-श्रेष्ठी' आदि शब्द हमारे इसी कथन की पुष्टि करते हैं।

'प्रेमी' जी के नाटकों की भाषा की मुख्य विशेषता यही है कि वह कृत्रिमता-रहित है और रंगमंच से उच्चरित होने पर वह सहसा जन-साधारण की पहुँच से बाहर होकर नहीं रह जाती। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिन्दी के सरल शब्दों के अतिरिक्त अपने नाटकों में उर्दू और अंग्रेजी के सहज-प्रचलित शब्दों का भी पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। भारतीय शासन के मुग़ल-युग से सम्बद्ध होने के कारण उनके अधिकांश नाटकों में मुसलमान पात्रों के समावेश के लिए अवकाश रहा है। उनकी भाषा-नीति प्रसिद्ध उपन्यासकार मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाषा से निकट रूप में प्रभावित रही है अर्थात् प्रेमचन्द जी की भाँति उन्होंने भी प्रायः मुसलमान पात्रों की भाषा में उर्दू-शब्दों का प्राचुर्य रखा है और केवल उनके 'स्वप्न-भंग' शीर्षक नाटक में ही इसका अपवाद मिलता है। इस दिशा में वह इतने सतर्क रहे है कि उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के वार्तालापों में हिन्दू-पात्रों द्वारा भी उर्दू-शब्दों का सहज रूप में प्रयोग कराया है उदाहरणार्थ 'रक्षा-बन्धन' में मेवाड़ के महाराणा विक्रमादित्य के चाँदखाँ से वार्तालाप के समय की भाषा का निम्नलिखित रूप देखिए :—

"मजहब मनुष्य के हृदय के प्रकाश का नाम है। जो मजहब का नाम लेकर तलवार चलाते हैं, वे दुनिया को धोखा देते हैं, धर्म का अपमान करते हैं। सच्चा वीर वही है, खरा राजपूत वही है, जो न हिन्दुओं के अन्याय का हिमायती है और न मुसलमानों के; वह न्याय का साथी है और आजादी का दीवाना है।"

—(रक्षा-बन्धन, पृ० २१)

दर्शकों की शब्द-बोध-विषयक क्षमता, अभिनय-सौंदर्य एवं नाटकों में जन-जीवन के यथार्थ प्रतिनिधित्व की दृष्टि से 'प्रेमी' जी के नाटकों में उपलब्ध होने वाली इस प्रवृत्ति के लिए उन्होंने अपने 'यह मेरी जन्मभूमि है' शीर्षक एकांकी नाटक में 'मिस', 'डयूटी', 'ड्रेस', 'मिस्टर', 'स्टूडेंट्स', 'ड्राइवर' आदि अंग्रेजी के साधारण प्रचलित शब्दों का भी सफल प्रयोग किया है और उनके कारण नाटक की भाषा के प्रवाह में किसी प्रकार का व्याघात नहीं आने दिया है। सत्य तो यह है कि अभिनेय नाटक के लिए सरल और संक्षिप्त वाक्यों से युक्त जिस प्रवाहमयी भाषा की आवश्यकता होती है उस पर उनका पूर्ण अधिकार रहा है। वाग्धाराओं एवं लोकोक्तियों के सहज प्रयोग द्वारा भी उन्होंने अपनी भाषा में सजीवता तथा प्रौढ़ता का संचार

करने का सफल प्रयास किया है। इसी प्रकार कतिपय स्थलों पर उन्होंने सचित्र विशेषणों के रम्य प्रयोग द्वारा भी अपनी भाषा का शृंगार किया है। उदाहरणार्थ राजपूतों के लिए 'कालदूत' शब्द का निम्नलिखित साभिप्राय प्रयोग देखिये :—

"उन कालदूत राजपूतों की सहायता को हमारी शेष सेना न बढ़ी।"

—(स्वप्न-भंग, पृ० ६१)

एकांकी नाटक

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने मुख्य रूप से पूरे नाटकों की ही रचना की है, तथापि एकांकी नाटकों के क्षेत्र में भी उनकी अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इस दिशा में हमें उनके 'मन्दिर' और 'बादलों के पार' शीर्षक दो एकांकी-संग्रह प्राप्त हैं। एकांकी-रचना के लिए भी उन्होंके इतिहास और समाज दोनों से प्रेरणा ली है। अपने ऐतिहासिक एकांकी नाटकों में उन्होंने मुख्य रूप से मुग़ल-शासन और राजपूत-युग की चर्चा की हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त इतिहास की अन्य घटनाएँ भी उन्हें स्वीकार्य रही हैं।

ऐतिहासिक एकांकियों के अतिरिक्त सामाजिक एकांकियों की रचना करने में भी 'प्रेमी' जी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, अछूत-प्रथा और साम्प्रदायिकता आदि से सम्बद्ध अनेक परिस्थितियों का विरोध करते हुए प्रशंस्य एकांकियों की रचना की है। कतिपय नवशिक्षिता भारतीय कन्याओं के जीवन में विवाहोपरान्त आने वाले विषम और उच्छृंखल वैवाहिक जीवन पर भी उन्होंने तीव्र व्यंग किये हैं। उनका 'घर या होटल' शीर्षक एकांकी इस दृष्टि से पठनीय है। इसी प्रकार भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन को लेकर उन्होंने 'यह मेरी जन्म-भूमि है' शीर्षक एक अत्यन्त भावपूर्ण एकांकी नाटक की रचना की है। इसमें उन्होंने कर्नल होप्स नामक एक अंग्रेज़ अधिकारी की भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाली कन्या के भारत-प्रेम और भारतीय स्वतन्त्रता-अन्दोलन में भाग लेने की कथा का मार्मिक वर्णन किया है।

'प्रेमी' जी ने अपने एकांकी नाटकों में जीवन के सत्य का उपयुक्त प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि उन्होंने जीवन की यथार्थता और विषमताओं का चित्रण करने पर भी अन्ततः किसी उपयुक्त समाधान की खोज करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में आदर्श जीवन-सत्यों के कल्याणकारी स्वरूप की स्थापना का स्पष्ट आग्रह वर्तमान रहा है। यथार्थ का चित्रण करने पर भी

उनके नाटक अन्ततः आदर्श से प्रेरित रहे हैं। यह स्वाभाविक है। उनके नाटकों के कथानक अधिकांशतः भारतीय इतिहास के मध्य-युग से सम्बद्ध रहे हैं। इस युग में भारतवर्ष में नैतिकता के निर्वाह का स्पष्ट आग्रह था। अतः इस युग का चित्रण करने वाले साहित्यकार के मन पर आदर्शवाद की छाप का होना अनिवार्य है। वर्तमान युग में आदर्शों के प्रति मानव-आग्रह क्रमशः समाप्त होता जा रहा है। 'प्रेमी' जी ने इस नवीन जीवन-दृष्टि से प्रेरणा लेते हुए अपनी रचनाओं में आदर्श और यथार्थ को समन्वित रूप में उपस्थित किया है।

'प्रेमी' जी की कृतियों में प्रायः वीर रस के 'उत्साह' स्थायी भाव की व्याप्ति रहती है। उनका अध्ययन करने पर जहाँ उनमें लेखक के इस प्रयत्न का आभास मिलता है कि नाटकीय पात्र उत्साह-प्रेरित रहें वहाँ पाठक को भी निरन्तर उत्साह की अनुभूति होती रहती है। उन्होंने अपने नाटकों की रचना करते समय उनमें राष्ट्रीय दृष्टिकोण का समावेश करने की ओर पूर्ण ध्यान दिया है। इस दशा में वह सर्वत्र सजग रहे हैं और उनके नाटकों की भूमिकाओं का अध्ययन करने पर इस सजगता का परिचय प्राप्त हो जाता है। वास्तव में वह अपने पाठकों को जन्म-भूमि के सम्मान का पाठ पढ़ाकर उन्हें उत्कट देश-भक्त बनाने के अभिलाषी हैं। कला की दृष्टि से भी उनके एकांकी नाटक विशेष सरल बन पड़े हैं। एकांकी-शिल्प की जटिलता में उलझने की उनकी कहीं भी इच्छा नहीं रही है। शिल्प-निर्वाह-सम्बन्धी विवाद से पृथक् रहने के उद्देश्य से ही उन्होंने 'बादलों के पार' के मुख-पृष्ठ पर उसे एकांकी नाटकों का संकलन न कह कर लघु नाटकों का संग्रह कहा है। इसी कृति के दो 'शब्द' शीर्षक प्रारम्भिक वक्तव्य से लेखक के एकांकी नाटक-सम्बन्धी स्वतंत्र दृष्टिकोण का परिचय मिलता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके एकांकी नाटकों में इस नाटकीय विधा का उपयुक्त विकास नहीं हुआ है। उनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इस प्रकार के सभी गुणों से सम्पन्न हैं और उनमें अभिनेयता का तत्व भी व्यापक रूप से प्रतिष्ठित है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'प्रेमी' जी के नाटकों में राष्ट्रीयता और नैतिक चेतना के प्रतिपादन की ओर मुख्य ध्यान दिया गया है। उन्होंने सामाजिकों के आचार नियमन की ओर प्रेरित नाट्य-रचना को आवश्यक मानते हुए जीवन को कुछ निश्चित आदर्शों से समन्वित रखकर उपस्थित करने पर बल दिया है। इस दृष्टि से उन्होंने मानव-जीवन के कर्तव्य-पक्ष की ओर विशिष्ट ध्यान दिया है। यह आदर्शवादी दृष्टिकोण स्थूल होते हुए भी ग्राह्य है। 'प्रेमी' जी ने इस में यत्र-तत्र

सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना का समावेश करते हुए इसे अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न भी किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने नाटकों में अन्तर्दर्शन और बहिर्दर्शन को समन्वित रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने इतिहास को कल्पना मिश्रित रूप में अपने नाटकों में स्थान दिया है। उन्होंने वस्तु-विन्यास करते समय गीति-तत्व के समावेश की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। उनकी श्रेणी के अन्य नाटककारों में सेठ गोविन्ददास, (शेरशाह, कुलीनता आदि), जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' (प्रताप-प्रतिज्ञा) और उदयशंकर भट्ट (दाहर) उल्लेखनीय हैं।

'प्रेमी' जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में कल्पना-मिश्रित ऐतिहासिक सत्यों को विकसित रूप प्रदान किया है, किन्तु कल्पना के आग्रह के फलस्वरूप इतिहास की उपेक्षा उन्होंने कहीं भी नहीं की है। अपने सामाजिक नाटकों में उन्होंने व्यंग्य एवम् तथ्य-निरुपण का अधिकार ले कर आधुनिक युग में श्रमिकों, साहित्यकारों, अस्पृश्यों आदि की समस्याओं के आदर्श-प्रेरित समाधान उपस्थित किए हैं। पाठक अथवा श्रोता के मन पर नाटक के समन्वित प्रभाव को गहन बनाने के उद्देश्य से उन्होंने वस्तु-विन्यास करते समय अपने नाटकों में गीति-तत्व के समावेश की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। उनके नाटकों में भावना एवम् कला, दोनों का ही सरल, स्वाभाविक एवम् पुष्ट आधार पर प्रयोग हुआ है। निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी में मध्ययुगीन इतिहास को लेकर नाट्य-रचना करने वाले साहित्यकारों में श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' का अन्यतम स्थान है।

नाटककार 'अश्क'

—श्री० जगदीशचन्द्र माथुर
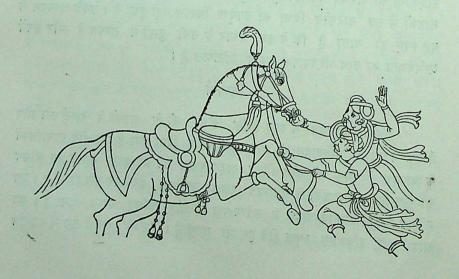
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटकों का रचना-काल सन् १९३७ से प्रारम्भ होता हैं, जब द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद की शैली में 'जय-पराजय' की रचना हुई। १९३८ में उनके एकांकी 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'अधिकार का रक्षक' छपे। 'पापी' और 'वेश्या' इनसे पहले लिखे गये थे, पर छपे बाद में। इन सोलह बरसों में उनके चार एकांकी संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'देवताओं की छाया में', 'पक्का गाना', 'चरवाहे' और 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', छः स्वतन्त्र बड़े नाटक—'जय-पराजय', 'स्वर्ग की झलक', 'कैद उड़ान', 'छठा बेटा' और 'भंवर' और तीन ऐसे नाटक जिनका आकार एकांकी से बड़ा होते हुए भी मूल प्रेरणा एकांकी की ही है—'आदि मार्ग', 'अंजो दीदी' और 'पैंतरे'। १६ वर्ष के इस दौरान में अश्क ने तीन बड़े उपन्यास भी लिखे, कई कहानी-संग्रह, दो मार्मिक खंड-काव्य, फुटकर निबन्ध, संस्मरण इत्यादि और इसी दौरान में उन्होंने तपेदिक के रोगी के रूप में जीवन की उन्मुक्त धरती के सुई की नोक भर अंश के लिए मृत्यु से महाभारत लड़ा, जिसकी झलक 'दीप जलेगा' की चुनौती भरी पंक्तियों में मिलती है। ऐसे साहित्य-साधक की प्रतिभा और अजेय लगन अभिनन्दनीय है।

किन्तु रचनाओं की संख्या अथवा कलेवर एवं व्यक्तिगत कठिनाइयों और संघर्ष के होते हुए भी साहित्य-साधन—इन दोनों के बल पर ही कोई लेखक युग का सफल और समर्थ नाटककार नहीं कहा जा सकता। जिन दिनों जयशंकर 'प्रसाद' की महान रचनाएँ काव्य में छायावाद की प्रतिध्वनि-स्वरूप हिन्दी नाट्य-साहित्य का कंठ-हार हो रही थीं, उन्हीं दिनों दो प्रवृत्तियाँ चुपचाप हमारी नाट्य-परम्परा की कायापलट कर रही थीं। एक तो हमारे विश्वविद्यालयों और कालिजों में छात्र और अध्यापकगण पाश्चात्य देशों के आधुनिक यथातथ्यवादी नाटककारों से परिचित होने लगे थे। उससे पूर्व प्रधानतः शेक्सपियर की कृतियों ही का प्रभाव व्यापक रूप से दृष्टिगत होता था। लेकिन इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी इत्यादि लेखकों की रचनाओं में भारतीय शिक्षित-समाज को सहसा नये क्षितिज का आभास हुआ। इन कृतियों के सिद्धान्त-पक्ष की अवतारणा लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटकों में हुई, यद्यपि यह स्पष्ट था कि रंगमंच-सम्बन्धी ज्ञान का अभाव उन्हें एक सिद्धान्तवादी के स्तर से ऊपर न

उठने दे सका। दूसरी तत्कालीन प्रवृत्ति थी कालिजों के रंगमंचों पर लघु-नाटकों की माँग। सन् ३२, ३३ के आसपास आकर मानो शिक्षित-समाज के दर्शकगण नाटकों की खातिर रतजगा करने के विचार से ऊब चले और रंगमंच के आग्रह के फल-स्वरूप एकांकियों का लिखा जाना प्रारम्भ हुआ। भुवनेश्वर प्रसाद और गणेशप्रसाद द्विवेदी ने इस क्षेत्र में क़दम बढ़ाया।

यों एक ओर तो पाश्चात्य समस्यामूलक नाट्य-साहित्य से किताबी परिचय प्राप्त लेखकों की रचना और दूसरी ओर अव्यावसायिक रंगमंच के लिए लघु नाटकों का प्रणयन, इन दो धाराओं का विकास सन् ३६-३७ तक हो चला था और उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों का महत्व यही है कि उनमें आगे चलकर इन दोनों धाराओं का समन्वय हुआ। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के किताबी ज्ञान को उन्होंने निजी अनुभव और पर्यवेक्षण के खरल में कूट-पीस कर सामाजिक दिग्दर्शन का नवीन और तथ्यपरक रसायन तैयार किया। एकांकियों से उन्होंने रंगमंच के संकेतों और शिल्प को अपनाया, और इस तरह हमारे समकालीन नाटककारों में शायद अश्क ही ने स्पष्ट रूप से प्रसाद के बाद रंगमंच और साहित्य दोनों के मानदण्ड पर सही उतरने वाले नाट्य-साहित्य को प्रस्तुत किया। सफल एकांकीकार तो दूसरे भी हैं। सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं का, प्रधानतः सुपाठ्य सम्वादों (जिन्हें नाटकों की संज्ञा भी दी जाती है) के रूप में निरूपण भी अन्य चिन्तनशील और शब्दों के चितेरे लेकर करते हैं। लेकिन दोनों प्रवृत्तियों का ऐसा सम्मिश्रण कि नाटकों की एक नवीन शैली का ही प्रस्फुटन हो जाय, अश्क ही ने किया है। पक्के इरादे और प्रयोजन के साथ उन्होंने अपने प्रथम नाटक 'जय पराजय' के बाद प्रसाद-पद्धति को तिलांजलि दी और जो नूतन प्रेरणा, पृथक् दृष्टिकोण एवं आधुनिक शिल्पविधान इस युग में लोकप्रिय हो चले थे, उन्हें एक ढाँचे में ढाल कर हिन्दी नाटक को जो निजत्व और सुस्पष्ट रूपरेखा प्रदान की। हो सकता है कि जिस पद्धति का सृजन वे करते हैं, वह हिन्दी में जड़ ही न पकड़ सके। भारतीय प्रकृति, रुचि और परम्परा शुद्ध यथातथ्यवादी साहित्य अथवा कला से मेल ही नहीं खाती। पाश्चात्य देशों में नाटक समाज के आगे दर्पण के तुल्य माना जाता रहा है। भारतीय वाङ्मय में नाटक दृश्य काव्य है—यानी कल्पना, अनुभूत रस और अलंकार की वह सामं-जस्यपूर्ण अभिव्यंजना जिसका आनन्द सुनकर या पढ़कर ही नहीं रंगमंच पर देखकर उठाया जा सके। इस दृष्टि से तो अश्क के नाटक भारतीय परम्परा में एक असंगति के रूप में प्रतीत होते हैं। उन्होंने जो हिन्दी नाटक को नया मोड़ दिया है, क्या वह स्थायी रह सकेगा ? अभी इस प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दिया जा सकता। लेकिन इतना स्पष्ट है कि प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक का जो नयी दिशा में उत्थान हुआ

है, उपेन्द्रनाथ अश्क उसके प्रमुख प्रतीक और स्तम्भ माने जायेंगे ! कारण कि शायद ही अन्य किसी नाटककार ने नयी पद्धति को इतनी लगन के साथ अंगीकार किया है, और इतने परिश्रम और निश्चय के साथ सँवारा है।

यह चर्चा तो रही अश्क के ऐतिहासिक महत्व के बारे में, पर उनकी कला की महत्ता आभ्यंतरिक गुण-दोषों पर भी आश्रित है। उनकी रचनाओं का एक पहलू प्रथम परिचय में ही सामने आ जाता है । 'जय-पराजय' को छोड़कर शायद कोई भी नाटक अश्क के निजी अनुभवों के दायरे के बाहर नहीं है। 'उड़ान' में कुछ कुलाचें अवश्य ली हैं और उस नाटक में शंकर के चरित्र-चित्रण के लिए उनकी तूलिका को कल्पना के गहरे रंगों का प्रयोग करना पड़ा है; माया की उत्तेजनापूर्ण अनुभूति, उसकी और मदन की प्रथम रूमानी मुलाकात और नाटक का सामान्य वातावरण सभी यथार्थवादी स्वर से भिन्न स्वर की याद दिलाते हैं । किन्तु 'उड़ान' की भी प्रेरणा हमारे समाज की दैनिक उलझनों में से ही मिली है। जिस विद्रोह का यहाँ उद्वेलन है, वह असंख्य नारियों के मौन पीड़ित हृदयों का प्रवक्ता है। अश्क मध्य-वर्ग के दाम्पत्य जीवन को गहराई से पैठकर देख चुके हैं और पढ़ी-लिखी कुमारियों के विवाह की समस्या का उन्होंने उसी संवेदनशीलता और सांकेतिकता से विवेचन किया है जिसके कारण पाश्चात्य नाटकों का परकीया नायिकाओं और परस्त्री-प्रेम का चित्रण भी मर्मस्पर्शी जान पड़ता है। 'भँवर' की नायिका प्रतिमा बुद्धिवादी आवरण के नीचे एक त्रस्त, एकाकी, सतत अभिलाषी आत्मा को छिपाये फिरती है—न पाई जाने वाली सांत्वना की खोज में ! 'स्वर्ग की झलक' के रघु की तरह सैकड़ों नवयुवक आज दिन अपने स्तर से ऊपर फ़ैशनेबल समाज की लड़कियों पर मुग्ध और निकट पहुँचने पर विरक्त होते रहे हैं । 'आदि मार्ग' और 'विवाह के दिन' नामक नाटकों में भी इसी समस्या का दैनिक जीवन के अनुभव की सीमाओं में, प्रदर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त 'पापी' और 'लक्ष्मी का स्वागत' के विधुर पति के हृदयद्रावक अन्तःसंघर्ष में तो मानो अश्क के निजी अनुभवों की ताज़ी छाप है। जान पड़ता है, अश्क नाटक लिखते समय जब एक आधारभूत भावना के लिए आँखें दौड़ाते हैं तो वे कल्पना की आँखें नहीं, स्मृति के नेत्र होते हैं। इसलिए मध्यवर्ग की आर्थिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थिति के विश्लेषण में उन्हें लम्बे भाषणों का सहारा नहीं लेना पड़ता, वे केवल परिस्थिति-विशेष के ऊपर से पर्दा उतार कर रख देते हैं। 'छठा बेटा' में नयी और पुरानी पीढ़ी की ज्वलंत झाँकी हमें मिलती है। उसमें कहीं पक्षपात नहीं, किन्तु फिर भी उत्तेजना, कसक, जलन, निराशा की चलती-फिरती तसवीरें, जीवन से ज्यों की त्यों उतार कर रख दी गई हैं। 'आपस का समझौता' का व्यंग्य इसलिए और भी गहरा है कि उसकी जड़ है एक विषम आर्थिक समस्या।

अश्क गरीब और शोषितों के जीवन से या तो अपने नाटकों के लिए सामग्री लेते ही नहीं और या लेते हैं तो बहुत ठोक-बजाकर, यह सोच-समझ कर कि वह सामग्रा उनके निजी अनुभव की कसौटी पर खरी उतर चुकी है या नहीं। 'तूफ़ान' और 'देवताओं की छाया में'—यही दो नाटक शोषित जीवन की झाँकियाँ देते हैं और यद्यपि घीसू में प्रेमचन्द के सूरदास के आदर्शवाद की गन्ध मिलती है, तथापि सन् ४६ के दिनों का स्मरण करते हुए उसका चरित्र अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता। 'देवताओं की छाया में' में तो किसी प्रकार की अस्वाभाविकता का आभास नहीं। साधारण मुसलमान मज़दूर के जीवन की मर्मस्पर्शी ट्रेजिडी के पीछे अश्क की पारदर्शक दृष्टि की शक्ति है। पिछले दिनों अश्क ने बम्बई के सिनेमा जगत् के कृत्रिम, मानवीय-भावनाओं से शून्य, चापलूसी की दुर्गन्ध में बसे जीवन का भी नग्न और यथातथ्य वर्णन कुछ नाटकों में किया है। 'पक्का गाना' में यह आक्षेप चुटकी मात्र था, 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' में अट्टहास हो जाता है और 'पैंतरे' में विषाक्त बाण ! अतिरंजना तो है, लेकिन फ़िल्मी जीवन जितना विकारग्रस्त है, उसके सुधार के लिए शायद कुछ ऐसी गहरी चोटें ही चाहिएं। सामाजिक समस्याओं पर आश्रित इन नाटकों के अतिरिक्त अश्क जहाँ जीवन के सबसे अधिक सन्निकट आये हैं, वे हैं उनके नाटक जिनकी आधारभूत भावना उन्हें चारित्रिक विशेषताओं की सनक या धुन में मिली है। 'जौंक', 'तौलिये' और 'अंजोदीदी' को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। 'तौलिये' की मधु और 'अंजोदीदी' की अंजो में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही नाटकों में बड़े कौशल के साथ नियमबद्ध जीवन को सनक बनाने वाले चरित्र का मखौल उड़ाया गया है। 'जौंक' में अनचाहे मेहमान का गुदगुदाने वाला चित्रण है। पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' नामक संग्रह के लगभग सभी नाटकों में परिस्थितियों का अनूठा चुनाव है। परिस्थिति चरित्र के अनुकूल ही जान पड़ती है, बल्कि पात्रों में व्यक्तित्व का अनिवार्य प्रस्फुटन प्रतीत होता है। जैसे मैंने अन्यत्र लिखा है जीवन की सतत प्रवाहशील धारा का क्षणिक ठहराव ही मानो अश्क के एकांकियों में मूर्तिमान होकर उतरता है। बतसिया में ठहराव ने भँवर का रूप ले लिया है। शेष नाटकों में घटना-चक्र की गुत्थियां नहीं हैं, जीवन की शोभा-यात्रा के कुछ दृश्य सामने ठहर कर फिर गतिशील हो जाते हैं। लेकिन इस अनायास प्रदर्शन के पीछे कितनी तैयारियाँ, कितनी तराश, कितनी नापजोख है, इसका अन्दाज़ मननशील पाठक और दर्शक लगा सकते हैं।

असल में अश्क की प्रमुख विशेषताएँ हैं श्रमसाध्य और जानदार पात्रों का सृजन। उनका प्रत्येक पात्र अपनी भाव-भंगिमा और वाणी के द्वारा पहचाना जा सकता है। लेखक पात्रों के मुख से अपनी प्रवृत्तियों, अपनी भावनाओं का परिचय नहीं देता। लेखक का निजी व्यक्तित्व तो परिस्थितियों की प्रगति और नाटक के

सामान्य प्रवाह और आधारभूत भावना में अन्तर्हित रहता है। किन्तु पात्र जो कुछ बोलते या करते हैं, वह उनका अपना है, वे लेखक के ही भिन्न-भिन्न नक़ाब नहीं हैं। इस दिशा में अश्क हिन्दी में अनूठे नाटककार हैं। इस गुण की सिद्धि के लिए आवश्यकता है भीषण आत्म-संवरण की, पैनी समदर्शी दृष्टि की और भिन्न-भिन्न भाँति के चरित्रों के हृदय में पैठकर उनसे समरस होने की क्षमता की।

एक बात और। संवाद और कार्य-सम्पादन पात्रों के विकास के माध्यम हैं। आज हिन्दी में चुस्त और तीखे संवाद-लेखकों की कमी नहीं। हाज़िर-जवाबी के लिए शब्दों पर जिस भाँति के अधिकार और त्वरित एवं उर्वरा कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होती है, उसका भी आज दिन अभाव नहीं। किन्तु अश्क के संवाद इसलिए असाधारण हैं कि उनमें नदी की धारा की भाँति, परिस्थितियों के धरातल के ढलाव के अनुकूल ही उत्तर-प्रत्युत्तर चलते हैं। दरबारी ढंग का वाहवाही वाला सम्वाद यहाँ नहीं है, उनकी नायिकायें शास्त्रीय पंडितों की भाँति सूत्र-गुम्फन नहीं करतीं। अश्क के पात्र असाधारण इसलिए हैं कि साधारण व्यक्तियों की तरह वे तकिया-कलामों का प्रयोग करते हैं, बातचीत करते-करते उलझन में पड़ जाते हैं, खंडित वाक्यावलियाँ उनके मुख से झरती हैं, अधसुनी भंगिमाएँ उनके संवादों में बिखरी पड़ी रहती हैं और गम्भीर बातचीत के बीच में वे एक छोटी-सी चर्चा छेड़ देते हैं।

कथानक के निरावरण (यानी प्लाट) और कार्य-सम्पादन (यानी एक्शन) के प्रदर्शन में अश्क कहाँ तक सफल हुए हैं, इस पर दो राय हो सकती हैं। एक प्रसिद्ध अँग्रेज़ी उपन्यासकार ने एक स्थल पर लिखा है कि उसे खेद उसी बात का है कि उसे अपने उपन्यासों की प्रगति के लिए एक कथानक का सहारा लेना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा लगता है मानो अश्क भी नाटक में कथानक को इतनी ही उलझन की, कुछ बेकार की-सी वस्तु समझते हैं। चरित्र के प्रदर्शन में ही उन्हें इतनी गति की प्रतीति होती है कि घटना-गुम्फन व्यर्थ-सा जान पड़ता है। किन्तु मेरे विचार में एकांकीकार का यह दृष्टिकोण उनके तीन-अंकी नाटकों में उन्हें पथभ्रष्ट कर देता है। सांकेतिकता उनकी सबल है, लेकिन नाटककार के लिए सांकेतिकता एक साधन मात्र होनी चाहिए, कहानी से पल्ला छुड़ाकर भागना दर्शक को ऐसे जंजाल में फाँसने के तुल्य है जो उसे नाटक से विरक्त कर सकता है। लेकिन मेरा यह कथन अश्क के बड़े नाटकों पर ही लागू होता है-- एकांकियों पर नहीं।

वस्तुतः अश्क के बड़े नाटकों पर कवि-सुलभ सांकेतिकता एक झीने बादल की तरह आवृत्त रहती है। उसकी तह में उनकी नियन्त्रित भावुकता है और है अनुपम

सौन्दर्य-दृष्टि। इस टेकनीक का सबसे सुन्दर नमूना है उनका नाटक "क़ैद" जिसमें उनके लगभग सभी गुण उभरे हैं—बड़ी संतुलित गति से, बड़े मर्मस्पर्शी रूप में। "क़ैद" को निश्चय ही आधुनिक भारतीय साहित्य के प्रमुख नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

सुप्रसिद्ध अँग्रेज़ी नाटककार गाल्सवर्दी ने एक बार अपने आप ही प्रश्न किया—उन्नतिशील नाट्य-कला की बुनियाद क्या है? उत्तर भी गाल्सवर्दी ने स्वयं इन शब्दों दिया कि उन्नतिशील नाटक के चिह्न हैं—सच्चाई और खरापन और लेखक की वफ़ादारी—अपनी अनुभूति के प्रति, अपने पर्यवेक्षण के प्रति और अपने व्यक्तित्व के प्रति! जिसकी कल्पना अनुभवगत और दृष्टिगत जीवन को ही ग्रहण करती है और जो इस भाँति गृहीत वस्तु-विशेष को रंगमंच पर इस तरह प्रस्तुत करता है कि दर्शकगण भी उसी मौलिक अनुभूति से अभिभूत हो जाएँ, वही उच्च कोटि का नाटककार है। हिन्दी में बहुत कम नाटककार ही इस परिभाषा के दायरे में आ पाते हैं; अश्क उन्हीं विरलों में से एक हैं और कुछ मानी में तो अनूठे हैं।

हिन्दो एकांकी का विकास

—डॉ० भोलानाथ

साहित्य के लघुरूपों—गीत, कहानी, निबंध, एकांकी आदि—के जन्म एवं उनकी लोकप्रियता के कारण के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि जीवन की दौड़ में निरन्तर व्यस्त रहने वाले आधुनिक मानव के पास इतना समय नहीं है कि वह बड़े-बड़े नाटकों, उपन्यासों, महाकाव्यों आदि को सम्पूर्णतः देखे, पढ़े या सुने और इसीलिये गीत, कहानी, निबन्ध, एकांकी आदि आज के युग में अपनाये जा रहे हैं। 'बौलावरण या प्रतिज्ञापूर्ति' की भूमिका में स्व० श्री सूर्यकरण पारीक और अप्रैल, सन् १९३८ ई० के 'हंस' के सम्पादकीय में श्री श्रीपतराय ने यही मत प्रकट किया है। मेरा मत है कि यह धारणा शत-प्रतिशत सही नहीं है—कम से कम, हम भारतीयों के लिये तो यह बात नहीं ही है। तीन तीन घंटों तक चलने वाले प्रति दिन के तीन-तीन चार-चार सिनेमा शो या सर्कस, पाँच-पाँच छह-छह घंटों तक चलने वाले पाँच-पाँच छह-छह दिनों के क्रिकेट टेस्ट मैच, 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'कर्त्तव्य' जैसे नाटक, 'गोदान', 'मुर्दो का टीला', 'वैशाली की नगरवधू', 'इन्दुमती' जैसे उपन्यास, 'कामायनी', 'कृष्णायन' जैसे महाकाव्य आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिनसे स्पष्ट है कि हम भारतीयों के जीवन में समय की कमी नहीं है—कमी है उसके सदुपयोग की। शायद जो बात वाशिंगटन, न्यूयार्क और लन्दन या दिल्ली, बम्बई और कलकत्ते के लिये कही गई है उसे हम समस्त भारतीय जीवन के लिये सही मान बैठे हैं। फिर, एकांकियों के पूर्वरूप 'मोरैलिटीज़' तथा 'मिरैकिलस' यूरोप में दसवीं शताब्दी के धार्मिक अवसरों पर, और 'कर्टेन रेज़र' विक्टोरिया-युग में अभिनीत होते थे। 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' की लघु आख्यायिकाएँ, संस्कृत के व्यायोग, भाण और अंक आदि, जयदेव, विद्यापति, सूर तुलसी, कबीर, मीरा, बिहारी, मतिराम आदि के अमर पद-दोहे-कवित्त-सवैये आधुनिक व्यस्त जीवन के बहुत पहले के हैं। प्रो० रामचरण महेन्द्र ने लिखा है कि संस्कृत में एकांकियों का प्रचार भरत मुनि के समय से पूर्व भी था। अस्तु, यह नहीं कहा जा सकता कि चूँकि हमारे पास बड़ी-बड़ी साहित्यिक रचनाओं के पढ़ने के लिये समय नहीं है इसलिये हम गीत, कहानी, एकांकी आदि पढ़ते हैं। बात यह है कि हम जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं और समस्याओं आदि को क्रमबद्ध एवं समग्र रूप से भी अभिव्यक्त देखना चाहते हैं और उन अभिव्यक्तियों का स्वागत करते हैं मगर साथ ही साथ किसी एक महत्वपूर्ण भावना, किसी एक उद्दीप्त क्षण, किसी एक असाधारण

एवं प्रभावशाली घटना या घटनांश की अभिव्यक्ति का भी स्वागत करते हैं। हम कभी अनगिन फूलों से सुसज्जित सलोनी वाटिका पसन्द करते हैं और कभी भीनी सुगन्धि देने वाली खिलने को तैयार एक नन्हीं-सी कली। दोनों बातें हैं, दो रुचियाँ हैं, दो पृथक् किन्तु समान रूप से महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण हैं। समय के अभाव या अधिकता की इसमें कोई बात नहीं।

हिन्दी में एकांकी के जन्म और उसकी लोकप्रियता के कारण निम्नलिखित हैं :—

(अ) हमारी 'शतधा अभिव्यक्त अभिरुचि' (स्व० श्री सूर्यकरण पारीक)।

(आ) किसी एक ही ओर अपने ध्यान को अधिक देर तक निरन्तर केन्द्रित किये रह सकने वाली शक्ति और इच्छा-शक्ति का सामान्यत: ह्रास।

(इ) संस्कृत, अंग्रेज़ी और बँगला साहित्य एवं उनके एकांकी साहित्य से हमारा परिचय और उनके अनुकरण पर एकांकी लिखने की हमारी इच्छा का जन्म।

(ई) हिन्दी नाट्य-साहित्य के प्रणयन के पूर्व हिन्दी जनता का जो अपना रंगमंच था उस पर अभिनीत होने वाली कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी एकांकी झाँकियाँ।

(उ) कभी-कभी थोड़े समय के लिये खाली होने पर उतने थोड़े समय के लिये साहित्यिक मनोरंजन की हमारी माँग।

(ऊ) बालचरों के कैम्प-फ़ायर के लिये आवश्यक सरल एकांकी की माँग।

(ए) विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में विशेष-विशेष अवसरों पर विद्यार्थियों द्वारा खेले जाने के लिये सुरुचिपूर्ण एवं साहित्यिक नाटकों की आवश्यकता और ऐसे अवसरों पर एकांकियों की विशेष उपयुक्तता एवं उपयोगिता।

(ऐ) रेडियो से हिन्दी एकांकियों की माँग।

विकास (ऐतिहासिक दृष्टि से)

पहली अवस्था (पहला चरण)

जिस प्रकार हिंदी में अनेकांकी नाटकों का लिखना भारतेन्दु से प्रारंभ हुआ है उसी प्रकार भारतेन्दु ने ही हिन्दी में सबसे पहला एकांकी भी लिखा है। कहना न होगा कि और विषयों और बातों की तरह इस पर भी विद्वानों में मतभेद है। प्रो० रामचरण महेन्द्र और प्रो० सत्येन्द्र आदि भारतेन्दु को ही हिन्दी का पहला एकांकीकार मानते हैं। डा० नगेन्द्र, डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, डा० रामकुमार वर्मा, आदि इस मत के पक्ष में नहीं हैं। इन विद्वानों की यह धारणा है कि भारतेन्दु और उनके युग के नाटककारों के एक अंक के नाटकों में और एकांकियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। उन नाटकों पर संस्कृत के एक-अंक वाले रूपकों का ही प्रभाव है। उनमें आधुनिक एकांकी-कला का कोई भी अनिवार्य तत्त्व नहीं मिलता; उनमें

आधुनिक एकांकियों की कुछ भी झलक नहीं मिलती। वे एकांकीकार 'एकांकी' नाम तक से अपरिचित थे। और, इन तथ्यों से इन्कार नहीं किया जा सकता। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है।

प्रो० सत्येन्द्र ने 'हिन्दी एकांकी' में लिखा है कि भारतेन्दु जी के समस्त नाटकों पर दृष्टि डालने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि विविध नाटकों को लिखने और अनुवाद करने का उनका उद्देश्य यह था कि नाट्य-शास्त्र के अनुसार रूपक-उपरूपक के विविध भेदों को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण की भाँति वे एक-एक रचना दे जायें और इसीलिये उन्होंने एकांकी भी लिखे। "यद्यपि एकांकी के नाम से भारतेन्दु जी परिचित नहीं थे, और उसे साहित्य का अलग अंग नहीं मानते थे" किन्तु "आज के विकसित एकांकियों की साहित्यधारा में जो प्रथमावस्था हो सकती है वह भारतेन्दु जी में हमें स्वतः मिलती है"। अतः "भारतेन्दु जी को हिन्दी का प्रथम एकांकी-कार मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती" क्योंकि "......भारतेन्दु जी के लिखे मौलिक नाटकों में से 'चन्द्रावली' और 'अन्धेर नगरी' तो नाटक हैं, शेष सब एकांकी —(ये सभी उद्धरण प्रो० सत्येन्द्र के 'हिन्दी एकांकी' से हैं)। कुछ और उदारता-पूर्वक देखें तो हम इन दोनों को भी एकांकी मान सकते हैं। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में लिखे हैं 'अंक' पर हैं वे वस्तुतः 'दृश्य'। 'नील देवी' में न सूत्रधार है न नान्दी। इसमें नाटक का कथा-सूत्र एकदम गतिवान हो जाता है। 'भारत-दुर्दशा' में एक योगी के द्वारा भारत की दुर्दशा का परिचय कराया जाता है और फिर उसी के बाद ही नाटक प्रारम्भ हो जाता है। उनके इन नाटकों में मिलने वाले इन आधुनिक तत्त्वों के विस्तारपूर्वक परिचय और उनकी व्याख्या के लिये यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है किन्तु उनके अस्तित्व तक से इन्कार करना सत्य और तथ्य के प्रति आँखें मूँदना होगा। अस्तु, हिंदी एकांकी का प्रारम्भ सन् १८७५ ई० से, जबकि भारतेन्दु जी ने 'प्रेमयोगिनी' लिखा, मान सकते हैं। प्रो० सत्येन्द्र ने सम्वत् १९३० से माना है जबकि "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दु जी के अतिरिक्त उस युग में और भी अनेक लेखकों ने एक अंक के नाटक लिखे हैं जिनमें से कुछ ये हैं :—

लाला श्रीनिवास दास—'प्रह्लाद-चरित्र'; बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन'—'प्रयाग रामागमन'; राधाचरण गोस्वामी—(अ) 'भारत में यवन लोग', (आ) श्रीदामा, (इ) 'सती चन्द्रावली', (ई) 'अमरसिंह राठौर', (उ) 'तन-मन-धन श्री गोसाईं जी के अर्पन'; कृष्णदेवशरणसिंह—माधुरी; (ऊ) बालकृष्ण भट्ट—(अ) कलिराज की सभा, (आ) रेल का विकट खेल, (इ) बाल-विवाह; श्री शरण—बालाविवाह; प्रतापनारा-यण मिश्र—कलि कौतुक; काशीनाथ खत्री—(अ) सिन्ध देश की राजकुमारियाँ,

(आ) गुन्नौर की रानी, (इ) बालविधवा-संताप; शालिग्राम—मयूरध्वज; देवकीनंदन त्रिपाठी—जयनारसिंह की; राधाकृष्ण दास—(अ) दुःखिनी बाला, (आ) धर्मालाप; अम्बिका दत्त व्यास—'कलियुग और घी । अयोध्यासिंह उपाध्याय—'प्रद्युम्न विजय व्यायोग'; किशोरीलाल गोस्वामी—'चौपट चपेट'; आदि ।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से लेखक हैं जिनकी अनेक रचनाएँ उस समय के पत्र-पत्रिकाओं में दबी पड़ी हैं - जब हम इन सब रचनाओं को एकांकी की परम्परा में ला रहे हैं तब यह नहीं कहना चाहते कि ये सभी दृष्टियों से पूर्ण 'एकांकी नाटक' हैं । हम यह कहना चाहते हैं कि ये एक अंक के नाटक हैं और आज के एकांकियों के पूर्वज हैं । इनमें एकांकी के एक-आध तत्त्व अवश्य मिल जायेंगे । इसका दायित्व उस युग की परिस्थितियों पर है । आज के एकांकी जिन परिस्थितियों के फलस्वरूप आज का स्वरूप पा सके हैं वे उस युग में नहीं थीं । उस युग के नाटककार के साधन 'बहुत मोटे' थे, धारणाएँ 'हठी' थीं, उसके संस्कार उसे चारों ओर से अवरुद्ध किये थे और समाज में व्याप्त जड़ता का भयानक अंकुश कल्पना के सम्मुख सदैव रहता था । "द्विविधा जहाँ शैली में है वहाँ भाव में भी है"—प्रो० सत्येन्द्र । ऐसी अवस्था में जैसे एकांकी लिखे जा सकते थे, लिखे गये और उन्हें एकांकी की परम्परा से बहिष्कृत कर देना अन्याय होगा ।

पहली अवस्था (दूसरा चरण)

भारतेन्दु जी ने जिस एकांकी-प्रणयन का सूत्रपात किया वह द्विवेदी युग में भी चलता रहा । लिखना बन्द नहीं हुआ । परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही । इतना अवश्य है कि इस युग का कोई ऐसा प्रतिभावान कलाकार इस क्षेत्र में प्रकाश में नहीं आया है जिसने एकांकी-रचना में ऐसा परिवर्तन उपस्थित किया हो कि एक नया युग आरम्भ हो सके और, चूँकि लिखना जारी रहा इसलिये हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि हम वहीं रह गये जहाँ भारतेन्दु-युग में थे । निश्चित रूप से इतना ही कह सकते हैं कि भटकना कम हो गया था, अनिश्चितता समाप्त हो रही थी और हिन्दी एकांकी के अपने स्वरूप की—भले ही वह कितनी अनपढ़ क्यों न हो—एक आकृति उभरने लगी थी । उस पर कुछ पारसी रंगमंच की निर्वाणोन्मुखी छाया थी, कुछ संस्कृत नाट्य-शास्त्र की आभा थी, कुछ अंग्रेज़ी नाटकों के रंग थे और कुछ दर्शकों एवं पाठकों की अपनी परिष्कारोन्मुखी रुचि की भी झलक थी । मगर इन सब रंगों के मिलाने से एकांकियों में हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल एक आकृति का कुछ-कुछ स्पष्ट रूप उभरने लगा था । सुदर्शन के 'राजपूत की हार', 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'आनरेरी मजिस्ट्रेट'; रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्नों के चित्र', 'दिमाग़ी ऐयाशी'; बदरी-

नाथ के 'लबड़धौंधौं'; 'उग्र' के 'चार बेचारे', 'अफ़जल-वध', 'भाई मियाँ' आदि में हमें उस युग के एकांकियों का वास्तविक स्वरूप दिखाई पड़ता है । अस्तु, भारतेन्दु-युग और इस युग के नाटकों में विकास की रेखा स्पष्ट रूप से परिलक्षित है यद्यपि वह युगान्तरकारी नहीं है ।

दूसरी अवस्था

प्रसाद का 'एक घूँट' सं० १९८६ वि० अर्थात् १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ था । इस प्रकाशन से हिन्दी एकांकी अपने विकास के दूसरे युग में प्रवेश करता है । 'एक घूँट' प्रसाद का लिखा हुआ एक एकांकी रूपक (अन्यापदेशिक) है । इसके पात्र हैं आनंद, कुंज, मुकुल, रसाल, वनलता, प्रेमलता, चन्दुला और झाड़ू वाला । पात्र भिन्न-भिन्न विचारधाराओं एवं मनोवृत्तियों के प्रतीक हैं । उद्देश्य है "आभ्यंतर के खोखलेपन का मार्मिक उद्घाटन...तर्क-वितर्क का विषय है जीवन और जीवन का लक्ष्य... दूसरी विचार की बात है स्त्री और पुरुष ! एक हृदय-पक्ष का प्रतिनिधि है तो दूसरा मस्तिष्क और बुद्धि-पक्ष का" (डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा) । जीवन में आदर्श और यथार्थ का स्थान, प्रेम और विवाह आदि समस्याएँ इसमें उठाई गई हैं और उनका हल निकालने का प्रयत्न किया गया हैं । 'सारा नाटक एक अंक और एक दृश्य का है । आरम्भ में सुन्दर पूर्वरंग है और पात्रों का प्रवेश इस क्रम से होता है कि वस्तु और पात्रों का परिचय स्वतः हो जाए । तर्क-वितर्क का सूत्र इसी स्थल से निकल कर निरन्तर विस्तार पाता गया है'—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा । उसमें संगीत, विदूषक, स्वगत और जनान्तिक की व्यवस्था है । प्रो० सत्येन्द्र का कथन है कि इसके चरित्रों और वातावरण के संघर्ष की आत्मा आजकल की है, समय-संकलन निर्दोष है, संघर्ष भी धीरे-धीरे शक्तिवान हुआ है और जहाँ उसका चरमोत्कर्ष है, वहीं नाटक समाप्त हुआ है । डा० नगेन्द्र का कथन है कि एकांकी की टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है ..हाँ, उसमें प्रसादत्व का गहरा रंग अवश्य है । हिन्दी एकांकी-साहित्य में इसके स्थान और महत्व पर विद्वानों में काफ़ी मतभेद है । चूँकि उस पर संस्कृत का प्रभाव अधिक है इसलिये...'एक घूँट' आधुनिक एकांकी की कला से काफ़ी दूर तक हटा हुआ है ।" (डा० रामकुमार वर्मा और डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित) । प्रो० अमरनाथ गुप्त भी उसे सफल 'एकांकी नाटक' मानते हुए भी प्रसाद को 'पथ-प्रदर्शक के रूप में' नहीं देखते क्योंकि "प्रसाद जी के एकांकी संस्कृत की परिपाटी से ही अधिक प्रभावित हैं ।" 'हिन्दी एकांकी और एकांकीकार' के लेखक प्रो० रामचरण महेन्द्र ने भी 'एक घूँट' को कोई विशेष महत्व का नाटक नहीं समझा । किन्तु डा० नगेन्द्र का कथन है कि "प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात

मान्य नहीं है।" प्रो० सत्येन्द्र का कथन है कि "प्रसाद जी का 'एक घूँट' हिन्दी के एकांकियों के विकास की द्वितीय अवस्था का अग्रणी है..." प्रो० प्रकाशचन्द्र जी गुप्त ने भी उसे सफल एकांकी कहा है। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने उसे कोई सुन्दर नाटक नहीं माना है किन्तु उनका यह कथन पढ़ने और गम्भीरतापूर्वक विचार करने के योग्य है—"इस प्रकार सम्पूर्ण रचना में ऐसा जान पड़ता है कि एक छोटी-सी घाटी में एक ही ओर चलते हुए बहुत से लोगों में कशमकश हो रही है" (प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन)। निष्पक्ष रूप से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत नाट्य-शास्त्र के कुछ तत्त्वों के होते हुए भी अपनी आत्मा, अपने स्वरूप, अपनी टेकनीक और अपनी मौलिकता की ही दृष्टि से प्रसाद का 'एक घूँट' डॉ० रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' की अपेक्षा सुन्दर एकांकी है और आधुनिक एकांकी के अधिक समीप है। यदि 'बादल की मृत्यु' के कारण डॉ० रामकुमार वर्मा आधुनिक हिन्दी एकांकी के जन्मदाता कहे जा सकते हैं तो 'एक घूँट' के बल पर यह गौरव जयशंकर 'प्रसाद' को देना समीचीन होगा; किन्तु चूँकि यह गौरव भारतेन्दु का है इसलिए 'एक घूँट' में हम हिन्दी एकांकियों की युवावस्था की प्रथम मनोरम झलक देखते हैं और उससे उनके विकास की दूसरी अवस्था प्रारम्भ मानते हैं।

हिन्दी नाटकों का यह युग सन् १९२९ ई० से प्रारम्भ होता है और सन् १९३८ ई० तक जाता है। इस युग के नाटकों और नाटककारों में से कुछ ये हैं:—

१. उदयशंकर भट्ट—(१) 'असहयोग और स्वराज्य' और (२) 'चितरंजनदास' (१९२२-२३ ई०), (३) 'एक ही कब्र में' (१९३६ ई०), (४) 'दुर्गा', (५) 'नेता' (६) 'उन्नीस सो [पैंतीस', (७) 'वर निर्वाचन', [१९३५ से १९४० के बीच]।

२. भुवनेश्वर प्रसाद—(१) 'प्रतिभा का विवाह' (१९३२ ई०), (२) 'श्यामा—एक वैवाहिक विडंवना' (१९३३ ई०), (३) 'पतित' (४) 'एक साम्यहीन साम्य-वादी' (१९३४ ई०), (५) 'लाटरी', (६) 'रोमांस : रोमांच' (१९३५ ई०), (७) 'मृत्यु' (१९३६ ई०), (८) 'हम अकेले नहीं हैं', (९) 'सवा आठ बजे' (१९३७ ई०), (१०) 'स्ट्राइक', (११) 'ऊसर' (१९३८ ई०)।

३. डा० रामकुमार वर्मा—'पृथ्वीराज की आँखें' (१९३६ई०)

४. जगदीशचन्द्र माथुर—(१)'मेरी बाँसुरी' (१९३६ई०), (२) 'भोर का तारा' (१९३७ई०), (३)'कलिंग विजय' (१९३७ ई०)।

५. उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—(१)'पापी' (१९३७ ई०), (२) 'लक्ष्मी का स्वागत', (३) 'मोहब्बत' (४) 'अधिकार का रक्षक' (१९३८ई०)।

इनके अतिरिक्त सर्वश्री गोविन्दवल्लभ पन्त, सुदर्शन, सज्जाद ज़हीर, सूर्य-करण पारीक, सत्येन्द्र आदि लेखकों ने उच्च कोटि के अनेक एकांकी लिखे। उपर्युक्त झाँकी से स्पष्ट है कि इस युग के एकांकी-साहित्य पर हम गर्व कर सकते हैं। इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते नाटककार एकांकी-कला के प्रति पूर्ण रूप से सचेष्ट हो चुके थे। एकांकी नाट्य-कला रूपी चाक पर बैठा हुआ नाटक-कार रूपी कुम्हार हिन्दी एकांकी की उभरने वाली आकृति को अपनी कल्पना के बल पर अनेक यत्नों और प्रयत्नों से श्रेष्ठ कलाकृति का रूप दे रहा था और उसकी कल्पना अ-हिन्दी प्रभावों से मुक्त हो चली थी।

तीसरी अवस्था

यह अवस्था १९३८ ई० से १९४७ ई० तक मानी जा सकती है। इसके हम दो भाग कर सकते हैं:—(१) १९३८ ई० से १९४० ई० तक, और (२) १९४० ई० से १९४७ ई० तक। पहले भाग अर्थात् दो वर्षों के इस समय को हम संक्रान्ति काल कह सकते हैं। यह विकास की दो अवस्थाओं के बीच का वह काल है जबकि कुछ देर तक रुक कर हम एकांकी की उपयोगिता, स्वरूप, स्थान एवं महत्व आदि पर खूब तर्क-वितर्क करके किसी एक निश्चय पर पहुँच गये और तब फिर लिखना प्रारम्भ कर दिया और जब लिखना प्रारम्भ किया तभी कुछ विचित्र एवं क्रान्तिकारी परिस्थि-तियों ने हमारे विषय, हमारी शैली और हमारे दृष्टिकोण को भी एक नया मोड़ दे दिया।

१९२८ ई० के 'हंस' के एकांकी विशेषांक ने एकांकी के संबंध में एक विवाद उठा दिया जिसका प्रारंभ चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के एक लेख से हुआ। इसमें उन्होंने एकांकी को लाहौर के अनारकली बाज़ार में प्रायः मिलने वाली अनोखी विज्ञापनबाज़ी की तरह की चीज़ मानकर उसकी हँसी उड़ाई। उन्होंने उसकी अपनी टेकनीक नहीं मानी। उसकी कोई उपयोगिता नहीं स्वीकार की और उसको कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया। जैनेन्द्र जी ने भी उसे ऐसी ही हल्की चीज़ समझा और कहा कि सत्स-मालोचन से उसका विकास रुक जायेगा। श्रीपतराय, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और प्रो० अमरनाथ गुप्त ने चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की बातों का विरोध किया।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की बातें हिन्दी पाठकों और लेखकों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थीं। रचनाएं जब तक कुछ नहीं या कुछ ही होती हैं तब तक उनके बारे में विशेष विचार-विमर्श की आवश्यकता नहीं समझी जाती किन्तु

जब वे अपना एक निश्चित वर्ग एवं प्रकार बनाने की ओर उन्मुख होती है तब उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार होने लगता है। सन् १६३८ ई० के आस-पास हिन्दी एकांकी-साहित्य इसी स्थिति में आगया और जब यह विवाद समाप्त हो गया तब एकांकी कला, उसके स्वरूप, उसके स्थान, उसके विषय आदि के सम्बंध में जैसे सब कुछ निश्चित हो गया। अब हिंदी एकांकी-साहित्य बड़ी तीव्रता और कलात्मकता के साथ आगे बढ़ा। जिन लेखकों के नाम पिछले युग में लिये गये हैं उनकी और उनके अतिरिक्त अन्य लेखकों की तूलिकाएँ जैसे वरदान पाकर अविराम गति से नृत्य-रत हो उठीं।

और तभी द्वितीय महायुद्ध की लपटों की आँच उन तूलिकाओं और उनकी आत्माओं को तप्त-दग्ध करने लगी। १९४० ई० से १९४७ ई० के बीच का समय हमारे राष्ट्र के लिये चोटों, तड़पनों, कराहों का युग था। राष्ट्र पर काली घटाएँ रह-रह कर घिरती और सघन हो उठती थीं। युद्ध की विभीषिकाएँ, बंगाल का अकाल, आज़ादी की हुंकार, विदेशी शासकों के लोमहर्षक अत्याचार, हमारे बलिदान, आई० एन० ए० के क्रान्तिकारी मुकदमे, चोरबाज़ारी आदि इन्हीं सात वर्षों के भीतर की ही बातें हैं! कैसा था वह युग!! दैनिक आवश्यकताओं की भी वस्तुएँ नहीं मिल पाती थीं। सुहाग की चुनरी और कफ़न तक के लिये, नमक से लेकर अनाज के दानों तक के लिये भीख और चोरी का सहारा लेना पड़ता था। आध्यात्मिक भारत की नैतिकता चोरबाज़ार में पैसे-पैसे पर बिक रही थी। राष्ट्रीय चेतना नये-नये रूपों में सामने आरही थी--क्षुब्ध, क्रुद्ध, उद्दीप्त, दीप्त, रञ्जित एवं अनुरञ्जित। इन सबने हमारे चिन्तन और हमारी कला को प्रभावित किया। एकांकी भी अछूता नहीं रह सका। पहले मानव, समाज और प्रकृति के मूलभूत तत्त्वों पर जो बुद्धिवादी आक्रमण हुआ था, वह अब नहीं मिलता। "बिलकुल सामयिक और स्थूल समस्याओं, प्रश्नों और आवश्यकताओं ने एकांकीकार को आकर्षित कर लिया है और वह इस स्थूलता से उन्हें प्रकट भी करने लगा है" (प्रो० सत्येन्द्र)। उनकी कला जनसाधारण की समस्याओं की अभिव्यक्ति का सरलतम माध्यम बनना चाहती है। उसकी तूलिका की रंगीनियाँ जा रही हैं। डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर, भुवनेश्वर, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, गणेशप्रसाद द्विवेदी, चन्द्रकिशोर जैन, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, 'इन्द्र', 'राकेश', आदि अनेक इस युग के मान्य कलाकार हैं।

चौथी अवस्था

हिन्दी एकांकियों के विकास की चौथी अवस्था स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से

प्रारम्भ हुई है। इस अवस्था में हिन्दी एकांकियों पर रेडियो का प्रभाव बड़ी गहराई से पड़ा है। उसके पहले हिन्दी रेडियो-माता के लिये सौतेली बेटी थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इसी के विरोध में आन्दोलन भी चलाया था। शिवनाथ एम० ए० के कथनानुसार आज़ादी मिलने पर रेडियो के अधिकारियों की दृष्टि इस उपेक्षित पुत्री के प्राप्य पर भी गई और अब "रेडियो एकांकी इस युग की माँग है" (प्रो० रामचरण महेन्द्र)। इस अवस्था में साधारण एकांकियों में दूसरी और तीसरी अवस्था के तत्त्व किसी न किसी रूप में मिलते हैं। रेडियो पर प्रसारित होने वाले नाटकों में—और आज के अधिकांश एकांकी रेडियो पर ही प्रसारित होने के लिये लिखे जाते हैं—कुछ नए तत्त्व और आ गए हैं। उनमें कभी-कभी सूत्रधार (Narrator) की आवश्यकता पड़ती है। स्टेज-इफ़ेक्ट के लिये कुछ देर तक रुकने का, पृष्ठभूमि-संगीत का और ग्रामोफ़ोन-रेकार्डों आदि का सहारा लिया जाता है। अभिनव मुद्राओं के स्थान पर ध्वनि-निर्देश आवश्यक हैं। पात्र भी बहुत कम रखे जाते हैं। रेडियो एकांकियों का अपना एक पृथक् प्रकार बन चला है और उसका वर्गीकरण भी डा० रामकुमार वर्मा ने अपने निबंध 'ध्वनि नाटक की शैली' में किया है, जैसे नाटक, रूपक, संगीत-रूपक, प्रहसन आदि। कहना न होगा कि आज उदयशंकर भट्ट से लेकर डा० लक्ष्मीनारायण लाल तक सभी बड़े-छोटे नाटककार रेडियो एकांकी लिखते हैं। डा० रामकुमार वर्मा, 'अश्क,' उदयशंकर भट्ट, चिरंजीत, अमृतलाल नागर, प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त', अनिल कुमार आदि अनेक लेखकों के एकांकियों में रेडियो एकांकी-कला अपने प्रौढ़तम एवं मंजुल-मनोहर रूप में निखर रही हैं।

इस प्रकार हिन्दी का एकांकी साहित्य विकास की अन्य अवस्थाओं में से होता हुआ आज अत्यन्त प्रौढ़ और समृद्ध रूप में हमारे सामने है। भविष्य में उसके लिये और भी अधिक प्रौढ़ता और समृद्धि है। उसका स्वर्ण युग अभी आया नहीं—आगे आएगा।

———

हिन्दी के प्रमुख एकांकीकार

—डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

हिन्दी एकांकी का इतिहास यद्यपि पन्द्रह-बीस वर्ष से अधिक पुराना नहीं है तथापि जीवन की तीव्र गति के साथ उसका विकास भी बड़ी तेज़ी से हो रहा। जैसे किसी समय कहानी का जन्म हुआ था, और उसके बिना कोई पत्र-पत्रिका अपूर्ण-सी जान पड़ती थी वैसे ही आज एकांकी की दशा है। कोई भी पत्र-पत्रिका एकांकी से शून्य नहीं दिखाई देती। उसका एक बड़ा कारण समयाभाव भी है। आज बड़ी रचनाओं के लिये अवकाश निकाल लेना बड़ा कठिन कार्य है। दूसरा कारण देश में सिनेमा के बढ़ते हुए कुप्रभाव के विरुद्ध हिन्दी रंगमंच के उद्धार द्वारा जीवन और साहित्य में सुरुचि का समावेश करना है : यूनिवर्सिटियों और कालिजों में बड़े नाटकों के स्थान पर रंगमंच पर एकांकी नाटकों का ही अभिनय विशेष रूप से होता है। इधर गत दो-तीन वर्षों से तो केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से 'यूथ फैस्टीवल' के नाम से जो प्रतियोगिता होती है उसमें एकांकी नाटक भी प्रतियोगिता का एक विषय रहता है। रेडियो द्वारा भी प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है और उसके परिणाम-स्वरूप रेडियो-रूपकों की एक अलग विधा का स्वरूप प्रकाश में आने लगा है। यों एकांकी नाटक आज एक प्रमुख साहित्यिक विधा बन गया है।

बहुधा किसी नई विधा के हिन्दी में आने पर दो दल हो जाते हैं। उनमें से एक का अभिप्राय उस विधा को हिन्दी का सिद्ध करना होता है तो दूसरे का उसे विदेश का—विशेष रूप से अंग्रेज़ी का। हिन्दी एकांकी के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ है। नाट्य-शास्त्र में एकांकी के ढांचे के अनेक प्रकार हैं, भारतेन्दु ने भी वैसे नाटक लिखे हैं और एकांकी के जन्म से पहले हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार 'प्रसाद' ने भी 'एक घूंट' जैसे अपने नाटकों में एकांकी की टेकनीक को अपनाया है। लेकिन यह सब होते हुए भी हिन्दी एकांकी पश्चिम की देन है—वैसे ही जैसे आधुनिक हिन्दी कहानी अपने अनेक भारतीय पूर्वरूपों के होते हुए भी पश्चिम की देन है। यह स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। समस्त विश्व जहाँ एक राजनीतिक अथवा सामाजिक इकाई बनने के लिये अपनी समस्त वैज्ञानिक प्रगति के माध्यम से आगे बढ़ रहा है वहाँ एक देश की वस्तु दूसरे देश में पहुँच कर एक दिन सबकी होने को है, यह दृष्टि ही समीचीन है और इसी लिये हम एकांकी को पश्चिम से अनु-

प्राणित होकर आया हुआ मानकर भी उसे आज अपना मानते हैं। कारण, उसकी विषय-वस्तु और रूप-कौशल में हम अपनापन लाने के लिये प्रयत्नशील हैं। अस्तु।

हिन्दी के प्रमुख एकांकीकारों के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमारी दृष्टि सबसे पहले 'कारवाँ' के लेखक भुवनेश्वर पर जाती है। इसका एक कारण है और वह यह कि पश्चिम में अपने यथार्थवादी और समस्यामूलक नाटकों से नाट्य-जगत में क्रान्ति का सूत्रपात करने वाले इब्सन और शॉ से प्रेरणा लेकर इन्होंने सबसे पहले हिन्दी को एकांकी देने का प्रयत्न किया। 'कारवाँ' के 'प्रवेश' में भुवनेश्वर ने कोष्ठक देकर लिखा है—(लिखने के बाद मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे 'शैतान' के एक सीन में 'शॉ' की छाया तनिक मुखर हो गई है, मैं उसे निर्विवाद स्वीकार करता हूँ।) डा० सत्येन्द्र ने इसी 'शैतान' एकांकी के अन्त में दिये गये रंगमंच-संकेत की भाषा को पाश्चात्य प्रभाव का द्योतक मानते हुए यह उदाहरण दिया है—"राजेन उस मृत्यु से शीतल हाथ को अपने गर्म ओठों तक ले जाना चाहता है, पर सहसा वह हाथ छुड़ा कर उसके गले में बाहें डालकर उसके ओठों को चूम लेती है और आहत होकर गिर पड़ती है।"('हिन्दी एकांकी' पृष्ठ ८३)। 'शीतल हाथ', 'गर्म ओंठ' और 'चुम्बन' तीनों ही अंग्रेज़ी के प्रभाव से आए हैं। डाक्टर नगेन्द्र का मत है—"भुवनेश्वर पर अंग्रेज़ी का प्रभाव स्पष्ट है। शॉ की व्यंग्य-वक्रोक्तियों ने उन्हें विशेष रूप से आकर्षित किया है—उनकी कथावस्तु, शैली और विचारधारा पर भी शॉ का बहुत कुछ प्रभाव है।" ('आधुनिक हिन्दी नाटक', पृष्ठ १५१)। वस्तुतः भुवनेश्वर के एकांकी भारतीय नामरूप में पाश्चात्य आत्मा को छिपाए हुए हैं।

इनके प्रसिद्ध एकांकी संग्रह 'कारवाँ' में छः एकांकी संगृहीत हैं—१ श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना, २—एक साम्यहीन साम्यवादी; ३—शैतान; ४—प्रतिभा का विवाह; ५—रोमाँस : रोमांच और ६—'लाटरी।' श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' में दो ऐसे व्यक्तियों को वैवाहिक बन्धन में बँधा हुआ दिखाया गया है, जिनमें कोई समानता नहीं है, वे एक-दूसरे के लिये नितान्त व्यर्थ से हैं। केवल विवाह की रूढ़ि में ही वे एक साथ हैं—बस। 'एक साम्यहीन साम्यवादी' में ऐसे साम्यवादी का चित्र है, जो स्वयं आभिजात्य की शृंखला में जकड़ा होने पर भी साम्यवाद के लिये प्रयत्नशील रहता है और एक मजदूर की स्त्री को अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाने में सफल होता है। 'शैतान' में स्त्री-पुरुषों के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध की चर्चा है। वह सेक्स पर आधारित है। एक पुरुष जब किसी स्त्री के साथ अकेले में होता है तो उसे लगता है कि दूसरे उसे उसका पति समझेंगे और स्त्री जब किसी एक से प्रेम न करने का प्रण-सा करती है तो उसे ही दूसरे के अभाव में आत्मसमर्पण करते देखकर सर्वस्व समझने लगती है। 'प्रतिभा का विवाह' में विवाह और प्रेम के

रूप को स्पष्ट किया गया है, जिसमें दिखाया यह गया है कि जिसे प्रेम किया जाता है उससे विवाह करना ठीक नहीं क्योंकि उससे प्रेम में किये जाने वाले त्याग और कौतूहल के लिये अवकाश नहीं मिलता। इससे आज की प्रशिक्षित स्त्रियों की इस मनोवृत्ति की ओर भी संकेत होता है कि वे समाज में प्रतिष्ठा चाहती हैं, मातृत्व नहीं। 'रोमांस : रोमांच' में एक ऐसी स्त्री का चित्र है, जिसे एक पुरुष मन से अपनी प्रेयसी मानता है और ऊपर से बहन मानने का ढोंग करता है। उस स्त्री का पति उस सुधारक के उस रूप का उद्‌घाटन कर उससे कहता है कि वह उसकी स्त्री को अपनी पत्नी के रूप में ले जा सकता है और वह स्वयं धर्म-परिवर्तन कर तलाक़ को सम्भव बना सकता है। 'लाटरी' में एक स्त्री का पति जब विदेश से लौटता है तो उसे दूसरे के प्रेम में जकड़ा पाता है। अन्त में झगड़ा यों समाप्त होता है कि दूसरा पुरुष पहले पति के स्थान पर विदेश चला जाता है।

सारांश यह है कि इनके नाटकों में प्रेम का त्रिकोण बना है पर वह एक अविवाहित युवती के लिये न होकर विवाहित युवती के लिये है। यह पाश्चात्य सभ्यता में है पर हमारे भारतीय जीवन में इस सभ्यता के अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं है इस लिये हमारे भारतीय समाज की भी यह प्रमुख समस्या मानी जा सकती है, यद्यपि उसका रूप मर्यादा के आग्रह का उल्लंघन करने में असमर्थ होने से वैसा स्पष्ट नहीं हुआ। लेकिन लेखक केवल समस्याओं को उनके तीव्रतम रूप में उपस्थित करके रह गया है, उसने उनका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया। कदाचित् इसलिये कि समस्या-नाटक का समाधान देना उसे उसके पद से गिराना होगा।

भुवनेश्वर ने 'ऊसर' नाम से जो एकांकी लिखा है, उसमें व्यावहारिक मनोविज्ञान को आधार बनाया गया है। उसमें पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त उच्चवर्ग का चित्र दिया गया है। बेचारा ट्यूटर तो दो महीने से तनख्वाह नहीं पाता और कुत्ते की चिन्ता और बेबी की देखरेख में सब परेशान रहते हैं। मनः स्थिति के ज्ञान के लिये गृहस्वामी और गृहस्वामिनी से कुछ बातों का उत्तर लिया जाया है, जिसके आधारपर उनकी विकारग्रस्त मनोदशा प्रकट होती है। 'स्ट्राइक' के पात्रों की स्थिति को दुःखान्त बनाने के लिये भी वह इसी मनोविश्लेषण का आधार लेता है।

इन पाश्चात्य-प्रभाव से बोझिल एकांकियों के अतिरिक्त भुवनेश्वर के कुछ प्रतीकात्मक नाटकों में 'कठपुतलियाँ' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें कथावस्तु उनके व्यक्तिगत जीवन के एक प्रसंग से उद्‌भूत है और इसमें उनकी कला की तराश काफ़ी प्रभावोत्पादक है। 'ताँबे के कीड़े' नामक एक दूसरे एकांकी में एक परेशान रमणी, थके हुए अफ़सर, रिक्शाचालक, पागल आदि के यथार्थवादी चित्र हैं, जो वर्त-

मान समाज की वीभत्स परिस्थिति की ओर संकेत करते हैं। ऐतिहासिक नाटकों में 'सिकन्दर' में उनकी भारतीयता के प्रति अनुरक्ति पहली बार मुखर हुई है।

भुवनेश्वर की कला की विशेषता रंगमंचीय निर्देशों में है। वे पात्र की वेश-भूषा, मंच की सामग्री और समय का ही ब्योरा नहीं देते वरन् पात्रों की मन:स्थिति के अनुकूल उसका वर्णन भी कर देते हैं, जिसमें देश-काल की संगति भी सहायक अथवा विरोधी बनकर आती रहती है। आवाज़ के उतार-चढ़ाव और रंगमंच-प्रभाव तक वे यथार्थ रूप में रखना चाहते हैं। नाटकों के आरम्भ में वे कोई भूमिका नहीं देते। एकांकी सहसा प्रारम्भ हो जाता है और पात्रों के वार्तालाप से ही वस्तु-स्थितियाँ प्रकट होती जाती हैं। कौतूहल की रक्षा के साथ चरम सीमा पर पहुँचते ही नाटक समाप्त हो जाता है। कथोपकथनों में व्यंग्य और संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति रहती है। बौद्धिकता के आग्रह से उन्होंने भावुकता को कलाकार के लिये विष माना है पर पात्रों के चित्रण में वे आलंकारिक शैली से बच नहीं पाते जैसे :—'**एक २०-२२ वर्ष की युवती मलिन वस्त्रों में ऐसे दीखती है जैसे आँसुओं की नीहारिका में नेत्र**' या '**कमरे में प्रगाढ़ कब्र की-सी नीरवता और निश्चलता है; केवल एक प्रखर और उत्तेजित सत्य के समान स्टोव सन-सन और भाँय-भाँय जल रहा है।**' वाक्यों में भावुकतापूर्ण शैली से भी अधिक प्रभावोत्पादकता है। शब्द-चित्रों की तीखी भाषा से भुवनेश्वर विचित्र प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ कलाकार है। व्यंग्य और कटुता उनकी कला में तलवार की दो धारें हैं जो पैनी मार मारती हैं। जीवन के प्रति सन्देहशील दृष्टिकोण का ही यह परिणाम है कि उनमें कला खीझ का पर्याय-सा लगती है।

डा० रामकुमार वर्मा दूसरे प्रमुख एकांकीकार हैं। इनका 'बादल की मृत्यु' हिन्दी का प्रथम एकांकी माना जाता है। उनका यह नाटक गद्यकाव्य की कोटि में आता है। डाक्टर वर्मा हिन्दी के उन एकांकीकारों में हैं, जिनके नाटक रंगमंच पर अभिनीत होने के लिये लिखे गये हैं। उनके नाटकों के लगभग आठ संग्रह निकल चुके हैं। उनके नाम हैं—१. पृथ्वीराज की आँखें, २. रेशमी टाई, ३. चारुमित्रा, ४. विभूति, ५. सप्त किरण, ६. रूपरंग, ७. कौमुदी महोत्सव और ८. रजतरश्मि। इन संग्रहों में प्रथम चार में एकांकी नाटक और द्वितीय चार में रेडियो-नाटकों का संग्रह है। उनके रेडियो-नाटकों की यह विशेषता है कि वे साधारण रंगमंच पर भी समान सफलता के साथ खेले जा सकते हैं।

'पृथ्वीराज की आँखें' में 'चम्पक', ऐक्ट्रेस', 'नहीं का रहस्य', 'बादल की मृत्यु' 'दस मिनट' और 'पृथ्वीराज की आँखें' ये छह नाटक हैं। इनमें उनकी कला के उदात्त रूप के दर्शन होते हैं। 'चम्पक' में नायक कवि निरन्तर अपने जीवन का

ध्येय दीन-दुखियों की सेवा करना ही मानता है। वह चम्पक नामक कुत्ते को घायल देखकर ले आता है और उसकी सेवा करता है। उसके बाद उस कुत्ते को घायल करने वाले भिखारी की भी सेवा करता है, जिसने कुत्ते को इसलिये मारा था कि उसका मालिक उसकी चिन्ता न कर अपने कुत्ते की देखभाल किया करता था। 'एक्ट्रेस' में अपने पति द्वारा परित्यक्त प्रभातकुमारी एक्ट्रेस बन जाती है और अन्त में उसका पति अपनी भूल स्वीकार करता है। 'नहीं का रहस्य' प्रो० हरिनारायण का मानसिक चित्र है, जिसमें 'नहीं' का एक रहस्यमय आधार लिया गया है। 'बादल की मृत्यु' में बादल की मनःस्थिति और 'पृथ्वीराज की आँखें' में पृथ्वीराज की वीरता और उसके शौर्य का चित्र है। 'दस मिनट' में भारतीय स्त्री के सतीत्व में विश्वास प्रकट किया गया है। इन नाटकों में लेखक एक आदर्शवादी के रूप में मानव-चरित्र की उदात्त भावनाओं को हमारे समक्ष रखना चाहता है। उसमें उसे सफलता भी मिली है।

'रेशमी टाई' के पाँच एकांकियों में 'परीक्षा' में एक २० वर्ष की युवती की अपने ५० वर्ष के प्रोफ़ेसर से शादी कराई है। प्रोफ़ेसर अपने एक वैज्ञानिक मित्र के वैज्ञानिक रस से सदैव युवा बने रहने का प्रबन्ध भी कर लेते हैं लेकिन इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। अपनी पत्नी की परीक्षा करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेम के लिये आयु का अन्तर कोई बाधा नहीं। 'रूप की बीमारी' में एक युवक को एक युवती के प्रेम में लिप्त दिखाया है, जिसकी परीक्षा करके डाक्टर उसका आपरेशन करने का निश्चय करता है पर वह अपनी प्रेम की बीमारी का रहस्योद्-घाटन कर देता है। यह डाक्टरों पर व्यंग्य है। '१८ जुलाई की शाम' में एक स्त्री का अपने पति के यथार्थ गुणों से अपरिचित होने के कारण एक रंगीले व्यक्ति के चक्र में फँसना और अपने पति के यथार्थ गुणों का परिचय पाकर पतित्यक्ता हो जाना दिखाया है। 'एक तोले अफ़ीम की कीमत' में एक लड़का गँवार लड़की से शादी किये जाने के कारण और एक लड़की दहेज देने से अपने पिता के दरिद्र होने की आशंका से अफ़ीम खाना चाहते हैं। 'रेशमी टाई' में एक साम्यवादी बीमा एजेण्ट को टाई और खद्दर का थान चुराते दिखाया है।

'चारुमित्रा' के चार नाटकों में से पहला 'चारुमित्रा' है, जिसके आधार पर संग्रह का नामकरण किया गया है। इसमें कलिंगकन्या चारुमित्रा के बलिदान और स्वामि-भक्ति की कहानी है, जिसके परिणामस्वरूप अशोक का हृदय परिवर्तित हो जाता है। 'उत्सर्ग' में पुनर्जन्म तथा प्रेतात्माओं के आधार पर प्रेम और कर्तव्य का चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें एक वैज्ञानिक वैज्ञानिक यंत्र की सहायता

से मृतात्माओं को बुलाता है। वह स्वयं मित्र की विधवा पत्नी और पुत्री के लिये अपनी प्रेमिका की उपेक्षा कर देता है और अन्त में अपनी प्रेमिका की कृपा से वह अपने कर्तव्य में सफल हो जाता है और मित्र की पुत्री के लिये अपने अद्भुत यंत्र को भी तोड़ देता है। 'रजनी की रात' में स्वतन्त्रता-प्रिय कुमारी की कहानी है, जो अलग रहना चाहती है। अन्त में एक लड़की के डाकुओं द्वारा भगा ले जाने और एक युवक द्वारा उसकी रक्षा होने पर वह उस युवक को आत्म-समर्पण करती है—भय और आत्म-रक्षा के लिये नारी को जैसे पुरुष का सहारा लेना ही पड़ता है। 'अन्धकार' में ब्रह्मा के अपनी सुन्दरी कन्या सरस्वती पर मुग्ध होने की कहानी है, जिनका मूल ध्येय प्रेम और वासना का 'अटूट सम्बन्ध स्थिर करना है। वासना प्रेम के लिये आवश्यक शर्त मानी गई है। 'उत्सर्ग' और 'अन्धकार' में अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश नाटककार के नाट्य-कौशल के प्रतीक हैं और वे हिन्दी एकांकी के क्षेत्र में मौलिक प्रयोग हैं।

'विभूति' में 'शिवाजी', 'समुद्रगुप्त' और 'विक्रमादित्य' पर एकांकी हैं। शिवाजी की नारी-पूजा, समुद्रगुप्त में राजदूत की चोरी का उद्घाटन, और विक्रमादित्य में उसकी न्याय-परायणता का चित्र है। पीछे चलकर डा० वर्मा ने जो रेडियो-नाटक लिखे हैं उनमें अधिकांश ऐतिहासिक हैं। 'कौमुदी-महोत्सव', 'राजरानी सीता' 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' और 'तैमूर की हार' बड़े सफल रेडियो-नाटक है। 'कौमुदी महोत्सव' में चन्द्रगुप्त और चाणक्य के चरित्रों का मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में चित्रण है। 'राजरानी सीता' में अशोकवाटिका-स्थित सीता का चित्र नये रूप में आया है। 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' में औरंगज़ेब के मरने के समय के उस पश्चात्ताप का अंकन है, जिससे उसे आत्मबोध हुआ। 'तैमूर की हार' में उसकी वीरता और वात्सल्य-भाव का दिग्दर्शन है।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने सामाजिक नाटकों में मध्यवर्गीय भद्र समाज के स्त्री-पुरुषों के प्रेम, ईर्ष्या, सन्देह, पाखण्ड आदि को अपने नाटकों का आधार बनाया है जबकि ऐतिहासिक नाटकों में व्यक्ति विशेष की चारित्रिक महत्ता का उद्घाटन किया गया है। वर्मा जी के नाटक सामाजिक हों या ऐतिहासिक उनमें एक आदर्शवादी नैतिक दृष्टिकोण की प्रधानता है। 'रेशमी टाई' जैसे नाटकों में व्यंग्य भी बड़ा गहरा है पर वहाँ भी स्त्री की सदाशयता नाटक को यथार्थवादी होने से बचा लेती है। भाषा में काव्य-तत्त्व का होना स्वाभाविक ही है। पात्रों की रूपरेखा को दो-तीन वाक्यों में ही दे देना उनकी विशेषता है। मध्यकालीन इतिहास अथवा पौराणिक तत्त्वों के आधार से वे मानव-मन की आज की गुत्थियों को भी सुलझाने

में पटु हैं। ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने मौलिक अनुसन्धान-वृत्ति का वैसा ही परिचय दिया है, जैसा कि प्रसाद ने। 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' इस दृष्टि से उल्लेखनीय नाटक है, जिसमें औरंगज़ेब के पत्रों का भी हवाला दिया गया है।

डाक्टर रामकुमार वर्मा के बाद सेठ गोविन्ददास का नाम आता है। सेठ गोविन्ददास जी उन एकांकीकारों में हैं, जिन्होंने लम्बे नाटकों के साथ एकांकी लिखने में भी अपनी कला का परिचय दिया है। उन्होंने अनेक एकांकी लिखे हैं जो स्पर्द्धा, सप्तरश्मि, एकादशी, पंचभूत और अष्टदल आदि संग्रहों में संगृहीत हैं। इन संग्रहों में सब मिलाकर कोई चालीस एकांकी हैं। इनमें कुछ सामाजिक हैं, कुछ ऐतिहासिक–पौराणिक हैं, कुछ राजनीतिक हैं और कुछ प्रहसन हैं। सामाजिक नाटक 'स्पर्द्धा' में आधुनिक शिक्षित स्त्री-पुरुषों की समानता का प्रश्न है, जिसमें एक क्लब के चुनाव के प्रसंग में स्त्री के विरुद्ध भी वैसा ही आक्षेपपूर्ण पेम्फलेट छापा जाता है जैसा पुरुष के विरुद्ध छपता है। पुरुष पात्र इसे औचित्य की सीमा में सिद्ध करता है क्योंकि जहाँ समानता है वहाँ एक पक्ष के लिये विशेष पक्षपात दिखाना व्यर्थ है। 'धोखेबाज़' में व्यावसायिक जगत के नैतिक पतन पर व्यंग है, जिसमें एक मुनीम द्वारा अपने सेठ के दिवाला निकलने पर धोखेबाज़ी का मुकदमा चलता है। 'अधिकार लिप्सा' में एक ज़मींदार के अपने पुत्रों द्वारा ज़मींदारी पर अधिकार कर लेने के कारण बीमार पड़कर उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न है पर डाक्टर हकीम और वैद्य उसे एक ही दिन में मार देते हैं। ऐसे ही 'वह मरा क्यों' में एक गोरा सिपाही मर जाता है, जिसकी जाँच के लिए 'बड़े ड़ाक्टर' पहले शाकमण्डी में कासीफल से मरने, फिर हलवाई की दुकान पर पिस्ते की बर्फ़ी खाकर मरने का अनुमान लगाते हैं और अन्त में पता चलता है कि वह अपनी मेम साहब की किसी छूत की बीमारी से मरा। 'जाति उत्थान' में कायस्थों के क्षत्रिय, धूसर बनियों और नाइयों के ब्राह्मण बनने पर व्यंग्य है। 'मानव-मन' में एक ऐसी स्त्री की यथार्थ दशा का चित्र है, जिसका पति दीर्घकाल तक बीमार रहता है। एक कालिज-शिक्षा प्राप्त युवती अपने पति ब्रजमोहन के क्षय-ग्रस्त होने पर दो साल तक तो देख-भाल करती है पर फिर क्लब आदि जाने लगती है। इसी बात को लेकर पद्मा उसे कुलटा बताती है। 'फांसी' में एक कवि, एक पूंजीपति और एक मज़दूर को फांसी लगती है—पहले को एक सुन्दरी पर उसके रूप-सौंदर्य के कारण बलात्कार करने पर, दूसरे को हड़ताली मज़दूरों में से एक-दो को मारने पर और तीसरे को मज़दूरों का खून पीने वाले एक पूंजीपति के मार डालने पर। 'व्यवहार' में कृषक और ज़मींदार का संघर्ष है, जिसमें एक ज़मींदार के भोज में किसानों को सम्मिलित होने से रोका जाता है—कालिज के एक विद्यार्थी द्वारा।

'निर्माण का आनन्द' में एक ऐसे छात्र की कहानी है, जो एक सहपाठिनी के सहारे के बिना पढ़-लिख ही नहीं सकता। लड़की एक प्रोफ़ेसर के सम्पर्क में आकर अपने को कुछ विमुख करती है। परिणाम यह होता है कि लड़का फेल हो जाता है और लड़की प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण। अन्त में लड़की दया करके उस लड़के से ही शादी कर लेती है ताकि वह उसे कुछ बना सके।

इस प्रकार सेठ गोविन्ददास के सामाजिक एकांकी समाज की अनेक समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं पर गहन मनोविज्ञान की ओर उनकी रुचि नहीं। हाँ, समाज में जो अनुभव उन्हें हुए हैं उनको एक सीधी रेखा में प्रस्तुत कर दिना उनके सामाजिक नाटकों का गुण है। उन्होंने बड़ी सफ़ाई से समस्याओं को रखा है; कहीं उलझन नहीं है। 'मानव-मन' जैसे नाटक उन्होंने कम ही लिखे हैं। जिनमें मनोविश्लेषण-शास्त्र का स्पर्श खिल उठता है।

सेठ जी के राजनीतिक नाटकों में 'भूख-हड़ताल' में एक यशःलोलुप सत्याग्रही का मज़ाक़ उड़ाया गया है। सुदामा के तन्दुल में ऐसे मिनिस्टरों का पर्दा फ़ाश किया गया है, जो वोट माँगते समय विनम्र बन जाते हैं और पीछे से जिनका स्वार्थी रूप प्रकट हो जाता है। 'यू० नो०' में उद्धत स्वभाव के मिनिस्टर का चित्र है।

ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में कथावस्तु प्रसिद्ध और प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथों से ली गई है या संस्कृत की रचनाओं से। उदाहरण के लिए 'जालौक और भिखारिणी' तथा 'चन्द्रापीड़ और चर्मकार' की कथा राजतरंगिणी से ली गई है और 'शिवाजी का सच्चा स्वरूप', 'निर्दोष की रक्षा' तथा 'कृष्णाकुमारी' की क्रमशः सर यदुनाथ सरकार के 'शिवाजी', अरविन के 'लेटर मुग़ल्स' तथा टाड एवं गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के राजपूताने के इतिहास से। इन नाटकों में प्राचीन भारतीय गौरव को उभार कर रखा गया है। इनमें महाराष्ट्र के इतिहास विशेषकर पेशवाओं के जीवन पर उनके एकांकी उल्लेखनीय हैं।

कुछ एकांकियों में उनकी हास्य-विनोद की प्रवृत्ति अच्छी तरह व्यक्त हुई है। 'बूढ़े की जीभ' में वृद्धों की स्वादेन्द्रिय किस प्रकार तीव्र हो जाती है इस पर व्यंग है और 'विटेमिन' में स्वास्थ्य-सिद्धान्त का उपहास है।

सेठ गोविन्ददास के इन नाटकों में एक विशेषता टेकनीक की दृष्टि से है और वह यह कि वे 'उपक्रम' और 'उपसंहार' का प्रयोग बहुधा करते हैं। ऐसा हिन्दी के किसी अन्य नाटककार ने नहीं किया। लेकिन सर्वत्र वह ठीक ही हो ऐसा नहीं है फिर भी वह उनकी कला की विशेषता अवश्य है।

एकांकी से भी अधिक सेठ जी अपने मोनोड्रामाओं—एकपात्री नाटकों—के लिये विशेष प्रसिद्ध हैं। 'चतुष्पथ' में उनके ऐसे नाटकों का संग्रह है । 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर' तथा 'सच्चा जीवन' आदि इनके एकपात्री नाटक हैं। ये स्वगत-कथन या आकाश-भाषित से भिन्न हैं क्योंकि इनमें नायक कभी चश्मा, कभी नोटबुक, कभी कलम, कभी लाइट हाउस, कभी घोड़ा, कभी चिमनी, कभी बादल और कभी धरती को संबोधित कर अपने भाव और विचार प्रकट करता है। इनमें 'शाप और वर' सर्वश्रेष्ठ है। इसमें दो भाग है—शाप और वर । बोलने वाली स्त्री है और सुनने वाला पुरुष। पुरुष कुछ भी नहीं बोलता। श्री नगेन्द्र के शब्दों में : "इस नाटक में मनोविश्लेषण और वैषम्य का सुन्दर प्रयोग किया गया है। यह वैषम्य दोनों चित्रों में अनेक रूप में, परिस्थिति, शब्द और अवसान सभी में समानान्तर रूप से चलता है। वास्तव में यह नाटक हिन्दी में अपने ढंग का एक है—अद्वितीय।" —(आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ १६०)

सेठ गोविन्ददास संकलन-त्रय पर विशेष बल देते हैं। वे 'उपक्रम' और 'उपसंहार' का प्रयोग भी इसीलिये करते हैं कि एक ही समय में होने वाली घटनाओं को एक साथ रखकर पूर्व की घटनाओं को 'उपक्रम' और बाद की घटनाओं को 'उपसंहार' में रख दें रंगमंच-संकेत वे भी बहुत व्यापक देते हैं। उनकी भाषा में कवित्व की कमी है पर वह है चलती हुई और पात्र तथा परिस्थिति के अनुसार बदलने वाली।

हिन्दी के प्रमुख एकांकीकारों में श्री उदयशंकर भट्ट का भी नाम आता है। भट्ट जी न केवल एकांकी वरन् बड़े नाटकों के लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। जहाँ तक सचेतन-प्रवृत्ति को आधार लेकर नाटक के क्षेत्र में साहित्यिकता और अभिनेयता को लेकर चलने का प्रश्न है, भट्ट जी निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर होने वाले कलाकार हैं। वे संस्कृत साहित्य के प्रकांड पंडित और पौराणिक आख्यानों को अपने युग के अनुकूल ढालने में निपुण हैं। एकांकी का उनका सब से पहला संग्रह सन् १९४० में निकला था। नाम था–'अभिनव एकांकी नाटक।' इसमें 'दुर्गा', 'नेता', 'उन्नीस सौ पैंतीस', 'वर निर्वाचन', 'एक ही कब्र में' 'सेठ लाभचन्द' आदि नाटक सम्मिलित थे। 'दुर्गा' में राजपूती शौर्य से सम्बन्धित कथा है। दुर्गा का पिता विजयसिंह अफ़ीम का व्यसनी है और सवस्व खोकर अरावली की पहाड़ियों में छिपा है। दुर्जन सिंह उसकी खोज में है। झगड़ा यह है कि विजयसिंह ने दुर्जनसिंह को अकुलीन बता कर अपनी कन्या का विवाह नहीं किया। एक दिन वृद्ध को अफ़ीम नहीं मिलती और दुर्गा अपने पिता की प्राण-रक्षा के लिये दुर्जनसिंह को आत्म-समर्पण करने को प्रस्तुत हो जाती है। अफ़ीम मिलती है पर पुत्री के मूल्य पर। इस पर विजयसिंह अफ़ीम

छोड़कर पुत्री को लौटाना चाहता है। परिणाम यह होता है कि दुर्जन का हृदय-परिवर्तन होता है। 'नेता' में व्यंग्य है कि ऐसे लोग कोरे आदर्श बघारते हैं और जब अवसर आता है तब वे उन आदर्शों को ताक पर रख देते हैं। 'उन्नीस सौ पैंतीस' में एक ऐसे बेकार युवक का चित्र है जो पुराने विज्ञापन को नया समझ कर नौकरी मिलने का स्वप्न देखता और भविष्य में नाना प्रकार के हवाई क़िले बनाता है। 'वर निर्वाचन' में एक ऐसी लड़की का चरित्र है जो इंगलैंड-रिटर्न सिटी मजिस्ट्रेट के धोखे में अपने पिता के मुवक्किल से प्रेम करने लगी है। 'एक ही क़ब्र में' का सम्बन्ध हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य से है, जिसमें भूकम्प के समय मुसलमान पात्र अपने पड़ौसी हिन्दू पात्र से घृणा करने के अपराध की क्षमा माँगता है। दोनों एक ही क़ब्र में सोते हैं। यह गांधीवादी प्रभाव है। 'सेठ लाभचन्द' में सूद-खोर कंजूस सेठ का चित्र है, जो पहले ठगों के चक्कर में सात हज़ार के बदले एक आभूषण रख लेता है और फिर डाकू उससे सात हज़ार भी छीन ले जाते हैं।

भट्ट जी के दूसरे एकांकी-संग्रह का नाम है—'स्त्री का हृदय'। इसमें एक नाट्य-रूपक 'जवानी' को छोड़कर बाकी सब एकांकी हैं। 'जवानी' में तीन पात्र हैं: आगन्तुक, स्त्री और युवती जो क्रमशः विचारक, स्मृति और जवानी के प्रतीक हैं। इसमें एक क़ैदी के द्वारा विचारक, स्मृति और जवानी पर प्रकाश डलवा कर जीवन में महत्व और कर्तव्य का स्थान निर्धारित किया गया है। 'स्त्री का हृदय' में एक ऐसी नारी का चित्र है, जो अपने पति द्वारा पीटी जाती है और ऐसा करने में उसकी टाँग टूट जाती है। उसके भाई पति को सज़ा करा देते हैं। पुत्र की शादी उसी जेल के जेलर की लड़की से निश्चित होती है, जहाँ पति क़ैद है। पुत्र से जब वह मिलने दौड़ता है तो मार खाता है और पत्नी द्वारा उसे सँभाला जाता है—सम्मान देकर। यह स्त्री के हृदय की विशालता है कि किस प्रकार वह पति के अत्याचार के बाद भी उसे चाहती है। 'नक़ली असली' में एक भूखा नाटककार मंच पर प्रेम का अभिनय करता है, जिसकी पत्नी अभिनय को सच समझकर बीच में ही जा धमकती है और पति की भर्त्सना करती है कि जब घर में भूँजी भांग न हो तब दूसरी स्त्रियों के साथ रेशमी वस्त्र पहनकर प्रेम का अभिनय करना पाप है। 'दस हज़ार' में एक ऐसे सेठ का चरित्र है, जिसके लड़के को काबुली उठा ले जाते हैं और जो काबुलियों के दस हज़ार माँगने पर पुत्र से अधिक रुपयों के लिये दुःखी होता है। 'बड़े आदमी की मृत्यु में' दिखाया है कि बड़े आदमियों को ऊपर से ही सब चाहने का ढोंग करते हैं वैसे कोई हार्दिक सहानुभूति नहीं रखता। 'विष की पुड़िया' में एक सौतेली माँ की लड़की और पहली माँ के लड़के का प्रेम दिखाकर सिद्ध किया है कि यह आवश्यक नहीं कि माँ के संस्कार बच्चे में आवें ही। माँ के लड़की को दूध में जहर देने का

भेद लड़का पिता को बताता है और लड़की मरते-मरते उसके लिये बिल्ली का बच्चा लाती है।

'समस्या का अन्त' नामक तीसरा एकांकी-संग्रह भट्ट जी की कला का उत्कर्ष सिद्ध करता है। इसमें नौ एकांकी संगृहीत है। 'समस्या का अन्त' नामक एकांकी ऐतिहासिक है, जिसमें एक गण के सेनापति और दूसरे गण की कुमारी के प्रेम के ऊपर संघर्ष और कुमारी के बलिदान से उसका अन्त दिखाया है। संदेश यह है कि प्रेम के समक्ष जातीय मानापमान और द्वेष नहीं ठहर सकता, 'गिरती दीवारों' में बताया गया है कि १९वीं सदी के अभिजात-वर्ग के लोग मर्यादा के पालन को कैसे सतर्क रहते थे और आज परिस्थितियों ने उन्हें किस प्रकार असमर्थ बना दिया है। 'पिशाचों का नाच' में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटने के समय की अमानुषिक कहानी है। 'बीमार का इलाज' में एक मित्र किसी दूसरे मित्र के घर पहुँच कर बीमार हो जाता है, जिसके इलाज के लिये घर के लोगों में से कोई एलोपैथी, कोई वैद्यक और कोई होम्योपैथिक सुझाव देते हैं और बीमार भाग खड़ा होता है। यह व्यंग है उस घर के लोगों पर जो सभी बीमार जान पड़ते हैं। 'आत्मदान' में एक ऐसी पढ़ी-लिखी युवती का चित्र है जो अपनी शिक्षा के गर्व में पति को छोड़ एक दूसरे को साथी बनाने की सोचती है और जब उसका पति भी एक नर्तकी को साथी बनाने का उपक्रम करता है तो होश में आती है और आत्मदान में ही कल्याण मानती है। 'जीवन' नाम का एक नाट्य-रूप भी उल्लेखनीय है, जिसमें काम, वासना, यौवन, जरा, सौंदर्य आदि को पात्र बनाया गया है। 'वापसी' में मनुष्य और धन में कौन अधिक महत्व रखता है इसको तुलनात्मक दृष्टि से बताया गया है। मरते हुए व्यक्ति को डाक्टर को इसलिये नहीं दिखाया जाता कि व्यर्थ रुपया जायेगा। 'मन्दिर के द्वार पर' में चमारों द्वारा एक मंदिर की रक्षा और उसी में उनको भगवान के दर्शन न करने देने की कहानी है। 'दो अतिथि' में दो आर्यसमाजियों के जीवन की घटना है जो एक स्टेशन-मास्टर के यहाँ ठहर कर उसका और उसकी पत्नी का सारा भोजन समाप्त कर जाते हैं।

कालिदास' में 'कालिदास', 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी' नामक ध्वनि-रूपक और तीन नाटक में 'आदिम युग' मनु और मानव' तथा 'कुमारसंभव' नामक उनकी पौराणिक कृतियों का संग्रह है। डाक्टर सत्येन्द्र की सम्मति में ये एकांकियों का कोटि में नहीं आते क्योंकि पहले नाटकों में गीतमयता की प्रधानता है और दूसरों में पूरे नाटक ही अधिक हैं—विस्तार की दृष्टि से भी और संकलन-त्रय के अभाव की दृष्टि से भी; लेकिन प्रभाव की एकता की दृष्टि से उन्हें एकांकी के अन्तर्गत माना जा सकता है।

'धूमशिखा' में इनके 'धूमशिखा', 'विस्फोट', 'नया नाटक', 'नये मेहमान', 'अन्धकार', अघटित', 'मनुष्य के रूप', 'शशिलेख' और 'क्रांतिकारी विश्वामित्र शीर्षक नाटकों का संग्रह है। इनमें भट्टजी ने विश्वामित्र सम्बन्धी नाटक को छोड़कर शेष में सामाजिक समस्याओं और जीवन की नित्य घटनाओं की ही चुना है, जो यथार्थवादी हैं और वर्तमान जीवन की विडम्बनाओं पर प्रहार करती हैं। दैनिक जीवन से कोई घटना या दृश्य उठाकर बड़े से बड़ा प्रहार करना और मानव मस्तिष्क को झनझना देना भट्ट जी की विशेषता है।

इधर भट्ट जी ने रेडियो से सम्बद्ध होने के कारण अनेक रेडियो-नाटक भी लिखे हैं। उनके बड़े नाटक भी प्रकाश में आए हैं। हिन्दी नाटककारों में उन्होंने अनेक प्रयोग किए हैं। 'क्रांतिकारी' नाटक इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। फिर भी उनके बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकी अधिक सफल है। डाक्टर नगेन्द्र का यह कहना सत्य ही है—"भट्ट जी के एकांकी टेकनीक की दृष्टि से उनके बड़े गद्य नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल हैं। उनकी इन छोटी रचनाओं में कथा-संकोच एवं एकाग्रता के आग्रह से कल्पना का विकास कम और नाटकीय संवेदना का स्पन्दन अधिक स्पष्ट हो गया है।" (आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ १५८) भाषा उनकी कवित्वपूर्ण है। लेकिन इधर वे अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में बड़ी सजीव भाषा का प्रयोग करने लगे हैं जो मन के स्तरों को खोलने में समर्थ है। रंग-संकेतों में वे समय, पात्र की वेश-भूषा, बातचीत का ढंग, बैठने-उठने की दशा और परिस्थिति से सामंजस्य का प्रयत्न सभी एक साथ देते जाते हैं।

श्री उदयशंकर भट्ट के बाद एकांकीकारों में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम आता है। अश्क जी यथार्थवादी एकांकीकार है। वे मध्यवर्गीय समाज की जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं और रूढ़ियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और हमारे अन्तर्जगत में उनके प्रति एक विद्रोह का बीज बोते हैं। वे अपनी अनुभूति को सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में मनोविज्ञान के सहारे हमारे मस्तिष्क में उतार देते हैं। उन्होंने आलोचक दृष्टि से एकांकी लिखे हैं। समस्या खड़ी कर देना या उपदेश देकर छुट्टी ले लेना अश्क का काम नहीं है। अब तक अश्क ने लगभग ४० एकांकी लिखे हैं। उनमें से कुछ को रेडियो के अनुरूप बनाकर रेडियो पर प्रसारित भी कराया गया है और वे रेडियो पर बड़े लोकप्रिय भी हुए हैं। ये नाटक तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—
१. सामाजिक २. सांकेतिक या प्रतीकात्मक ३. मनोवैज्ञानिक।

प्रथम कोटि के एकांकियों में 'पापी', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'क्रासवर्ड पहेली' 'अधिकार का रक्षक', 'जौंक', 'विवाह के दिन', 'तूफ़ान से पहले' आदि प्रमुख हैं।

'पापी' में सास का बहू पर अत्याचार दिखाकर मध्यवर्गीय समाज की पतितावस्था की ओर संकेत किया गया है, 'लक्ष्मी का स्वागत' में पूँजीवादी मनोवृत्ति का दिग्दर्शन है, 'क्रासवर्ड पहेली' में आधुनिक शिक्षित युवकों को परिश्रम से भागने और काम से जी चुराने की मनोवृत्ति पर व्यंग्य है । 'अधिकार का रक्षक' में लेखक ऐसे सामाजिक कार्यकर्ताओं की पोल खोलता है जो कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं । 'जौंक' में आजकल के मेहमानों पर व्यंग है और 'विवाह के दिन' में पुरानी विवाह-पद्धति पर, 'तूफ़ान से पहले' में साम्प्रदायिक झगड़ों का चित्र है । 'अश्क' के ये नाटक एक साधारण-सी घटना या भावना को लेकर चलते हैं और बड़ी-से-बड़ी बात कहने में समर्थ हैं । सभी पात्र अपने स्वाभाविक रूप में आते हैं । बिना कल्पना का सहारा लिये पाठक के मन को प्रभावित करने की कला से ये नाटक चमक उठे हैं ।

दूसरे प्रकार के नाटकों में अश्क ने 'सांकेतिक' या 'सिम्बोलिक' अभिव्यक्ति के माध्यम से मानव-मन के भेदों पर प्रकाश डाला है । उनके ये नाटक अपने ढंग के अनूठे हैं । उनके नाम हैं—चरवाहे, चिलमन, खिड़की, मैमूना, चमत्कार, देवताओं की छाया में और सूखी डाली । इनमें 'चरवाहे' को निश्चिन्त जीवन का प्रतीक माना है । 'चिलमन' उस दुःखपूर्ण दीपक की प्रतीक है जो मन्द पर जलनमय लौ लिये है । इसकी नायिका शशि मंच पर नहीं आती पर उसका रूप स्पष्ट हो जाता है । 'खिड़की' प्रतिज्ञा करने वाले प्रेमी से सम्बन्धित है, मैमूना गृहस्थ-जीवन की एक झाँकी है और पति का प्रतीक है, 'चमत्कार' में मृत मीन भ्रष्ट जीवन का, गढवाली गोलियाँ साधारण लोगों के विश्वास का तथा खेवत दाढ़ीवाला सर्ववेत्ता लेखक का प्रतीक है । 'देवताओं की छाया में' एक अभाव-पीड़ित मुसलिम युवती के जीवन से सम्बन्धित है । 'सूखी डाली' में वट, आईना और सूखी डाली जीवन के खोखलेपन को प्रतीकात्मक रूप में दिखाते हैं । इस संकेतात्मक शैली में अश्क ने 'अन्धी गली' नामक एकांकी माला भी लिखी है, जिसमें एक गली के विभिन्न घरों को लेकर उनके भीतरी चित्र दिए हैं । भाव यह है कि हमारा सारा समाज इस गली की तरह ही नाना प्रकार की दुर्बलताओं से परिपूर्ण है । हिन्दी में अश्क के ये नाटक नये प्रयोग हैं, जिनके माध्यम से सामाजिक स्वरूप का उद्घाटन करने में उन्हें बेहद सफलता मिली है ।

तीसरे प्रकार के नाटकों में अश्क ने मनोविश्लेषण-पद्धति पर नाटक लिखे हैं, जो अपनी प्रेषणीयता में गहरे प्रभावों से संयुक्त हैं । ये एकांकी लम्बे भी हैं । 'घड़ी' नामक एकांकी में उन्होंने एक ऐसी स्त्री का चित्र दिया है जो घर को घड़ी की

तरह नियमित चलाना चाहती है पर अपने किसी भी नियम को न मानने वाले भाई के आजाने से घर के सब लोगों की दबी भावनाएँ प्रकट हो जाती हैं और उस स्त्री की नियमबद्धता नष्ट हो जाती है। 'आदिमार्ग' में एक ही व्यक्ति की दो लड़कियों की कहानी है। उनमें एक अपने पिता, पति और वर्तमान स्थिति से विद्रोह करती है और मोटर और मकान का लालच पाकर भी अपने पति के साथ नहीं जाती। दूसरी अपने पति के दूसरा विवाह कर लेने पर भी उसके पास जाने को तैयार है। वह प्रेम के मुकाबले में स्वाभिमान की चिन्ता नहीं करती। अश्क के ये नाटक बड़े सजीव हैं। इनमें एक कचोट भी है और कसक भी।

अश्क का 'छठा बेटा' एकांकी भी उल्लेखनीय है। इसे लेखक की फेंटेसी कहा गया है। डाक्टर नगेन्द्र एकांकी के अत्यंत रोमांटिक रूप को फेंटेसी मानते हैं। उन की दृष्टि में उसमें कल्पना का मुक्त विहार आवश्यक है जिसमें परियों की कहानी की भाँति परिणाम निकालने का प्रयत्न न किया जाये। यह नाटक केवल स्वप्न के रूप में लिखा गया है। वैसे इसका वातावरण यथार्थ है इसलिये यह फेंटेसी नहीं कहा जा सकता। यह अश्क के बड़े एकांकियों में प्रमुख है। समस्या इसमें भी पारिवारिक है।

अश्क ने जो प्रहसन लिखे हैं उनमें पात्रों की विकृत वेशभूषा या परिस्थितियों की विषमता से हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं की गई प्रत्युत दैनिक जीवन की घटनाओं को ही यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर हास्य पैदा किया गया है। यों अश्क सर्वत्र यथार्थ से सम्पर्क बनाए रखते हैं। मंच का उनका अनुभव बड़ा व्यापक है। रेडियो और सिनेमा से तो उनका अत्यन्त घनिष्ठ परिचय रहा ही है, शौकिया मंचों में भी उनकी रुचि रही है अतः उनके नाटकों में अभिनेयता का गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। संवाद बड़े उपयुक्त और रंग-निर्देश पूर्ण हैं; थोड़े से पात्रों से मध्यवर्गीय जीवन की झलक दे देना अश्क के लिये बड़ा ही सरल कार्य है।

प्रमुख एकांकीकारों में श्री विष्णु प्रभाकर का नाम भी उल्लेखनीय है। हिन्दी में सबसे अधिक संख्या में एकांकी लिखने वाले विष्णु जी ही हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो वे रेडियो-नाटक लिखने में सिद्धहस्त हैं, जिससे उन्हें निरन्तर एकांकी लिखने पड़ते हैं। दूसरे वे साहित्योपजीवी भी हैं, जिससे उन्हें पत्र-पत्रिकाओं की माँग पूरी करनी पड़ती है। उन्होंने सब मिलाकर सौ-सवा सौ नाटक लिखे होंगे। उनमें सामाजिक समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाले एकांकी भी हैं और राजनीतिक और युग की प्रचारात्मक प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले भी मनोवैज्ञानिक भी हैं। हास्य-व्यंग से युक्त एकांकी भी उन्होंने लिखे हैं।

श्री विष्णु प्रभाकर प्रेमचन्द की परम्परा के लेखक हैं। वे राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं को प्रेमचन्द की ही मानवीय दृष्टि से देखते हैं। उनके सामाजिक राजनीतिक एकांकी नाटकों में अधिकांश युग की समस्याओं से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिये 'इन्सान' और 'प्रतिशोध' में हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदाय की समस्या है; 'देवताओं की घाटा', और 'रक्तचन्दन' में क्रमशः काश्मीर के आक्रमणकारियों के विरुद्ध प्रतिकार और काश्मीर-युद्ध के बलिदान की एक घटना है। 'साहस' ग़रीबी और वेश्यावृत्ति पर तथा 'चन्द्रकिरण' परित्यक्ताओं को पुनः समाज में ग्रहण करने से सम्बन्धित है। 'माँ', 'भाई', आदि पारिवारिक समस्याओं को लेकर चले हैं। राजनीतिक एकांकियों में 'हमारा स्वाधीनता संग्राम' नाम से उन्होंने छह एकांकियों में गदर से स्वतंत्रता-प्राप्ति तक के संघर्ष को व्यक्त किया है।

मनोवैज्ञानिक एकांकियों में कुछ माता-पिता और पुत्र-पुत्री के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं, जैसे 'माँ-बाप' में पिता तो एक महान उद्देश्य के लिए बलिदान होने वाले पुत्र की मृत्यु पर गर्व करता है पर माँ को दुःख होता है। 'ममता का विष' इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि माता की ममता में पुत्र के हित की अपेक्षा उसका निजी स्वार्थ प्रबल होता है। 'मैं दोषी नहीं हूँ' अपराधी की मनोदशा को स्पष्ट करता है जबकि 'भावना और संस्कार' में संस्कारों के दास मनुष्य के भावना द्वारा प्रगतिशील होने का वर्णन है। इसी प्रकार के एकांकी 'उपचेतना का छल' 'प्रेयसि पहले' 'रहमान का बेटा' और 'जहाँ दया पाप है' आदि हैं जिन में मानव-मन की गहराइयों में उतर कर लेखक ने मानवता के प्रेरक तत्त्वों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

इनके पौराणिक नाटकों में 'अशोक' जिसमें कलिंग-युद्ध के पश्चात् अशोक के हृदय-परिवर्तन का उल्लेख है, विशेष सुन्दर है। शेष नाटकों में 'नहुष का पतन' और 'शिवरात्रि' को लिया जा सकता है। 'सर्वोदय', 'नया काश्मीर', 'ज़मीदारी उन्मूलन' 'मज़दूर और राष्ट्रीय चरित्र' जैसे सामान्य विषयों पर भी विष्णु ने लिखा है। प्रेमचन्द और टैगोर की कहानियों तथा कुछ उपन्यासों का रेडियो-रूपान्तर भी उन्होंने प्रस्तुत किया है।

श्री विष्णु प्रभाकर की कला के विषय में डाक्टर सत्येन्द्र ने लिखा है—"विष्णु प्रभाकर की एकांकी-कला रेडियो टेकनीक पर विशेष निर्भर करती है क्योंकि उनके अधिकांश एकांकी रेडियो के लिये लिखे गये हैं। किन्तु उन सब में संयमित भाव-सौष्ठव के साथ मानवता का स्पन्दन सबसे अधिक मुखर है। इस एकांकीकार में न तो भावुकता का अतिरेक मिलेगा और न बौद्धिक कड़वाहट, न व्यक्तिवादी अह-

म्मन्यता—आधुनिक व्यवस्था में मानव के रूप की प्रतिष्ठा के लिये व्यग्र इस लेखक ने एकांकी की कला को निरुद्विग्न सुषमा से अभिमण्डित कर दिया है। इनके एकांकियों की कथा-वस्तु वर्तमान युग की ही वस्तु है और किसी न किसी सामाजिक या राजनीतिक समस्या से सम्बन्ध रखती है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री विष्णु में प्रेमचन्द जी का हृदय जाग्रत है। वे मनुष्य के मानवीय गुणों में विश्वास रखते हैं और उन्हीं से अभिभूत हैं।" (हिन्दी एकांकी पृष्ठ, १८९) डाक्टर सत्येन्द्र ने जो कुछ लिखा है वह अक्षरशः सत्य है। मानवता की प्रतिष्ठा और भारतीय संस्कृति की पुनर्स्थापना के लिये विष्णुजी हिन्दी एकांकीकारों में पर्याप्त सजगता का परिचय देते हैं।

हिन्दी के प्रमुख एकांकीकारों के सम्बन्ध में ऊपर विचार हो चुका है। ये एकांकीकार वे हैं जो जमकर लिखते हैं और एकांकी कला को निरन्तर चमक देते चले जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य एकांकीकार भी हैं जो चाहे इनके जैसा न लिखते हों पर जिन्होंने परिश्रमपूर्वक इस धारा को पुष्ट किया है। उन में श्री जगदीशचन्द्र माथुर का नाम सब से पहले आता है। इनके एकांकी समाज की समस्याओं को लेकर चलते हैं। वे गंभीरता लिए हुए और व्यंगपूर्ण होते हैं। इनका 'भोर का तारा' एकांकी बहुत प्रसिद्ध है। उसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है पर उसमें लेखक ने सांस्कृतिक धरातल की रक्षा करने में कमाल किया है। इनके सामाजिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ 'रीढ़ की हड्डी' है, जिसमें एक साधारण-सी घटना है। एक लड़का लड़की देखने आता है—अपने बाप के साथ। सब प्रकार से लड़की को देखता है। लड़की खीज कर उसके बाप से कहती है कि ज़रा घर जाकर देखियेगा कि आपके लड़के के 'रीढ़ की हड्डी' है या नहीं। 'खण्डहर' में फेंटेसी के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि है, जिसमें दमित भावनाओं को उभारा गया है। श्री माथुर ने यूरोपीय एकांकी-कला का गहन अध्ययन किया है। अभिनेता, उनकी वेशभूषा, मंच और दर्शक आदि पर उनके विचारों ने हिन्दी मंच के उत्थान का मार्ग खोला है। अपने नाटकों को अभिनीत बनाने में भी वे सफल हुए हैं। आपके नाटकों में एक साथ उच्च मध्य-वर्ग की हृदयहीनता और पाखण्ड के साथ निम्न मध्य-वर्ग की दयनीयता और करुणा का चित्र मिलता है।

सर्वश्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी सफल एकांकी लिखे हैं। द्विवेदी जी के एकांकी भुवनेश्वर की परम्परा को लेकर चले हैं। इनके नाटकों में मनोविज्ञान को मूलाधार बनाया गया है। वे स्त्री-पुरुष दोनों के मन की गहराई में प्रवेश करते और उनका यथार्थ रूप प्रस्तुत

कर देते हैं। वे मानवमन के सूक्ष्मतम रूपों को लेकर ही चले हैं। डाक्टर नगेन्द्र ने उनको 'प्रेमाहत मन के कवि-कलाकार' कहा है। 'सुहागविन्दी' 'दूसरा उपाय ही क्या है', 'परदे का अपर वार्श्व', 'वह फिर आई थीं', 'सर्वस्व समर्पण', 'कामरेड' आदि उनके एकांकी प्रेम-वासना को लेकर ही चले हैं। अतः नगेन्द्र जी का कहना नितान्त सत्य है। लेकिन युग के अनुकूल नारी के प्रति वे अधिक सहानुभति-शील है। यथार्थ और बौद्धिकता को लेकर चलने पर भी वे भुवनेश्वर से अधिक संयमशील है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने एकांकी पठनीय होने के लिये अधिक लिखे हैं। उनकी दृष्टि में एकांकी की सार्थकता साहित्य-देवता की स्थापना पर अधिक है, अभिनय-अनुकूलता पर उतनी नहीं है। यही कारण है कि उनके नाटकों न संकलन-त्रय को वैसा महत्व दिया गया है और कथोपकथन या रंग-संकेतों को। उनके सभी नाटक पौराणिक हैं। जिनमें आधुनिकता का समावेश करने का प्रयत्न किया गया है। 'अहिल्या', 'विभीषण' 'शम्बूक' 'सती अपराध', 'एक-लव्य' 'महाभिनिष्क्रमण' आदि इनके प्रसिद्ध एकांकी है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों की भाँति एकांकियों में भी बुद्धिवाद की प्रधानता रखी है। भारतीय संस्कृति और ऐतिहासिक परम्परा उनके एकांकियों का आधार है। लेकिन वे जीवन की वास्तविकता का तिरस्कार करने वाले नहीं हैं। वे आध्यात्मिकता और भौतिकता को साथ लेकर चलने वाले हैं। वे कला की दृष्टि से स्वगत-संगीत, भरत-वाक्य आदि को स्वीकार नहीं करते। प्राचीन संस्कृति, नवीन समस्याएँ और पाश्चात्य प्रभाव इन तीनों से उनकी कला निखरती है। 'एक दिन', 'कावेरी में कमल', 'नारी का रंग' और 'स्वर्ग में विप्लव' इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं। इन नाटकों में कथोपकथन मार्मिक और तथ्यपूर्ण है। संकलन-त्रय का निर्वाह हुआ है । समस्या का समावेश करने में मिश्र जी आज भी एकांकीकारों में सर्वोपरि हैं।

इधर नए लेखकों में श्री विनोद रस्तोगी और सत्येन्द्र शरत् का भविष्य विशेष उज्जवल दिखाई देता है। श्री रस्तोगी ने 'आजादी के बाद' एकदृश्यीय नाटक और 'पुरुष का पाप' एकांकी संग्रह प्रकाशित कराये हैं। वस्तु का चुनाव, संवाद-सौष्ठव और गहरी व्यंजना की दृष्टि से रस्तोगी सफल एकांकीकारों की प्रथम पंक्ति में बैठने के अधिकारी हैं। 'पुरुष का पाप' पौराणिक और ऐतिहासिक आधारों पर सतीत्व और आदर्श की रक्षा वाले एकांकियों में रस्तोगी ने बड़े ही कौशल का परिचय दिया है। इनके नाटक बहुत ही छोटे और एक तीव्र गतिमती धारा की भाँति लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले होते हैं और मंच पर भी सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं। सत्येन्द्र शरत् के 'तार के खंभे' में 'शोहदा' 'गुडबाई अनीता' एस्पोडेल' 'प्रतिशोध' और 'तार के खंभे' ये पांच नाटक हैं । इनमें पहले चार दूसरे लेखकों की रचनाओं से प्रेरणा

लेकर लिखे गये हैं। अपनी कला के प्रति ईमानदारी सत्येन्द्र शरत् का गुण है। 'शोहदा' इस बात प्रमाण है कि यदि यह लेखक लिखता चला गया तो एकांकी नाटक के क्षेत्र में अच्छा यश अर्जन करेगा। विचारों की स्पष्टता और भाषा का तीखापन इसके संवादों को उपयुक्तता देने वाले हैं। हाँ, विदेशी प्रभाव से छूटने का प्रयत्न करना उसका पहला काम होना चाहिए।

हिन्दी लोक-नाटक : परम्परा और नाट्य-रुढ़ियाँ

—श्री० सुरेश अवस्थी

लोक-नाटक प्रत्येक देश की परंपरागत संस्कृति का अत्यंत समृद्ध एवं गहराई तक पहुँचा हुआ अंग होता है। नृत्य और संगीत की ही भाँति लोक-साहित्य की इस शाखा में भी राष्ट्रीय प्रतिभा की वास्तविक झाँकी मिलती है। विभिन्न सांस्कृतिक रूपों वाले भारतवर्ष में, लोक की कलात्मक अभिव्यक्ति के इस स्वरूप को भी विस्तृत क्षेत्र मिला है। हमारे देश में अनन्त नाटक-साहित्य है, जो एक ओर तो विविध जाति एवं चरित्रगत विशेषताओं की दृष्टि से और दूसरी ओर सौन्दर्यगत आकर्षण तथा कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। चाहे कोई उत्सव अथवा त्यौहार हो या जनजीवन की अन्य सामान्य घटनाएँ; कोई न कोई नाट्य-प्रदर्शन हो ही जाता है : जिसमें कि गीत, नृत्य, पुराण-प्रसंग और कथा सभी परस्पर संबद्ध हों। जनता के जीवन तथा उसकी चेतना का अभिन्न अंग यह नाटक प्रकृति की 'प्रतिच्छवि' के समान है।

पृष्ठभूमि : मध्ययुगीन 'बहुरंगी नाट्य'

भारतीय नाट्य के इतिहास में, मध्ययुगीन 'बहुरंगी नाट्य' के विविधता-परक स्वरूप से अधिक आकर्षक कोई भी अन्य वस्तु रहीं है। शास्त्रीय परम्परा के विच्छिन्न होने के पश्चात्, 'भाषा-साहित्य' तथा 'जनपद-संस्कृति' के प्रसार और समृद्धि के साथ ही साथ नाट्य का भी उदय और विकास हुआ। हमारा लोक-नाट्य इसी 'बहुरंग नाट्य' की परंपरा में है, अतः इसका संक्षिप्त परिचय देना उपयोगी होगा। ऐसा करने के दो विशेष कारण भी हैं। एक तो यह कि इसके द्वारा लोक-नाट्य के प्राथमिक स्रोतों और कला-उपकरणों के संबंध में हमें ऐतिहासिक दृष्टि प्राप्त हो सकेगी और दूसरे, लोक-नाट्य की नाटकीय-प्रणालियों और प्रदर्शन-नियमों को हम अधिक वैज्ञानिक ढंग से समझने में समर्थ हो सकेंगे। यह सर्वविदित है कि मध्ययुगीन नाट्य अकस्मात् एवं पूर्णरूप से समाप्त नहीं हुआ था— वस्तुतः आज भी वह हमारे लोक-नाट्य में प्रतिलक्षित होता है और जीवित है।

अपने प्रसिद्ध काव्य 'पद्मावत' में जायसी ने कथा-वर्णन, नृत्य, जादू के खेल, कठपुतली के नाच, स्वर-संगीत, नाटक-तमाशा, नटों के खेल आदि जनसाधारण के

नाट्यात्मक मनोविनोदों का वर्णन करके इस 'बहुरंग नाट्य' का स्वरूप दिखलाया है। 'सिंहलद्वीप वर्णन खंड' में उन्होंने लिखा है—

कतहूँ कथा कहै कछु कोई। कतहूँ नाच कोउ भल होई।।

कतहुँ छरहटा पेखन लावा। कतहूँ पाखँड काठ नचावा।।

कतहूँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक कला।।'

सूर, तुलसी तथा अन्य मध्यकालीन कवि जब राजकीय आमोद-प्रमोदों का वर्णन करते है तो सूत, मागध, भाट, चारण और बन्दीजन आदि यहाँ-वहाँ विचरते हुए गायकों का उल्लेख करना कभी भी नही भूलते। यही गायक समस्त मध्यकालीन साहित्य को सर्वत्र फैलाने का कार्य करते थे। उनमें अपने भाव-विचारों को पद्यबद्ध करने की अद्भुत क्षमता थी। नागरिक और सैनिक घटनाओं तथा युद्धों के विवरण उन्होंने लिखे हैं। वे यशगान करते थे और घूम-घूम कर गाथाएँ सुनाते थे। उनके काव्य-पाठ में अभिनय के तत्त्व रहते थे; वे प्रायः भेष बनाते, मुद्राएं दरसाते और कभी-कभी दृश्य-विधान भी प्रस्तुत करते थे। लोक-नाटक का जो भी अंग मौखिक प्रदर्शन के लिए होता है, उस सब में इन नाटकीय पाठों की कुछ विशेष धजाएँ और कुछ खास ढंग प्रचलित हैं।

अनेक मध्यकालीन रचनाओं में–चाहे वे कथात्मक हो अथवा गीतात्मक–समर्थ नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं; यद्यपि उनकी रचना इस उद्देश्य से नहीं हुई थी कि वे रंगमंच पर अभिनीत की जायें। इनमें से अधिकांश साहित्यिक रचनाओं का–कदाचित् प्रदर्शन के लिए–पाठ किया जा सकना संभव था। इन रचनाओं में ऐसे संवादों की बहुलता है, जिनमें श्रेष्ठ नाटकीय तत्त्व हैं, अत्यधिक नाटकीय एकालाप भी हैं और सारे के सारे कथानक को एक ऐसी कार्य-शृंखला में बांधा गया है जिसमें नाटकीय अंशों और अ-नाटकीय अंशों में एक आनुपातिक एवं तर्कसम्मत सम्बन्ध स्थापित हो गया है। कथा-वस्तु में निरंतरता बनाए रखने के लिए एक प्रकार की 'सिंहावलोकन-पद्धति' का उपयोग किया गया है। एक स्थान पर कथा की प्रगति को अचानक रोककर, कवि किसी पहले की घटना का वर्णन करने लगता है। ऐसा भी प्रयत्न किया गया है कि स्थानीयता का आभास कराने के लिए आवश्यक वर्णनों को कथा के विभिन्न चरित्रों द्वारा कहला दिया जाये और ये चरित्र अपना परिचय ही नहीं, बल्कि अपने नाटकीय प्रयोजन की बात भी स्वयं ही बतला दें।

साटक अथवा सट्टक, रासो अथवा रासक, चर्चरी तथा अन्य कई प्रकार की साहित्यिक रचनाएं, संभवतः मनोविनोद की किसी न किसी प्रकार की संगीतात्मक

नाटकीय लोकप्रिय रूप थीं। हमारे आधुनिक संगीत अथवा नौटंकी गायनों का सम्बन्ध इन मध्ययुगीन रचनाओं से जोड़ा जा सकता है। हमारे साहित्यिक नाटक के इतिहास में भले लम्बे-लम्बे व्यवधान रहे हों, पर निरक्षरों के नाट्य की परम्परा कभी भी विशृंखलित नहीं हुई। वह निरंतर चली आ रही है। यह तो सच है कि इन मध्ययुगीन रचनाओं का कोई नाटकीय उद्देश्य नहीं है, पर उनसे पता चलता है कि मध्ययुग में कथात्मक साहित्य और नाटकीय साहित्य में बड़ी ही सूक्ष्म तथा हलकी-सी विभाजन-रेखा थी, और वास्तव में कथात्मक काव्य को बड़ी ही सरलता के साथ नाटक में परिणत किया जा सकता था—विशेष रूप से ऐसे समय में, जबकि १५वीं १६वीं शताब्दियों के सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने कला के प्रत्येक क्षेत्र को नवोन्मेष से भर दिया था और जब नाटक को एक प्रकार का औपचारिक स्वरूप देने का प्रयास मंदिरों के माध्यम से होने लगा था।

जलूस और शोभा-यात्रा-नाटक : लीलाएँ

कई शताब्दियों तक नाटक मंदिरों में आबद्ध ही रहा और मंदिरों ने उसमें ऐसे नाटकीय गुण भर दिए जो कालान्तर में दुबारा न लाए जा सके। "अभिभूत कर देने वाला भक्ति-संगीत, शिल्प की भव्य पृष्ठ-भूमि, गायक के मन में दृढ़ विश्वास, आस्था और प्रेरणा के भाव, दर्शकों की आवेगात्मक अनुभूतियों को जागृत करने में समर्थ श्रद्धा-भावना आदि कुछ असाधारण गुण इस नाटक में थे, जो कि मंदिरों के वातावरण में उत्पन्न तथा विकसित हुआ।" और जब यह धार्मिक नाटक मंदिर के क्षेत्र को छोड़कर भव्य शोभा-यात्रा नाटकों के रूप में बाहर आया तो उसमें जनता के समस्त कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन की झाँकी दिखाई दी। जनता की मूर्त और जीवन्त कलाएँ, नृत्य तथा गीत, विश्वास और आचार-व्यवहार, परिधान तथा वाणी सभी कुछ इनमें प्रकट हुआ। जनता के समग्र सामाजिक एवं सहज जीवन का समावेश करने के लिए सभी प्रकार के विष्कंभकों तथा क्षेपकों का उपयोग किया गया।

हिन्दी-क्षेत्र के जलूस-नाटकों में राम तथा कृष्ण का जीवन अंकित है। इनमें 'लोक-नाट्य' का सर्वाधिक समृद्ध एवं प्रतिनिधि रूप मिलता है। इन्हीं लीलाओं में लोक-नाटक की विधियों और रीतियों को उनकी समग्रता में और उनके सही रूप में हम समझ सकते हैं और निरक्षर लोगों के 'रंगमंच-व्यवहार' के ढंगों के विषय में कुछ नियम बना सकते हैं। इन लीलाओं के संबंध में सामान्य बातें इतनी सर्वविदित हैं कि उनके बारे में यहाँ कुछ कहना अनावश्यक है। अस्तु, हम यहाँ केवल उनके प्रस्तुत करने की नाट्यगत विधियों पर ही विचार करेंगे।

यह लीला-नाटक मुख्यतः प्रथाओं से संबद्ध हैं। उत्सव तथा रीतियों और

इनके अभिनय तथा अनुकरण को ऐसा एकाकार बना दिया जाता है कि उनसे नाटकीय सर्वांगता प्रकट हो। नाटकीय व्यापार को निरूपित करनेवाली ये रीतियाँ तथा उत्सव एक प्रकार की ऐसी व्यापक साहित्यिक परिधि में आ जाते थे, जिसका निर्माण प्राचीन और अर्वाचीन, लिखित और कथित आदि अनेक स्रोतों से हुआ है। इन उत्सवों के अनुकरणात्मक अभिनय और इन लीलाओं के संबंध में पद्यबद्ध मौलिक रचनाओं का पाठ दोनों का ही एक परंपरागत और विशेष प्रकार का ढंग था जिससे जनता उतनी ही सुपरिचित है जितनी महाकाव्यों तथा उनके चरित्रों से।

भली प्रकार सजाए गए 'सिंहासन' 'रामडोल' और 'कृष्ण-झाँकी' कहलाने वाली चौकियाँ, कथा के प्रमुख स्थलों का चित्रों में अंकन या कोई उत्सव-सम्बन्धी प्रदर्शन—आदि बातें लीलाओं की विशद शोभा-यात्राओं का अंग होती हैं। ये चौकियाँ उत्सव मार्ग में एक स्थान से होती हुई दूसरे को और एक अभिनय-स्थल से दूसरे को जाती हैं। उन्हें यथावसर विभाजित कर दिया जाता है क्योंकि सारे लीला-नाटक को कई 'नाटक-दिवसों' में बाँट दिया जाता है। रामलीला चौदह दिन और कृष्ण-लीलाएँ तो महीने भर अथवा उससे भी अधिक समय तक चलती रहती हैं। चौकियों और रंगमंचों पर होने वाली लीलाओं में किसी प्रकार की देशगत अन्विति नहीं होती है। इस प्रकार के नाटक की दृश्य-व्यवस्था में आधुनिक 'पर्सपेक्टिव मंच' की सी समग्रता और सामन्जस्य की आशा करना व्यर्थ होगा।

इन लीलाओं के नाटकीय कथानक के महाकाव्योचित आयाम उभर सकें, इसके लिए एक साथ कई दृश्यों वाली मंच-व्यवस्था की विधि अत्यंत उपयोगी है और स्पष्ट ही उसके अनेक लाभ हैं। उसके द्वारा बड़ा ही शानदार और विविध प्रकार का दृश्यांकन संभव हो सकता है। उसके द्वारा नाटक व्यापार एक स्थान से दूसरे स्थान में—अयोध्या से विश्वामित्र के आश्रम में, वहाँ से जनकपुरी और तत्पश्चात् अन्यत्र—बिना दृश्य परिवर्तन किए ही ले जाया जा सकता है। इसका परिणाम यह होगा कि व्यापार चाहे किसी भी स्थान पर होता हो, घटना-क्रम प्रभाव को विच्छिन्न किए बिना, सहज रूप में आगे बढ़ता रह सकता है। आवश्यकता पड़ने पर, घटना-व्यापार एक साथ ही कई स्थानों पर चल सकता है। जनकपुरी में फुलवारी का दृश्य जहाँ राम सीता को देखते हैं और स्वयम्वर का दृश्य—दोनों एक साथ नियोजित किए जाते हैं। या इसी प्रकार राम-रावण-युद्ध के दृश्यों के बीच एक किसी दूसरे दृष्टि-स्तर पर अशोकवाटिका में बैठी सीता को भी दिखाया जाता है। एक ही समय कई दृश्यों वाली यह व्यवस्था दृष्टि-स्तरों को बदल देने के बड़े ही आसान

तरीके से की जाती है, और यह लीला-नाटकों की एक अन्य प्राविधिक विशेषता है। कृष्ण-लीलाओं में, प्रत्येक दृश्य ठीक उसी स्थान पर अभिनीत होता है, जिससे कि मूल घटना का परंपरागत सम्बन्ध रहा है। समस्त पवित्र स्थान, बन, कुंज, तड़ाग, कूप, पर्वत-श्रेणियाँ और मंदिर—सबके दर्शन, एक निश्चित क्रम में, किये जाते हैं। ऐसी अनेक रीतियों तथा औपचारिकताओं के पालन द्वारा इन लीलाओं को एक प्रकार का धार्मिक महत्व प्राप्त हो गया है।

कस्बों के बाहर लंबे-चौड़े लीला-स्थलों में, या अभिनय के लिए बने चौकोर दायरों में प्रदर्शन शुरू होने के काफ़ी पहले से बड़े भारी-भारी और अद्भुत पुतले खड़े कर दिए जाते हैं और साधारण शिल्पसम्बन्धी सामग्री की सहायता से और दृश्यों की सजावट द्वारा कई-कई नाट्य-स्थान बना दिए जाते हैं। इन पुतलों के सम्मुख अभिनय करते हुए अभिनेतागण, कथासूत्रों की आवश्यकता के अनुरूप, एक 'स्थान' से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं। कई दिनों तक होते रहने वाले प्रदर्शन, जिनमें विविध प्रदर्शनगत विधियों और सामग्रियों का प्रयोग होता है, अनेक स्तरों पर दर्शकों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं और अभिनेताओं तथा दर्शकों के बीच संपर्क के नए-नए स्वरूप अन्वेषित करते हैं। लीला के सारे काल में लीला-स्थल में खड़े किए गए पुतले अशुभ शक्तियों के प्रतीक माने जाते हैं और लीला के अंतिम दिन में, जब उन्हें बड़ी धूमधाम के साथ भस्म किया जाता है तो नाटकीय प्रभाव में अत्यन्त वृद्धि हो जाती है। नाटक के उद्देश्य की सार्थकता सिद्ध है और ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रदर्शन के नाट्यगत आयाम विस्तृत हो गए हैं।

राम और कृष्ण संबंधी नाटकों के विषय में सबसे प्रमुख बात यह है कि अनेक दृश्य-व्यवस्थाओं, कथा-सूत्रों के चुनाव, घटना-क्रमों, अभिनेताओं की बहुलता और उनके श्रेणी-विभाजनों, आदि उक्त नाटकों के सभी पक्षों की दृष्टि से ये लीला-नाटक अत्यंत चित्ताकर्षक होते हैं। और सामग्री में निहित इसी गुण के फलस्वरूप लीलाओं को अंकित करने वाले मध्यकालीन चित्र भारतीय कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। नाट्य एवं कला के बीच यह घनिष्ठ संपर्क इस शोभा-यात्रा नाटक की अपूर्व विशेषता है।

लोक-जीवन के परिवर्तनशील सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रभाव में पड़कर इस जलूस-नाटक ने, नाट्य एवं अभिनय की परिस्थितियों के अनुसार विविध प्रकार के अनेक रूपों को विकसित किया है। उदाहरण के लिए, रंगमंचीय रामलीलाएँ, जो ऐसे नृत्य एवं अभिनयों से संयुक्त होती हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में रामायण तथा अन्य राम-काव्यों के अंश पढ़े जाते हैं। कोई सेटिंग बनाई जाय या बड़े पैमाने पर कुछ

किया जाय—इसके प्रयत्न नहीं होते वरन् समूचे व्यापार को कुशल चेष्टाओं तथा हाव-भाव द्वारा व्यक्त किया जाता है। जो पाठ होते हैं, उनका दुहरा प्रभाव पड़ता है—एक तो वे अनुकरण में सहायक सिद्ध होते हैं और दूसरे, विकसित होते हुए कथानक के विषय में महत्वपूर्ण बातें बताते हैं। रामलीलाएँ आधुनिक नाट्यगृहों द्वारा भी अपनाई गई हैं और परदों तथा संपूर्ण यंत्र-उपकरणों के साथ प्रस्तुत की गई हैं। छाया-नाटक में रामलीला को प्रस्तुत करने का उदयशंकर का प्रयोग अत्यन्त सफल रहा और एक निश्चित नाट्य-रूप की भाँति प्रतिष्ठित हो गया। मंच-निर्माण के क्षेत्र में जो प्रगति इस बीच हुई है, उसके कारण अन्य रूपान्तर भी संभव हुए हैं और महान् नृत्य-लिपिकार स्वर्गीय श्री शान्तिवर्धन द्वारा निरूपित कठपुतली-रामलीला तो एक अद्भुत सूझ है। रासलीलाओं में भी ऐसे ही रूपगत परिवर्तन आ रहे हैं। दूसरी ओर, मंदिरों में अब भी वही परम्परागत रूप, बिना किसी प्राविधिक परिवर्तन के चला आ रहा है। बड़े पैमाने पर की गई सचल कृष्ण-लीलाओं का धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है। सांगीत ढंग के, धर्म-से असंबद्ध नाटक के साथ उपर्युक्त नाटकों का जब मिश्रण-जैसा हुआ, तो एक तीसरा 'प्रकार' उदित हुआ। इस संबंध में रोचक बात यह है कि कहा तो इन्हें 'लीला' जाता है पर इनमें मध्ययुगीन वीरों का जीवन अंकित किया जाता है और 'रासलीला' तो मात्र पूर्व-कथन अथवा 'पूर्वरंग' के रूप में होती है।

सुगम नाट्य-प्रकार—

लीलाओं के-से शोभा-यात्रा नाटकों के साथ-साथ, ऐसे तरह-तरह के हलके-फुलके सामाजिक नाटक हैं, जो धर्म से किसी भी प्रकार संबद्ध नहीं हैं। कथा के प्रति लोगों का अनुराग ही इस नाटक के मूल में है। इसकी नाटकीय योजना भारतीय कथा-वर्णन के ही ढाँचे के अनुसार है कि वक्ता और श्रोता, और अभिनेता और दर्शक, इस कथा-खंड के या उस नाटकीय-प्रदर्शन के अविभाज्य अंग बन जाते हैं। इसे दैनन्दिन जीवन की छोटी-मोटी झलकियों से प्रेरणा मिलती है, और उन्हीं से इस नाटक का साहित्यिक रूप गठित होता है। ये झलकियाँ सामाजिक सम्बन्धों और किन्हीं मजेदार-हास्यास्पद स्थितियों पर आधारित होती हैं। कभी-कभी स्थानीय घटनाओं और दुर्व्यवस्थाओं की हँसी उड़ाकर या व्यंग्य करके इनमें गंभीरता का पुट लाया जाता है। इस वर्ग के एक लोकप्रिय प्रहसन में, प्रमुख अभिनेता 'करिंगा', बड़ी आसानी के साथ विषयान्तर कर देता है और शोषकों तथा अन्यायियों का ज़ोरदार विरोध करता है। अपने अकेले अभिनय के द्वारा, वह समूचे नाटकीय प्रभाव का निर्माण करता है। एक तो वह चरित्रों और स्थितियों की नक़ल उतारता है और दूसरे समूह-गान के नेता के साथ प्रदर्शन के बीच ऐसे स्थलों पर बातें करता है, जहाँ कुछ टिप्पणी करने की आवश्यकता का अनुभव हो।

लोक का यह हल्का-फुल्का, धर्म-निरपेक्ष नाटक बड़ा ही सीधा-सादा नाट्य है। स्वाँग, तमाशा, नक़ल और भड़ैंती आदि इसके खास प्रहसनात्मक अंग हैं। उत्सवों और समारोहों से संबद्ध, अपेक्षाकृत अधिक स्थानीय महत्व वाले इसके अगणित छोटे तथा कम विकसित दूसरे रूप भी हैं। अपने दर्शकों से पूर्ण प्रशंसा पाकर यह हलका-फुलका लोक-नाटक, शताब्दियों तक जीवित रह सकने और अपनी सादगी बनाए रख सकने में समर्थ हुआ है। इस नाटक-रूप के प्रदर्शन के साथ, जिस प्रत्यक्ष रूप में और जितने सजीव अनुराग-सहित जनता का संबंध रहा है, शायद वैसे नाटक के किसी भी अन्य रूप के साथ नहीं रहा। नाटक देखते समय दर्शकगण अकसर बीच-बीच में बोलकर, ताली बजाकर या प्रशंसासूचक संकेत करके नाटक के समग्र प्रदर्शन में भाग लेते हैं। इस नाट्य-प्रणाली की भक्तिकालीन सन्त-कवियों ने कठोर शब्दों में बार-बार भर्त्सना की है जिससे यह प्रमाणित होता है कि उस समय में यह कितना लोकप्रिय था, और जनता पर इसका कितना प्रभाव था।

सभी समुदायों के धर्म-निरपेक्ष नाटकों की साज सज्जा आमतौर पर सादी होती है, और धार्मिक प्रदर्शनों की अपेक्षा उनमें तड़क-भड़क कम होती है। उनमें किसी शोभावली की व्यवस्था नहीं होती है जिसके कारण प्रदर्शन के नाटचगत आयाम विस्तृत होते हैं, किसी केन्द्रीय स्थान पर पात्रों को रखकर उनका विशेष प्रदर्शन किया जाता है और नाटक की भव्यता तथा प्रभाव में वृद्धि होती है। यह बहुत सीधे सादे ढंग से होता है और सामूहिक मनोविनोद का साधारण-सा अवसर प्रदान करता है। परन्तु इसमें नाटक के सभी आवश्यक तत्व होते हैं। कहानी से कथानक मिल जाता है, तीखी और चुटीली नकलें होती हैं जो अनुकरण-कला का श्रेष्ठ दृश्य प्रस्तुत करती हैं, मानव-व्यवहार को विकृत और अतिरंजित रूपों में प्रस्तुत किया जाता है, झल-कियों और पहेलियों के अत्यंत रोचक प्रसंग आते हैं, हँसी के ठहाके, हाज़िर-जवा-बियाँ, फब्तियाँ कसना, मज़ाक करना, धौल-धप्पा, और कलाबाज़ियाँ—ये सारी चीज़ें मिलकर एक शानदार नाट्य-प्रदर्शन बना देती हैं। ऐसे रोमांचक और उत्तेजक प्रद-र्शन को देखकर दर्शक इस प्रकार अभिभूत हो जाता है कि अकसर तो वह उस काल्प-निक सीमा-रेखा को मन ही मन लाँघ जाता है, जो उसे और अभिनेताओं को अलग किए हुई रहती है—और इस प्रकार वह अभिभूत दर्शक अपने आपको प्रदर्शन के मध्य पाता है, क्योंकि अब उसके लिए यह नाटक (चेतना के) एक अन्य स्तर पर, मात्र नाटक न रह कर नितान्त सजीव और यथार्थ हो जाता है।

इस नाटक में न तो अभिनेता ही अधिक होते हैं और न प्रदर्शन में सहायता के लिए अन्य नाट्य- सामग्री ही। थोड़े से 'नाटक के पात्र'—कभी-कभी तो केवल

दो—नाटक-व्यापार को बढ़ाते हैं। एक प्रमुख अभिनेता होता है, जो कथा-वाचक का कार्य करता है या समूह-गान के नायक का। एक-दो अन्य पात्र भी होते हैं, जो समूह-गान के साथ रहते हैं, नृत्य करते हैं, प्रमुख अभिनेता के संवादों के बीच बोलते-बालते हैं और स्वगत-भाषण करते हैं। यही अन्य पात्र, विकासमान कथानक के नाटकीय प्रसंगों का अभिनय करते हैं। इससे सारे नाटक में बड़ी ही सरलता के साथ एक भावपूर्ण सामूहिकता आ जाती है। कुछ ऐसे महत्वपूर्ण मौके आते हैं जब वे विशेष-विशेष नाटकीय मुद्राएँ बनाकर एक-दूसरे के सामने खड़े हो जाते हैं और इस-तरह के संवाद बोलते हैं, जो प्रत्येक प्रदर्शन में बदलते रहते हैं और जिन में कई स्थानीय और सामाजिक विषयों से संबंधित टिप्पणियाँ भी जोड़ दी जाती हैं। कथावस्तु के बड़े ढाँचे में, इस प्रकार की—नाटकीय प्रसंगों को निर्मित करने वाली शैली—लोक-नाटक के अनेक रूपों में मिलती है।

इनमें न तो कोई सेटिंग होती है और न नाटकीय व्यापार के योग्य नाट्यगत-स्थान निर्मित करने का ही कोई प्रयत्न किया जाता है। पात्रों का रूप-परिवर्तन भी ऐसा शिथिल रहता है कि नाटकीय प्रभाव अधिक देर तक नहीं बना रह पाता। अक्सर तो अभिनय करने के लिए किसी ऊँचे मंच पर भी पात्र नहीं आते कि दर्शकगण ठीक से देख ही सकें या नाटकीय-प्रभाव डाल सकने में कुछ सरलता हो जाये। जहाँ दर्शक बैठे होते हैं, उसी धरातल पर खड़े होकर ये लोग अभिनय करते हैं, और प्रारंभ से अंत तक एक ही दृष्टि-स्तर पर बने रहते हैं। न तो अंग-संचालन में ही अधिक विविधता होती है और न पात्र-योजना में ही जिससे कि 'मंच-चित्र' बन सकें या कथा के आरोह-अवरोह वाले स्थल उभर कर सामने आ जाएँ। जिन थोड़ी-सी मंच-सामग्रियों का उपयोग ये अभिनेतागण करते हैं, उन्हें अपने साथ ही अभिनय-स्थल पर लेते जाते हैं, यथा प्रतिष्ठित तालुकेदार की नक़ल करने के लिए हुक्का, या राजसिंहासन का काम देने के लिए एक स्टूल।

विविध स्तरों के ऐसे अभिनेताओं की बहुतायत है जिन्होंने इस नाट्य को जीवित रक्खा है: नट, कौतुकी, बहुरूपिया, नाटकी, स्वाँगधारी, भाँड़ और नक़लची आदि। नक़लें उतारने वालों, कूद-फाँद मचाने वालों और हँसोड़ों का एक विशाल वर्ग है, जिसने समूचे मध्य-युग में नाट्य-संबंधी क्रियाशीलता बनाए रखी और जो तब से लेकर वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक दशकों तक पहले जैसा ही सक्रिय रहा। ऐसे-ऐसे बहुधन्धी लोग हैं, जो स्वयं नाटक लिखते हैं और उसके प्रदर्शन की रूपरेखाएँ भी स्वयं ही बनाते हैं। उनके दिमाग में कहावतों, बुझौवलों, काव्य-पाठों, हर तरह के रूपकों-उपमाओं, उदाहरणों तथा प्रसंगों का बड़ा भंडार रहता है और वे इन्हें अपने

नाटक में बड़ी ही कुशलता और बुद्धिमानी के साथ जड़ देते हैं। परिणाम-स्वरूप सारे प्रदर्शन में आमोद-प्रमोद का खासा पुट आ जाता है।

रंगमंच-नाटकः—नौटंकी

नाटक के अध्येता के लिए यह रंगमंची लोक-नाटक अत्यंत रोचक विषय है। नाट्य-प्रणाली की दृष्टि से इसे मध्ययुगीनता और आधुनिकता के बीच रक्खा जा सकता है, अनेक दृश्य-बंधों में प्रदर्शन करने के मध्ययुगीन तरीके को इसने छोड़ दिया है और समग्र तथा अविच्छिन्न 'मंच-चित्र' के लिए उद्योग किया है। इससे जान पड़ता है कि प्रदर्शन की आधुनिक विधियों की ओर उसने क़दम उठाये हैं। इस नाटक के तत्वों का अध्ययन करना रोचक होगा क्योंकि इसने लोक-साहित्य तथा अन्य प्रकार के मौलिक साहित्य के अनन्त भंडार का उपयोग किया है, उसे एक नए आकार में प्रस्तुत किया है और उसे एक भिन्न माध्यम में ढाला है।

सभी देशों के नाटक के इतिहास में, ऐसे नाटकीय रूप और ऐसी विधियाँ मिलती हैं, जो शुद्ध परंपरागत नाटक के तत्त्वों और विधियों के ही रूपान्तर-प्रकारान्तर हैं। नाटकीय और अ-नाटकीय साहित्यों में और नगर तथा लोक की नाटकीय परंपराओं में 'नाट्यगृह का प्रभाव' फैल गया है—ये रूप उसी का परिणाम है। नाटक का यह रूप हिन्दी-प्रदेश में नाट्य के विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसमें मध्यकालीन संस्कृति की चित्ताकर्षकता, वाक्पटुता और शूरवीरता का समस्त वातावरण विद्यमान है। साथ ही इस नाटक से यह भी प्रकट होता है कि हमारे नाट्य पर औद्योगिक सभ्यता के प्रारंभिक प्रभाव पड़े हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से, इसकी स्थिति बहुत अच्छी है, क्योंकि यह नाटक जब गत शताब्दी के अन्त में विकसित हुआ जब ग्रामीय और नागरिक संस्कृतियाँ अधिक निकट संपर्क में आ रही थीं। लोक-कवियों, नर्तकों और विदूषकों ने यह अच्छा अवसर पाया। उन्होंने परंपरागत कहानियों, स्थानीय नायकों की कीर्तियों, सभी देशों की छल-कपट अथवा प्रेम-संबंधी कथाओं आदि बहुत-सी चीज़ों को नाटक का रूप दे दिया, उनमें नाच-गाने और नाट्य-कला की अन्य सामान्य विशेषताएँ जोड़ दीं।

ये नाटक कई नामों से प्रसिद्ध हैं, जैसे: नौटंकी, सांगीत, भगत, निहलदे, नवलदे और स्वाँग। ये सभी नाम लगभग समानार्थी हैं—एक ही नाट्यगत-रूप का परिचय देते हैं, लेकिन इसके साथ ही, मिलती-जुलती नाटकीय पद्धतियों और सिद्धांतों की रूपरेखा के अन्तर्गत ये नाटक प्रादेशिक विभिन्नता को भी प्रकट करते हैं। स्वाँग कदाचित् सर्वाधिक प्राचीन नाम है, यहाँ तक कि नवीं शताब्दी में मिलता है। प्रसिद्ध

प्राकृत नाटक कर्पूरमंजरी सट्टक है जो कि नाटक का कदाचित् लोकप्रिय रूप था। उसका स्वरूप और नाटकीय प्रदर्शन आजकल की नौटंकी से मिलता-जुलता है।

लोकप्रिय लोक-छन्दों में गाथाओं की रचना और पाठ समूचे मध्ययुग में अत्यधिक प्रचलित था। मध्ययुगीन कवियों ने इन पाठ संबंधी प्रतियोगिताओं के अखाड़ों का उल्लेख किया है। ये प्रतियोगिताएं आज भी होती हैं, और उनको वही पुराना नाम—अखाड़ा—दिया जाता है। लावनी, लहचारी, ख़याल और रसिया के इन अखाड़ों ने हिन्दी के रंगमंच नाटक के उदय में प्रत्यक्ष रूप में योग दिया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में, नए साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रभावों से पाठ करने की यह परंपरा और भी विकसित एवं समृद्ध हुई। छन्दों और धुनों में बड़ी-बड़ी नवीनताएँ लाई गई और एक प्रकार का मिश्रित, लोकप्रिय संगीत निर्मित किया गया। इस सामग्री को नाट्य के ढाँचे में सजाने के लिए थोड़ी-सी नाटकीय कुशलता की अपेक्षा थी। घटनाओं को जोड़ने के लिए एक वाचक की योजना की गई, उपयुक्त स्थानों पर नाच-गाने रखे गए और इस तरह एक नया नाटक-रूप खड़ा कर दिया गया।

इस संगीतात्मक सुखान्तकी की प्रदर्शन-विधियों को देखने पर मालूम होगा कि मंच के लिए उपयुक्त होने के लिए इसने कुछ (रूढ़) नियम बनाए हैं, निस्संदेह इस वर्ग के नाटक को रंगमंच प्राप्त है, पर घटनाओं की व्यवस्था और नाट्य-व्यवहारों की दृष्टि से इसने लोक-नाटक के 'नाट्य-हीन' स्वरूप को अपनाया है। चूँकि परदे नहीं होते, इसलिए नाटकीय कथानक को दृश्यों और अंकों में विभाजित नहीं किया जा सकता। अत:, 'रंगा' नामक एक वाचक रखा जाता है। रंगा: अर्थात् 'रंग' अथवा नाट्य से संबद्ध व्यक्ति। यह व्यक्ति कहानी के छूटे हुए अंशों के विषय में आवश्यक घोषणाएँ करता है और नाटक-व्यापार के स्थलों के बारे में कुछ विवरण देता है। पद्यबद्ध संवादों में लिखी गई अभिनय-कहानी के रूप में इन नाटकों की कल्पना की जाती है। जहाँ तक मंच का प्रश्न है, वह एक प्रकार का निरपेक्ष स्थान मात्र होता है, और किसी विशेष व्यापार-स्थल का आभास नहीं देता। मंच का खाली रहना उनके लिए बड़ा लाभप्रद रहता है। दृश्यों के न होने से स्थान और समय की अन्विति के नियमों से मुक्ति मिल जाती है और ऐसे सैकड़ों कथानकों का उपयोग किया जाना संभव हो जाता है जो, अन्यथा, नाटकीय नियमों की परिधि में न आ सकने के कारण अभिनीत नहीं हो सकते। इसी प्रकार संभवत: रंगमंच को सादा रखने का भी परिणाम यह होता है कि कार्य-व्यापार क्षिप्र और गतिशील हो जाता है और उक्त नाटक-प्रकार में विविधता का समावेश हो जाता है। यवनिका

के अभाव में, अभिनेताओं द्वारा रंगमंच को छोड़ देने की सीधी-सादी लोक-विधि द्वारा प्रत्येक दृश्य की समाप्ति की सूचना दी जाती है। इसका अवश्यंभावी परिणाम 'नौटंकी' होता है, जिनमें अनेक चरम स्थितियाँ होती हैं।

स्टेज को बिना किसी भी सेटिंग के खाली छोड़ दिया जाता है। बहुत थोड़ी-सी वस्तुओं का उपयोग किया जाता है और इन्हें अभिनेता अपने साथ मंच पर ले जाते हैं। अधिकांश पात्र दृश्य की सारी अवधि भर मंच पर खड़े या घूमते रहते हैं। वे खड़े होकर अपने संवादों को अर्ध-संगीतात्मक और अर्ध-पाठात्मक ढंग से बोलते हैं, प्रायः प्रत्येक संवाद के साथ 'बाह्य संगीत' चलता रहता है। पात्रों का मुख-विन्यास तो कोई खास नहीं होता, पर वस्त्र बड़े कीमती होते है और वे बहुमूल्य आभूषण भी धारण करते हैं। प्रदर्शन का आरम्भ 'सुमिरिनी' अथवा 'मंगलाचरण' से होता है। यह पूर्व-रंग का एक अङ्ग है। वाद्यवृन्द में से प्रमुख नगाड़े की ऊँची आवाज़ से आस-पास के गाँवों के लोगों को प्रदर्शन के आरम्भ होने की सूचना दी जाती है। इस नाट्य के प्रेमी तुरन्त ही उस जगह की ओर चल पड़ते हैं, जहाँ नाटक होने वाला है कि आज रात भर भारी अभिनय और रोमांचकारी नृत्य-संगीत वाला नाटक देखेंगे।

नाटकीय नृत्य

लोक-नाटक का एक और भी अमान्य प्रकार है जिसे उसके अपने विकास-क्रम में नृत्य और नाटक के बीच की वस्तु कहा जा सकता। नाट्य की दृष्टि, से वे छोटे-छोटे कथात्मक नृत्य बहुत अधिक प्रभावशाली होते हैं, जिनमें प्रदर्शनकर्त्ता किन्हीं छोटे पौराणिक प्रसंगों पर भाव प्रदर्शित करते हुए नृत्य करता है और वाद्यवृन्द की पृष्ठ-भूमि में भावपूर्ण धुनों में, कार्य-व्यापार की व्याख्या करने वाला मूल पाठ सामूहिक रूप से गाया जाता है। 'किरात' और 'अर्जुन' के युद्ध को दिखलाने वाला बिहारी लोक-नृत्य, अथवा राजस्थान का 'घूमर' नृत्य जिसकी चित्रात्मक रूप-सज्जाएँ और मन्थर अंग-गतियाँ चरम-सीमा का धीरे-धीरे निर्माण करती रहती हैं, और ऐसा प्रभाव डालती हैं, मानो कथावस्तु के अभिनय में प्राचीन नाटक की आत्मा उतर आई हो। कभी-कभी तो सिर्फ़ एक अभिनेता, कोई चेहरा लगाकर या विशद और जटिल रूप-सज्जा करके, कथा के अपने अनुकरणात्मक प्रदर्शन में आश्चर्यजनक नाट्यात्मक गहराई भर देता है। जब महान कत्थक-नर्तक श्री शंभु महाराज 'ठुमरी' अथवा 'रसिया' प्रस्तुत करते हैं तो अपने नृत्य-प्रसंगों में वे नाटकीय ढंग ले आते हैं और अनेक पात्रों के रूप धारण करके वे उस सशक्त मुद्रा-अभिनय की सृष्टि करते हैं, जो समस्त नाटक का स्रोत है।

यह कोई संयोग की बात नहीं है कि पश्चिमी अफ्रीका में वहाँ के अंग्रेज़ी-

भाषी देशी लोग 'प्ले' शब्द का प्रयोग अपने नृत्यों के लिए करते हैं। हरिवंश पुराण के एक कथन से नृत्य-नाटक के अस्तित्व का परिचय मिलता है—'नाटकं नांऋतुः।' अर्थात 'उन्होंने एक नाटक नाचा।' यह उपर्युक्त नाटक-प्रकार के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण है। आगे चलकर, दसवीं शताब्दी में, प्राकृत नाटक कर्पूरमंजरी में सट्टक को 'नच्चिद्दाम्' कह कर पारिभाषित किया गया है, अर्थात् ऐसा नाटक जो नृत्य के लिए हो। विविध प्रदेशों के अनेकानेक लोक-नृत्यों में से किसी को भी इस विधान वाले नाटक के उदाहरण-स्वरूप लिया जा सकता है। उनके कथा-निर्माण में एक निश्चित योजना होती है और वे रूपाभिनय को प्रभावशाली तथा वास्तविक बनाने के लिए भली प्रकार रूपसज्जा भी करते हैं। कभी-कभी मामूली मंच-उपकरणों का भी उपयोग किया जाता है, जिससे स्थान-बोध हो सके और नाटकीय कार्य-व्यापार का प्रदर्शन अधिक वास्तविक जान पड़े। वादकवृन्द अभिनय के प्रभाव में वृद्धि करते हैं और नृत्य तथा अभिनय दोनों करने वालों और मात्र नृत्य करने वालों के बीच नाटकीय ढंग से, उपयोगी सामञ्जस्य स्थापित रखते हैं।

रूढ़ि-शवलित नाटक

प्रायः कहा जाता है कि लोक-नाटक नितान्त रूपहीन है, कि उसमें दृश्यांकन और रूपाकार की कोई भी योजना नहीं है, और न दिग्दर्शन की कोई कला-विधियाँ ही हैं। पर, इस नाटक-प्रकार का जो अध्ययन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे प्रकट होगा कि खुले स्थानों में किए जाने वाले इन प्रदर्शनों में भी एक रूपाकार होता है, और वे सभी संकलन होते हैं, जो किसी कलात्मक प्रदर्शन में होने चाहिए। इनमें प्रारम्भ होता है और परिणति भी। काल और घटना में क्रमबद्धता भी रहती है। विकास का भाव भी रहता है—चरम सीमा का और प्रभाव के उत्कर्ष-अपकर्ष का भी। उनकी 'नाट्य-हीनता' अर्थात रंगभूमि के अग्रभाग और परदों अथवा 'चित्रात्मकता' के अभाव का मतलब यह नहीं है कि इस नाटक में कोई रूढ़ियाँ हैं ही नहीं; रूढ़ियाँ नाटक की कला के लिए अत्यन्त आवश्यक, और किसी भी अन्य साहित्यिक माध्यम की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। प्रदर्शन की वास्तविक परिस्थितियों से उत्पन्न और स्वयं दर्शकों के सक्रिय सहयोग एवं अनुमोदन से विकसित एवं परम्परित बहुत सी अलिखित रूढ़ियाँ इस नाटक म मिलती हैं।

रंगभूमि के बहुत लम्बे-चौड़े और खुले होने के कारण यह आवश्यक है कि चेहरे लगाए जायें या अत्यधिक रूपसज्जा की जाये ताकि मुखाकृतियाँ स्पष्ट हो सकें, और दूर तक बैठी हुई, दर्शकों की भारी भीड़ उस विशेष पात्र को पहचान सके।

जुलूसवाले सचल लीला-नाटक जब मन्दिर से निकल कर बाहर जनता के बीच आए तो उनमें चौकियों और भाँकियों का उपयोग करना स्वीकार किया गया, महाकाव्यों की प्रमुख घटनाओं का चित्रों में अंकन किया गया और पात्र जितने स्वाभाविक रूप से नाटकीय संवाद बोलते थे, उतने ही सहज ढंग से 'स्वगत भाषण', 'जनान्तिक', 'समाख्यान' 'उद्घोषण' करते थे; ऐसा करना 'वृत्त में बँधे हुए' पूर्वयोजित अभिनय से बहुत-कुछ भिन्न रहा । इन प्रदर्शनों के कथात्मक स्वरूप की दृष्टि से, लोक-नाट्यकला में एक के बाद दूसरी मंच-सेटिंग की प्रणाली विकसित हुई है । प्रवेश और प्रस्थान, यहाँ तक कि दृश्य-परिवर्तन और रूपसज्जा आदि सब कुछ, दर्शकों के सामने ही होता है क्योंकि मंच चारों ओर से खुला रहता है । कभी-कभी दर्शकों के बीचोंबीच मंच बनाया जाता है और दर्शकगण कभी भी उसे किसी अन्य स्थान के रूप में नहीं देखते जैसा कि हम लोग जो रंगभूमि तथा दृश्यों आदि को समझते हैं । अन्त में यह भी कहना होगा कि किसी भी दृश्य-समायोजन के अभाव में, लोक-नाटक का समग्र व्यक्तित्व ही बदला हुआ है, चाहे उसे अभिनेताओं की दृष्टि से देखें या दर्शकों की ।

लोक-नाटकों में सुसंबद्ध दृश्य नहीं होते और उनका कथानक-निर्माण भी, जैसा आम तौर पर समझा जाता है, उससे भिन्न होता है । दृश्यों और अंकों के स्थान पर, उसमें लीला-नाटकों की तरह, नाटकीय व्यापार के अपने में पूर्ण अंश होते हैं । नाटकबद्धता की समूची योजना में एक प्रकार की शिथिलता रहती है । लोक-नाटक की इस शिथिल गठन के कारण आशुसंवादों के लिए, नक़लों के लिए, हँसी-मजाक और तड़क-भड़क के लिए, और कथा की मन्थर गति और विस्तार के लिए काफ़ी छूट रहती है : इस कारण नाटकीय व्यापार में विशेष लय आ जाती है । इसी प्रकार, लोक-नाट्य मंच का खाली होना और खुला होना भी एक निश्चित गुण है क्योंकि तब हम 'मंच को केवल मंच के रूप में' नहीं देखते । परिणाम-स्वरूप कार्य-व्यापार की अनुकृति में सीधापन आता है, सत्याभास सरलता से कराया जा सकता है और आवेगों के संपर्क तथा प्रतिभावन में एक तरह की निकटता रहती है ।

इस वर्ग के नाटक में इन सामान्य विधियों और रूढ़ियों के कारण एक निश्चित् नाट्य-विचार विकसित हो गया है । लोक-नाटक का अध्ययन करें या उस पर विवाद करें—हमें सदा ही इस नाट्य-विचार के मूलभूत एवं महत्त्वपूर्ण विषय का ध्यान रखना होगा कि इसका स्वरूप जड़ नहीं है । परिवर्तित होते हुए सामाजिक परिप्रेक्ष्य के साथ यह भी परिवर्तित और विकसित होता है । इस तरह, इसने नई विधियों और रूढ़ियों को बनाया है तथा पुरानियों को पुनर्गठित और पुनर्नियोजित

किया है । इस नाटक ने एक ही वस्तु के विविध रूप और शैलियाँ प्रस्तुत की हैं । आज हम रामलीला के विविध रूप देखते हैं और रामलीला, स्वांग अथवा सांगीत जैसे धर्म-निरपेक्ष संगीत-नाटकों से मिल-जुल गई हैं । इन बातों से इस 'नाट्य-विचार' के गतिशील स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है और पता चलता है कि लोक-नाटक में निश्चय ही प्रगतिशील तत्त्व रहे हैं ।

कुछ निष्कर्ष

लोक-नाटक के इस समृद्ध और बहुविध कोष ने साहित्यिक नाटक को, सभी कालों में और प्राविधिक विकास के सभी रूपों में अत्यंत मूल्यवान योग दिया है। मौखिक और लिखित परंपरा के बीच निरंतर संपर्क भारतीय साहित्य की एक विशेषता रही है । कभी-कभी तो साहित्यिक और मौखिक परम्पराओं के बीच अन्तर स्थापित करना कठिन हो जाता है । हिन्दी लोक-नाटक, जो मौखिक परम्परा में है और संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है, निरन्तर विकसित होता रहा और उसने साहित्यिक रूपों को महत्वपूर्ण कला-उपादान प्रदान किये है ।

साहित्यिक इतिहास में यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि हिन्दी के प्रथम लिखित नाटक 'इन्दर सभा' ने लीला-प्रकार के लोक-नाट्य से बहुत अधिक ग्रहण किया है । पात्र मंच पर आकर अपना-अपना परिचय देते हैं और अपना उद्देश्य बतलाते हैं । नाटक का स्वरूप प्रायः संगीतात्मक है, गद्य-लय में लिखे हुए संवादों का पाठ किया जा सकता है । इसी प्रकार की कुछ अन्य विशेषताएँ भी हैं, जिनका मूल परम्परागत लोक-नाटक में है । रोचक बात यह है कि रासलीलाओं का 'मनसुखा' इस नाटक में राजा इन्द्र और स्वर्ग की अप्सराओं के साथ आता है । इसी प्रकार भारतेन्दु के नाटक 'अन्धेर नगरी' में लोक-नाटक के ही पात्र, परिस्थितियाँ और सारा का सारा नाट्य-वातावरण सजीव हो उठा है । भारतेन्दु हिन्दी के साहित्यिक नाटक के प्रवर्त्तक हैं। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों ने, विमानों और झाँकियों वाले शोभा-यात्रा नाटकों का एक तरह का रंगमंचीय-रूपान्तर प्रस्तुत किया । ये शोभा-यात्रा नाटक, बराबर कई शताब्दियों तक जनता द्वारा किए गए नाट्यगत उद्योगों से निर्मित हुए थे। आधुनिक मंच-प्रयोगों ने लोक-नाटकों से कई रूढ़ियाँ अपनाई हैं, जैसे : वाचक का समावेश और दर्शकों के सामने ही दृश्य-नियोजन तथा दृश्य-परिवर्तन करने के लिए मंच सहायक का प्रयोग । अन्य संभावनाएँ भी हैं, जिनका उद्घाटन होना चाहिए । विनिमय की गति को क्षिप्र बनाना चाहिए और संपर्क तथा सहयोग का क्षेत्र बढ़ाना चाहिए ताकि दोनों ही को लाभ हो सके ।

हिन्दी लोक-नाटक के अध्ययन की वर्तमान परिस्थिति अत्यन्त असंतोषजनक

है। साहित्य के इतिहासों और नाटक के शिक्षा-सम्बन्धी अध्ययनों में उसे कोई भी स्थान नहीं मिलता। इन लोक-नाटकों के सम्बन्ध में कुछ सामान्य सूचनात्मक तथ्य तो अवश्य प्रकाशित लेखों और रेडियो-वार्ताओं में मिल जाएँगे पर अध्ययनों तथा शोधों के द्वारा इस सामग्री को विकसित एवं संशोधित करने के प्रयत्न नहीं हुए हैं। जो भी सामग्री उपलब्ध है, वह न तो व्यवस्थित है, न वर्गीकृत और न प्राविधिक रूप में विश्लेषित ही। अतः सर्वप्रथम आवश्यकता इसकी है कि वैज्ञानिक उपकरणों और आधुनिक शोध-प्रणालियों के साथ हम गाँवों में जाएँ और प्रत्यक्ष स्रोतों से सामग्री एकत्र करें। इस सामग्री के मूल्यांकन और विश्लेषण के लिए हमको वही मार्ग और वही सिद्धान्त मानने चाहिए जो हम साहित्यिक-नाटक के लिए अपनाते हैं। शैली, समस्याएँ, कथात्मक प्रसंग, कौतूहल जगाने अथवा चरम स्थिति लाने के लिए प्रयुक्त विधियाँ, मंचीय प्रदर्शन की दशाएँ और प्रणालियाँ; एक स्थान से दूसरे स्थान में या एक जनसमूह से दूसरे जनसमूह में जाने पर एक ही नाटक-रूप में आ जाने वाले परिवर्तनों की समस्या; साहित्यिक रूपों के प्रभाव; मूल उत्पत्ति और प्रसार से सम्बन्धित समस्याएँ—ये सभी ऐसे प्रश्न हैं जिनकी ओर लोक-नाटक का अध्ययन करते समय संकेत करना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि निरक्षरों के नाटक को एक ऐसे निश्चित कला-रूप की भाँति मान्यता दी जाये, जिसके अपने नियम और अपनी रूढ़ियाँ हैं। साथ ही, उसका अध्ययन अधिक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक परिपार्श्व में करना चाहिए।

यह सर्वविदित है कि लोक-नाटक की अवनति हो रही है और उसकी वह शैलियाँ अब शुद्ध और प्रामाणिक नहीं हैं। हम उनके पुर्नस्थापन तथा पुनर्गठन के प्रयत्न कर सकते हैं, पर अतीत का नाट्य-वैभव लुप्त हो रहा है, इसलिए पछताने से कोई लाभ न होगा। प्राविधिक ज्ञान के विकास के कारण उस पर प्रभाव तो पड़ेगा ही; हम प्राविधिक प्रगति के मार्ग में बाधा नहीं खड़ी कर सकते। कुछ वर्षों में बिजली गाँवों में जाएगी ही। हमारे नाट्य-प्रदर्शनों पर इसका भारी असर पड़ेगा। अपनी पुनर्गठन-योजनाओं में, हमें बदलती हुई सामाजिक दशाओं और नाटक-प्रदर्शन की अधिकाधिक विकासमान परिस्थितियों के लिए, कुछ न कुछ छूट देनी ही होगी और इन नाटकीय रूपों के सामान्य ढाँचे में जो परिवर्तन होगा, उसे स्वीकार करना पड़ेगा। लोक-नाटकों में जो लचीलापन है, उसके कारण उसमें नए विषयों का भी समावेश आसानी से किया जा सकेगा। इस नाटक को खेलने के लिए हम सादे आकार वाले नाट्य-गृह भी बना सकते हैं।

आज, जब हम देश में नाट्य-आंदोलन के लिए योजनाएँ बना रहे हैं, तो लोक-नाटक-साहित्य और नाट्य-कलाओं तथा उनके पुनर्गठन से सम्बन्धित समस्त

विद्यमान लेखा-ब्यौरा इकट्ठा किया जाना परमावश्यक है। इससे नए मंच-प्रयोगों में सरलता होगी और साहित्यिक नाटक को अत्यन्त महत्वपूर्ण योग मिलेगा। आॅपेरा ढंग के कुछ ही समय पहले प्रस्तुत कुछ नाटकों ने लोक-नाटक से पूरी सहायता ली और वे अतिशय सफल हुए। इस दिशा में अपार संभावनाएँ हैं। लोक-नाटक का स्वभाव प्रभावहीन और पिछड़ा हुआ होता जा रहा है। किसी सुयोजित कार्यक्रम द्वारा हम इन मृतप्राय नाटकीय तत्त्वों को सँवार-सुधार कर सप्राण कर सकते हैं। उसके स्वरूप के शुद्ध प्रामाणिक होने की बात लेकर हम अधिक चिन्तित न हों।

प्रादेशिक भाषाओं का नाट्य-साहित्य

तमिळ नाटक का विकास

—डॉ० एम० वरदराजन

ए० एस० राप्पोर्त का कथन है[1] "किसी देवता या देवताओं की स्तुति में अभिनय किए गए गीत-युक्त नृत्य, हमारे आज के नाटकों के आद्यतम रूप हैं।" प्राचीन काल में तमिळ में 'कूत्तु' शब्द से नाटक का बोध होता था, इसका अर्थ 'नृत्य कला' भी है। उस समय में व्यवसायी अभिनेताओं को 'कूत्तार' एवं 'पूरुनार' तथा अभिनेत्रियों को 'विरलियर' की संज्ञा दी जाती थी अर्थात् वे जो नृत्य में भावों की अभिव्यक्ति करने में कुशल हैं। ये शब्द 'कूत्तार' 'पूरुनर' एवं 'विरलियर' एक हज़ार वर्ष ईसा पूर्व पुराने हैं क्योंकि ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी में प्राचीन तमिळ वैयाकरण तोळकप्पियनार[2] ने अपने समय में लिखे गए उन लेखकों की विवेचना की है जिनमें इन कलाकारों और इनको राजाओं तथा मण्डलाधीरों से प्राप्त आश्रय का वर्णन मिलता है। इससे तमिळ में नाट्य-कला की के प्राचीनता की पुष्टि होती है।

तमिलनाड में अभिनय के आद्यतम उल्लेखों का नाटकों से सम्बन्ध नहीं है जितना व्यक्तिगत गायकों एवं चारणों से है। ये चारण अपने आश्रयदाताओं के गीत गाते थे। तमिळ साहित्य के प्राचीन युग में ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं कि ये राजाओं के दरबार से सुपरिचित रहते थे और वहाँ इनको समादर भी मिला हुआ था। यही अवस्था इनकी धनाढ्यों के यहाँ एवं सार्वजनिक समारोहों में थी। सामान्यतया ये राजाओं, मण्डलाधीशों एवं धनाढ्य पुरवासियों के आश्रय में रहा

---

१. दि इंगलिश ड्रामा, पृ० १

२. तोळकप्पियम, पोरुल० ८७

डा० काल्डवेल लिखते हैं:—"तोळकप्पियम को कितना भी प्राचीन क्यों न कहा जाय किन्तु इतना निश्चिय है कि यह शताब्दियों की साहित्य परम्परा का फल है। इस में विभिन्न काव्य विधानों के नियमों का वर्णन मिलता है, ये उस समय के महान लेखकों की रचनाओं के आधार पर निश्चित किए गए होंगे।"

करते थे। इनको यहाँ से भूमि तथा मूल्यवान भेंट मिली रहती थी। यहाँ तक कि महान कवयित्री अव्वइयार अपने आश्रयदाता एव मित्र अदियमान् अंजी की प्रशंसा में छन्द-रचना करते समय इस अवसर पर अपने को चारण के रूप में कल्पना कर सौभाग्य एवं गर्व का अनुभव करती है। तो भी इन विनम्र चारणों का जीवन कष्टपूर्ण था, उन्हें भोजन एवं वस्त्रों का अभाव रहा। इसका निर्देश आत्रुप्पाडइ[1] नामक लेखों में मिलता है जिनमें इनका वर्णन दिया गया है।

इस वर्ग के कलाकारों ने अपनी एक भिन्न जाति का ही निर्माण कर लिया था। यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक चरणों में तमिळ नाटकों के विकास में इनका अधिक योग रहा। इसके विकास की समस्त परम्परा को प्रस्तुत करना कठिन है क्योंकि इसके अनेक सूत्र तो अनुपलब्ध हैं। वैयाकरण तोळकप्पियनार ने कुछ नाट्य परम्पराओं का अपने ग्रन्थ 'नाटकवळक्कु' [तोळकप्पियम्, पोरुल्, ५६] में निर्देश किया है। ईसा उपरान्त दूसरी शताब्दी के महाकाव्य 'शिलप्पदिकारम्' एवं इसके समकालीन ग्रंथ 'मणिमेकलइ' में नृत्य-कला तथा नाटक के सैकड़ों प्रसंग मिलते हैं। इनमें से पहली रचना के टीकाकारों में से एक आदियाक्कुनल्लार् [शिलाप्पदिकारम्, ३.१२] ने मूल के कुछ अंशों की व्याख्या करते समय नाटक पर लिखे गये अनेक प्राचीन ग्रंथों का उल्लेख किया है। व्याकरण के ग्रंथ 'कलावियल'[2] की टीका करते समय नक्किरार इन ग्रंथों के विषय में महत्त्वपूर्ण सकेत दे ा है। 'मुरूवल्' 'शयन्तम्' गुणनूल' 'शेय्यरियम्' जैसे ग्रंथों के इनमें प्रमाण मिलत हैं। आजकल इनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं है। 'आदियाक्कुनल्लार्' के युग अर्थात ईसा उपरान्त तेरहवीं शताब्दी में भी ये केवल नामतः विद्यमान थे। किन्तु इसके टीकाकार का यह सौभाग्य था कि 'कुत्तुनूल' 'वरदा सेनाबदियम्' तथा 'मदिवाणार् नाडक तमिळनूल्' जैसे कुछ ग्रंथों का उसने पर्यालोचन किया था जो आज अप्राप्य हैं। इस प्रकार तमिळ नाटकों पर अनक शास्त्रीय ग्रंथों की रचना हुई थी। इससे इस युग में प्राप्य अनेक नाट्य-कृतियों के जहाँ पुष्ट प्रमाण मिलते हैं वहाँ उसके जन्म और विकासका भी परिचय मिलता है।

---

१ अत्रुप्पाडई चारणों, सगीतकारों तथा अभिनेताओं का उस चारण संगीतकार एवं अभिनेता के लिए किया गया एक प्रकार का सम्बोधन है जो दानी राजओं के यहाँ से पुरस्कार ले कर लौट रहा है।

२ 'कलावियल' को 'इरइनर अगप्पोरुल' भी कहते हैं।

तमिळ साहित्य का वर्गीकरण विशिष्ट है, इसके तीन वर्ग किए जाते हैं—१. इयळ (कविता एवं गद्य) २. इशइ (संगीत-काव्य) तथा नाडकम् (नाटक-साहित्य) । इस वर्गीकरण के कारण तमिळ को 'मुत्त तमिळ' अर्थात तिगुनी तमिळ का अभिधान दिया गया है । यह भी एक परम्परा ही है कि 'सन्त अगस्तियर' ने 'अगत्तियम्' नामक जिस व्याकरण की रचना की, उसके तीन भाग हैं, तीसरे भाग में नाटक का विवेचन किया गया है ।

तमिळ के इस त्रिवर्गीय वर्गीकरण के अतिरिक्त, नाटक का वर्गीकरण भी अनेक वर्गों में किया गया है जैसे—वशइ कूत्तु (व्यंग्य नाटक), 'पुगळ कूत्तु' (प्रशंसा या स्तुति नाटक), वेत्तियळ कूत्तु (राज नाटक), पोदुवियल कूत्तु (लोक नाटक) वरिक्कूत्तु (संगीत नाटक), वरि-चण्डिक कूत्तु (देवताओं की तुष्टि के लिए लिखे गए नाटक), विनोदक्कूत्तु (विनोद-नाटक), आर्यक्कूत्तु (आर्यो के लिए विशेषकर लिखे गये नाटक). इयल्बुक्कूत्तु (प्रकृति-नाटक), देसिक्कूत्तु आदि ।[1]

उन दिनों के नाटकों के लिए नाट्यशालाएं तथा रंगमंच थे। प्रसिद्ध तमिळ कृति 'तिरुक्कुरुल' के लेखक तिरुवल्लुवर ने 'कूत्तातवई'[2] नामक नाट्यशाला का उल्लेख किया है ।

अभिनेताओं के एक वर्ग का नाम 'चाक्किइयार' था और उनके नाटक 'चाक्कइक्कूत्तु' कहे जाते थे । ये मन्दिरों एवं राजमहलों में खेले जाते थे ।

नाट्यशालाओं के निर्माण करवाने की एक स्वस्थ परम्परा थी ।[3] ये नगर या गाँव के बीचों-बीच बनाई जाती थीं और इनका मुख राजमार्ग की ओर रहता था । मन्दिरों, मठों, युद्ध-क्षेत्र, अश्वशाला, दीमक के घरों आदि के पास की भूमि नाट्य-शालाओं के निर्माण के लिए नहीं चुनी जाती थी । मन्दिरों में एक विशाल कक्ष धार्मिक कथाओं पर आश्रित नाटकों के अभिनय के लिए नियत रहता था और इन्हें 'कूत्तम्बलम्' कहा जाता था । जो नाट्यशालाएं राजमहलों में होती थीं उन्हें कूत्तुप्प-लिल् कहा जाता था । रंगमन्च के आयाम तथा विस्तार के लिए कुछ रुढ़ियाँ थी जिनका अविकल पालन किया जाता था । प्रकाश एवं पटों की व्यवस्था का भी जो विवरण मिलता है वह आधुनिक आलोचकों के लिए भी रोचक है ।[4]

---

१ आदियार्क्कु नल्लर, शिलाप्पदिकारम् ३.१२

२. तिरुक्कुरल, ३३२

३. शिलाप्पदिक रम् ३.९६

४. वही, ३.१०८०११० आदियार्कु नल्लार की टीका

इस युग का कोई भी नाटक काल की गति से बचा न रह सका। इसका एक कारण तो यह है कि जिन ताल-पत्रों पर ये लिखे गए थे उन्हें सुरक्षित रखना कठिन था। और, जनता घर पर नाटक पढ़ आनन्द उठाने की अपेक्षा उनके अभिनय को देखना अधिक चाहती थी। वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रियर[१] के मतानुसार तीसरा कारण यह था कि उस समय राजवर्ग तथा समाज में जैनियों तथा बौद्धों का अधिक प्रभाव था। इन्होंने न केवल अभिनेताओं के कार्यों की भर्त्सना की वरन् जनता को नाटकों के मनोविनोद में पड़ने से रोका भी। उस समय अभिनय के व्यवसाय को समाज में कोई आदर न प्राप्त था।

जब शैववाद तथा वैष्णववाद प्रमुख हुए, संगीत तथा नाटकों को पुन: उचित स्थान मिला और वे देश के धार्मिक समारोहों के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकृत हुए। यह जो भी हुआ एवं जिस रीति से हुआ उसका एक निश्चित क्रम है किन्तु इसके परिणाम स्पष्ट हैं जिनको तन्जौर के मन्दिर में चोल नरेश राजा राजेश्वर (ईसा उपरान्त १०वी शताब्दी) के शिलालेख में देखा जा सकता है। यह प्रसंग मन्दिर में अभिनीत होने वाले नाटक से सम्बन्धित है। यह नाटक 'राजराजेश्वर नाडगम्' था। इस शिलालेख में मुख्य अभिनेता का नाम, चोल नरेश की आश्रयिता, भेंट में मिली वस्तुएँ तथा प्रतिवर्ष नाटक खेले जाने के विशिष्ट अवसरों आदि का उल्लेख मिलता है। मुख्य अभिनेता की संज्ञा को 'थिरुवालर' उपसर्ग से विभूषित किया गया है (जैसे अंग्रेज़ी में 'मिस्टर' या संस्कृत में 'श्री')। इससे पता चलता है कि इस युग के अभिनेताओं को किसी भी प्रकार अभिशंसनीय नहीं समझा जाता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मन्दिरों में ऐसे नाटकों के अभिनय करने थी अनुमति की एवं सांस्कृतिक तथा धार्मिक कृत्यों के समान ही इन्हें आदर प्राप्त था।

जिला तिरुनेलवेलि में श्री वल्लीश्वरम मन्दिर के शिलालेख में प्रतिवर्ष पर्वों पर नाटक खेलने के लिए उय्य वन्दाल यशोदई को भूमि दान का प्रसंग है।

ग्रामीण क्षेत्रों में नाटक का एक असंस्कृत रूप प्रचलित रहा है जिसे 'तेरुक्कूत्तु' या बाजारू नाटक कहा जाता है। इन नाटकों में अभिनेता अधिकतर अहम्मन्य एवं अविवेकी होते थे और उनके अभिनय असभ्यएवं अपरिष्कृत होते थे। सारे विधान में कोई कलात्मक संगति नहीं रहती थी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनके कोई नियम नहीं हैं किन्तु यह बात तो सत्य है कि उनमें न तो सच्ची सुरुचि

---

१. तमिळ मोत्तलिळ वरलारु, 'मुलि' विषयक अध्याय।

है और न उनमें अलंकृत काव्य ही है। यद्यपि इनसे ग्रामीण जनता का मनोरजन होता है किन्तु विद्वानों ने इसे कोई प्रश्रय नहीं दिया। नाटक का यह रूप अब तेजी से लुप्त होता जा रहा है। सामान्यतः नाटक के रूप को प्रकृति प्रदत्त रंगमंच प्राप्त होता है और अभिनेता भी अपनी जीविका के लिए दान की धनराशि पर आश्रित रहते हैं। इनके अभिनयों में न तो शुल्क ही होता था और न टिकट अतः वहाँ दर्शकों की बड़ी भीड़ रहतो थी इन नाटकों की कोई प्रेम-कथा या पुराण की ही कोई कहानी इस भीड़ का मन मोहे रहती थी। आजकल तो कोई ग्रामवासी भी इन नाटकों की अकुलीनता तथा उसके रूपों को रुचिकर नहीं समझता।

आद्य तमिळ नाटकों का एक विशिष्ट गुण यह था कि ये छन्दों में लिखे होते थे, इनका कोई संवाद गद्य में नहीं रहता था। जहां तक तमिळ का सम्बन्ध है गद्यात्मक नाटकों का आविर्भाव बाद की चीज़ है। १८९१ में लिखा गया 'मनोन्मणीयम्' नाटक पद्यात्मक है। 'कोरूवंजी' भी पद्य में ही लिखा गया था।

सत्रहवीं शताब्दी में 'नोण्डीनायक' नामक एक नाट्रूप लोकप्रिय था। १८वीं शताब्दी के आरम्भ में लिखे गए 'पळनि नोण्डी नाटकम्' एवं 'शेय्यक्कुडि नोण्डी नाडगम्' पांडुलिपियों में मिलते हैं। 'तिरुक्काइर नोण्डी नाडगम्' का मुद्रण एव प्रकाशन हुआ था। इन नाटकों में नायक को पथभ्रष्ट होता चित्रित किया गया है वह वेश्याओं के संग अमर्यादित जीवन व्यतीत करता है, उसे शारीरिक तथा मानसिक आपत्तियां घेरती हैं, पैरों के गल जाने से वह लुंजा हो जाता है, अन्त में वह अपने दुराचारों पर पश्चात्ताप करता है, ईश्वर की आराधना करने पर उसके पैर पुनः उसे मिल जाते हैं। 'नोण्डीनाटकम्' का अर्थ ही अपाहिज-नाटक है, इस नाटक में नायक के कष्टों तथा उसके पश्चात्ताप के चित्र मानो निश्चित रूढ़ियों के साँचे में ढले हुए हैं।

'रामन डगम्' तथा 'अशोमुखी नाटकम्' नाटक भी छन्दों में लिखे गए थे और उनको सगीत के अनुरूप कर लिया गया था। इनके रचयिता 'अरुणाचल कविरायर' (१७१२-१७७९) मन्त भक्त थे, इन्होने कुछ वर्षों के बाद गृहस्थी से वैराग्य ले लिया था। इनकी अन्य कृतियों में से 'रामनाडगम्' रंगमच पर जितना अधिक लोकप्रिय रहा है उतना ही संगीतज्ञों में भी रहा। 'मनली मुत्तु मुदलियार' इनके संरक्षक थे, जिन्होंने नाटक की परीक्षा और उसे समादर देने के लिए समिति का आयोजन किया तथा लेखक को बहु पुरस्कार दिए। इस कृति में रामायण के अनेक रोचक तथा सजीव दृश्यों का निरूपण चित्रण किया गया है।

तंजोर के मराठा नरेशों के राज्यकाल में लिखी गई नाटकों की तो एक

माला-सी मिलती है जिनका उस समय अभिनय भी होता था । इनमें से 'हरिश्चन्द्र नाडगम्' तथा 'सिरत्तोंड नाडगम्' अधिक लोकप्रिय थे और उनका यहाँ विशिष्ट उल्लेख आवश्यक है । इनमें से दूसरा नाटक 'पेरियपुराणम्' के तिरसठ शैव सन्तों में से एक सिरत्तोन्दर के जीवन को प्रस्तुत करता है । यह सन्त पल्लव-नरेश नरसिंहवर्मन का प्रधान सेनापति था, उसने चालुक्य नरेश पुलिकेश्यन (६१०—६४४ ईसा उपरान्त) से विरुद्ध युद्ध किया तथा उसकी राजधानी वातापी पर विजय प्राप्त की थी । तंजौर सरबोजी महाराज सरस्वती महल पुस्तकालय की पांडुलिपियों में कुछ नाटक भी है जिनका प्रकाशन अभी नहीं हुआ हैं । इसमें से कुछ ये हैं :—मदन सुन्दर पुरादन सनादन विलासम्, पुरुरव चक्रवर्ती नाडगम, शारङ्गधर नाडगम्, पाण्डि केलि विलासम्, सुभद्राकल्याणम् आदि ।

पी० सम्बन्द मुदलियार के अनुसार मद्रास राज्य के पाण्डुलिपि पुस्तकालय में लगभग तीस नाटकों की पाण्डुलिपियाँ मिलतो हैं । इनमें से कुछ हैं —हिरण्य संहार नाडगम्, राम नाडगम्, उत्तर रामायण नाडगम्, कन्दर नाडगम्, कात्तवराय नाडगम्, कुशलव नाडगम तथा जामदग्नि नाडगम् ।

स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा के उत्सव मनाने के लिए लिखे गए नाटक भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं । इन देवी-देवताओं के वार्षिक पर्वों पर इनका अभिनय किए जाने के लिए व्यवस्था भी की जाती थी । इनमें से कुछ तो पांडुलिपि के रूप में अब भी नाटककार के वंशजों या इन नाटकों को अभिनीत करने वाले अभिनेताओं के पास मिलते हैं जो कभी अत्यधिक प्रसिद्ध थे ।

नाटकों की दो और शैलियाँ काल की गति में अब भी बच रही हैं, इनके नाम हैं—वान्जि एवं पल्लु अथवा कुरत्ति पाट्टु एवं उलत्ति पाट्टु । तिरिकुंदरासप्पा कविरायर का 'कुरळ्ळ कोरुवञ्जि' तथा एन्नइन्यिन पुळवर का 'मुक्कूदल-पल्लु' इन नाट्य-रूपों के सुन्दर उदाहरण हैं । इस शैली में 'अळगर कोरुवञ्जि', 'ज्ञान कोरुवञ्जि', 'शिवशैल पल्लु पुदुवई पल्लु' जैसी अन्य कृतियाँ भी हैं किन्तु ये इतनी लोकप्रिय नहीं है और कोरी अनुकरण मात्र कही जाती हैं ।

'कोरुवञ्जि या कुरत्ति पाट्टु, 'तेरुकूत्तु' या बाजारू नाटक की शैली साधारण का नाटक है । इसमें परमात्मा तथा स्त्री की खोज करने वाली दो आत्माओं में अन्तर का वर्णन किया गया है । इसका सौन्दर्य इसी वर्णित अन्तर पर आश्रित है । कन्जर-स्त्री कुरत्ति के चरित्र का समावेश तथा दो प्रेमकथाओं का वर्णन इसी उद्देश्य से किया गया है ।

प्रसिद्ध नाटक 'कुरल्ल कुरवञ्जि' के कारण तो इसके लेखक तिरिकुरळ-रासप्पा-कविरायर को विपुल धन तथा उर्वर भूमि मिली थी। जिला तिरुनलवेलि में कुट्रालम् के पास तो यह भूमि नाटक के नाम पर 'कुरवञ्जि मेडु' अभिधान ग्रहण कर आज भी मानो उर्वर है।

इसकी नायिका एक आत्मा है जिसे मानव-रूप दिया गया है। वह एक सुन्दर तथा गुणवती महिला है। गेंद से खेलते समय वह जलूस बनाकर आते देवताओं को देखती है तो विस्मयाकुल हो उठती है। चन्द्रिका तथा दाक्षिण पवन उसके मन को और भी उद्वेलित कर देता है; वह उनकी भर्त्सना करती है तथा निर्दय काम को कोसती है। उसकी सखियाँ उससे कहती हैं कि वह ईश्वर के प्रेम से आसक्त हो चुकी है। कुरत्ति नामक कञ्जर स्त्री इसी समय अचानक आ जाती है और उससे परामर्श किया जाता है। वह यथेष्ट यात्राएँ कर चुकी है और मानव-प्रकृति से पूर्णतया परिचित है। वह न केवल इस रहस्यमय प्रेमी का निरूपण करती है वरन् उसके देश एवं वास का चित्रण करती है। अत्यन्त पुरस्कृत होने पर वह चली जाती है। बाद में उसका बहेलिया-पति उसकी खोज में आता है। और जब वह इसके पटवस्त्रों तथा स्वर्ण हीरों को देखता है, वह रुष्ट हो जाता है। और यह उसके रोष को अपनी यात्रा के वृत्तान्त सुना शान्त करती है। "**समस्त दक्षिण भारतीय भक्ति साहित्य में सामान्यतः प्राप्य मानव एवं दैवी प्रेम प्रसग का यहाँ वर्णन किया गया है। स्रष्टा की खोज करता हुई आत्मा ही मानो यह उच्च कुल में पली महिला है जो अपने ईश्वरीय प्रेमी की झाँकी पाकर भी उसे खो देती है, वह विह्वल हो उसकी प्रतीक्षा करती है, वह आवेगपूर्ण तथा किंकर्तव्यविमूढ़ है और यह आत्मा तब तक अशान्त है जब तक वह पुनः असीम आत्मा में मिल नहीं जाती।**[1]"

'पल्लु' को किसानों का नाटक कहा जा सकता है, इसमें जहाँ इनका जीवन चित्रित है वहाँ इसके द्वारा दो धार्मिक वादों–शैववाद तथा वैष्णववाद-की प्रतिस्पर्धा का भी वर्णन किया गया है। पल्ल (किसान के दो स्त्रियाँ हैं—एक शैव है, दूसरी वैष्णव। इन दोनों में ईर्ष्या सुलगने लगती है। ज्येष्ठ पत्नी अपने पति पर चोरी तथा अन्य पाप-कर्म का आरोप लगाती है। भूस्वामी इन अपराधों को सुनता है तथा उसे दण्ड देता है। कनिष्ठा भूस्वामी से प्रार्थना करती है जो निष्फल हो जाती है। ज्येष्ठा अपने पति को आपत्तियों से घिरा देख कर उसे छुड़ाने आती है तथा अपने पक्ष की सफाई दे उसे छुड़ा लेती है: तदुपरान्त ये दोनों स्त्रियाँ परस्पर स्नेह से जीवन

---

१ एम० एस० पूर्णलिंगम् पिल्लाई, तमिल लिट्रेचर पृ० ३६६

यापन करने पर सहमत हो जाती हैं। इनके ईर्ष्या तथा कलह के नाटकीय चित्रण के अतिरिक्त, कृति में कृषक-जीवन का उत्तम दिग्दर्शन मिलता है।

अरुणाजल कविरायर ने जिस प्रकार रामायण के आधार पर रामनाटक की रचना की, उसी प्रकार राकचन्द्र कविरायर ने 'बरद विलासम्' नाटक का प्रणयन किया है जिसमें महाभारत का वर्णन है। यह रामनाटक की भाँति लोकप्रिय नहीं है। इन्होंने तीन अन्य नाटक भी लिखे हैं—'रङ्कून चण्डई नाडगम्', 'शकुन्तलइ विलासम्' एवं 'तरुग विलासम्'। 'रङ्कून चण्डई नाडगम्' एतिहासिक नाटक है और इसके प्रणयन से लेखक ने तमिळ में नाटकों की नवीन परम्परा का सूत्रपात किया।

चिरकाल तक नाटककार पुराणों की कथाओं पर ही नाटक लिखते चले आ रहे थे एवं अपने चारों ओर का जीवन जिसे वे देखते चले आते थे नाटकों के लिए अछूता ही था। इस शताब्दी के मध्य से तमिळ नाटक में अनेकशः परिवर्तन हुए यद्यपि वे अनुल्लेख्य तथा मन्द थे तथापि कला अब एक सामाजिक क्रिया बन गई। नाटककार अपनी कृतियों के लिए समकालीन जीवन के उल्लेख्य प्रसंगों में से वस्तु-चित्र की कथाओं से सामग्री ग्रहण करने लगे।

तमिळ में पहला लोकप्रिय सामाजिक नाटक काशि विश्वनाद मुदलियार का लिखा 'डम्बाचारि विलासम्' है। इस लेखक के अन्य नाटक "ब्रह्मसमाज नाडकम्' तथा 'तासिलदार नाडगम्' हैं। रामस्वामी राजा की नाट्यकला में १८७८ में लिखे गए 'प्रदचन्द्र विलासम्' से सुधार के चिह्न मिलने लगते हैं। एक बार एक पारसी नाटक कम्पनी मदरास आई थी, उसने अपने कुछ नाटक रंगमञ्च पर खेले थे जिन से प्रेरित होकर कुछ कलाकारों ने उन्हें ग्रहण कर तमिळ भाषा में लिखा। इस प्रकार के नाटक हैं जैसे अप्पावु पिल्लइ का 'इन्द्र सभा'।

नाटक का अनेक अंकों तथा प्रत्येक अंक का अनेक दृश्यों में विभाजन प्राचीन तमिल नाटकों के लिए अपरिचित था। तमिळ विद्वानों द्वारा जब शेक्सपियर के नाटक पढ़े जाने लगे तो उनसे एक नवीन धारा का श्रीगणेश हुआ। इनके द्वारा ही उन्होंने पाश्चात्य शैली को पूरी तरह समझा तथा उसे ग्रहण भी किया। अंकों तथा दृश्यों में नाटक की योजना का आरंभ तमिळ में सर्वप्रथम १८९१ में तमिळ नाटक 'मनोन्मणीयम्' के लेखक पी० सुन्दम् पिल्लई ने किया। उनके पश्चात् सभी नाटककारों ने इस शैली को सफलतापूर्वक अपनाया। अन्य क्षेत्रों में भी अंग्रेजी नाटकों के साथ तमिळ के सम्पर्क के कारण जहाँ शैली में यथार्थता तथा सौष्ठव का समावेश हुआ, वहाँ उद्देश्य में भी परिष्कार हुआ।

१८९१ में त्रिवेन्द्रम कालेज में दर्शन के आचार्य पी० सुन्दरम ने शेक्सपियर की शैली के आधार पर पाँच अंकों में अपना नाटक 'मनोन्मणीयम्' प्रकाशित किया। यह लार्ड लिटन के 'दि सीक्रिट वे' नाटक के आधार पर लिखा गया था तथा अनेक दार्शनिक विचारों के चिन्तन को मानो-अपने कलेवर में लपेटे हुए था। नाटकीय सौन्दर्य, कल्पना वैभव, चमत्कारिक अन्योक्ति तथा पुनीत उपदेशों के कारण यह गौरव-नाटक कहा जाने लगा और यह पाठक के हृदय तथा मानस पर अमिट छाप छोड़ जाता है। जैसा कि इस कृति की प्रस्तावना में ही नाटककार ने स्वीकार किया है यह अभिनय की अपेक्षा पढ़ने के योग्य अधिक है। यह तमिळ के मुक्त छन्द 'अगवळ मित्रा' में लिखा गया है।

इस कृति के प्रकाशन के उपरान्त तो अनेक विद्वान तथा उत्साही लेखक नाटक लिखने में रुचि लेने लगे। इनमें से एक मद्रास के अवकाश-प्राप्त जज पी० सम्बन्द मुदलियार एवं दूसरे मद्रास क्रिश्चियन कालेज में तमिळ के आचार्य वी०-जी० सूर्यनारायण शास्त्रियार हैं। मुदलियार ने सरल आधुनिक गद्य में लगभग साठ नाटक लिखे हैं, इनमें से अधिकांशतः अभिनीत भी हो चुके हैं। उनके कुछ नाटक 'मनोहरा' 'रत्नावली' 'लीलावदी' एवं 'सुलोचना' आदि है। इनमें उनकी मौलिकता तथा अभिनवता स्पृहणीय है। उनकी कला में स्वांग के यथार्थ एवं सुखान्तकी की रम्याद्‌भुतता का नवीन शोभामिश्रण है जिसमें व्यस्त-स्निग्ध रोमानी वातावरण की ज्योत्स्ना उल्लसित होती दिख पड़ती है। इन्होंने शेक्सपियर के अनेक नाटकों का अनुवाद भी किया यथा—दि मर्चेण्ट ऑफ वेनिस, हेमलैट, मैकबेथ एवं एज़ यू लाइक इट। इनकी कृतियों के परिमाण तथा नाट्य-कला को देखते हुए कदाचित यह कहना उचित ही होगा कि ये तमिळ के महान नाटककार हैं।

अन्य नाटककारों में जिन्होंने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया अथवा उससे प्रेरणा ली। एस० नारायणस्वामी अय्यर, ए० माधवैह, के. वेङ्कटारमन अय्यर, के० रामस्वामी अय्यंगार, पी० एस० दोराइस्वामी आयंगर, सरसलोचन चेट्टियार एवं जी० जोसेफ के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों द्वारा तमिळ में अनुवादित अथवा रूपान्तरित किए जाने वाले नाटकों में 'मिड्‌समर नाइट्स ड्रीम' 'ओथेलो' 'हेमलेट', 'किंगलियर', 'रोमियो एण्ड जूलियट' तथा 'सिम्बलिन' है। एन० आ० के० दत्ताचार्य ने मिल्टन की कहानियों में से एक का 'गुणमालिका' शीर्षक से नाट्य-रूपान्तर किया। ए० कृष्णास्वामी अय्यर ने हेनरी वुड के एक उपन्यास का नाट्य-रूपान्तर किया था।

कलिदास की 'शुकन्तला' का मरइमालई आदिगळ द्वारा सुष्ठु तथा संस्कृत

तमिळ में अनुवाद किया गया है। इसका अनुवाद भवानन्दम् पिल्लई तथा पी० सम्बन्द मुदलियार ने भी किया। कालिदास के दो अन्य नाटक 'विक्रमोर्वशी' तथा 'मालविकाग्निमित्र' का अनुवाद भी हुआ, पहले का एस० राजा० शास्त्री तथा एस० रामस्वामी अय्यंगार और दूसरे का ए० सुब्रह्मण्य भारती तथा पी० सम्बन्द मुदलियार ने किया था। संस्कृत नाटक 'वेणीसंहार' तथा 'मृच्छटिक' का अनुवाद एस० राघवाचार्य ने प्रस्तुत किया। पण्डितमणि गदिरेसन चेट्टियर ने 'मृच्छकटिक' का तमिळ छन्दों में अनुवाद किया था।

सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर लिखे गये नाटकों की संख्या कम नहीं है। तमिळ में नाट्य-साहित्य के प्रणेताओं का अब तो एक वर्ग बन गया है तथा उसका भविष्य उज्ज्वल है। प्रो० वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रियार के पास नाटकीय तथा काव्य-प्रतिभा थी. उन्होंने न केवल गद्य तथा छन्दों में अनेक नाटकों की सृष्टि की वरन् नाट्य-कला पर शास्त्रीय ग्रंथ का प्रणयन कर तमिळ नाटकों के पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनके 'रूपावती' तथा 'कलाबदी' गद्य तथा पद्य में लिखे नाटक हैं, 'मणिवीजयम्' की रचना छन्दों में हुई है। इनका स्वर्गवास १९०३ में हुआ जब कि उनकी अवस्था तेतीस वर्ष की ही थी। यदि ये और अधिक जीवित रहते तो निश्चय ही और अधिक नाटकों की रचना होती जो तमिळ-साहित्य के ऐश्वर्य के कारण बनते। वे महान काव्य-प्रतिभा तथा चिन्तन-शक्ति के धनी थे। उन्होंने अपने अनेक विद्यार्थियों तथा मित्रों को नाट्य-कला की ओर उत्साहित किया तथा उनसे मौलिक नाटक भी लिखवाए। इन्होंने उनकी आशाओं को पूरा भी किया। तमिळ का नाट्य-साहित्य उन उत्साही विद्वानों का आभारी रहा है जिन्होंने वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रियार तथा वी० सम्बन्द मुदलियार के द्वारा प्रस्तुत किए गए आदर्शों का पालन किया।
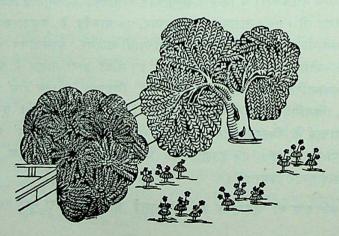
तेलुगु नाटक और रंगमंच

—डॉ॰ जी॰ वी॰ सीतापति

सन् १८७० ई॰ पूर्व से तेलुगु में नाटक का कोई अस्तित्व न था—न तो मौलिक नाटक थे, न अनुवाद ही। इसका यह तात्पर्य नहीं कि तेलुगु लोगों को नाटक का कोई ज्ञान ही न था। तेलुगु-भाषियों में जा संस्कृत के पण्डित थे, उन्हें नाटकों का ज्ञान तो था ही परन्तु उन्होंने संस्कृत-नाटकों के अनुकरण पर कभी तेलुगु में नाटक रचने का प्रयास नहीं किया। कई तेलुगु कवि ऐसे हुए जिन्होंने महाभारत, रामायण और भागवत के अनुवाद प्रस्तुत किये परन्तु किसी संस्कृत नाटक का अनुवाद कभी किसी तेलुगु-साहित्यकार ने नहीं किया। १४ वीं शती के एक प्रमुख तेलुगु-कवि पिल्ललमरि पीन वीरभद्र ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और महाभारत में शकुन्तला के मूल उपाख्यान से प्रेरणा ग्रहण कर 'शकुन्तला परिणयम्' नाम से एक लम्बी कविता लिखी थी। इसी प्रकार १५ वीं शताब्दी के कवि-युगल नन्दीमल्लन और घण्ट सिंगन ने संस्कृत-नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदयम्' का कविता में रूपान्तर किया। संस्कृत नाटक की तरह के किसी तेलुगु नाटक का १८७० ई॰ से पूर्व हमें कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता; न तेलुगु देश में किसी रंगमंच के अस्तित्व का ही कोई प्रमाण उपलब्ध होता है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है पर इसका एक समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

नाटक के स्थान पर आन्ध्र देश में भागवत-मण्डलियों द्वारा 'मक्षमान' हुआ करते थे—इन्हें 'वीथिनाटक' भी कहा जाता था। शुरू-शुरू में इनका विषय निरपवाद रूप से भागवत का कोई उपाख्यान हुआ करता या परन्तु बाद में महाभारत और रामायण की कथाओं को भी उपयुक्त विषय मानकर ग्रहण किया गया। ये काव्यमय हुआ करते थे—इनमें संगीत, अभिनय एवं नृत्य सभी का समावेश होता था। भरत-नाट्य के अनुसार नृत्य को नृत्य-नाटक का अनिवार्य अंग स्वीकार किया गया था; लेकिन भास-कालिदास आदि की रचनाओं में नाटक का जो रूप निखरा उसमें नृत्य का प्राय: त्याग ही हो गया था—कहीं उपयुक्त स्थिति आने पर संयोगवश उसका समावेश भले कर दिया जाये। कालान्तर में गीत का भी महत्व जाता रहा और संस्कृत नाटकों मे केवल श्लोकों का प्रयोग किया जाने लगा। परन्तु तेलुगु-प्रदेश के वीथि-नाटकों में पद्य, गीत, संगीत, अभिनय, नृत्य सभी का समावेश किया जाता रहा।

वे पश्चिम के ऑपेरा की तरह से हुआ करते थे। अतः सस्कृत-नाटकों की अपेक्षा जन-साधारण के लिए उनमें अधिक आकर्षण था।

कन्दुकूरि रुद्रकवि का 'सुग्रीव-विजयम्' सब से शुरू के ज्ञात यक्षगानों में से है। कुछ लोगों का कथन है कि यह कृष्णदेव राय (१५०९-२९ ई०) के युग की रचना है पर अन्य विद्वानों का मत है कि इसका रचना-काल १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। १६वीं शती के उत्तरार्द्ध और १७वीं शती में मदुरा एवं तंजौर के नायक शासकों के संरक्षण में अनेक यक्षगानों की रचना हुई। यक्षगान की उपस्थापना में सर्वप्रथम विष्णु अथवा शिव की स्तुति होती थी, फिर विघ्नेश्वर की; तत्पश्चात् पूर्ववर्ती यशस्वी कवियों की प्रशस्ति में कुछ बंध होते और फिर आश्रयदाता का—जिसे यक्षगान समर्पित किया जाता था—गुण-गान हुआ करता था। तदनन्तर सूत्रधार कथा का सूत्रपात कर देता; संवादों और गायनों में उसके एक-दो सहयोगी उसका साथ देते; उधर नटी भरत के नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित विधि से समुचित मुद्राओं-भंगिमाओं का पुट देकर नृत्य करती थी।

काल-प्रवाह के साथ यक्षगानों के विषय-चयन, पात्र-संख्या और कथोपकथन में कई छोटे-मोटे परिवर्तन हो गये हैं। 'भामाकलापम्' इसका एक विशिष्ट रूप है जिसमें कथा का सम्बन्ध सीधा सत्यभामा से है जो कृष्ण की आठ रानियों में सबसे अधिक ईर्ष्यालु और कलहकारिणी थी। नीचे एक मंच रहता था और उस पर एक वितान-सा तान दिया जाता था—यही बस रंगमंच का स्वरूप था; प्रेक्षक सामने खुले में धरती पर ही बैठ जाया करते थे।

तंजौर में नायक-शासकों के राजत्व-काल में विषय के चयन में नवीनता का समावेश हुआ। वैसे तो पुराणों से विषय ग्रहण करने की प्रथा थी परन्तु रचनाकार ने सामयिक जीवन से विषय चयन किया। रचनाकार थे तंजौर के शासक विजयराघव नायक (१६३४-७३ ई०)। उन्होने 'रघुनाथाभ्युदयम्' नाम से एक यक्षगान रचा जिसमें उनके पिता रघुनाथ नायक (१६००-३४ ई०) के शौर्य एवं पराक्रम का निरूपण था। विजयराघव नायक की संस्कृता नर्तकी रंगाजम्म ने 'मन्नारुदास विलासम्' नाम से एक यक्षगान का प्रणयन किया जिसके नायक थे विजयराघव।

प्रसिद्ध संगीतज्ञ और तेलुगु-भजनकार त्यागराज ने भी 'प्रह्लाद-चरित्र' और 'नौकाभंगम्' के नाम से दो यक्षगानों की रचना की।

२०वीं शती के आरम्भ तक तेलुगु साहित्य का यही ढर्रा चलता रहा। गुन्टूर ज़िले के धेनुवकोंड वेंकय्य ने पद्य और गीत में कई नृत्य-नाटक लिखे—उन्होंने महा-

भारत से 'उत्तर-गोग्रहणम्' आदि कथाएँ लीं और भागवत से 'वामन चरित्र' आदि उपाख्यान ग्रहण किये। उनकी रचना इस प्रकार की गई थी कि वाद्य-वृन्द के साथ उनका निपाठ हो सके या मंच पर अभिनीत हो सकें।

वीथिनाटकों की लोकप्रियता धीरे-धीरे घटती जा रही है लेकिन अब भी कुछ गाँवों में उसका प्रचलन है आधुनिक रुचि-सम्पन्न कुछ आभिजात्य-जन भी पुरानी चीज़ों में दिलचस्पी रखने के नाते कभी-कभी उन्हें देख लेते हैं। इस प्रकार के साहित्य से ही इनका भी प्रादुर्भाव हुआ : १. हरिकथा—जिसमें एक ही व्यक्ति कथा सुनाता जाता है। कथा में पद्य-गीत और गद्य का मिश्रण रहता है। २. बुर्रकथा—इसमें मुख्य उद्घोषक के दो साथी भी रहते हैं: कथा की रचना प्रायः वीरगीतों की पद्धति पर होती है। हरिकथा के विषय प्रारम्भ में तो विष्णु (हरि) से ही सम्बद्ध होते थे परन्तु बाद में अन्य देवताओं और वीरों की गाथाओं का भी समावेश उनमें हो गया। आधुनिक युग में तो राष्ट्रीय वीरों की कथाओं पर भी उनकी रचना होने लगी है। यथा—'गान्धी महात्मुनि हरिकथा', 'हरिकथा' शब्द अब एक विशिष्ट प्रकार के साहित्य के लिए रूढ़ हो गया है। बुर्रकथाओं के विषय कहीं अधिक वैविध्यपूर्ण रहे हैं—इनमें पौराणिक गाथाओं से लेकर आज की राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं तक का समावेश कर लिया जाता रहा है।

नाटक

तेलुगु कवियों ने बहुत समय तक संस्कृत नाटकों के आदर्श पर नाटक लिखने का प्रयास नहीं किया क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि नाटक दृश्य-काव्य है और अभिनय के लिए उसकी रचना की जाती है; परन्तु उन्हें यह विश्वास न था कि नाटक अगर मंच पर प्रस्तुत किया जाये तो उसे यक्षगान अथवा वीथि-नाटकों जैसी लोकप्रियता प्राप्त हो सकती है। उनका विचार था कि केवल अभिनय और संवाद जनता को आकर्षित नहीं कर सकते—उनमें गीत और नृत्य का मिश्रण होना चाहिए।

अँग्रेज़ी नाटक के अभ्युदय और शेक्सपियर एवं अन्य नाटककारों के अँग्रेज़ी नाटकों के अभिनय के साथ शिक्षित जनता में उनके उपस्थापन और अनुवाद की रुचि जागृत हुई। इसके बाद धारवाड़ और पूना से थियेटर कम्पनियों का आना आरम्भ हुआ—वे हिन्दी नाटक प्रस्तुत करतीं, उनके बड़े चित्र-विचित्र पर्दे और आकर्षक दृश्य-विधान हुआ करते थे। तब तेलुगु में भी इसी प्रकार के नाटकों की आवश्यकता का अनुभव किया गया। प्रायः इसी समय विजयनगर-महाराज

आनन्द गजपति के मन में संस्कृत नाटक प्रस्तुत करने की इच्छा जागृत हुई। अभिजात-वर्ग में वे बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे; संगीत और साहित्य के संरक्षक थे। उन्होंने एक नाट्य-संस्था का श्रीगणेश किया और पण्डित-वर्ग एवं आधुनिक उदार विद्वानों के निमित्त संस्कृत नाटकों के उपस्थापन के लिए अपने प्रासाद में एक नाट्य-गृह बनवा दिया।

इन घटनाओं के फलस्वरूप अंग्रेज़ी और संस्कृत नाटकों के अनुवाद शुरू हुए—और बाद में मौलिक नाटकों की रचना भी होने लगी। १८७६ में वाथिलाल वासुदेव शास्त्री ने 'जुलियस सीज़र' का तेलुगु में एक अनुवाद किया। उन्होंने तेलुगु में एक लोकप्रिय छन्द का प्रयोग किया जिसमें शेक्सपियर की रचना के अनुसार ही प्रत्येक पंक्ति में पांच चरण थे। उन्होंने तेलुगु-प्रदेश में उसे लोकप्रिय बनाने के लिए अँग्रेज़ी नाटकों को भी तेलुगु-रूप दे दिया और हिन्दू वेश-भूषा और रंग-ढंग का उसमें समावेश करने का भी प्रयत्न किया। १८८० में विजयनगरम् के श्री राममूर्ति और राजामुन्दरी के वीरेशलिंगम् ने 'मर्चेण्ट ऑफ़ वेनिस' के प्रथम दो अंकों का अनुवाद किया। श्रीराममूर्ति ने कुछ गद्य-पंक्तियों का भी उसमें सन्निवेश कर दिया था परन्तु वीरेशलिंगम् का अनुवाद आद्यन्त पद्यबद्ध था। इन तीनों अनुवादों के बाद तो अँग्रज़ी नाटकों और बाद में अन्य भाषाओं के नाटकों के अनुवादों की बाढ़-सी आ गई। शेरिडन, इब्सन एवं अन्य सुप्रसिद्ध नाटककारों सभी की कृतियों के अनुवाद किये गये। इनमें शेक्सपियर के अनुवादों को ही सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। कम से कम बारह नाटकों का अनुवाद अथवा रूपान्तर किया गया और सबसे अधिक अनुवाद वीरेशलिंगम् ने ही किये। किन्तु इनमें शिक्षित-वर्ग के ही लिए आकर्षण था; जनसाधारण को ये नाटक आकर्षित नहीं कर सके। आज भी विदेशों के सामाजिक अथवा राजनीतिक जीवन की कहानियां उन्हें विशेष आकर्षित नहीं कर पातीं।

विदेशी भाषाओं के नाटकों के अनुवाद और रूपान्तर के साथ ही संस्कृत नाटकों के भी अनुवाद हुए। सर्वप्रथम कोक्कण्ड वेंकटरत्नम् नाम के एक प्रकाण्ड संस्कृत एवं तेलुगु विद्वान ने 'नरकासुर विजय व्यायोगम्' का अनुवाद किया—परन्तु अनुवाद की शैली बहुत दुरूह थी, इसीलिए उसका वैसा स्वागत नहीं हो सका। इसके पश्चात् संस्कृत नाटकों के अनुवाद भी वीरेशलिंगम् ने ही किये। उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'रत्नावली' के अनुवाद किये। समसामयिक एवं परवर्ती विद्वानों द्वारा अभिदान-शांकुतलम् के कम से कम बारह अनुवाद प्रस्तुत किये गये हैं परन्तु वीरेशलिंगम् का तेलुगु अनुवाद ही कदाचित् सर्वश्रेष्ठ है। तदनन्तर भवभूति, भास, शूद्रक, भट्ट

नारायण आदि अनेक यशस्वी संस्कृत नाटककारों की कृतियों के अनुवाद प्रस्तुत किये गये परन्तु मंच पर उनमें से बहुत ही कम अनुवादों को सफलता मिली । बल्लादि सुब्बारायुकु के वेणीसंहार को बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई । १९००-१९१० के बीच संस्कृत नाटकों के अनुवादों की भरमार रही परन्तु उसके बाद यह अनुवाद-धारा अत्यन्त क्षीण हो गई है ।

संस्कृत और अंग्रेज़ी के अनुवादों के साथ ही मौलिक नाटकों की भी सृष्टि हुई । मौलिक रचनाएँ भी प्रायः उन्हीं स्रष्टाओं की लेखनी से उद्भूत हुईं जिन्होंने प्रारम्भ में अनुवाद प्रस्तुत किये थे । सर्वप्रथम मौलिक नाटक १८८० में वासुदेव शास्त्री ने लिखा—इसका नाम था 'नन्दक राज्यम्' । यह नाटक आद्योपान्त पद्य में रचा गया था अतः रंगमंच पर खेला नहीं जा सका । इसका कारण कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है । तेलुगु-भाषियों को पद्य-गायन का अभ्यास तो है परन्तु गद्यवत् उसका निपाठ नहीं कर सकते । इसके पश्चात् वीरशलिंगम् ने 'हरिश्चन्द्र' शीर्षक मौलिक नाटक लिखा और उनकी यह कृति बहुत लोकप्रिय हुई : कारण यह था कि इसकी कथा में सीधा प्रभाव डालने की क्षमता थी, संवादों में गति थी और कथानक का विकास संस्कृत नाटकों के अनुकरण पर किया गया था । मंच पर इसकी लोकप्रियता तब तक बनी रही जब तक कि बलिजेपल्ली लक्ष्मीकान्त के 'हरिश्चन्द्र' ने तेलुगु प्रदेश के कई भागों में अधिकाधिक श्रोताओं को आकर्षित किया । इसमें नाट्य-स्थितियों का आयोजन कहीं अच्छा था क्योंकि वे अभिनेता भी थे और अभिनय का उन्हें अच्छा ज्ञान था ।

नियमित और व्यवस्थित नाट्य संस्थाओंके लिए जिन्होंने सबसे पहले नाटक-रचना की उनमें धर्मवरम कृष्णमाचार्य (१८५३-१९१३) और कोलाचलम् श्रीनिवास राव प्रमुख हैं । दोनों बेल्लारी के थे— दोनों समसामयिक थे और नाट्य-क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्वी थे । दोनों ही अंग्रेज़ी शिक्षा की उपज थे; दोनों के नाटकों में अंग्रेज़ी नाटक और पाश्चात्य नाट्य-शास्त्रीय प्रविधि का प्रभाव परिलक्षित होता है । कृष्णमाचार्य ने बेल्लारी की सरसविनोदिनी सभा के लिए नाटक लिखे । उन्होंने विषाद-शार्ङ्गधर नाम से तेलगु में प्रथम त्रासदी लिखने का साहस किया । इस देश में सुखान्त नाटक की ही परम्परा रही है, चाहे उसका विषय पौराणिक हो, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक । उन्होंने संस्कृत नाटकों के चिरपरिचित 'नान्दी' और 'प्रस्तावना', अंशों का परित्याग कर दिया और उनके स्थान पर अंग्रेज़ी नाटकों के सदृश उपक्रम और उपसंहार का समावेश किया । परन्तु वर्णन, अलंकार और अभिव्यंजना में उन्होंने देश के सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक

मूल्यों की परंपरा को अक्षुण्ण रखा । उनके कई नाटक पौराणिक विषयों पर आधृत थे जिनमें 'चित्रनलीयम्', 'प्रह्लाद' और 'पादुका पट्टाभिषेकम्' को सर्वोत्कृष्ट माना गया है । उन्हें आद्योपान्त गद्य में 'अजामिल' शीर्षक नाटक रचने का भी गौरव प्राप्त है । कुल मिला कर उन्होंने तीस नाटकों का प्रणयन किया है ।

कृष्णमाचार्य प्रसिद्ध अभिनेता भी थे । उनके वरदहस्त की छत्र-छाया में रह कर उनके भतीजे ताडिपर्ति राधवाचारी राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त यशस्वी अभिनेता बन गये । कृष्णमाचार्य को सम्मानवश 'आन्ध्र-नाटक-पितामह' कहा जाता है ।

कोलाचलम् श्रीनिवासराव ने कुछ मत-भेदों के कारण बेल्लारी में ही एक प्रतियोगी नाट्य-संस्था का समारम्भ किया । उन्होंने भी विपुल नाट्य-साहित्य की सृष्टि की—उनके नाटकों की संख्या भी कदाचित् तीस ही है । कृष्णमाचार्य ने तो पौराणिक नाटकों में अपनी धाक जमाई थी; श्रीनिवासराव ऐतिहासक नाटकों के प्रथम उत्कृष्ट लेखक माने गये । उनका 'विजयनगर-साम्राज्य-पतनम्' उनके नाटकों में सर्वोत्कृष्ट है ।

मद्रास की सुगुण-विलास-सभा प्रायः उसी समय अस्तित्व में आई जब बेल्लारी की सभा । इस सभा में तेलुगु के ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के नाटक भी खेले गये ।

१९ वीं शती के अन्त और २० वीं के आरम्भ में तेलुगु प्रदेश के कई अन्य नगरों में भी नाटच-समाज अस्तित्व में आये । इनमें राजाहमुन्दरी के 'चिन्तामणि नाटक समाज' और विशाखापट्टनम् के 'जगन्मित्र नाटक समाज' ने सब से पहले यश-लाभ किया । तेनालि, गुडिवाड, मसुलीपटनम्, एल्लोर, नेल्लोर और कई अन्य नगरों में भी नाटक-समाजों की स्थापना हुई । कुछ चलती-फिरती व्यावहारिक नाटक-मंडलियाँ भी थीं; उनके विषय में एक रोचक तथ्य यह है कि हर मंडली में प्रायः एक ही बृहद् परिवार के लोग शामिल हुआ करते थे । स्त्रियों का भी इनमें योग रहता था और प्रयत्न यह किया जाता था कि जहाँ तक सम्भव हो पति-पत्नी को मंच पर भी उसी भूमिका में अवतरित होने दिया जाये । उनके पास प्रायः दस नाटक थे । इन नाटकों मंचीय उपस्थापन के लिए जिस सामान की आवश्यकता थी, वह सब वे अपने साथ रखा करते थे , पन्द्रह वर्ष तक ये मंडलियाँ सफलतापूर्वक अपना व्यवसाय चलाती रहीं परन्तु चलचित्र-अभ्युदय के साथ-साथ ये छिन्न-भिन्न हो गईं । जो अभिनेता—अभिनेत्रियाँ बच रहे उन्होंने इस नये क्षेत्र में पदार्पण किया । उनका एक मुख्य दोष यह था कि उनके नाटककार जो नाटक लिखते, वे अपने स्थायी कलाकारों की प्रतिभा

ध्यान में रख कर लिखा करते थे — यह नहीं कि नाटक लिखे जाने के पश्चात उसकी भूमिकाओं के लिए उपयुक्त पात्र चुन लें।

राजामुन्दरी में चिलकमर्तिलक्ष्मीनरसिंहम् और वाकूकदि सुब्बाराव जैसे उच्चकोटि के साहित्यकार थे जिनके नाटक समूचे आन्ध्रदेश में लोकप्रिय हुए। चिलकमर्ति के 'प्रसन्नयादवम्' और 'गयोपाख्यानम्' को विशेष ख्याति प्राप्त हुई।

विशाखापट्टनम् के इच्छापुरपु यज्ञनारायण द्वारा रचित नाटक 'रसपुत्र विजयम्' को इस शती के पहले चरण में बड़ी सफलता प्राप्त हुई। इसमें राजपूत वीरों के शौर्य-पराक्रम और मुसलमान सरदारों और शासकों की निर्ममता का निरुपण किया गया था। कोप्परपु सुब्बाराव का 'रोशनआरा' नाटक भी कुछ वर्षों तक बहुत लोकप्रिय रहा लेकिन उसमें हिन्दुओं के गौरव का पोषण करने के लिए तथ्यों को कुछ इस तरह तोड़ा-मरोड़ा गया था कि जिससे मुसलमानों की भावना को ठेस पहुँचे। फलतः इस नाटक पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

तिरुपति वेंकटेश्वर के 'पाण्डव विजयम्' आदि पौराणिक नाटक, मुत्तराजु सुब्बाराव को 'श्रीकृष्ण तुलाभारम्', गुण्डिमेड वेंकट सुब्बाराव के 'खिलजी राज्य पतनम्' जैसे ऐतिहासिक नाटक, द्विजेन्द्रलाल राय के बँगला नाटकों के चन्द्रगुप्त, शाहजहाँ और दुर्गादास आदि के श्रीपाद कामेश्वरराव, नण्डूरि शिवराव और जोन्नलगड्ड सत्यनारायण आदि द्वारा कृत अनुवाद मंच पर बहुत ही सफल और लोकप्रिय हुए और कई स्थानों पर आज तक उनके अभिनय होते रहते हैं।

मैं यहाँ दो नाटकों का उल्लेख करूँगा जो बहुत उत्कृष्ट कोटि के हैं और जिन्होंने लोक हृदय की निर्बन्ध प्रशस्ति पाई है। एक है वेदम वेंकटराय शास्त्री विरचित 'प्रतापरुद्रयम्' (१८९६)। वे संस्कृत और तेलुगु के प्रकाण्ड पण्डित थे और उन्हें अंग्रेज़ी का भी अच्छा ज्ञान था। यह काकतीय नरेश प्रतापरुद्र के जीवन की एक घटना पर आधृत ऐतिहासिक नाटक है। इन्हें मुसलमान सैनिक बन्दी बनाकर दिल्ली ले आये थे। बाद में उनके मंत्री युगन्धर—जो चाणक्य की तरह के कूटनीतिज्ञ थे—उन्हें कारामुक्त कराके लाये। यह षड्यन्त्र और प्रति-षड्यन्त्रों से पूर्ण एक लम्बा नाटक है। लेखक ने विस्मयावह नाटक-स्थितियाँ उत्पन्न की हैं—प्रहसनात्मक दृश्यों की भी कमी नहीं। लेखक गम्भीर कृति के लिए उच्च वर्ग की भी बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने का समर्थक नहीं था; फिर भी उसने अपने नाटकों के चरित्रों की भाषा-प्रवृत्तियों के अनुकूल बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है-हाँ उच्चतर भूमिकाओं के लिए उन्होंने (काव्योचित श्रेण्य भाषा का प्रयोग

किया है जिसका साधारण बोलचाल में कहीं प्रयोग नहीं होता। परन्तु कथानक का विकास स्रष्टा के कौशल का परिचायक है, चरित्र-चित्रण सुन्दर बन पड़ा है और संवाद जानदार हैं। नाटक के मंचीय उपस्थापन में अभिनय-कौशल के प्रदर्शन की अच्छी सम्भावनाएँ रहती हैं। यह नाटक आज भी लोकप्रिय है।

दूसरी उत्कृष्ट रचना है विजयनगरम् के गुरुजाड अप्पाराव का सामाजिक नाटक 'कन्या शुल्कम्' (१८९७)। १९०९ में इसका परिशोधन-परिवर्द्धन हुआ। लेखक अंग्रेजी साहित्य का मेधावी अध्येता था और युगीन साहित्य एवं समस्याओं से अवगत रहता था। अपने नाटक भूमिका में उन्होंने लिखा "मैंने समाज-सुधार के उद्देश्य को बल देने के लिए और सामान्य आन्ध्र के इस पूर्वाग्रह को दूर करने के लिए लिखा कि तेलुगु भाषा (अर्थात् बोलचाल की तेलुगु) मंच के लिए अनुपयुक्त है।

डा० सी० आर रेड्डी ने—जो बोलचाल की भाषा का साहित्य में प्रयोग करने के विरोधी थे-उक्त नाटक के विषय में लिखा है : 'सामाजिक व्यंग्य-नाटक लिखना कठिन कार्य होता है। 'कन्याशुल्कम्' इस क्षेत्र की एक उत्कृष्ट कोटि की रचना है। उसमें मानवीयता और जीवन की दीप्ति है, उसके स्त्री-पुरुष यथार्थ जीवन के दयालुता-सौकुमार्य, क्रूरता-पाखण्ड, गरिमा-छलछन्द और विचित्रताओं से युक्त हैं। लेखक ने चरित्र-निरुपण में अपने कुछ समसामयिकों के चरित्रों से प्रेरणा ली है।

समाज-सुधार अथवा युगीन सामाजिक बुराइयों के मूलोच्छेद के लिए लिखा गया नाटक अपने ही समय में भले लोकप्रिय हो जाये परन्तु भावी पीढ़ियों की उसमें कोई दिलचस्पी नहीं रहती क्योंकि उनकी न वैसी समस्याएँ होती हैं, न वे बुराइयाँ ही उनमें रह जाती हैं। तेलुगु के अन्य सामाजिक नाटकों की यही स्थिति रही। आचण्ट सांख्यायन शर्मा कृत 'मनोरमा' (१८९५), वळ्ळूरि बापिराज-विरचित 'सागरिका' और वीरेशलिंगम् के कई 'प्रहसनम्' (१८८५-१८९०) युगीन सामाजिक बुराइयों पर प्रहार करने और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से लिखे गये थे। वर्तमान पीढ़ी उन्हें विस्मृत कर चुकी है क्योंकि वे युग-विशेष की कृतियाँ हैं युग-युग की नहीं। 'कन्याशुल्कम्' की बात और है। समाज के कुछ अन्य ऐसे तत्त्व हैं जो आज भी यथापूर्व विद्यमान है : गिरीशम्, वेंकटेशम् और करटक शास्त्री जैसे अमर चरित्रों का सृजन अपनी विशेषता रखता है।

तेलुगु नाटक के इतिहास में पानुगण्टि लक्ष्मी नरसिंहराव (१८६५-१९४०) का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना आवश्यक है। वे विपुल साहित्य-स्रष्टा थे; उनकी लेखनी का चमत्कार हर क्षेत्र में प्रकट हुआ है। उनके व्यापक साहित्य में

कविता के अतिरिक्त प्रायः सभी साहित्य रूपों का अन्तर्भाव है। वे कवि के रूप में प्रसिद्ध नहीं यद्यपि अपने नाटकों में उन्होंने पद्य भी रचे हैं। वे अच्छे नाटककार थे और बड़े जानदार गद्यकार। उनके नाटक रेखाचित्र, निबन्ध आदि उनके गहन अध्ययन, मानव-प्रवृत्ति में उनकी अद्भुत पैठ और उनकी सृजनात्मक कला के साक्षी हैं उनकी लेखनी ने कुछ ऐसे चरित्रों की सृष्टि की हैं जो युग-युग के प्रतिनिधि हैं। उन्होंने एक विशिष्ट व्यंग्य शवलित हास्यपूर्ण लेखन-शैली का विकास किया जो दुष्कर्ता के मन पर गहरी चोट करती है। उनके प्रशंसकों ने उन्हें आन्ध्र शेक्सपियर के नाम से विभूषित किया। उन्होंने कई नाटक लिखे जिनमें गद्य को प्रधानता दी है यत्र-तत्र पद्य का समावेश भी किया है परन्तु समय-कुसमय गीतों का सन्निवेश उन्होंने नहीं होने दिया। उनके नाटकों में पौराणिक नाटक 'पादुकापट्टाभिषेकम्' एवं 'राधाकृष्ण' तथा सामाजिक नाटकों में 'कण्ठाभरणम्' एवं 'वृद्धविवाहम्' साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध रचनाएँ हैं और मंच पर उन्हें लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

कुछ नाटक ऐसे भी हैं जो अपनी सृजनात्मक कला एवं साहित्यिक सौष्ठव के नाते पठनीय हैं--उदाहरणार्थ अब्बूरी रामकृष्ण राव का 'नलसुन्दरी'; कई 'गेय नाटक भी इस कोटि के हैं, यथा शिवशंकर स्वामी-कृत 'पद्मावती' चरण चारण चक्रवर्ती, तथा' दीक्षित दुहिता'।

पीठपुरम् के युवराज आर० वी० एम० जी० रामाराव ने 'आलोकमुनुण्डा आह्वानम्' और 'तीरनि कोरिकलु आतर्वात आदि कुछ नाटक लिखे हैं। इन में कल्पना की उन्मुक्त उड़ान है, परम्परा का इन में मोह बिल्कुल नहीं। वे आधुनिक तेलुगु आन्दोलन से प्रभावित थे और उन्होंने आधुनिक युग की प्रवृत्तियाँ को अंगीकार किया है।

मुद्दु कृष्ण एकदम आधुनिक युग की उपज हैं उन्होंने 'टीकपुल्लो तुपानु' और 'भीमाकलापमुलो भामाकलापम्' आदि कुछ अच्छे छोटे-छोटे सामाजिक नाटक लिखे हैं। ये सफल अभिनेय कामदियाँ है।

राघवाचारी और वनारस गोविंदराव के प्रयत्नों से १९२८ में तेनाली में नाट्यकला-परिषद् की संस्थापना हुई। यह संस्था पुरस्कार आदि देकर नाटककारों को प्रोत्साहन देती रही है। फलतः अत्रेय, कोण्डमुदि गोपालराय शर्मा आदि ने आधुनिक रंगमंच के उपयुक्त कई नाटक लिखे हैं। समाजवादी एवं साम्यवादी विचारधारा से पुष्ट इन नाटकों में दलित-पीड़ित श्रमिकों, क्लर्कों आदि की व्यथाओं को वाणी दो गई है। वे प्रायः बोलचाल की भाषा में लिखे जाते हैं—चरित्रों के

अनुसार उनमें थोड़ा भेद रहता है।

तेलुगु में आज प्रायः बारह सौ नाटक और पाँच सौ एकाँकी हैं। स्थानाभाव के कारण प्रस्तुत लेख में तेलुगु एकांकी का विवेचन नहीं किया जा सका। ख्याति-प्राप्त अभिनेताओं का भी मैं अलग से उल्लेख नहीं कर सका हूँ।

कन्नड़ नाटक

—श्री आद्य रंगाचार्य

कन्नड़ भाषा-भाषियों की संख्या डेढ़ करोड़ से अधिक है और साहित्यिक परम्परा २००० वर्ष पुरानी है।

मैंने इन साधारण तथ्यों का उल्लेख यहाँ इसलिए किया है क्योंकि मैं जानता हूँ कि उत्तर भारतीयों को शायद ही इस भाषा के नाम तक का ज्ञान हो। दूसरे इस भाषा के साहित्य के एक पक्ष के बारे में मैंने जिन बातों का वर्णन किया है, उन पर विचार करते समय इसकी पुरानी परम्परा को ध्यान में रखा जाये।

सामाजिक मनोरंजन के रूप में नाटक का अस्तित्व, कर्नाटक में बहुत प्राचीन काल से है। इस वास्तविक रूप से लोक प्रियकला को अब ग्रामीण-नाटक के नाम से पुकारा जाता है और केवल कुछ थोड़े से शिक्षित लोगों द्वारा लिखित नाटकों को ही हम नाटक मानते हैं परन्तु ग्रामीण नाटक जो विभिन्न स्थानों में अलग-अलग प्रकार के होते हैं, आज तक चले आरहे हैं। सामान्यतः फसल कट जाने के बाद गाँव के लोग एकत्र होते थे और कोई पौराणिक कथा चुन कर उसको नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करते थे। सभी काम स्वेछा से होते थे। स्त्री-पात्रों का अभिनय लड़कों द्वारा किया जाता था। इन नाटकों में प्रवेश निःशुल्क होना था। इसके सिवाय और कोई चारा भी नहीं था क्योंकि नाटक खुले मैदान में खेले जाते थे, जहाँ कोई ऊँचा चबूतरा रंगमंच का काम देता था।

इस प्रकार के ग्रामीण-नाटक, कर्नाटक में बहुत पुराने समय से खेले जाते रहे हैं। दर्शक इसकी कहानियों से परिचित होते थे। नाटक का कोई निश्चित लिखित रूप नहीं होता था। भिन्न ग्रामीण कवियों के अनुसार इनके पाठ भी बदलते रहते थे। फिर भी ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, त्यों-त्यों इन नाटकों में श्रेण्य कवियों की रचनाएँ रखी जाने लगीं जिन्होंने रामायण और महाभारत की कथाएँ लिखी थीं। कन्नड़ के कई कवियों की रचनाएँ और उनकी शैली इस प्रकार की है कि उनके काव्य में कई नाटकीय प्रसंग आते हैं। उदाहरणार्थ दसवीं शती के एक कवि रत्न ने 'गदायुद्ध' नामक एक काव्य-ग्रंथ लिखा इस के कई प्रसंगों को यदि

गद्य में लिखें तो आज भी हम इससे एक सफल नाटक की रचना कर सकते हैं। इसी प्रकार १२ वीं, १३वीं, शती के कवियों द्वारा लिखित अतुकान्त वर्णनात्मक पद्यों पर नाटकों की रचना हो सकती है। कुमार व्यास और लक्ष्मीश जैसे कई कवियों की शैली ही ऐसी है कि उनसे कई नाटकीय प्रसंग उपलब्ध होते हैं। यद्यपि लिखित नाटकों का अभाव था परन्तु साहित्य के प्रारम्भिक काल में ही रंगमंच की एक शैली बन गयी थी।

कन्नड़ में लिखित नाटकों का सूत्रपात बहुत देर से हुआ। वास्तव में पहले-पहल संस्कृत-नाटकों के अनुकरण पर नाटक लिखे गये। सर्वप्रथम उपलब्ध लिखित नाटक सिंगार आर्य नामक किसी कवि द्वारा १७ वीं शती में लिखा गया और यह भी संस्कृत नाटिका 'रत्नावली' का (जिसके रचयिता सम्राट श्रीहर्ष बताये जाते हैं) आडम्बरपूर्ण शैलो में रूपांतर मात्र है। इसके बाद दो शतियों तक का कोई लिखित नाटक उपलब्ध नहीं है। उन्नीसवीं शती के अन्त में कई संस्कृत नाटकों के रूपांतर और अनुवाद मिलते हैं जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', वेणीसंहार', 'उत्तर-रामचरितम्' इत्यादि।

इन लिखित नाटकों का कन्नड़ रंगमंच पर कोई स्थान नहीं प्रतीत होता। इन्हें अधिक से अधिक दरबारी पंडितों का साहित्यिक व्यायाम कहा जा सकता है। रंगमंच पर अब भी ग्रामीण नाटकों की परम्परा का पालन किया जारहा था। उसमें केवल एक परिवर्तन यह हुआ कि कई व्यवसायी दल बन गये, जो एक मेले से दूर मेले में, एक स्थान से दूसरे स्थान पर नाटकों को खेलते फिरते थे। इन 'नाटक मंडलियों का आविर्भाव, १९वीं शती की महान् घटना है। ऐसी ही एक मंडली से मराठी रंगमंच को प्रेरणा मिली थी।

परन्तु इसी समय एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन का आभास मिल रहा था। दरबारी पंडितों द्वारा रचित लिपिबद्ध नाटकों और लोकप्रिय रंगमंच के अलिखित नाटकों के बीच एक या दो लेखकों ने लोकप्रिय रंगमंच के लिए नाटक लिखने का प्रयास किया। उन आधुनिक लेखकों में, जिन्होंने ऐसा प्रयास किया, नन्दालिके नारनप्पा सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट थे। वे एक निर्धन अध्यापक थे। उन्होंने कई यक्षगानों की—दक्षिण-कन्नड़ का एक विशेष प्रकार का ग्रामीण नाटक—रचना की। परन्तु लोकप्रिय रंगमंच और शिक्षित वर्ग के लिखित नाटकों के बीच जो गहरी खाई थी, वह न तो इससे और न बाद में किये गये प्रयासों से पाटी जा सकी।

जहाँ तक कन्नड़ साहित्य का सम्बन्ध है, बीसवीं शती का महत्व इस बात में है कि इस काल में मुख्य रूप से अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव के फलस्वरूप एक प्रकार का पुनर्जागरण आरम्भ हुआ। नाटक के क्षेत्र में जो पहले-पहल प्रयास हुए, उनमें काफ़ी हद तक परम्परा का पालन किया गया। यह ऊपर बताया जा चुका है कि प्रारम्भिक श्रेण्य कविताओं में भी नाटकीय शैली पायी जाती थी। परम्परा के अनुसार रंगमंच को पुनर्जीवित करने का प्रयास इसी शैली के अन्तर्गत किया गया। महान कवि श्री एम० गोविन्द पाई ने सर्वप्रथम काव्यात्मक शैली में नाटक लिखे—इनकी शैली अतुकांत रचना की है जिसे पुराने कवियों की 'शतपदी' और 'रागाल' शैली के अनुसार ढाला गया। यह मात्र बौद्धिक प्रयोग नहीं था और इसका प्रमाण यह है कि कन्नड़ के आधुनिक लेखकों में, जैसे के० एस० कारन्त, के० वी० पुटप्पा, एम० आर० श्रीनिवासमूर्ति, पी० टी० नरसिंहाचार, मास्ति वेंकटेश अय्यंगार, स्व० वी० एम० श्रीकान्तिया और कई अन्य माने हुए लेखकों ने, अतुकांत पद्य में कई नाटक लिखे। इन नाटकों को अनुकूल परिस्थितियों में प्रभविष्णु रूप से खेला जा सकता है।

साथ ही साथ एक और दिशा में भी प्रगति हुई। ऊपर बताया जा चुका है कि इसका मुख्य कारण अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन था। इसका सर्वप्रथम प्रयास श्री केरूर वासुदेवाचार्य ने किया और उन्होंने शेक्सपियर के कई नाटकों का जैसे 'रोमियो एंड जुलिएट', 'दि मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस' इत्यादि का अनुवाद किया। श्री केरूर प्रतिभाशाली लखक थे। उनमें मौलिकता की जो दीप्ति थी मात्र अनुवादों में उसकी अभिव्यक्ति सीमित नहीं रह सकती थी। उन्होंने गोल्डस्मिथ के 'शी स्टूप्स टु कांकर' का जो रूपांतर किया, वह आधुनिक कन्नड़ नाटक के इतिहास में एक महत्त्व-पूर्ण घटना है। उन्होंने सारे नाटक को, उसकी परिस्थितियों को और उसके वातावरण को अपने समय और समाज के अनुरूप इस सफलता से ढाला है कि उनका अनुवाद भी एक मौलिक रचना प्रतीत होता ।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जब शिक्षित वर्ग में यह सब-कुछ घटित हो रहा था, तो लोकप्रिय नाटक तथा लोकप्रिय रंगमंच यथापूर्व अपने पथ पर गतिमान थे। केवल एक ही परिवर्तन हुआ था और वह यह कि कभी-कभी पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त इन व्यावसायिक नाटकों में तथाकथित सामाजिक विषयों का भी अन्तर्भाव रहता था परन्तु वास्तव में पात्रों के नामों के अतिरिक्त और कुछ भी आधुनिक सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित नहीं था। शिक्षा के प्रसार और दूसरे देशों तथा दूसरी भाषाओं के नाटकों से अधिकाधिक परिचय

होने से हमें अपने व्यावसायिक नाटक (हास्यास्पद नहीं तो) कृत्रिम अवश्य प्रतीत होने लगे। शायद इसी कृत्रिमता के विरोध में, बँगलोर के एक लेखक श्री टी. पी. कैलाशम् ने टो'ळ्ळुगट्टी' (भरा और खोखला) नामक एक नाटक लिखा, जिसके पात्र आधुनिक समाज से सम्बन्धित थे और उस नाटक की कथा पौराणिक या उपदेशात्मक नहीं है बल्कि उसका विषय शिक्षा-प्रणाली की आधुनिक समस्या है। इस नाटक के साथ कन्नड़ नाटक में क्रांति का सूत्रपात हुआ। कैलाशम् को आधुनिक कन्नड़ नाटक का जनक कहा जाना उचित ही है। उनका नाटक 'होमरूलु' एक श्रेण्य आधुनिक कृति है। कैलाशम् ने कई हास्य-झलकियाँ लिख कर अपनी निजी शैली की स्थापना की। उन्होंने अपना पहला नाटक १९१८ में लिखा था।

इसके पश्चात् कन्नड़ नाटक में बड़ी द्रुत प्रगति हुई है और कई नये रूपों, नये प्रयोगों के क्षेत्र में सफल प्रयास किये गये। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम श्री के. एस. कारन्त का है। कारन्त ने न केवल कई पद्य-नाटक लिखे बल्कि कई गीति-नाटकों का भी प्रणयन किया। वह दिग्दर्शक भी हैं और लेखक भी, और उन्होंने अपने नाटकों का दिग्दर्शन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि पद्य-नाटक भी शक्तिमान् और सजीव हो सकते हैं और साधारण श्रोतागण भी उसका आनन्द उठा सकते हैं। कई पद्यात्मक नाटकों में कारंत ने काल, इतिहास आदि विषयों को चुना है।

एक और नाटककार जिनका नाम उल्लेखनीय है, धारवाड़ के श्रीरंग हैं। उनकी देन एकांकियों के रूप में है। १९३० ई० तक कन्नड़ में एकांकी जैसी कोई वस्तु नहीं थी जो बड़े नाटकों की भाँति जनसाधारण को सफलतापूर्वक आकर्षित कर सके। यह कहना उचित ही है क एकांकियों को अपने पैरों पर खड़ा करने में दूसरों की अपेक्षा श्रीरग का योग कहीं अधिक है। अपने दूसरे नाटकों में भी इस लेखक ने नाट्य-विद्या को सामाजिक जागरण और मनोरंजन का प्रबल साधन बनाया है।

ऊपर जो नाम आये हैं, उनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने नाटक-कला के विशेष क्षेत्रों में अपना योग दिया है। इनके अतिरिक्त और कई नाम हैं जो नाटककार के रूप में महान् होने के नाते उल्लेखनीय हैं। ऐसे नाटककारों में से एक बँगलोर के श्री ए. एन. कृष्णराव हैं। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में उन्होंने सामाजिक तथा ऐतिहासिक विषयों पर कई मौलिक नाटक लिखे हैं। और भी कई नये लेखक हैं जैसे क्षीरसागर, पर्वतवाणी और ऐंके। इनमें से ऐंके एकांकी लिखने में सिद्धहस्त हैं,

एक और दृष्टिकोण से भी, कन्नड़ में नाटक एक आधुनिक साहित्य-विधा

हैं। एक अपवाद को छोड़कर, कन्नड़ में १८ वीं शती तक कोई नाटक नहीं था। यह अचम्भे की बात है कि जिस साहित्य पर प्रारम्भ से ही संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा हो, उसमें कोई नाटककार ही उत्पन्न न हो। दूसरी ओर, नाट्य-अभिनय तथा संगीत और नृत्य ग्रामीण जीवन के अभिन्न अंग हैं।

यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। कन्नड़ के आधुनिक नाटककारों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अंग्रेज़ी नाटक का प्रभाव पड़ा है। इसलिए आधुनिक कन्नड़ नाटक न तो अशिक्षित ग्रामीणों का प्रतिनिधित्व ही करते हैं और न उन तक पहुँच ही पाते हैं। ऐसा होना अवश्यम्भावी था। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार और अंग्रेज़ी साहित्य के माध्यम से उपलब्ध नये-नये विचारों के फलस्वरूप शिक्षित भारतीय अपनी परम्परा से विमुख हो गये। उन्होंने जिस साहित्य का सृजन किया, उसमें शहर के शिक्षित मध्यवर्गीय लोगों की समस्याओं और आकांक्षाओं-उमंगों को ही वाणी प्राप्त हुई।

हमारे आधुनिक नाटक के सम्बन्ध में विचित्र बात यह थी कि यह केवल शिक्षितों द्वारा शिक्षित प्रेक्षकों के लिये ही अभिनीत हो सकता था। इसके फलस्वरूप कन्नड़ नाटक में एक महत्वपूर्ण विकास हुआ अर्थात् नाट्य-विलासियों के क्रिया-कलाप में इससे गति आई। समय के साथ इन क्रिया-कलापों को व्यवस्थित-सुयोजित किया गया और कई नाट्य-विलासी मंडलियाँ अस्तित्त्व में आईं।

साहित्य की प्रगति किसी पूर्व निर्धारित लीक पर या सीधी रेखाओं में नहीं होती, बल्कि उसमें कई उतार-चढ़ाव आते हैं—कभी उसकी गति मंद होती है, कभी द्रुत। यह बात नाटक पर भी लागू होती है। जब उतार-चढ़ावों का एक चक्र पूरा हो जाता है तो साहित्य के क्षेत्र में निस्तब्धता छा जाती है। हम कर्नाटकी इन उतार-चढ़ावों के एक चक्र को पूरा होते देख चुके हैं। नये नाटककारों ने पहले नाट्य-विलासियों के क्रिया-कलाप को प्रोत्साहन दिया और बाद में संगठित नाट्य-विलासी मंडलियों ने नाटककारों को नये प्रयोग करने की प्रेरणा दी।

भारत की दूसरी भाषाओं के नाटक साहित्य के सम्बन्ध में मैं अधिक नहीं जानता। फिर भी यह कहना अत्युक्ति न होगी कि दूसरी भाषाओं की अपेक्षा कन्नड़ में नाटक-सम्बन्धी जो प्रयोग किये गये उनकी संख्या बहुत अधिक है।

ऐसे नाटक जिनमें बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया और जिसके चरित्र दैनंदिन जीवन से ग्रहण किये गये पहले-पहल १९१८ में प्रकाशित हुए। बँग-

लोर के स्व श्री टी० पी० कैलाशम् पहले लेखक थे जिन्होंने ऐसे नाटक लिखे और ये नाटक ४० मिनट से लेकर २ घंटे तक की अवधि में अभिनीत हो सकते थे। इन नाटकों में गीतों और संगीत का नितांत अभाव था। परन्तु कैलाशम् के अधिकांश नाटक इससे कम अवधि में खेले जा सकते थे—लगभग एक घंटे से कम समय में। बीसवीं शती के तीसरे दशक में सर्वश्री ए० एन० कृष्णराव (बंगलोर) और के० एस० कारंत नामक दो नाटककारों ने सामाजिक बुराइयों का निर्भीक उद्घाटन करते हुए बड़े ज़ोरदार नाटक लिखे और नायक-नायिकाओं की प्रेम-क्रीड़ाओं के बोझ से दबे हुए नाटकों को रंगमच से बहिष्कृत कर दिया। ये सभी नाटक गद्य में लिखे गये थे और इनमें संगीत का अभाव था। इसी काल में स्व० श्री० बी० एम० श्रीकण्ठय्य, श्री गोविन्द पाई और श्री के० वी० पुटप्पा प्रभृति कवियों ने पद्य नाटकों की रचना की। श्रीकण्ठय्य ने पद्य में 'अश्वत्थामा' शीर्षक एक बहुत सशक्त दुःखान्त नाटक लिखा। इसके बाद पद्य-नाटकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई है। इनमें से अधिकांश कृतियाँ विश्वविद्यालय के छात्रों की हैं।

इसके अनन्तर एक और मौलिक नाटककार ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया—उनका उपनाम है 'श्रीरंग'। उन्होंने बड़े नाटकों में 'एक अंक में एक दृश्य' की प्रणाली अपनायी और एकांकियों का सूत्रपात करने का मुख्य श्रेय भी इनको ही है—जो शीघ्र ही लोकप्रिय भी हो गये। दूसरे इसी नाटककार ने ऐसे नाटक-प्रणयन के भी प्रयोग किये जिनमें एक प्रकार का दोहरा रंगमंच प्रयुक्त किया जाता था—या तो दो कार्यों का एक साथ घटित होना दिखाने के लिए अथवा स्मृति-पटल पर आने वाले अतीत-दृश्यों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिये।

श्री के. शिवराम कारंत पहले नाटककार थे जिन्होंने संगीत-नाटक और नृत्य-नाटक लिखे। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि ऐसे अधिकांश नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत किये गये हैं।

नाट्य-विलासी मंडलियों को जितने साधन प्राप्त हैं और जितना कौशल उनमें है, कन्नड़ नाटककार उसके देखे अब बहुत आगे निकल गये हैं। इसके फलस्वरूप अब नाटककारों को साँस लेने का समय मिल गया है। हमारे नाटककार अब केवल शिक्षित मध्यम-वर्ग के बारे में ही नहीं वरन् समग्र समाज के बारे में सोचते हैं। उनकी अपनी कृतियों के सम्बन्ध में उनमें जो असन्तोष बद्धमूल है, उसकी झलक कभी-कभी रचनाओं में भी मिल जाती है। ऐतिहासिक नाटकों के अभाव में भी यही असन्तोष-भावना परिलक्षित होती है।

कदाचित् अगले वृत्त का केन्द्र-विन्दु निर्धारित किया जा रहा है । यह कार्य सम्पन्न हो जाने पर एक ओर तो हमारे रंगमंच के परम्परागत वैभव और समृद्धि का पुनरुज्जीवन होगा और दूसरी ओर सामाजिक की आशाओं-आशंकाओं का निरूपण किया जायेगा ।

हमारा नाटक अब इतनी प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका है कि किसी महान एवं मर्मस्पर्शी त्रासदियों के रचयिता का अभ्युदय हो !
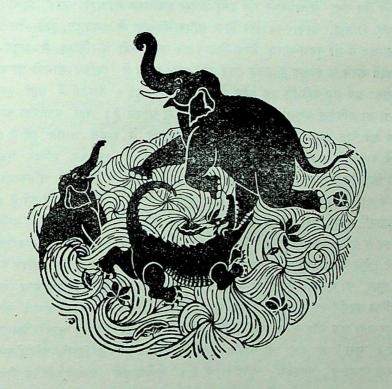
मलयालम नाटक

—डॉ० के० एम० जॉर्ज

केरल-देशवासियों की भाषा मलयालम कही जाती है। शब्द-शास्त्रियों के अनुसार यह शब्द (मलयालम) दो भागों 'मलय' अर्थात् पर्वत एवं 'आलम' अर्थात् समुद्र में विभक्त किया जाता है। वास्तव में मलय प्रदेश एक संकीर्ण भू भाग है जो पूर्व में विस्तीर्ण पर्वतमाला एवं पश्चिम में समुद्र से घिरा हुआ है। अतः यह प्रदेश एक प्रकार से शेष संसार से असंलग्न रहा इसी कारण हम आज भी वहाँ अनेक प्राचीन परम्पराएँ, रीतियाँ, आचार-व्यवहार बिना अधिक मिश्रण के व्यवहृत होते देखते हैं। वास्तव में जो नृवंश-शास्त्र, भाषा-विज्ञान एवं कला-रूपों के विषय में अनुसन्धान-कार्य करने के इच्छुक हैं उनके लिये यहां प्रचुर मात्रा में विविध सामग्री प्राप्य है। इसका अर्थ यह नहीं कि इस प्रदेश में उन्नति नहीं हुई। वास्तव में यहाँ पर साक्षरता का प्रतिशत अनुपात भारत में सब प्रदेशों से अधिक है। यहाँ साक्षरता का अनुपात कदाचित ५४ प्रतिशत है और पिछली शताब्दी में अद्भुत उन्नति हुई है। केरल में नाट्य की परम्पराओं का विवेचन करने के लिए हमें सर्वप्रथम मन्दिर एवं वहाँ से प्रसारित कला रूपों का विचार करना होगा। 'कूत्तु' जो लोक में 'चक्कियार कूत्तु' के नाम से प्रसिद्ध है. केरल की मन्दिर-कलाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'चक्कियार' नृत्य द्वारा पौराणिक कथाएँ व्यक्त की जाती हैं। जो मन्दिर इसी अभिप्राय से प्रतिष्ठापित किये जाते हैं उनके कक्ष में आज भी 'चक्कियार' अभिनीत होता है। ऐसे मन्दिर को 'कुत्तुम्बलम' कहते में। आज तक किसी ने भी मन्दिर के बाहर 'कूत्तु' का अभिनय करने का साहस नहीं किया है। यद्यपि अब इस नृत्य के सार्वजनिक प्रदर्शन का प्रयतन किया जा रहा है। यदि किसी को नाट्य-शास्त्र की अभिव्यञ्जना शुद्ध और सरल रूप में देखने की अभिलाषा हो तो उसे 'कूत्तु' देखना चाहिये। 'कूत्तु' से कला के अनेक रूपों का उद्भव हुआ है जिसके प्रसिद्धतम उदाहरण 'तुळ्ळल', 'पदक्कम', 'कुत्तीयाट्टम' हैं। 'कुत्तीयाट्टम' वास्तव में प्राचीन प्रकार का नाटक है। इसमें स्त्री एवं पुरुष अभिनय करते हैं। कलाका यह रूप कई शताब्दियों पुराना है।

इसके पश्चात् लोक-नाट्य आते हैं जिनमें नियम एवं प्रविधि बहुत कम हैं; अतः इनमें लम्बे और कठिन अभ्यास की आवश्यकता नहीं है। इन लोक-नाट्यों के

अनेक भेद अब विलीन हो चुके हैं और कुछ का रूप अपरिच्छेद्य हो गया है और कुछ अन्य भेद अब अप्रचलित हो गये हैं। लोक-नाट्य के कुछ भेद 'तियादु', 'मुत्तियेदु', 'ओल्व पानवकूत्तु' इत्यादि हैं। सम्पूर्ण रामायण का अभिनय इकतालीस दिवस में 'ओल्व पानवकूत्तु' माध्यम से किया जाता है। कुछ ऐसे भी लोक-नाट्य थे जिनका कोई सम्बन्ध धार्मिक विचारों एवं कथाओं से नहीं; यथाः––'कुरंतियाट्टम', 'काक्काल नाटकम' इत्यादि।

मन्दिरीय-कला एवं लोक-नाट्य दोनों ही से इस लेख का विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि केरल की सभी दृश्य कलाएँ–जिनमें प्रसिद्ध 'कथाकली' भी सम्मिलित है— इनसे प्रचुर मात्रा में प्रभावित हुई हैं। मलयालम-नाटक के उपस्थापन और साहित्यिक दोनों ही पक्षों के विषय में यह सत्य है। 'कथाकली में भावों की अभिव्यञ्जना कराने के लिये दो भाषाओं का प्रयोग होता है; एक तो मुद्राओं और मुख-विकारों की भाषा जो नेत्र का विषय है और दूसरी कर्णगोचर जो वास्तव में साथ में गाने वालों का गायन है।

अब हम मलयालम नाटक का साहित्यिक दृष्टिकोण से विवेचन करेंगे। मलयालम-साहित्य की अन्य शाखाओं की भाँति ही मलय-नाट्य का उद्भव संस्कृत साहित्य की प्रमुख कृतियों से हुआ। जनश्रुति के अनुसार देवों ने ब्रह्मा से एक ऐसी कला प्रदान करने की प्रार्थना की जिसका रसास्वाद बड़े छोटे सभी कर सकें और जो मनोरञ्जक होने के अतिरिक्त विचारोत्तेजक भी हो। तब ब्रह्मदेव ने प्रसन्न हो कर नाटक की रचना की। ब्रह्मा ने नाटक की सृष्टि की हो अथवा नहीं किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इसमें उपर्युक्त सभी गुण हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों से यह स्पष्ट है।

यह कहा जा सकता है कि मलयालम में नाटक का सूत्रपात संस्कृत के लब्ध-प्रतिष्ठ नाटकों के अनुवाद से हुआ। वास्तव में तिरुवांकुराधिपति महाराज आइल्लयम तिरुनाल द्वारा १८५० के लगभग 'शाकुन्तलम्' का अनुवाद प्रथम-प्रयास कहा जा सकता है। 'शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्रम्' उत्तर रामचरितम्' 'जानकी-परिणयम्' और अन्य नाटकों के अनुवाद अग्रणी विद्वानों ने कठिन संस्कृत-निष्ठ मलयालम में किये। उदाहरणातः–शाकुन्तलम् का अनुवाद अनुमानतः बारह विद्वानों ने किया है और अब भी ऐसे प्रयत्न बन्द नहीं हुए हैं। केवल एक मास पूर्व ही एक नया अनुवाद प्रकाशित हुआ है। केरलवर्मा वलइ कोविलतांपुरम, ए० आर० राज वर्मा. आत्तूर कृष्ण पिशारोटी', वल्लतोल नारायण मेनन चेरुलि कुन्जुण्णी नम्बीसन उनमें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अनुवाद की लहर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में उठी। परन्तु जैसा

कि मैं पहले कह चुका हूँ, इससे पूर्व ही केरल में विभिन्न प्रकार के नाटकों का अभिनय होता था। दुर्भाग्यवश इन नाटकों, विशेषतया लोक-नाटकों के साहित्य की रक्षा उचित ढंग से नहीं हुई और न ही यह नाटक उन दिनों विशेष जनप्रिय हुए। हाल ही में दो तीन विद्वानों ने साहित्य की इस शाखा में मूल्यवान अनुसन्धान किये हैं जिन से कई पाण्डुलिपियाँ प्रकाश में आई हैं। डाक्टर ऐस० के० नायर का कार्य इस विषय में विशेष उल्लेखनीय है। केरल-निवासी अभिनय-कला में निष्णात थे जैसा कि 'सस्त्रकलि', 'कुत्तीयाट्टम', एवं अर्वाचीन 'कथाकली' और 'तुळ्ळल' से प्रकट है।

संस्कृत-नाटकों का भी अभिनय यत्र-तत्र किया गया। वास्तव में ए० आर० राजवर्मा ने संस्कृत के दो-तीन नाटकों का अनुवाद मंच पर अभिनय करने के विशेष उद्देश्य से किया। मावेल्लिकरा (तिरुवांकुर) में यह एक प्रकार का वार्षिकोत्सव था जब कि उनके विपश्चित कुटुम्बी नूतन नाटकों के अभिनय के निमित्त एकत्रित होते थे। संस्कृत-नाटकों के आदर्श पर कतिपय मौलिक नाटक भी मलयालम में लिखे गये किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं है। इन गद्य-पद्यमय नाटकों का अभिनय कठिन होता है। एवं इनमें अभिनय-कौशल-प्रदर्शन के लिये बहुत क्षेत्र नहीं होता इसलिये ये लोकप्रिय न हुए।

इसी समय केरल में तमिल-प्रदेश के संगीत-प्रधान नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। इन नाटकों में कर्नाटक ढंग के गायनों का बाहुल्य रहता था और जो लोग तमिल भाषा को न समझ पाते थे वे भी संगीत का आनन्द ले सकते थे। नायक और नायिका उच्च कोटि के गायक होते थे, कोई भी उनकी अभिनय-प्रतिभा और कथोपकथन पर ध्यान नहीं देता था, सुन्दर दृश्यों चित्र-विचित्र वेश-भूषा और प्रयत्न-साध्य गायनों की सहायता से तमिल व्यवसाइयों ने ऊँच,-नीच, सभी की रुचि को आकर्षित कर लिया, तत्पश्चात् मलयालम में इस रीति का उपयोग होने लगा जिसके फलस्वरूप इस भाषा में पर्याप्त संगीत प्रधान-नाटक लिखे गये। 'सादरम', 'अनार-कली', और 'करुणा' इसके उदारहण हैं। परन्तु इस प्रकार के संगीत-प्रधान नाटक अधिक समय तक लोकप्रिय न रह सके। जनसाधारण कालान्तर में, इन लम्बे-लम्बे गायनों से जो मौके-बेमौके गाये जाते थे, ऊब उठे। इस कृत्रिमता को अधिक समय तक जीवित नहीं रखा जा सका और शिक्षित लोगों ने अकल्पित-वृत्त नाटकों का स्वागत संतोष के साथ किया।

इस प्रकार मलय नाटक के विकास का अगला और सबसे अधिक महत्वपूर्ण अवस्थान प्रारम्भ होता है और वह है अंग्रेज़ी नाटकों का प्रभाव। इसका श्रीगणेश बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। वर्गीस मापिल्ले ने १८९३ में शेक्सपियर के

एक नाटक का अनुवाद किया । आरम्भ में अंग्रेज़ी भाषा के कुछ गद्यमय नाटकों का अनुवाद मलयालम में हुआ । शेक्सपियर के कुछ नाटक अनूदित हुए और अन्य कुछ का रूपान्तर किया गया । अनुवाद और रूपान्तर केवल अंग्रेज़ी नाटकों के ही नहीं हुए बल्कि अन्य यूरोपीय भाषाओं के नाटकों के भी अनुवाद और रूपान्तर पर्याप्त संख्या में हुए । 'ओथैलो', 'मर्चैण्ट ऑफ वेनिस', 'ट्वैल्फ़थ नाइट', 'ए० डौल्स हाउस', 'दी घोस्ट' और 'राइवल्स' आदि अनूदित हो चुके हैं । शताब्दी के अन्तिम चरण में इन नाटकों के अतिरिक्त मौलिक नाटक भी लिखे गये, परन्तु इन मौलिक नाटकों में भी पाश्चात्य नाटककारों की टेकनीक अपनाई गई ।

मुझे कहते हुए खेद होता है कि इनमें से कुछ नाटक विदेशी रीति से इस प्रकार व्याप्त हैं कि वे अनुकृति के धरातल से ऊँचे नहीं उठ सके । इब्सन हमारे अनेक युवा नाटककारों का आदर्श है । जहाँ तक प्रविधि या टेकनीक का सम्बन्ध है यह सब ठीक है परन्तु विषय अथवा कथानक में कुछ नवीनता अवश्य होनी चाहिये जिससे कि जब इन कृतियों का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में किया जाये तो पाश्चात्य लोग भी इन से आनन्द ले सकें । हमारा ध्येय तो नाटक-लेखन में नवीन प्रविधि के योग का होना चाहिये, यद्यपि यह कार्य दुष्कर है । किन्तु आज की स्थिति असंतोष-जनक है । थोड़े नाटकों के अतिरिक्त हमारे मौलिक कहे जाने वाले नाटकों का यदि अंग्रेज़ी में अनुवाद किया जाये तो मैं समझता हूँ कि वे निस्सार अनुकृतियाँ होने के कारण विदेशी समालोचकों द्वारा निम्न कोटि के समझे जायेंगे । हमारे साथ कठिनाई यह है कि इस क्षेत्र में हम उत्कृष्ट विदेशी नाटककारों का आवश्यकता से अधिक अनुकरण करते हैं । स्वर्गीय प्रोफेसर वी० कृष्णन तम्बी ऐसे नाटककारों का उपहास यह कह कर किया करते थे—"यह रही इब्सन-कुण्डली यदि तुम इसके बीच में से कूद जाओगे तो अमर हो जाओगे और यह रही शॉ-कुण्डली इसमें से गुज़र गए तो चिरन्तन कीर्ति पाओगे।"

मलयालम में गद्य-नाटक का अवलोकन करने पर सर्वप्रथम प्रसिद्ध उपन्यास-कार सी० वी० रमनपिल्ले पर ध्यान जाता है। यद्यपि रमनपिल्ले की साहित्य प्रतिभा की ख्याति का आधार उनके नाटक नहीं हैं तथापि हमें उनको गद्य-नाटकों के क्षेत्र में अग्रणियों का सम्मान देना ही पड़ेगा । उनके नाटकों में से अधिकांश छोटे-छोटे प्रहसन हैं जो शीघ्रता में लिखे गये थे और उनका मुख्य ध्येय शिक्षा-संस्थाओं में अभिनय का था । उन्होंने अन्तर्द्वन्द्व अथवा चरित्र चित्रण या कथानक के विकास की अधिक चिन्ता नही की—कथोपकथन स्वाभाविक और सजीव हैं । श्री रमनपिल्ले नाटककारिता में पर्याप्त उपपन्न थे—यह उनके उपन्यासों के उत्कृष्ट कथोपकथनों से

प्रकट है। उनके प्रहसनों में 'कुरुपिल्ल कलरी' सर्वोत्तम है। उनके अधिकांश नाटक प्रथमत: 'नैशनल क्लब ऑफ़ त्रिवेन्द्रम' द्वारा अभिनीत हुए।

तत्पश्चात् इस क्षेत्र में हास्य-व्यंग्यकार ई० वी० कृष्णपिल्ले का नाम उल्लेखनीय है। कृष्णपिल्ले उपन्यास लिखने में रमनपिल्ले से प्रतिस्पर्धा न कर सके। तब वे गद्य-नाटक की ओर मुड़े और इस क्षेत्र में उनको बहुत सफलता प्राप्त हुई। 'सीतालक्ष्मी', 'राजा केशवदासन' और 'इरानकुट्टिपिल्लै' उनके प्रारम्भिक प्रयास हैं। मनोवैज्ञानिक नाटकों में कृष्णपिल्ले की अधिक अभिरुचि नहीं थी। उनके अधिकांश नाटक, विशेषतया हास्य-प्रधान, रंगमंच पर पूर्ण सफल रहे। उसकी लोक-प्रियता का अधिकांश श्रेय त्रिवेन्द्रम के अभिनेताओं को है। श्री सी० आई० परमेश्वरन् पिल्ले, एन० पी० चेलप्पन नायर और एम० पी० केशवपिल्ले के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। चेलप्पन नायर और केशवपिल्ले ने बाद में कृष्णपिल्ले का अनुकरण किया और कई नाटकों की रचना की जिनमें सामाजिक परिस्थितियों का हास्यमय निरूपण किया गया है।

कईनिक्करा पद्मनाभ पिल्ले ने गम्भीर नाटक लिखे हैं। उनमें से एक 'वेळुतम्बि दालव' और दूसरा 'कल्वरिलेकल्पपादम्' जिसमें यीशु के जीवनवृत्त को नाटक रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके भाई कुमार पिल्ले की ख्याति भी नाटककारों में कम नहीं। दोनों भाई उच्च कोटि के अभिनेता भी हैं।

अब हम वर्तमान नाटककारों के विवेचन पर आते हैं। केरल में अनेक नवयुवक नाटककार हैं। इनमें ए० के० रामकृष्ण पिल्ले का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है जिन्होंने मलयालम में एकांकी नाटकों का उन्नयन किया। टी० ऐन० गोपीनाथ ने कई नाटक लिखे हैं। उनके कथोपकथन सरल एवं सजीव हैं। उनकी कृतियों में 'भग्नभवनम्', 'कन्यका' और 'अनुरंजनम्' प्रसिद्ध हैं। वे इब्सन के अनुयायी हैं और उन्होंने उनके क्रिया-कल्प का सफल अनुकरण किया है उत्तर केरल में ईळसेरि गोविन्द नायर ने अपने नाटक 'कूत्तु कृषि' के कारण ख्याति पाई है।

यदि हम नाटक की तुलना मलयालम साहित्य के अन्य अङ्गों से कर तो यह अपेक्षाकृत असमृद्ध है। फिर भी पाँच सौ के लगभग पुस्तकें मुद्रित हो चुकी हैं जिनमें अधिकांश नवीन हैं। गत पाँच वर्षों में इस कला का पर्याप्त पुनरुत्थान हुआ है। देश में सर्वत्र एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक संस्थाएँ एवं क्लबें नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के उद्देश्य से स्थापित हो गई हैं। राजनीतिक दलों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार जनता में करने के लिये नाटक को उत्कृष्ट माध्यम पाया है।

मैं उनमें से अधिक महत्वपूर्ण संस्थाओं का नामोल्लेख यहाँ करूँगा। दक्षिण से शुरू करें तो सबसे पहले त्रिवेन्द्रम की नाटक परिषद् है। इस संस्था के अध्यक्ष श्री पद्मनाभ पिल्ले हैं जो स्वयं नाटककार भी हैं और अभिनेता भी। वे संस्कृत एवं ऐतिहासिक नाटक प्रस्तुत करने में निरत हैं। वे ऐतिहासिक, विशेषतया श्री सी० वी० रमन पिल्ले उपन्यासों के आधार पर प्रणीत, नाटकों का उपस्थापन करते हैं। दूसरे 'केरल पीपुल्स आर्ट क्लब' है। इधर उनके 'यू हैव मेड मी कम्युनिस्ट' का जितनी बार प्रदर्शन हुआ है अन्य किसी नाटक का नहीं। इसके प्रणेता तोप्पिल भासी हैं। इसका अभिनय अनुमानतः पाँच सौ बार हो चुका है। नाटक का सौन्दर्य केवल कथोपकथन एवं कथा-वस्तु में ही नहीं है किन्तु उसके संगीत में है जिसके द्वारा केरल के लोक-सगीत का पुनरुज्जीवन हुआ है।

इर्नाकुलम् में 'केरल पीपल्स थियेटर एसोसियेशन' है जो 'इप्टा' से संबद्ध है। इरूर वसुदेव के 'जीवन का अन्त नहीं होता' (Life does not end) का सफल अभिनय उन्होंने अनेकों बार किया है। उसी प्रान्तर में एक अन्य क्लब है जो 'प्रतिभा आर्ट्स क्लब' के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पर प्रेरणादयी व्यक्तित्व श्री पी० जे० एण्टनी का है। उन्होंने 'दी हंग्री ब्लैक लैग' और 'दी चिल्ड्रन ऑफ इन्क़लाब' का अभिनय किया है।

सहस्रों लेखक नाटक-प्रतियोगिता में भाग लेते हैं और अनेक उत्कृष्ट नाटक लिखे जाते हैं। यह सब जागृति अद्यतन है और यदि उचित प्रोत्साहन मिलता रहा तो शुभ परिणाम अवश्य निकलेगा।

इस समसामयिक पुनरुत्थान में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ समय पूर्व नाट्य में भाग लेना असम्भ्रान्त माना जाता था, स्त्री-पात्रों के अभिनय के लिये महिलाएँ नहीं मिलती थीं। अब कुलीन युवक और युवतियाँ सहाभिनय के लिये तत्पर रहते हैं। हिन्दू, ईसाई और मुस्लिम कुलों की स्त्रियाँ मञ्च पर अवतरित होती हैं। यह एक स्वस्थ लक्षण है।

आधुनिक मलयालम नाटक में संगीत का भी पुनरुज्जीवन हुआ है। तमिल रीति के संगीत-विशिष्ट नाटक के प्रसार के पश्चात् यह (मलय-संगीत) लुप्त हो गया था। कालान्तर में अब मलय-संगीत ने फिर नाटक में स्थान पाया है। किन्तु आधुनिक संगीत पुरातन कर्नाटक संगीत नहीं है प्रत्युत लोक-संगीत है। इन लोक-संगीतों की वाणी-पद्धति तक केरल के पुरातन हैं। लोक-गीतों से ली गई है। इसका मन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उदाहरणतः श्री ओ० एन० वी० कुरुप अपनी

विशिष्ट पदावली द्वारा ग्राम्य वातावरण उपस्थित करने में सिद्धहस्त हैं। केरल में इस प्रकार के संगीत लेखकों में वे प्रायः सर्वोत्कृष्ट हैं। मलयालम फिल्म 'नीलक्कुयिल' की सफलता का मुख्य आधार वे गीत हैं जो लोक-संगीत की पद्धति पर रचे गये हैं। श्री पी० भास्करन जो निर्देशकों में से एक हैं संगीतकार भी हैं। आज मलयालम में संगीत-नाटक भी लोकप्रिय हैं। श्री पलइ नारायण नायर ने कुछ ऑपेरा रचे हैं। नर्तक चन्द्रशेखरन् नायर ने ऑपेरा (संगीत-नाटकों) के निर्देशन में ख्याति पाई है।

मलयालम नाटक की प्रगति में आकाशवाणी ने विशेष सहायता पहुँचाई है। यद्यपि उसकी प्रविधि भिन्न है फिर भी उसका साहित्य मूल्यवान है।

अन्ततः हम इस बात पर विचार करें कि केरल में रंगशाला और रंगमंच की क्या स्थिति है? क्या केरल में वास्तव में कोई रंगशाला है? एक प्रकार से कोई नहीं। केरल में कला का जन्म मन्दिर से हुआ है और वह अभी रंगशाला तक नहीं पहुँच पाई। विद्यापीठ में उसका प्रवेश फिर भी हो गया है। मेरा तात्पर्य यह है कि हमारी रंगशाला उपपन्न नहीं, जैसे-तैसे उससे काम चलाया जाता है। किसी विद्यापीठ में जाइये, साधारणतया वहाँ पर एक ओर एक-सी ऊँचाई वाले बैञ्चों का मञ्च बनाया होता है। यवनिका-पात की भी समुचित व्यवस्था नहीं, केरल में एक या दो रंगशालाएँ हैं जो काफ़ी बड़ी हैं जैसे त्रिवेन्द्रम का वी० जे० टाउनहाल। वहाँ पर मंच भी है और सज्जा-कक्ष भी। इस टाउनहाल का उपयोग सार्वजनिक उत्सवों के लिये होता है। कम से कम महत्वपूर्ण नगरों में नाटक-अभिनय के लिये पक्की रंगशालाएँ बनाई जानी चाहिए, और ग्रामों में खुली रंगशालाएँ। ऐसी रंगशाला में केवल रंगमंच और दोनों ओर सज्जा-कक्ष होना काफ़ी है। यह कार्य अधिक व्यय-साध्य नहीं—विशेषतया केरल में जहाँ श्रम का अधिक मूल्य नहीं।

फिर भी शिक्षित निर्देशकों एवं अभिनेताओं का होना आवश्यक है। नाटक का उपस्थापन अत्यन्त कठिन कार्य है। किसी अन्य कला की भाँति इसके लिए भी प्रशिक्षण अपेक्षित है।

नाटक-प्रदर्शन में सामान्यतः ये त्रुटियाँ पाई जाती हैं :—(१) माइक्रोफ़ोन का असंयत उपयोग। इससे बचा रहना अच्छा है। तब वास्तव में दर्शकों की संख्या अनुमानतः पाँच सौ तक सीमित करनी होगी। (२) अभिनेताओं पर अत्यन्त प्रखर श्वेत प्रकाश डाला जाता है। यह अभिनेताओं और दर्शकों दोनों के ही लिये हानिप्रद है। श्वेत, नील और रक्तिम प्रकाश के समुचित अनुपात में मिश्रण से प्राकृत-प्रकाश उपलब्ध हो सकता है। (३) नेपथ्य में दुर्व्यवस्था एक और सामान्य दोष है।

इन तथ्यों का उल्लेख मैंने यहाँ प्रसंगतः कर दिया है। ऐसी ही बहुत-सी और भी कमियाँ हैं जिनका उल्लेख यहाँ करना सम्भव नहीं। यदि संगीत-नाटक-अकादमी विभिन्न भाषाओं के भावी निर्देशकों के प्रशिक्षण के लिये प्रतिवर्ष व्याख्यानों आदि की व्यवस्था करे, तो बड़ा अच्छा रहे।
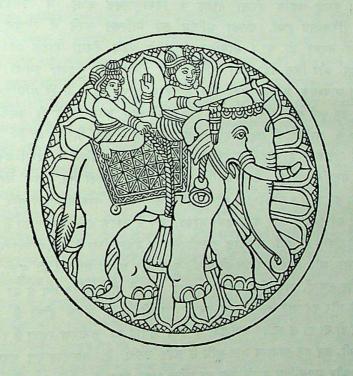
बँगला नाटक

—डॉ० श्रीकुमार बैनर्जी

बँगला साहित्य में नाटक का उद्भव आधुनिक काल में हुआ है। संस्कृत नाटक के विषय में निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि वह काफ़ी प्राचीन काल से चला आ रहा है; परन्तु यद्यपि बँगला नाटक के निर्माणात्मक काल में उसका कुछ प्रभाव परिलक्षित हुआ, उसका अन्तिम रूप निश्चित करने में संस्कृत नाटक का योग नगण्य ही था। आधुनिक काल से पहले बँगला नाटक का उद्भव कब हुआ और किन टेढ़ी-सीधी गलियों से होकर वह गुज़रा, इसका विस्तृत विवरण आवश्यक प्रतीत होता है। नाटकीय तत्त्व जीवन में ही सन्निहित होता है और वह पूर्ण रूप से नाटक बन कर सामने आए, इससे पहले ही उसके प्रति साहित्य के अध्येता की सहज रुचि जागृत रहती है। अतः साहित्य के उन रूपों में भी, जो नाटकेतर हैं, नाटकीय तत्त्व पाये जाते हैं और साहित्य के प्रारम्भिक काल में तो असाहित्यिक ढंग के सार्वजनिक और धार्मिक उत्सवों तक में इन तत्त्वों को देखा जा सकता है। लोकोत्सवों और धार्मिक समारोहादि सम्बन्धी गीतों और नाटकों में अपने आरम्भिक, और कभी-कभी अदृश्य, रूप में नाटक सन्निविष्ट होता है। जहाँ कहीं भी संवाद हों वहाँ अन्तर्हित नाटकीयता का संकेत होता है। मंत्रोच्चारण और श्लोक-पाठ, अति प्राचीन पद्धति की प्रकृति-पूजा और अदृश्य शक्तियों की पूजा, लोक-गीत और कथाएँ, आशु गीत और गीतात्मक कथाएँ जो सामूहिक रूप से या होड़ा-होड़ी के तौर पर गाई जायें,—इन सब में नाटकीयता की झलक होती है क्योंकि सभी में दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य संवाद का समावेश रहता है। स्वगत कथन भी, जब वह सामान्य भाव-भूमि से ऊपर उठता है, नाटकीय रूप ग्रहण कर लेता है और आत्म-निष्ठ नाटकीयता का संकेत-वाहक होता है—ऐसी नाटकीयता, जो उपकथक के अभाव के कारण अर्ध-स्पष्ट भले ही हो, फिर भी कम यथार्थ नहीं होती।

लेकिन हमें उस सोपान से विचार आरम्भ करना चाहिए जहाँ नाटक साहित्य का स्पर्श करता है। जिन भूगर्भस्थ धारा-उपधाराओं में वह असजग रूप में स्थित है उसकी खोजबीन अनावश्यक ही है। यद्यपि मध्ययुगीन बँगला साहित्य मुख्यतः

प्रगीतात्मक और इतिवृत्तात्मक ही है, तथापि अनेक अवसरों पर मानवीय रुचियों पर ज़ोर होने के कारण उसे नाटकीय रूप या प्रवृत्ति मिलती रही है। प्रेम की भावना और आवेश के मार्ग में जब कभी कोई आन्तरिक बाधा-विघ्न या ईर्ष्या या निराशा आड़े आई, तो अभिव्यक्ति ने नाटकीयता की सीमा-रेखा का स्पर्श किया। इतिवृत्तात्मक काव्यों में भी, यद्यपि द्वन्द्व अधिकांशतः वाह्य और सैद्धान्तिक है, कभी-कभी नाटकीयता की झलक मिल ही जाती है। इस प्रकार और इन अर्थों में मध्ययुगीन बँगला काव्य में—विशेषतः प्रगीतात्मक और वर्णनात्मक काव्य में—नाटकीय तत्त्व मिलते हैं।

जयदेव कृत 'गीत गोविन्द', जो वैष्णव उपासनात्मक प्रेम-काव्यों में सर्वप्रथम और प्रमुख लौकिक साहित्यिक कृति है, यद्यपि संस्कृत में लिखा गया है और उसकी अपील देशव्यापी है, तथापि उसकी परिगणना बँगला साहित्य के अंतर्गत ही होगी क्योंकि उसमें जहाँ एक ओर कोमल-भावुक बंगाली चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब है वहीं उसका प्रभाव बंगाली मानस में सर्वत्र परिव्याप्त है, इस ग्रन्थ में एक ओर तो अत्यधिक मधुर और सरस कविता और प्रकृति-वर्णन है और दूसरी ओर प्रेमियों के वे आलाप-कलाप हे जो अपनी भाव-प्रवणता और प्रभावकता के कारण नाटकीय तत्त्वों के निकट पहुँचते हैं। प्रगीतात्मक उल्लास के उमड़ते सागर में ये नाटकीय अंश छोटे-छोटे द्वीपों से खिले हुए हैं। राधा-कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी प्रथम बँगला काव्य, बडु चण्डीदास कृत 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' में इस प्रकार के नाटकीय अंश और भी स्पष्ट रूप में पाए जाते हैं। 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' का रचना-काल १५ वीं शताब्दी का आरंभ है। इस काव्य में प्रस्तुत नैसर्गिक पृष्ठभूमि और संवादों की भाषा, प्रेमियों के मध्य आरम्भिक अवस्था में तीव्र झगड़े और बीच-बीच में व्यंग्य-विद्रूप का प्रयोग आदि के द्वारा प्रकट हो जाता है कि कवि ने नाटकीयता को ध्यान में रखा था। मंगल-काव्यों में, जो मध्ययुगीन बँगला साहित्य का प्रमुख काव्य-रूप है, हम इसी प्रकार मनसा और चाँद सौदागर के झगड़ों के रूप में और खलनायक भैरोंदत्त की कथा के अंतर्गत (जो पास-पड़ोस के राजाओं को लड़ाता रहता है और पक्का अवसरवादी है, जो सदा ही विजयी पक्ष का साथ देता है) कुछ हास्यास्पद प्रसंगों में नाटकों की छाया देख सकते हैं। इसी प्रकार पुराणों, रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत के बंगला अनुवादों में कथा के अनवरत प्रवाह और दैवी घटनाओं के वर्णन के बीच कुछ ऐसे प्रसंग दीखते हैं जिनमें नाटकीय तत्त्व बहुत स्पष्टता से उभर कर आता है। रामायण में राम और परशुराम के मध्य वार्त्तालाप; राक्षसों के तंत्र-मंत्र द्वारा राम की क्षणिक पराजय, और सीता द्वारा लक्ष्मण को कष्ट में पड़े हुए राम की सहायतार्थ भेजना; कुम्भकर्ण, मकराक्ष और इन्द्रजित की मृत्यु से सम्बन्धित घटना-चक्र;

हनुमान द्वारा मन्दोदरी के पास से घातक अस्त्र की चोरी; महाभारत में विभिन्न घटना-क्रमों के मध्य प्रत्येक संकट का सामना करने में कृष्ण का प्रत्युत्पन्न-मतित्व; कृष्ण की बाल्य और युवावस्था की घटनाएँ और अपनी दोनों पत्नियों—रुक्मिणी और सत्यभामा—के बीच राग-द्वेषजन्य झगड़ों का निबटारा करने में कृष्ण की वाक्-पटुता—ये सभी ऐसे प्रसंग हैं जो बताते हैं कि भक्तिपरक वर्णनों में खोई हुई कवि की दृष्टि नाटकीय प्रसंगों को छोड़ती हुई आगे नहीं बढ़ गई थी। समस्त मध्य-युग में यद्यपि साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति गीतों और वर्णनात्मक और सिद्धान्त-निरूपक काव्य की थी, तथापि नाटक रचनाकारों की दृष्टि से ओझल नहीं था और प्रतीक्षा-रत था कि कब वह अंकुरित हो और कब वह स्वतंत्ररूपेण पनपे।

नाटक के विकास का अगला सोपान तब आया जब श्री चैतन्य का आविर्भाव हुआ और वैष्णव-भक्ति-गीतों से बंगाल की धरती मुखरित हो उठी। श्री चैतन्य के अंतस्तल में दिव्य प्रेमानुभूति की भावना इतनी तीव्र थी और इतनी एक-निष्ठ कि विशुद्ध रहस्य-चिंतन की क्रिया ने उन्हें अनिवार्य रूप से नाटकीय अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख किया। उनकी जीवन-कथा से हमें मालूम हुआ है कि उन्होंने अपने अन्य अनुयायी भक्तों के साथ श्रीकृष्ण के जीवन के नौका विहार प्रसंग का अभिनय किया था। यही एक प्रकार से 'यात्रा' का, जो नाटक का एक देशज रूप है, आरम्भ-विन्दु माना जा सकता है। 'यात्रा' के अंतर्गत गीतों और भक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले लम्बे अभिभाषणों, पापात्माओं को भक्ति-मार्ग पर उन्मुख करने वाले सैद्धांतिक वाद-विवादों, और भक्तों को उद्धार का आश्वासन दिलाने वाले संवादों का समावेश होता है। श्री चैतन्य का सम्पूर्ण जीवन ही एक ऐसे लगातार चलने वाले नाटक के समान था जो भक्तजनों को आह्लादित करने के लिए खेला जा रहा हो; एक ऐसा जीवन जो आवेशों और दिव्य दर्शनों से युक्त था, जिसमें वे अपने भौतिक अस्तित्व को भूल कर अपने आपको राधा या कृष्ण से एकीकृत अनुभव करने लगते थे और तदनुरूप उनके उद्गार भी हो जाते थे। इस प्रकार उनके निकटस्थ अनुयायी और उनके समकालीन भक्तजन, जो उनके ऐन्द्रजालिक प्रभाव से खिंचकर उनके दिव्य भावावेशों का दर्शन करते थे; नाटक को सजीव रूप में देखने में समर्थ हुए; साहित्य में तो वह बाद को आया। यह ऐसा सजीव नाटक था जिसमें अभिनेता जिस चरित्र को व्यक्त करता था उसी के सर्वथा अनुरूप हो जाता था : यह ऐसी अनुरूपता थी जो किसी भी रंगमंचीय या भावनात्मक अनुकरण द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती थी।

श्री चैतन्य ने न केवल अपनी आह्लादमयी आध्यात्मिक विह्वलता द्वारा अपितु अपने आकर्षक एवं प्रिय व्यक्तित्व के प्रभाव द्वारा भी नाटक के विकास को बड़ा

प्रोत्साहन दिया। जैसे श्री चैतन्य ने दिव्य प्रेमियों से तादात्म्य भाव का अनुभव किया, वैसे ही चैतन्य के भक्तों ने स्वयं चैतन्य को अपने जीवन में और नाटकों में उतारना चाहा। इस युग में नाटक के एक प्रमुख रूप के तौर पर 'यात्रा' का प्रचलन हुआ और 'यात्राओं' का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत श्री चैतन्य प्रवर्त्तित भक्ति-भावना थी। इन 'यात्राओं' का वर्ण्य विषय पुराणों की ऐसी कथाएँ थीं जो धर्म-भावना से ओत-प्रोत थीं, साथ ही जिनकी मानवीय अपील भी थी। इसका आरम्भ छोटे-छोटे संवादों से होता था। ये संवाद ही विभिन्न गीतों को जोड़ने वाली कड़ियों के रूप में भी प्रयुक्त होते थे। इनके द्वारा आवश्यक सूचना भी दी जाती थी और कथात्मक पृष्ठभूमि का भी स्पष्टीकरण होता था। इन संवादों को कालान्तर में अधिकाधिक महत्व दिया जाने लगा और नाटक में इनका स्थान अधिकाधिक बढ़ने लगा। इनके साथ सैद्धान्तिक विवेचन, अंतर्निहित उद्देश्यों का स्पष्ट करने वाले लम्बे-लम्बे स्वगत-कथन, घटना-जन्य समवेत गायन, साधना से तुष्ट हो कर और सत्य तथा न्याय की रक्षार्थ दिव्य शक्तियों का आविर्भाव और हस्तक्षेप, और तपस्या की पुकार पर देवी-देवताओं का भक्तों के आगे सशरीर प्रकट होना आदि का समावेश होने लगा। अन्ततः गीतों और संवाद का अनुपात उलट गया। आरम्भ में गीतों को परस्पर सम्बद्ध करने लिए संवाद का प्रयोग होता था; अंत में संवादों में सन्निहित भावना की भावात्मक टिप्पणी के रूप में गीतों का रखा जाना आरम्भ हुआ। यात्रा के आरम्भिक रूप के नमूने आज प्राप्य नहीं हैं, परन्तु समय की धारा में तैरते टुकड़ों के रूप में जो कुछ प्राप्य हैं और जो अन्य कला-रूपों में समाविष्ट या परिवर्तित हो चुके हैं, उनसे मूल रूप का काफ़ी सही आभास हो जाता है। 'यात्रा' के समान ही 'कथाकता' का भी प्रचलन था। इसके अंतर्गत पुराणों के भक्ति-परक प्रसंगों को संस्कृतनिष्ठ गद्य में और उद्वेगात्मक शैली में प्रस्तुत किया जाता था। बीच-बीच में प्रचुर मात्रा में नृत्य-गीतादि का समावेश होता था। 'कविवालों' के गीत भी शामिल रहते थे। ये गीत अपरिमार्जित, तेज़ प्रवाह युक्त लोक-छंदों में चलने वाली आशु वाक्-प्रतियोगिताओं के रूप में निर्मित होते थे और इनका विषय धार्मिक ग्रन्थों की कोई सर्वविदित, उलझन-युक्त नैतिक समस्या या प्रसंग होता था। इन्हीं सब ने नाटक की शून्यता को भरी-पूरी रखा और तब तक बंगाल की जनता की नाटकों के प्रति अभिरुचि को तुष्ट रखा जब तक पश्चिम के प्रभाव से पुराने परम्परागत नाट्य-रूपों को नव जन्म नहीं मिल गया।

(२)

पश्चिम से सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित होने के बाद प्रायः दो दशाब्दियों के अन्दर-अन्दर बँगला साहित्य के मंच पर नाटक का प्रवेश तेज़,

यद्यपि कुछ अनिश्चित डगों के साथ हुआ । नाटक के क्षेत्र में प्रवर्त्तन-कार्य का श्रेय एक रूसी, हिरेशिम लेबेडाफ़, को है जिसने अपने बंगाली शिक्षक गोलोकनाथ दास से दो अंग्रेज़ी प्रहसनों 'छद्म वेष' (डिसगाइज़) और "प्रेम ही सर्वोत्तम चिकित्सक है" ('लव इज़ द बेस्ट डाक्टर') का अनुवाद करवाया और उन्हें २७ नवम्बर १७९५ ई० को नव-निर्मित रंगमंच पर प्रस्तुत किया । इसके बाद एक लम्बे समय तक इस दिशा में कुछ भी काम न हो सका यद्यपि प्रयोग और तैयारियाँ ज़ोर-शोर से होती रहीं । बँगला में नाटक के कारण रंगमंच की माँग उत्पन्न नहीं हुईबल्कि रंगमंच की ओर लोगों की रुचि और उत्साह पहले हुआ और रंगमंचों की आवश्यकता-पूर्ति के रूप में नाटक लिखे गये । रंगमंच की भव्य और सजधज-पूर्ण अपील ही बँगला के आरम्भिक नाटकों की प्रेरणा-शक्ति थी । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बँगला नाटक का जन्म समय से पहले ही एक कृत्रिम माँग की पूर्ति के लिए हुआ । यह एक ऐसी माँग थी जो विदेशी नमूनों के अनुकरण पर निर्भर थी । सामाजिक आवश्यकताओं और रचनात्मक प्रेरणा के अनिवार्य विकास ने इसको जन्म नहीं दिया था ।

१८३५ के बाद कई प्रेक्षागृहों का आरम्भ हुआ । इन को आरम्भ करने वाले कलकत्ता के कुछ आत्म-चेता रईस थे । जिनमें नवीनचन्द्र बसु और कालीप्रसन्न सिन्हा का नाम विशेष उल्लेखनीय है । बेलगछिया स्थित पैकपाड़ा राज्य-परिवार के लोगों ने भी इस दिशा में कार्य किया । आरम्भिक नाटक मूल संस्कृत या अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद या रूपान्तर थे । १८५२ में पहले-पहल मूल बँगला नाटक लिखे गये । ये थे योगेन्द्रचन्द्र गुप्त लिखित 'कीर्ति विलास' और ताराचरण सिकदर लिखित 'भद्रार्जुन' नाटक । इन दोनों ही नाटकों में संस्कृत नाटकों की परिपाटी का साहस-पूर्वक परित्याग कर दिया गया और अंग्रेज़ी की नाट्य-रचना-पद्धति को अपनाया गया । इसके अतिरिक्त इनमें से प्रथम नाटक दुखान्त है जिसमें संस्कृत नाट्य-शास्त्र में निर्धारित नियमों का खुले तौर पर उल्लंघन है । मौलिकता के इस संकेत के अतिरिक्त इन नाटकों में और कोई उल्लेखनीय विशेषताएँ नहीं हैं । जहाँ तक नाटकीय रूप, चरित्र-चित्रण और उपयुक्त शैली का प्रश्न है, बहुत साधारण नाटक हैं। शैली या तो संस्कृत गद्य की कर्ण-कटु और क्लिष्ट शैली है जो कभी सामान्य जन के मुख से नहीं सुनी जाती या 'पयार' ढंग की तुकान्त छन्दात्मक शैली है जो ईश्वरगुप्त का अनुकरण है । नाटकों की दृष्टि से दोनों ही शैलियाँ अनुपयुक्त हैं । वस्तुतः ठीक-ठीक नाटकीय भाषा का निर्माण, जिसमें संवादात्मक प्रवाह के साथ-साथ भावावेग का समावेश हो, बंगाली नाटक के सामने एक अन्तिम समस्या थी जिसे पूर्णता तक पहुँचने की लम्बी और कष्टप्रद यात्रा के बीच उसे हल करना था ।
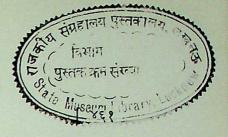
इन संस्कृत-गर्भित रूपान्तरणों द्वारा इतना काम अवश्य हुआ कि इन्हें देख कर उस युग के सबसे बड़े कवि और एक अत्याधुनिक विचार वाले व्यक्ति माइकेल मधुसूदन दत्त उन से बेहद चिढ़े और उन मूर्खतापूर्ण, भावुकतापूर्ण और पुराने ढंग के आत्माहीन अनुकरणों के मुकाबिले नये ढंग के नाटक लिखने आरम्भ किये।

—३—

इसी बीच बंगाली समाज, जो कई शताब्दियों से शान्त और स्थिर चला आ रहा था, सहसा आवेग, ईर्ष्या-द्वेष, मनोमालिन्य, तीव्र सामाजिक मतभेद, पारिवारिक संघर्ष आदि की आँधियों से आन्दोलित हो उठा। इन उत्तेजक और असामान्य अनुभवों के कारण, इन तीव्र और अनवरत सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप, जिन्होंने समाज की चूल हिला दी, चारों ओर तीव्र भावनाओं, तीखे व्यंग्य-विद्रूप, लगातार झगड़ों और विवाद का जन्म हुआ। नाटककारों ने अब एक पवित्र उद्देश्य लेकर नाटकों का प्रणयन आरम्भ किया—उनकी रचना के पृष्ठ में अब प्रचार और सामाजिक बुराइयों का सुधार, तीव्र सामाजिक सहानुभूति आदि भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। ये ऐसी भावनाएँ थीं जो यद्यपि नाटकीय तटस्थता के आदर्श की पोषक नहीं थी, फिर भी नाटक की लक्ष्यहीन धारा को इन्होंने लक्ष्य और दिशा दी, और उसकी रगों में नये रक्त का संचार किया। इस जागृत सामाजिक चेतना के साथ-साथ देशभक्ति की भावना का भी प्रवेश हुआ और वर्तमान सामाजिक अवस्था के साथ-साथ नाटककारों का ध्यान अतीत के गौरव की ओर भी आकर्षित हुआ। उन्होंने उन रोमांटिक प्रेम-कथाओं से भी मुँह मोड़ा जिनका अन्त प्रायः शहीद हो कर हुआ करता था। इस नए परिवर्तन में कुछ बाद को धार्मिक पुनर्जागरण से उत्पन्न भावनाएँ भी आ मिलीं। यह वह जागरण था जिसने पौराणिक गाथाओं और उनमें व्यक्त दैवी शक्तियों के रहस्यादि के प्रति लोगों का ध्यान पुनः आकर्षित किया। अविश्वास और अनास्था से घिरे लोगों को एक नया सहारा मिला। १८५० के बाद बँगला नाटक निम्नलिखित तीन दिशाओं में प्रवाहित हुआ: (१) सामाजिक आलोचना; (२) ऐतिहासिक पुनर्जागरण, जिसमें कभी-कभी रोमांटिक प्रेम का भी सम्मिश्रण रहता था; और (३) धार्मिक पुनरुत्थान। हल्के-फुल्के ढंग की चीज़ों के रूप में प्रहसन और आपेरा लिखे गए जिनमें संगीत और स्वप्न-चित्रों द्वारा सुखद और चित्र-विचित्र अयथार्थ का वातावरण प्रस्तुत किया गया। हम नीचे इसी विभाजन को यथाशक्य ध्यान में रख कर विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

(१) काल की दृष्टि से सामाजिक उद्देश्यपरक नाटक सबसे पहले आते हैं क्योंकि इनका प्रभाव तात्कालिक होता था और उस युग की सामाजिक समस्याओं

का रूप भी ऐसा था जिसने ऐसे नाटकों की रचना को प्रेरित किया । इस ढंग का पहला नाटक 'कुलीन-कुल सर्वस्त्र' (१८५४) था । इसके रचयिता थे रामनारायण तर्करत्न, जो पुराने ढंग के एक पण्डित थे पर इतनी सामाजिक चेतना उनमें थी कि उन्होंने कुलीनों के अनमेल और बहुविवाह की बुराइयों को दर्शाया । यह नाटक एक व्यंगात्मक सुखान्त रचना है जो अंशतः प्रतीकात्मक है और अंशतः यथार्थवादी । यद्यपि शैली की दृष्टि से यह अपरिपक्व है और नाटकीय संकलनों का इसमें अभाव है, फिर भी, शुभ सामाजिक उद्देश्यों के कारण इसका प्रचलन अब तक है । इसके बाद 'नील दर्पण' (१८६०) लिखा गया । इसके लेखक थे दीनबन्धु मित्र । यह अब भी बँगला रंगमंच का एक सबसे प्रसिद्ध नाटक है जिसमें बंगाल के किसानों पर निलहे गोरों के अत्याचार की कथा प्रभावशाली व्यंग्य और करुणा के साथ प्रस्तुत की गई है । इस नाटक का प्रभाव कुछ इतना अधिक पड़ा कि बंगाल के ग्राम-जीवन से धीरे-धीरे उक्त विपत्ति का अन्त हो गया । यह एक विशुद्ध दुखान्त नाटक है जिसमें एक ऐसे परिवार का सम्पूर्ण विनाश दिखाया गया है जिसने नील की खेती की प्रथा के विरुद्ध अपना सर उठाया था । इसमें व्यक्त करुणा अतिशयोक्तिपूर्ण है और अति-नाटकीय भी; लेकिन दूसरी ओर इसकी एक बड़ी विशेषता भी यह है कि इसमें एक मध्यवित्त वर्ग के परिवार का यथार्थ चित्रण है : उसी वर्ग की प्रवाहपूर्ण और जानदार शैली में; उन्हीं के व्यंग्य विनोद हैं, जीवन के प्रति उन्हीं के आह्लाद हैं जिन्हें किसी भी प्रकार का कोई अत्याचार कभी मिटा नहीं सकता । अब तक किसी भी अन्य नाटक की अपील इतनी गहरी या सार्वभौम न हुई थी । इसने समस्त जनों के अन्दर विदेशी शासन के प्रति तीव्र और अविस्मरणीय घृणा भर दी और यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ध्वंस का अग्रदूत सिद्ध हुआ । 'सधवार एकादशी' (१८६६) में दीनबन्धु ने और भी ऊँची उड़ान भरी । इस नाटक में उन्होंने अपनी सफल लेखनी द्वारा अंग्रेज़ियत के असर से दबे हुए तरुण बंगाल—उसकी शराबखोरी, बदमाशी, महत्त्वाकांक्षाएँ, शान-शौकत आदि का चित्रण किया । इस नाटक की सबसे प्रमुख सिद्धि नीमचन्द का चरित्र है । वह पश्चिम से प्रभावित एक ऐसा बंगाली तरुण है जो भग्न-पंख देवदूत है; जो असाधारण मेधावी भी है और नैतिक दृष्टि से दिवालिया भी; जिसमें भव्य तरुणाई भी है और निदारुण, परोपजीवी अस्तित्त्व की घुटन भी; जिसने मद्यपान की लत डाल ली है जिससे उसकी इच्छा-शक्ति और उसके महान गुणों का सतत ह्रास होता जा रहा है । इस पतनोन्मुख जीवन को देखकर करुणा का सहज उद्रेक होता है । तब वह आत्मालोचन करता है, तो सामान्यतः विलास और पतन के बीच बीते जीवन के प्रति हमारा मन एक आर्द्रता से भर जाता है । अंग्रेज़ी साहित्य से उद्धरण देने की तत्परता, हाज़िर-जवाबी, वाद-विवाद में विरोधी को आसानी से परास्त कर देना, अंग्रेज़ी ही में न

केवल बात करना बल्कि स्वप्न तक देखने की इच्छा रखना, नफ़ासत, भावुकता और आत्म-करुणा—ये सभी विशेषताएँ ऐसे तरुणों में थीं जो पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित हुए थे। नीमचन्द सम्भवतः बँगला नाटकों का एक सबसे अधिक प्राणवान् चरित्र है और उसमें सामान्य तथा विशिष्ट गुणों का ऐसा सम्मिश्रण है जो शायद ही कथा-साहित्य के किसी अन्य चरित्र में मिलता हो। दीनबन्धु का एक अन्य सुखान्त नाटक 'जमाई बारिक' (१८७२) है। इसमें श्वसुर-गृह में जा बसने वाले दामाद को केन्द्रविन्दु बना कर व्यंग्य के छींटे दिए गए हैं और इसके द्वारा उस युग की एक और बुराई का दिग्दर्शन कराया गया है।

इसके बाद गिरीशचन्द्र घोष ने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाई और सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध किया। गिरीश घोष नाटककार भी थे और अभिनेता भी। उनकी अभिरुचि व्यापक थी और सफलताएँ उच्च। उन्होंने अनेक दिशाओं में नाटक की श्रीवृद्धि की और उसकी आरम्भिक सफलताओं को पुष्ट बनाया। गिरीशचन्द्र के आगमन के साथ ही १८७२ ई० में कलकत्ता में नेशनल थियेटर नामक पहला व्यवसायिक रगमंच स्थापित हुआ। इस प्रकार नाटक अब शौकिया लोगों के हाथों से निकलकर सार्वजनिक संरक्षण में आया और नाटककारों ने सार्वजनिक रुचि और आवश्यकताओं पर दृष्टि रखकर नाटकों की रचना आरम्भ की। गिरीशचन्द्र की अद्वितीय सफलता का कारण यही था कि उन्होंने जन-रुचि को ठीक-ठीक पहचाना। इस दृष्टि से उनको शेक्सपियर के समकक्ष रखा जा सकता है, यद्यपि अन्य नाटकीय गुणों की दृष्टि से दोनों की तुलना नहीं की जा सकती और जिन्होंने की है, वे राष्ट्रीय गौरव की मिथ्या भावना से प्रेरित रहे हैं। गिरीशचन्द्र के सामाजिक नाटकों का विषय कलकत्ते के मध्यवित्त परिवार के कष्ट और संकट हैं। उनके कथानक अनेक प्रकार के आपराधिक षड्यंत्रों, रक्तपात और हत्याओं, साम्पत्तिक अवस्था में सहसा परिवर्तन और अति-नाटकीय प्रसंगों द्वारा जटिल बनते हैं। पर अनेक वाहियात बातों और उग्र प्रसंगों के बावजूद उनके नाटकों में आन्तरिक सत्य का समावेश रहता है और उनमें स्वभाविक मानवीय भावनाओं की झलक होती है। इसी से वे फिर भी प्रिय लगते हैं। 'प्रफुल्ल' (१८८९) उनका सबसे अच्छा सामाजिक दुखान्त नाटक है, यद्यपि उसमें सोद्देश्यता का सूत्र बहुत बारीक और अविश्वसनीय है और शराबखोरी, पुलिस की अदालतों के दृश्य, अपहरण और गला दबोच कर हत्या कर देने के दृश्य प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं। 'बलिदान' (१९०५) एक अन्य सामाजिक नाटक है जिसमें दुखान्त प्रसंगों की भरमार है। 'शास्ति ओ शास्ति' (१९०८) उनके अन्तिम दिनों में लिखा गया नाटक है जिसमें विधवा-विवाह और प्रेम द्वारा गहन दुःखान्त वातावरण का निर्माण किया गया है। वस्तुतः यद्यपि गिरीशचन्द्र

के सामाजिक नाटक दीनबन्धु की शैली से कई पग आगे बढ़े हुए हैं, और उनकी लेखन-पद्धति आधुनिक है तथा उनके अन्तर्गत एक नये युग की सामाजिक समस्याओं को उठाया गया है, तथापि एक आदर्श दुःखान्त नाटक के धरातल तक वे नहीं पहुँच पाए हैं। गिरीशचन्द्र की नाट्य-रचना शैली के अंतर्गत अतुकान्त छंद का प्रयोग हुआ है जिसमें संवादात्मक लय और भावावेग का समन्वय है और जो उस क्लिष्टता तथा सजावट से मुक्त है जिसे संस्कृत के प्रभाव में आकर परवर्ती नाटककारों ने अपनाया था।

अमृतलाल वसु भी, गिरीशचन्द्र की भाँति, नाटककार भी थे और अभिनेता भी यद्यपि वे अभिनेता अधिक थे और नाटककार कम। उन्होंने कोई गम्भीर नाटक नहीं लिखा। उन्होंने कुछ हास्यात्मक स्केच अवश्य लिखे जिनमें अँग्रेज़ीदाँ समाज के नये रंग-ढंग की आलोचना थी और प्राचीन, परम्परागत आदर्शों की परिपुष्टि। इन स्केचों में वाक्पटुता और व्यंग्य-विनोद का अच्छा समावेश है और इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'खास दखल' (१६१२) है।

इसके बाद के महान् नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय हैं जिनकी प्रमुख सफलताएँ ऐतिहासिक नाटक के क्षेत्र में हैं लेकिन उन्होंने दो सामाजिक नाटक भी लिखे जिनमें उन्होंने गिरीशचन्द्र की परम्परा का ही अनुसरण किया और कोई मौलिक बात नहीं दी। ये नाटक हैं 'पारा पारे' (१६१२) और 'बंग-नारी' (१६१६) और इनमें व्यक्त सामाजिक समस्याएँ वे ही हैं जिनका परिचय हमें गिरीशचन्द्र दे चुके थे। इनमें भी लगातार और अतिशयोक्तिपूर्ण कारुणिकता का वैसा ही चित्रण है जैसा गिरीशचन्द्र में था।

क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद इस काल के एक अन्य प्रमुख नाटककार थे पर सामाजिक नाटक के क्षेत्र में उनका योगदान नगण्य है।

—४—

रवीन्द्रनाथ के आगमन के साथ हम नाटक के एक नये ही रूप को सँवरते हुए पाते हैं। यह ऐसा रूप है जो सामान्यतः स्वीकृत वर्गीकरण से अलग है। रवीन्द्रनाथ एक महान गीतकार हैं जिन्होंने अपनी महान प्रगीतात्मक और काव्यात्मक संवेदना और सामान्य सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत सामान्य मानव-जीवन के प्रति निस्संगता को अपने नाटकों में समाविष्ट किया। वे बाह्य घटनाओं की बजाय आत्मानुभूति की अधिक परवाह करते हैं और जब उन्होंने कोई ऐतिहासिक प्रसंग भी चुना है तब भी इतिहास का रंगीन, तीव्र प्रवाह और उसकी बाह्य उत्तेजना या संघर्ष उन्हें आकर्षित

नहीं कर सका है : वे तो मानव-व्यक्तित्व के आन्तरिक, प्रशान्त नाटक की ओर ही खिंचे हैं। इतिहास की ध्वनि-प्रतिध्वनियों के स्थान पर मनोभूमि में सुगबुगाने वाली नैतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को प्रस्तुत करना ही उनका अभीष्ट रहा है। उनकी शैली नाटकीय उतनी नहीं है जितनी आत्मालोचनात्मक और अन्तर्मुखी, जिसका उद्देश्य भावनाओं की उस सूक्ष्म, झंकार को उभारना होता है जिसे व्यक्त करने म वाणी असफल रहती है। उन्होंने काव्यात्मक आपेराओं से नाटक-रचना का आरम्भ किया। इनमें प्रमुख थे : 'बाल्मीकिर प्रतिभा' (१८८१), 'काल मृगया' (१८८२) 'प्रकृतिर परिशोध' (१८८४) और 'खेला' (१८८८) जिनमें झीना नाटकीय उद्देश्य, एक प्रकार का हृदय-परिवर्त्तन घटित होता है और घटना-क्रम के बीच गायन, प्रगीतात्मक संवेदन और जीवन के काव्यात्मक विवेचन का समावेश है। ये सभी गीतों से युक्त और संगीत के चक्रों पर आगे बढ़ने वाले नाटक हैं। इनमें घटना-क्रम सुकुमार भावनाओं और कल्पनाओं के पंखों के सहारे उड़ान भरता हुआ आगे बढ़ता है और संवाद अत्याकर्षक एवं अपूर्व गीतात्मक स्तर के हैं। इनमें एक नैतिक समस्या का एक नाटकीय हल मात्र नहीं होता, वल्कि वह संगीत के जादूभरे वातावरण में हल होती है जिससे अभिभूत पाठक या दर्शक को यह भान ही नहीं होता कि क्या घटित हो गया ! जहाँ तक संभव होता है, किसी नाटकीय समस्या को पृष्ठभूमि में ही रखा जाता है और जब अंत आता है तो नाटककार पाठकों को, और शायद अपने को भी, विस्मय-विभोर कर देता है।

इसी वर्ग के कुछ बाद के गीत-नाट्य भी हैं जिनमें कवि की गीतात्मक प्रतिभा पूर्णतः प्रस्फुटित हुई है। इनके नाम हैं 'कच और देवयानी', 'कर्ण और कुन्ती, और 'गान्धारी का आवेदन'। परवर्त्ती नाटकों से ये कृतियाँ इस प्रकार भिन्न हैं कि वे यदि गीतामक शैली में लिखे गए नाटक थे तो ये ऐसे गीत हैं जो तीव्र नाटकीय अंत-र्द्वन्द्व के क्षणों को अभिव्यक्त करते हैं। ये मानो गीतों के सरोवर में फेंके गए नाटकीय कंकर हों जिनसे लहरें उठकर तट तक फैले और फिर मंद, किरणोज्ज्वल क्षणों में अपने अस्तित्त्व को विलीन कर दे। प्रत्येक कृति का आरम्भ-विन्दु कोई नाटकीय क्षण होता है। अन्तिम विदा के पहले कच और देवयानी का अन्तिम मिलन, कर्ण का अपनी कुआँरी माँ कुन्ती से गुप्त रूप से मिलना और उनके जन्म के रहस्य का तीव्र नाटकीय उद्घाटन, और कुरुक्षेत्र के ऐतिहासिक युद्ध के आरम्भ में अन्य य-पूर्ण युद्ध को रोकने और सत्य तथा नैतिकता के उन्नयन के लिए गान्धारी का अन्तिम प्रयास। लेकिन इन नाटकीय प्रसंगों को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है वह गीता-त्मक विस्तृति का रूप है जिसके अंतर्गत तर्क को शांत, मंद गति से उपस्थित किया

गया है और भावना को उभारा गया है, शाश्वत नैतिक सत्यों का गंभीर उद्घाटन किया गया है जिसके मध्य नाटकीयता कभी-कभी ही प्रतिध्वनित होती है और वह भी ऐसे मंद और सहज भाव से कि सम्पूर्ण प्रभाव में कोई अन्तर नहीं दृष्टिगोचर होता। इन कृतियों में नाटकीय संस्पर्श के साथ-साथ उच्चकोटि के काव्य का समन्वय मिलता है—यत्र-तत्र भावावेग और अंतर्द्वन्द्व के दर्शन होते हैं। परन्तु ये कृतियाँ न तो नाट्य-रचना पद्धति के अनुसार हैं, न इनकी अपील मुख्यतः नाटकीय है। इनसे इतना पता चलता है कि कवीन्द्र की चित्तवृत्ति में नाटकीयता थी, उन्होंने नाटकीय प्रभावों का अन्वेषण तो किया परन्तु वे किसी प्रकार के कठोर नाटकीय अनुशासन से अपने आपको आबद्ध नहीं करना चाहते थे या किसी विशुद्ध नाटकीय लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उन साधनों को स्वीकार नहीं करना चाहते थे जिनमें कठोर नाटकीय संयम अपेक्षित हो।

रवीन्द्रनाथ ने कुछ समय के लिए नाटक के उस रूप का भी प्रयोग किया जिसमें पाँच अंको में घटना-क्रम अपनी चरम अवस्था तक पहुँचता है। लेकिन इस माध्यम को उन्होंने अपने मनोनुकूल नहीं पाया—यह इस बात से सिद्ध हो जाता है कि बहुत शीघ्र उक्त माध्यम का उन्होंने परित्याग कर दिया और ऐसे माध्यम को अपनाया जो उनका अपना कहा जा सकता है। 'राजा ओ रानी' (१८८७), 'विसर्जन' (१८८९), और 'मालिनी'—ये तीन नाटक ही ऐसे हैं जिनमें रवीन्द्रनाथ ने परम्परागत नाट्य-शैली अपनायी। इनमें भी वे प्रगीतात्मक भावना और आवेगों की नाटकीय अभिव्यक्ति को ठीक ढंग से सन्तुलित नहीं कर पाये हैं और उनका संवाद पात्रों के ठोस और मनोवैज्ञानिक अंकन की आवश्यकता से प्रेरित न होकर काल्पनिक और अत्युक्ति-पूर्ण हो गए हैं। ये विचारों के नाटक बन गए हैं, न कि किसी यथार्थ और अनिवार्य प्रसंग के।

'राजा ओ रानी' में विक्रम एक ऐसा राक्षस है जिसमें अहंकार कूट-कूट कर भरा है। प्रेम के क्षेत्र में उसकी आकांक्षाएँ विकृति की सीमा तक पहुँच जाती हैं। जब इन आकांक्षाओं का स्वप्न भंग होता है तो वह दूसरी सीमा पर जा पहुँचता है और ऐसे उन्माद से ग्रस्त हो जाता है कि अविवेकपूर्ण विनाश ही में मज़ा लेने लगता है। रानी सुमित्रा सद्विचारों वाली आदर्शोन्मुख नारी है लेकि न तोन उसका कोई व्यक्तित्व है, और न स्त्रियोचित सूक्ष्म आकर्षण जिससे अपने मतिभ्रष्ट पति को सुधारने के लिए वह भौथरे उपायों का अवलम्बन करती है। इस के विरुद्ध कुमार और इला के चरित्र हैं लेकिन ये कुछ घिसे-पिटे और जीवनहीन लगते हैं। उनके उद्गार काव्यात्मक है और व्यक्त भावनाएँ उच्चकोटि की परन्तु उनमें तदनुरूप क्रियात्मक विरोध की क्षमता नहीं। रक्तपायी विक्रम का चरित्र नाटक के अन्त में एक बार

फिर मोड़ लेता है, लेकिन तब इतना विलम्ब हो चुकता है कि उस दुःखद प्रसंग को नहीं बदला जा सकता जिसके शिकार निरपराध व्यक्ति होते हैं। सम्पूर्ण नाटक में उद्देश्य और साधन के बीच समस्या का अभाव लगता है और अपनाए गए तरीके त्रुटिपूर्ण एवं प्राप्त नतीजे अयथेष्ट हैं। महान शक्ति का प्रभाव, निश्चित उद्देश्य के अभाव के कारण, अंशतः क्षीण हो जाता है और नाटक का कोई स्पष्ट उद्देश्य या दिशा नहीं है।

'विसर्जन' अधिक सुगठित नाटक है और उसकी सामग्री का उपयोग अधिक सार्थकतापूर्वक हुआ है। इस नाटक में द्वन्द्व दो व्यक्तियों के बीच सीमित है। प्रत्येक अपने आदर्शों के प्रति कठोर है और मुख्य संघर्ष परवर्त्ती सम्बन्धों एवं विरोध के कारण उभरता है। राजा गोविन्द माणिक्य न केवल रघुपति से युद्ध करते हैं बल्कि उन्हें अपने ही शिविर में शत्रुओं का सामना करना होता है। रघुपति को अपने ही प्रिय शिष्य जयसिंह का संयत विरोध करना पड़ता है जो प्रभाव में अधिक दुःखद और मर्मान्तक है। मुख्य युद्ध बाह्य स्तर पर होता है और गौण युद्ध आन्तरिक स्तर पर। जयसिंह का आत्म-हनन रघुपति के हृदय को परिवर्तित कर देता है और वह कठोर परम्परा के मार्ग को त्याग कर मानवीय स्नेह, प्रेम और सहानुभूति के मार्ग पर चल पड़ता है। विरोधी शक्तियाँ प्रायः यान्त्रिक ढंग से एक दूसरे से भिड़ती हैं और स्वयं रघुपति की मर्मान्तक पीड़ा दुःखान्त अधिक न होकर नाटकीय अधिक है। जयसिंह का अन्तर्द्वन्द्व स्वरूप में दुःखान्त तो है, परन्तु घटनाक्रम में वैसा नहीं हो पाया है।

'मालिनी' हिन्दू और बौद्धों के बीच संघर्ष की एक कहानी है। परन्तु इतिहास से नाटककार कथा-सूत्र मात्र लेता है : जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण अप्रभावित रहता है। विरोधी शक्तियों का त्रिकोण क्षेमंकर, मालिनी और सुप्रिया द्वारा निर्मित होता है। दुर्बल क्षेमंकर, कभी इधर और कभी उधर अपने मन को दौड़ाता रहता है। और अन्त में वह बौद्ध धर्म को अपनाता है तो किसी विश्वास से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि मालिनी की सुन्दरता से आकर्षित होकर। दुर्बलतावश ही वह अपने मित्र और नेता के साथ धोखा भी करता है। क्षेमंकर एक और भी अधिक हठवादी रघुपति के समान है और शांत मधुरता एवं जीवन-दर्शनयुक्त मालिनी उस के योग्य नहीं है। विरोधी शक्तियाँ प्रायः असन्तुलित ढंग से वितरित की गई हैं। क्षेमंकर में वे अति केन्द्रित हैं और अन्य चरित्रों में क्षीण। क्षेमंकर और मालिनी के बीच संघर्ष पर अधिक ज़ोर न होकर क्षेमंकर और सुप्रिया के बीच संघर्ष पर अधिक ज़ोर दिया

जाता है। दो विरोधी जीवन-दर्शनों के बीच संघर्ष के बजाय वह दम्भ और प्रवंचना के विरुद्ध तीव्र और कटु अभियान बन जाता है। इस प्रकार दुखान्त संघर्ष कई दिशाओं में प्रभावित होता है जो नाटकीय संकलन के सिद्धान्त का अतिक्रमण है परंतु कुल मिला कर रवीन्द्रनाथ के इससे पहले के नाटकों से यह अधिक अच्छा नाटक बन पड़ा है।

रवीन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय उन अनेक हास्य-स्केचों द्वारा मिलता है जो अपूर्व शब्द-सामर्थ्य और कल्पना तथा वाक्-पटुता के कारण केवल प्रहसन के स्तर से बहुत ऊँचे उठ गये हैं। 'वैकुण्ठेर खाता' (१८९६) में एक ऐसे वृद्ध मनुष्य की मनोरंजक कमज़ोरियों का वर्णन है जो अपने मित्रों और परिचितों को अपने लेखक होने के विषय में बढ़-चढ़ कर बताया करता है। यह मित्र और परिचित-जन उसकी कृतियों की प्रशसा इसलिए किया करते हैं क्योंकि उसके द्वारा प्रदत्त धन के सहारे वे मौज करते हैं। उसका भाई अविनाश अपने भाई की कमज़ोरी की कठोर आलोचना करता है परन्तु वह स्वयं एक अन्य दुर्बलता का शिकार हो जाता है—अपनी प्रेमिका के कोमल व्यवहार का काल्पनिक एवं विशद वर्णन। उसके भाई के चतुर मित्र अविनाश की भी दुर्बलता का लाभ उठाते हुए उससे पैसे ऐंठते हैं। इस प्रकार उस विचित्र परिवार में विभिन्न हास्यास्पद घटनायें घटती हैं परन्तु इस सम्पूर्ण हँसी-खुशी के तले करुणा की अन्तर्धारा बहती है जो अन्ततोगत्वा हास्यात्मक तत्त्व पर विजयिनी होती है और पारिवारिक जीवन में सामान्य अवस्था पुनः ले आती है। 'चिरकुमार सभा' (१९२५) एक अन्य प्रहसन है जिसमें ऐसे तरुणों का वर्णन है जिन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत ले रखा है. परन्तु जो बहुत शीघ्र नारी के आकर्षण-जाल में उलझ जाते हैं। इस उलझन तक पहुँचाते हुये नाटककार ने मुक्त हास्य और सूक्ष्म वाक्-चातुर्य का परिचय दिया है। साथ ही जीवन के प्रति उत्साह और वार्त्तालाप की चतुरता का भी अच्छा दिग्दर्शन होता है। 'शेष रक्षा' (१९२८) में तीन विवाहों को दिखाया गया है ; विवाह होने के पहले विवाहेच्छुकों के मार्ग में विभिन्न प्रकार की बाधायें या भ्रम उपस्थित होते हैं; अनेक हास्यास्पद घटनायें घटती हैं जिनके अन्तर्गत छद्मवेश की घटना भी है परन्तु अन्त में सब बाधाओं की समाप्ति प्रसन्नतापूर्वक हो जाती है। इन सभी सुखान्त नाटकों की विशेषता चरित्र-चित्रण अथवा जीवन-दर्शन में नहीं है बल्कि शैली के सौंदर्य, उल्लासपूर्ण व्यंग, जीवन के प्रति आस्था और उस वाक्-पटुता में है जो हमें कुछ क्षणों के लिये जीवन के कठोर यथार्थ से दूर ले जाती है।

—५—

परन्तु नाटककार के रूप में रवींद्रनाथ का वास्तविक योगदान प्रतीक-नाटकों

की दिशा में है। ऐसे नाटकों में वे किसी दार्शनिक या आध्यात्मिक विचार को किसी बाह्य घटना या संघर्ष के माध्यम से व्यक्त करते हैं। इस प्रकार के नाटकों की सफलता इस बात में है कि बाह्य घटनाओं के पृष्ठ में किसी आंतरिक अभिप्राय का संकेत रहे और संकेतात्मकता का ऐसा वातावरण तैयार हो कि प्रयुक्त शब्दों से दर्शाए गए कार्यों में पाठकों को किसी गहरे रहस्यात्मक तात्पर्य का आभास मिले। संकेत किसी प्रत्यक्ष या मौंथरी रूपक-पद्धति द्वारा नहीं दिया जाता जिसमें एक स्तर की अभिव्यक्ति को दूसरे स्तर तक ले जाकर या कुछ निश्चित फार्मूलों द्वारा अन्योक्ति-जन्य तात्पर्य को पकड़ा जा सके। प्रतीक-नाटकों में संकेत अनिश्चित रहता है और वह शाब्दिक विवेचन का दास न होकर आंतरिक आभास का सहचर होता है। पाठक को ऐसा लगता है कि अभिधात्मक रूप से जो कुछ व्यक्त हो रहा है उससे अधिक कुछ है, कि प्रत्यक्ष अर्थ के पृष्ठ में कोई सूक्ष्म तात्पर्य निहित है, कि आँखों के सामने जो नाटक हो रहा है उसके पीछे कोई अन्य नाटक भी हो रहा है जो एक भिन्न तत्त्व का उद्घाटन कर रहा है। इस प्रकार के प्रतीक-नाटकों के लेखक के रूप में रवीन्द्रनाथ को महान् सफलता मिली है। अपने काव्यात्मक रहस्यवाद और अलौकिक जीवन-दर्शन और स्थूल जगत के ऐसे सूक्ष्म, कल्पनाशील वर्णन की क्षमता के कारण, जो आध्यात्मिक जगत का प्रत्यक्ष-दर्शन सा लगता है—वे इस प्रकार के नाटक लिखने में एकान्त रूप से सिद्धहस्त हो सके हैं। वे बाह्य संघर्षों के नाटककार नहीं हैं। वे उस आन्तरिक द्वन्द्व को चित्रित करते हैं जो अनन्त और अप्राप्य की आकांक्षा से मानव-हृदय को आन्दोलित करता है। उनके नाटक उनके गीतों से तत्त्वतः भिन्न नहीं है, भिन्नता केवल कला-शैली की है।

इन प्रतीक-नाटकों में सबसे प्रथम शरदोत्सव (१९०८) है। इसमें प्रकृति का आनंद विचारों के नाटकीय क्रम के ऊपर हावी हो जाता है। राजा ऋतु के उत्सवों में पूरी तरह डूब जाने के लिये साधु का छद्मवेश धारण करता है। पर उक्त अनुभव का कोई स्थायी प्रभाव अन्त तक शेष नहीं रहता और वह छद्मवेश त्याग कर फिर राज-प्रासाद के एकान्त और सम्मान के बीच लौट आता है। सार्वभौम आनन्द के वातावरण में भी अपने कार्य में संलग्नता को यह कह कर दार्शनिक आशय प्रदान किया गया है कि यही ऋण है जिसे चुका कर ही कोई मनुष्य आनंद के उत्तराधिकार का भागी हो सकता है, पर यह एक प्रसंग मात्र है, नाटक का केन्द्रीय उद्देश्य नहीं। यह नाटक वस्तुतः प्रकृति के सौंदर्य पर गीतात्मक उल्लास की अभिव्यक्ति है और इसमें नाटकीय तत्त्व स्पष्ट रूप में उभर नहीं पाये हैं।

'राजा' (१९१०) रवींद्रनाथ के प्रतीक-नाटकों में सर्वोत्तम और सबसे अधिक

प्रभावशाली है। इसमें वर्णित विषय है दिव्य सत्ता के विचार की गंभीर सत्यता एवं अनुच्छेदनीय रहस्यात्मकता। उस सत्ता की अनुभूति के लिए मानवात्मा के प्रयास को नाटक में पूरे आवेग और अन्तर्द्वन्द्व के साथ व्यक्त किया गया है, और ऐसे पात्रों द्वारा जो यद्यपि गंभीर आध्यात्मिक सत्यों को प्रतिबिंबित करते हैं, तथापि नितांत सजीव हैं। नाटक में आध्यात्मिक भावना को सजीव यथार्थ से आच्छादित करके प्रस्तुत किया गया है और आत्मा के द्वन्द्व को अंतर्निहित सूक्ष्मता या विचार से पृथक् रूप में विशद नाटकीय अपील के साथ, बाह्य क्रिया-कलाप द्वारा व्यक्त किया गया है। राजा के चरित्र में सौंदर्य और उदात्तता, सुकुमारता और संभ्रम और समय-समय पर भयोत्पादकता, और विभिन्न विरोधी गुणों का सामंजस्य दिखाया गया है। रानी सुदर्शना एक विचार मात्र नहीं हैं जो किसी छाया-चित्रण के पीछे दौड़ रही हो। वह मनमानी करने वाली हठीली नारी है जो अपनी कमनीय काया के के प्रति सजग है, अपने प्रियतम राजा के प्रति उसकी उदासीनता पर क्षुब्ध है और शान्त, आलोकित अन्तर्दर्शन की स्थिति तक पहुँचने के लिए उसे नर्क और ज्वाला से गुज़रना होता है। कांचिराज एक दृढ़चेता एवं आत्म-निर्भर व्यक्ति है जो जीवन में ईश्वर के स्थान की उपेक्षा करता है और जिस वस्तु की भी इच्छा उसके हृदय में जागती है उसे ही प्राप्त करने के लिए कोई भी उपाय करने को तत्पर रहता है। वह अन्ततोगत्त्वा पराजित होता है, पर अपमानित नहीं। उसमें प्रतीकात्मक और यथार्थ गुणों का अच्छा समन्वय हुआ है और रवींद्रनाथ के प्रतीक-नाटकों में आध्यात्मिक यथार्थ के विरुद्ध युद्ध छेड़ने वाले चरित्रों में उसका चित्रण सबसे अधिक सुगठित हुआ है। वसंत का उल्लास सम्पूर्ण नाटक पर छाया रहता है और आध्यात्मिक आकांक्षाओं को जीवन एवं मानवीय उल्लास से अभिषिक्त कर देता है। इसमें वर्णित ठाकुर दा का चरित्र अप्रासंगिक नहीं है। वह दिव्य सत्ता का प्रवक्ता और सन्देशवाहक है और नाटक के गीत नाटकीय उल्लास एवं गत्यात्मकता को भी व्यक्त करने वाले हैं।

'अचलायतन' (१९११) प्रतीक-नाटक अधिक न होकर रूपक है और इसमें आध्यात्मिक भावनाओं की गीतात्मक अभिव्यक्ति न होकर इसका स्वर व्यंग्यात्मक अधिक है। इसमें हिन्दू धर्म के उन पुराने रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड पर रवीन्द्रनाथ ने व्यंग किया है जो अर्थहीन तितिक्षा द्वारा मानवात्मा का पथ रुद्ध कर देते हैं और उसे यथार्थ जीवन प्रवाह के संस्पर्श से प्रथक् कर देते हैं। चरित्रों में केवल कुछ उन प्रत्यक्ष गुणों और स्पष्ट प्रवृत्तियों का समावेश है जो धार्मिक कट्टरता या अन्धविश्वास अपनाने वालों में पाई जाती हैं, लेकिन ये यथार्थ गुण नहीं कहे जा सकते। गुरू में, जिसके आगमन की प्रतीक्षा बड़ी आशा और रहस्यात्मकता के साथ की जाती है, दिव्यत्त्व का कोई अंश नहीं मिलता। विभिन्न लोगों के लिए वह विभिन्न रूपों में सम्मुख

आता है और इन विभिन्न रूपों को कष्टपूर्वक संकलित करने के बाद ही हम उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को पहचान सकते हैं। केवल व्यंग्यात्मकता एवं रूपक की प्रवृत्ति द्वारा, जिसका उद्देश्य प्रत्येक प्रसंग को एक विशिष्ट आशय प्रदान करना हो, एक प्रतीक-नाटक की सृष्टि नहीं की जा सकती।

'डाकघर' (१९११) एक अन्य नाटक है जो काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। परन्तु दूर-स्थित किसी वस्तु के लिए तीव्र आकांक्षा में वह तत्त्व नहीं है जो नाटक के लिए अपेक्षित होता है। नाटक में घटना का अभाव है। अन्य चरित्र या विभिन्न प्रसंग केवल अमल के अलौकिक स्वप्नों और आकांक्षाओं को तीव्रतर बनाने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। संवाद सभी दुःखद रोदन के समान लगते हैं; उनमें यथार्थ के प्रति असंतोष एवं दूरवर्त्ती अज्ञात के प्रति धुँधला, अनिश्चित आग्रह है जो नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व के अधिक निकट न होकर एक भावुकतापूर्ण निःश्वास के अधिक पास लगता है। राजदूत और राजवैद्य जैसे चरित्र किसी नाटकीय अनिवार्यता से निर्मित नहीं लगते बल्कि रुग्ण शिशु क अस्वस्थ स्वप्न की रचना से लगते हैं। अन्तिम दृश्य में बड़ी विशदता के साथ मृत्यु के भयावह रहस्य का उद्घाटन होता है। मृत्यु उन सब मानवों पर अपनी छाया डालती है जो रोगी-शैया के इर्द-गिर्द स्तब्ध प्रतीक्षा में खड़े और अज्ञात क आगमन की आशंका में उनकी साँसों तक का व्यापार जैसे बंद होने को है।

'फाल्गुनी' (१९१५) एक अन्य ऐसा नाटक है जिसमें गीतात्मक और नाटकीय तत्त्वों का अशोभन सामंजस्य मिलता है। इसमें एक गीतात्मक भावना को, जो वसंतागम पर उल्लास की एक कविता, अथवा तरुण प्रेम एवं आनंदमय जीवन की उन्मादकारी साँस के समान है, नाटक में प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु अपूर्ण सामंजस्य के साथ। गीतात्मक अंश को तो पाठक तुरन्त ग्रहण कर लेता है, पर नाटकीय तत्त्व पिछड़ जाता है और बहुत मंद गति से, प्रायः अनिच्छुक यात्री की भाँति आगे बढ़ता है। इसमें वर्णित समस्या है तरुणाई की मौत को ललकार और अन्त में तत्परतापूर्वक एवं प्रसन्नता से मौत के स्वागत द्वारा उसका अन्तिम विनाश। उद्देश्य सुन्दर है। परन्तु हमारी कल्पनाशीलता को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। कुछ भी हो, मौत कोई ऐसा भार नहीं है जिसे इतनी आसानी से उतार फेंका जाय। हम गीतों के पंखों के सहारे भले ही उससे ऊपर उठ जायें, नाटक के अश्व पर सवार हो कर हम उसके चंगुल से नहीं बच सकते।

'मुक्तधारा' और **'रक्त-करबी'** (१९२४) इस ढंग के दो नवीनतम नाटक हैं

जिनमें प्रतीकों द्वारा कवि ने आज के विश्व की आर्थिक और राजनीतिक अवस्था के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। पहले नाटक में साम्राज्यवादी शोषण के क्षेत्र को बढ़ाने के लिये विज्ञान और यंत्रों के दुरुपयोग को और उस अमानुषिक निर्दयता के विरुद्ध भावना और मानवीयता के स्तर पर मानवात्मा के विरोध को व्यक्त किया गया है। मशीन के अत्याचार को विभूति के चरित्र के माध्यम से व्यक्त किया गया है। विभूति यंत्र-वेत्ता है जिसे जनप्रिय शासक के प्रतिस्पर्धी के रूप में राज भी कहा जाता है। मानवात्मा के विरोध को अभिजित के चरित्र द्वारा व्यक्त किया गया है। अभिजित राजकुमार है जो यन्त्र में दोष का पता लगा कर जन-प्रवाह को शिवतराई की जनता के लिए मुक्त कर देता है लेकिन इस क्रम में स्वयं डूब जाता है। इसी भावना की अभिव्यक्ति धनंजय वैरागी के चरित्र द्वारा हुई है। वह गाँधीवादी है और शोषण के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का प्रयोग करता है। पुराने समय की हिन्दू राज्य-व्यवस्था और शासन के वातावरण में प्रायः उच्च नैतिक धरातल पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले राष्ट्रीय संघर्ष की प्रतिध्वनि सुनने को मिलती है। नाटक में प्राचीन ढाँचे में आधुनिक भावना सन्निविष्ट की गई है। सन्ध्यावकाश के धूमिल प्रकाश में अशुभ यंत्र विशालकाय और भयावह दैत्य के समान स्थापित है। शिव का प्राचीन मंदिर उसकी विशालता में दब गया है। शिव की स्तुति के मंत्रोच्चारण द्वारा यंत्राधिकृत विश्व में धर्म की सत्ता और शक्ति की अपराजेयता संकेतित है। नाटक में मानव की आवाज़ कई रूपों में गूँजती हैं: कभी हृदयवेधी क्रन्दन में, कभी मूक नैराश्य और असफल प्रतिरोध में, क्रान्तिकारी भावना के सहसा विस्फोट और भयावह चेतावनियों में, और अंततोगत्त्वा अत्याचार की शान्त स्वीकृति एवं भाग्य की आकस्मिकता से ऊँचे उठने के प्रयत्न-स्वरूप निर्वेद, दार्शनिक उड़ान में। इस नाटक में हम अनेक स्वरों का समवेत गुंजन और भावनाओं की बहुविध झंकार सुनते हैं जिसके मध्य प्रमुख विचार--अर्थात् मानव की दासता के अंत के लिए आत्म-विसर्जन—उतना स्पष्ट नहीं है जितना होना चाहिए था।

'रक्त करबी' कहीं अधिक सूक्ष्म नाटक है और जीवन में गहराई तक प्रवेश करता है। इसमें तरुणाई और सौन्दर्य का प्रतिरोध व्यक्त है। यह शैतान की पूजा के विरुद्ध है, यह ऐसे जीवन का चित्रण है जिसे पूँजीवादी स्वार्थ की सिद्धि के लिए अनुशासित और नियमित किया गया है। यह स्वार्थ इतना गहरा और अदम्य है कि प्रायः स्वभाव ही बन गया है। नाटक में यांत्रिक युग के एक राजा का चित्रण है जो अन्ध-कक्ष के राजा के समान ही है। वह एक तहखाने में रहता है, जिसमें जीवन-दायक स्वस्थ वायु का प्रवेश नहीं होता। वह लौह-जाल से घिरा है जिससे सूर्य के प्रकाश से आलोकित धरती की क्षणिक झलक उसे कभी-कभी मिलती है। राजा के

अन्दर जो शक्ति आवश्यकता से अधिक मात्रा में है उसके उपयोग का वह कोई रास्ता नहीं खोज पाता। इस प्रकार उसमें अंतर्द्वन्द्व का प्रादुर्भाव होता है। उसने दूर-दूर तक फैली शक्तिशाली नौकरशाही व्यवस्था का निर्माण किया है जो जीवन को एक कठोर शिकंजे में जकड़े रहती है और स्वस्थ भावनाओं के उन्मुक्त क्रिया-कलाप को अवरुद्ध रखती है। राजा इस व्यवस्था का बन्दी है। यह नौकरशाही ही जैसा चाहती है, जीवन को स्वरूप देती है एक जड़, अपरिवर्त्तनीय नमूने पर। और राजा स्वयं अपने द्वारा निर्मित इस व्यवस्था के विरुद्ध कुछ भी कर सकने में असमर्थ है। इस बन्द और घुटन वाले कारागृह में सहसा एक आलोक-किरण का प्रवेश होता है। यह नन्दिनी है। नन्दिनी जीवन की उल्लासमयी गत्यात्मकता की प्रतीक है। रंजन के रूप में आशा के दर्शन होते हैं। रंजन प्रेम और सौंदर्य की अप्राप्त अभिलाषा का प्रतीक है। रंजन के बिना नन्दिनी का व्यक्तित्व अधूरा है। जिस लाल कनेर को वह अपने परिचय-चिह्न के रूप में साथ रखती है वह वस्तुतः उस भावना का ही रक्तवर्ण प्रतीक है जो अपने विच्छिन्न अर्धांश के अन्वेषण में रत है। वह जहाँ कहीं जाती है, जीवन के प्रति उल्लास और नवीन रुचि लेकर जाती है, जब वह निकट जाती है, और उसे छूने के लिए अपना हाथ बढ़ाती है, स्वयं राजा भी सींखचों के पीछे अपने को आन्दोलित अनुभव करता है। रंजन नाटक में यद्यपि एक बार भी सामने नहीं आता, तथापि वह सारे घटना-चक्र पर छाया हुआ है। नौकरशाही द्वारा, जो सभी प्रकार की उदात्त और उन्मुक्तिकारी शक्तियों के प्रति तीव्र वितृष्णा से युक्त है, रंजन को खत्म कर दिया जाता है। रंजन के मरते ही संकट टूट पड़ता है। पश्चात्ताप से प्रेरित होकर राजा अपने तहखाने से बाहर निकल आता है और नौकरशाही के विरुद्ध नन्दिनी तथा जनता से जा मिलता है। प्रलय की आँधी में यांत्रिक सभ्यता टूट गिरती है और एक बार फिर मानवात्मा उन्मुक्त और प्रफुल्ल होकर उभरती है। 'रक्त करबी' एक महान नाटक है जिसमें मानव की मुक्त आत्मा और मानव-भावना को बंदिनी बनाने के लिए यत्नशील औद्योगिक सभ्यता की अवरोधात्मक शक्तियों के बीच संघर्ष छिड़ता है। पात्रों का चित्रण अपूर्व आध्यात्मिक अंतर्दर्शन के साथ हुआ है। रचनाकार की दृष्टि गहरी और स्पष्ट है; जीवन की उन धुँधली अविज्ञात शक्तियों को, जो चरमसीमा तक पददलित और दमित होकर सहसा विस्फोटक ढग से भड़क उठती हैं, नाटककार ने अभूतपूर्व रूप से पहचाना और प्रस्तुत किया है। इसमें एक भविष्यद्रष्टा की अंतर्दृष्टि है, एक कवि का सुनिश्चित जीवन-दर्शन है, और उस नाटकीय घात-प्रतिघात का सफल एवं तीव्र समावेश है जो एक विशुद्ध भौतिक सभ्यता के, जो मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष का दमन करती है, अनिवार्य अंत के रूप में व्यक्त होता है। प्रतीकों को बुद्धिगम्य बनाना या परिभाषा में बाँधना सम्भव नहीं।

फिर भी वे वास्तविक और प्राणवान हैं और उन अपरिभाषित आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं जो मानवता की जीवन-शक्तियाँ हैं।

--६--

(२) रवीन्द्रनाथ का विवेचन करने के बाद हम फिर उसी वर्गीकरण की ओर लौटेंगे जिसका निर्देश आरम्भ में किया गया था। हम उन ऐतिहासिक नाटकों पर विचार करेंगे जो १९०५ में बंग-भंग आन्दोलन के फलस्वरूप बंगला साहित्य में आये। मधुसूदन ने सन् (१८६१) में कृष्णाकुमारी लिखकर ऐतिहासिक दुखान्त नाटकों का सूत्रपात किया। क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद ने प्रतापादित्य (१९०३) लिखकर मार्ग दिखाया। इसके बाद ही पद्मिनी (१९०६), अशोक (१९०७), चाँद बीबी (१९०७), बंगलार मसनद (१९१०) और आलमगीर (१९३१) लिखे गए। इन सभी ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य था देशभक्ति की भावना को जागृत करना, अत्याचारी विदेशियों के विरुद्ध घृणा जगाना और राष्ट्रीय सम्मान की रक्षार्थ जिन राष्ट्रनायकों ने प्रतिरोध किया उनका गुण-वर्णन। उक्त उद्देश्य की पूर्ति की नाटककारों में इतनी तीव्र आकांक्षा थी कि उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों की सच्चाई, स्वाभाविकता के तकाज़े और घटना-क्रम के सम्भावित स्वरूप तक की उपेक्षा की। नाटककारों का मुख्य उद्देश्य किसी प्रकार के स्थायी नाटकीय मूल्यों की स्थापना न होकर दर्शकों पर तात्कालिक प्रभाव डालना था। अतः इस काल के ऐतिहासिक नाटकों में आलंकारिकता, अति-नाटकीयता, नाटकीय औचित्य की चिन्ता किए बिना देशभक्ति की भावना का उद्रेक करने वाले सम्वाद, भावुकता का अनियन्त्रित प्रवाह आदि बातें पाई जाती हैं। क्षीरोदप्रसाद के नाटक 'प्रतापादित्य' का बड़ा गहरा असर तत्कालीन बंगाली नवयुवकों पर पड़ा लेकिन इस नाटक में न तो चरित्र-चित्रण उत्कृष्ट कोटि का है, न ऐतिहासिक घटना-क्रम की यथार्थ पकड़ है। प्रतापादित्य में घटना-क्रम एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग तक लड़खड़ाता हुआ निरुद्देश्य बढ़ता है और चरम सीमा तक ऐसी परिस्थितियों द्वारा पहुँचता है जो नायक के चरित्र में बद्धमूल न होकर बाह्य हैं। वह किसी भी रूप में दुखान्त नाटक का नायक नहीं है क्योंकि वह पूर्णतः घटना-प्रवाह द्वारा अनुशासित है। उसकीविजया, जो मातृभूमि की प्रतीक है, देवी और मानवी का विचित्र मिश्रण है। नाटक के अन्त में कोई गहरी सम्वेदना जागृत नहीं होती क्योंकि लेखक अपनी सम्पूर्ण लेखन-क्षमता आरम्भिक भाग पर ही समाप्त कर देता है। आलमगीर क्षीरोदप्रसाद का एक बड़ा सफल नाटक है जिसमें इतिहास का स्थान चरित्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण ने लिया है। यह एक द्विविध व्यवितत्त्व के विश्लेषण का नाटक है। इसमें आलमगीर और उदयपुरी बेगम के पारस्परिक मनःसंघर्ष को दिखाया गया है। महान् सम्राट्

आलमगीर को उसके पारिवारिक जीवन के बीच रख कर उसे एक ऐसे मानवीय रूप में प्रदर्शित किया गया है जो दुर्बलताओं से ग्रस्त है, दुःस्वप्नों से पीड़ित है, जो अपने पूर्व-कृत दुष्कर्मों का शिकार है जिनके कारण उसकी सारी शक्ति क्षीण हो चुकी है और नींद हराम। उसकी हठवादिता उसकी इच्छाशक्ति की दुर्बलता को छिपाने वाला एक पर्दा मात्र है। उदयपुरी बेग़म अपने पति को निकट से देख चुकी है। वह उसकी कमज़ोरियाँ से भली-भाँति परिचित है और जब कभी वह मनमानी का निरंकुश कार्य करना चाहता है, वह अपने उक्त ज्ञान का लाभ उठाकर उस पर अंकुश रखती है। बाहरी और भीतरी शत्रुओं से घिरा हुआ बेचारा सम्राट्—जिसकी बेगम और शाहज़ादों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर रखा है, जिसकी लौह-इच्छाशक्ति क्षीण हो चुकी है—अंततोगत्त्वा परिस्थितियों के आगे घुटने टेक देता है और उसे राजा राजसिंह से अपमानजनक संधि करनी पड़ती है। लेकिन नाटककार ने हिन्दुओं से घृणा और उन पर अत्याचार करने वाले इस सम्राट् के मुख से हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्बन्धी उच्च विचार कहलाए हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है और वह सब केवल उन दर्शकों की वाह-वाह पाने के लिए लिखा गया है जिनकी दृष्टि में साम्प्रदायिक एकता एक ज्वलन्त समस्या थी। लेकिन इस सब अतिशयोक्ति-पूर्ण भावुकता और असंभव घटनाओं के बावजूद आलमगीर चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक अद्वितीय नाटक है और उसका क्षेत्र ऐतिहासिक न होकर वैयक्तिक है जहाँ मनाबलों का घात-प्रतिघात होता रहता हैं।

गिरीशचन्द्र घोष रंगमंच के अभिनेता और व्यवस्थापकों और सार्वजनिक रुचि के प्रत्येक परिवर्तन के अनुकूल अपने आप को ढालने में अत्यन्त पटु थे। अतः ऐतिहासिक नाटकों की जनप्रियता को उन्होंने पहचाना और कई ऐतिहासिक नाटक लिखे, यथा सिराजुद्दौला (१९०३), मीर कासिम (१९०६), और छत्रपति शिवाजी (१९०७) जिसकी बहुत अधिक प्रसिद्धि हुई। जो भी नाटककार देश-भक्ति की भावना को जागृत करना चाहता था उसके लिए सिराजुद्दौला का जीवन बहुत उपयुक्त नाटकीय मसाला था। नवयुवक नवाब को एक देश-भक्त और आदर्शवादा के रूप में चित्रित किया गया है जिसे कूटनीति के दाँव-पेच का कोई अनुभव नहीं। वह विदेशी प्रभुता के ख़तरे के विरुद्ध सामान्य-जन का प्रवक्ता है। वह प्रवंचना और देश-द्रोह के विरुद्ध खड़ी होने वाली ताक़तों का मुखिया है। इतिहास ने उसके चरित्र पर जो भी कलंक लगाए उन सब को नाटक में धो दिया गया है और यदि अवस्था में उसमें कुछ दोष आ भी गए थे तो उसके असामयिक दुःखद अन्त को देखकर उत्पन्न होने वाली वेदना उसके विरुद्ध भावनाओं को सर्वथा धो-पोंछ देती है। जवाहरा दुर्भाग्य के निर्दय चक्र की प्रतीक है जो अभागे सिराज के साथ उसके अन्तिम

क्षण तक रहती है। वही केन्द्र विन्दु है जिसके इर्द-गिर्द सिराज के सभी शत्रु जुटते हैं और सिराज के विरुद्ध एकत्र होने वाली ऐतिहासिक शक्तियों की संख्या-वृद्धि करते हैं। ये ऐसे घरेलू शत्रु हैं जिनका महत्त्व गहनतर है और प्रतिशोध उचिततर । जवाहरा एक अतिनाटकीय चरित्र है जो ऐसे दुर्वचनों का उच्चारण करती है जिन्हें सुनना बंगाली दर्शकों को प्रिय लगता है क्योंकि शाब्दिक लपट-झपट में वे खास मज़ा खाते हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र करीम चाचा का है, जो प्रायः दार्शनिक-सा व्यक्ति है, जो समय रहते सिराज के गले में फंदा कसते हुए देखता है और उसे मैत्रीपूर्ण चेतावनी देता है, यद्यपि उसका कोई फल नहीं होता। नाटक असफल है क्योंकि उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसमें इतनी अधिक घटनाओं को एक साथ समोने का यत्न किया गया है कि नाटकीय प्रभाव नष्ट हो गया है इतिहास को भी इसमें झुठलाया गया है। काल्पनिक चरित्रों को ऐतिहासिक चरित्रों से अधिक महत्त्व दिया गया है और नाटकीय औचित्य की कीमत पर देशभक्ति की भावना को उभारा गया है।यह ऐतिहासिक नाटक न होकर अनुक्रम-नाटक अधिक है।

द्विजेन्द्रलाल राय के आगमन के साथ ऐतिहासिक नाटक अपने पूरे गौरव पर पहुँच गया। उन्होंने भी देशभक्ति की भावना का पूरा लाभ उठाया। तत्कालीन सभी नाटककारों में द्विजेन्द्रलाल ही ऐसे थे जो शेक्सपियर से पूर्णतः प्रभावित थे और पाश्चात्य नाटक-रचना पद्धति से परिचित थे। यद्यपि उनका नाटकीय ढाँचा शिथिल रहता है और उसमें ठोसपन की कमी रहती है, फिर भी एक भावात्मक और कथात्मक शैली पर उनका पूरा अधिकार है और वे किसी भी भावना को सम्पूर्ण तीव्रता के साथ व्यक्त कर सकते हैं। नाटकीय प्रसंगों की उनकी पकड़ भी सूक्ष्म है। उनके चरित्र भी यद्यपि प्रायः नीरस लगते हैं, तथापि उनका अपना व्यक्तित्व होता है और वे ऐतिहासिक घटनाओं के प्रवाह में बहने वाले तिनके मात्र नहीं होते। उनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से बड़े प्रभावोत्पादक होते थे और जब वे पहले-पहल अभिनीत हुए थे तो उनकी भावनात्मक अपील अत्यधिक तीव्र थी—उनकी उच्चकोटि की साहित्यिकता और नाटकीय गुणों के कारण आज भी उनका समादर है। ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में वे सम्भवतः अकेले ही नाटककार हैं जिन्होंने अनेक सामयिक एवं मिट जाने वाली बातों के बावजूद ऐसे स्थायी तत्त्वों का समावेश किया है जिनके कारण भविष्य के लिए उनकी कृतियाँ सुरक्षित हो गई हैं। उन्होंने आने वाले नाटककारों के लिए ऐतिहासिक नाटक के रूप और पद्धति का निर्धारण भी कर दिया।

द्विजेन्द्रलाल के ऐतिहासिक नाटक हैं **'राणा प्रताप'** (१९०५), **'दुर्गादास'** (१९०६), **'नूरजहाँ'** और **'मेवाड़ पतन'** (१९०८), **'शाहजहाँ'** (१९०९) और **'चन्द्र-**

गुप्त' (१९११) **दुर्गादास** और **'मेवाड़पतन'** देशभक्ति की भावना से युक्त नाटक हैं जिनमें नाटकीय संकलन और प्रभावशाली चरित्र-चित्रण का अभाव है। मुख्य चरित्र देशभक्ति की भावना का उद्घोष करने वाले पात्र मात्र हैं जिनके ज़रिए से राष्ट्रीयता की भावना को गुंजरित किया जा सके, शेष तीनों नाटकों में चरित्रों की उठान मजबूत है उन पर ऐतिहासिक घटनाओं का प्रभाव पड़ता है और वे स्वयं उन घटनाओं को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार वे वह विन्दु हैं जिन पर ऐतिहासिक भावना केन्द्रित होती है और निश्चित स्वरूप धारण करती है। नूरजहाँ एक जटिल चरित्र है जो जहाँगीर को प्यार भी करती है और घृणा भी। वह अपने पहले पति को, जिसकी हत्या कर दी गई है, भूल नहीं पाती; यद्यपि वह स्वयं उसे अपनी राह से हटाना चाहती थी। वह इतिहास के पट पर एक भड़के हुए ज्वालामुखी के समान गतिशील है। अपने दाएँ-बाएँ वह राख और पिघला लावा बिखराती चलती है और अपनी अन्तरात्मा के बवण्डर को बहिर्गत करने के लिए ऐतिहासिक तूफ़ान का सहारा लेती है। नूरजहाँ एक अनिवार्य दुर्भाग्य की शिकार है जो उसकी सुकुमार, स्त्रियोचित भावनाओं को शुष्क कर देता है और उसे राक्षसी बना देता है। नाटक में सबसे अधिक भयावह वह दृश्य है जब नूरजहाँ अन्तिम रूप में देवों और मानवों द्वारा प्रतिहत होती है और अपना राजदण्ड मानवीय शत्रुओं को एवं नारीत्व का सम्मान दैवी प्रतिकार को सौंप देती है। अपनी स्थिरता के बीच भी जहाँगीर के चरित्र की अपनी विशिष्टता है। उसका मद्यपान का स्वभाव और शाहजहाँ के सौन्दर्य के प्रति अदम्य समर्पण केवल पार्थिव वासना से प्रेरित नहीं हैं। वह आत्मा की पुकार और नितान्त नैराश्य की भावना को विस्मृत कर देने का मधुर उपाय है। नूरजहाँ की बेटी लोयोला अंशतः उसकी प्रेरक और अंशतः विपरीत स्वभाव वाली है और उसी के हितकर-प्रभाव के कारण नूरजहाँ चरम एवं अनात्म्य विनाश से बच जाती है।

शाहजहाँ :—द्विजेन्द्रलाल राय का सबसे अधिक जनप्रिय नाटक है। शाहजहाँ का चरित्र, जो वैविध्यपूर्ण एवं महान कष्ट-सहिष्णुता के कारण गौरव का पद प्राप्त करता है, एक अद्वितीय सृष्टि है। उसकी आत्म-पीड़ा और क्रन्दन में हमें शेक्सपियर की अनुगूँज सुनाई देती है। वह नायक है न कि औरंगज़ेब की भाँति प्रवंचक और देशद्रोही। यद्यपि औरंगज़ेब एक अत्यधिक क्रियाशील चरित्र है और नाटक के अधिकांश प्रसंगों का जन्मदाता, पर इन प्रसंगों का पूरा ज़ोर शाहजहाँ झेलता है और प्रत्येक कष्ट द्वारा, जो उसे सहना पड़ा है, उसका व्यक्तित्त्व निखरता जाता है। जीवन और प्रकृति में जो कुछ भी महान है, वैयक्तिक जीवन की सीमाओं को लाँघ कर शाहजहाँ उसी महान से समरसता प्राप्त करता है। ऐतिहासिक दुखान्त नाटकों का वह महानतम

नायक है और नैतिक नियमों की उलट-फेर के अनुभव की दृष्टि से शेक्सपियर के 'किंग लियर' का मुकाबला करता है। अन्य चरित्रों में जहाँनारा की महानता औरंगज़ेब का विरोध करने के कारण नहीं है बल्कि इसलिए कि वह अपने पिता के दुख-दर्द में साथ रहती है। औरंगज़ेब का चरित्र भी उत्कृष्ट हुआ है लेकिन ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में उसका चित्रण अधिक उभरता है और उसकी वैयक्तिकता को दबा देता है। जब-तब उसके मन की द्विविधा और अंतिम भाग में उसका अपने पिता से क्षमा-याचना करना नाटककार की कल्पना से प्रसूत घटनाएँ लगती हैं, चरित्र की स्वाभाविक प्रतिक्रिया नहीं। यह प्रत्येक शाही खानदान के शाहज़ादों के दुर्भाग्य की घटनाओं का संकलन-सा लगता है, किसी पूर्व-निर्धारित चरम स्थिति तक पहुँचने वाला सुगठित नाटक नहीं। दारा, शुजा, सुलेमान....सभी के अपने-अपने दुर्भाग्य हैं लेकिन इन्हें शायद ही महान् दुखान्त प्रसंग कहा जाये।

चन्द्रगुप्त में बाह्य संघर्ष का स्थान शीघ्र ही चाणक्य की आत्मा का संघर्ष ले लेता है। वस्तुतः नाटक में जो भी उथल-पुथल है वह चाणक्य के कारण होती है, और इतिहास-चक्र उसी के भावावेगों द्वारा निर्धारित मार्ग पर चलता है। पहले ही दृश्य में उत्कृष्ट नाटकीय तनाव का चित्रण है और इसे चाणक्य के अपमान और बदला लेने की प्रतिज्ञा द्वारा कायम रखा गया है। चन्द्रगुप्त कमोवेश चाणक्य की योजनाओं को कार्य रूप देने वाला यंत्र मात्र है। वह चन्द्रगुप्त को अपने भाई की हत्या के लिए राज़ी करने के लिए उसकी माता का सहारा लेता है और राज-सत्ता को मज़बूत बनाने पर सम्राट को भला बुरा कहता है। चाणक्य विशुद्ध बुद्धिवादी है। उसके लिए भावना का कोई स्थान नहीं। अतः उसे कष्टदायक आन्तरिक शून्यता का अनुभव होता है पर वह नहीं समझ पाता कि कैसे शून्यता को भरा जाय। दीर्घ काल से खोई हुई अपनी पुत्री को पाने पर उसके जीवन का क्रम बदलता है और अवरुद्ध भावावेग उमड़ कर उसे डुबो देता है। नाटक के प्रेम-प्रसंग निर्जीव और पिष्ट-पेषित हैं। चाणक्य का चरित्र नाटक के अन्य चरित्रों को दबा लेता है और हमें ऐसा लगने लगता है कि चरित्रों को संतुलित ढंग से नहीं संजोया गया है। नाटक के जो भी प्रसंग चाणक्य का स्पर्श नहीं करते वे अप्रासंगिक लगते हैं और हमें ऐसा लगता है कि यदि वे चाणक्य के इर्द-गिर्द गतिमान होते तभी सार्थक होते।

द्विजेन्द्रलाल के बाद बंगाल में ऐतिहासिक नाटक का प्रवाह मंद और अनुल्लेखनीय रहा। आधुनिक नाटककारों में सचीन सेनगुप्त के 'सिराजुद्दौला' 'गैरिक पटक' 'राष्ट्र विप्लव' और 'धात्री पन्ना'; महेन्द्र गुप्त के 'टीपू सुलतान' और 'रणजीतसिंह'; निशिकान्त वसु के 'वंगे वारगी' और योगेश चौधरी के 'दिग्विजयी' का उल्लेख किया जा

सकता है। इन सब में कुछ न कुछ नाटकीय गुण हैं लेकिन कुल मिलाकर यह मानना पड़ेगा कि इन ऐतिहासिक नाटकों में कोई ध्यान देने योग्य नयी विशेषता का विकास नहीं हुआ और वे स्थिर और अगतिशील हैं।

(३) अब हम धार्मिक नाटकों पर विचार करेंगे जो प्रायः वर्तमान काल तक अटूट रूप से लिखे गए हैं। हिन्दू-मन पर आज भी धर्म का जादू चलता है और दर्शकों की इस अटूट रुचि को देखते हुए बड़ी संख्या में नाटक लिखे गए। धार्मिक नाटकों के लेखकों के सन्मुख एक समस्या यह है कि धर्म की संगति संदिग्धताग्रस्त वैज्ञानिक युग की विचारधारा से कैसे बिठाई जाय। मनोविज्ञान और विश्वास के पोषण के लिए पुराने चमत्कारों को बिना संशोधन-परिवर्द्धन के प्रस्तुत किया जाता है। देवी-देवता मुक्त रूप से मानवीय पात्रों से मिलते हैं और मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। भक्तों की विनय के उत्तर में दैवी शक्तियों के सहसा प्रादुर्भाव का करतल ध्वनि से स्वागत होता है और दर्शकों की स्वाभाविक प्रत्याशा की परितुष्टि होती है। आवश्यकता होती है केवल प्रकृति सौन्दर्य और वेश-भूषा की भव्यता और चमक-दमक की। शेष दर्शकों की विश्वास-वृत्ति पर छोड़ा जा सकता है।

अतः मनोविज्ञान की चिन्ता किए बिना और आधुनिक मन को विश्वास दिलाए बिना नाटककार पुराणों के किसी भी प्रसंग को नाटक में समाविष्ट कर देता है और उक प्रसंग में धार्मिकता का रंग जितना ही गहरा हो, उतना ही अच्छा। श्रेष्ठतर नाटककार विशुद्ध चमत्कार या अमानवीय घटनाओं पर अधिक बल न देकर मानवीय भावनाओं और शैली की कालगत विशेषताओं एवं प्रवाह की ओर अधिक ध्यान देते हैं। पर मानवीय और मानवोपरि के बीच की खाई पाटने की आवश्यकता का अनुभव वे नहीं करते; न ही उन्हें वातावरण के संकलन की चिन्ता रहती है। और महाकाव्यों के नायकों, धर्म-प्रवर्तकों और संतों के जीवन, पुराणों के प्रसंग, राधा-कृष्ण के जीवन-प्रसंग जिनके अंतर्गत ऐसे प्रेम-प्रसंग आते हैं जिनमें भक्ति का स्पर्श मात्र होता है, यहाँ तक कि रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द की जीवन-घटनाएँ भी इन नाटककारों को आकर्षित करती हैं।

इस प्रकार के नाटक लिखने वालों में गिरीशचन्द्र घोष का स्थान सर्वोपरि है और इसका कारण है उनका रामकृष्ण परमहंस से प्रभावित होना। 'बिल्वमंगल' (१८८८) उनका सबसे महान भक्ति-नाटक है जिसमें लौकिक प्रेम की अलौकिक प्रेम में परिणति का शक्तिशाली चित्र है। अलौकिक में यह परिणति मानव-मनोभावनाओं के गहन आन्दोलन द्वारा, जो मनोवैज्ञानिक और तीव्र नाटकीय घात-प्रतिघात के अनुकूल है, घटित होती है। 'जना'

(१८९४) एक अन्य प्रसिद्ध नाटक है जिसमें एक दुखी माता की मर्मस्पर्शी वेदना है । 'पाण्डव-कौरव' (१९००) में पुराणों के एक ऐसे प्रसंग का चित्रण है जिसमें पाण्डव कृष्ण के विरुद्ध हो जाते हैं क्योंकि उन्होंने दण्डी को शरण में ले रखा है । भीम और द्रौपदी के चरित्र श्रीकृष्ण के विरुद्ध पश्चात्तापपूर्ण संकल्प-युक्त हैं : वे प्रभु के विरुद्ध कोमल और प्रिय उपालम्भ-युक्त हैं । क्षीरोद विद्याविनोद कृत 'भीष्म' (१९१३) और 'नर-नारायण' (१९१६) महाभारत के युद्ध-प्रसंगों के नाटकीय रूपान्तर हैं और आज भी उनमें प्राणवत्ता और अपील है । योगेश चौधरी का नाटक 'सीता' (१९२४) एक अन्य उल्लेखनीय नाटक है जिसमें सीता-परित्याग की नैतिक समस्या को आधुनिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न है । शिशिरा भादुड़ी की महान अभिनय-कला का सहारा पाकर इस नाटक ने गहरा असर छोड़ा है और इसमें मानव-मनोभावनाओं का हृदय-द्रावक चित्रण है ।

आधुनिक काल में बँगला नाटक की कोई विशेष सफलता दृष्टिगोचर नहीं हुई है । पुराने विषयों पर जो कुछ लिखा जा सकता या लिखा जा चुका है और नये विषयों को नहीं खोजा गया । जीवन अपनी प्राचीन जड़ों से विच्छिन्न हो गया है । महान और शाश्वत आदर्श दूर जा चुके हैं । गहन संवेदनाओं का स्रोत सूख चुका है । आज हम इस क्षण से उस क्षण तक लुढ़कते-लड़खड़ाते हुए बढ़ रहे हैं । हमारे जीवन की दिशा आर्थिक आवश्यकताओं द्वारा निर्दिष्ट होती है । हमें जीवन के कठोर संघर्ष का सामना करना पड़ता है । हमारा जीवन अधिकाधिक बिखरता जा रहा है—वह नये विचारों और नई सूचनाओं को ग्रहण करता जा रहा है पर उन्हें एक सुगठित सम्यक स्वरूप नहीं दे रहा है। निस्संदेह हमारे जीवन में महान्, उल्लासपूर्ण क्षण भी आते हैं । ये ऐसे अनुभूत क्षण हैं जो सामान्यतः नीरस, नियमबद्ध अस्तित्त्व को सहसा विश्रान्ति देते हैं। पर ये केवल आकस्मिक, असम्बद्ध उल्लास हैं जो जीवन-दर्शन नहीं बन पाते, एक व्यापक जीवन-व्यवस्था और आदर्श नहीं बन पाते । हमारे जीवन को विस्तार तो मिला है पर गहराई और भावनात्मक तीव्रता हमने खोई है । कोई समस्या, जिसका सामना हमें आज करना होता है, पाँच अंकों के नाटक की विस्तृत और सघन परिधि में कस बँध कर नहीं प्रस्तुत हो पाती । वह एकांकी के छोटे दायरे में ही आती है । यही कारण है कि हम आज छोटे दायरे के नाटकों की भरमार देख रहे हैं । ये एक से लेकर तीन अंकों तक के नाटक होते हैं । मन्मथ राय ने, जो अपेक्षाकृत तरुण नाटककार हैं, एकांकियों का एक संग्रह निकाला है जिसमें उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली है एवं और अधिक आश्चर्यजनक सम्भावनाएँ निहित हैं । ये ऐसे एकांकी हैं जो रंगमंच की बजाय बंद कमरे में खेले जा सकें, लेकिन इस

सीमा के अन्दर उनमें नाटकीय घात-प्रतिघात सर्वोत्तम रीति से उभरा है। उन में भावनाओं का क्षणस्थायी पर ज्वलंत संघर्ष है, और घटनाएँ तेजी से आगे बढ़ती हुई चरम बिन्दु तक पहुँचती हैं। मेरे विचार से ये नाटक भविष्य के नाटकों की दिशा के संकेत-वाहक हैं। इस बीच नाटक अपने अनिश्चित, प्रयोगात्मक मार्ग पर बढ़ता जा रहा है। वह नये अवसरों की प्रतीक्षा में है। वह ऐसे परिवर्तित जीवन-रूपों की प्रतीक्षा में है जो उसे नये उद्देश्यों और आदर्शों के रूप में स्थिर आधार प्रदान करेंगे।

असमिया नाटक

—डॉ० प्रफुल्ल गोस्वामी

असमिया नाटक का इतिहास शंकरदेव (१४४६-१५५८) के नाम से सम्बद्ध 'अंकिया नाट' प्रकार के नाटकों से प्रारम्भ होता है। यह ज्ञात नहीं कि किस कारण शंकरदेव ने इस प्रकार-विशेष को अपनाया। चिह्न-जात्रा का निर्माणकाल भी किंचित् विवादास्पद है। इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने इसका निर्माण उन्नीस वर्ष की अवस्था में किया अथवा अपनी उस लम्बी तीर्थयात्रा के पश्चात् जिसका समय १६ वीं शती का प्रारम्भ माना जाता है।

शंकरदेव की इस प्रथम नाट्य-कृति के प्रदर्शन की भी बड़ी रोचक कथा है। रामचरण ठाकुर (१६००) द्वारा लिखित उनकी जीवनी से पता चलता है कि एक संन्यासी उन्हें चित्रकला की शिक्षा दिया करता था। चिह्न-जात्रा के प्रदर्शन के हेतु शंकरदेव ने सातों बैकुण्ठों को पट पर चित्रित किया, नर्तक तैयार किये और दवी चरित्रों के योग्य रथ और मुखौटे बनाये। यह नाटक अभी अप्राप्य है यद्यपि इस सन्त नाटककार द्वारा लिखित कोई भी महत्वपूर्ण रचना नष्ट नहीं हुई है। यदि कुछ नष्ट भी हुआ है तो भी उसके अस्तित्व के प्रमाण हमें मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटक लिखा ही नहीं गया था क्योंकि इस नाटक का मुख्य विषय स्वर्ग और देवता थे जिन पर कथन, गीत और नृत्य द्वारा प्रकाश डाला जाता था। 'जात्रा' शब्द भी साभिप्राय है। परन्तु चित्रों का प्रयोग और "पट" शब्द हमें यम-पट्टिकाकारों का स्मरण कराते हैं जो यमपुरी के दृश्यों को पटों पर चित्रित कर आवश्यक टीका सहित प्रदर्शित किया करते थे। इस कलात्मक परम्परा के दर्शन हमें बाणभट्ट के हर्षचरित और विशाखदत्त-रचित मुद्राराक्षस जैसे महान् संस्कृत ग्रन्थों में मिलते हैं।

आगे चलकर यमपुरी के दृश्यों के प्रदर्शन की परम्परा पर राम और कृष्ण की लीलाओं का प्रभाव पड़ा जिससे राम और कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध दृश्यों का प्राधान्य होने लगा। इस कला के लिये बंगाल और उड़ासा के पटुवे प्रसिद्ध हैं। इनके बनाये सौ वर्ष से भी पुराने चित्र मिले हैं जिनके लिये कपड़े का कम और कागज़ का अधिक प्रयोग किया गया है। १० अक्तूबर १९४८ के 'दी इलस्ट्रेटिड

वीकली ऑफ़ इण्डिया' में कुछ चित्र प्रकाशित हुये हैं जिनमें जगन्नाथ के मंदिर का एक दृश्य और कुछ रामलीलायें प्रदर्शित की गई हैं। औसत से एक पट १२ से १६ फुट तक लम्बा होता है। चौड़ाई में दो-दो फुट की पट्टियाँ होती हैं। प्रत्येक चित्र को पटुवा धीरे-धीरे खोलता जाता है जिसके साथ-साथ मध्ययुगीन साहित्य के ढंग के चारण-गीत गाये जाते हैं। शंकरदेव का पट कागज का बना हुआ था। शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव की दैत्यारि ठाकुर रचित जीवनी से पता चलता है कि माधवदेव ने गोवर्धन-यात्रा के निर्माण में पर्वतों का चित्रण "पटुवों की प्रणाली" में किया था। दैत्यारि ठाकुर माधवदेव के समकालीन थे। वृद्धावस्था में शंकरदेव ने "वृन्दावनी कापोर" अर्थात् चित्रावली राजा नरनारायण की राजधानी कूच बिहार में बनवाई थी। यह चित्रावली कपड़े पर तैयार की गई थी। इससे प्रतीत होता है कि शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव यमपट्टिका की परम्परा से अनभिज्ञ न थे। यदि यह सत्य हो कि चिह्न-जात्रा का प्रदर्शन शंकरदेव ने १९ वर्ष की अवस्था में किया जब वह लम्बी तीर्थ यात्रा पर नहीं निकले थे तो उससे यह एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन लीलाओं और यात्राओं का समावेश इस नाटक में कैसे हुआ, जो उस समय पुरी आदि तीर्थ-स्थानों में प्रचलित रही होंगीं।

शंकरदेव की प्रथम नाट्य-कृति की उत्पत्ति और प्रकार कुछ भी रहा हो उनका द्वितीय नाटक 'कालीदमन' (लगभग १५१८)—जो कालीदह की प्रसिद्ध कृष्णलीला पर आधारित है— वैष्णव पुराणों पर आधारित उनके अन्य पाँच नाटकों की भाँति प्राप्य है। ये सब नाटक अंकिया नाट अथवा अंक कहलाते हैं। यह नाटक संस्कृत के रूपक की नकल नहीं है जिसमें कई अंक होते हैं। यह एकांकी होता है और संस्कृत एकांकी से पर्याप्त समता रखता है। वैसे दोनों की आत्मा भिन्न है। संस्कृत एकांकी मानवीयता तथा करुण रस से ओतप्रोत हैं और असमिया एकांकी मुख्यतः धार्मिक है जिसमें दैवी चरित्रों का प्राधान्य होता है। असमिया एकांकी में गीतों का बाहुल्य रहता है और प्रायः चार-पाँच भटिमायें (लम्बी स्तुति) होती हैं। ये भटिमायें संस्कृत नाटकों की भाँति नाटक की विभिन्न संधियों का काम भी दे सकती हैं।

शंकरदेव को संस्कृत-साहित्य का अच्छा ज्ञान था। अतः यह स्वाभाविक है कि वह संस्कृत नाट्य-शास्त्र के ज्ञान से लाभ उठाते। अंक की एक विशेषता उसका सूत्रधार होता है। वह न केवल नान्दीपाठ और प्रस्तावना करता है अपितु अन्त तक रंगमंच पर रहकर नाटक के घटना-क्रम से परिचय कराता रहता है जैसे किसी पात्र का प्रवेश आदि। वह बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति होता है जिसे नाटक खेलने के

सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान होता है। वह संगीत और नृत्य में भी पटु होता अतः यदि कहा जाये कि नाटक उसमें प्रत्यक्ष होता है, तो अतिशयोक्ति न होगी। शंकरदेव की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने न केवल जनता के सम्मुख भाषा में एक नाटक रक्खा वरन संस्कृतेतर भारतीय रंगमंच पर पहले-पहल गद्य का प्रयोग किया। संभाषण काव्यमय गद्य में होते थे जिनमें उत्तर भारत में प्रचलित बोली के मुहावरे का पुट रहता था। वाक्य छोटे-छोटे और सुबोध होते थे और कभी तो यथार्थ का बोध कराते थे जैसे पारिजातहरण में स्त्रियों का कलह।

नाटककार का उद्देश्य वैष्णव-धर्म का प्रचार करना है अतः उसमें चरित्र-चित्रण के लिये अधिक स्थान नहीं फिर भी वह उबाने वाला नहीं है। रुक्मिणी-हरण (लगभग १५५० ई०) और माधवदेव के पिपरागुचुवा जैसे नाटकों में चरित्र-चित्रण और हास्य का अभाव नहीं है। नाटक की कथा भागवत् और हरिवंश से ली गई है किन्तु भावुक पर दृढ़प्रतिज्ञ रुक्मिणी और ब्राह्मण वेदनिधि के चरित्र-चित्रण का भली-भाँति निर्वाह किया गया है। नाटक में हमें रोमांटिक कृति का सा आनन्द आता है।

ये नाटक नामघर हॉल अथवा खुले पण्डालों में संध्या को खेले जाते थे और प्रायः सारी रात चलते थे। रंगमंच की एक विशेषता 'आँर कापोर' अर्थात् वह पर्दा था जो रंगमंच पर अभिनेता के आने से पूर्व लटका दिया जाता था। अभिनेता नटुवा कहलाते थे और वे रंगमंच पर नृत्य करते हुये आते थे। मुखौटों का प्रयोग सदा ही होता था-विशेष रूप से ब्रह्मा, गणेश आदि देवताओं तथा बकासुर, रावण आदि दैत्यों तथा हनुमान और पक्षिराज गरुड़ के लिये। सूत्रधार शरीर पर एक प्रकार का लम्बा चोग़ा-सा और सिर पर पगड़ी धारण करता था। सूत्रधार का वेष और कार्य किन्हीं अंशों में ओजा-पाली नृत्य में ओजा के वेष और कार्य से मिलता-जुलता है। इस नृत्य में ओजा मानस-काव्य अथवा वैष्णव ग्रन्थों से मुद्रा-कविता का पाठ करता है और दाइना अर्थात् मुख्य पाली की सहायता से स्पष्ट करता है। एक मत यह भी प्रकट किया गया है कि सूत्रधार अंकिया नाट और ओजापाली के बीच की कड़ी है। ओजा पाली अंकिया नाट से पुराना है।

शंकरदेव के प्रमुख शिष्य माधवदेव ने भी कुछ ऐसे नाटकों की रचना की जो झुमुरा के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे शंकरदेव के नाटकों की अपेक्षा सुबोध हैं और गीत-प्रधान हैं। इनमें से कुछ नाटक माधवदेव रचित नहीं प्रतीत होते। शंकरदेव ने दास्य भाव की भक्ति पर बल दिया और माधवदेव ने वात्सल्य भाव पर। अतः माधवदेव की रचनाओं में कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन अधिक मिलता है

उदाहरणार्थ उनके 'चोरधरा' में इस बात का वर्णन है कि किस प्रकार कृष्ण माखन चोरी करते हुये पकड़े जाते हैं, किस चतुराई से वह अपना दोष उस गोपी के गले मढ़ देते हैं जिसके पास माखन है, किस प्रकार गोपी को और माखन देना पड़ता है, किस प्रकार यशोदा उनकी खोज में पहुँचती हैं। नाटक सुखांत है और कथोपकथन सोद्देश्य। माधवदेव में यथार्थवाद की भावना अधिक दीख पड़ती है। अङ्किया नाट सोलहवीं शती में चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था। शंकरदेव और माधवदेव की परम्परा में द्विजभूषण, रामचरण ठाकुर और दैत्यारि ठाकुर जैसे नाटककार हुये। विष्णु के सिंहावतार विषयक दैत्यारि ठाकुर के नाटक को जात्रा कहा जाता है। इस प्रकार के नाटकों की परम्परा १९वीं शताब्दी तक चली आई है। कालान्तर में मठाधिकारी के लिये यह प्रथा सी पड़ गई कि वह गद्दी पर बैठते समय अंकिया नाट की रचना करे परन्तु इनमें मौलिकता अथवा नवीनता का अभाव है।

रामचरण ठाकुर रचित शंकरदेव की जीवनी से पता चलता है कि शंकरदेव ने अपने अन्तिम क्षणों में माधवदेव को नृत्य (तथा नाटक ?) में रुचि न लेने का उपदेश दिया था। यह निश्चित रूप से मालूम नहीं कि इस पंक्ति का सही अर्थ क्या है: 'बड़ घर नटुवाक तुमि न करिबा' यह भी मान लिया गया है कि रामचरण ठाकुर द्वारा प्रकाशित जीवनी सर्वथा विश्वसनीय नहीं है। परन्तु यह आदेश कुछ तत्त्व का दीख पड़ता है जब हम देखते हैं कि कुछ समय पश्चात् माधवदेव और दामोदरदेव का मत-भेद हो जाने पर माधवदेव भाओना (अंकिया नाटक) खेल कर लोगों को आकृष्ट करने लगे। कम से कम इतना तो कृष्णभारती के 'संतनिर्णय' में भी मिलता है परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि भाओना ने अपढ़ जनता को आकर्षित किया और परोक्ष रूप से उन्हें संस्कृत साहित्य का रसास्वादन कराया। धर्मोत्थान के साथ ही साथ इससे शिक्षा और संस्कृति को भी बल मिला। वस्तुतः भाओना में संगीत, नृत्य, धर्मग्रन्थों के ज्ञान आदि विविध तत्त्वों का समावेश होने लगा। मठों ने इस परम्परा को तो जीवित रखा ही, परन्तु साथ ही राष्ट्रीय संस्कृति और शिक्षा को भी पोषित किया। कालान्तर में अङ्किय नाट को उत्तर आसाम में राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। तुंखुंगिया बुरंजी में लिखा है कि रावणवध नाट की भाओना में उच्चाधिकारियों ने सक्रिय भाग लिया जिसे काछार और मणिपुर के राजाओं के मनोरंजनार्थ प्रस्तुत किया गया था। इस नाटक में सात सौ व्यक्तियों ने भाग लिया और वह अतीव सफल रहा।

यह तो सर्वविदित है कि उन्नीसवीं शती की दूसरी दशाब्दी में बर्मा की लूट-खसोट के कारण असामियों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को गहरी ठेस लगी।

इसके बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में (१८३६-७३) आसाम के स्कूलों और न्यायालयों पर बँगला भाषा थोप दी गई। अठारहवीं शती के मध्य से ही आसाम में घरेलू फूट का सूत्रपात हो गया था। फिर वहाँ विदेशियों का आगमन हुआ और उसने परतन्त्रता की बेड़ियाँ पहनी। स्थानीय भाषा का ह्रास हुआ। स्वतन्त्रता के अपहरण के कारण लोग मार्ग-भ्रष्ट हुये। उन्हें अफ़ीम की लत पड़ी। इन सब ने मिलकर देश के सांस्कृतिक जीवन पर कठोर कुठाराघात किया। १८५७ तक भी असमी अपने लुप्त गौरव को पुनः प्राप्त करने के स्वप्न देखते रहे पर वह मणिराम दीवान को फाँसी दे देने के साथ ही छिन्न-भिन्न हो गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वहाँ के जागरूक युवक-वर्ग ने यह अनुभव किया कि उन्हें परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ढालना चाहिये। इस नई विचारधारा को शिवसागर से अमरीकी बैपटिस्ट मिशन द्वारा प्रकाशित अरुणोदय नामक मासिक पत्र में स्थान मिला। सर्वप्रथम आधुनिक असमिया नाटक की रचना का श्रेय हेमचन्द बरुआ को है जिन्होंने अपनी साहित्य-साधना अरुणोदय के वातावरण में की।

यह सत्य है कि अंकिया प्रकार के नाटकों को वैष्णव मठों ने जीवित रक्खा परन्तु आधुनिकता की दृष्टि से जिसे हम नाटक कह सकते हैं, उसकी नींव हेमचन्द बरुआ के कानियार कीर्तन (अफीमची के लटके) से ही पड़ी। नाटक में नान्दी और प्रस्तावना नहीं है। यह पूर्णरूप से सामाजिक नाटक है और इसमें अफ़ीम की लत से होने वाले नैतिक ह्रास का चित्र है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है: एक भले और अच्छे घराने के युवा को अफ़ीम की लत पड़ जाती है। उसका स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। वह अपनी सारी सम्पत्ति गँवा बैठता है और अपनी गृहिणी के ज़ेवर बेच कर खर्च चलाता है। इतना ही नहीं, वह अपनी पत्नी से अफ़ीम का औषधि की भाँति प्रयोग करने को कहता है ताकि लत पड़ जाने के बाद वह अपनी पत्नी के ज़ेवर और आसानी से हड़प सके। अन्त में दुर्गत हो कर वह एक जेल के अस्पताल में मर जाता है। नाटक के चार अङ्क हैं और प्रत्येक अङ्क के लगभग चार दृश्य। इसमें चरम विन्दु नाम की कोई वस्तु तो नहीं है पर उस दृश्य में जिसमें चन्द्रप्रभा अपने पति कीर्तिकान्त को अफ़ीम की लत डालने के लिये धिक्कारती है, अवश्य कुछ तीखापन है। नाटककार हास्य तथा चरित्र के चित्रण में सफल रहा है। उनका गद्य यदि पैना नहीं तो अलंकार विहीन तथा स्वाभाविक अवश्य है। हेमचन्द बरूआ के शब्दों में, 'इस छोटे नाटक...... को रचना अफ़ीम की लत के उन कुप्रभावों पर प्रकाश डालने के लिये की गई जिन्होंने आसाम के पौरुष को खोखला कर डाला था।'

इन आधुनिक नाटकों में से अधिकांश हस्तलिखित रूप में प्रचारित किये गये। अतः इनका इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है। गौहाटी नगर में एक सार्वजनिक रंगमंच की

प्रस्तावना १८७५ में की गई थीं। कुछ पौराणिक नाटक जैसे 'सावित्री सत्यवान,' 'परिखिनर', 'ब्रह्मशाप,' 'नल दमयन्ती' और शेक्सपियर के 'कॉमेडी आफ़ एरर्स' का रूपान्तर 'भ्रम-रंग' खेले भी गये। ये नाटक गद्य में तथा आधुनिक शैली के हैं। गीत असमिया, बँगला तथा हिन्दी के हैं। लड़कियों के वेश में लड़कों का एक समूह एक गीत गाता था। यह विधि पटाक्षेप का काम देती थी। नाटकों पर टिकट लगता था।

१९वीं शती की अंतिम दो दशाब्दियों में सामाजिक तथा पौराणिक विषयों पर अनेक नाटकों की रचना हुई। रमाकान्त चौधरी का नाटक सीताहरण हलाप नाटक दीख पड़ता है जिस पर बंगला का खास प्रभाव है। यह प्रयास माईकेल मधुसूदन दत्त की शैली के आधार पर अतुकांत छन्द में किया गया है। इस छन्द में एक गम्भीर विषय-वर्णन के कारण नाटक का काफ़ी महत्त्व है। इस काल के दो और पौराणिक नाटक 'हरधनुभंग' तथा पूर्णकान्त शर्मा का 'हरिश्चन्द्र' (१८९३) उत्तरआसाम के देहातों में आज भी उतने ही लोक-प्रिय हैं। एक विशेषता यह है कि असमिया नाटक के आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही सामाजिक नाटकों का प्रवाह-सा चल पड़ा। इनमें विधवा विवाह पर आधारित गुणाभिराम बरूआ का 'रामनवमी' और रुद्रराम बारदोलोई का 'बंगाल-बंगालनी' नाटक प्रसिद्ध हैं। दोनों सुखान्त प्रहसन हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय लक्ष्मीनाथ बेज़बरूआ का 'लितिकाई' (नौका) है जो सर्व प्रथम १८८९ में जोनाकी में प्रकाशित हुआ।

बेज़बरुआ की हास्यप्रियता का सर्वोत्तम नमूना लोक-कथा पर आधारित यह प्रहसन है। कथा इस प्रकार है। सात मूर्ख मच्छरों से युद्ध करके एक जुते जुताये खेत को तैर कर पार करते हैं। इस खेत को वे पानी की चादर समझते हैं। बाद में वे जब गिनती करते हैं तो एक को गुम पाते हैं क्योंकि गिनती करने वाला अपने को छोड़ जाता है। एक ब्राह्मण गुम व्यक्ति को पा देता है जिससे अनुगृहीत होकर वे अपने आपको ब्राह्मण की सेवा के लिये लितिकाइयों के रूप में समर्पित करते हैं। कई घटनायें घटित होती हैं और ब्राह्मण तथा गाँव वाले उनकी मूर्खता से तंग आ जाते हैं। ब्राह्मण उनमें से छः को तो ठिकाने लगा देता है लेकिन सातवां किसी तरह बच निकलता है और ब्राह्मण के सब प्रयत्नों को विफल कर देता है। वह अपने स्वामी की साली से विवाह करके उसको नीचा दिखलाता है। जैसा कि कथा से स्पष्ट है, सारे का सारा प्रहसन है। घटनाओं का विकास एक चरम परिणति तक होता है। लोककथा की सभी घटनाओं को रंगमंच पर दिखलाना संभव नहीं था अतः इनमें से कुछ का संकेत कथोपकथन में ही दे दिया गया है। कथोपकथन कहीं-कहीं

लम्बे हो गये हैं । भाषा नाटक के उपयुक्त हैं और उसमें गांभीर्थ तथा हास्य दोनों का पुट हैं ।

इस हास्य रूप के अतिरिक्त बेजबरुआ का एक गंभीर रूप भी है जो उनके ऐतिहासिक नाटकों में मिलता है । 'चक्रध्वजसिंह' (१९१५) का विषय सत्रहवीं शती के मध्य में असमी-मुगल संघर्ष तथा गोहाटी के निकट सशयघाट के जलपोत-युद्ध में मुगल सेनानायक राजा रामसिंह की अन्तिम पराजय है । नाटक के प्रमुख पात्र जैसे आसाम-नरेश चक्रध्वजसिंह, महान असम योद्धा लाचित बरफुकन, राजा रामसिंह, शहंशाह औरंगजेब ऐतिहासिक हैं परन्तु घटनाक्रम प्रस्तुत करने में नाटककार ने काफ़ी स्वतंत्रता का परिचय दिया है और कुछ सहायक पात्रों का निर्माण किया है । इनमें से एक पात्र लाचित बरफुकन का पुत्र प्रिय राम है जो हेनरी चतुर्थ के विनोद प्रिय राजकुमार हॉल के सदृश ही है । गजपूरीय फॉलस्टाफ़ का असमिया संस्करण ही है । समग्र रूप से नाटक मनोरंजक है । गजपूरीय वाले दृश्य बहुत सजीव बन पड़े हैं ।

जयमती की रचना से बेज़बरुआ और अधिक लोकप्रिय हो गये । यह सत्रहवीं शती की एक राजकुमारी की जीवनी पर आधारित है । इस राजकुमारी को सत्ताधारी नरेश ने यंत्रणा दे-देकर मार डाला था क्योंकि उसने अपने फ़रार पति गदाधर के संबंध में सूचना देने से इंकार कर दिया था । नाटक बड़े ही शांत वातावरण में प्रारंभ होता है लेकिन शीघ्र ही भावी घटनाओं का आभास मिलने लगता है । नरेश अपने अत्याचारी और दूरदर्शी प्रधान मंत्री की सलाह से राजकुमारी को यंत्रणा देता है । गदाधर जो नगा पहाड़ियों में छिपा हुआ था, यह जानकर बेचैन हो जाता है कि उसकी पत्नी उसकी खातिर कष्ट पा रही है । नरेश भय और आशंका से त्रस्त हो जाता है । गदाधर छद्मवेष में जयमती के पास जाता है । परन्तु वह उसे गिरफ्तार नहीं होने देना चाहती क्योंकि वह इस कार्य को देश के हित में नहीं समझती । विषय नितान्त दुखान्त है । नाटक के विशेष पात्रों में नगा कन्या डालिमी है जी गदाधर की सहायता करती है । प्रथम हृदय में शेक्सपीयर की तकनीक का प्रभाव मिलता है । इस दृश्य में दो सेवक अपने स्वामी और स्वामिनी के बारे में लम्बे स्वागत भाषणों द्वारा सूचना प्रदान करते हैं । इस पात्र के निर्माण में 'दि फ़ूल' से प्रेरणा ली गई है । कथोपकथन प्रायः लम्बा और कुछ अनाटकीय है ।

पद्मनाथ गोहाई बरुआ ने भी देशप्रेम-विषयक नाटकों की रचना की । उनका 'लचित बरफुकन' (१९१५) मुग़लों की पराजय पर आधारित है । बेज़बरुआ के चक्रध्वजसिंह की अपेक्षा यह ऐतिहासिक अभिलेखों के अधिक निकट है और असमी सेनानी की उन गतविधियों पर आधारित है जिनके कारण आक्रमणकारियों

को मुँह की खानी पड़ी थी। असमी-मुगल संघर्षों की तीव्रता और कौतूहल का चित्रण 'तचित बरफुकन' में और अच्छी तरह मिलता है। गोहाईं बरुआ का 'जयमती' (१९००) गद्य तथा अतुकांत छन्द में है। इसी में चीनू के रूप में बेज़बरुआ की डालिमी के जन्म का आभास मिलता है लेकिन चीनू को उतनी प्रमुखता नहीं मिलती। उसका चित्रण भी अधिक यथार्थ है। नाटककार उसके द्वारा नगा शब्दों का प्रयोग करा कर स्थानीय पुट देता है। इसके अतिरिक्त गोहाईं बरुआ ने दो अन्य ऐतिहासिक तथा कुछ हास्यपूर्ण नाटक लिखे। उनका 'गाँव बुढ़ा' जो १८९७ में प्रकाशित हुआ असमिया साहित्य के सर्वोत्तम सुखान्त नाटकों में से है।

नाटक ग्रामीय वातावरण से आरम्भ होता है। सम्मानित परिवार के एक ग्रामीण युवक को पुलिस धर पकड़ती है और उससे असैनिक मजिस्ट्रेट (यूरोपीय) के लिये शिकार ले चलने को कहती है। घोर अपमान से पीड़ित वह मौजेदार से गाँव बुढ़ा (मुखिया) पद दिलाने को कहता है। गाँव बुढ़ा का काम लगान वसूल करने तथा साहिब मजिस्ट्रेट के लिये मुफ़्त खाना तथा शिकार जुटाने में मौजेदार की सहायता करना है। काम मेहनत का है। उसे अपने खेत-खलिहान देखने की फुरसत नहीं मिलती और वह साहिब के पिट्ठुओं को भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता। पंचायत में उसे जो सम्मान का पद प्राप्त है, उससे मुखिया के अवैतनिक पद से जुड़ी परेशानियाँ कम नहीं होतीं। मुख्यपात्र भोगमान और उसके सहयोगी तभी मन की शांति प्राप्त करते हैं जब वे अपने-अपने पदों से त्याग-पत्र दे देते हैं। नाटक मनोरंजक है। इसमें निम्न वर्ग के कष्टों का चित्रण है जो सहानुभूति के साथ किया गया है। कथोपकथन स्वाभाविक हैं। गोहाईं-बरुआ ने दो प्रहसन भी लिखे। 'टेटोन तामुली' एक चालबाज़ की कथा है और **'भूतने भ्रम में'** भूत-प्रेतों में अन्धविश्वास का खण्डन किया गया है।

एक पूर्ववर्ती नाटककार दुर्गाप्रसाद दत्त मजूमदार बरुआ हैं। उनका प्रहसन 'महरि' (१८९६ में प्रकाशित) दो अंकों का है जिसमें १३ दृश्य हैं। इसमें एक युवक को चायबागान में जीवन-यापन के लिये संघर्ष करते हुए दिखाया गया है। सबसे दिलचस्प घटनायें बागान में ही घटित होती हैं। सत्ताधारी मैनेजर मि० फॉक्स की सनक, मछियारी की लच्छेदार भाषा तथा अंगरेज़ी का ज्ञान न रखने वाले युवक की खिन्नता का मज़ेदार वर्णन किया गया है। यद्यपि इस प्रहसन का कलेवर छोटा है फिर भी इसमें अन्य नाटकों की अपेक्षा नाटकीय तत्व अधिक है।

बेनुधर राजखोआ के सामाजिक आलोचना के हास्यपूर्ण नाटक 'कुरि-शतिकार सभ्यता' (बीसवीं शती की सभ्यता) 'तिनि धैनी' आदि (१९१२ के लगभग प्रकाशित)

महरि की परम्परा को आगे बढ़ाती हैं। नाटक-रचना का प्रथम प्रयास राजखोआ ने दो दशाब्दी पूर्व ही कर लिया था। महरि की रचना दुर्गाप्रसाद दत्त मजूमदार बरुआ ने १६०८ में की थी।

चन्द्रधर बरुआ के 'मेघनाद बध' (१६०४) में और अधिक लोचदार अतुकांत छन्द के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से यह गोहाईं बरुआ के 'गदाधरसिंह' से भी बढ़कर है। बरुआ की कृति **'भाग्य परीक्षा'** गद्य-पद्यमय एक मनोरंजक सुखांत नाटक है। इन्हीं के समकालीन दुर्गेश्वर शर्मा हैं जिन्होंने दो पौराणिक नाटकों के अतिरिक्त शेक्सपियर के 'एज़ यू लाइक इट' का चन्द्रावली (१६१०) नाम से रूपान्तर किया।

इस शती की तृतीय दशाब्दी में नाटकों की परम्परा तो अक्षुण्ण रही परन्तु सामाजिक नाटकों का स्थान पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटक लेने लगे। इस अवधि में ग्रामजनों के लिये वीर रस के बँगला नाटकों का पर्याप्त रूपान्तर हुआ। इनमें से कुछ नाटकों से—जैसे राणा प्रताप, बाजीराव, संग्रामसिंह, कालापहाड़—पता चलता है कि इस प्रकार के नाटकों का असमिया के शान्त रस के नाटकों की अपेक्षा अधिक स्वागत हुआ। भाग्यवश इस थियेटरबाज़ी का असमिया नाटक की मूल धारा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। असमिया नाटककारों को काफ़ी पहले से नाटक की बारीकियों का ज्ञान था—इसका संकेत मजूमदार बरुआ की 'गुरु-दक्षिणा' की भूमिका से मिल जाता हैं जिसमें नाटककार अंगरेज़ी शब्दों के असमिया और बँगला पर्यायों पर अपने विचार प्रकट करता है। उदाहरणार्थ एक्ट और सीन के लिये वह बँगला के गर्भांक की अपेक्षा दरसन को पसन्द करते हैं।

बँगला में नव राष्ट्रवादी आन्दोलन का—जिसका आरंभ १६०५ से माना जाता है—प्रभाव रंगमंच पर काफ़ी पड़ा है। फलतः राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत कई ऐतिहासिक नाटकों की रचना की गई। यह संभव है कि स्वदेशी आन्दोलन और बंकिमचन्द्र तथा द्विजेन्द्रलाल राय की प्रेरणा का प्रभाव असमिया नाटककारों की चेतना पर भी पड़ा हो। लेकिन असमिया के बुरंजी जो ब्रिटिश आधिपत्य के बाद लिखे जाते रहे—न केवल नाटकों की कथावस्तु के लिये बल्कि देशभक्ति के लिए भी प्रेरणा के स्रोत सिद्ध हुए। गाँधी जी के आन्दोलन ने भी राष्ट्रवादी भावनाओं को बल दिया होगा। अतः तीसरी शताब्दी में राधाकान्त सन्दिकाइ के 'मुला-गाभारु' (१६२४ अतुकान्त), नकुलचन्द्र भुइयन के 'चन्द्रकान्तसिंह' और 'वदन बरफुकन' (१६२६), देवाचन्द्र तालुकदार के 'असम-प्रतिभा' (१६२५), गणेशलाल चौधरी के 'नीलाम्बर' (दुखान्त) जैसे नटकों की रचना होने लगी। गांभीर्य-रहित नाटकों में मित्रदेव महन्त के प्रहसन, प्रौराणिक

नाटकों में अतुलचन्द्र हजारिका के 'कुरुक्षेत्र', 'श्रीरामचन्द्र' तथा अन्य नाटक उल्लेखनीय हैं। आनन्दचन्द्र बरुआ ने 'बिसर्जन' (१९२८) की अतुकांत छन्द में रचना करके काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त की और 'बिजया' नाम से एक स्पेनी प्रेमगाथा का रूपान्तर किया।

तीसरी और चौथी दशाब्दी में ज्योतिप्रसाद अग्रवाल एक बड़े ही प्रतिभावान नाटककार हुए। उन्होंने 'शोनित कुँवरी' की रचना करके पौराणिक नाटक का रूप ही बदल दिया। उनके नाटक मंजे हुये और प्रतीकात्मक हैं। उन्होंने रंगमंच में विशेष रुचि ली और अपने प्रत्येक नाटक रंगमंच सम्बन्धी विस्तृत निर्देश दिये हैं। 'कारेगार लिगरी' (महल की दासी) में उनकी प्रतिभा और निखर आई हैं। यद्यपि पात्र उच्च वर्ग के हैं फिर भी विषय अत्यन्त मानवीय है। अध्ययनशील राजकुमार सुन्दर जो विचार स्वातन्त्र्य में विश्वास करता है—स्त्रियों से दूर रहना चाहता है परन्तु उसका विवाह एक ऐसी लड़की से कर दिया जाता है जो ईमानदारी से उसे यह बता देती है कि वह उसके मित्र राजकुमार अनंग प्रेम करती है। राजकुमार उसे अनंग को सौंप देना चाहता हैं जिससे गलती सुधार सके। उसकी पत्नी तर्क करती है: कुछ गलती ऐसी हैं जिन्हें ठीक करने से हानि होती है। कुछ ऐसी हैं जिन्हें ठीक करने का दुस्साहस करना विनाश को बुलाना है। किसी मकान के खंभों को पहले यथास्थान स्थापित न करके पुन: उन्हें वैसा करने के प्रयत्न का अर्थ है, सारे मकान को ही नष्ट कर देना।

सुन्दर (उत्तेजित अवस्था में) ग़लती ग़लती है। चाहे मकान गिराना पड़े अथवा परिवार नष्ट करना पड़े, गलती ठीक करनी होगी।

सुन्दर अपनी पत्नी अनंग को सौंप देता है और स्वयं दुखी रहता है। अफ़वाह फैलाई जाती है कि वह अपनी दासी सेवाली से प्रेम करता है। प्रजा की अनुदारता से राजकुमार आगबबूला हो जाता है। उसकी माता दासी को निर्वासित कर देती है जो वास्तव में अपने स्वामी से प्रेम करती है। राजकुमार निर्वासन की आज्ञा रद्द करके स्वयं दासी की खोज में निकल पड़ता है। उसकी पत्नी आत्महत्या कर लेती है। मित्र नगा पहाड़ियों में रहता है। सेवाली भी वहीं रहती है। राजकुमार अपने मित्र से भेंट करता है। सेवाली भी उसे मिल जाती है। लेकिन सेवाली इस आशंका से कि कहीं राजकुमार जनमत की अवहेलना करके गद्दी न खो न बैठे, नाले में कूद पड़ती है। राजकुमार स्त्री के बलिदान की गहराई समझता है और निराशा तथा विदीर्ण हृदय लेकर लौट जाता है। नाटक काव्यगुण-सम्पन्न है। उसमें भावनाओं का सहज चित्रण है। यदि चौथे तथा पाँचवें अंक में नगा पहाड़ियों

में कुछ अनावश्यक दृश्य न रक्खे गये होते तो नाटक काफ़ी संतुलित और सफल रहता। इसके अतिरिक्त अग्रवाल माने हुए संगीतकार थे। 'कारेगार लिगिरी' के उनके गीत भाषा के सर्वोत्तम गीतों में से हैं।

अग्रवाल ने 'लमिता' अपनी अकाल मृत्यु से कुछ समय पूर्व प्रकाशित की थी। इसमें उनकी रचना-शक्ति का और अधिक परिचय प्राप्त होता है। नाटक का घटनाक्रम १९४२ में आसाम की राजनैतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है जैसे सैनिक आधिपत्य, जापानियों द्वारा बम-वर्षा, कांग्रेस आन्दोलन, कोहिमा मोर्चे पर आई०-एन० ए० का आगे बढ़ाने और जनता की कठिनाइयाँ। 'लमिता' एक ग्राम-बालिका है। उसकी शिक्षा-दीक्षा अधिक नहीं हुई जब वह बालिकाओं को पुलिस द्वारा यंत्रणा देते हुये देखती है तो वह एक पुलिस इंस्पेक्टर के हाथ से रिवाल्वर छीन लेती है। जापानी अचानक बमवर्षा करते हैं, उसमें उसका पिता मारा जाता है और सैनिक उसका गाँव उजाड़ देते हैं। एक दिन शाम को दो सैनिक उसे गिरफ़्तार कर लेते हैं लेकिन एक साहसी अफ़सर यथासमय उसकी रक्षा कर लेता है। इस आशंका से कि कहीं उसका भावी पति उसे भ्रष्टा समझकर शरण न दे, उसे एक मौजेदार के घर शरण लेनी पड़ती है पर वहाँ भी उसका जीवन दूभर हो जाता है। असहाय अवस्था में उसके पास मृत्यु के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। एक दयालु मुसलमान उसे मिल जाता है और उससे अपने पास रहने का आग्रह करता है। वह एक नर्स बनकर कोहिमा मोर्चे पर जाती है जहाँ जापानी उसे गिरफ़तार कर लेते हैं। वह किसी प्रकार आई० एन० ए० में मिल जाती है और जब आई० एन० ए० आगे बढ़ती है तो वह स्वयं आगे बढ़कर झंडा सँभालती है। उसे गोली का निशाना बना दिया जाता है। इस प्रकार वह सहर्ष देश सेवा में अपने प्राण गँवा देती है।

'लमिता' में चरित्र-चित्रण खूब बन पड़ा है। नाटककार का उद्देश्य यह दिखाना है, कि एक मामूली लड़की जो बिल्कुल आदर्शवादिनी नहीं है, कहाँ तक कष्टों का सामना कर सकती है और परिस्थितियों की प्रतिकूलता में भी अपनी आत्म-शक्ति का प्रदर्शन करके असमिया जाति के सुप्त साहस और शक्ति का परिचय दे सकती है।

इसी प्रकार के दो अन्य नाटक लक्ष्मीकान्त दत्त का मुक्ति 'आभिजान' (१९५३) और सुरेन सैकिया का 'कुशल कुँवर' (१९४९) हैं। 'मुक्ति आभिजान' में १९४२ से १९४७ तक की घटनाओं का सिंहावलोकन किया गया है। दूसरे नाटक का संबंध एक कांग्रेस-कार्यकर्ता से है जिसे १९४२ में विध्वंसात्मक कार्यवाहियों के झूठे

अभियोग में फाँसी पर लटका दिया जाता है। 'कुशल कुँवर' पात्र का प्रवेश तीसरे अंक में होता। उसकी सरलता और आत्म-बलिदान सब को मोह लेता है। जेल के दृश्य बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं।

तीसरी और चौथी शताब्दी में दैनिक समस्या वाले नाटकों का स्थान ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों ने लेना आरम्भ कर दिया था। पर इस धारा के प्रतिकूल चलने वाले थे प्रवीन फुकन। उन्होंने हास्य तथा व्यंग्य के अनेक नाटकों की रचना की। उनकी प्रथम कृति 'काल-परिचय' है। वह वर्ग-भेद और सामाजिक ढोंग को अच्छी तरह समझते हैं पर वह किसी विचारधारा से प्रभावित नहीं हैं। 'सतीकार बान' (शती की बाढ़, १९५४) में उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि जनता भी प्रतिक्रिया और सामाजिक चेतना वाले लोगों के नेतृत्व के आगे विशिष्ट वर्ग का एकाधिकार अधिक दिन नहीं ठहर सकेगा। सत्यप्रसाद बरुआ का 'चाकइ-चकवा' (१९४०) एक सुन्दर सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक नाटक है। सारदा बारदोलोई और कृष्णानन्द भट्टाचार्य का 'भग्निवार अजान' भी एक प्रसिद्ध नाटक है जिसमें हमें काफ़ी मौलिकता की झलक मिलती है। वातावरण देहात का है। चरित्र-चित्रण में कमी नहीं है। गाँव वालों की मनोदशा का सुन्दर चित्रण है। नाटक दुखान्त है पर घटना-क्रम स्वाभाविक है।

१९४८ में एतिहासिक नाटकों ने उत्साह का संचार किया। इनमें से प्रवीन-फुकन का मनीराम दिवान और नगाँव नाट्य संघ का पियली फुकन उल्लेखनीय हैं। पियली फुकन बदनचन्द्र बरफुकन का पुत्र है जिन्होंने बर्मी आक्रमणकारियों को आसाम बुलाया था। मनीराम दिवान की विभिन्न गतिविधियों पर ही प्रकाश डाला गया है बल्कि अंतिम राजा कन्दर्पेश्वर के मानसिक संघर्ष का भी सफल चित्रण है। नरेश अपने दायित्व को समझता है पर कुछ करने में असमर्थ है।

इसके अतिरिक्त दो और प्रकार के नाटकों की रचना की गई। चौथी दशाब्धी में लक्ष्मीधर शर्मा ने एकांकी रचना का प्रारम्भ किया। मुख्य विषय देश-भक्ति है। हाल के वर्षों में उदीयमान लेखकों ने भी कुछ ऐसे नाटकों की रचना की। इनमें से सत्यप्रसाद बरुआ, उग्र कतकी और नवकान्त बरुआ उल्लेखनीय है। उग्र कतकी के व्यंग्य चित्र 'स्ट्राइक' (१९४६) का सफल प्रदर्शन हो चुका है। इनमें नवीनतम रचना बीना बरुआ का 'एबेलार नाट' है जो गत वर्ष प्रकाशित हुआ। इसमें वृद्ध और युवा तथा नये तथा पुराने का संघर्ष दिखाया गया है।

प्रतीकात्मक नाटकों में पार्वतीप्रसाद बरुआ का 'सोनर सोलेंग' (सुनहरा फल) छोटा-सा लेकिन सुन्दर काव्य में लिखित नाटक है। कीर्तिनाथ बारदोलाई के प्रतीका-

त्मक तथा गेय नाटकों का सफल प्रदर्शन हो चुका है। अच्छे नाटकों की रचना तभी होती है जब व्यावसायिक रूप में उनकी माँग हो। आसाम में व्यावसायिक रंगमंच का नितान्त अभाव है। परन्तु जब कभी नाटक खेला जाता है, उस पर टिकट लगा दिया जाता है। पेशेवर समय-समय पर काफ़ी हलचल मचाते रहे हैं जैसे चौथी दशाब्दी में ब्रज शर्मा की पार्टी। ब्रज शर्मा पहले व्यक्ति हैं जो अभिनेत्रियों को रंगमंच पर लाये। नाटक शौकिया भी खेले जा रहे हैं पर नाटकीय गतिविधि निराशाजनक नहीं। यह ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक तथा सामयिक विषयों के नाटक दिनों-दिन लोकप्रिय होते जा रहे हैं परन्तु सिनेमा के कोप से नाटक की रक्षा के लिए जनमत तैयार करने और राजकीय संरक्षण की आवश्यकता है।

उड़िया नाटक तथा रंगमंच

—श्री कालिन्दीचरण पाणिग्रही

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, उत्कल किसी समय सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम कलाओं का केन्द्र था। इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण आज भी कोणार्क, भुवनेश्वर तथा पुरी के मंदिरों के रूप में मिलता है। इन स्मारकों के निष्णात कलाकारों ने जिस अद्भुत कला-कौशल का परिचय दिया है वह अपूर्व है और आश्चर्य-चकित कर देता है। इन में जो चित्र अंकित हैं, उन में नर-नारियों और बालकों को सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण पहने, भव्य गृहों में रहते या सुसज्जित रथों तथा नौकाओं में विहार करते दिखाया गया है। सात या आठ सौ वर्ष पूर्व की भव्य उड़िया-संस्कृति का ये जीवन्त प्रमाण हैं मानो उत्कल की आत्मा का संगीत मूर्त्तिमान हो गया है। सैकड़ों वर्ष बीत चुके हैं, परन्तु इस संगीत की नूतनता में कोई अन्तर नहीं आया। नर्त्तकों, संगीतकारों, अभिनेता-अभिनेत्रियों, कृषकों तथा बुनकरों, घोड़ों, हाथियों, गायों और हरिणों के चित्र इतने कौशल के साथ अंकित किये गये हैं कि वे जीवन्त हो उठे हैं। उड़ीसा की मूर्ति-कला तथा अन्य कलाओं में उत्कल की प्राचीन परन्तु देशज कलाओं के विभिन्न रूपों—नृत्य, नाटक और संगीत—की आश्चर्यजनक अभिव्यंजना है।

डा० चार्ल्स फ़ाब्री ने थियेटर यूनिट बुलेटिन, बम्बई के मई १९५६ के अंक में लिखा है कि भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि की गुफाओं में एक चित्र मिला है जिस में रंगमंच पर नृत्य होते दिखाया गया है। अनुमान किया जाता है कि यह चित्र दूसरी शताब्दी ईसवी में अंकित हुआ होगा। इस से उस काल में भारतीय रंगशाला के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।

इस समय उड़ीसा में चार व्यावसायिक रंगशालाएँ हैं जिन में अधिकतर सामाजिक तथा सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर नये नाटक नियमित रूप से अभिनीत होते है। इस से ज्ञात होता है कि आज उड़िया नाटक ने जैसी अपूर्व प्रगति की है वैसी निकट अतीत कभी नहीं की थी। इन रंगशालाओं में रंग-तन्त्र एकदम आधुनिक और निर्दोष है। रंगशालाएं नियत समय पर अभिनय समाप्त करने पर पूरा ध्यान देती हैं। प्रत्येक नाटक ढाई-तीन घन्टे तक चलता है और इस पूरी अवधि में

दर्शकों में कौतूहल बना रहता है और उन का मनोरंजन होता है। किसी भी नाटक के अभिनय में ढाई-तीन घन्टे से अधिक समय नहीं लगता। इन चार रंगशालाओं में से दो कटक में हैं और दो ब्रह्मपुर और पुरी में। फिर भी इन में बहुत-कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इन में प्रकाश तथा दृश्य-विधान के आधुनिक उपकरणों का होना आवश्यक है। यह मानना पड़ेगा कि दर्शकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस का एक कारण उड़िया फ़िल्मों का अभाव हो सकता है, यद्यपि उड़ीसा के प्रत्येक नगर में एक से अधिक सिनेमाघर हैं।

उड़िया नाटक का प्रारम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी से माना जा सकता है। कहा जाता है कि उड़ीसा के राजा कपिलेन्द्र देव ने "परशुराम विजय" नामक एक एकांकी नाटक लिखा था। उस के यशस्वी पौत्र राजा प्रतापरुद्र ने "अभिनव वेणीसंहारम्" नामक एक और एकांकी नाटक की रचना की थी। राय रामानन्द ने भी जो उस समय दक्षिण उड़ीसा के शासक और श्री चैतन्य के सुप्रसिद्ध शिष्य थे "जगन्नाथ वल्लभ" नामक अनेकांकी नाटक लिखा था। अन्तर्साक्ष्य के अनुसार जब यह नाटक अभिनीत हुआ था तो उस में देवदासियों (जगन्नाथ-मन्दिर की नर्त्तकियों) ने अभिनय किया था। कम से कम चौबीस ऐसे एकांकी नाटक भी हैं जो सरल संस्कृत में लिखे गये हैं और जिन में बीच-बीच में उड़िया गीतों का समावेश किया गया है। आश्चर्य की बात है कि इन नाटकों का अभिनय बहुत ही आकर्षक सिद्ध हुआ। इन नाटकों के कथानक महाभारत, रामायण तथा अन्य भारतीय पौराणिक ग्रन्थों पर आधारित हैं। कोणार्क, पुरी तथा भुवनेश्वर के मन्दिरों के आलों में जो चित्र अंकित हैं, उन में नर्त्तकियों, संगीतकारों, अभिनेता-अभिनेत्रियों की ऐसी भंगिमायें हैं जिन्हें देख कर हृदय स्पन्दित हो उठता है। उन से दर्शक को उड़िया नृत्य, नाटक तथा संगीत की उस विशिष्ट शैली का पता चलता है जो आज से छः सौ वर्ष पूर्व इस प्रदेश का गौरव थी।

संस्कृत नाटकों का स्थान उड़िया लोक-नाटकों ने लिया जिन में रामलीला तथा रासलीला (द्वन्द्व नृत्य) प्राचीन तन्त्र माने जाते हैं। "दंड नाट" में शिव तथा पार्वती के विवाह का वर्णन होता था। यह प्रारम्भिक प्रकार का एक मूक प्रदर्शन था। कहा जाता है कि सराइ केल्ला का "छउ" नृत्य जो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है "दंड नाट" का ही एक उन्नत लोक-रूप है। इस नृत्य का प्रदर्शन मुख को आवृत करके किया जाता है। इसी लिए 'छउ' शब्द की व्युत्पत्ति "छवि" से बताई जाती है। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि यह छावनी शब्द से निकला है क्योंकि अपने मूल रूप में यह एक युद्ध-नृत्य था। "दंड नाट" तथा "छउ", इन दोनों

नृत्यों का प्रदर्शन चैत्र-संक्रान्ति के अवसर पर होता है जिस से पहले दुर्गा और शिव की पूजा होती है और उपवास किया जाता है। "रंग सभा" एक अन्य नाट्य-रूप है जो बहुत लोकप्रिय है। "रंग सभा" शक्तिशाली राक्षस राजा कंस की राज सभा का नाम था। इस राक्षस राजा ने कृष्ण को सभा में छल से उन की हत्या करने के उद्देश्य से निमंत्रित किया था। परन्तु अनन्त वीणा के वादक के पराक्रम से स्वयं उसी को काल-कवलित होना पड़ा। इस नाटक में विशाल आकार के कृत्रिम हाथी, घोड़े और दैत्याकार पक्षी वाहनों के कारण अतिकाल्पनिक भव्यता और चमत्कार के वातारण की सृष्टि होती है और दर्शक विस्मयाभिभूत रह जाता है। "पाला" नामक उड़िया लोक-गीत हिन्दुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक ऐक्य का प्रतीक है। इस में सत्यपीर की कथाओं का वर्णन होता है। इसे चार या पाँच व्यक्ति मिल कर गाते हैं। इस में प्राचीन उड़िया-साहित्य के काव्य-वैभव की भी अभिव्यक्ति होती है।

"दास काठिआ" पाला का सब से सरल रूप है जिस को केवल दो व्यक्ति मिल कर गाते हैं। उन की दोनों हथेलियों में करताल होते हैं जिन को वे गाने के साथ-साथ बजाते रहते हैं। गीत उन के होंठों से जैसे अनायास ही फूट पड़ते हैं। उड़िया नृत्य और संगीत की अपनी विशिष्ट शैली है जिस की उत्कृष्टता नई दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय समारोहों में सिद्ध हो चुकी है। गत शताब्दी के अन्त तक उड़िया लोक-नाट्यों के संवादों में बोलचाल की भाषा स्थान प्राप्त कर चुकी थी। जगु ओझा तथा गोपाल दास से प्रारम्भिक उड़िया लोक-नाट्यों के प्रेमी भली भाँति परिचित हैं। वैष्णव पाणि इस शताब्दी के सब से लोकप्रिय नाटककार माने जाते हैं। उन्होंने अपने नाटकों में पारिवारिक तथा सामाजिक क्षेत्र में विदेशी शिक्षा और संस्कृति के अस्वस्थ प्रभावों का, शहरी तथा देहाती जीवन की शोचनीय विषमता का और कलकत्ता के जूट कारखानों में नौकरी चाहने वाले उड़िया श्रमिकों की आशाओं और आकांक्षाओं का चित्रण बहुत यथार्थता और सहानुभूति से किया है।

कहा जाता है कि पहली उड़िया रंगशाला कटक के समीप कोठापदा मठ के आस पास स्थापित की गई थी। वैष्णव पाणि द्वारा रचित यात्रा अथवा लोक-नाटक पहले यहीं अभिनीत हुए थे और उस के बाद जनता के बीच उनका प्रदर्शन हुआ था। वैष्णव पाणि का स्वर्गवास हो चुका है। उन्होंने एक बहुत रोचक आत्म-चरित भी लिखा है। उड़िया में लोक-नाटकों के एक और सुप्रसिद्ध लेखक श्री कृष्ण-प्रसाद बसु हैं जो अभी तक 'पाला' की रचना करते हैं। उन की रचनायें बहुत लोक-प्रिय हैं। स्वर्गीय लक्ष्मीकान्त महापात्र की रासलीला और लोक-नाटकों से भी कभी

दर्शकों का बहुत मनोरंजन होता था । उषा तथा वासंती रंगशालाएँ कटक में अस्थायी रूप से फूस के छप्पर देकर बनाई गई थीं ।

आधुनिक उड़िया नाटक का प्रारम्भ ऐतिहासिक विषयों पर लिखे गये नाटकों से हुआ । रामाशंकर राय का "कंचि कावेरी" पहला ऐतिहासिक नाटक था जो बहुत सफल भी रहा । रामाशंकर राय आधुनिक उड़िया नाटक के जन्मदाता माने जाते हैं । उन्होंने चौदह नाटक लिखे जिन में दो प्रहसन तथा दो प्रगीति नाट्य भी सम्मिलित हैं उन्होंने शेक्सपियर की शैली का अनुसरण किया और गंभीर भावनाओं को व्यक्त करने के लिए मुक्त छन्द का प्रयोग किया ।

१९०२ ई० में पद्मानव देव ने अपना नाटक "बाण दर्प दलन" (बाण की कन्या उषा से श्रीकृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध के विवाह की कथा) अभिनीत करने के लिए पार्लाकि मेण्डि में एक दूसरी रंगशाला की स्थापना की ।

कविभूषण घनश्याम मिश्र ने "कंचन माली" नामक सामाजिक नाटक लिख कर एक मौलिक प्रयोग किया । कंचन माली एक ब्राह्मण लड़की थी जिस ने शैशवावस्था में संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की थी । सात वर्ष की आयु में उसका विवाह कर दिया गया था । तीन वर्ष बाद ही वह विधवा हो गई । इस नाटक के कथानक में इस अभागिन लड़की के जीवन के कष्टों को ही वाणी दी गई है । पंडित गोदावरीश तथा नाट्य-सम्राट अश्विनीकुमार इस युग के दो प्रसिद्ध नाटककार हैं । गोदावरीश ने ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं, परन्तु इन्हें रंगमंच पर बहुत थोड़ी सफलता मिल सकी । इसके विपरीत अश्विनीकुमार बहुत ही लोकप्रिय नाटककार हैं क्योंकि वह बँगला गाँव के बनमाली पति द्वारा स्थापित "बंगला थियेटर" में काम कर चुके हैं जहाँ उन्हें बड़ी सफलता प्राप्त हुई थी । अश्विनीकुमार का "कोणार्क" एक उत्कृष्ट नाटक माना जाता है । इसकी कहानी उस बाल शिल्पी की कहानी है जिसने इस प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर के निर्माण में अपने प्राणों की आहुति दे दी थी । उड़िया नाटक के विकास के साथ-साथ गीति-नाट्य रासलीला का भी विकास हुआ । गोविन्दचन्द्र सूर देव ने अपनी गीति-नाट्य मंडली १९१७ में बनाई थी । उनके बाद मोहनसुन्दर गोस्वामी ने एक दूसरी मंडली बनाई । इन के गीति-नाट्यों की मुख्य विशेषता यह थी कि उनमें उड़िया वैष्णव कवियों के गीत प्रस्तुत किये जाते थे । "सीता-विवाह" नामक पहली उड़िया फ़िल्म मोहनसुन्दर ने ही बनाई । उनके उत्तराधिकारी कविचन्द्र काली चरण पट्टनायक हैं । ये आरम्भ में राधा कृष्ण की रासलीला का आयोजन करते थे । "रासलीला" "यात्रा" से भिन्न थी क्योंकि इसे रंगमंच पर अभिनीत किया जाता था और इसमें दृश्य-सज्जा का भी पूरा प्रबन्ध

होता था। काली चरण ने आगे चलकर "उड़िसा थियेटर पार्टी" का संगठन किया और इसके मुख्य नाटककार भी रहे। श्रेष्ठ संगीतकार और नाट्य-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता होने के नाते वह नाटक भी लिखते थे और स्वयं रंगमंच का प्रबन्ध भी करते थे। देश की स्वाधीनता के बाद कालीचरण की रंगशाला को जितनी लोकप्रियता मिली, उतनी किसी अन्य रंगशाला को नहीं मिली। महिला कलाकारों को उड़िया रंगमंच पर लाने का श्रेय भी मुख्यत: कालीचरण को ही प्राप्त है। उन्होंने अस्पृश्यता भूख, बेकारी, आर्थिक शोषण और ऐसी ही अन्य समस्याओं पर नाटक लिखे। ये नाटक लगातार कई रातों तक चलते रहते थे और इतने आकर्षक होते थे कि हाल दर्शकों से खचाखच भरा रहता था। "भात", "रक्त माटि", "बेकार", इसी प्रकार के समस्या-प्रधान नाटक थे।

"गौड़विजेता" रामरंजन महान्ति द्वारा रचा गया एक ऐतिहासिक नाटक है। यह उड़ीसा के शासक द्वारा बंगाल के विजित होने की कथा पर आधारित है। हरिश्चन्द्र बादल का "देशर डाक", बैकुंठनाथ पट्टनायक का "मुक्ति पथ", मायाधर मानसिंह का "पुजारिणी" तथा प्रस्तुत लेख के लेखक का "प्रियदासी" (कलिंग की विजय और अशोक द्वारा अहिंसा के सिद्धान्त को मान्यता मिलने के सम्बन्ध में यह उड़िया का पहला नाटक है)—ये नाटक अभिनीत नहीं हुए हैं। "गौड़ विजेता" कई स्थानों पर खेला गया, परन्तु इसे अभिनीत करने में अधिकतर ऐसे लोगों ने भाग लिया जिन का व्यवसाय अभिनय नहीं था। लक्ष्मीधर नायक का नाटक "लाल चाबुक" रंगमंच पर सफल रहा। वर्तमान काल के नये नाटककारों में मनोरंजन दास, लक्ष्मीधर नायक, अद्वैतचरण महान्ति, भंजनकिशोर पट्टनायक तथा नरसिंह महापात्र के नाम लिये जाते हैं। ये भविष्य में बहुत श्रेष्ठ रचनाएँ दे सकेंगे, ऐसी आशा है। लक्ष्मीधर नायक ने अपने नाटक "लाल चाबुक" में शोषित वर्ग के एक कवि का चित्रण सहानुभूति से किया है। इस में कवि के दुखों और अभिलाषाओं का जो वर्णन किया गया है, उस पर यथार्थता की गहरी छाप है। नये नाटककारों में नरसिंह महापात्र की आयु सबसे कम है। उड़िसा के प्रसिद्ध वैष्णव कवि गोपाल कृष्ण के जीवन पर उन्होंने जो नाटक लिखा है, वह रंगमंच पर कुछ रोचक सिद्ध हुआ था।

प्रस्तुत लेख के लेखक के उपन्यास "माटिर मणिष" के आधार पर कई नाटक रचे गये हैं। अभी कुछ दिन पहले प्राणबन्धु कर ने इसे नाटक का रूप दिया था। राष्ट्रीय संगीत परिषद्, कटक के कलाकारों ने इसे रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया था। प्राणबन्धु कर ने फकीरमोहन सेनापति के कुछ उपन्यासों को भी नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है।

कालीचरण पट्टनायक के उपरान्त कई श्रेष्ठ नाटककार हुए। इनमें गोपाल छोट राय सामाजिक-राजनीतिक नाटकों के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने नाटक "जहर" में एक ऐसे लेखक तथा क्रान्तिकारी विचारक का चित्रण किया है जो चारों ओर नफ़ाख़ोरों, चोर-बाज़ार के व्यापारियों, कांग्रेसियों और कम्यूनिस्टों से घिरा हुआ है। "फेरिआ" प्रचार की दृष्टि से लिखा गया एक नाटक है। इसमें पुनर्निर्माण के कार्यों में भाग लेने के लिए गाँवों में जाकर रहने का समर्थन किया गया है। गोपाल छोट राय तथा रामचन्द्र मिश्र को नाटककार के रूप म अब बहुत लोग जानने लगे हैं। नाट्य-कला में निपुणता, पात्रों का कलात्मक रूप से चित्रण करने की योग्यता और मार्मिक वैदग्ध्य के कारण उन्हें बहुत विख्याति प्राप्त हुई है। गोपाल छोटराय ने अपने नाटक "पर कलम" में उडीसा के वर्तमान मंत्रि मण्डल पर व्यंग्य किया है। यह नाटक १९५४ में अखिल भारतीय नाट्य-समारोह के अवसर पर नई दिल्ली में अभिनीत भी हुआ था। रामचन्द्र मिश्र "घर संसार" नामक नाटक लिखते ही प्रसिद्ध हो गये। इस नाटक के कथानक का आधार एक पारिवारिक कलह है। व्यक्तिगत स्वार्थ के त्याग और हृदय-परिवर्तन से यह कलह अन्त में समाप्त हो जाता है। "साहि पड़िशा" तथा "भाई भाउज" भी सफल रहे और उनका अच्छा स्वागत किया गया। उनके नाटकों की कथावस्तु और विषय मुख्य रूप से दैनिक जीवन की घटनाओं से लिए गये हैं और दृश्यों की पृष्ठभूमि अधिकतर ग्रामीण है। उनके नाटकों के पात्र सामान्य रूप से कृषक-वर्ग के हैं। उन्होंने इन का चित्रण सहानुभूति और सहृदयता के साथ किया है।

यह नहीं भूलना चाहिए कि उच्च स्तर के नाटकों का प्रदर्शन बहुत-कुछ दर्शकों पर ही निर्भर करता है। दर्शकों की रुचि जितनी उन्नत होती है, उतना ही उन्नत नाटक भी होता है। वर्तमान दर्शक प्रायः बुद्धिजीवी वर्ग के हैं। ये नाटकों को केवल दिल बहलाने का साधन समझते हैं। सस्ते हास्य, नृत्य तथा गीत का होना अभी तक आवश्यक समझा जाता है। इस की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि कोई नाटक इन के बिना लोकप्रिय सिद्ध हो सकता है।

नाट्य-रचना का रंगमंच की सजावट तथा उपयुक्त पात्रों से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। उड़िया रंगमंच की इतनी प्रशंसा तो अवश्य की जा सकती है कि उस ने वर्तमान काल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है। स्वाधीनता से पहले और उसके बाद भी जो घटनाएँ घटीं उनकी ओर उड़िया रंगमंच ने पूर्ण रूप से ध्यान दिया। साम्प्रदायिक दंगे, शरणार्थियों की समस्या, राशनिंग, नफाखोरी, चोरबाजारी और अकाल—उड़िया रंगमंच पर इन सभी समस्याओं से सम्बन्धित नाटक खेले गये।

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक उड़िया नाटक में जनता के लिए बड़ा आकर्षण है, परन्तु बहुधा इस में ऐसे तत्व का अभाव रहता है जिससे बुद्धि-जीवियों को चिन्तन की प्रेरणा मिले।

अतीत में व्यावसायिक यात्रा-मंडलियों को राजाओं और ज़मींदारों की ओर से सहायता और प्रोत्साहन मिलता था। उत्कल नृत्य, नाटक तथा संगीत अकादमी इस प्रदेश के नाटककारों तथा अभिनेताओं को प्रोत्साहन देने के लिए अभी तक बहुत थोड़ा काम कर पाई है। सबसे पहले एक ऐसी रंगशाला की स्थापना आवश्यक है जो अभिनेताओं और नाटककारों को प्रत्येक प्रकार की सुविधा और सहायता दे सके। इस रंगशाला को नये कलाकारों के प्रशिक्षण का केन्द्र बनाना होगा। हमारे यहाँ ऐसे बहुत से अनुभवी कलाकार हैं जो नये कलाकारों को उपयुक्त प्रशिक्षण दे सकते हैं। इनमें से कुछ या तो भूखों मर रहे हैं या आकाशवाणी, कटक में अस्थायी रूप से काम कर रहे हैं।

स्वाधीनता के बाद की बहुत सी समस्याएँ अभी उड़िया रंगमंच पर कुशलता पूर्वक प्रस्तुत नहीं की जा सकी हैं। पंचवर्षीय आयोजना, दरिद्रता, रोग और निरक्षरता दूर करने के लिए बाँध-निर्माण तथा जल-विद्युत योजनाओं और शान्ति तथा समृद्ध के लिए किए जा रहे प्रयत्नों को अभी तक रंगमंच पर प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। बाल-रंगशाला स्थापित करने के सम्बन्ध में भी बहुत थोड़ा काम हुआ है। यह कौन नहीं मानेगा कि भावी नागरिकों के चरित्र-निर्माण के लिए बाल-रंगशाला की बड़ी आवश्यकता है। जनवरी १९५६ के दूसरे सप्ताह में 'उड़ीसा संगीत परिषद्' के तत्त्वावधान में पुरी की अन्नपूर्णा रंगशाला में कई बाल नाटक अभिनीत हुए थे।

प्रसन्नता की बात है कि आधुनिक रंगशाला के निर्माण में जनता अब रंग-मंच के कलाकारों से सहयोग करने को उत्सुक है। यह रंगशाला वास्तविक रूप से एक राष्ट्रीय रंगशाला होगी। इस में गौरवपूर्ण अतीत की समृद्धि तो सुरक्षित रहेगी ही, साथ ही यह वर्तमान के लिए हर्ष और प्रेरणा का स्रोत भी बन सकेगी ताकि एक उज्ज्वल भविष्य की सृष्टि हो सके।

———

गुजराती नाटक का विकास

—प्रो० व्रजराय एम० देसाई

कई अन्य भारतीय भाषाओं के समान आधुनिक गुजराती नाटक का उदय भी लगभग १८५० में हुआ जब कि इस प्रदेश में आधुनिक भारतीय पुनरुत्थान का आरम्भ हुआ। भारतीय संस्कृति के अविरत प्रवाह में, आधुनिक नाटक का विकास सभ्य विश्व की नाट्य-कला के इतिहास की पृष्ठभूमि में हुआ है। भारत-पाक उप-महाद्वीप में आज से २४०० वर्ष पूर्व नाटक-लेखन और अभिनय की कला न केवल अभिज्ञात थी बल्कि वर्जित भी थी। कल्पसूत्र पर भद्रबाहु स्वामी की टीका से प्रकट होता है कि तत्कालीन धर्म में नृत्य, संगीत और नाटक का निषेध था परन्तु इनका अस्तित्व अवश्य था और तपस्वी जन भी इनमें भाग लेते थे। यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक ढग की सार्व जनिक रंगशालाएँ थीं या नहीं परन्तु भारत के नाट्य-शास्त्र से पहले के युग में परिष्कृत और आयोजित राजकीय रंगशालाएँ अवश्य थीं। गत शताब्दी के छठे दशक में बीस-पच्चीस वर्ष के नवयुवकों ने—जिन्होंने विश्वविद्यालयों में शिक्षा भी न पाई थी (बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना १८५७ में हुई थी)—उपलब्ध सामग्री का मंथन किया और गुजराती में 'अलंकार-प्रवेश', 'रस-प्रवेश' और 'रस प्रकाश' जैसी विद्वत्तापूर्ण कृतियों की सृष्टि की। गुजराती नाटकों के प्रथम प्रकाशन के युग में पुनरुत्थान के अनुयायियों ने संस्कृत नाट्य-शास्त्र और परम्परागत छंद-शास्त्र का सोत्साह गहन अध्ययन किया।

उनका ध्यान एक और परम्परा की ओर भी आकृष्ट हुआ। दूसरी सहस्राब्दी में जब गुजरात में शुद्धतावादी मुस्लिम शक्ति का उत्थान हुआ तो साहित्यिक नाटक को राज्य की सहायता मिलनी बंद हो गयी और हेमचन्द्र के युग का साहित्यिक पुन-रुत्थान ह्रासोन्मुख हो गया। कुमारपाल के राज्य के बाद किसी नाटक का अभिनय हुआ हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता; परन्तु जनसाधारण के लिए मन्दिरों में और उनके आसपास अभिनय होते रहे, उदाहरण के लिए धार्मिक पर्वों पर काशी और अयोध्या में राम और कृष्ण के जावन से सम्बन्धित नाटकों का अभिनय होता रहा। इस परम्परा का प्रसार होता रहा और देश के पश्चिमी भाग में भी यह जीवित रही और इसके कारण ये अभिनय, जो कि अंग्रेज़ी या ईसाई-यूरोपीय रहस्य-नाटकों के प्रतिरूप थे, होते रहे। इसी प्रकार लोक-अभिनय ने एक वृत्ति का रूप

धारण कर लिया जो कि निकृष्ट प्रकार की वृत्ति समझी जाती थी। यह वृत्ति नायक उपजाति का एकस्व बन गयी जो कि पहले ब्राह्मणों का ही अंग थी। नायक एक स्थान से दूसरे स्थान तक यात्रा करते हुए परस्पर असम्बद्ध दृश्यों का अभिनय करते थे जो मुख्य रूप से हास्य रस के होते थे परन्तु उसमें कोई न कोई शिक्षा अवश्य रहती थी। वह अभिनय अंग्रेज़ी के नीति-नाट्यों का गुजराती प्रतिरूप था। उत्तर गुजरात में स्थित अम्बाजी और बाहुपारगी मन्दिरों में प्रति वर्ष या समय-समय पर यात्रार्थ जाने वालों के लिए स्त्रियों का अभिनय करना धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। नागर ब्राह्मण जो सामाजिक दृष्टि से सर्वोच्च माने जाते थे—अपने भवाई अभिनयों में भाग लेते थे और उन्होंने इन अभिनयों को व्यावसायिकों की भाँति नग्न अश्लीलता से अलिप्त रखा। सन् १८५० के लगभग नाट्य-कला के नए नेताओं ने गुजराती नाटक के विकास की आशा परम्परा के इन संरक्षकों से की, जो कि नए युग की भावनाओं के अनुसार रचा जाता था और उन्होंने इन लोगों को सिखाने और परिष्कृत करने की चेष्टा की। यह इसलिए कि उस समय यह भावना प्रधान थी और अनिवार्य भी थी कि नाटक और रंगमंच का चोलीदामन का साथ है। प्रारम्भ में विचार यह था कि रंगमंच का सुधार किया जाय और उसके द्वारा समाज का सुधार हो।

उस युग के एक महान् शिक्षा-शास्त्री श्री एम० आर० नीलकंठ (१८२९-९१) ने, जो इंगलैंड की यात्रा कर चुके थे, भवाई अभिनयों के—जिन्हें 'वेश' कहा जाता था और जो एक दृश्य वाले या एकांकी थे—लगभग ३० मूलपाठों का संकलन किया और उन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। पचास वर्ष पश्चात् श्री एम० आर० नीलकण्ठ ने इनमें से एक के कथानक के आधार पर एक अच्छा शास्त्रीय नाटक 'राईनो पर्वत' प्रकाशित (१९१४) किया जिसे आज भी आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इसका मूल भाव यह है कि केवल वही होता है जो ईश्वर चाहता है और ईश्वरेच्छा सदा सद्वृत्ति और सद्गुण की विजय के पक्ष में रहती है। १८५१ ई० में दलपतराय (१८२०-८०) ने जो अंग्रेज़ी नहीं जानते थे, ज़िला-न्यायाधीश किन्लाक फार्बस के कहने पर यूनान के प्रसिद्ध कामदीकार अरिस्तोफनेस की कृति 'प्लूतस' के गुजराती रूपान्तर 'लक्ष्मी' की रचना की। यहाँ से गुजराती नाटक का अंग्रेज़ी नाटक की तरह विभिन्न दृश्यों में विभाजन आरम्भ हुआ। परन्तु 'लक्ष्मी' लोकप्रिय नहीं हुआ क्योंकि देवता के उपेक्षावान होने के यूनानी विचार और देवियों की अस्थिरता के होते हुए भी देवों की कृपालुता में भारतीय विश्वास के बीच स्पष्ट रूप से असंगति थी। अतः गुजराती नाटक के वास्तविक सूत्रपात के लिए हमें कहीं और दृष्टिपात करना पड़ता है।

दलपतराय के नाटक 'लक्ष्मी' के दस वर्ष पश्चात्, गुजरात् विद्यासभा के मुखपत्र 'बुद्धि प्रकाश' के मेधावान सम्पादक २४ वर्षीय आर० वी० दवे (१८३७-१९२३) ने अहमदाबाद से अपने नाटक 'जयकुमारी विजय' को धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया। यह नाटक पुस्तक रूप में १८६४ में प्रकाशित हुआ। इस नाटक में न तो कौशलपूर्ण कथानक है और न ही पात्रों का चरित्र उभर पाया है परन्तु जिस उद्देश्य से यह लिखा गया था उसकी पूर्ति अवश्य हो गयी। जैसा कि लेखक ने अपनी भूमिका में लिखा है, यह नाटक साधारण बुद्धि के लोगों के लिए और लोक-नाटक 'भवाई' की अश्लीलता के प्रति विरक्ति की भावना के कारण लिखा गया है। इस नाटक में स्वतंत्र प्रेम की भावना से प्रेरित होकर नायक और नायिका कई विघ्नों को पार कर के विवाह करते हैं। १८६५ ई० में एक पारसी विद्वान नानाभाई राणिना (१८२३-१९००) ने शेक्सपियर के 'कामेडी आफ़ एरर्स' का 'जोडियो माईओ' नाम से रूपांतर किया। यह उन नाटकों की लम्बी शृंखला की पहली कड़ी थी जिनका रूपान्तर रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुसार किया गया। इस शृंखला का सर्वोत्तम उदाहरण श्री एन० वी० ठक्कर का 'वसुन्धरा' (१९१०) है जो 'लेडी मैकबेथ' के आधार पर रचा गया और जिसका नाम 'बेधारी तलवार' भी रखा गया था।

सन् १८६८ और १८८६ के बीच पुनरुत्थान के महानतम व्यक्तित्व नर्मदाशंकर ने छह नाटक लिखे : कृष्णाकुमारी, राम-जानकी-दशन, द्रौपदी-दर्शन, सीता-हरण, सार शकुन्तला और बालकृष्ण-विजय। इन शीर्षकों से उनके कथानकों का पता चलता है। उस समय के एक और अग्रणी-नवलराम ने—जिनका इस पुनरुत्थान में अधिक शाश्वत और सारभूत योगदान रहा है—मोलियर के नाटक 'डाक्टर' का रूपांतर 'भटनुं भोपालु' (१८६७) नाम से किया। इस नाटक में रचयिता का कौशल और भावुकता परिलक्षित होती है। सूरत के जीवन को इसका मूलाधार बनाया गया है और उस स्थान की सभी विशेषताएँ इसमें निबद्ध हैं। इनका दूसरा नाटक 'वीरमती' (१८६९) जगदेव परमार की विषयक घटनाओं पर आधारित है जिनका वर्णन फ़ार्बस ने १८५६ में अँग्रेज़ी की 'रासमाला' में किया है।

परन्तु गुजरात के इतिहास में अमर और रंगमंच की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला नाटक १८६५-६६ में लिखा गया; यह था 'ललिता-दुख-दर्शक' जिसके रचयिता थे 'जयकुमारी विजय' के लेखक। वे अब बम्बई में ही रहने लगे थे। 'ललिता दुख दर्शक' की विशेषता उसका सुव्यवस्थित कथानक, स्पष्ट चरित्र-चित्रण, पात्र के वर्ग या उसके गुणों के अनुकूल संभाषण और करुण-गीत हैं, जिनके कारण इसे ऐतिहासिक सफलता प्राप्त हुई। हाँ, यह बात अवश्य है कि कथानक में सूक्ष्मता

ग्रौर कौशल का ग्रभाव है, गाने बहुत लम्बे हैं ग्रौर सम्भाषरण काफ़ी ज़ोरदार नहीं है। इसमें नान्दी ग्रौर प्रस्तावना को नहीं रखा गया ग्रौर पहली बार 'मधुरेण समापयेत' नियम को भंग किया गया क्योंकि इसमें ग्रनमेल विवाह का वर्णन था—इसका ग्रंत कारुणिक है। ललिता सहित सात पात्रों की मृत्यु बिल्कुल शेक्सपीयर की परिपाटी के ग्रनुसार होती है। इससे यह प्रकट हुग्रा कि भारतीय दर्शक त्रासदियों का भी ग्रानन्द उठाते हैं। नारायण वी० ठाकुर ने इस नाटक को पच्चीस बार पढ़ा ग्रौर उसका ग्रभिनय देखा। इस नाटक के छह संस्करण निकले ग्रौर इसका संशोधित संस्करण बम्बई में ग्रभिनीत हुग्रा ग्रौर १५ महीनों तक चला। इसका ग्रभिनय प्रत्येक रविवार को होता था ग्रौर सप्ताह में कभी-कभी रात के समय भी इसका ग्रभिनय होता था।

ग्राधुनिक गुजराती नाटक का उद्गम स्थान बम्बई है। परन्तु गुजराती पारसियों के सक्रिय सहयोग से भारतीय नाटक का ग्रारम्भ पहले ही हो चुका था जो १८५१ में स्वान्तः सुखाय ग्रभिनय में भाग लेने लगे थे। इसी वर्ष दलपतराय का नाटक 'लक्ष्मी' प्रकाशित हुग्रा था। लगभग इसी समय 'नाटक उत्तेजक मंडल' का संगठन किया गया जो कि सार्वजनिक संस्था या समिति के रूप में थी। वह ग्रपने नाटकों के लिए पूर्व-विवेचन संस्था के रूप में भी कार्य करती थी। उसके बाद कई नाटक कम्पनियाँ बनीं ग्रौर उन में से कुछ कम्पनियाँ सुदूरपूर्व के दूसरे देशों तथा इंगलैंड तक गयीं। नाटक-उत्तेजक-मण्डल के तत्त्वावधान में सर्वप्रथम ग्रार० यू० दवे के नाटक हरिश्चन्द्र का ग्रभिनय किया गया जो तमिळ के नाटक 'हरिश्चन्द्र' के ग्रंग्रेज़ी ग्रनुवाद का रूपान्तर था जिसका लेखन ग्रौर प्रकाशन लंका के एक बैरिस्टर मत्तुकुमार स्वामी ने इंगलैंड में किया था। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह नाटक इस विषय पर लिखे गये संस्कृत नाटक 'चण्ड कौशिक' का रूपान्तर नहीं था जो उस समय ज्ञात था। एम० वी० ठाकुर ने देश में उपलब्ध साक्ष्य के ग्राधार पर यह प्रमाणित किया है कि हरिश्चन्द्र नाम के सभी नाटक-मुन्शी विनायकप्रसाद तालिब ग्रौर मुहम्मद ग्रली ग्रौर करीमजी ग्रप्पा के साथ रहने वाले मुन्शियों के नाटकों सहित—प्रायः रणछोड़ भाई के गुजराती नाटक के रूपान्तर मात्र ही थे। महात्मा गाँधी ने ग्रपनी जीवनी में लिखा है कि 'हरिश्चन्द्र ग्राख्यान' नाटक का उन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा था, जिसका ग्रभिनय उन्होंने लगभग ७ वर्ष की ग्रायु में राजकोट में किसी नाटक-मण्डली द्वारा किया गया देखा था।

नाटक का दृश्यों में विभाजन, जो संस्कृत में नहीं था, ग्रंग्रेज़ी से लिया गया जैसा कि संस्कृत से रणछोड़ भाई द्वारा ग्रनूदित नाटकों में मिलता है। उनके नाटक

'प्रेमराय चारुमती' में एक गर्भाङ्क का समावेश है, वह ऐसा गर्भाङ्क है जो हमें 'उत्तर-रामचरित' या 'प्रियदर्शिका' और विशेषतया 'हैमलेट' का स्मरण कराता है। पुरुरवा के निरुद्देश्य और करुणोत्पादक रीति से भटकते रहने का जैसा चित्र विक्रमोर्वशीय में है, उसी के आधार पर आर० दवे ने अपने नाटक 'नलदमयंती' और 'मदालसा ऋतुध्वज' में वियोगिनी दमयन्ती और ऋतुध्वज का चित्रण किया है। मुख्यतः आर० दवे के प्रयत्नों का ही परिणाम था कि जिसे पहले मनोरंजन का एक रूप समझा जाता था, वही गुजराती नाटक विकसित हुआ और उसमें जीवन और रंगमंच दोनों पर एक गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाने लगा। बाद के युग में जब अवकाश कम और कला का स्थान अधिक, गुजराती नाटक का भदेसपन और आडम्बर कम हुआ और वह परिष्कृत हुआ। वह इसलिए कि दवे जन-साधारण की रुचि के अनुसार नाटक लिखने के लिए हर तरह से तैयार थे परन्तु अभद्रता वे नहीं चाहते थे।

श्री दवे ने नाटक के विकास में जो योग दिया उसके स्वरूप और महत्त्व को आँकने के लिए हमें तत्कालीन रंगमंच की स्थिति पर ध्यान देना होगा जिसका वर्णन नवलराम और रमणभाई नीलकंठ ने किया है। उस समय कोई लिखित सम्भाषण नहीं होता था। सूत्रधार आख्यान के कुछ अंश सुनाता था और अभिनेता चुप खड़ा उसके अर्थ को समझने की चेष्टा में लीन होता था जिसे उसे गद्य में कहना होता था। लिखित नाटकों में सम्भाषण क्षेत्र-विशेष की भाषा में या हिन्दी में अनुत्कुण्ठित ढंग से लिखे जाते थे और गीतों की भाषा मौलिक रहती थी। कुछ समय तक गुजराती नाटककार भी सम्भाषण हिन्दी में और गीत गुजराती में लिखते थे। आर० दवे का सतत प्रयत्न इस दिशा में रहा कि रंगमंच से अश्लीलता का बहिष्कार किया जाय और वही एकमात्र नाटककार थे जिन्होंने सम्पूर्ण नाटक प्रकाशित किये। यद्यपि गुजरात में आलोचना के आधुनिक मानों के आधार पर देखा जाय तो उनके नाटक उस कसौटी पर खरे नहीं उतरते, फिर भी उनके इस क्षेत्र में अग्रयायी होने के ऐतिहासिक महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं। नर्मद ने अपनी जीवनी में और के० एम० मुन्शी ने 'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' में इसे स्वीकार किया है। परन्तु उनके नाटकों में भावी विकास की आधारशिला दृष्टिगोचर नहीं होती और यह कहना कठिन है कि गुजराती नाटक के रूप पर उनका प्रभाव केखुश्रू काब्राजी के अचिर-स्थायी प्रभाव से किसी प्रकार भी अधिक था जो आयु में उनसे पाँच वर्ष छोटे थे और जिन्होंने लगभग १३ नाटक लिखे जिनमें 'बेजनमनीजे', 'सोराब रुस्तम', 'नन्दबत्रीशी' और 'लवकुश' भी हैं।

दोष नाटककारों का नहीं था। शिक्षित व्यक्तियों की प्रतिभा और रुचि का विकास लोकप्रिय रंगमंच की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से हुआ। साहित्यक नाटकों

और रंगमंचीय नाटकों के बीच निश्चित रूप से वैषम्य है यह कुछ ही समय में प्रमाणित हो गया। रंगमंच का नाटक साहित्य की श्रेणी से बाहर चला गया। रंगमंच का कोई भी नाटक प्रकाशित नहीं होता था और साहित्य की विकासमान कला के लिए परम्परागत रंगमंच के द्वार बन्द हो गये। आधुनिक पुनरुत्थान अगले अवस्थान में प्रवेश करने ही वाला था, सामाजिक विषयों के स्थान पर राजनीति की ओर अधिक झुकाव हो रहा था, और इतिहास के स्वर्ण-युगों की स्मृति धुँधली पड़ कर जनता का ध्यान युगीन समस्याओं की ओर जा रहा है। इस कारण लेखकों में सच्ची प्रेरणा जग रही थी। ये लेखक इस बात की उपेक्षा करके कि उनकी कृति रंगमंच तक पहुँचेगी या नहीं, रंगमंच से बाहर अपने विचारों की अभिव्यक्ति में अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करते थे। साहित्यिक नाटक जल्दी से पढ़कर फेंक दिये जाने वाले गल्प-साहित्य जैसा हो गया था। रंगमंच को उससे कोई सहायता नहीं मिलती। रंगमंच को पूँजीदाताओं, दर्शकों और विदेशी शासकों के प्रति अपने कर्त्तव्य स्वयं निभाने पड़ते थे। रंगमंच और साहित्य की दिशाएँ भिन्न-भिन्न हो गयी थीं। इनके बीच किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रह गया था और वैसा होना स्वाभाविक भी था ही।

एक प्रकार से इस समय तक नाटक और रंगमंच का इतिहास परस्पर आबद्ध था, परन्तु अब साहित्यिक नाटक का अभिनय यदि होता था तो अव्यवसायी रंगमंच पर ही होता था। कान्ता (१८८२) पहला गुजराती नाटक था जो संस्कृत और अंग्रेज़ी के अध्ययन पर आधारित श्रेष्ठ अभिरुचि-सम्पन्न जनों के लिए रचा गया था। इसके रचयिता बहुमुखी और रचनात्मक प्रतिभा वाले विचारक थे जिन्होंने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया था। इस नाटक में आत्मत्यागपूर्ण पातिव्रत और स्वामि-भक्ति का निरूपण है जो वनराज चावडोर के जीवन में झलकती है। यद्यपि नाटक के रूप में इस त्रासदी की रचनात्मक शक्ति अधिक नहीं तथापि यह नैतिक विजय का ज्वलंत उदाहरण है। वीरता और करुणा के दृश्यों से ओत-प्रोत एक और आदर्शवादी नाटक गणपतराम भट्ट का 'प्रताप' (१८८३) था। दोनों नाटक शिक्षा-संस्थाओं में बहुत प्रचलित हुए। के० एच० ध्रुव ने १८८६ में विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' का रचनात्मक अनुवाद 'मेलनी मुद्रिका' के नाम से करके कालिदास और भास के नाटकों के अनुवादों की एक श्रृंखला का सूत्रपात किया। यह क्रम चालीस वर्ष से अधिक समय तक अविच्छिन्न रहा। एक अन्य विद्वान प्रो० बी० के० ठाकोर ने १९०६ में शकुन्तला का अनुवाद अत्यन्त निष्ठापूर्वक और अनुभावनात्मक रूप से किया। वह यथार्थवादी भावना उनके एक सामाजिक जीवन-विषयक नाटक 'ऊगती जुवानी' (१९२३) की आधारशिला है और आधुनिकता के प्रति उनका प्रेम

इस बात से झलकता है कि उनका अन्तिम नाटक 'सोवियत नवजुवानी' था जो १९३५ में रचा गया।

एक तरह से देखा जाय तो ठाकोर द्वारा रचित नाटकों में नन्दलाल दलपत-राम कवि के आदर्शवादी नाटकों की प्रतिक्रिया परिस्फुट है जिनमें सबसे पहली रचना 'इन्दु कुमार' थी। यह नाटक लिखा तो १८९८ में गया था परन्तु प्रकाशित १९०९ में हुआ। यह तो स्पष्ट है कि इन्दुकुमार में उन भावनाओं--प्रेम और सेवा--का कवित्वमय सन्निवेश है जिनसे गोवर्धनराम की महान श्रेण्य रचना 'सरस्वती चन्द्र' (१८८७-१९०१) का नायक प्रेरित हुआ था। उसके बाद 'जया जयन्त' (१९१४) में निष्काम प्रेम, 'राजर्षि भरत, में आर्य एकता और प्रेमकुंज में जीवन में प्रणय के साम्राज्य का प्रदर्शन किया गया। उनकी कृति विश्वगीता व्यास और कालिदास के उपाख्यानों के आदर्शमूलक ऐक्य से सम्बन्ध जोड़ने का अद्भुत प्रयोग है। उसके बाद 'जहाँगीर', 'अकबरशाह' और 'संघमित्रा' नाम के इतिवृत्तात्मक नाट्यों की रचना हुई जो मुग़ल और बौद्ध इतिहास और उनके आदर्शों पर आधृत थे। 'पुण्यकथा' में यह तर्क दिया गया है कि संसार को उसके निरन्तर दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए आत्म-संयम का जीवन व्यतीत करना चाहिए। इन सभी नाट्यों में उच्च स्तर का मधुर काव्य है जिसमें कहीं-कहीं एकरसता अवश्य है परन्तु जिसमें पाठक का ध्यान निरन्तर आकृष्ट किये रहने का गुण है।

नाटक की अर्थ-व्यवस्था भी होती है—बल्कि कहना चाहिए कि रंगमंच की कोई विशेष अर्थ-व्यवस्था भी हुआ करती है परन्तु ये रोमानी नाटक इसके नियमों का पालन कभी नहीं करते। अगली पीढ़ियों के नाट्य-आदर्शवादियों में से चन्द्रवदन मेहता भी हैं जिनका यह मत है कि यदि उन्हें किसी नाटक का अभिनय करने के लिए कहा जाये और उसका चुनाव उन्हीं पर छोड़ दिया जाय तो वे नानालाल के 'अकबरशाह' का ही अभिनय करेंगे, जो अतीत का स्मरण जगाता है और अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। इस नाटक में अकबर का चरित्र-चित्रण बड़ी वैभवशाली, विविध शोभा-सम्पन्न और स्वप्निल पृष्ठभूमि में किया गया है। इस प्रश्न का निश्चय अभी तक नहीं हो पाया कि नानालाल के नाटक अभिनेय हैं या नहीं, इस कारण नहीं कि उनमें कोई निहित दोष है बल्कि इस कारण कि उपयुक्त रंगमंच का अभाव है। आर्थिक सफलता का तो प्रश्न ही इस सम्बन्ध में नहीं उठता। यह इसलिये कि यदा-कदा इनका अभिनय किया गया है और सफल रहा है। इसके अतिरिक्त जैसा कुछ भी रंगमंच उस समय था, १९१३ में सिनेमा के प्रारम्भ हो जाने से उसे बड़ी भारी क्षति पहुँची चाहे भले ही यह क्षति शनैः शनै ही पहुँची हो। और १९२७ में

सवाक् चलचित्रों के आविष्कार के कारण तो सार्वजनिक रंगमंच का अस्तित्व ही समाप्त प्राय हो उठा। इसमें सन्देह नहीं कि अब ऐसा लगता है कि यह स्थिति क्षणिक ही है।

परन्तु प्रतिभाशाली, मेधावी एवं दृढ़प्रतिज्ञ लेखक ऐसी बाधाओं से पस्त नहीं हुए। सच तो यह है कि उनकी संख्या बढ़ गयी। भारतीय क्षितिज पर गांधीजी के अभ्युदय के साथ-साथ नाट्य-रचना का बहुत विकास हुआ यद्यपि वे इसके लिए प्रत्यक्षतः उत्तरदायी नहीं थे और कई बार ऐसी कृतियाँ उन के उपदेशों के सारतः प्रतिकूल थीं। के० एम० मुन्शी ने जिन्होंने बाद में 'आई फालो दी महात्मा' लिखी, सामाजिक विषयों और पौराणिक और वैदिक काल के विषय-वस्तुओं का रूपान्तर करके बहुत से नाटक लिखे और इस दिशा में सबका नेतृत्व किया जिससे नए सामाजिक, नागर या राजनीतिक विचार प्रतिध्वनित हुए।

रंगमंच की आवश्यकताओं के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण होने के कारण मुन्शी ने अधिकतर नाटकों में एक अंक को एक ही दृश्य-विधान तक सीमित रखा है जिससे कि बार-बार दृश्य बदलने की आवश्यकता ही न रहे। इस नए नाटक की एक और विशेषता यह है कि इसमें काव्य और संगीत का बहिष्कार किया गया है। परन्तु इसकी यथार्थवादी भावना काव्य या काव्य-भावना के प्रतिकूल नहीं है और उनके नाटक की सफलता केवल पद्य की भावपूर्ण विशेषता पर निर्भर है न कि भद्दे अभिनय या नाट्य-उपादानों पर। उनके नाटकों में जितना यथार्थवादी क्रिया-कल्प है उतना आज तक किसी के नाटकों में नहीं हुआ। सामाजिक जीवन के उनके नाटक-बाकाशेठनु स्वातंत्र्य, खराब जण, आज्ञांकित, ब्रह्मचर्याश्रम, काका नी शशी, पीड़ाग्रस्त, प्रोफेसर,—अधिकतर हास्यपूर्ण हैं परन्तु वे घटनोद्भूत प्रहसन हैं, चरित्र-चित्रण-जन्य नहीं। उन्हें बौद्धिक प्रहसन तो निश्चय ही नहीं कहा जा सकता। इनमें से पहले तीन या चार तो एकदम प्रहसन जैसे हैं। यह मान भी लिया जाय कि उनमें तत्कालीन शुद्धतावाद के प्रति प्रतिक्रिया का आभास मिलता है—यहाँ तक कि कुछ हद तक अशिष्टता की भी उनमें स्वीकृति है—तो भी उन्हें लीलामय मनोवृत्ति की प्रथम तरंग ही कहा जा सकता है। सम्भवतः वह संसार की मूर्खता को हँसी में उड़ा देना चाहते हैं और इस बात में विश्वास रखते हैं कि अन्याय को मिटाने के लिए मोटी तूलिका ही काम में आ सकती है। उन्हें सफलता में विश्वास है—चाहे वे बड़े कल्पनाशील हैं और अपने ही ढंग के भावुक हैं—वे कभी किसी एक ही क्रियाकल्प में ही जुटे नहीं रहे। उनकी प्रतिभा स्वतःस्फुट होती है। उनके नाटक 'शॉ' की अपेक्षा 'बैरी' और उससे भी अधिक 'गाल्सवर्दी' से मिलते-जुलते हैं।

उनके पौराणिक नाटक गम्भीर हैं, हाँ दुखान्त वे कभी ही होते हैं जैसे कि

'तर्पण' है। इसकी विषय-वस्तु 'रोमियो एंड जूलियट' से मिलती-जुलती है। 'लोपामुद्रा' में वह अन्तर्द्वन्द्व है जिसका निरूपण 'स्विन्बर्न' ने अपने एक नाटक में किया है। एटिक नाटक से प्रभावित होकर मुन्शी ने आर्यों के अतीत में वैसे ही विषयों की खोज की है। अधिक सम्भावना इस बात की है कि पुनरुत्थान की ओर अग्रसर हिन्दुत्व के विचार के कारण वे अतीत की ओर आकृष्ट हुए। परन्तु उनके नाटक-पुरन्दर पराजय, अविभक्त आत्मा, पुत्रसमोवड़ी, ध्रुवस्वामिनी देवी और अन्य निश्चय ही आधुनिक विचारों और द्वन्द्वों को आवृत करने के उपादान हैं। कला की दृष्टि से उनकी साज-सज्जा अवश्य ही पुरातन काल की रहेगी। उन्होंने अतिमानवीय या चमत्कारिक तत्त्वों का जो समावेश किया है, उस पर आपत्ति करना उचित नहीं होगा। यूनानी संसार की तरह आर्य संसार में भी मानव और देव जीवन के दो अंग हैं जो समान हैं और अच्छे या बुरे हो सकते हैं। हम तो केवल इस बात पर आक्षेप कर सकते हैं कि आर्यों के प्रति, आर्य होने के नाते ही उनका आग्रह क्यों है। परन्तु वह प्रासंगिक नहीं। रोमानियत के दृष्टि-कोण से उन्होंने जैसा चरित्र-चित्रण किया है, वह उनकी अपनी सृष्टि है। वे आर्यों के प्रति जो उत्साह दिखाते हैं वह अतीत के प्रति प्रेम के कारण नहीं वरन् इसलिए कि वे यह समझते हैं कि आर्यों के कुछ गुणों को ग्रहण करना आधुनिक भारतीय जीवन के लिए अनिवार्य है।

मुन्शी ने 'कला के लिए' के नारे से प्रारम्भ किया परन्तु अपने उद्विकास की प्रक्रिया में वे कला को जीवन के नये मूल्यों की स्थापना के लिए प्रयुक्त करने लगे और उन्होंने जीवन का नया रस पुरानी बोतलों में भर कर विश्व के सामने रखा। किसी भी सिद्धान्त, क्रियाकल्प या आदर्श में मुन्शी की समस्त बातें नहीं आ सकतीं बल्कि यों कहना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति का सारा दर्शन किसी एक सिद्धान्त या क्रियाकल्प द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। सम्भव है कि वे यह समझते हों कि साधारण व्यक्तियों के लिए जीवन का सर्वोच्च शिखर सुरत-सुख और सफलता ही हो जिसके बहुत से पहलू हैं और सम्भव है कि यही धारणा उनकी समस्त नाटकीय सृष्टि में विद्यमान हो, जोकि उन के लिए न तो रहस्य है और न पहेली। परन्तु जैसा कि उनके गम्भीर नाटकों से प्रकट है, आदर्श उनके लिए कोई वर्जित वस्तु नहीं है। उनके मूल्य केवल स्थूल और भौतिक नहीं हैं, यद्यपि जागतिक वे अवश्य हैं। कला-कृतियों के रूप में उनके नाटकों से भावोत्तेजना प्राप्त होती है, आनन्दोपलब्धि होती है और वे हमें आकृष्ट करते हैं परन्तु हम मुग्ध या मोहाभिभूत नहीं होते।

शीघ्र ही मुन्शी से अधिक युवा व्यक्तियों ने नाट्य-जगत में प्रवेश किया। वे क्रियाकल्प के सुयोग्य ज्ञाता थे जिनकी दृष्टि पैनी थी और जिनमें विचारों और

भावनाओं का आवेश था। उस समय की भावना इतनी शक्तिशाली थी कि कई प्रतिभावान व्यक्ति इस ओर खप सकते थे। नया मार्ग खोजना कठिन था। गाँधी और मुन्शी में भी स्वतन्त्रता की उसी भावना को अधिक सशक्त और सक्रिय वाचिक अभिव्यक्ति मिली है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिस व्यक्ति को जो श्रेय प्राप्त होना चाहिए उससे वंचित रखा जाय बल्कि यह है कि अन्य व्यक्तियों की योग्यता का अभिज्ञान किया जाय जो केवल कनिष्ठ होने के नाते वरिष्ठ व्यक्तियों की प्रतिभा के प्रकाश में कम उज्ज्वल दिखाई पड़ते हैं। इन व्यक्तियों की बहुत सी कृतियाँ 'नानालाल' या 'मुन्शी' के स्तर की थीं और उनकी विषय-वस्तु या उद्देश्य 'नानालाल' या 'मुन्शी' के समान या दोनों ही के समान थे। उनका मुख्य आविष्कार एकांकी नाटक था और इसके फलस्वरूप अधिक कलात्मक गहनता और संकेन्द्रण उन की विशेषता थी। हाँ, उन्होंने जिस क्षोभ की खोज की या निरूपण किया वह वही पहले जैसा था। शिथिल और साधारण विषय जिनका 'नानालाल' और 'मुन्शी' ने बड़े परिश्रम से बहिष्कार किया था, इनके नाटकों में प्रकट होने लगे।

'वट्टु भाई उमरवडिया' ने जो बुद्धि जीवियों के एकांकी नाटकों के रचियता थे, 'मत्स्यगन्धा अने गांगेय' और 'मालादेवी अने वीगां नाटकों' नाम के दो संग्रह लिखे। इनमें बहुत से और विविध चरित्रों का चित्रण था और उनकी मानसिक-प्रवृत्तियों का सच्चा और यथार्थ निरूपण था। उन्होंने (और कई अन्यों ने) 'आस्कर वाइल्ड,' 'इब्सन' और 'गालसवर्दी' जैसे महान कलाकारों से प्रेरित होकर लिखा। बहुत-से छोटे-छोटे नाटक—गीतमय नाटक से लेकर इत्तिवृत्तात्मक नाटक तक—जो अतीत के किसी नायक, विशेषतया गुजरात के अतीत के किसी नायक के जीवन के सम्बन्ध में थे—लिखे गये। चन्द्रवदन सी० मेहता के लिए नाटकीय रंगमंच और गुजरात का इतिहास गहन अभिरुचि का विषय रहे हैं और उनकी कल्पना शक्ति का प्रयोग मुख्यत: इसी दिशा में हुआ है। उनका नाटक 'धरागुर्जरी,' जिस पर उन्हें 'नर्मद स्वर्णपदक' मिला, उनकी कुशलता का उत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें उनकी अभिरुचि के विषयों का कल्पनामय संश्लेषण है। बाद के एक नाटक 'सोनाल वाटकडी' में भी उनका विषय यही रहा है। परन्तु उनके नाटक 'आगगाडी' में भी जिस पर बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशाब्द के प्रारम्भ में उन्हें 'रणजीतराम पदक' मिला ये बातें नही हैं। यह उत्पीड़ित जीवन की यथार्थ त्रासदी है जिसमें रेलवे को गहरे दुख और असंस्कृत परितोष का प्रतीक माना गया है। उनका नाटक 'सीता' द्विजेन्द्र लाल राय के नाटक का रूपान्तर है जिसका अन्तिम दृश्य 'शॉ' के नाटक 'कैण्डिडा' की तरह असमंजस-भावना का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'नागा बाबा', जिसमें भिखारियों के संसार का निरूपण है, लेखक का आँखों देखा वृत्तान्त है। ऐसा लगता है कि यह 'शॉ' के नाटक 'मिसेज

वारेन्स प्रोफेसन' का रूपान्तर है जिससे कि इसकी विषयवस्तु भारतीयों के लिए कर्ण-प्रिय हो जाय। 'चन्द्रवदन' रंगमंच पर गूढ़ अथवा स्फुट, व्याजोक्ति अथवा व्यंग के निष्पन्न करने में पारंगत है। परन्तु हास्य-विनोद और विचार के उद्देश्य की गम्भीरता का संश्लेषण करना कठिन है। और 'आराधना' जैसे नाटक में एक कलाकार की कथा है। इसमें हास्य-विनोद का अभाव है जिसके कारण यह नाटक नीरस हो गया है। 'चन्द्रवदन' के संसार में शेली जैसी सादगी है। उनमें व्यक्ति या तो अच्छा है या बुरा। उनका नाट्य-विश्व चाहे जितना विस्तृत है परन्तु उसमें विविधता नहीं है और चाहे जितनी भी विविधता हो वहाँ गहराई नहीं है।

ग्राम्य जीवन की समस्याओं और उसमें निहित काव्य की अधिक सुचारु-रूपेण अनुभूति 'उमाशंकर जोशी' कृत एकांकी-संग्रह 'सापना मारा' और एक अन्य संग्रह में दृष्टिगोचर होती है जो हाल ही में प्रकाशित हुआ है। वे महात्मा गाँधी के डांडी मार्च के समय इन्टर के विद्यार्थी थे। यह स्वाभाविक ही है कि देश की परि-पक्व चेतना उनके मानसिक विकास का अंग बनी। संयत भाव के कारण वे जीवन और कला दोनों को अधिक अच्छी प्रकार देख पाए हैं। यशवन्त पण्ड्या (शरतना घोड़ा) इन्दुलाल गांधी, श्रीधरानी सुन्दरम और कुछ अन्य महानुभावों ने, जो अन्य क्षेत्रों में अधिक विख्यात हैं, इस कार्य में हाथ बँटाया है और उन में से कुछ, जैसे श्रीधरानी, ने प्रतीक-नाट्यों की रचना भी की है। जयन्ती दलाल ने एकांकी नाटकों सम्बन्धी एक त्रैमासिक पत्रिका एकांकी का सम्पादन किया है। उन्होंने स्वयं बहुत-से अच्छे एकांकी लिखे हैं और विभिन्न क्रियाकल्प अपनाए हैं। विदेशी नाटकों का रूपान्तर करने वाले वयोवृद्ध धनसुखलाल मेहता ने गुलाबदास ब्रोकर के सहयोग से 'धूम्रसेर' में, श्री ब्रोकर की सामाजिक परिवर्तनों की कहानी को नाटक का रूप दिया। ब्रोकर ने हाल ही में एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसका नाम 'ज्वलंत अग्नि' है और जिन्हें आवश्यक या साधारण आदर्शवाद ने दूषित नहीं किया। इनकी पृष्ठभूमि राष्ट्रीय संघर्ष की है या स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की कठिनाइयों या बम्बई ग्राम्य जीवन की प्रतिदिन की झाँकी मिलती है।

एक और परवर्ती पीढ़ी के नाटककार भी मैदान में उतर चुके हैं। चारों ओर उत्साह है और बुद्धि एवं हृदय का अधिक व्यापक क्षेत्र में प्रसार हो रहा है। जीवन की गति और कौतूहल में भी वृद्धि हुई है। लगभग तीन वर्ष पहले गुजरात में अपने रंगमंच की सौवीं वर्षगाँठ मनाई गई थी और इस अवसर पर प्रदेश के विभिन्न भागों में 'भवाई' और अन्य श्रेण्य नाटक से लेकर संगीत-नाट्य (ऑपेरा) और नृत्य तक सभी प्रकार के नाट्यों द्वारा मानो समस्त गुजराती रंगमंच के इतिहास ही का

अभिनय किया गया। आज गुजराती नाटक अपना उचित स्थान प्राप्त कर चुका है और विभिन्न प्रकार के नाट्यकारों की बहुलता दिखाई पड़ती है। रूपान्तर किये जा रहे हैं जिनमें से सबसे नया 'सौमरसट माहम' के 'पेनेलोप' पर आधारित 'प्रणयना रंग' है जिसकी रचना रम्भा गांधी ने की है। गुजराती नाट्य-क्षेत्र के पुराने महारथी अभी तक कार्यरत हैं और युवक नाट्यकार भी उन से पीछे नहीं हैं और इस प्रकार गुजराती नाटक बड़ा प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करता है। उस सम्बन्ध में 'चूनी लाल मदिया' के नाम का उल्लेख करना ही पर्याप्त है जिनके नाटक 'रंगदा' पर 'नर्मद स्वर्णपदक' मिला और बाद में 'धूम्रसेर' पर एक और रचना के साथ प्रथम राजकीय पुरस्कार मिला। शिवकुमार जोशी का नाम भी उल्लेखनीय है जिनके नाटक 'पाँख विनाना पारेवां' को 'मादिया' के नाटक 'विषमोचन' के साथ राजकीय पुरस्कार मिला। नाटककारों की पिछली पीढ़ी की विशेषता यथार्थवादी दृष्टिकोण था और नयी पीढ़ी के नाट्यकारों ने अधिक तीखे सम्भाषण लिखने में बड़ी प्रगति की है। क्रियाकल्प में सुधार किया जा रहा है जिससे कि नाटक में काल की समस्या को हल किया जा सके। बजाय इसके कि रेडियो और सिनेमा के क्रियाकल्प का नाटक पर बुरा प्रभाव पड़े, उसे नाटकों में प्रयुक्त किया जा रहा है। अब तक साहित्य मुद्रित शब्द की कला तक ही सीमित था। अब हम फिर ऐसे युग में पहुँच गए हैं जो श्रव्य शब्द का युग है। नाटक में अभिरुचि केवल साहित्यिक ही नहीं रही। अव्यवसायी अभिनेताओं के अभिनयों में जनता की गहरी दिलचस्पी है और प्रत्येक बड़े नगर में इनकी संस्थाएँ हैं। सार्वजनिक व्यवसायी रंगमंच का अभाव भी अब नहीं रहा। शिक्षा की एक-सी प्रणाली के कारण स्थानीय या वर्गों की बोलियों के तात्विक अन्तर को दूर होने में सहायता मिली है। नाटक और रंगमंच के समन्वय का कला-नियम चरितार्थ हो रहा है और इसके अर्थमूलक नियमों का पुनरालेखन हो रहा है।

——

मराठी नाट्य

—श्री मामा साहब वरेरकर

किसी भी अन्य भारतीय भाषा के रंगमंच की अपेक्षा मराठी रंगमंच का इतिहास ज्ञानवर्द्धक और गौरवपूर्ण है। यह सच है कि नाट्य-गतिविधि को जन्म देने का श्रेय बंगाल को ही है। इसने रंगमंच रूपी बालक को न केवल पालने में झुलाया बल्कि उसका पालन-पोषण भी किया। आज भी वह अग्रणी है। लेकिन नाट्य के पुनरुत्थान और उसे नवीन गति प्रदान करने के लिए मराठी रंगमंच पर जो बेजोड़ प्रयत्न हुए हैं, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता।

नाट्य-कला की दृष्टि से बंगाल अत्यन्त समृद्ध है। वहाँ रंगशाला ने फ़िल्म के आगे घुटने नहीं टेके अतः अनुभवी अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों की एक अविच्छिन्न परम्परा वहाँ बनी रही। अब घूमने वाले रंगमंच की व्यवस्था हो जाने से कम प्रयत्न और कम खर्च से अनेक दृश्यों वाले नाटक आसानी के साथ खेले जा सकते हैं। इसके बावजूद मराठी-भाषी जनता ने अपने रंगमंच को आधुनिक रूप प्रदान करने के लिए जो प्रयत्न किये हैं, उनकी मिसाल कम ही मिलती है। यदि घूमने वाले रंगमंच के कारण बंगाल एक ओर अनेक दृश्यों वाले नाटकों की परम्परा स्थापित कर सका है तो दूसरी ओर उससे एक दृश्य तथा एक अंक वाले नाटकों की रचना तथा उनके प्रदर्शन के विकास में बाधा पड़ी है। इससे आधुनिक नाट्य का एक अत्यावश्यक अंग ही अविकसित रह गया है। व्यावसायिक दृष्टि से इस दिशा में बंगाल आज भी पिछड़ा हुआ है। आधुनिक मराठी रंगमंच का उदय १८४३ में माना जाता है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। वास्तव में मराठी रंगमंच की जड़ें दक्षिण के तंजौर नामक राज्य में जमीं जहाँ उस समय मराठे शासन करते थे। लगभग दो शती पूर्व वहाँ के एक मराठा शासक ने स्वयं नाटकों की रचना की थी और अपने आदेशानुसार उनका प्रदर्शन कराया था परन्तु उनका प्रभाव स्थायी न रह सका और मराठी भाषी प्रदेश अतृप्त ही रह गया।

जिन लिखित नाटकों ने १८४३ में मराठी रंगमंच को आधुनिकता की ओर अग्रसर किया, वे नितांत नवीन नहीं थे। वे गत शती के अंतिम चरण के आसपास गोआ में प्रदर्शित पुराने नाटकों के ढंग के ही थे। उस समय के बारे में बड़े-बूढ़ों से

मालूम हुआ कि उन नाटकों का प्रदर्शन हुआ करता था जो सीधे सभी के पढ़ने के लिए लिखे जाते थे। यद्यपि गोआ महाराष्ट्र का ही अंग है पर पिछली पाँच शताब्दियों से पुर्तगाली शासन होने के कारण वहाँ भाषा का स्वरूप ही दूसरा हो गया है। अंग्रेज़ों ने महाराष्ट्र पर शासन तो किया पर वे वहाँ की सांस्कृतिक गतिविधियों के महत्व को समझने में असमर्थ रहे। इस प्रकार १८४३ मराठी रंगमंच की जन्म-तिथि मानी गई—और इसी आधार पर १९४३ में उनका शताब्दी-समारोह मनाया गया।

कहा जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था में मराठी रंगमंच कन्नड़ रंगमंच से प्रभावित था। परन्तु कर्नाटक और गोआ की सीमाएँ इस प्रकार गुथी हुई हैं कि यह कहना कठिन होगा कि प्रेरणा वास्तव में कर्नाटक से मिली अथवा गोआ से अथवा कर्नाटक ने तंजौर द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुगमन मात्र किया। इन अनुमानों को सिद्ध करने के लिए कोई अकाट्य प्रमाण वहीं है।

यह तो लिखित रूप में नहीं मिलता कि ब्रिटिश युग से पूर्व कोई रंगमंच था या नहीं पर वैष्णव कवियों की रचनाओं में नाटकों, अभिनेताओं तथा नाट्य का उल्लेख मिलता है। इन रचनाओं का काल १२वीं शती माना जाता है। लेकिन यह निश्चित करना कठिन है कि परम्परा का लोप कब हो गया? गोआ के तटवर्ती प्रदेश और उससे मिले हुए कोंकण के ब्रिटिश-अधीन प्रदेश में जो नाटक खेले गये, उनका वंगाल में 'जात्रा' नाम से विख्यात नाटकों से अद्भुत साम्य था। वास्तविकता तो यह है कि मराठी प्रदेश में भी नाटकोत्सव 'जात्रा' के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। इसी का लोकप्रचलित रूप 'दशावतारी खेल' कहलाता है।

बीसवीं शती की प्रथम दशाब्दी तक ये 'जात्रायें' निकाली जाती थीं। आज भी मुख्य त्योहारों पर 'जात्रायें' निकलती हैं। अतः इस धारणा को निर्विवाद नहीं माना जा सकता कि मराठी रंगमंच का जन्म १८४३ में हुआ।

सवप्रथम दक्षिण महाराष्ट्र के सांगली नामक स्थान में इन अलिखित नाटकों का प्रदर्शन हुआ। बाद में इन नाटकों को खेलने वाली मंडली ने समूचे महाराष्ट्र का दौरा किया। इससे दूसरों को एक नई दिशा मिली और नाट्य-गतिविधि में तेज़ी आई। नई-नई नाटक कम्पनियाँ खुलीं और उन्होंने नाट्य को आगे बढ़ाया।

लिखित नाटकों का सूत्रपात १८७०-७५ के लगभग हुआ। कुछ रचनाय समकालीन उपन्यासों पर आधारित थीं। अंग्रेज़ी नाटकों के रूपान्तर का नया चलन शुरू हुआ। मराठी रंगमंच पर जो शेक्सपीरियन नाटक पहले-पहल खेला गया, वह

था "कामेडी आफ़ एरर्स" का एक रूपान्तर। इसका शीर्षक था "भ्रान्ति-कृत चमत्कार"। शेक्सपियर के 'हैमलेट' और 'टेमिंग आफ़ दि श्रू' नामक दो और नाटकों का रूपान्तर मराठी में हुआ। इससे मराठी रंगमंच को एक सुदृढ़ आधार मिल गया और उसमें स्थिरता आई।

इन नाटकों का प्रदर्शन दकन कालेज, पूना के प्रो० वासुदेव बालकृष्ण केलकर ने गणपतराव जोशी तथा बलवन्तराव जोग नामक रंगमंच के दो तपे हुये प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों की सहायता से किया जिन्होंने अभिनय में कमाल कर दिया। वैसे वे पुरानी परिपाटी के अनुसार अलिखित नाटक खेलने वाली 'शाहूनगरवासी' नामक मंडली में काम किया करते थे। इस नए प्रयोग से उनका क्षेत्र तो व्यापक हुआ ही पर साथ ही इसका दूसरी व्यावसायिक कम्पनियों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप मराठी रंगमंच में एक निखार आ गया और उसे एक व्यवस्थित रूप मिल गया।

बम्बई में समकालीन उर्दू और गुजराती रंगमंचों के गेय नाटकों का प्रदर्शन होता था। बलवन्त पाण्डुरंग उर्फ अन्ना साहब क्रिलोस्कर ने प्रेरित होकर कालिदास के 'शाकुन्तल' का रूपान्तर किया। इसका अभिनय बहुत सफल रहा शकुन्तला के पश्चात् अन्ना साहेब क्रिलोस्कर केवल 'सौभद्र' तथा 'रामराज्य वियोग' नामक दो और नाटकों की ही रचना कर सके क्योंकि १८८४ में उनका स्वर्गवास हो गया। लेकिन इससे कोई व्यवधान नहीं पड़ा। उनका अभाव गोविन्द बल्लाल देवल ने पूरा किया। उन्होंने 'मृच्छकटिक' तथा 'शापसंभ्रम' की रचना करके अपने पूर्ववर्तियों के साथ-साथ महाराष्ट्र में गेय नाटकों की परम्परा स्थापित की। इस सफलता से प्रेरित होकर गेय नाटक खेलने वाली अनेक कम्पनियाँ खुलीं और उन्होंने परम्परा को आगे बढ़ाया।

पर इतना निश्चित था कि गद्य नाटक अब भी अधिक लोकप्रिय थे और वे इन गेय नाटकों की अपेक्षा कहीं गम्भीर छाप छोड़ते थे। गेय नाटकों को संस्कृत नाटक की जटिलता को छोड़ना था तब कहीं वे इस योग्य हो पाते कि शेक्सपियर के ढंग के नये गद्य नाटकों के समकक्ष हो सकें। क्रिलोस्कर मंडली ने जो पुराने नाटक की यह कमज़ोरी जानती थी--एक नये नाटक की रचना के लिये पारितोषिक की घोषणा की। बहुत से नाटकों में से उसने श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के 'वीरतनय' को चुना और उसका प्रदर्शन किया। गेय नाटक के विकास की यह एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण घटना थी। इसने गेय नाटक की परम्परागत धारणा को ही बदल डाला। इस नाटक की रचना में लेखक ने पश्चिमी टेकनीक को अपनाया और संगीत में शास्त्रीय तथा सरल शास्त्रीय पद्धतियों का सम्मिश्रण किया।

'वीर तनय' ने मराठी के गेय नाटक के क्षेत्र में एक क्रान्ति ला दी। बाद के नाटककारों के लिये वह आदर्श बना।

उस समय स्वाधीनता-संग्राम पूरे वेग पर था और महाराष्ट्र भी उसमें कूद पड़ा था। उन दिनों बीसवीं शती का प्रारम्भिक चरण था। आन्दोलन के प्रभाव से रंगमंच भी अछूता नहीं रहा। 'केसरी' में महाराष्ट्र की वाणी मुखरित हो रही थी। उसमें बाल गंगाधर तिलक और गोपाल गणेश आगरकर के अंगार बरसाने वाले सम्पादकीय लेखों की भरमार रहती थी जिन्होंने मराठों में नई जागृति पैदा की। परन्तु दुर्भाग्यवश इन दो महारथियों में मतभेद हो गया।

यदि तिलक राजनीतिक आन्दोलन में विश्वास करते थे तो समाज-सुधार को पीछे रखकर राजनीतिक आन्दोलन की बात आगरकर की कल्पना में भी नहीं आ सकती थी। तिलक धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहते थे। उनका विचार था कि अधिकांश जनता कट्टरपंथी है अत: उस पर समाज-सुधार थोपना कठिन होगा। इस मतभेद के कारण वे मिलकर काम न कर सके। आगरकर ने अपने विचारों के प्रचार हेतु अपना निजी पत्र 'सुधारक' निकाला। इससे महाराष्ट्र के नेताओं के अलग दल बन गये।

आगरकर की भाँति जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे भी समाज-सुधार के प्रबल समर्थक थे। राजनीति में वह समझौते और बीच-बिचाव की नीति के समर्थक थे। अत: यह स्वाभाविक ही था कि आगरकर की अकाल मृत्यु के बाद समस्त भार जस्टिस रानाडे पर ही आ पड़ा। आगरकर के अनुयायियों के विचारों को ढालने में उनका सबसे बड़ा हाथ था। उनके शिष्य गोपालकृष्ण गोखले ने राजनीति में समझौते और सुधार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। रवैये में धीरे-धीरे परिवर्तन आया। जिस पंडाल में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था, उसी में सामाजिक सम्मेलन हुआ। इस प्रकार समाज-सुधार की धारा राजनीतिक आन्दोलन से अलग हुई।

गोखले के अनुयायी 'उदारदलीय' कहलाये और तिलक के 'उग्रदलीय' क्योंकि वे एकमात्र राजनीति पर ही अत्यधिक बल देते थे। इस सैद्धान्तिक मतभेद की छाप अनिवार्यतः मराठी रंगमंच की भावभूमि पर भी पड़ी। फलस्वरूप गद्य को अपनाने वाला रंगमंच जिस पर उग्रदल की स्पष्ट छाप थी 'उग्रदलीय रंगमंच' हो गया और गेयता को प्रश्रय देने वाला रंगमंच 'सुधारदलीय रंगमंच।'

इस प्रसंग में कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर का नाम औरों से कहीं बढ़ चढ़

कर है। वह तिलक के 'केसरी' में सह-सम्पादक थे और पैनी लेखनी के लिये प्रसिद्ध थ। वह 'महाराष्ट्र नाटक मण्डली' के लिये लिखते रहे जिसकी स्थापना कोंकण के महाड ताल्लुके के शिक्षितों के एक दल ने १९०५ ई० में की थी। उनके नाटकों ने महाराष्ट्र में मानो अग्नि में घृत का काम किया।

दिल्ली दरबार में लार्ड कर्ज़न ने जो अपमानजनक भाषण दिया था, उस पर उन्होंने एक प्रचण्ड रूपक की रचना की थी और उसमें राष्ट्र पर अंग्रेज़ों के अत्याचारों का पर्दाफ़ाश कर दिया था। नाटक का शीर्षक था 'कीचक वध' और वह पौराणिक कथा पर आधारित था। इसमें इतना सजीव चित्रण था कि महाराष्ट्र में रोष की एक व्यापक लहर फैल गई जिसके कारण पुस्तक ज़ब्त कर ली गई।

लगभग इसी समय लार्ड कर्ज़न बंगाल के विभाजन का षड्यन्त्र रच रहे थे। महाराष्ट्र ने इसका एक होकर विरोध किया और ज़ोरदार आन्दोलन शुरू किया। उसने दिखा दिया कि इस विरोध में वह बंगाल के साथ है। इस विषय पर अनेकानेक नये नाटकों की रचना हुई। सरकार ने एक-एक करके सभी रचनायें ज़ब्त कर लीं। इनकी संख्या ८० के लगभग थी। आज किसी को उनके शीर्षकों का भी पता नहीं।

उन दिनों नाटक के प्रदर्शन के लिये पुलिस कमिश्नर से आज्ञा-पत्र प्राप्त करना पड़ता था। अत: नगरों में रंगमंच पर जो निषिद्ध था, उसके प्रदर्शन के लिये 'तमाशा' को माध्यम बनाया गया। तमाशा लोक-नृत्यमय नाटक का एक देशी रूप था और अधिकतर देहातों में खेला जाता था। इसे सेंसर भी नहीं करना पड़ता था। इसमें प्रच्छन्न रूप से राजनीतिक प्रचार रहता था जिसने ग्रामीणों के मन में स्वाधीनता की भावना जागृत कर दी थी।

सरकार 'तमाशे' को तमाशा ही समझती रही। उसकी दृष्टि में यह अपढ़ जनता के मनोरंजन का एक साधन मात्र था। इसकी कोई संस्था भी है—इस सम्बन्ध में उसे पर्याप्त ज्ञान नहीं था। अत: उसने इसकी गतिविधियों पर नज़र नहीं रखी—गतिविधियाँ जो जनता में नई जागृति फैला रही थीं। देहातों से दूर रहने वाले बाबू लोगों को भी इसकी कोई जानकारी नहीं थी। लेकिन काम चलता रहा—बिना किसी आडम्बर के चुपचाप।

लेकिन नगर के रंगमंच पर कड़ी निगरानी रखी गई। नाटककारों को ऐसे सभी उपाय करने पड़ते थे जिनसे सेंसर की नौबत ही न आये और जनजागरण का उनका उद्देश्य भी सफल हो। इससे प्रगति में बाधा पड़ी क्योंकि उन्हें ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों की ओट लेनी पड़ी। विषय की दृष्टि से वे उससे परे नहीं जा सके। यद्यपि सेंसर पहले-पहल बंगाल में लगाया गया था ताकि आन्दोलन पनपने ही न पाये। लेकिन बाद के नाटक बुझती हुई अग्निशिखा पर राख के ढेर के समान

रह गये क्योंकि या तो उसके पुराने सेनानी समाप्त हो चुके थे अथवा जो जीवित थे, वे उससे संन्यास लेकर मौन हो चुके थे। नये नाटककारों में अन्तर्दृष्टि का अभाव था। यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से बंगाल और महाराष्ट्र में बहुत-कुछ समानता है पर बंगाली और मराठी रंगमंच कभी एक दूसरे के इतने निकट नहीं आये कि उनमें समानता का आभास मिल सकता। यदि मराठी नाटक आन्दोलन को प्रेरणा देने वाले थे तो उसका कारण था अपने चारों ओर के वातावरण की माँग की सहज अभिव्यक्ति और रंगमंच के साथ कुछ राजनीतिक नेताओं का सम्पर्क। बंगाली रंगमंच की रंच-मात्र भी नकल नहीं की गई। अत: बंगाल में आन्दोलन की प्रेरणा देने वाले नाटकों की परम्परा समाप्त होने पर भी मराठी रंगमंच पर यह परम्परा बनी रही। परन्तु मराठी नाटकों की गेय तथा गद्य रूप में दो अलग धारायें अब भी विद्यमान थीं।

जैसे प्रो० वी० बी० केलकर ने मराठी दर्शकों के समक्ष शेक्सपियर के नाटक प्रस्तुत करके गद्य को एक विशिष्टता प्रदान की थी वैसे ही कौशल से इन अध्यापकों ने उक्त मण्डली के लिए खाडिलकर के नाटकों का मंचीय उपस्थापन किया।

इन साहित्यिक महारथियों के सम्पर्क के कारण मराठी रंगमंच में साहित्य का पुट आया। इससे उसका स्तर न तो नीचा ही हुआ और न इसमें बाज़ारूपन ही आ पाया। इसके विपरीत प्रारम्भ से ही राजनीतिक नेताओं, समाज-सुधारकों और साहित्यिकों की गहरी दिलचस्पी के कारण इसमें सेवा-भाव और आदर्शवाद का समावेश हुआ। इससे न केवल कला का ही विकास हुआ बल्कि जनता को शिक्षा भी मिली। जैसे-जैसे गद्य तथा गेय नाटक-कम्पनियों की संख्या बढ़ी वैसे-वैसे उच्च साहित्यिक कोटि के नाटकों की रचना में भी तेज़ी आई। वैसे नाटक-रचना शैली में बीसवीं शती की प्रथम शताब्दी के बाद भी नहीं बदली थी। गद्य-नाटक-रंगमंच पर शेक्सपियर की छाप थी। अनुवाद अथवा रूपान्तर का प्रचलन नहीं रह गया था। परन्तु मौलिक नाटकों में शेक्सपियर की अनेक दृश्यों वाली प्रविधि अपनाई गई थी। भास ने दो हज़ार वर्ष पूर्व एकांकी नाटकों के अलावा अनेक अंक वाले नाटक भी रचे थे। वे सब एक दृश्य एक अंक वाले नाटक थे। कालिदास जैसे बाद के संस्कृत नाटककारों ने भी उसी पथ का अनुसरण किया था पर यह विशुद्ध भारतीय परम्परा लुप्त हो गई। यद्यपि भास की टेकनीक को गेय नाटकों में अपनाया गया पर बाद में उन पर भी शेक्सपियर और मोलियर का प्रभाव पड़ा।

विश्वविद्यालयों में केवल शेक्सपियर का अध्ययन होता था। मोलियर को इने-गिने लोग जानते थे जो अंगरेज़ी का अच्छा ज्ञान रखते थे और वह भी अनुवाद के माध्यम से। इन दो के अतिरिक्त हमारे स्नातकों को अन्य किसी

यूरोपीय नाटककार का पता न था। शेक्सपियर के देश में इब्सन के क्रिया-कल्प का बोलबाला था। इंगलैंड से बाहर भी वह छा गया था। लेकिन भारत में अकेला महाराष्ट्र ही था जहाँ संगठित रंगमंच होने पर भी इब्सन जैसे व्यक्तित्व का कोई पता न था। इससे मराठी रंगमंच का विकास रुका।

गेय नाटक अब भी राजनीति से अलग थे। संगीत का भी उनमें कम आकर्षण न था। इतना होने पर भी गद्य नाटक केवल आन्दोलनात्मक प्रवृत्ति के कारण गेय नाटक पर छा गया। गेय नाटक के साथ बालगंधर्व, केशवराव भोंसले और सवाई गंधर्व जैसे नामी और जन्मजात संगीतज्ञ तथा अभिनेता थे। पर उनका व्यक्तित्व जनता को गद्य नाटक की ओर आकर्षित होने से न रोक सका। जनता में गहरी राजनीतिक चेतना थी; समाज-सुधार पर आँसू बहाना व्यर्थ ही रहा। न केवल जनता पर ही बल्कि उच्च वर्ग पर भी इसका कोई असर नहीं हुआ।

१९१५ और १९२० के बीच में जब प्रदेश में इस प्रकार का वातावरण था—मराठी रंगमंच ने सजावट, सेटिंग, मंच-विधान, रंग-भूषा आदि में काफ़ी उन्नति की। लेकिन शैल्पिक दृष्टि से वह अब भी पिछड़ा हुआ था।

इसी बीच महात्मा गाँधी राजनीति में प्रवेश कर चुके थे और अपना प्रभाव जमा चुके थे। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे समाज-सुधार के पक्षपाती भी कांग्रेस प्लेटफ़ार्म पर आ गये थे। गाँधी जी के प्रभाव से ही सामाजिक सम्मेलन का भी कांग्रेस में ही विलय हो गया। दोनों अपने विचार एक ही प्लेटफ़ार्म से रखने लगे। महाराष्ट्र पर इसका गहरा असर पड़ा। महाराष्ट्र और विदर्भ में तिलक के अनुयायी गाँधी दर्शन का प्रचार करने लगे। ये वे ही नेता थे जो महाराष्ट्र में रंगमंच का संरक्षण और निर्देशन कर रहे थे। नव दर्शन के कारण यह स्वाभाविक ही था कि गद्य तथा गेय नाटक का सैद्धान्तिक संघर्ष समाप्त हो गया और गेय रंगमंच पर राजनीतिक उद्देश्य वाले नाटक खेले जाने लगे।

रंगमंच के क्रिया-कल्प पर भी इसका प्रभाव पड़ा और उसमें परिवर्तन हुआ। लेकिन नाटक की आत्मा का भी रूप बदला। संगीत में पटु अभिनेताओं के साथ-साथ गद्य में पटु अभिनेता भी रंगमंच पर आये। फलस्वरूप गेय नाटक के गद्य भाग को अधिक महत्व दिया जाने लगा। धीरे-धीरे गीतों की संख्या कम होती गई। इस दिशा में 'तरुंगचय दशत' नामक नाटक प्रथम प्रयास था। यह पहली फरवरी १९२३ को खेला गया था। यह तीन घंटे चला जबकि पहले नाटकों के खेचने में पाँच-छह घंटे लग जाते थे। गीतों की संख्या केवल ग्यारह थी जबकि पुरानी शैली के नाटकों में चालीस तक गीत होते थे। विषय की दृष्टि से भी इसमें साहस का परिचय

दिया गया था। अस्पृश्यता निवारण जैसे विषय के कारण यह अतीव सफल रहा पर आर्थिक दृष्टि से इसे सफलता नहीं मिली। इसे कांग्रेस की ओर से स्वर्णपदक प्रदान किया गया था।

लगभग इसी समय अथवा इसके कुछ पूर्व 'ललितकलादर्श' नामक नाटक-मंडली ने रंगमंच को नया ही रूप देने का प्रथम सफल प्रयास किया। उसने उठाने और गिराने वाले पर्दों को तजकर आधुनिक ढंग के 'बाक्स सीन' बनाये। दूसरे, नाटक का उद्देश्य गांधी का सन्देश देना था। नाटक को भारी सफलता मिली क्योंकि इसका विषय ऐसा था जो कट्टरपंथियों को भी अप्रिय नहीं था। आज भी यह नाटक उतना ही लोकप्रिय है। इसमें १० गीत थे जिन्हें नायक और नायिका दोनों ने गाया। नाटक में तनिक रुचि रखने वाला भी इसे समझ लेता है। अन्य नाटक-मंडलियों ने इसे नहीं अपनाया क्योंकि वे अब भी अपनी भावनाओं से चिमटे हुये थे। इसका शीर्षक था 'सातेचे गुलाम'। इब्सन की टेकनीक को कुछ हद तक इसमें अपनाया गया था। इसी कारण संभवतः यह ग्राह्य हुआ।

इधर पासा पलटा। गेय रंगमंच पर राजनीति के उद्देश्य वाले नाटकों का प्रदर्शन होने ही लगा था। धीरे-धीरे गद्य का लोप होने लगा। इसके अनेक अभिनेता गेय रंगमंच पर काम करने लगे और उसका प्रभाव दिनों-दिन क्षीण होने लगा। यहाँ तक कि गद्य का रंगमंच लुप्त-सा ही हो गया।

एक और कमी थी जो बुरी तरह खटकती थी। स्त्री पात्रों का अभिनय अब भी पुरुष ही करते थे। इससे नाटककार को कठिनाई होती थी। उसे ऐसे स्त्री पात्रों की कल्पना करनी पड़ती थी जिसका अभिनय पुरुष कर सकें।

कट्टरपंथी महाराष्ट्री रंगमंच पर स्त्रियों का आना बहुत बुरा समझता था। इससे समस्या और भी जटिल हो गई। कोई भी स्त्रियों को स्टेज पर लाने का साहस नहीं करता था। स्त्रियों के मन में भी हिचक थी। बंगाली रंगमंच पर स्थिति इसके सर्वथा विपरीत थी। उस पर सदा से स्त्रियाँ काम करती रहीं जिससे कला की दृष्टि से वह उन्नत हुआ। १९३२ में मराठी रंगमंच पर पहले-पहल स्त्री पात्र का सफल अभिनय हुआ। हीराबाई बडोदकर ने—जो कंठ-संगीत के क्षेत्र में आज उच्च-कोटि की कलाकार हैं—उसी वर्ष स्वयं एक नाटक-मंडली की स्थापना की और अपनी दो बहिनों के साथ रंगमंच पर काम किया।

पर उनमें एक कमी थी। वे संगीत में तो प्रवीण थीं पर अभिनय-कला में

उतनी पटु नहीं थीं। दूसरे, उन्हें कुशल अभिनेता भी नहीं मिले। अतः कुछ ही वर्षों में कम्पनी बन्द करनी पड़ी।

एक और स्मरणीय घटना 'नाट्य-मन्वंतर' नामक मण्डली की स्थापना थी। जिस प्रकार 'महाराष्ट्र नाटक मण्डली' की स्थापना कुछ उत्साही युवकों ने की थी उसी प्रकार नाट्य-मन्वन्तर की स्थापना करने वालों में विश्वविद्यालय के स्नातक थे। इसकी स्थापना १९३३ में हुई थी। पहले इसकी योजना इब्सन के 'डौल्स हाउस' से श्रीगणेश करने की थी पर बाद में उन्होंने अपना विचार बदल कर इब्सन के नार्वेजी प्रतिद्वन्द्वी के 'गांटलेट' का रूपान्तर किया। शीर्षक था 'आंधलपांचो शाला'। इसकी रचना तथा प्रदर्शन आधुनिक ढंग से हुआ। पुराने हिसाब से गेय तो नहीं कहा जा सकता पर इसमें केवल तीन गीत थे और उपयुक्त स्थलों पर थे। इसके अतिरिक्त यथास्थान 'बैकग्राउण्ड' संगीत भी था। दो स्त्री पात्र थे जिनका अभिनय स्त्रियों ने ही किया। इस प्रकार इसे इस दिशा का सर्वप्रथम सुसंगठित प्रयास कहा जा सकता है कि स्त्री-पात्रों का अभिनय स्त्रियों ने ही किया और वह अभिनय की दृष्टि से सफल रहा। इनमें ज्योत्सना भोले भी थीं जिन्होंने मराठी रंगमंच पर अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। दुर्भाग्यवश कम्पनी केवल डेढ़ वर्ष तक ही चल सकी। यदि संगठनकर्ता ठीक तरह प्रबन्ध करते तो कम्पनी और अधिक चलती क्योंकि जनता ने इसके खेल पसन्द किये और उस पर काफ़ी असर पड़ा। यह उस समय की बात है जब सिनेमा रंगमंच को मिटाने में लग गया था। इसे वाणी मिल गई थी और इस पर चाँदी बरसने लगी थी। ज़्यादा से ज़्यादा पैसा कमाने के लिये फ़िल्म-वितरकों को सभी प्राप्य थियेटरों पर क़ब्जा करना पड़ा। उन्होंने ज़िलों और ताल्लुकों को भी नहीं छोड़ा। अतः मराठी नाटक को भटकना पड़ा। महाराष्ट्र में एक-एक करके चालीस नाटक कम्पनियाँ बन्द हो गईं।

बम्बई में ही केवल श्रमिकों के क्षेत्र में एक ऐसा हाल था जिसमें नाटक खेले जा सकते थे। रचनाएँ कला-प्रेमी लेखकों की होती थीं और अभिनेता भी शौकिया होते थे। दोनों ही श्रमिक वर्ग के थे। अन्य दस नाट्य-शालाओं में से—जो पहले रंगमंच के लिये प्राप्य थीं—केवल एक को एक गुजराती कम्पनी ने लिया पर मराठी रंगमंच से इसका कोई सम्बन्ध न था। इस प्रकार १९३५–३६ में मराठी रंगमंच को ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा जिसमें उसकी परम्परा का लोप अनिवार्य मालूम पड़ता था।

दूसरी ओर १९३० के जन-सत्याग्रह के कटु अनुभव के कारण सरकार ने नाटक का गला इतनी ज़ोर से दबोचा कि उसका साँस ही घुटने लगा।

इसी समय के आस-पास एक नई कम्पनी खुली। इसमें एक नवीनता थी। इसने 'सुखान्त प्रहसन' का प्रदर्शन आरम्भ किया और प्रौढ़ पात्रों का पार्ट तेरह से उन्नीस वर्ष के लड़कों को दिया।

हास्य के पुट के कारण ये नाटक सेंसर के सिकंजे से बच गये। मराठी जनता ने इन्हें प्रोत्साहन और संरक्षण दिया क्योंकि पुरानी कम्पनियों के बन्द हो जाने से अच्छे नाटकों का नितान्त अभाव हो गया था। गम्भीर नाटकों का स्थान हास्यपूर्ण नाटकों ने ले लिया। कुशल अभिनेता वही समझा जाता था जो लोगों को हँसा सके।

१९४१ में दो नई कम्पनियों ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया। इनके नाम थे 'नाट्य-निकेतन' और 'लिटिल थियेटर'। दोनों के पास ऐसी टेकनीक और नाट्य-सामग्री थी जो वास्तव में आधुनिक नाटकों के योग्य थी। अच्छी नाट्य-शालाओं के अभाव की पूर्ति वे सिनेमा थियेटरों से करती थीं। समय सवेरे नौ बजे से बारह तक का होता था। आर्थिक कठिनाइयों के कारण 'लिटिल थियेटर' तो छह मास के भीतर बन्द हो गया परन्तु 'नाट्य-निकेतन' सँभलने की कोशिश कर रहा है। यद्यपि इसका जन्म बम्बई में हुआ पर थियेटर के लिये स्थान के अभाव से इसे मराठी प्रदेश में भटकना पड़ा है। इन दूरस्थ स्थानों में भी उसे सिनेमा थियेटरों पर निर्भर रहना पड़ता है। इससे पैसा तो अधिक खर्च होता हो है पर साथ ही उसकी गतिविधि भी बँध जाती है। भारी खर्च को पूरा करने के लिये उसे एक स्थान पर अधिक से अधिक चार-पाँच दिन ही टिकना पड़ता है। जो भी हो, यह उन अन्तिम नाट्य-मण्डलियों में से है जो सेवा-भाव से ओतप्रोत होते हुए भी मैदान में टिक सकी हैं।

इन कई वर्षों में इब्सन की टेकनीक को लोकप्रियता देने के प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुये। १९२३ के बाद जब पहले-पहल इसका प्रयोग किया गया, कुछ 'एक अंक एक दृश्य' वाले नाटक रंगमंच पर खेले तो गये लेकिन उनका समय पाँच घंटे ही रखना पड़ता था। 'नाट्य-निकेतन' ने इस परम्परा का उल्लंघन किया और तीन घंटे की उचित अवधि निश्चित की। इस कम्पनी के मालिक श्री मोतीराम रांगणेकर स्वयं नाटकों की रचना, निर्देशन तथा निर्माण करते थे। सेटिंग में भी वह सिद्धहस्त थे। एक व्यक्ति ही नाटक के निर्माण का सारा काम सँभालता था इसलिये लक्ष्यपूर्ति भी आसान हो गई थी।

इन नाटकों की सफलता से प्रेरित होकर बाद के नाटककारों ने भी 'एक अंक एक दृश्य' वाले नाटकों की रचना की। लेकिन नाट्य-मण्डलियों के अभाव में वे

अधिक दिन नहीं टिक सके। कुछ कला-प्रेमियों ने नाटक लिखवाये और तीन-चार नाटक खेले भी पर यह सब व्यर्थ ही रहा। इस नाट्य-शैली ने अनेक दृश्यों वाली परम्परा को उखाड़ फेंका।

'नाट्य-निकेतन' ने सोद्देश्य स्त्री पात्रों का अभिनय स्त्रियों से ही कराया। अभिनेता अधिकाधिक इसकी ओर आकर्षित हुये और वे स्त्री पात्रों के अभिनय के लिये स्त्रियों को रंगमंच पर लाये। स्त्रियों की भूमिका करने वाले कुछ पुरुष आज भी हैं पर उस परम्परा के अवशेष-रूप में। उन्हें उनकी पुरानी सेवाओं के बदले में ही संरक्षण दिया जाता है।

१९४३ में मराठी रंगमंच का शताब्दी समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया गया। सांगली में इस अवसर पर महाराष्ट्र के कोने-कोने से कोई बीस हज़ार व्यक्ति एकत्र हुये। इस स्थल को इस समारोह के लिये इसलिये चुना गया कि वहीं से नाटक की परम्परा शुरू हुई थी। इस स्थान पर पुराने और नये कलाकारों का परस्पर सम्पर्क हुआ। महाराष्ट्र के बम्बई, कोल्हापुर, अमरावती, हैदराबाद और पूना जैसे प्रमुख नगरों में भी यह समारोह मनाया गया। इसमें बम्बई का समारोह विशेष उल्लेखनीय है। विभिन्न मण्डलियों ने चौदह दिन तक नाटक खेले। हाल खचाखच भरे रहे। औसत से प्रत्येक दिन कोई १० हज़ार व्यक्ति आये। इस अवसर पर एक विशाल खुली नाट्यशाला तैयार की गई थी। कई नाटक दुबारा-तिबारा खेले गये।

यह एक उत्साहवर्धक अनुभव था। दर्शकों में एक नया उत्साह भर गया। इस समारोह के बाद प्रतिवर्ष इसकी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा की जाती है। प्रति वर्ष नाटक-प्रेमियों ने नवीन उत्साह का परिचय दिया है। एक प्रकार से इन समारोहों ने मराठी रंगमंच के विकास में बाधा डाली क्योंकि आधुनिक ढंग के नये नाटकों में रुचि उत्पन्न करने के बजाय उन्होंने केवल पुरानों का ही उद्धार किया। यह सच है कि कुछ नये नाटक प्रस्तुत किये गये लेकिन उनमें से अधिकांश अंगरेज़ी से रूपान्तरित किये गये थे। यदि कोई मौलिक नाटक रचा भी गया तो उसमें नाटकीयता का अभाव रहा।

नये नाटकों का प्रयोग बहुत क्षीण रहा। जिन पेशेवर नाटक कम्पनियों में लगन वाले अभिनेता थे, वे ही ऐसा सफल दुस्साहस कर सकते थे। महाराष्ट्र में सम्भवतः 'नाट्य-निकेतन' ही एक ऐसी मण्डली थी जो व्यावसायिक रूप से काम कर रही थी लेकिन नाट्यशालाओं के अभाव में वह भी आर्थिक स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकी। दूसरी ओर नाटक प्रेमी भद्दी रुचि के शिकार हो रहे थे। छिन्न-भिन्न

परम्परा के स्थान पर कालेजों की मण्डलियाँ और शौकिया नाटक खेलने वाली मण्डलियाँ सुखान्त प्रहसन प्रस्तुत कर रही थीं जिन्हें नाटक की भूखी जनता ने नाटक के अभाव में अमृत समझा। भूख में उन्हें यह सड़ा-गला हास्य ही स्वादिष्ट लगा। इससे मराठी रंगमंच का स्तर तो गिरा ही साथ ही जनता की रुचि भी बिगड़ी।

बंगाल ने इस दिशा में बुद्धिमानी से काम लिया। कलकत्ता जैसे नगर में केवल नाट्य-मण्डलियों के प्रयोग के लिये पाँच नाट्यशालाएँ विद्यमान थीं। इसे बंगाली नाट्य की परम्परा बनी रही और उसका सतत विकास भी होता रहा। बंगाल सरकार ने भी नाटक प्रदर्शन पर से कर हटाकर इस विकास में योग दिया। इधर बम्बई में १६२३ के बाद कर बढ़ते ही गये। गत कुछ वर्षों में नाटक के प्रदर्शन के मार्ग में इतने रोड़े अटकाये गये कि लाभ की इच्छा न रखने वाले प्रदर्शनों को भी भारी हानि हुई। पग-पग पर करों की भरमार थी। इन कठिनाइयों के बावजूद अकेला श्रमिक-वर्ग श्रमिकों के लिये नाटक रचता और खेलता रहा। उसकी जड़ें काफ़ी जम चुकी हैं। किन्हीं उत्सवों पर गाँव वाले अपने नाटक खेलते हैं। इससे सम्भवतः परम्परा बनाये रखने में सहायता मिली है। लेकिन इस दृष्टि से कि रंगमंच का न तो सुधार हुआ है और न ही विकास, यह अल्प तुष्टि का विषय है। इस बीच बम्बई सरकार ने शौकिया नाटक खेलने वाली और लाभ की इच्छा न रखने वाली मण्डलियों को उनके सर्वोत्तम प्रदर्शन के लिये पुरस्कार प्रदान करने की योजना चलाई है। निस्सन्देह इससे उन्हें काफ़ी प्रोत्साहन मिला है। लेकिन यही अभी देखना है कि इससे नाटक-रचना अथवा रंगमंच में सुधार होगा अथवा नहीं। हम पुराने नाटकों की परम्परा का उद्धार होते तो देखते हैं। इनमें से अधिकांश की प्रवृत्ति हास्य की ओर है। दूसरे निर्णायकों का भी ग़लत तरीक़े से चुनाव होता है जिससे पुरस्कार भी अपात्र को मिलते हैं। इस योजना से इतना अवश्य हुआ कि रंगमंच के हितों को बल मिलने के बजाय पेशेवर नाट्य-मण्डलियों के प्रति उदासीनता और घृणा-भाव पनपने में सहायता मिली है।

महाराष्ट्र की रंगमंच के प्रति सदा से रुचि रही है। आज भी है। है ही नहीं बल्कि बढ़ती जा रही है लेकिन साथ ही नाटक-रचना की नई पद्धति तथा रंगमंच में सुधार की भारी आवश्यकता भी अनुभव की जा रही है। गत कुछ वर्षों के भीतर कुछ संस्थाओं ने वार्षिक एकांकी-प्रतियोगिताओं का आयोजन किया है। लेकिन आज व्यावसायिक स्तर पर काम करने वाले रंगमंच की भारी आवश्यकता है। यह तभी हो सकता है जब समूचे महाराष्ट्र में नई नाट्यशालाएँ बनाई जायें। यदि ऐसा नहीं होता तो मराठी नाटक में स्थिरता नहीं आ सकेगी।

राज्य की ओर से लगाये गये प्रतिबन्ध और करों के कारण देहातों में भी तमाशे और लोक-नाट्य के अन्य रूपों का अस्तित्व दूभर हो रहा है। कभी इन संस्थाओं ने जन-जागृति में महत्वपूर्ण योग दिया था। मनोरंजन के बहाने वे अब भी पुरानी परम्परा को बनाये हुये हैं। उच्च वर्ग ने इसे कभी पसन्द नहीं किया लेकिन रंगमंच के अलिखित इतिहास में जनता के हृदय-परिवर्तन में उनका एक विशिष्ट स्थान था और है। उसके लिये वे प्रशंसा के पात्र हैं। यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि राज्य सरकार इसके प्रति भी उदासीन है। केन्द्रीय सरकार भी यथोचित ध्यान नहीं दे रही है। वास्तव में उच्चवर्ग इसे मिटाना चाहता है। यह स्थिति वास्तव में शोचनीय है।

यह स्थिति केवल लोकनाट्य की ही नहीं बल्कि समूचे मराठी रंगमंच की भी है। प्रतिभा का तो कोई अभाव नहीं। अभिनेता, अभिनेत्रियाँ, शिल्पविद् नाटककार सभी हैं। केवल देर है एक नाट्यशाला की जो उन्हें स्थान दे सके। आख़िर व्यावसायिक रंगमंच--जो महाराष्ट्र की वर्तमान आवश्यकता है—जादू के ज़ोर से तो नहीं आ सकता।

जो भी हो, मराठी रंगमंच को व्यावसायिक आधार की आवश्यकता है ताकि वह प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके और ज़माने का सामना कर सके। एक और कमी है जिसकी मैं चर्चा करना ही चाहूँगा। मराठी नाटककार देश की स्वाधीनता के प्रति जागरूक नहीं है। भावी इतिहासकार इस बात का उल्लेख किये बिना नहीं रहेंगे कि हमारे स्वाधीनता-संग्राम में नाटक ने राजनीतिक आन्दोलन को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। लेकिन नये नाटककारों ने बदली हुई परिस्थितियों के प्रति वैसी ही जागरूकता का परिचय नहीं दिया है।

लेकिन एक बात है कि शॅल्पिक उन्नति चाहे कितनी भी प्रशंसनीय क्यों न हो, नाटक की आत्मा का स्थान तो ग्रहण नहीं ही कर सकती। आज आवश्यकता है ऐसे नाटकों की जो युग-भावना के दर्शन करा सकें। क्या हम टेक्नीक पर आवश्यकता से अधिक बल नहीं दे रहे हैं? ऐसा क्यों? इसलिये कि भावना का अभाव है। यह रोग केवल मराठी रंगमंच को हो—ऐसी बात नहीं। यह एक आम बीमारी है। केवल नई पीढ़ी के उदारमना लेखक ही इसे ठीक कर सकते हैं। क्या वे स्वाधीनता को पहचानते हैं? ज्योंही यह जागरूकता हमारे अन्दर आ जायेगी, रंगमंच के पुनरुत्थान का महत्वपूर्ण क्षण भी दूर नहीं होगा।

———

उर्दू नाटक

—प्रो० अर्श मलसियानी

नाटक का उद्भव भारत में ही हुआ। कुछ विशेषज्ञों का विचार है कि नाटक यूनान से आया, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। उज्जैन और कन्नौज भारतीय नाटक के प्राचीन केन्द्र थे। यदि हम मान भी लें कि यूनानी व्यापार और संस्कृति इन केन्द्रों तक पहुँच चुकी थी, तो इस से यह सिद्ध नहीं होता कि यूनानी नाटक ने भारतीय नाटक पर अपना प्रभाव डाला होगा।

यों तो कालिदास से पहले भी भारत में नाटक लिखे गये थे, परन्तु ईसा से एक शताब्दी पूर्व महाराजा विक्रमादित्य के युग में कालिदास ने इस साहित्य-रूप को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। वह शृंगार-वर्णन में सिद्धहस्त थे। उनका नाटक 'शकुन्तला' भारतीय साहित्य का एक ऐसा फूल है जो कभी मुरझा नहीं सकता। गेटे ने शकुन्तला के सम्बन्ध में लिखा है: 'कालिदास! तूने अपने 'शकुन्तला' में भूमि तथा आकाश की सारी निधियां भर दी हैं। उसमें वसन्त की कलियों का सौन्दर्य हैं, शीतकाल के आकाश से होने वाली तृप्ति जैसी मनःतृप्ति है। उस में विश्व का सम्पूर्ण सौन्दर्य है।'

शकुन्तला के अतिरिक्त कालिदास के दो और नाटक 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र' बहुत प्रसिद्ध हैं।

भवभूति का 'उत्तररामचरित' करुण रस में अद्वितीय है। कालिदास के उपरान्त पुराने नाटककारों में भट्ट नारायण और विशाखदत्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भारतीय नाटक और रंगमंच जिस समय उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा उसी समय भारत पर पश्चिम से आक्रमण होने लगे जिन से देश में सुख-शान्ति का अन्त हो गया। परिणामस्वरूप देश में सामाजिक और सांस्कृतिक पतन होने लगा। उन्नति की चरम सीमा से गिर कर नाटक ने भाण और प्रहसन का रूप धारण कर लिया। अभिजात के हाथों से निकल कर नाटक ग्रामीण के हाथों में चला गया। उस पर ग्रामीणता की छाप गहरी होती गई। नाटककार भी इस से प्रभावित हुए। इस प्रकार दिनों-दिन भारतीय नाटक की अवनति होती गई।

जब मुसलमान विजेता के रूप में भारत आये तो आरम्भ में वे देश के प्रशासन-कार्यों में व्यस्त रहे। शान्ति की स्थापना के उपरान्त उन्होंने भारतीय साहित्य, कला और संस्कृति के अध्ययन की ओर ध्यान दिया। 'नाटक सागर' में लेखकों ने लिखा है :

हमें इस से सरोकार नहीं कि उनका यह कार्य विद्या का संरक्षण करने की भावना से प्रेरित था या केवल मनोरंजन की अभिलाषा से। परन्तु इस में कोई संदेह नहीं कि उन्होंने भारतीय साहित्य और कला के प्रति उदार दृष्टिकोण से काम लिया और अपने सिद्धान्तों तथा प्रशासन-नीति की रक्षा करते हुए यथासम्भव उन्होंने भारतीय संस्कृति और कला के विकास में कोई बाधा नहीं डाली। उस समय जैसा हम ऊपर कह चुके हैं भारतीय नाटक अवनति की अवस्था में था मुसलमानों को संस्कृत का ज्ञान नहीं था और कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं था जो उन्हें कला के रहस्य की जानकारी कराता। इसलिए निकृष्ट को उत्कृष्ट समझते हुए उन्होंने जनता का अनुसरण करने में ही अपना श्रेय समझा। उन्होंने अपनी उदारता से अयोग्य अभिनेताओं को मालामाल कर दिया। नक़द इनाम देने के अतिरिक्त उन्हें गाँव और जागीरें भी दी गई। इन जागीरों में से कुछ एक अभी तक उन की संतानों के पास हैं।

शाह फ़रुख़सियर के युग में नवाज़ नामक एक कवि ने उर्दू में शकुन्तला का अनुवाद किया था, परन्तु इस का अब कोई निशान नहीं मिलता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह अनुवाद नाटक के रूप में था या किसी और रूप में।

बहुत समय तक नाटक की यही स्थिति रही। वाजिद अली शाह के शासन-काल में 'इन्दर-सभा' के प्रचलन ने उर्दू नाटक में एक नये युग का आरम्भ किया।

वाजिद अली शाह साहित्य एवं सौंदर्य का प्रेमी और विलास-प्रिय राजा था। उसका दरबार प्रत्येक प्रकार के सुख-विलास का केन्द्र था। उसके दरबारी सदा इस धुन लगे रहते थे कि रंगीले पिया के लिए मनोरंजन का कोई नया साधन प्रस्तुत करें। दरबारियों ने नयी बोतलों में पुरानी शराब भरनी शुरू कर दी। एक फ्रांसीसी ने 'आपेरा' की रूपरेखा प्रस्तुत की। वाजिद अली शाह के आदेशनुसार मीर अमानत ने 'इन्दर-सभा' की रचना की।

उर्दू नाटक के प्रवर्तन का श्रेय सैयद में आगाहसन अमानत को ही है। इन्दर सभा की रचना १८५० ई० में हुई थी, इस के लिए कैसर बाग में रंगमंच बनाया गया था और यह एक फ्रांसीसी निदशक की देखरेख में अभिनीत हुआ था। इस में

भारतीय अभिनेताओं ने अपना कौशल दिखाया। कैसर बाग की सुन्दर रमणियाँ परियों के वेश में रंगमंच पर उतरीं और इन्द्र का अभिनय वाजिद अली शाह ने किया। अन्य पात्रों का अभिनय उनके दरबारियों ने किया। इस प्रदर्शन में आम जनता नहीं जा सकती थी। इस लिए लोगों ने जगह-जगह पर अपने सीमित साधनों की सहायता से यह नाटक खेलना शुरू किया। फलतः इस को सारे देश में लोकप्रियता मिली। देवनागरी, गुजराती, गुरुमुखी और अन्य लिपियों में 'इन्दर सभा' प्रकाशित हुआ। इंडिया आफिस के पुस्तकालय में इस के लग-भग चालीस संस्करण हैं। १८९२ में इस का एक जर्मन अनुवाद भी प्रकाशित हुआ।

अमानत ने मीर हसन की विख्यात मसनवी 'बदरे मुनीर' का अनुसरण किया है, बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि उन्होंने अपना चिराग़ इसी चिराग़ से जलाया है। मसनवियों में सामान्यतः दानव और परी के पात्रों का प्राधान्य होता था। 'इन्दर सभा' में भी ऐसे ही पात्र हैं। राजा इन्द्र नाटक के नायक हैं। नाटक का कथानक यह है :

राजा इन्द्र परियों को बुलाते हैं। पुखराज, नीलम और लाल परियाँ आतीं हैं। सब्ज़ परी के आने तक इन्द्र सोये रहते हैं। सब्ज़ परी अपने बाग़ से निकल कर भारत की ओर चली। चन्द्रकिरणों से वातावरण चित्ताकर्षक हो उठा था। वह एक सुन्दर बाग़ में पहुँची। शयन कक्ष में एक सुन्दर राजकुमार सो रहा था सोये राजकुमार को देखते ही वह उस पर मुग्ध हो गई। उसने अपनी रत्न-जटित अँगूठी राजकुमार को पहना दी और लौट गई। जब वह इन्द्र के दरबार में पहुँची तो वह सो रहे थे। इस लिए वह बाग़ में लौटी और वहाँ उसने काले दानव को सोये राजकुमार को उठा लाने का आदेश दिया। दानव ने आदेश का पालन किया। जब राजकुमार जगा तो उसने अपने को एक दूसरी दुनिया में पाया। उसकी घबराहट देख सब्ज़ परी ने उसे सारी कहानी सुनाई और अपना उद्देश्य बताया। राजकुमार (गुलफ़ाम) ने इन्द्र का दरबार देखने की इच्छा प्रकट की। सब्ज़ परी उस को अपने साथ ले गई और बाग़ में शमशाद के वृक्ष के नीचे छिपा दिया। लाल दानव ने राजकुमार को देख लिया और यह बात उसने इन्द्र को बता दी। इन्द्र क्रोधाग्नि से जलने लगा और उसने गुलफ़ाम को क़ाफ के कुएँ में क़ैद करने आदेश दिया। सब्ज़ परी गुलफ़ाम के प्रेम में जंगलों में मारी-मारी फिरी। उसने जोगन का रूप धारण किया। संयोग से काले दानव ने उसे देखा और उस के सौन्दर्य पर मोहित हो गया। उस ने इन्द्र से इसकी चर्चा की और उनके आदेशानुसार जोगन को दरबार में हाज़िर किया। इन्द्र जोगन के गायन से बहुत प्रसन्न हुए और उसे

पुरस्कार देने की इच्छा प्रकट की परन्तु वह पहले राज़ी नहीं हुई। जब इन्द्र ने मुँह माँगा पुरस्कार देने का वचन दिया तब कहीं उसने अपनी और गुलफ़ाम की प्रेम-कथा सुनाई। इस पर इन्द्र ने गुलफ़ाम को मुक्त कर दिया। नाटक का अन्त इन्हीं दोनों के मिलन से होता है।

'इन्दर सभा' की कहानी तो ऐसी नहीं कि प्रगतिशील विचार के लोग मान्यता दें, फिर भी इसमें वाजिद अली शाह के दरबार और अवध के तत्कालीन रास-रंग का चित्र तो मुखर हो ही उठता है। इस दृष्टि से अमानत अवश्य सफल रहे हैं।

'इन्दर सभा' और उस के बाद के उर्दू नाटकों की विशेषतायें कुछ विस्तृत रूप से नीचे बताई जा रही हैं।

पहली विशेषता उर्दू नाटक के नामों की है। नामों की एक क़िस्म वह है जिस में प्रेमी और प्रेमिका के नामों को मिला कर प्रेम की कहानी प्रस्तुत की जाती है जैसे शीरीं फ़रहाद, लैला मजनूँ, नल दमन, हीर राँझा, सोहनी महीवाल आदि। दूसरे प्रकार के नाटक वे हैं जिन के नामों में संसार की अस्थिरता और इसकी दोरंगी नीति व्यक्त की गई है जैसे 'चलती दुनिया' 'काया, पलट', 'दोरंगी दुनिया' और 'हुस्न का बाज़ार'। तीसरे प्रकार के नाटक वे हैं जिनको 'खूनी क़ातिल', 'बाप का गुनाह,' 'गुनाह की दीवार' जैसे नाम दिये गये हैं।

प्राचीन उर्दू नाटक की दूसरी विशेषता यह है कि उस के कथानक सामान्य रूप से विदेशी परम्परा पर आधारित हैं जैसे लैला मजनूं, शीरीं फरहाद। केवल इरान और अरब की ही नहीं बल्कि मिस्र, रोम, चीन, और अफगानिस्तान की परम्परागत कथायें भी उर्दू नाटक का विषय रही हैं। मज़े की बात यह कि इन लेखकों ने न तो इन देशों को देखा ही था और न इन में से अधिकतर को इन देशों के भूगोल और इतिहास की ही जानकारी थी।

उर्दू के प्राचीन नाटकों की तीसरी विशेषता यह है कि प्रेम-कथाओं को छोड़ कर उन में किसी और बात का वर्णन नहीं होता। नायक को नायिका से प्रेम होगा और नायिका को नायक से। परिस्थितियाँ कभी अनुकूल होगीं और कभी प्रतिकूल इसलिए नाटक कभी कामदी होगा और कभी त्रासदी। एकाध 'रक़ीब' (प्रतिद्वन्द्वी) भी होगा जो सामान्य रूप से प्रेमी और प्रेमिका के रास्ते में रोड़े अटकायेगा। इन नाटकों की चौथी विशेषता गीत और तुकान्त भाषा है। सामान्य रूप से नाटक में सहेलियों को गीत गाते और संगीत तथा नृत्य की सभा होते दिखाया जायेगा। तुकान्त संवादों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

गुलशने पाक दामन मारूफ़ व चन्द्रावली—लेखक : मिर्ज़ा नज़ीर बेग ।

ऐयाशखाँ **मारूँ लात।**

नंगी शमशीर **चुप बदज़ात।**

ऐयाशखाँ **फिर की बात।**

नंगी शमशीर **हट बदज़ात।**

दोरंगी दुनिया उर्फ़ कसौटी, लेखक : मुंशी नारायणप्रसाद बेताब ।

अनवर : अजब ठंडी ठंडी हवा चल रही है।

गौहर : यह पंखे नसीमे सहर झल रही है ।

मनोहर:—शफ़क़ से हुई कैसी खुश रंग बदली ।

गौहर:—किसी माहवश ने है पोशाक बदली ।

धूप छाँव:—

आतिश खां:—कैसी मग़रूर है, नशे में चूर है, ज़ाहिर में नूर है, बातिन में मार है जिसका मज़कूर है, वह एक मशहूर है, नूर से मामूर हैं, ताज़िर मसरूर है ।

पहली सहेली:—ताज़िर अमीर हो, अहले जागीर हो, चाहे फ़क़ीर हो, उन की पेज़ार से ।

सहेली दूसरी:—क्या यह मंजूर हो, गुल पर जंबूर हो, बेहतर है दूर हो, कौवा गुलज़ार से ।

सहेली तीसरी:—वह रश्के हूर है, माहे पुर नूर है, जन्नत की हूर है । मिलना दुश्वार है ।

सहेली चौथी:—वह बेशऊर है, अदना मज़दूर है, शक्ल लंगूर है, आना बेकार है वग़ैरह ।

उर्दू के पुराने नाटकों की एक और विशेषता यह है कि उनमें हास्य रस और व्यंग्य बहुत निम्न कोटि के हैं। उनका हास्य सस्ता और भोंडा है। इन नाटकों के अधिकतर लेखक निम्न कोटि के कवि थे। उन्होंने हास्य रस को हज़ल, हिज्व (काव्य-रूप जिस में किसी व्यक्ति या वस्तु की घोर निन्दा की जाती है) और 'रेख़ती' का समानक समझ लिया ।

हास्य रस के उदाहरण :

शामे जवानी, लेखक : मुन्शी मुहम्मद इब्राहीम महशर अंबालवी ।

हीला साज़—ले उड़ेगा कोई दम में बुलबुली को बुलबुला। मेंडकी को खूब मेंडक चाहने वाला मिला।

तोबा तल्ला —यारो दुनिया से उठ गई क्या लड़कियों से हया ?

नऊज़ बिल्लाह—डाक्टरों के हाथ से शफ़ा।

तोबा तल्ला—शरीफ़ों से तकदीर।

नऊज़—दवाओं से तासीर

तोबा—मुहब्बत किन में है

नऊज़—मुर्ग़ी मुर्ग़ी में। इत्यादि।

इन उदाहरणों से ज्ञात हो जायेगा कि दर्शकों की रूचि क्या थी। ये नाटककार इन्हीं दर्शकों का मनोरंजन करते थे। नवीनता या प्रगतिशीलता उनके लिए निरर्थक शब्द थे। वे लकीर के फकीर थे। उस काल में निम्न कोटि के साहित्य की रचना होती थी। और यही साहित्य लोकप्रिय था। नाटक इन त्रुटियों से कैसे बच सकता था।

अब कुछ नाटककारों और उसकी रचनाओं के नाम सुनिये :—

रौनक़ बनारसी :—ओरिजनल थियेटर कम्पनी, बम्बई के मालिक सेठ पिस्टन जी फ़ाम जी स्वयं भी नाटक लिखते थे, परन्तु उन्होंने रौनक बनारसी को इस काम के लिए चुन लिया था। उन के नाटक उर्दू में प्रकाशित नहीं हुए केवल एक नाटक 'इनसाफ महमूदशाह', १८८२ ई० में गुजराती में छपा था।

ज़रीफ़ :—हुसैन मियाँ ज़रीफ़। इनकी रचनाओं के नाम नीचे दिये जाते हैं: खुदादोस्त, चान्द बीबी, तोहफ़ाए दिलकुश, बुलबुले बीमार, तोहफ़ाए दिल पज़ीर, शीरींफ़रहाद, अली बाबा, नक़्शे सुलेमानी, अकबरे आज़म, लैला मजनू, इश्रत सभा, फ़र्रुख सभा, गुलबकावली, हुस्न अफ़रोज़, गुल या सनोबर, नैरंगे इश्क़, हातिम नाई, नासिरो हुमायूँ, मातमे ज़फर, बज़्मे सुलेमान, अलादीन, लाल गौहर, खुदा दाद इत्यादि।

मिर्ज़ा नज़ीर बेग :—'गुलशने पाक दामन मारूफ़ व चन्द्रावली' के प्रथम पृष्ठ पर ये शब्द लिखे हुए हैं :—

"मुअल्लिफ़ा मिर्ज़ा नज़ीर बेग, डायरेक्टर, दि पारस जुबली

थियट्रीकल कम्पनी ऑफ़ बम्बई व शागिर्दे खास हाफ़िज़ मोहम्मद अब्दुल्लाह बानी दि इंडियन इम्पीरियल थियेट्रीकल कम्पनी ऑफ़ फ़तहपुर। हस्बे फ़रमाइश बी शीरीं जान साहिबा, ऐक्ट्रस, दि पारस जुबली थियटरीकल कम्पनी।"

तालिब :—मुन्शी विनायकप्रसाद तालिब बनारसी। वह विक्टोरिया नाटक कम्पनी के विख्यात नाटककार थे। कर्मविलास, नाज़ाँ, गोपीचन्द, निगाहे ग़फ़लत, हरिशचन्द्र, लैलोनिहार आदि, उनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं।

अहसन :—मुन्शी मेंहदीहसन अहसन लखनवी। यह उर्दू की विख्यात मस्नवी 'ज़हरे इश्क़' के रचयिता मिर्ज़ा शौक़ लखनवी के पौत्र थे। उर्दू में शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद सबसे पहले इन्होंने ही किया। काऊस जी ने इनके नाटकों में हैमलेट और रोमियो का अभिनय किया था। उन्होंने बहुत ही उत्तम अभिनय किया था और इसी के कारण इन नाटकों को देश भर में लोकप्रियता मिली थी। रचनायें :—हैमलेट, गुलनार, फ़ीरोज़ा, चन्द्रावली, दिलफ़रोश, भूल भुलइयाँ, चलता पुरज़ा इत्यादि।

बेताब :—पंडित नारायण प्रसाद बेताब। अहसन के बाद अलफ्रेड थियेट्रीकल कम्पनी के नाटककार यही थे। ज़हरी सांप, फ़रेबे मुहब्बत, महाभारत, गोरख धंदा, कृष्ण सुदामा आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं।

दीवाना :—मुन्शी गुलामअली दीवाना। यह अलेग्ज़ेंड्रा थियेट्रीकल कम्पनी के अभिनेता थे। 'ताईदे यज़दानी' और 'मेहरे ज़बा' इनके प्रसिद्ध नाटक हैं।

हश्र :—आग़ा हश्र काश्मीरी उर्दू के सबसे श्रेष्ठ नाटककार हैं। अहसन के बाद कुछ दिनों तक यह अलफ्रेड थियेट्रीकल कम्पनी में नाटक लिखते रहे। इसके बाद उन्होंने शेक्सपियर थियेट्रीकल कम्पनी के नाम से अपनी एक कम्पनी स्थापित कर ली। उन की प्रसिद्ध रचनायें ये हैं :—शहीदे नाज़, मीठी छुरी, ख़्वाबे हस्ती, ठंडी आग, असीरे हिस्र, सफ़ेद खून, खूबसूरत बला, खुदपरस्त, सिलवर किंग, शामे जवानी, तस्वीरे वफ़ा, नाराए तौहीद, जुर्मोनज़र, तुर्की हूर, हिंदुस्ताने क़दीमो जदीद, आँख का नशा, औरत का प्यार इत्यादि।

हश्र ने हिन्दी में भी नाटक लिखे जिसमें सूरदास, बनदेवी, माधव मुरली, गंगावतरण, सीता बनवास और श्रवणकुमार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आरम्भ में हश्र पुरानी शैली का अनुसरण करते रहे। आगे चल कर उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों को उर्दू में रूपान्तरित किया। उन्होंने उर्दू में शेक्सपियर के इतने नाटकों का अनुवाद किया है कि लोग उनको भारत का शेक्सपियर कहने लगे।

हश्र ने उर्दू नाटकों को लोकप्रिय बनाया, परन्तु वह पुरानी परम्परागत शैली को नहीं छोड़ सके। उनकी भाषा प्रभावशाली तो है परन्तु बहुत आलंकारिक भी है। यदि वह बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करते और सरल तथा स्वाभाविक शैली को अपनाते तो निस्सन्देह वह उर्दू के अद्वितीय नाटककार होते। फिर भी उन्होंने कथानक, कलात्मक तत्वों आदि की दृष्टि से उर्दू नाटक को बहुत सम्पन्न किया है। हश्र के युग में कुछ दूसरे नाटककारों ने भी उर्दू नाटक में नवीन प्रयोग किये।

हश्र के बाद जो नाटककार हुए, उनमें महशर अबाल्वी, मास्टर रहमत, इशरत हुसैन मुनीर, मुन्शी नाज़ां, मिर्ज़ा अब्बास, आग़ा शायिर, आरज़ लखनवी, मायल देहलवी आदि बहुत प्रसिद्ध नाटककार थे।

नाटक और रंगशाला की यह शोभा १९२७-२८ तक रही। उस के बाद इस में कमी होती गई और १९२८ के अन्त से तो इस साहित्य रूप की अवनति होने लगी। उस समय से लेकर अब तक उर्दू नाटक ने कोई विशेष प्रगति नहीं की है। जिस प्रकार उर्दू के अन्य साहित्य-रूपों की उन्नति हुई है, उस प्रकार नाटक की नहीं हो सकी है। इसका मुख्य कारण रंगमंच का अभाव है। फ़िल्म और रेडियो के प्रचलन ने नये नाट्य-रूपों को जन्म दिया और रंगमंचीय नाटक लुप्त हो गया।

आधुनिक युग के आरम्भ में जिन नाटककारों ने उर्दू नाटक की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, उनमें अल्लामा कैफ़ी, रायबहादुर कुंवर सेन, मौलाना अब्दुलमाजिद दरियाबादी, शौक़ क़िदवाई, ज़फ़र अली खाँ, हकीम अहमद शुजा, और मिर्ज़ा हादी रुसवा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ज़फ़र अली खाँ के नाटक 'जंगे रूसो जापान' प्रगतिशील तत्वों का समावेश हुआ है यह उर्दू के पुराने नाटकों से सर्वथा भिन्न है। कुंवर सेन का नाटक 'ब्रह्मा हुड' अपने प्रकार का पहला नाटक है। इस नाटक में ग्रहों को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अब्दुल माजिद का नाटक 'ज़ुदे पशेमाँ' भी बहुत सफल रहा। कैफ़ी के 'राजदुलारी' और 'मुरारी दादा' को बहुत लोकप्रियता मिली। कैफ़ी के इन नाटकों में आधुनिक सभ्यता का स्पष्ट रूप से चित्रण किया है। डा० आबिद हुसैन का 'पर्दाए गफ़लत' भी बहुत

उच्चकोटि का नाटक है। इसमें मुस्लिम परिवारों की संस्कृति और रहन-सहन का यथार्थ चित्रण हुआ है।

उर्दू के प्रगतिशील नाटककारों में इम्तियाज़ अली ताज का बहुत बड़ा स्थान है। उन्होंने १९२२ में अपना प्रसिद्ध नाटक 'अनारकली' लिखना आरम्भ किया था। यह नाटक १९३२ में प्रकाशित हुआ। यह तीन अंकों की एक त्रासदी है जो जहाँगीर और अनारकली की सुप्रसिद्ध प्रेम-कथा पर आधारित है। अकबर को इसमें एक क्रूर और निर्दय व्यक्ति के रूप में दिखाया गया है। कुछ आलोचकों का विचार है कि नाटककार इस में संशोधन कर देता तो इससे नाटक के महत्त्व में कोई कमी नहीं हो सकती थी।

शाहिद अहमद ने बेलजियम के विख्यात नाटककार मेटरलिंक के नाटकों को अनुवाद करके, उर्दू नाटक को नयी प्रवृत्तियों से परिचित कराया।

प्रो० मोहम्मद मुजीव के 'खेती' और 'हव्वा खातून' अच्छे नाटक हैं।

अज़ीम बेग चुग़ताई, यलदरम, सुदर्शन, सालिक और जलील अहमद ने भी इस साहित्य-रूप की प्रगति में बहुत योग दिया है।

नवीन राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से सज्जाद ज़हीर का 'बीमार', सरदार जाफ़री का 'यह किसका खून है', प्रोफ़ेसर मोहम्मद मुजीब का 'खेती', ख्वाजा अहमद अब्बास के 'ज़ुबैदा' और 'अमृत' और कृष्णचन्द्र के 'सराय के बाहर' और 'मिस बाटली बाला' सफल नाटक हैं। जहाँ तक नाटकों के अनुवाद का सम्बन्ध है, ब्रजमोहन दत्तात्रेय कैफ़ी, सैयद इम्तियाज़ अली ताज, डाक्टर आबिद हुसैन, शाहिद अहमद देहलवी, प्रोफ़ेसर मुजीब और अनसार नासिरी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हास्यरस और व्यंग्य की दृष्टि से कुदरतुल्लाह शहाब के नाटक सबसे अधिक प्रभावशाली और लोकप्रिय हैं। इस सम्बन्ध में आग़ा बाबर और फैयाज़ महमूद का भी उल्लेख हो सकता है। इशरत रहमानी के लघु नाटक भी सफल रहे हैं। उनमें 'शाहजहां' और 'मुशायिरा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१९३५ से भारत में रेडियो का प्रचलन हुआ। इसके फलस्वरूप रेडियो-नाटक लिखे जाने लगे। कुछ आलोचकों ने मात्र अज्ञान के कारण यह कह दिया कि एकांकी नाटक और रेडियो-नाटक में कोई अंतर नहीं है। यह विचार सही नहीं है कि रेडियो नाटक एकांकी नाटकों की आवश्यकता को पूरा कर सकता है। वस्तुतः रेडियो-नाटक एकांकी से सर्वथा भिन्न एक नाट्य-रूप है। दोनों के लक्ष्य और कार्य अलग-अलग हैं। यदि इन दोनों में कोई समानता है तो इतनी कि दोनों ही लघु नाकढ

होते हैं और दोनों में कोई कथा का क्रमिक विकास लगभग एक-सा होता है परन्तु पात्रों के चित्रण और नाट्य-विधि की दृष्टि से इन दोनों में बड़ा अन्तर है। एकांकी नाटकों की रचना पाठकों और दर्शकों के लिए की जाती है। इसके विपरित रेडियो-नाटक केवल सुनने के लिए लिखे जाते हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि दोनों गति और व्यापार एक दूसरे से भिन्न होंगे। प्रत्येक एकांकी नाटक प्रसार की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक रेडियो नाटक के पठन से वह प्रसन्नता और हर्ष नहीं होता जो उसे रेडियो पर सुनकर होता है।

तेरह-चौदह वर्ष पूर्व भारत में प्रगतिशील आंदोलन के परिणामस्वरूप 'जन नाट्य संघ' की स्थापना हुई थी। बम्बई में ख्वाजा अहमद अब्बास, पृथ्वीराज और उन के साथियों ने इस रंगशाला के कार्यों का श्रीगणेश नये ढंग से किया। उन्होंने राजनीतिक और सामाजिक विषयों से सम्बद्ध नाटक प्रस्तुत किए। इनमें 'पठान' को विशेष रूप से बहुत लोकप्रियता मिली। लखनऊ में डाक्टर नसीन सुबही, डा० रशीद जहाँ, सिब्ते हसन, साहिबज़ादा रशीदुज्ज़फर और उनके साथियों ने लोक-रंगशाला की स्थापना की। इसके रंगमंच पर भी कुछ नवीन नाटक अभिनीत हुए। इन में प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'कफ़न' का नाटकीय रूप और रशीद जहाँ का नाटक 'औरत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परन्तु लखनऊ में इस आंदोलन ने कुछ अधिक प्रगति नहीं की। इस की अपेक्षा बम्बई में 'पृथ्वी थियेटर' को अधिक सफलता मिली। लखनऊ में कलाकार और पूँजी दोनों की कमी थी। बम्बई में ये दोनों ही साधन सुलभ थे। इसलिए पृथ्वी थियेटर ने बहुत प्रगति की। १९४७ के बाद उसने भारत के बड़े-बड़े नगरों का पयर्टन भी किया। रंगमंच के पुनर्निर्माण का आंदोलन अब बहुत लोकप्रिय और सफल हो रहा है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि भारत सरकार ने लाखों रुपये ख़र्च करके राष्ट्रीय रंगशाला के लिए नई दिल्ली में एक बहुत बड़े रंगमंच की स्थापना की योजना बनाई है।

पिछले पच्चीस वर्षों में फ़िल्म ने बहुत प्रगति की है। फ़िल्म की इस प्रगति देखते हुए कुछ लोगों का विचार है कि नाट्य की अवनति और नाटक की मन्द गति का कारण फ़िल्म ही है। परन्तु यह सही नहीं है क्योंकि सभी सभ्य देशों में फिल्म की लोकप्रियता भारत की अपेक्षा कहीं अधिक है। फिर भी वहाँ रंगमंच उन्नति की अवस्था में है। फ़िल्म और रंगमंच दोनों की ही प्रगति हो रही है। दोनों ही जनता के मनोरंजन के साधन हैं।

यह है उर्दू नाटक का संक्षिप्त इतिहास। दुख के साथ कहना पड़ेगा कि उर्दू में इस साहित्य-रूप ने बहुत थोड़ी प्रगति की है। उर्दू के साहित्यकारों का कर्त्तव्य है कि वे नाटक की ओर ध्यान दें।

पंजाबी नाटक

—श्री कर्तारसिंह दुग्गल

पंजाबी नाटक के विषय में प्रथम बात जो मुझे कहनी है वह यह है कि पंजाबी में नाटक कोई नहीं हैं। विगत तीन-चार दशकों में अँग्रेज़ी साहित्य से प्रभावित होकर कुछेक पढ़ने योग्य नाटक अवश्य लिखे गये हैं और इनमें से कुछ नाटक सफलता के साथ खेले भी गये हैं, किन्तु अभी तक इस क्षेत्र में वैसा कार्य नहीं हुआ है, जैसा पंजाबी साहित्य के अन्य क्षेत्रों में हुआ है। पंजाबी में वारिस शाह जैसा कोई नाटक-कार नहीं हुआ। जहाँ पीलू, बुल्लेशाह, हाशिम और शाह मुहम्मद अपने अपने समय में पंजाबी काव्य को कहीं का कहीं ले गये, वहाँ नाटक लिखने या खेलने वाला ढूंढ़ने से भी नहीं मिलता।

आखिर क्यों ?

इसका कारण यह है कि नाटक की कुछ अपनी विशेष अपेक्षायें होती हैं। नाटक को केवल लिखना ही पर्याप्त नहीं, नाटक को खिलाने वाला चाहिये, उसे खेलने वाला चाहिये, रंगमंच की आवश्यकता है और आवश्यकता है अभिरुचि रखने वाले दर्शकों की वैसी श्रेणी की, जिससे नाटक देखने का अवकाश प्राप्त हो और नाटक को वह हृदयंगम कर सके। और पंजाब में यह स्थिति कई शताब्दियों तक उपलब्ध नहीं हो पाई। जिन लोगों को नित्य संघर्ष का सामना करना पड़ता हो, जहाँ प्रति वर्ष बाहरी आक्रमणों का भय हो, जहाँ प्रति चौथे वर्ष लोगों की छातियों को लताड़ते हुए हमलावर आते रहें, उन लोगों की नाटक प्रवृत्ति कहाँ से हो ?

यह बात आश्चर्यजनक है कि जिस देश में भरत जैसा नाट्य-शास्त्र का पंडित पैदा हुआ, जहाँ भास, कालिदास जैसे नाटककारों का जन्म हुआ, वहाँ नाटक की परम्परा इस तरह लुप्त हो गयी। पंजाब में नाटक के अभाव का मुख्य कारण इस प्रदेश का सीमा प्रान्त होना है।

यों नाटक खेलना मनुष्य की स्वभावजन्य प्रवृत्ति है। शिशु नक़लें उतारते हैं, बालक कभी कुछ बन कर प्रसन्न होते हैं। हर समाज में लोक-गीतों, लोक-कथाओं, लोक-नृत्यों के साथ लोक-नाट्य भी चले आते हैं। कहीं इनका प्रचलन अधिक है और कहीं कम। स्वाभाविक रूप में मनुष्य मिल-जुलकर खेलना पसन्द करता है।

यह खेल कभी केवल मुद्रा आदि और कभी बोलचाल के साथ खेले जाते हैं। इस प्रकार होते-होते मनोरंजन के यही साधन लोक-नाट्यों का रूप धारण कर लेते हैं। प्रारम्भ में अधिकतर इन नाटकों में लोक-भ्रम, जादू-टोने आदि का ज़िक्र होता है। और यह नाटक प्रायः तीज-त्योहारों पर, फसलों की कटाई के अनन्तर, ऋतु परिवर्तन पर, चांदनी रातों में या फिर जब सिपाही जीत कर लौटते हैं, खेले जाते हैं। समय के गुज़रने के साथ एक विशेष श्रेणी समाज में बन गयी, जिसका कार्य यह था कि लोगों के मनोरंजन का प्रबन्ध करे। अभी भी पंजाब के ग्रामों में इन लोगों को नट तथा नटनियाँ कहा जाता है। 'मरासी' जाति में ढोल बजाने वाले, नाचने वाले, गाने वाले, 'सम्मी' खेलने वाले रास रचाने वाले, लोग अभी तक मिलते हैं। नाटक खेलने-नाचने, गाने-बजाने के लिये एक विशेष शिक्षण की आवश्यकता होती है, श्रम की आवश्यकता होती है, इसलिये हर इलाके में इस प्रकार के कुछ परिवार बन गये, जिनका कार्य केवल यही था। जहाँ कहीं भी आवश्यकता होती उनको वहाँ बुला लिया जाता। हर उत्सव, समारोह या अवसर पर उनकी 'लाग' नियत होती थी जो उनको पहुँचा दी जाती। इस प्रकार के नटों के घर पंजाब में अभी तक मिलते हैं और लाग देने का यह रिवाज अभी तक वहाँ पाया जाता है। ग्रामोफ़ोन रिकार्डों, फ़िल्मों, रेडियो आदि नये ढंग के मनोरंजन के साधनों के अधिक लोकप्रिय होने के कारण इन लोगों की पूछ-ताछ दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है।

पीछे गाँव में हमारा पड़ोस मरारिसों का था। दीनू मरासी का एक बेटा दर्जी बन गया, दूसरा छावनी में बैरा हो गया। दीनू की जवान बेटी नेको को गाने में झिझक होने लगी। गाँव में जिस घर शादी होती, दीनू मरासी के यहाँ से ढोलक मंगवा ली जाती, मगर दीनू या उसके परिवार का कोई व्यक्ति साथ न जाता।

पंजाब का लोक-नाट्य रामलीला, रासलीला, स्वांग, नकल, नौटंकी आदि कई रूपों में अभी तक जीवित है। इसका इतिहास बहुत पुराना है। लोक-नाट्य के इन विभिन्न रूपों में बहादुर सूरमाओं, धर्मात्माओं, देवी-देवताओं, सच्चे प्रेमियों की बेलौस मुहब्बत की कहानियाँ कहीं गाकर, कहीं नाचकर, कहीं आम बातचीत में प्रस्तुत की जाती हैं। बीच में कहानी को रोक कर नाटक आदि में हँसी-मजाक के साथ दर्शकों के लिये एक नया विषय समाविष्ट किया जाता है। इन नाटकों की कहानी या बातचीत को किसी ने नहीं लिखा। एक उस्ताद से दूसरे उस्ताद तक ये कहानियाँ सीना-बसीना चली आती हैं। रंगमंच के लिये एक चबूतरा काफ़ी होता है। किसी साधारण पर्दे के पीछे से या किसी पुराने वृक्ष के तने की ओट से ये लोग बन-ठन कर मशालों की रोशनी में आकर अभिनय करने लग जाते हैं। अभी तक

स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही करते हैं और कहानी का आनन्द तथा प्रवाह इतना तीक्ष्ण होता है कि दर्शकों की कल्पना उड़ी-उड़ी सी रहती है, नायिका के दुःखों में दुखित होती रहती है, उसके हर आँसू के साथ आँसू बहाती रहती है।

आधुनिक पंजाबी नाटक की उत्पत्ति अन्य भाषाओं की भाँति अनायास की सी स्थिति में हुई। इसकी जड़ें, देश के नाटक की प्राचीन परम्परा तक नहीं जातीं। इसका कारण शताब्दियों तक हमारे देश की पराधीनता और विदेशी सभ्यता का प्राबल्य है।

जहाँ रंगमंच ही नहीं वहाँ नाटक कैसे लिखे जा सकते हैं? जो लोग रंगमंच अनुभव के बिना नाटक लिखते हैं, उन लोगों की कृतियाँ शिथिल, अनुपयुक्त और अरुचिकर-सी, बातचीत के ढंग से कही हुई कहानी-मात्र होकर रह जाती हैं। उनमें नाटकीयता नहीं होती। यही हाल पंजाबी में कई लिखित नाटकों का है। भाई वीरसिंह लिखित 'राजा लखदाता सिंह' सिक्खों में सुधार के दृष्टिकोण से लिखा गया; अपने मंतव्य में संभवतः वह सफल भी हुआ, किन्तु नाटक के रूप में न इसे कभी खेला गया और न यह खेला जा सकता है। इस नाटक की कथाभूमि संतोषप्रद नहीं, पात्र-चित्रण नाटकीय आधार पर नहीं है। कहानी की गति अधिक से अधिक कथा जैसी है, नाटक जैसी बिल्कुल नहीं। लेखक का मंतव्य सिक्ख सिद्धान्तों का प्रचार है, यह बात पुस्तक में सर्वत्र प्रकट होती है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया एक और नाटक 'सुक्का समुन्दर' है। इसका लेखक अरूढ़ सिंह 'ताइब' था। इस नाटक में हास-परिहास अधिक है। हास्य साधारण-सा है। समाज की अनेक कुरीतियों का उपहास किया गया है। अच्छे पात्र बिल्कुल अच्छे हैं और बुरे पात्र बिल्कुल बुरे। जिस रूप में पात्र नाटक में प्रवेश करते हैं, उसी रूप में नाटक के अन्त तक चले जाते हैं; जैसे पत्थर की मूर्तियाँ हैं। कहीं वह बदलते नहीं, कहीं उनका रूप परिवर्तन नहीं होता। हर रंग पक्का है। काले स्याह काले हैं और सफ़ेद दूध से सफ़ेद हैं।

आश्चर्यजनक यह बात है कि इन कृतियों से पहले भाई वीरसिंह के पिता डा० चरनसिंह जी ने कालिदास के नाटक "शकुंतला" का पंजाबी में बहुत बढ़िया अनुवाद किया था और उन्हीं दिनों सरदार मानसिंह ने कालिदास के एक अन्य नाटक "विक्रमोर्वशीय" का भी अनुवाद किया। किन्तु पंजाबी में मौलिक नाटक लिखने वालों ने इन महान् कृतियों का कोई असर स्वीकार नहीं किया। भाई वीरसिंह के नाटक "राजालखदाता सिंह" से यह अनुभव होता है कि लेखक अंग्रेज़ी नाट्य-शैली से प्रभावित है। विशाखदत्त का "मुद्राराक्षस" भी कुछ समय बाद पंजाबी में अनुवाद किय गया।

अनुवादकर्ता पटियाला के एक विद्वान सरदार शमशेर सिंह "अशोक" थे। डा० चरन-सिंह द्वारा अनूदित "शकुंतला" के पंजाबी अनुवाद में मूल नाटक के अनुसार गद्य को गद्य में, और पद्य को पद्य में अनुवाद किया गया है।

इस समय के मौलिक नाटककारों में कृपासागर, बाबा बुद्धिसिंह, ज्ञानी गुरुबख्श सिंह, ब्रजलाल शास्त्री और फ़िरोज़दीन के नाम लिये जा सकते हैं। इन सब की कृतियों से यह अनुभव होता है कि रंगमंच के अभाव के कारण पंजाबी के यह कुशल साहित्यकार कभी भी अच्छे नाट्यकार नहीं बन सके। इनमें से कुछ तो नाटक के प्राथमिक नियमों से भी अवगत नहीं थे। बात-बात पर दृश्य बदल जाता है, कहानी कभी कहीं और कभी कहीं घूमती रहती है। कुछ नाटक गीतों से भरे हैं। पात्र रोते भी गाकर हैं और हँसते भी गाकर हैं। नाटकीय वार्तालाप से गीत अच्छे हैं। कहीं-कहीं अच्छी कविता को प्रस्तुत करने के लिये वार्तालाप लाया गया है। कृपासागर ने "रणजीत सिंह" नामक नाटक लिखा। इसका दूसरा नाटक "डीडो जमावताल" है। इस लेखक ने अपने नाटकों में संस्कृत नाटकों की तरह सूत्र-धार का समावेश किया है। बीच-बीच में, जानबूझ कर, हास्य-रसपूर्ण दृश्य डाले गए हैं—पात्रों का वार्तालाप सामान्य जीवन के बहुत समीप है। कृपासागर को कहानी बनाने का ढंग नहीं आता। "रणजीत सिंह" में हर बात फैलती जाती है और बेकाबू हो जाती है। कहानी का जितना विस्तार बढ़ता है, नाटक उतना ही शिथिल पड़ता जाता है और अन्त में उलझी हुई तारें गुच्छा होकर रह जाती हैं।। और यदि उन्हें सुलझाने की कोशिश की गयी है तो केवल तारें दिखाई देने लगती है जैसे कभी उलझी ही न हों। बाबा बुद्धिसिंह पंजाबी साहित्य में एक समालोचक और साहित्य के इतिहासकार के रूप में अधिक विख्यात हैं। उन्होंने "चन्दरहरी" "सुन्दरी छल" "नार नवेली" और "दामिनी" नामक चार नाटक लिखे। बाबा बुद्धि सिंह को कहानी गढ़ने और उसे ढंग से प्रस्तुत करने का विवेक अधिक था। समाज-सुधार की दृष्टि से लिखे गये इन नाटकों में कहानी को अपने आशय के अनुसार कुशलता से रखा गया है। उसकी गति प्रवाहमयी है, पात्र सामान्य जीवन के हैं और उनका गठन भी बुरा नहीं है। "मनमोहन" और "ब्रजमोहन" नामक नाटकों के लेखक ज्ञानी गुरुबख्शसिंह ने पहली बार अपने नाटक "ब्रजमोहन" में प्रेम-कथानक को लिया है। ब्रजलाल शास्त्री ने "पूरन", "उदैन" "सावित्री" आदि नाटक लिखे। "पूरन" और उदैन" पद्य-नाटक हैं। इस नाटककार ने पंजाब में प्रथम बार पद्य-नाटकों का प्रयाग किया। इससे अधिक संभवतः इन नाटकों के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इन नाटकों का पद्य साधारण हैं, नाटकीय घटना उभरती नहीं, केवल वार्तालाप को छन्दोबद्ध रखने का प्रयास भर किया गया है, जो अत्यन्त अस्वाभाविक होकर रह गया

है। जो पात्र बोलता है, जहाँ तक छन्द की सीमा में उसका बोलना सम्भव होता है, वह बोलता जाता है। इनमें से कोई नाटक कभी रंगमंच पर नहीं खेला जा सकता। फिरोजदीन "शारफ" पंजाबी का एक लोकप्रिय कवि हुआ है। आरम्भ म उसने "हीरस्याल" के किस्से को फिल्म के लिये रूपान्तर किया। फिल्म तो न बन सकी पर अपनी रचना को उन्होंने प्रकाशित करा दिया। नाटक के दृष्टिकोण से यह रचना अत्यन्त निर्बल है। "शारफ" की भाषा मुहावरेदार और बहुत आकर्षक है। कहीं-कहीं उसके भीतर का कवि अत्यन्त सुन्दर शैली का आभास दे जाता है।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशकों में पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटक पंजाब तक पहुँच गये और उनकी चर्चा आम हो गयी। ये कम्पनियाँ भारत और ईरान के पुराने किस्सों, महाभारत और रामायण की पुरानी कहानियों, शेक्स-पीयर की रचनाओं को रूपान्तर करके प्रस्तुत करती थीं। इनमें जन-सामान्य के मनोरंजन का ख्याल ही रखा जाता था। इन कम्पनियों के लिये कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये। इस समय पंजाब में शिक्षा का आन्दोलन बड़े ज़ोर पर था। गाँव-गाँव में स्कूल, शहर-शहर में कॉलेज खुल रहे थे। इसका परिणाम यह निकला कि रंगमंच की ओर लोगों का अधिक ध्यान आकृष्ट होने लगा। कॉलेजों, स्कूलों, शहरों और गाँवों में नाटक-मण्डलियों ने जहाँ-कहाँ से भी नाटक लेकर खेलने शुरू कर दिये। हमारे गाँव के "तकिये" में शहर से कनातें और पर्दे मंगवा कर गैसों की रोशनी में "बिल्व मंगल" खेला गया। काले नाग का गहरी अँधेरी रात में दीवार के साथ लटकना और किसी का उसको पकड़ कर ऊपर की मंजिल में चढ़ जाना मुझे अभी तक याद है। और इस सब कुछ पर दर्शकों की सांसों का रुक जाना इस नाटक की सफलता की निशानी थी, जिसे मैं कभी भी नहीं भूल सकता। फिर हमारे गाँव के बाहर एक हवेली में "वन देवी" नाटक खेला गया। नायिका का अभिनय खालसा स्कूल के एक नवयुवक सिक्ख अध्यापक ने किया। गज-गज अपने बालों को नायक के पाँवों में गिरा कर जब नायिका ने निरपराधी होने का अभिनय किया तो सैकड़ों दर्शकों की आँखों में आँसू अविरलता से बह उठे थे। नाटक अत्यन्त सफल रहा। पर अगले दिन खालसा स्कूल के उस अध्यापक की नौकरी संकट में सुनाई पड़ी।

पारसी कम्पनियों से प्रभावित होकर पंजाबी में रंगमंच का प्रचलन अवश्य हुआ। मगर शिक्षा का माध्यम उर्दू होने के कारण, नाटक उर्दू में ही होते थे। इसी पके हुए वातावरण में गवर्नमेंट कालेज लाहौर के एक अध्यापक ईश्वर-चन्दर नन्दा ने पंजाबी में नाटक लिखने शुरू किये और उन्हें रंगमंच पर खेला। पहले उन्होंने शेक्सपीयर के "मर्चेण्ट-ऑफ वेनिस" के आधार पर "शामूशाह"

नाटक लिखा। इसके पश्चात् "सुभद्रा" और "लिल्ली दा वियाह" दो मौलिक नाटक लिखे। "मचण्ट ऑफ वीनस" के अतिरिक्त और कई अंग्रेज़ी नाटक भी पंजाबी में अनुवाद किये गये। "किंग लियर" का अनुवाद नारायणसिंह ने "लाल बादशाह" और बलवन्तसिंह ने "दुखी राजा" के नाम से किया। "चाँदी डब्बा" गाल्सवर्दी के नाटक "सिल्वर बाक्स" का अनुवाद है। "एज़ यू लाइक इट" का पंजाबी अनुवाद निहाल सिंह रस ने किया। पंजाबी अनुवाद का नाम "ज्यों भावे" है।

प्रो० ईश्वरचन्दर नन्दा पंजाबी का पहला नाटककार है, जिसने सचेत होकर खेलने के लिये नाटक लिखे। नन्दा ने अपने नाटकों में समस्यायें भी वे ही लीं, जिनकी उस समाज में बड़ी महत्ता थी। नन्दा के नाटकों के पात्र बहुत बातें करते हैं, जैसे हर पंजाबी बातें करने का शौकीन होता है। बातों से बातें निकलती जाती हैं। एक एक बात को चबा-चबा कर पीसपीस कर किया जाता है। मुहावरों पर मुहावरे जड़े होते हैं। और जब पात्र बातें करना शुरू करते हैं, तब नाटक की गति रुक जाती है। इस लिये कि अक्सर वार्तालाप का नाटक के क्रम से बहुत दूर का सम्बन्ध होता है। वस्तुतः इस नाटककार ने पंजाब के नगरवासियों के मनोरंजन के लिए पंजाबी ग्राम्य जीवन को प्रस्तुत किया था। शहरियों में अभी तक जीवित ग्रामीण-मूल्यों को दर्शाया। ऐसा करने में उसने केवल बोली के चटखारे और अतिकथनी से काम लिया। इसमें वह किसी सीमा तक सफल भी हुआ। "सुभद्रा" नाटक एक विधवा लड़की की कहानी है, जिसको उसकी सास बड़ा तंग करती है। सुभद्रा का भाई अपनी बहन को अपने घर ले आता है, जहाँ वह अपने एक सहपाठी नवयुवक के साथ उसका विवाह कर देता है। विधवा विवाह पर लड़की के माता-पिता भी आपत्ति करते हैं। जब विवाह हो जाता है तो सब लोग राज़ी हो जाते हैं। नाटक "लिल्ली दा व्याह" एक पढ़ी-लिखी लड़की की कहानी है जिसका भाई उसको विलायत से लौटे एक लड़के के साथ ब्याहना चाहता है, पर इस नवयुवक की शर्तें अजीब-अजीब सी हैं, उनमें से एक यह है कि विवाह से पहले कुछ देर के लिये लड़की उसके साथ रहे। यह बात लड़की की दादी को पसन्द नहीं, जो अपनी पोती को एक अमीर ठेकेदार के बदसूरत लड़के के साथ ब्याहने के लिये सोचती है, ताकि लड़की खाते-पीते घर में रह सके। लड़की एक और लड़के से प्रेम करती है और अन्त में उसी के साथ उसका विवाह होता है। इन दो नाटकों में नन्दा ने अपने समाज की कुछ समस्याओं को दर्शाया हैं, उनका कोई हल पेश नहीं किया। "सुभद्रा" दुखी है, लिल्ली के लिए लाख मुसीबतें उठ खड़ी होती हैं क्योंकि यह दोनों लड़कियाँ आर्थिक दृष्टिकोण से पराधीन हैं, सुभद्रा अनपढ़ होने के कारण और लिल्ली लिख-पढ़ कर भी।

सरदार हरचरनसिंह को प्रो० ईश्वरचन्दर नन्दा का उत्तराधिकारी कहा जाता है। यह कहना यहां तक तो ठीक है कि नन्दा के बाद हरचरनसिंह ने ही नाटक की ओर अधिक ध्यान दिया। और आज के पंजाबी नाटककारों में सम्भवतः सब से ज्यादा नाटक उसी ने ही लिखे हैं। हरचरन सिंह के नाटकों में जीवन का विस्तार बहुत है। नन्दा के नाटक हरचरनसिंह से ज्यादा प्रशस्त होते हैं। अध्यापक होने के नाते नन्दा अपनी रचनाओं को खूब अच्छी तरह माँज के पेश करता है। उसके नाटकों के पात्र गिने-चुने हैं, जाने-पहचाने हैं, उनमें वह कोई उलझने नहीं डालता। कहानी साधारण और अपनी गति में चलती निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच जाती है। हरचरन सिंह ने जीवन के अधिक उलझे हुये अंगों को प्रस्तुत किया है। पात्रों के मनोविश्लेषण को सम्मुख रख कर उनकी गतिविधि के विस्तार को श्रम से दर्शाने का प्रयास किया है। हरचरनसिंह को समाज की विषमताओं का अधिक अनुभव है, नये समाज में उत्पन्न नयी समस्याओं को वह ढूंढ़-ढूंढ़ कर पात्रों में देखता है और हर कठिनाई को कई दृष्टिकोणों से दर्शाने की कोशिश करता है। हरचरनसिंह का उद्देश्य ऊँचा है, क्या वह इसमें सफल भी हुआ है, इसका निर्णय समय करेगा। प्रो० गुरुचरनसिंह का विचार हैं कि हरचरनसिंह के नाटक "रास्ता दिखाने की बजाय रास्ते की तंगी का अधिक ज़िक्र करते हैं।" सरदार हरचरनसिंह ने आधा दर्जन से अधिक नाटक और कुछ एकांकी लिखे। इनके नाटक विभाजन से पूर्व लाहौर में कई बार खेले गये और दिल्ली, पटियाला, अमृतसर आदि कालेजों और स्कूलों में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। 'अनजोड़', 'राजा पोरस', 'दोष', 'खेडण दे दिन चार', 'दूर दुरोउ शहरों' और 'कमला कुमारी' इस नाटककार के कुछ बड़े नाटक हैं।

गुरुदयाल सिंह खोसला ने 'बूए बैठी थी' और 'वे घरे ते होर' एकांकी नाटक लिखे। यह नाटककार नन्दा और हरचरन सिंह दोनों से अधिक सजग, अधिक सुलझा हुआ और कुशल नाटककार है। खोसला ने आधुनिक रंगमंच की आवश्यकताओं को सम्मुख रख कर नाटक लिखे हैं और उनको दिल्ली के रंगमंच पर कई बार बड़ी सफलता से खेला है। उसके नाटक साधारणतः मध्य श्रेणी के पात्रों के आस-पास घूमते हैं और इस नाटककार की व्यंग-शक्ति विशेष प्रबल मानी जाती है।

नाटककारों की अगली पीढ़ी में चार नाम अधिक उल्लेखनीय हैं: सन्त सिंह सेखों, शीला भाटिया, बलवन्त गार्गी और अमरीक सिंह। ये चारों नाटककार प्रगतिशील है। साहित्य और कला की मानवतावादी विचारधाराओं से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। प्रो० सन्तसिंह सेखों बहुमुखी लेखक हैं—उन्होंने कहानी, आलोचना, नाटक और किसी सीमा तक कविता में नये-नये प्रयोग किये हैं। नाटककार के रूप

में प्रो० सन्तसिंह सेखों की रचनायें रंगमंच की दृष्टिकोण से अधिक सफल नहीं हुईं, कभी विचारधारा इतनी प्रबल हो जाती है कि नाटकीय गति बहुत धीमी पड़ जाती है। कभी उनके भीतर का विद्रोह हमारे समाज के शिथिल मूल्यों से इतना निडर होकर चलता है कि जो कुछ वह कहते हैं, जो कुछ उनके पात्र करते हैं हमारा समाज उसको अश्लील कह कर ठुकरा देता है। उनका नाटक 'कलाकार' लाहौर रेडियो स्टेशन से शेड्यूल होकर भी प्रसारित न हो सका। इस नाटक में इन्द्र-अहिल्या के पौराणिक प्रसंग को आजकल के समाज में चित्रित किया है। इन्द्र-अहिल्या की कहानी प्रतिदिन पढ़ने-सुनने वाले पाठकगण नई अहिल्या का किसी नये इन्द्र के हाथों सतीत्व भंग होना बर्दाश्त नहीं कर सकते। 'कलाकार' नाटक में घटना इतनी थोड़ी है, और विचारधारा इतनी प्रखर है कि इस नाटक का रंगमंच पर सफलता के साथ खेला जाना सम्भव नहीं समझा जाता। हाँ, यह रेडियो पर खेला जा सकता है, यदि रेडियो सुनने वाले सेखों के साथ कदम मिलाकर चल सकें। प्रो० सेखों ने कई एकांकी भी लिखे हैं, जो 'छेः घर' और 'तप्या क्यों खप्या' नामक संग्रहों में छपे हैं। इनमें अधिकांश रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं और कालेजों-स्कूलों में भी खेले गये हैं। 'बाबा बोड' प्रो० सेखों का एक काव्य-नाटक है, जिसमें बड़ के वृक्ष के मुँह से नाटककार ने पंजाब की कहानी कहलवाई है। अभी तक इस नाटक को पंजाब में स्टेज नहीं किया जा सका।

शीला भाटिया ने 'वादी दी पुकार' और 'रुक्खे खेत' दो संगीत नाटक लिखे। दिल्ली आदि भारत के कई नगरों में ये नाटक स्टेज भी हुए हैं। इस लेखिका की कलम में लोक-गीतों जैसा स्वाद है और उसे संगीत और नृत्य की कुशलता प्राप्त होने के कारण उसने ऐसी चीजें लिखी हैं, जिन्हें नृत्य और संगीत द्वारा आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। 'वादी दी पुकार' काश्मीर की समस्या से सम्बद्ध है। 'रुक्खे खेत' पंजाब में किसान की कठिनाइयाँ दर्शाता है, जिसे पानी की तंगी हर रोज़ परेशान करती रही है। लोकगीतों की धुनों पर नयी समस्याओं को लिये शीला भाटिया के गीत दर्शकों ने अत्यधिक सराहे हैं। इन को रेडियो से भी प्रसारित किया गया है।

पंजाबी का सब से अधिक सफल और कुशल और कला-प्रवीण नाटककार बलवन्त गार्गी है। नाटक लिखना और खेलना उसने अपने जीवन का ध्येय बनाया है। पंजाबी नाटक के भविष्य के लिये यह सबसे अधिक उत्साहजनक बात है कि गार्गी अभी तक युवक है। "कणक दी बल्ली" बलवन्त गार्गी का नया नाटक है। इससे पूर्व उसने ये और नाटक लिखे हैं : "लोहा कुट", "शेल पत्थर", "नवा मुड्ड", 'घुग्घी आदी'। "दो पासे" और "कुमारी टीसी" गार्गी के एकांकियों के दो संग्रह हैं। गार्गी

ने अंग्रेज़ी के कुछ नाटकों को पंजाबी में रूपान्तर किया है। रूपान्तर मूल नाटकों जितने सफल और सजीव हैं। इस तरह के रूपान्तर एक तीक्ष्ण बुद्धि का प्रतिभाशाली कलाकर ही कर सकता है। अपनी कला के विषय में एक स्थान पर लिखते हुए नाटककार ने कहा है : "साधारण-सी घटना को तोड़-फोड़ कर इतिवृत्त गढ़ लेता हूँ, जो जरा से कल्पित रंग से बिल्कुल स्वाभाविक प्रतीत होता है······कई साथियों ने मेरी भाषा को बड़ा श्लाघ्य माना है। मेरे पात्रों की अक्खड़ ग्रामीण भाषा की स्वस्थता को·· ····मैंने अपने नाटकों में उसी भाषा का प्रयोग किया है, जो हम प्रतिदिन साधारणतः बोलते हैं। मेरे शब्दों का भण्डार किसी साधारण ग्रामीण से अधिक नहीं। मेरी भाषा पर अधिक प्रभाव हमारे मुहल्ले के किसानों का, मिरासी का, मित्यू वढ़ई का और मेरी माँ का है———मैं बड़ी-वड़ी घटनाओं और तर्कों को नहीं अपनाता। मैं एक छोटी सी साधारण बात को लेकर उसमें नाटकीय नवीनता को ढूँढ़ने की कोशिश करता हूँ······ये सारे नाटक हमारे समाज पर व्यंग्य करते हैं ? इनके पात्र इर्द-गिर्द के अंधेरे में झांकते हैं। हमारे समाज की मध्यम श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनका जीवन अस्वस्थ मूल्यों का केन्द्र बन गया है।" मेरी दृष्टि में जिस बात में गार्गी को कोई पा नहीं सकता, वह उसके पात्र हैं, और इन पात्रों की परस्पर बातचीत है। कहीं वह अपनी कृतियों को भाषा के सहारे ही उड़ाकर ले जाता है। भाषा के सहारे और छोटी-छोटी बातों के सहारे जो हमारे आस-पास प्रतिदिन होती रहती हैं, किन्तु जिसको सुनने और समझने के लिए उनका रंगमंच पर आना आवश्यक होता है। गार्गी का हर पात्र जैसे जीवन में से वैसे का वैसा उठकर चला आया हो। उनमें से उनके व्यवहार का हमें आभास मिलता है। उनके पावों की बिवाइयाँ, हाथों के गट्ठे, उनकी काँटों से फटी हुई चुनरियाँ, कीचड़ से लिपटी हुई तलवारें, कितनी-कितनी देर हमारी आँखों के सामने घूमती रहती है। ईश्वरचन्द्र नन्दा आदि पंजाबी के दूसरे नाटककारों की तरह बलवन्त गार्गी कहीं भी सुधार करने या उपदेश देने की कोशिश नहीं करता मगर उसका हर नाटक एक चिरस्थायी प्रभाव छोड़ कर समाप्त होता है। बहुधा वह हमारी मध्य श्रेणी पर व्यंग्य करता है, वह व्यंग्य जहाँ-जहाँ लगता है, वहाँ-वहाँ कितनी ही देर मीठा-मीठा दर्द होता रहता है। बलवन्त गार्गी ने पंजाबी में पहली बार जन साधारण के बारे में नाटक लिखे हैं, ऐसे नाटक जिनको खेला जा रहा देख कर हज़ारों की गिनती में दर्शक उनमें शामिल हो जाते हैं। किसी नाटककार का इस प्रकार लोकप्रिय होना कहीं भी गर्व का कारण हो सकता है। "लोहा कुट" बलवन्त गार्गी का सर्वप्रथम नाटक है। पलेठी के बेटे की तरह ऐसा लगता है, जैसे इस नाटककार ने अपनी सारी शक्ति इस नाटक में लगा दी है। मेरी दृष्टि में "लोहा कुट" से अच्छा

नाटक गार्गी अभी तक नहीं लिख पाये। "लोहा-कुट" एक माँ की कहानी है जो प्रेम तो किसी से करती है, मगर जिसका विवाह एक अक्खड़ लोहार के साथ हो जाता है। लोहार के काम में लोहे के साथ लग कर वह लोहा हो जाती है। अपने अत्यन्त कोमल मन में किसी सुहावनी याद को वह भुला देती है। इस माँ की बेटी जब जवान होती है, लाख उसके डराने पर, लाख उसके पति से रोकने के बावजूद वह अपने मनपसन्द लड़के के साथ निकल जाती है। लोग दो दिन बातें करते हैं, फिर चुप हो जाते हैं। यह देख कर माँ की आँखें खुलती हैं, उसकी बेटी वह कर गयी जो माँ न कर सकी। आखिर उसने अपने आप को क्यों मार लिया? क्यों वह सारी आयु अपने प्रेमी की परछाई से सहमती रही? फिर मां भी भाग जाती है। लोग कहेंगे, यह कहानी अश्लील हैं। मैं कहता हूँ कि किसी मनुष्य का इस प्रकार मन मार लेना अश्लील नहीं, पाप नहीं? इस प्रकार के आत्मघात के सामने कोई बुराई भी अच्छाई लगने लगती है। गतिशील लेखकों के मूल्य बदलते रहते हैं। गार्गी को स्वयं आजकल ये नाटक पसन्द नहीं, मगर शैली, पात्र-रचना, भाषा आदि के दृष्टिकोण से इससे अच्छा नाटक गार्गी को अभी लिखना है। गार्गी जन-साधारण का नाटककार है। वह किसी यूनिवर्सिटी के अलग-थलग कमरे या किसी सरकारी पदवी के ऊँचे पद पर बैठकर नहीं लिखता। वह तो आम लोगों के साथ रहता है। उन्हीं के जीवन की समस्याओं को अपनी कृतियों में दर्शाता है। अपने देश में द्वितीय विश्व युद्ध, १९४३ में बंगाल के अकाल से लेकर आज तक जितने भी आन्दोलन हुए हैं उन सब पर इस नाटककार ने अच्छे नाटक लिखे हैं। भारतीय भाषओं में लिखने वाले बहुत कम नाटककारों में पंजाबी के इस लेखक जितना रंगमंच और नाटक-कला का अनुभव होगा। नाटककार के रूप में मैंने बलवन्त गार्गी को अजीब-अजीब कठिनाइयों में देखा है। कहीं वह अच्छे-भले नाटक की बातचीत को इसलिये बदल रहा है क्योंकि किसी विशेष पात्र का अभिनय कर रही नायिका इन वाक्यों को ठीक नहीं बोल रही है। कहीं वह नाटक में अन्तिम समय परिवर्तन कर रहा है, क्योंकि कोई विशेष पात्र भाग गया है। कहीं वह कार लेकर, उपले इकट्ठे करने जा रहा है क्योंकि रंगमंच पर उनकी आवश्यकता है और नाटक खेलने वाले उनको भूल गये थे!

प्रो० अमरीक सिंह ने "परछावियाँ दी पवड़" नामक एक नाटक लिखा है। इस नाटक को बड़ी सफलता के साथ दिल्ली में खेला गया। और दर्शकों को इस बात का निश्चय हो गया कि पंजाबी भाषा में कठिन से कठिन समस्याओं पर नाटक द्वारा विचार किया जा सकता है। अमरीक सिंह ने कुछ एकांकी भी लिखे हैं। प्रो० गुरुदयाल सिंह "फुल्ल" एक उल्लेखनीय पंजाबी साहित्यकार हैं जो पिछले कुछ समय से

नाट्य-कला की ओर ध्यान दे रहे हैं। इनके कुछ नाटकों को अमृतसर आदि शहरों में खेला गया है।

अब जब कि अधिकतर पंजाबी बोलने वालों ने अपनी भाषा को अपना लिया है कोई कारण नहीं कि इस प्रदेश की नाट्य-कला और अधिक विकसित न हो। पंजाबी नाटक पंजाब के गाँवों में लोक-नाटकों के रूप में अभी तक दम तोड़ रहा है। यदि शहर की ओर से कोई स्वस्थ प्रयास किया जाये तो इस परस्पर सामंजस्य से पंजाबी रंगमंच का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल हो सकता है। कुछ हम अपने ग्रामीण भाइयों को सिखायें और कुछ उनसे भी सीखें—ऊँचा साहित्य केवल इन्हीं परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ करता है। महान् कला के लिये धरती का स्पर्श बहुत बहुत आवश्यक है।
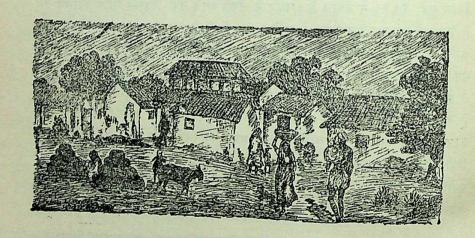
भारतीय नाट्य : विश्व-नाट्य के संदर्भ में

—डॉ० मुल्कराज आनन्द

नाटक के जन्म का रूपक

—१—

नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में नाटक के जन्म के सम्बन्ध में एक रूपक है जिसमें प्राचीन भारतीय रंगमंच में कल्पना के महत्व पर बल दिया गया है।

मैं उस कथा को नीचे उद्धृत कर रहा हूँ क्योंकि नाट्य-सिद्धान्त का यह प्राचीनतम प्रमाण है और भरत के नाट्य-शास्त्र की रचना के कम से कम एक हज़ार वर्ष पहले से प्रचलित होगा—

कृतयुग में जबकि ब्रह्मा ऋषि थे और वैवश्वत मनु त्रेता युग के लिए तैयारियाँ कर रहे थे, जब ग्राम्य धर्म लोभ और काम के वश हो चुका था, और संसार ईर्ष्या, क्रोध, दुख और सुख से मोहग्रस्त हो चुका था, और जब देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग और लोकपालों ने जम्बूद्वीप में पदार्पण किया, तब इन्द्रादिक देवों ने ब्रह्मा से विनय की: 'हमें एक ऐसे मनोरंजन की कामना है जो दृश्य और श्रव्य हो। चारों वेदों का रहस्य शूद्रों के लिए नहीं है, अतः कृपा करके एक अन्य पंचम वेद की रचना कर दें, जो कि सभी वर्णों के लिए हो।'

उनसे 'एवमस्तु' कह कर इन्द्र की ओर पीठ करके, योगमुद्रा में आसीन सर्वज्ञ ब्रह्मा ने चारों वेदों का ध्यान किया और विचारने लगे, "मुझे पंचम वेद की रचना करनी चाहिये जिसे नाट्य कहा जाये; जिसमें इतिहास हो, और जो धर्म, अर्थ, मोक्ष और ख्याति का दाता हो—जिससे नये युग की सभी घटनाओं का आभास मिले और जिसमें हर शास्त्र और हर कला का सार संचित हो।" इस प्रकार वेदों का स्मरण करके ब्रह्मा ने चारों वेदों के विभिन्न भागों से सार लेकर यदिच्छा नाट्यवेद की रचना की। ऋग्वेद से उन्होंने शब्द लिए, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस।

इस प्रथम नाट्य के पात्रों के आगे ब्रह्मा ने नाट्य-कला के स्वरूप और महत्व की जो व्याख्या की है उसमें रस-तत्त्व को प्रधानता दी है :

"यह नाटक केवल तुम्हारे और देवताओं के सुख के लिए ही नहीं है, इसमें तीनों लोकों के लिए भाव का प्रदर्शन है। मैंने इस नाटक की रचना लोक की गति-विधि का अनुकरण करते हुए की है, चाहे धर्म हो चाहे क्रीड़ा, या अर्थ, शांति, हास, युद्ध, वासना या फिर संहार, और इससे धर्मपालन करने वालों को धर्म का फल, काम के सेवियों को काम, दुर्विनीतों को निग्रह, विधि का पालन करने वालों को तप, महाजनों को बल, योद्धाओं को उत्साह, अज्ञानियों को ज्ञान, पण्डितों को विद्या, महीपों को क्रीड़ा, दुःखदग्धों को सहनशीलता, लाभापेक्षियों को लाभ, हत-संकल्प को साहस प्राप्त होगा। यह नाना भावों से पूर्ण है, हृदय की कामनाओं से रंजित है, समस्त मानवता से सम्बद्ध है, चाहे वह श्रेष्ठ हो, मध्यम हो या अधम, और शिक्षा, मनोविनोद, सुख आदि का दाता है।

"रस-भावादि के विषय में यह नाटक समस्त ज्ञान का स्रोत है, जो दुखी हैं, थकित हैं, या कठिन तप में लीन हैं, उनके लिए यह भव्य आराम है, यह उन्हें पुण्य, ख्याति, दीर्घायु, सौभाग्य और बुद्धि प्रदान करेगा और समस्त संसार को शिक्षा देगा। यह न तो ज्ञान ही है, न कला ही, न कर्म और न योग। इस नाटक की सृष्टि सप्तभुवनों के अनुसार है, जो कि मानो देवों-दानवों, दिग्पालों और ब्रह्मर्षियों के कृत्यों का अवलोकन कर रहे हैं। नाटक वह है जो स्वभावानुकूल है। रंगमंच संसार के लिए मनोविनोद का साधन है, और वेद, दर्शन, इतिहास और अन्य विषया के श्रवण का स्थल है।"

—२—

भारतीय नाटक की आत्मा: कल्पना

रस-स्रोत के रूप में नाटक एक सोद्देश्य सृष्टि है, अर्थात् यह मात्र विषय की अनुकृति न होकर एक कल्पनात्मक सृष्टि है। जैसा कि भरत ने आगे कहा है:

"मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप संकल्प की सचेतन क्रियाशीलता के फल हैं। अतएव अभिनय के विभिन्न अंगों का विचारपूर्वक विधान होना चाहिए।"

इस प्रकार, रस की तीव्रता के अतिरिक्त, यह सृष्टि किसी भी अन्य तत्व के अधीन नहीं रह जाती। और जैसा कि काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित है, यह रस की तीव्रता निर्भर है लेखक अथवा अभिनेता की क्षमता पर, जिसके द्वारा वह मानवीय पदार्थ में भावों और विचारों का संचार करके उन्हें एक ऐसे स्तर पर ला खड़ा करता है जहाँ वे वैयक्तिकता से ऊपर उठ कर निर्वैयक्तिकता की भूमि में प्रवेश करते हैं।

चूँकि प्राचीन भारतीय रंगमंच में दृश्य-सज्जा और अन्य नाटकीय उपकरणों का अभाव होता था, अतएव भावन-क्रिया का तत्त्व अभिनेता और स्रोता-समाज की कल्पना पर निर्भर करता था।

राघव भट्ट ने 'अर्थद्योतनिका' में, जो कि कालिदास के शकुन्तला नाटक की टीका है, रंगमंच और अभिनय-विषयक निदेश दिये हैं। उसमें बताया गया है कि किस प्रकार पात्र की सहायता लिए बिना पुष्प-पादपों का सिंचन किया जाता है, किस प्रकार डंक मारने को तैयार मधुमक्खी को कंपित अधरों और मुख पर कंपित करों को रख कर दर्शाया जाता है, फूल का चुनना किस प्रकार हाथ की मुद्रा के प्रयोग से दिखलाया जाता है, और पैर तथा घुटने मोड़ कर गाड़ी पर चढ़ने का अभिनय किस प्रकार किया जाता है।

अतः भारतीय रंगमंच एक काव्यात्मक कला रहा है; जिसका लक्ष्य जीवन का अनुकरण न होकर जीवन की व्याख्या करना था।

—३—

यूनानी और रोमीय नाट्य-रूपों से इतर भारतीय नाट्य रूपों का सर्वांगीण विकास

यह निश्चय रूप से ज्ञात नहीं है कि यह नाट्य-कला, जिसने रंगमंच के सृजनात्मक पक्ष पर बल दिया, वास्तव में किन जटिल प्रक्रियाओं से विकसित हुई। सम्भव है कि हमारे प्रागैतिहासिक पूर्वजों का आदिम नृत्य-नाट्य,—जिसमें विफल वर्षा, प्रचुर शस्य की प्राप्ति या अनुकरण द्वारा व्याख्या करके अशिव को अथवा अज्ञात विपत्तियों को दूर करने की दृष्टि से समस्त समुदाय को सामूहिक संकल्प का प्रदर्शन करने के हेतु व्यामोहित करने का प्रयत्न किया जाता था—इन्द्रजाल और मंत्रविद्या पर निर्भर था, जिसके मूल में कल्पना-शक्ति है।

परन्तु, यूनान के आदि रूपकों के ही समान भारतीय रंगमंच ने भी अपने धार्मिक स्तवों के अद्‌भुत सामूहिक गान से ही अपने प्रारम्भिक नीति रूपकों के लिए आधार प्राप्त किया। ये नाटक रामायण तथा महाभारत पर आधारित थे। किसी अभारतीय परम्परा से कदाचित् ही कुछ ग्रहण किया गया।

पूर्व वैदिक और उपनिषद काल के कर्म-कांडीय संस्कारादि में रंगमंच केवल मंत्रपाठ के रूप में था, परन्तु स्तवन और मंत्रपाठ का आवेग-प्रवाह ही उस संस्कारोत्सव के बीच एक जादू-सा उत्पन्न कर देता था, और उसमें विवस्त्वाभास का गुण

आ जाता था। इस सब में देवदूत के रूप में ब्राह्मण की गरिमा एक महत्वपूर्ण तत्व थी। मंत्रों और स्तवों में श्रोतृ-समाज की श्रद्धा भी इससे कम महत्वपूर्ण नहीं थी।

पुरोहित (धर्माधिकारी) और श्रोतृ-समाज का यह अभेद, जो कि आराधना के लिए आवश्यक था, सामूहिक धार्मिक नाटकों का प्रमुख आदर्श था। यही रूप रामायण और महाभारत की कथाओं का भी है, जिनका अभिनय युग-युग से गाँवों में होता चला आया है। धर्म के मूल्यों की जड़ें इतनी गहरी थीं और दार्शनिक विश्वास की धाराएँ इतनी विस्तृत और सर्वज्ञात थीं, विशेष रूप से इतिहास और पुराण के नाटकीकरण के द्वारा, कि अभिनेताओं—जो कि स्वयं पुरोहित होते थे या उसके द्वारा प्रशिक्षित कलाकार—और अशिक्षित जनता के बीच समनुयोग (या आदान-प्रदान) स्थापित होने में कदाचित् ही कोई कठिनाई होती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक-कथा काल में कर्मकांडीय उपासना के जटिल और बहुरंगी विकास से एक ऐसी नृत्य-कला का जन्म हुआ जिसमें अभिनय-मुद्रा, भाव और अन्य नाटकीय तत्वों को पूर्ण विकास हो चुका था, और जो भरत के नाट्य-शास्त्र के रूप में आज उपलब्ध है।

कर्मकांडीय उपासना का उद्देश्य सौंदर्यानुभूति को जन्म देना नहीं अपितु आध्यात्मिक अनुभूति का स्फुरण था, अतएव, प्रारम्भ में सौंदर्य का आदर्श अपने आधुनिक आत्मसंविद् रूप में उदय नहीं हो पाया था, और आध्यात्मिक आनन्द को रस का सहोदर माना गया। इस प्रकार ब्रह्मानन्द रस या सौंदर्यानुभूति का पर्याय माना गया जो कि नृत्यकार या अभिनेता द्वारा भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति करते समय उत्पन्न होता है।

—४—

ललित कला की संकल्पना का विकास

कामशास्त्र के समान काम-विषयक ग्रन्थों और भरत नाट्य-शास्त्र से ज्ञात होता है कि भारत की बौद्ध और जैन-परम्पराओं में ही नृत्यकार और अभिनेता का व्यवसाय स्वतन्त्र रूप धारण कर चुका था, और प्रविधि (टेकनीक) को प्रधानता देने के कारण कला का मूल्यांकन करते समय कर्मकांड के ज्ञान के साथ साथ निपुणता पर भी विचार किया जाता था। फलस्वरूप प्रविधि का अधिक ज्ञान होने पर नाट्य-रूपों की अभिव्यक्ति में नर्तक और अभिनेता दूसरों से श्रेष्ठ माने गये।

यद्यपि मौर्यवंशीय राजा अशोक ने यूनानी तथा एकीमीनियन साम्राज्यों से सम्पर्क स्थापित किये, और भारत पाश्चात्य संसार के प्रत्यक्ष प्रभाव में आया, परन्तु यूनानी नाटकों का भारतीय नाट्य-शैली पर प्रभाव पड़ा हो इसका कोई ग्रन्थ साक्षी नहीं है। न ही भारतीय नाट्य-कला की सर्वांगपूर्ण परम्परा में आदान-प्रदान के ही कोई लक्षण वर्तमान हैं। यहाँ तक कि मूर्तिकला और वास्तुकला में भी नवीनतावादी और अन्तर्राष्ट्रीयवादी मौर्य शासकों ने केवल विषय ही ग्रहण किये, और एक सर्वथा विदेशी परम्परा को देश की भूमि में ज्यों का त्यों रोपित नहीं कर दिया। देशवासियों की स्वाभाविक प्रतिभाएँ सम्राटों की आधिराज्य के अधीन परस्पर गुंफित होकर एक उच्च सामाजिक संगठन का भाग बन चुकी होंगी, परन्तु सृजनात्मक प्रतिभा में परिवर्तन की प्रक्रिया मन्द ही रही। फलस्वरूप, मौर्य राजसभा की कला में जो बाह्य प्रभाव पड़े थे, वे देशीय जनता की उर्वर कल्पना में समाहित हो गये।

प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में सुख और आनन्द की संकल्पना सुख के निषेध के रूप में है। परन्तु ज्ञात होता है कि शीघ्र ही आनन्द-भोग की कल्पना का रूप अभावात्मक नहीं रह गया। क्योंकि भरहुत और सांची की गुफाओं में आकीर्ण चित्रों में अनेक नाटकीय दृश्य हैं जिसमें नर्तक और संगीतज्ञ लयपूर्ण मुद्राओं में दिखलाये गये हैं।

ईसा के बाद की कुछ शताब्दियों में एक लगभग धर्म-निरपेक्षा कला रूप ग्रहण करने लगी थी, जिसमें बाह्य रूपों के मूल्यों को प्रमुखता दी गयी। यद्यपि यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि नृत्य या नाटक का आरम्भ, परम्परानुसार देव-स्तुति से ही होता था।

—५—

श्रेण्य रंगमंच में प्रविधि का विकास और सूत्रधार की भारतीय संकल्पना

परन्तु समस्त सृजनात्मक कृतियों में, और नाटक में भी, तंत्र का विकास परिमाणात्मक न होकर अधिकतर गुणात्मक हुआ। उदाहरणार्थ, नाटककारों द्वारा रचित बहुत से नये रूपक रामायण और महाभारत से चुने गये हैं। उनके प्रस्तुतीकरण में धार्मिक भावना और प्रचलित विश्वासों के मूल्य सर्वोपरि महत्व रखते हैं।

और फिर, प्रस्तुतीकरण के सभी पहलुओं में कल्पना का योग कम न होकर बढ़ता ही गया। और रंगमंच के रूप में किसी भवन विशेष या प्रकोष्ठ का विधान नहीं था। इन अवसरों पर राजमहलों का ही उपयोग होता रहा होगा परन्तु लगता

है कि जैसे रंगमंच अधिकतर श्रोताओं के हृदय में निवास करता था और नाटक की अवतारणा खुले स्थान में ही की जाती थी।

साथ ही नाटक अब भी ऐसे वातावरण में खेला जाता था, जहाँ कि अभिनेता और श्रोतृ-समाज का ऐक्य सर्वथा सम्भव था। मंच पर अथवा श्रोतृ-समाज के मध्य में जिस सादी यवनिका के पीछे अभिनेतागण एकत्र होते थे, वह विवस्त्वाभास उत्पन्न करने का एक मात्र साधन होता था। किन्तु समस्त नाट्य प्रदर्शन को पूर्ण इकाई में संकलित करने के लिए, एक भाव से दूसरे भाव में अथवा एक दृश्य से दूसरे दृश्य में या नाटक की ही रचना से संक्रमण उपस्थित करने के लिए सूत्रधार की सृष्टि की गयी। आधुनिक भाषा में उसे आप प्रबन्धक या दिग्दर्शक या प्रस्तावक जो भी कहना चाहें कह सकते हैं।

समस्त श्रेण्य नाटक की कुंजी सूत्रधार के हाथ में रहती है क्योंकि वैदिक युग के पुरोहितों और मंदिरों के एकाग्र श्रोतृ-समाज के अभाव में, वह ही एक ऐसा संयोजक होता था जिससे नाटक परस्पर जुड़ा रहता था और जिसके द्वारा नाटककार अपनी रचना को श्रोताओं के समक्ष उद्घाटित करता था, और जो श्रोताओं का प्रतिनिधित्व भी करता था।

सूत्रधार—जोकि आधुनिक दिग्दर्शक का ही पूर्वाभास है—का विकास श्रेण्य-युग के रंगमंच के अंगों की प्रगति में प्रविधि की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि प्राचीन भारतीय नाटकों में सूत्रधार की प्रेरणा यूनानी नाटकों के 'कोरस' (वृन्द-गायन) से प्राप्त हुई, अतः यह एक विदेशी प्रभाव है। यह अनुमान एक अतिरंजना मात्र है, और मान्य नहीं हो सकता क्योंकि सूत्रधार यद्यपि व्याख्याकार का कार्य करता है पर यूनानी 'कोरस' का रूप शायद ही कभी ग्रहण करता हो।

—६—

अभिनेताओं और श्रोतृ-समाज का ऐक्य : भारतीय नाटकों की दूसरी निजी विशेषता

अतः हम देखते है कि मिरासियों और भांडों की टोलियों में, जो कि गाँव-गाँव में घूमते थे, और संस्कृत से उद्भूत अनेक प्राकृतों में अनुकरण, गीत, नृत्य और तमाशे करते थे, सूत्रधार का स्थान सदा प्रमुख होता था। वह अभिनेताओं और श्रोताओं के

बीच ऐक्य स्थापित करने को प्रस्तुत रहता था। भारत के आदिम धार्मिक नाटकों और साथ ही प्राचीन श्रेण्य रंगमंच की यह सबसे बड़ी देन रही है।

यहाँ तक कि कीर्तनों, यात्राओं, नौटंकियों और बड़कथा आदि रूपों में, जो कि हमारे सांस्कृतिक इतिहास के मध्य-कालीन हिन्दू, मुस्लिम और आधुनिक युगों में जीवित रहे, अभिनेता और श्रोता के ऐक्य पर बल दिया गया है।

—७—

अठारहवीं शताब्दी तक की स्थिति का सिंहावलोकन

अतएव मुझसे यदि पूछा जाय कि १८वीं शताब्दी में पश्चिम की विजय आरम्भ होने के पूर्व तक भारतीय रंगमंच की प्रमुख विशेषतायें क्या रही हैं, तो मैं कहूँगा : कल्पना, सूत्रधार तथा अभिनेताओं और श्रोताओं का ऐक्य। नाटक का विषय चाहे धार्मिक हो, पौराणिक हो अथवा प्रेम हो, सभी उससे अवगत होते थे, क्योंकि एक प्रमुख दर्शन, धर्म और नैतिकता के सार्वभौम मूल्यों पर समय-समय पर ग्रामों और पुरों के समाज में विचार-विमर्श होता रहता था। विस्तृत सामूहिक अनुभव के द्वारा जनता को मूल कथोपकथन और नाट्य-प्रविधि का भी ज्ञान होता था। चूँकि नाटक की विषय-वस्तु और उसका स्वरूप जनता की चेतना का एक अंग होता था, अतएव प्रदर्शन का सौष्ठव इस बात पर निर्भर करता था कि नर्तकों और अभिनेताओं की अपनी-अपनी कल्पना-शक्ति उसे किस हद तक नवीनता और तीव्रता प्रदान कर सकती है, जिसे ग्रहण करने के लिए श्रद्धालु श्रोता-समाज तैयार रहता था। नहीं, नर्तक और अभिनेता की कल्पना ही तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने के लिए काफ़ी नहीं, समझी जाती थी। श्रोताओं को भी कल्पना का उतना ही उपयोग करना पड़ता था जितना कि अभिनेता को। 'दशरूपक' के शब्दों में : 'स्थायी भाव रसिक की अपनी रस-प्रवणता के कारण रस में परिणत होता है—अभिनेता पात्र या नायक के द्वारा नहीं, और न ही इसलिए कि रचना का उद्देश्य सौन्दर्यानुभूति को जन्म देना है।' इसके अतिरिक्त 'साहित्य दर्पण' में काव्याचार्य धर्मदत्त का उद्धरण देते हुए बताया गया है कि जिसमें कल्पना का अभाव है, चाहे वह पात्र हो या सामाजिक (श्रोता), उसका स्थान नाट्य-उपकरण, ईंट या दीवार से अधिक नहीं है और इस बोधावस्था में जहाँ कहीं व्यवधान पड़ता था, उसकी पूर्ति सूत्रधार कर देता था, जो कि अभिनेताओं और श्रोताओं के बीच ऐक्य स्थापित करने के लिए उत्तरदायी होता था।

जड़ तथा अस्पष्ट नाट्य-रूपों के फलस्वरूप धार्मिक अभिनय के ह्रास के कारण, समस्त परम्परा, जो कि कला के बाह्य रूप की प्रधानता के कारण रूढ़िग्रस्त

हो गयी थी, हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था में अभिनेताओं और नर्तकों को स्तर निम्न होने के कारण पतित होती गयी। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने कलाओं की स्थिति और भी कठिन कर दी क्योंकि हिन्दुओं के धार्मिक समारोहों में बहुधा उनकी मान्यताओं की ही व्याख्या की जाती थी।

और फिर, यूरोपवासियों के आगमन पर रंगमंच के त्रि-आयामिक स्वरूप ने, जिसमें रंग-मुख का एक चौखटे के रूप में विधान था, भारतीय रंगमंच को सबसे प्रबल आघात पहुँचाया। इस आघात से अनेक जटिलतायें पैदा हो गयीं, जिनका अभी तक पूर्ण विश्लेषण नहीं हो पाया है, और जिसके सर्वोत्तम तत्वों को देशी परम्परा आत्मसात् नहीं कर पायी है।

—८—

हमारी शेष परम्परा रूप और विषय में पश्चिमी प्रभावों को कहाँ तक आत्मसात कर पायी है?

वर्तमान युग में रंगमंच की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है नाटक की भारतीय परम्परा का प्रतीकवाद और उसके काव्यमय यथार्थवाद तथा पश्चिमी रंगमंच के स्वाभाविकतावाद (अनुकृति-कलावाद) के भारतीय संस्करण के बीच विरोध। क्योंकि पश्चिमी स्वाभाविकता का यह भारतीय संस्करण अपनी स्वाभाविक संवेदनशीलता, काव्यमयता और प्रविधि की पूर्णता से रिक्त है। प्रतीत होता है कि स्वयं अपनी परम्परा के मूल तथ्यों का स्मरण किये बिना ही हमने पश्चिम से सभी कुछ ग्रहण कर लिया है। साथ ही यूरोपीय रंगमंच के विकास के पीछे जो सामाजिक और मानवीय परिस्थितियाँ थीं उनकी हमें अत्यन्त स्वल्प जानकारी है। हमारे आधुनिक रंगमंच में यत्र-तत्र कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं जहाँ कुछ अग्रयायियों ने पश्चिमी रंगमंच के उन तत्वों को आत्मसात कर पाया है जिनका स्वरूप और विषय-वस्तु की दृष्टि से थोड़ा-बहुत महत्व है। परन्तु हमारा रंगमंच अधिकतर वह समन्वय नहीं कर पाया है जिसके बिना हमारी सर्वांगपूर्ण परम्परा का नवीयन या नाट्य-कला की नयी परम्परा की सृष्टि सम्भव नहीं है।

—९—

हमारी अवशिष्ट प्राचीन परम्परा और नवीन यूरोपीय रंगमंच के परस्पर विरोध का स्वरूप क्या है और हम विदश के सुप्रभावों को क्यों ग्रहण नहीं कर सके?

इस सम्बन्ध में जो सबसे महत्वपूर्ण बात हमें स्मरण रखनी है वह यह है कि यूरोपीय प्रभाव के युग में और उसके बाद भी, हमारे देश के लोक-नाट्य में जो प्राचीन परम्पराएँ वर्तमान थीं, उनका प्रभाव जनसाधारण पर से अभी दूर नहीं हो पाया था। प्राचीन रंगमंच का प्रमुख सिद्धान्त कि कल्पनात्मक विवस्त्वाभास द्वारा अभिनेता और श्रोतागण में ऐक्य स्थापित हो जाता है, अभी जीवित था, और रंगमंच में विविध तत्वों के बीच सूत्रधार अब भी एक कड़ी का काम करता था। यद्यपि वह इसे विदूषक के रूप में करता था, फिर भी, वह वास्तव में निर्णायक था, प्रदर्शन में जो कुछ हो रहा होता उसके व्याख्याता के रूप में और साथ ही प्रदर्शन के नायक के रूप में भी। वह हर प्रकार के औचित्य का ध्यान रखता, श्रोताओं से शांत रहने की प्रार्थना करता और अपने हास्य से उनकी प्रशंसा भी प्राप्त करता। सड़क के किनारे जो नट का खेल होता है वह आज भी सूत्रधार के वर्तमान रहने का प्रमाण है।

यद्यपि सूत्रधार इस प्रकार हस्तक्षेप करता था, फिर भी ग्रामीण रंगमंच का स्वरूप आन्तरिक, मानसिक और कल्पनात्मक ही रहा। सस्वर पाठ, कथोपकथन, नाटक या नृत्य की प्रभाव-सृष्टि में श्रोताओं की स्मृति, जिसमें प्राचीन लोककथाएँ भरी पड़ी थीं, उतना ही योग देती थीं जितना कि अनुभूति की प्राणवत्ता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस रंगमंच की भावना को इन शब्दों में यथार्थतः चित्रित कर दिया है : जो श्रोतागण अनुभूतिशील हैं, वे निस्संदेह गीत को स्वयं अपनी अनुभूति से पूर्ण कर देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि रंगमंच के श्रोताओं की समस्त वृत्ति अधिकतर आलोचनाहीन होती थी। इसकी पूर्ति वे केवल प्रेम और विश्वास से कर लेते थे। परन्तु श्रोताओं से यह आशा की जाती थी कि वे सहृदय हों, अन्यथा उनका स्थान रंगमंच के काठ, उसकी दीवारों और पत्थरों से अधिक नहीं था।

अतः ग्रामों में अवशिष्ट प्राचीन नाट्य-रूपों और विदेश से ग्रहीत नवीन प्रभावों में, जिन्हें हमने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया था, जो संघर्ष पैदा हुआ उसका कारण यह था कि बुद्धिजीवी-वर्ग और नवोदित मध्यवर्ग ब्रिटेन के बाद परम्परागत संस्कृति के मूल्यों में अपना विश्वास खो चुके थे। अतः यह स्वाभाविक था कि इन मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाली कलाओं पर से भी विश्वास जाता रहे।

यूरोपीय ढंग के रंगमंच का मध्यवर्ग में प्रचार होने से पहले ही प्राचीन लोक तथा श्रेण्य रंगमंच का प्रभाव शहरी क्षेत्रों के आसपास से उठने लगा था क्योंकि मूलतः कलकत्ता आदि शहरों की यूरोपियन बस्तियों में श्रोता केवल गौरांग अफ़सर और उनकी पत्नियाँ ही होते थे।

परन्तु शीघ्र ही इन प्रदर्शनों में धनवान भारतीय भी आमंत्रित किये जाने

लगे और वे निर्मित रंगमंच के चौखटे के भीतर से यूरोपवासियों के जीवन की झाँकी प्राप्त करने लगे। और उन्हें स्वयं अपने जीवन को इस रंग-मुख के भीतर अभिनीत करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। धीरे-धीरे नाटकीय संगठनों का रहस्य भारतीय बुद्धिजीवी-वर्ग को ज्ञात होने लगा : कवनेन्ट गार्डन के ढंग के 'ओपेरा हाउस' और फ्राँसीसी ढंग के, जो मखमली कुर्सियों, सुनहरी सजावट, झाड़फानूस आदि से परिपूर्ण थे, बड़े-बड़े शहरों में बनाये जाने लगे। और इनमें कभी-कभी यूरोपियन शौकिया अभिनेताओं द्वारा नाट्य-प्रदर्शन के साथ ही शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद रामायण तथा महाभारत पर आधारित धार्मिक नाटक और सामाजिक नाटक भी प्रस्तुत किये जाते थे, जिनमें प्रेम, ईर्ष्या, घृणा, लोभ आदि मूल भावों का यूरोपीय अभिनेताओं की शैली पर प्रदर्शन किया जाता था।

—१०—

यूरोपीय रंगमंच और प्रचीन भारतीय रंगमंच का समन्वय न हो सकने का कारण भारत के लेखकों और कलाकारों की असमर्थता है या कोई अन्य सैद्धान्तिक मनोवैज्ञानिक या भौतिक कारण भी है ?

भारत की प्रमुख भाषाओं के ख्यात लेखकों की सद्हृदयता में कोई संदेह नहीं है। यत्र-तत्र वे अपनी स्वतन्त्र नाटक-शैली का सृजन करने में कुछ हद तक सफल भी हुए हैं, क्योंकि ये बुद्धिजीवी समन्वय की आवश्यकता के प्रति जागरुक थे—विशेष करके बंगाल और महाराष्ट्र में।

उदाहरणार्थ, ठाकुर परिवार ने नाटक-लेखन की एक स्वतन्त्र शैली का विकास किया। उन्होंने नाटक के मूल तत्वों को लोक-कथाओं और प्रतीक कथाओं से ग्रहण किया और एक ऐसे गीत-नाट्य का परिपाक हुआ जो रवीन्द्रनाथ के नाटकों में सरलता और तीव्रता की चरम सीमा को छू सका।

बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और माइकेल मधुसूदनदत्त के नाटक, 'नील दर्पण' के समान इक्के-दुक्के राजनीतिक नाटक, या सचिनसेन गुप्त के समसामयिक सामाजिक नाटक, दक्षिण भारतीय भाषाओं के नाटककार कैलासम् और टी० के० बन्धु, मराठी में अत्रे तथा दूसरे कई लेखक, गुजराती में मुन्शी और मेहता और हिन्दुस्तानी में पृथ्वीराज कपूर की रचनाएँ अवश्य देखने को मिल जाती हैं, पर भारत के प्रमुख लेखक अभिनय के योग्य नाटकों की रचना करने में असफल रहे हैं।

इसका कारण यह नहीं है कि हमारे लेखकों में लेखन-कला या हमारे अभिनेताओं में अभिनय-प्रतिभा का अभाव है। इसके लिए उत्तरदायी है ब्रिटिश साम्राज्य-

वादी शासन में भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति। क्योंकि पिछली पीढ़ी के लगभग सभी भारतीय नाटक ब्रिटिश शासन के ऐसे अजीब वातावरण में लिखे गये, जिसमें रंगमंच पर कोई भी बात कहना अधिकारी-गण को अप्रसन्न करना था।

इन नाटकों में या तो नौसिखिये कलाकार भाग लेते थे, जो विषय-वस्तु के प्रति बिना किसी संवेदनशीलता के शब्द मात्र कह डालते थे, या फिर शौकिया अभिनेता जो शब्द खा जाते थे या परस्पर प्रतियोगिता से चीख-चीख कर गला फाड़ डालते थे। इस प्रकार, आधुनिक भारत में अभिनय की एक चकाचौंध कर देने वाली शैली का जन्म हुआ, जिसमें नाटक के मार्मिक स्थलों पर तमंचे की आवाज़ के साथ सनसनीखेज ढंग पर पर्दा फटना भावों और भावनाओं के यथार्थ चित्रण से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। वे अभिनेता अपनी भारी-भरकम पोशाक के कारण पसीने से तर हो जाते थे, और नायिका का अभिनय करने वाला लड़का सहमा हुआ सा कमर पर हाथ रखे एक पैर पर खड़ा रहता था, क्योंकि स्त्रियों के सौन्दर्य के सम्बन्ध में पुरुषों की धारणा ज़रा अतिरंजित ही होती है। प्रकाश के लिए गैस लैम्प का उपयोग होने के कारण अभिनेताओं के काले-भूरे चेहरों पर सफेद पाउडर की मोटी परत साफ़ दिखाई देती थी, और रविवर्मा के नक्कालों द्वारा बनाये गये सज्जा-चित्रों में सरस्वती ऐसी लगती थी जैसे किसी स्थूलकाय अंग्रेज़ रानी को किसी निम्नकोटि के विदेशी कलाकर ने चित्रित किया हो।

वीसवीं शताब्दी के भारतीय रंगमंच को जिस तत्व ने और भी अधिक आघात पहुँचाया वह था चलचित्र। देश का रंगमंच यूरोपीय रंगमंच के अत्यन्त बाह्य प्रभावों को भी आत्मसात् नहीं कर पाया था कि चलचित्र का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने सस्ते और नये होने के कारण दर्शकगणों को मोहित कर लिया। और चूँकि चलचित्रों से आमदनी अच्छी होती भी, अतः नाटक गृह-विहीन होकर देश भर में नाटक-गृहों के लिए मारा-मारा फिरता रहा।

अतः द्वितीय महायुद्ध के पूर्व बंगाली, मराठी, गुज़राती और पारसी-हिन्दुस्तानी व्यावसायिक रंगमंच जो शहरों में दौरा करते थे, डगमगाने लगे इस संघर्षमय वातावरण से उत्पन्न अस्वाभाविक स्थिति के कारण देश में, जहाँ कि बाल-रंगमंच ही भूखों मर रहा था, रंगमंच के लिए प्रयत्न करने का अवसर ही नहीं रह गया था।

परन्तु युद्ध-समाप्ति के अनन्तर तत्काल ही सुन्दर जीवन और सुगठित समाज का नवोत्थान करने की आशा के स्फुरण से भारतीय कला के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन

प्रेरणाएँ उदय हुईं। इसका विशेष कारण यह था कि देश में राष्ट्रीय चेतना की प्राप्ति के लंबे संघर्ष से जो सच्ची सृजन-क्षमता उत्पन्न हुई थी वह राजसत्ता ब्रिटेन के हाथ से भारतीयों के हाथ में आ जाने से फलीभूत हो रही थी।

—११—

पाश्चात्य शैली से कैसे लाभ उठाया जाय ?

अब प्रश्न यह उठता है कि पाश्चात्य शैली, प्रणाली या प्रविधि से भारतीय नाटक कहाँ तक लाभान्वित हो सकता है ?

मुझे लगता है कि शौकिया कलाकारों या पेशेवरों द्वारा यूरोपीय प्रभाव के अधीन रह कर यूरोपीय अथवा भारतीय नाटकों को रंगमंच पर केवल दुहराते जाने का अनुभव हमें प्राप्त है, उससे निकट भविष्य में इस दिशा में कोई आशा नहीं है।

हमारे देश के शौकिया कलाकारों ने औसत स्तर के कालेज नाटक समाज, या रेलवे कर्मचारी नाट्य क्लब, या शिमला, मंसूरी अथवा दार्जीलिंग के व्यक्तिक अभिनेता संघों द्वारा नाटकीय प्रेरणा से जीवित रखा है और आंग्ल-प्रेमियों के पथदर्शन में समरसेट मौहम या नौएल कावर्ड या फिर टी० एस० इलियट के नाटक ही सब कुछ बन गये। ये आंग्लप्रेमी उन लोगों में से थे जो या तो विलायत के अपने स्कूली दिनों में एकाध बार शार्टसबरी एवेन्यू हो आये थे, और जो उपनागरिक क्षेत्र के अच्छे नागरिक की भांति स्थानीय कस्बे में फ़ैशनपरस्त अंग्रेज़ी रंगमंच का उदाहरण उपस्थित करना चाहते हैं, और इस प्रकार अंध निम्नवर्ग को विदेश की उच्च शिक्षा के महत्व से परिचित करना चाहते हैं।

२०वीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ अधिक चतुर विद्यार्थी अपने प्राध्यापकों से शेक्सपियर और शॉ के नाटकों की अवतरणा करने पर जोर देते थे। और इनमें से कोई एक पुस्तक प्रेमी इब्सन, बिजोर्सन और स्ट्रिंडबर्ग की बात भी करता था। कुछेक अग्रगामी विद्यार्थी टाल्सटाय, चेखाव और गोर्की का नाम भी जानते थे और प्रविधि के प्रेमी जानकारों की तरह दबी आवाज़ में स्टेनिस्लाविस्की, गार्डनक्रेग मैक्स राइन्डहर्ट, नोमीरिपोविच डान्टशेंको, टेरेन्स ग्रे और पीटर गाडफ्राइ के नाम भी लेते थे।

भारत की नाट्य-कला के सामान्य वातावरण को अनुकूल बनाने में इस अभिजात-वृत्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा। परन्तु हमारे देश की अभिजात-वृत्ति का जो

प्रमुख दोष रहा है, वह यह कि इसने विछिन्न स्थानीय परम्पराओं और प्रगति-कामियों की अग्रगामी सनसनीप्रियता में अन्तर उत्पन्न करदिया, विशेष रूप से जब कि प्रगति-प्रेमियों ने संश्लेषण की सारी समस्या को गहराई से देखने का प्रयत्न नहीं किया सिर्फ़ ऊपरी सतह में ही खलबली मचाते रहे। हमारे देश की लोक संस्कृति के नाट्य-रूपों का जो अवशेष है उसे भली भांति समझने का किसी ने प्रयत्न ही नहीं किया।

—१२—

पाश्चात्य देशों में हुआ क्या ?

अब आगे यह प्रश्न उठता है कि क्या पश्चिम का पूर्ण अनुकरण सम्भव है या उसने जो पाठ पढ़ाया है उसमें से कुछ अपना लें ?

इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देने से पहले, हमें यह पता लगा लेना चाहिये कि पश्चिम में यथार्थतः हो क्या रहा है ? क्योंकि गत पचास वर्ष में यूरोपीय रंगमंच में जो क्रान्ति हुई है उसके दो पृथक् पहलू हैं : सर्वप्रथम, नाटकीय लेखन की अन्तर्वस्तु में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, और फिर रंगमंच की प्रविधि का मौलिक नवीयन हुआ है।

इन परिवर्तनों का अध्ययन करना चाहिये।

नाटक की अन्तर्वस्तु में जो परिवर्तन हुए हैं, उन्हें ही लें। जैसा कि हम सब जानते हैं, टेकनीक का जो अन्तर यूनानियों को आधुनिक पाश्चात्य जगत से पृथक् करता है वह मौलिक है। प्राचीन नाटकों का अभिनय अधिकतर खुले में होता था : यह सारे समुदाय ही का प्रयत्न होता था, जिसमें अभिनेता और श्रोता दोनों ही भाग लेते थे। जहाँ तक रंगमंच के आकार का प्रश्न है नवजागरण-काल का रंगमंच और प्राचीन रंगमंच में अधिक अंतर नहीं था, यद्यपि इसमें अभिनेताओं का स्तर नीचे गिर जाता था और वे मात्र वर्गच्युत व्यक्ति बने रह जाते थे। वे नवजागरण-कालीन राजकुमारों के दरबारों के बाहर खड़े रहते थे और बुलाये जाने पर अभिनय करने आ जाते थे। इससे समुदाय और अभिनेताओं के बीच एक व्यवधान आ जाता था जो कि बाद में समाज के सम्पत्ति के मूल्यों पर आधारित हो जाने से और भी बढ़ता गया। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में लेखक मात्र एकम सख़रा माना जाता था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में पहुँचते-पहुँचते नाट्य-व्यवसाय के वे लोग जो पैसा कमाते थे समाज में स्वीकार कर लिये गये और उन्होंने उच्चवर्ग के लोगों के साथ विवाह सम्बन्ध तक स्थापित किये, पर जो धनहीन-अभिनेता थे, अपने वर्ग के समस्त दुख-कष्टों के भागी रहे।

रंगमंचीय समुदाय का सामाजिक स्तर निम्न होने के कारण वे छोटी-छोटी रंगशालाओं में एक साथ रहने लगे। और यहाँ रंगमुख के आविष्कार के बाद वे शारीरिक दृष्टि से अपने श्रोतृ-वर्ग से विलग हो गये। अभिनेता आते थे और रंगमंच पर अभिनय आरम्भ करते थे, जब कि श्रोतागण उनसे दस गज़ की दूरी पर एक अर्धवृत्त बना कर बैठते थे। वे दिन बीत चुके थे जब जनता खुली या बन्द रंगशालाओं में गोलाकार रंगमंच के चारों ओर बैठते थे।

गत अर्धशताब्दी के सभी महान् निर्माताओं के मन में अभिनेताओं और श्रोताओं के इस विभाजन का प्रश्न उठा है। इनमें से महानतम निर्माताओं, इंगलैंड में गार्डन क्रेग, रूस में स्टेनिस्लाविस्की और मेरहोल्ड, जर्मनी में रेनाहार्ट और ब्रेश्ट, सभी ने अभिनेताओं और श्रोताओं के बीच आन्तरिक आदान-प्रदान के अभाव के विरुद्ध आवाज़ उठायी। वे आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न व्यक्तिवाद के विरुद्ध विद्रोही थे। धन अर्जित करने की लालसा से उन्हें घृणा थी। वे इस बात की भर्त्सना करते थे कि रंगमंच समुदाय के दैनिक जीवन का भिन्न अंग नहीं रह गया है। और उन्होंने रंगमंच को समुदाय के जीवन सेपुनः अभिन्न करने का प्रयत्न किया।

उन्होंने जिस तरीक़े की खोज की वह अलग ही था!

गार्डन क्रेग का विश्वास था कि प्रविधि स्वयं ही अभिनेताओं और श्रोताओं में ऐक्य स्थापित करने में समर्थहै। यह प्रकाश को वदलने से या अभिनेताओं को अलग-अलग समूहों में खड़ा करके किया जा सकता है, जिससे ज्ञात हो कि अभिनेता रंगमुख से बाहर निकल कर श्रोताओं के बीच चले आ रहे हैं।

इन प्राविधिक आविष्कारों का उपभोग रेनहार्ट ने और जर्मन अभिव्यंजना-वादियों ने किया जो कि नयी-नयी वैज्ञानिक कलों द्वारा क्रेग के प्राविधिक कौशल को आगे बढ़ा ले गये।

परन्तु सब से महत्वपूर्ण नवीयन स्टेनिसलाविस्की ने किया। उन्होंने क्रेग और अभिव्यंजनावादियों द्वारा विकसित टेकनिकल कौशल को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया, वह समस्या में गहरे पैठे : उनका विचार था कि अभिनेता और श्रोता के बीच एक सच्चे सम्बन्ध को फिर से स्थापित करने से ही रंगमंच में ये दो पहलू मिल सकते हैं। यह तभी किया जा सकता है जब कि रंगमंच से अस्वाभाविकता और अति-नाटकीय अभिनय का बहिष्कार किया जाय और रंगमंच को मानव-जीवन और उसकी समस्याओं का एक जीवित और प्राणवंत प्रतिबिम्ब बनाया जाय। इस प्रकार दर्शकगण नाट्य-कला द्वारा अपने ही जीवन का अभिनय और उसका रूपान्तरण

देख सकेंगे। इस प्रकार एक नयी नाटकीय परम्परा का जन्म हुआ जिसकी परिणति रंगमंच और जनता की आत्मा के समीप्य में हुई।

स्टानिस्लाविस्को ने जो पाठ पढ़ाया था उसे तब से यूरोप और अमरीका के अनेक निर्मात्ता सीख चुके हैं। रंगमंच आज एक ऐसा स्थान बन गया है जहाँ लोग उसी तरह से जाते हैं जैसे कि वे पुराने समय में गिर्जे में जाते थे। परन्तु, फिर भी, आधुनिक समाज की पतित अवस्था लोकप्रिय रंचमंच को खाये डाल रही है। और हमारी सभ्यता की धन-लिप्सा ने रंगमंच को मूल्यों का स्रोत न बना कर अधिकतर व्यवसाय ही बना डाला है। इस कला का रूपान्तरण और लोक-जीवन में उसके प्रसार को युद्ध से सहायता मिली, जब कि रंगमंच वहीं जला गया जहाँ जनता थी। आधुनिक युग के अत्यन्त प्रगतिशील निर्माता शांतिकाल में भी उसी आदर्श तक पहुँचना चाहते हैं जो युद्धकाल में उतनी सरलता से प्राप्त हो गया था—अर्थात् लोक और रंगमंच के बीच जीवित सम्पर्क।

पाश्चात्य रंगमंचों के आन्तरिक परिवर्तन के इस विश्लेषण के प्रकाश में कुछ हद तक यह देखना सम्भव है कि यदि हम उन कष्टदायी भूलों और कमियों में से बचना चाहते हैं जिन्हें हमने अभी-अभी आधुनिक रंगमंच के इतिहास का अवलोकन करते हुए देखा है, तो हमें किस दिशा में जाना चाहिये। वास्तव में यदि हम अपने मन से भ्रान्ति और पूर्वग्रह के जाले साफ़ कर सकें तो वर्तमान स्थिति ऐसी निराशा-जनक नहीं है।

परन्तु इस अवस्था में, जब कि हम बच्चों की तरह मानो हाथ में धुली तख्ती लिये खड़े हैं, यह उचित होगा कि हम अपने अध्यापकों से कहें कि वे हमें भारतीय संस्कृति के उन तत्वों की शिक्षा दें जिनमें हमारी प्राचीन परम्परा से हमारे सम्बन्धों के विस्मृत सूत्र छिपे हुए है, और हमें पश्चिम के सिर्फ़ वे ही तरीक़े और टेकनीकें सिखलाएँ जिन्हें हम सरलता के साथ पचा सकते हैं, और जिनसे हम स्वाभाविक सहजता के साथ अपने को अभिव्यक्त कर सकते हैं।

—१३—

क्या रंगशालाओं की एक शृंखला की स्थापना करके और पश्चिमी ढंग पर नाटक करके पश्चिम का अनुकरण किया जा सकता है?

ऊपर जो कुछ कहा गया है इस बात को प्रमाणित करता है कि हम पश्चिम का अन्धानुकरण करके भारत भर में शानदार बन्द रंगशालाओं की एक शृंखला नहीं स्थापित कर सकते हैं, ताकि हम उनमें उन व्यावसायिक प्रविधियों का सहारा

लेकर नाटकों का अवतारण करना आरम्भ कर दें, जिन प्रविधियों को यूरोप के अत्यन्त प्रगतिशील विशेषज्ञ अस्वीकार कर चुके हैं।

चूँकि हमारी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा में सच्चा रंगमंच कल्पना पर निर्भर करता था, और चूँकि यूरोप का सबसे प्रगतिशील रंगमंच भी उसी कल्पनाशील सृजन-प्रतिभा पर बल देता है, अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमें अपनी परम्परा के केन्द्रगत तत्वों और पश्चिम के उन विशेषज्ञों के अभिनवशिल्प और टेकनीक के बीच समन्वय उत्पन्न करना चाहिये जो कि स्वयं भी इस महत्वपूर्ण कल्पना तत्व को अपने रंगमंच में लाना चाहते हैं और अभिनेताओं और श्रोताओं के बीच ऐक्य स्थापित करना चाहते हैं।

यह स्पष्ट है कि हम प्राचीन और मध्यकालीन भारत के सामंती समाज में नहीं रह रहे हैं, कि हम आज एक धर्म-निरपेक्ष, लोकतन्त्रीय, समाजवादी समाज की ओर बढ़ रहे हैं, और इस समाज को हम यूरोप अमरीका की औद्योगिक क्रान्तियां और रूस की नवीन सभ्यता के अनुभवों को संजो कर विकसित कर रहे हैं।

अतएव, जो समन्वय हम कर रहे हैं वह कई बातों पर निर्भर करता है जिन पर हम यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं कह सकते।

स्पष्टतः, यह संभव नहीं है कि पश्चिम का अनुकरण हम उनके नाटक-लेखन तथा प्रस्तुतीकरण के स्वरूपों को ग्रहण करके करें, क्योंकि भारत के सात हज़ार गाँवों में आज भी कल्पना का महत्त्व छाया हुआ है। हाँ, यह अवश्य ज़रूरी है कि नाटक-लेखन और प्रस्तुतीकरण के अनुभव से हम कस्बों और नगरों की अपनी आवश्यकताओं के लिये लाभ उठाएँ, क्योंकि ये स्थान संसार के दूसरे औद्योगिक केन्द्रों के ही समान हो जायेंगे।

यदि हम विषय-वस्तु की दृष्टि से लोक-नाट्य को बदलने का प्रयत्न न भी करें, तब भी यह सम्भव है कि हमें गाँवों के परम्परागत रंगमंच को जो कि हमारे जन-श्रोताओं के निकटतम हैं, प्रस्तुतीकरण आधुनिक मूल्यों के अनुसार संगठित करने में अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, इसका कोई कारण नहीं दीखता कि दशहरे पर रामायण की कथा को नाटक की शैली पर पौराणिक उत्सव के रूप में क्यों न करें।

नये औद्योगिक समाज का रंगमंच नवीकृत लोक-रंगमंच से बहुत भिन्न हो

सकता है। परन्तु हमारा शहरी रंगमंच भी उस विदेशी रंगमंच से भिन्न होगा, जो कि किसी विदेशी संस्कृति के ढाँचे में ढला हुआ है। हम इस यूरोपीय श्रेष्ठता के भ्रम को कब दूर करेंगे जिसे हम पर्दे, प्रकाश, शृंगार-प्रसाधन और सज्जा को महत्व देकर अपने देश के गरीब और भोले निरक्षरों पर लादने का प्रयत्न करते हैं, और जो मध्यवर्ग का उसी प्रकार अनुकरण करते हैं, जैसे कि मध्यवर्ग लन्दन, पेरिस और न्यूयार्क का अनुकरण करता है। हमारे रंगमंच के नेताओं को क्या कभी यह भी सूझा है कि हमारे देश में, चाहे कुछ ही समय के लिए क्यों न हो, अभिनेताओं और श्रोताओं को एक ऐसी सर्वांगीण और सच्ची कल्पनामूलक एकता में बाँध देने का अवसर प्राप्त है, जो कि यूरोपीय रंगमंच से इन महत्वपूर्ण तत्वों के विलग हो जाने के कारण नष्ट हो चुकी है। और इसका कारण था कि व्यवसाय-व्यस्तता के युग में पश्चिम पर मूर्खतापूर्ण परम्पराएँ छा गयीं थीं। कल्पना का पुनःस्थापन भविष्य का अत्यावश्यक कार्य होगा।

—१४—

शौकिया रंगमंच का बल

हमारे रंगमंच-आन्दोलन की विशेषता है कि वह पेशेवरों के हाथ में नहीं है। उस पर नवीन व्यावसायिक रंगमंच की नींव कैसे रखी जा सकती है?

हमारे प्रमुख नगरों में जो रंगमंच-आन्दोलन है, उसका बल इस बात में निहित है कि अज्ञान के कारण उसमें एक निरभिमानता पाई जाती है, जिसके फलस्वरूप हर सफलता की प्रायोगिकता पर विशेष ज़ोर दिया जाता है। अभिनेता, निर्माता, रंगमंच-प्रबन्धक और प्रकाश, सज्जा, भूषा के सम्बन्ध में परामर्श देने वाले, ये सब के सब स्पष्टत: शौकिया हैं। और मेरे विचार में यही कारण है कि ये आन्दोलन चिरजीवी होंगे, और भविष्य में अच्छे रंगमच की ओर बढ़ने के लिए अवश्य ऊर्जा प्रदान कर सकेंगे।

क्योंकि शौकिया कलाकार रंगमंच की कला में एक ऐसी सत्यहृदयता और नवीनता उत्पन्न कर देते हैं जिसे शेफ्ट्सबरी एवेन्यू और ब्राडवे के व्यावसायिक रंगमंच का संवेदनहीन अस्तित्व अनुभव भी नहीं कर सकता। और एक ऐसे देश में जहाँ प्राचीन परम्परा का अभी अन्त नहीं हो सका है और न नवीन परम्परा का जन्म हो पाया है, उस भावोद्रेक का लाभ उठाया जा सकता है जो युवाओं की अकृत्रिम तथा संवेदनशील प्रतिभा में वर्तमान रहती है।

पश्चिमी व्यावसायिक रंगमंच की झूठी अभिनय-कला के प्रभाव से हमारे रंगमंच व्यवसाय में जो रंगमंचीय कृत्रिमता और नाटकीयता आ गयी है, उसे जाना ही होगा, हमें जीवन के निकट जाना होगा, जिसकी आवश्यकता चेखव ने अपने एक पत्र में समझायी थी : "**देखो. बहुसंख्यक लोग स्नायविक तनाव का अनुभव करते हैं, अधिकतर लोग दुख झेलते हैं और कुछ लोग तीव्र वेदना का अनुभव करते हैं पर क्या कभी तुमने लोगों को--चाहे सड़कों पर हों, चाहे घर पर हंगामा मचाते हुए, उछलकूद करते और सर पकड़ते हुए देखा है ? वेदना की अभिव्यक्ति वैसी ही होनी चाहिये जैसे कि जीवन में--वह हाथ-पैर नचा कर नहीं होती, उसके लिए शालीनता चाहिये। शिक्षित व्यक्तियों में हृदय की भावना की जो स्वाभाविक सूक्ष्मता होती है उसकी अभिव्यक्ति भी सूक्ष्म होनी चाहिये। तुम कहोगी–रंगमंच की स्थिति उत्तरदायी है। स्थिति वैसी ही क्यों न हो, झूठ का पक्ष नहीं लिया जा सकता।**"

जिस झूठ की बात चेखव ने कही है, वह रंगमंच के लिए सब से बड़ा खतरा है, चाहे वह रूसी रंगमंच, ओल्ड विक, अथवा ज़ा लुई बोराल के रंगमंच की महानता और पूर्णता भी क्यों न प्राप्त कर ले। क्योंकि हम यदि जीवन के प्रति ईमानदारी के आदर्श को दृष्टि में रखें तो अधिकतर व्यावसायिक अभिनय गतिहीन जान पड़ेगा, जिसका गतिमान संवेदनशीलता की दृष्टि से पुनर्नियोजन करने की आयश्यकता होगी। और, यह सच भी है कि शौकिया रंगमंच को प्रभावी रूप से ऐसी दिशा में ले जाना होगा जिससे अपक्व उत्साह–जिसका परिणाम गँवारूपन होता है–और जीवन की मृदुल सचेतनता में संतुलन रखा जा सके।

--१५--

रंगमंच की प्रविधि सीखने की आवश्यकता

कल्पना को रंगमंच की प्रमुख विशेषता स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि प्रविधि की समस्या को भुला दिया जाय। हमें रंगमंच के अधिक प्रगतिशील प्रयोगों के द्वारा अपनी सैकड़ों-हज़ारों प्रतिभाओं को प्रशिक्षित करना होगा।

सामान्य जीवन में बोलचाल की आवाज़ "फुटलाइट" को पार करके श्रोताओं तक नहीं पहुँच पाती है। और अभिनेता की आवाज़ सुनी जा सके इसलिए उसका स्वर उचित रूप से ऊँचा करना पड़ता है। तारत्व, उच्चारण और शब्द-कथन, और साथ ही साथ छोटी-छोटी बातों में कठिनाइयों उपस्थित होती हैं, जिनको अधिकतर शौकिया कलाकार पार नहीं कर सकते। परन्तु एक समझदार युवा

अभिनेता के लिए ये कठिनाइयाँ अलंघ्य नहीं हैं। और चेखव के ही शब्दों में, शौकिया अभिनेता "सुघट्य, अरुद्ध, आनम्य, सच्चा और जो अभी कठोर नहीं हो पाया है, ऐसा होता है। उसे अभ्यास की जड़ता का अतिक्रमण करने की आवश्यकता नहीं है, और न अनुचित आदतों को ही भूलना है—और न पुराने अभ्यासों और परम्परा के मोह से ही पलायन करना है"

रंगमंच और साहित्य का आलोचक बोनामी डोरबी ने, जिससे मैंने शौकिया अभिनेता की उच्चतर सम्भावनाओं का विश्वास पाया है, "विचित्र द्वैत" की बात कही है, जो कि रंगमंच के अतिरिक्त और किसी भी कला में नहीं पायी जाती। क्योंकि यहाँ नाटक में, जो कि एक कवित्वमय पूर्ण इकाई है, चरित्रों का अभिनय वास्तविक मनुष्य ही करते हैं। मेरे विचार में, इस द्वैत के लिए न केवल उस कल्पना और संवेदन-शक्ति की आवश्यकता है जिसकी मैंने चर्चा की है वरन् वह विनम्रता भी ज़रूरी जो नाटक-व्यवसाय के लिए नई चीज़ नहीं है। चेखव ने सूवोरिन को लिखा था, "अभिनेता अपने को निर्दोष समझते हैं और अपन को अधिकारी समझते हैं, वे अपने दोष मानने को तैयार नहीं होते।"

मुझे लगता है कि कल्पना, सद्हृदयता, नम्रता इन तीन गुणों और शिल्पज्ञता जो सभी कलाओं का प्राण है, इनको लेकर आधुनिक भारतीय रंगमंच उस स्तर को पहुँच सकता है जिस तक पहुँच कर कालिदास, शूद्रक और हर्ष के कवित्वमय नाटकों की रचना हो सकी थी।

यह मानना पड़ेगा कि विश्व-रंगमंच में गत पच्चीस वर्षों में जो कोई भी सुधार हुए हैं, वे दिग्दर्शक के महत्त्व के बढ़ते हुए बोध के कारण ही हो सके हैं। ऐसा इसलिए हुआ है कि आधुनिक रंगमंच में अनेक नाटकीय तत्वों, जैसे अभिनय, सज्जा, वेश-भूषा तथा प्रकाश और लकड़ी के काम की जानकारी, का संकलन आवश्यक है, और निर्माता के निदेशन के बिना इन तत्त्रों को एक संगठित एकक के रूप में एकत्र कर सकना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, क्योंकि इस सामुदायिक कार्यकलाप को सिर्फ़ दिग्दर्शन ही संगठित कर सकता है।

भारत में दिग्दर्शक के लिए अनिवार्य है कि वह अपने अन्तर्दर्शी मानस में अत्यधिक विनय का विकास करे, क्योंकि जिन यंत्रों का वह परिचालन कर रहा है वे मात्र मशीनें नहीं हैं, जिन पर कि प्राविधिक कौशल निर्भर करता है, परन्तु वह प्राचीन कल्पना-प्रिय परम्परा, मृदुल भावना तथा गहन अन्तबोध-युक्त भी हैं, जिन्हें भारतीय नाटक की 'आत्मा" के समान अस्पष्ट संज्ञा के आधीन एक सूत्र में बँधना

है—जो 'आत्मा" भारतीय नाटक का जीवन-रस है, जिसके द्वारा श्रोतागण उस आत्मरेचन का अनुभव कर सकेंगे जिसे रस कहते हैं। रंगमंच की कला प्राणहीन सिनेमा और टेलिविज़न से अधिक जीवन्त होने के कारण जीवन के सबसे निकट है।